



परम पूज्य तपश्चर्या-चक्रवर्ती पट्टाधीशाचार्यश्री
सुविधिसागर जी महाराज

के

50 वें जन्मदिवस के पावन अवसर पर

सुविधि-परिवार के द्वारा आयोजित

जिन्नवाणी-महोत्सव

सहस्रग्रन्थसंग्रह

* जन्मदिवस 19-03-1971

* मुनिदीक्षा-11-05-1989

* आचार्यपद- 20-06-2004

पट्टाधीशपद- 24-12-2010 (20-06-2004 को की गई उद्घोषणा के अनुसार)

परम पूज्य आचार्यश्री सन्मतिसागर जी महाराज के द्वारा की गई उद्घोषणा:-

हमारी समाधि के पश्चात् आपको इस संग्रह के संचालकपद पर नियुक्त करते हैं।

(अंकलीकर वाणी-जुलाई 2004) (अक्षयज्योति-अक्तूबर 2004)

जैनदर्शन में कार्यकारणत्यक्ता : एक समन्वयात्मक दृष्टिकोण

प्रस्तुत
डॉक्टर श्वेता जैन

प्रकाशक
पार्श्वनाथ विद्यापीठ
वाराणसी (उत्तरप्रदेश)

(परम्परानायक)



(द्वितीय पट्टाधीश)



परम पूज्य तीर्थभक्त-शिरामणि,
आचार्यश्री महावीरकीर्ति जी महाराज

(चतुर्थ पट्टाधीश)



परम पूज्य तपस्वर्या-चक्रवर्ती, आचार्यश्री सुविधिसागर जी महाराज

(तृतीय पट्टाधीश)



परम पूज्य सिद्धान्त-चक्रवर्ती,
आचार्यश्री सन्मत्तिसागर जी महाराज

दिगम्बर साधु निरन्तर पगविहार करते रहते हैं। ग्रन्थभण्डार को साथ में रख कर विहार करना अशक्यप्रायः होता है। फलतः उनको ग्रन्थों के सन्दर्भ देखने में असुविधा होती है। उनकी सुविधा के लिये इस कोश का निर्माण किया गया है। इस कोश के निर्माण में किसी भी प्रकार का व्यापारिक हेतु नहीं है।

आर्थिक दृष्टि से सम्पन्न श्रावकबन्धुओं से निवेदन है कि वे ग्रन्थ का विक्रय कर अध्ययन करने की परम्परा को कायम रखें। मुखपृष्ठ पर हमने ग्रन्थकर्ता, अनुवादक, सम्पादक, प्रकाशक आदि के नाम दिये हैं। किसी संस्थान का कर्तुत्व हमने लुप्त नहीं किया है।

इस कोश के लिये आवश्यक ग्रन्थ हमें अनेक स्रोतों से प्राप्त हुये हैं। हम उन सभी का आभार मानते हैं।

सुविधि-परिवार

पार्श्वनाथ विद्यापीठ क्रमांक : १५९

जैन दर्शन में कारण-कार्य व्यवस्था : एक समन्वयात्मक दृष्टिकोण

(काल, स्वभाव, नियति, पूर्वकृतकर्म, पुरुष/पुरुषार्थ का विवेचन)

डॉ० श्वेता जैन



पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी
प्राच्य विद्यापीठ, शाजापुर (म०प्र०)

जैन दर्शन में कारण-कार्य व्यवस्था : एक समन्वयात्मक दृष्टिकोण

(काल, स्वभाव, नियति, पूर्वकृतकर्म,
पुरुष/पुरुषार्थ का विवेचन)

डॉ० श्वेता जैन

अतिथि अध्यापक, संस्कृत-विभाग
जयनारायण व्यास विश्वविद्यालय, जोधपुर

भूमिका

डॉ० धर्मचन्द्र जैन

आचार्य, संस्कृत-विभाग
जयनारायण व्यास विश्वविद्यालय
जोधपुर (राज०)

प्रकाशक

पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी
प्राच्यविद्यापीठ, शाजापुर (म०प्र०)

जैन दर्शन में कारण-कार्य व्यवस्था :

एक समन्वयात्मक दृष्टिकोण

(काल, स्वभाव, नियति, पूर्वकृतकर्म,
पुरुष/पुरुषार्थ का विवेचन)

लेखिका - डॉ० श्वेता जैन

प्रथम संस्करण : 2008

ISBN : 61.8675.94.0

© पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी

मूल्य : 600/- रुपये

प्रकाशक

पार्श्वनाथ विद्यापीठ, आई०टी०आई० रोड, करौंदी, वाराणसी,

दूरभाष : 0542-2575890, 2575521

Email : pvri@sify.com, Web : parshwanathvidyapeeth.org

एवं

प्राच्य विद्यापीठ, शाजापुर, दूरभाष : 07364-222218 के लिए क्रमशः

सचिव एवं मानद् निदेशक - प्रो० सागरमल जैन द्वारा प्रकाशित

अन्य प्राप्ति-स्थान

डॉ० श्वेता जैन, 'समता कुंज', 12/7A, जालम विलास स्कीम

पावटा 'बी' रोड, जोधपुर, ३४२००६, फोन नं० 0291-2541052

राजस्थानी ग्रन्थागार, सोजती गेट, जोधपुर

फोन नं० 0291-2623933 (O), 0291&2657331 (R)

टंकण सज्जा : श्री कमलेश मेहता, जोधपुर

अक्षर समायोजन : श्री सुनील कुमार, ऐड विजन, वाराणसी

मुद्रक : वर्द्धमान मुद्रणालय, भेलूपुर, वाराणसी-221010

प्रकाशकीय

दार्शनिक चिन्तन की अनेक जटिल, परन्तु महत्त्वपूर्ण समस्याओं में कार्य-कारण की समस्या अपना विशेष स्थान रखती है। विज्ञान, दर्शन और विशेष रूप से धर्म-दर्शन कार्यकारण की पृष्ठभूमि पर सृष्टि-रचना की समस्या का समाधान ढूँढ़ने का प्रयत्न करता है। दर्शन शास्त्र के विभिन्न विषयों—उदाहरणार्थ तत्त्वमीमांसा, ज्ञानमीमांसा, नीतिशास्त्र आदि में कारण-कार्यवाद प्रमुख एवं गहन चर्चा का विषय रहा है। परमतत्त्व की खोज वस्तुतः आदिकारण की खोज है। कार्य-कारणवाद सिद्धान्त की गम्भीर दार्शनिक समस्याओं के समाधान हेतु ही सत्कार्यवाद, असत्कार्यवाद, सदसदकार्यवाद, परिणामवाद, विवर्तवाद आदि सिद्धान्त अस्तित्व में आये। जैन दर्शन भी अन्यान्य दर्शनों की भाँति कार्य-कारण के सिद्धान्त को मानता है और अपने अनेकान्तवाद, नयवाद सिद्धान्त के अनुरूप ही कार्य-कारण को सदसदात्मक मानते हुए सृष्टि के कारण के रूप में काल, स्वभाव, नियति, पूर्वकृत कर्म एवं पुरुष या पुरुषार्थ - इन पाँच कारणों को मानता है जिसे जैन दार्शनिक शब्दावली में 'पंचकारण समवाय' कहा गया है। ध्यातव्य है कि जैन दर्शन सृष्टि को अनादि मानने के कारण उसके कर्ता के रूप में किसी भी बाह्य सत्ता—ईश्वर आदि का सर्वथा निषेध करता है। अनेक जैन आचार्यों ने अन्य भारतीय दर्शनों को मान्य कार्य-कारणवाद की स्वस्थ समीक्षा करते हुए अपने पंचकारण समवाय सिद्धान्त की प्रतिष्ठा की है।

इन समस्त विषयों पर गम्भीर, तर्कपुरस्सर एवं सविस्तर चर्चा डॉ० श्वेता जैन ने अपनी प्रस्तुत पुस्तक 'जैन दर्शन में कारण-कार्य व्यवस्था : एक समन्वयात्मक दृष्टिकोण', में की है। जैन दर्शन के परिप्रेक्ष्य में कार्य-कारणवाद की सम्यक् एवं विस्तृत चर्चा करने वाली सम्भवतः यह प्रथम पुस्तक है। हम आभारी हैं डॉ० श्वेता जैन तथा प्रस्तुत कृति को अपनी विद्वत्तापूर्ण 'भूमिका' से गौरवान्वित करने वाले प्रोफेसर धर्मचन्द जैन, जयनारायण व्यास विश्वविद्यालय, जोधपुर के प्रति जिन्होंने यह पुस्तक पार्श्वनाथ विद्यापीठ को प्रकाशनार्थ दी। इस ग्रन्थ के प्रूफ संशोधन तथा प्रकाशन सम्बन्धी व्यवस्थाओं के सम्पूर्ण उत्तरदायित्व का निर्वहन पार्श्वनाथ विद्यापीठ के सहनिदेशक डॉ०

श्रीप्रकाश पाण्डेय ने किया है, एतदर्थ हम उनके प्रति हृदय से आभार ज्ञापित करते हैं। इस ग्रन्थ के सहप्रकाशक प्राच्यविद्यापीठ, शाजापुर के पदाधिकारियों के प्रति भी हम अपना आभार ज्ञापित करते हैं जिन्होंने प्रकाशन में सहभागिता हेतु अपनी सहर्ष सहमति हमें दी।

सुन्दर टंकण एवं अक्षर समायोजन हेतु क्रमशः श्री कमलेश मेहता, जोधपुर तथा श्री सुनील कुमार, 'ऐड विज़न', वाराणसी निश्चय ही धन्यवाद के पात्र हैं। सत्त्वर एवं स्पष्ट मुद्रण हेतु हम वर्द्धमान मुद्रणालय, वाराणसी के प्रति अपना आभार प्रकट करते हैं।

आशा है जैन कारण-कार्य व्यवस्था के सन्दर्भ में नये तथ्यों को उद्घाटित करने वाली यह पुस्तक विद्वानों, शोधार्थियों तथा सामान्य जिज्ञासुओं के लिए अत्यन्त उपादेय सिद्ध होगी।

प्रोफेसर सागरभल जैन
सचिव, पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी
मानद् निदेशक, प्राच्यविद्यापीठ, शाजापुर

पुरोवाक्

सृष्टि की उत्पत्ति का क्रम हो, बन्धन या मुक्ति की घटना हो अथवा जीवन के अन्य सामान्य कार्य हों, सभी के सम्बन्ध में कार्य-कारण सिद्धान्त को समझना आवश्यक होता है। कार्य-कारण सिद्धान्त विश्व की सभी विद्याओं से जुड़ा हुआ है। विज्ञान, राजनीति, साहित्य, चिकित्सा, अर्थशास्त्र, दर्शनशास्त्र आदि सभी क्षेत्रों में कारण-कार्य सिद्धान्त का महत्त्व है। दर्शनशास्त्र की हम बात करें तो यह प्रत्येक दर्शन की तत्त्वमीमांसा का विषय बनता है। अतः सभी दार्शनिक अपने कार्य-कारण सिद्धान्त को तात्त्विक मीमांसा के आधार पर व्याख्यायित करते हैं। जैन दार्शनिक अनेकान्तवादी हैं, फलस्वरूप उनका कारण-कार्य सिद्धान्त सदसदात्मक है। जैसे बीज रूपी कारण सत् भी है और असत् भी है उसी प्रकार वृक्ष रूपी कार्य भी सत् व असत् दोनों हैं। बीज अपने स्वरूप से सत् है तथा वृक्ष के उत्पन्न होने से बीज की सत्ता नष्ट हो जाती है तब वह असत् होता है। वृक्ष जब बीज रूप में था तब वह असत् था और वृक्ष के रूप में वह सत् होता है। इस प्रकार 'सदसत्कार्यवाद' सिद्धान्त जैन दर्शन के कारण-कार्यवाद के सम्यक् स्वरूप को प्रकट करता है।

जैनमतानुसार प्रत्येक पदार्थ या तत्त्व नित्यानित्यात्मक, सामान्यविशेषात्मक, द्रव्यपर्यायात्मक, भेदाभेदात्मक और सदसदात्मक है। कारण-कार्य सिद्धान्त के आधारभूत पदार्थ सदसदात्मक होने से जैन दर्शन में यह सिद्धान्त सदसत्कार्यवाद के नाम से प्रचलित है। एकान्त सत् अथवा एकान्त असत् पदार्थ न तो स्वयं उत्पन्न होते हैं और न ही किसी को उत्पन्न करने में समर्थ होते हैं। अतः उनमें कार्यकारणभाव भी नहीं बनता। कार्यकारणभाव वहीं होता है जहां कथंचित् सत्त्व और कथंचित् असत्त्व हो। इसलिए जैन दर्शन में सदसत्कार्यवाद को स्वीकार किया गया है। द्रव्य की दृष्टि से उसमें सत्कार्यवाद को महत्त्व दिया गया है तथा पर्याय की दृष्टि से असत्कार्यवाद स्वीकार किया गया है। दोनों के सम्मिलित स्वरूप में सदसत्कार्यवाद अंगीकृत है।

अनेकान्तवादी जैन दार्शनिकों ने कारण-कार्यवाद पर विभिन्न दृष्टियों से विचार किया है, जिनमें प्रमुख हैं-

१. द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव और भव की कारणता
२. षड्द्रव्यों की कारणता
३. षट्कारकों की कारणता
४. निमित्त और उपादान की कारणता
५. पंच समवाय की कारणता

द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव और भव की कारणता पर विचार जैन दार्शनिकों का अपना मौलिक योगदान है। इसका उल्लेख आगम-साहित्य एवं टीका साहित्य में विभिन्न स्थानों पर प्राप्त होता है। धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय, पुद्गलास्तिकाय, जीवास्तिकाय और काल द्रव्य की कारणता का प्रतिपादन भी जैनागमों में सम्प्राप्त है। इन षडद्रव्यों के अपने उपग्रह या उपकार हैं। वे ही उनके कार्य हैं, जो अन्य द्रव्यों के कार्यों में भी सहायक बनते हैं। विशेषावश्यक भाष्य में जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण ने कर्ता, कर्म, करण, संप्रदान, अपादान एवं अधिकरण कारकों की कारणता को प्रतिपादित कर अनेकान्त दृष्टि का परिचय दिया है। उपादान और निमित्त कारणों के रूप में जैन दार्शनिकों ने कारण-कार्य सिद्धान्त की व्याख्या की है। आगम वाङ्मय में उपादान और निमित्त शब्दों का प्रयोग नहीं हुआ है, किन्तु उत्तरवर्ती दार्शनिकों ने इन्हें जैन दर्शन में यथोचित स्थान दिया है।

कारण-कार्य की व्याख्या में 'पंच समवाय' सिद्धान्त अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। यह जैन दार्शनिकों की अनेकान्त दृष्टि का परिणाम है। पंच समवाय में काल, स्वभाव, नियति, पूर्वकृत कर्म एवं पुरुषार्थ इन पांच कारणों का समन्वय स्वीकार किया गया है। आगम वाङ्मय में पंच समवाय का कोई स्पष्ट उल्लेख नहीं मिलता। सर्वप्रथम सिद्धसेन सूरि (दिवाकर) ने पांचवीं शती ईस्वी में सन्मतितर्कप्रकरण में इन कारणों का निम्नानुसार कथन किया है-

कालो सहाव णियई पुव्वकयं पुरिसे कारणेगंता।

मिच्छत्तं ते घेव उ, समासओ होंति सम्पत्तं।।

सिद्धसेनसूरि ने अनेकान्तवाद, स्याद्वाद और नयवाद का निरूपण करते हुए नयदृष्टि से काल, स्वभाव, नियति, पूर्वकृत कर्म और पुरुष/पुरुषार्थ की कारणता अंगीकार की है। वे इनमें से मात्र एक की कारणता को ही अंगीकार करने को मिथ्यात्व एवं सबकी सामुदायिक कारणता को सम्यक्त्व मानते हैं। काल आदि पांचों की सामूहिक या सापेक्ष कारणता का प्रतिपादन ही 'पंच समवाय' के सिद्धान्त के नाम से जाना जाता है।

'पंच समवाय' शब्द आधुनिक युग में अत्यन्त प्रसिद्ध होकर भी अधिक प्राचीन नहीं है। सर्वप्रथम इसका उल्लेख कब हुआ यह तो निश्चित नहीं कहा जा सकता, किन्तु १९वीं शती में तिलोकऋषि द्वारा इस शब्द का अपनी काव्यरचना में भूरिशः प्रयोग किया गया है। इससे यह ज्ञात होता है कि तिलोकऋषि के समय 'पंच समवाय' शब्द प्रसिद्ध हो चुका था, किन्तु उसके पूर्व पंच समवाय का प्रयोग किसने किया, यह उपलब्ध एवं अधीत स्रोतों से ज्ञात नहीं हो सका है। सिद्धसेन सूरि प्रयुक्त 'समासओ' शब्द ही आगे चलकर 'कलाप', 'समुदाय' 'समुदित' से 'समवाय' के रूप में विकसित हुआ है।

पंचसमवाय के क्रमिक विकास की दृष्टि से विचार किया जाय तो यह कहा जा सकता है कि सिद्धसेन (५वीं शती) इस सिद्धान्त के प्रणेता हैं। उन्होंने सम्मतितर्क में ही नहीं, अपितु अपनी दूसरी रचना द्वात्रिंशद्-द्वात्रिंशिका की तृतीय द्वात्रिंशिका के अष्टम श्लोक में भी इन पांचों की कथञ्चित् कारणता अंगीकार की है। हरिभद्रसूरि (८वीं शती) ने शास्त्रवार्तासमुच्चय, बीजविंशिका, उपदेशपद, धर्मबिन्दु नामक ग्रन्थों में यथाप्रसंग पांचों के समन्वय को कार्योत्पादक सिद्ध किया है। शीलांकाचार्य (९-१०वीं शती) ने सूत्रकृतांग की टीका में इन्हें परस्पर सापेक्ष मानकर पांचों में समन्वय स्थापित किया है। अभयदेवसूरि (१० वीं शती) ने सम्मतितर्क की टीका में समन्वय करने से पूर्व विशद रूप से कालवाद, स्वभाववाद, नियतिवाद, कर्मवाद और पुरुषवाद की ऐकान्तिकता का खण्डन किया है। अमृतचन्द्राचार्य (१०वीं शती) ने प्रवचनसार की टीका के अन्त में ४७ नयों की चर्चा के अन्तर्गत पांचों नयों के रूप में कालादि का निरूपण किया है। मल्लधारी राजशेखर सूरि (१२-१३वीं शती) ने षड्दर्शनसमुच्चय और उपाध्याय यशोविजय (१७वीं शती) ने नयोपदेश में इस सिद्धान्त का संकेत किया है। सत्रहवीं शती में उपाध्याय विनयविजय ने कालादि पांच कारणों पर गुजराती भाषा में दोहा एवं ढाल के रूप में स्तवन की रचना की है। १९वीं शती में तिलोक ऋषि जी महाराज ने अपने काव्य में 'पंच समवाय' नाम से अभिहित कर कारणपंचक की व्याख्या की है। बीसवीं शती में शतावधानी श्री रत्नचन्द्र जी महाराज ने 'कारण संवाद' नाटक के रूप में पांचों की सापेक्षता को सिद्ध किया है। आधुनिक युग में पं० टोडरमल, कानजी स्वामी, श्री तिलोक ऋषि जी, आचार्य महाप्रज्ञ आदि ने पंचसमवाय सिद्धान्त की पुष्टि की है। सम्प्रति जैन धर्म के सभी सम्प्रदायों में यह मान्य एवं प्रतिष्ठित है। पं० दलसुख मालवणिया, डॉ० हुकमचन्द भारिल्ल आदि विद्वानों ने भी इस सिद्धान्त को विश्रुत किया है। वर्तमान में जैन धर्म का कोई भी सम्प्रदाय, आचार्य, संत या विद्वान् ऐसा नहीं है जो पंच समवाय सिद्धान्त को अमान्य घोषित करता हो।

पांचवीं शती से लेकर अब तक आचार्यों, मनीषियों, विद्वानों द्वारा पंच समवाय सम्बन्धी जो भी लेखन, प्रवचन हुआ है, वह बहुत संक्षेप रूप में हुआ है। कालवाद, स्वभाववाद, कर्मवाद और पुरुषवाद/पुरुषार्थ का जैनेतर दर्शनों में क्या स्वरूप रहा है तथा जैनदर्शन किस रूप में इनकी कथञ्चित् कारणता स्वीकार करता है, इन विचारों की महती आवश्यकता मेरे निर्देशक आदरणीय प्रो० धर्मचन्द जी जैन को अनुभूत हुई। अतः उनके द्वारा प्रदत्त इस विषय को शिरोधार्य कर मैंने अपना शोधकार्य पूर्ण किया।

प्रस्तुत ग्रन्थ "जैन दर्शन में कारण-कार्य व्यवस्था: एक समन्वयात्मक दृष्टिकोण" जयनारायण व्यास विश्वविद्यालय, जोधपुर से २००५ में पी-एच्० डी० उपाधि के लिए स्वीकृत "जैन दर्शन में कारणवाद के सन्दर्भ में पंचसमवाय:

एक समीक्षा" विषयक शोध-प्रबन्ध का संशोधित रूप है। इस ग्रन्थ में 'पंच समवाय' सिद्धान्त के विकास-क्रम को प्रस्तुत करते हुए कालवाद, स्वभाववाद, नियतिवाद और पुरुषवाद या पुरुषार्थ का वेद, उपनिषद्, पुराण, महाभारत, रामायण, भगवद्गीता, न्याय-वैशेषिक, सांख्य, योग, बौद्ध, मीमांसा, शैव आदि जैनतर दर्शनों, जैनागम, टीकाओं, चूर्ण, भाष्य प्रभृति विभिन्न दार्शनिक कृतियों के अध्ययन के आधार पर इस लघु विषय को सुव्यवस्थित एवं विस्तृत स्वरूप प्रदान किया गया है।

ग्रन्थ परिचय- यह ग्रन्थ सप्त अध्यायों में विभाजित है। प्रथम अध्याय में कारण-कार्य की सामान्य चर्चा है। सत्कार्यवाद, सत्कारणवाद, असत्कार्यवाद, असत्कारणवाद नामक कारण-कार्य के प्रमुख सिद्धान्तों का विवेचन करने के अनन्तर जैन दर्शन के 'सदसत्कार्यवाद' सिद्धान्त का प्रतिपादन किया गया है। जैन दर्शन में मान्य द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव-भव, तद्द्रव्य-अन्यद्रव्य, निमित्त-नैमित्तिक, समवायी-असमवायी, षट्कारकों की कारणता, षड्द्रव्यों की कारणता, कालवाद, स्वभाववाद, नियतिवाद, कर्मवाद, पुरुषार्थ या पुरुषवाद का संक्षिप्त स्वरूप प्रस्तुत किया गया है।

'कालवाद' नामक द्वितीय अध्याय में काल की एकान्तिक कारणता का प्रतिपादन एवं निरसन है। वेद, उपनिषद्, पुराण, महाभारत एवं ज्योतिर्विद्या में विद्यमान कालवाद के स्वरूप का प्रतिपादन करने के अनन्तर न्याय-वैशेषिक, सांख्य, योग, वेदान्त, व्याकरण आदि दर्शन ग्रन्थों के अनुसार काल-विषयक चर्चा की गई है। जैनागम एवं जैनदार्शनिक कृतियों के आधार पर कालवाद का निरूपण तथा निरसन अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। अन्त में जैन दार्शनिकों को मान्य कथंचित् कारणता का विशेष रूप से विवेचन है।

तृतीय अध्याय में स्वभाववाद की चर्चा है। स्वभाववाद की अवधारणा है- "स्वभावाज्जायते सर्वम्" अर्थात् सभी कार्य स्वभाव से उत्पन्न होते हैं। स्वभाववाद के बीज ऋग्वेद में प्राप्त होते हैं। जैनतर तथा जैनग्रन्थों में प्रतिपादित स्वभाववाद का विशद निरूपण करने के पश्चात् मल्लवादी क्षमाश्रमण, जिनभद्रगणि, हरिभद्रसूरि, अमयदेवसूरि जैसे प्रबुद्ध दार्शनिकों द्वारा कृत निरसन को प्रस्तुत किया गया है। अन्त में जैनदर्शन में मान्य स्वभाव का स्वरूप और उसकी कथंचित् कारणता की दृष्टि से विचार किया गया है।

नियतिवाद नामक चतुर्थ अध्याय में नियतिवाद के प्रणेता मंखलि गोशालक के विस्तृत परिचय के साथ नियति की कारणता को वैदिक, बौद्ध एवं जैनदर्शन के विभिन्न ग्रन्थों के ऋद्धरणों के आधार पर प्रतिपादित किया गया है। जैनागम सूत्रकृतांग और प्रश्नव्याकरण में नियतिवाद का स्पष्ट उल्लेख सम्प्राप्त होता है तथा आचारांग की टीका एवं नन्दीसूत्र की अवचूरि में भी इसका निरूपण समुपलब्ध है। प्रमुख जैन दार्शनिक

सिद्धसेन सूरि द्वारा रचित 'नियति द्वात्रिंशिका' कृति में नियतिवाद की विविध मान्यताएँ संगुम्फित हैं। भगवान् महावीर ने नियतिवाद की मान्यता को अनुचित ठहराते हुए उपासकदशांग में कहा है - "नियथा सव्वभावा, तं ते मिच्छा" सब कार्यों का नियत होना असत्य है। सूत्रकृतांग और उसकी शीलांक टीका, प्रश्नव्याकरण की अभयदेव एवं ज्ञानविमलसूरिकृत टीका, द्वादशारनयचक्र, शास्त्रवार्तासमुच्चय, सन्मतितर्क टीका, धर्मसंग्रहणि और जैनतत्त्वादर्थ आदि जैन ग्रन्थों में सबल तर्क से एकान्त नियतिवाद का निरसन हुआ है, जिसे यहाँ संक्षेप में आबद्ध किया गया है। नियति की विभिन्न सिद्धान्तों से तुलना करते हुए "काललब्धि और नियति", "क्रमबद्धपर्याय और नियतिवाद", "सर्वज्ञता और नियतिवाद", "पूर्वकृत कर्म और नियतिवाद" बिन्दुओं के अन्तर्गत जैनदर्शन में नियति की कथंचित् कारणता को स्वीकृत भी किया गया है।

पूर्वकृत कर्मवाद विषयक पंचम अध्याय में सुख-दुःख के रूप में जीव को स्वकृत कर्मों से प्राप्त होने वाले फल एवं जगत् की विचित्रता के कारणरूप कर्म की विस्तार से चर्चा की गई है। "कम्मवसा खलु जीवा" की उक्ति से कर्म की कारणता जीव में ही प्रतिपादित होती है, अजीव में नहीं। भारतीय दर्शनों में कर्म की सर्वत्र मीमांसा की गई है। न्याय, वैशेषिक और वेदान्त दर्शन ईश्वर को कर्म का फलप्रदाता स्वीकार करते हैं तथा सांख्य, बौद्ध और मीमांसा दर्शन ईश्वर को स्वीकार नहीं करते हैं। जैन दर्शन फल देने की शक्ति को कर्म में ही मानता है। जैन दार्शनिकों ने पंच समवाय का प्रतिपादन करते हुए पूर्वकृत कर्मवाद को तो अंगीकार किया है, किन्तु उसकी एकान्त कारणता का प्रतिषेध भी किया है। मल्लवादी क्षमाश्रमण, हरिभद्रसूरि, यशोविजय, अभयदेवसूरि ने खण्डन में कुछ तर्क प्रस्तुत किये हैं।

षष्ठ अध्याय को दो भागों में विभाजित किया गया है। प्रथम भाग पुरुषवाद से सम्बन्धित है, जिसमें प्रसंगतः ब्रह्मवाद एवं ईश्वरवाद का भी विवेचन किया गया है। इनमें एक पुरुष, ब्रह्म या ईश्वर को ही जगदुत्पत्ति का कारण माना जाता है। द्वितीय भाग में पुरुषार्थ की कारणता को विभिन्न कोणों से समझाते हुए पुरुषकार के महत्त्व को प्रकाशित किया गया है।

पुरुषवाद के विवेचन में जैनाचार्यों ने पुरुषवाद, ब्रह्मवाद और ईश्वरवाद तीनों का निरूपण कर निरसन किया है। जैनदर्शन पुरुषार्थवादी दर्शन है। पुरुषकार या पुरुषार्थ जैन साधना पद्धति की आत्मा है। संयम में पराक्रम, परीषह-जय, तप से कर्मों की निर्जरा, अप्रमत्तता आदि पर जैन दर्शन में विशेष बल दिया गया है।

काल, स्वभाव आदि एकान्त कारणवादों की समीक्षा करते हुए सप्तम अध्याय में नयदृष्टि से इनमें समन्वय स्थापित किया गया है। जैनपरम्परा में काल,

स्वभाव, नियति, पूर्वकृत कर्म और पुरुषार्थ/पुरुष की कथंचित् कारणता को पर्याप्त महत्त्व दिया गया है। वहाँ इनका एकान्त रूप अस्वीकृत है, नयदृष्टि से इन्हें स्वीकृति मिली है। जैन-परम्परा में मान्य कतिपय बिन्दु इसकी पुष्टि करते हैं, यथा -

- सभी द्रव्यों के परिणमन में काल द्रव्य कारण है।
- वर्तना, परिणाम, क्रिया, परत्व-अपरत्व के रूप में काल की कारणता स्वीकृत है।
- काल लब्धि, अबाधाकाल आदि की अवधारणा काल की कारणता को स्पष्ट करती है।
- षड्द्रव्यों के विस्त्रसा परिणमन में पदार्थ का अपना स्वभाव ही कारण बनता है।
- जीव का अनादि पारिणामिक भाव, भव्यत्व, अभव्यत्व, जीवत्व आदि के रूप में स्वभाव से ही कार्य करता है।
- तीर्थंकर कर्म प्रकृति को बांधने वाला जीव तीसरे भव में अवश्य तीर्थंकर बनता है, यह भी एक नियति है।
- अकर्म भूमि में पुरुष-स्त्री के युगलिक का उत्पन्न होना तथा कर्मभूमि में प्रथम तीन आरों में युगलिकों की उत्पत्ति स्वीकार करना काल एवं क्षेत्र की नियति है। अकर्मभूमि में नपुंसक पुरुष का उत्पन्न न होना भी नियति की मान्यता को इंगित करता है।
- पूर्वकृत कर्म जीव के भावी जीवन को नियति की तरह प्रभावित करते हैं।
- निकाचित कर्म की मान्यता भी नियति की सूचक है।
- जैन दर्शन में अष्टविध कर्मों का प्रतिपादन है।
- कर्मों के अनुसार जीव विभिन्न गतियों में जन्म लेता है।
- कर्मों के पूर्ण क्षय होने पर मोक्ष की प्राप्ति होती है।
- तप, संयम में पराक्रम की प्रेरणा की गई है।
- मोक्ष की सिद्धि हेतु पुरुषार्थ को जागरित करने पर बल दिया गया है।
- तीर्थंकर ऋषभदेव से महावीर तक के २४ तीर्थंकरों का जीवन एवं गौतम आदि ग्यारह गणधरों का जीवन पुरुषार्थ को पुष्ट करता है।

पंचसमवाय मुक्ति प्राप्ति में भी सहायक है तथा व्यावहारिक जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में भी इनकी कारणता सिद्ध होती है। काल आदि पाँच कारणों में परस्पर गौण-प्रधान भाव होता है। कभी काल प्रधान हो सकता है, कभी स्वभाव, कभी नियति, कभी पूर्वकृत कर्म तो कभी पुरुषार्थ। यह भी आवश्यक नहीं कि सदैव एक साथ पाँचों कारण उपस्थित हों, पाँचों कारण तो जीव में घटित होने वाले कार्यों में ही होते हैं, अजीव पदार्थों में सम्पन्न होने वाले कार्यों में न तो पूर्वकृत कर्म कारण होता है और न ही उनका अपना पुरुषार्थ। उपचार से जीव के पूर्वकृत कर्म एवं पुरुषार्थ को अजीव के कार्यों में भी कथंचित् कारण माना जा सकता है। पुद्गल के प्रयोग-परिणमन में तो जीव का पुरुषार्थ कारण बनता भी है। ये पाँच कारण परस्पर एक-दूसरे के प्रतिबन्धक नहीं होते हैं। इनमें परस्पर समन्वय से कार्य की सिद्धि होती है।

कार्य की सिद्धि इन पाँच कारणों में कदाचित् किसी के न्यून होने पर भी हो सकती है। इसलिए यह कहा जा सकता है कि पंचसमवाय सिद्धान्त की मान्यता के पीछे जैन दार्शनिकों की अनेकान्तवाद की दृष्टि ही प्रमुख कारण रही है।

‘पंचसमवाय’ सिद्धान्त को स्वीकार करने पर भी जैनदर्शन में पुरुषकारवाद अथवा पुरुषार्थवाद की प्रधानता अंगीकृत है। श्रमण संस्कृति का दर्शन होने के कारण इसमें श्रम अर्थात् उद्यम या पुरुषार्थ का विशेष महत्त्व है। मनुष्य के हाथ में पुरुषार्थ ही है, जिससे वह अपने भाग्य को भी परिवर्तित कर सकता है और मोक्ष को भी प्राप्त कर सकता है। इसीलिए व्याख्याप्रज्ञप्ति सूत्र के वृत्तिकार अभयदेवसूरि का कथन है – “यद्यप्युदीरणादिषु कालस्वभावादीनां कारणत्वमस्ति तथापि प्राधान्येन पुरुषवैर्यस्यैव कारणत्वम्” अर्थात् उदीरणा आदि में काल-स्वभाव आदि की कारणता स्वीकृत है तथापि आगम की दृष्टि से पुरुषार्थ का ही प्राधान्य है।

मैं अपने शोधकार्य के दौरान अनेक संतों और विद्वानों के सान्निध्य में गई और शोध कार्य से सम्बन्धित विभिन्न प्रश्नों पर चर्चा की। इससे मेरे शोधकार्य को गति मिली। विद्वद्भ्यः मुनिश्रेष्ठ श्री प्रेम मुनि जी और प्रज्ञारत्न गुरुवर्य श्री जितेश मुनि जी का बाल्यकाल से मेरे जीवन के विकास में पदे-पदे वचनों से अमूल्य योग रहा है। इस ग्रन्थ के लेखन में भी उनका यथाशक्य सहयोग प्राप्त हुआ। मैं इन दोनों संतवर्यों के प्रति हृदय से कृतज्ञता का अनुभव करती हूँ। श्रद्धेया विदुषी महासती श्री पद्मश्री जी ने नियतिद्वात्रिंशिका का जिस धीरता एवं योग्यता के साथ मुझे मर्म समझाया, उसके लिए मैं उनकी हृदय से आभारी हूँ।

संस्कृत विभाग के आचार्य एवं बौद्ध अध्ययन केन्द्र, जयनारायण व्यास विश्वविद्यालय जोधपुर के निदेशक प्रो० धर्मचन्द जी जैन के कुशल निर्देशन एवं पूर्ण

सहयोग से ही यह विशाल शोध-प्रबन्ध सम्पूर्णकता को प्राप्त हो सका है। प्रत्येक कठिनाई में उन्होंने अपने सुझाव और पुत्रीवत् स्नेह सम्बल से मुझे प्रेरित एवं उत्साहित किया है। अतः अपने “तातश्री” के स्नेह सहयोग के लिए मैं उनकी कृतज्ञ रहूँगी।

संस्कृत विभाग के वरिष्ठतम आचार्य एवं कला संकाय के पूर्व अधिष्ठाता प्रो० श्रीकृष्ण जी शर्मा और संस्कृत विभागाध्यक्ष प्रो० नरेन्द्र जी अवस्थी का मुझे सदैव आशीर्वाद प्राप्त है। मधुसूदन ओझा शोध प्रकोष्ठ के पूर्व निदेशक डॉ० गणेशीलाल जी सुथार ने अपने निजी पुस्तकालय के साथ शोध प्रकोष्ठ की पुस्तकों का लाभ मुझे प्रदान किया तथा समय-समय पर अमूल्य सुझाव भी दिये। मैं हृदय से इनकी आभारी हूँ।

सेवा मन्दिर धार्मिक शोध पुस्तकालय, जोधपुर और कैलाशसागर सूरि ज्ञान मन्दिर, कोबा पुस्तकालय, अहमदाबाद से मुझे सामग्री संकलन में विशेष सहयोग प्राप्त हुआ। इसके अतिरिक्त मुझे अनेक संतवर्यो एवं विद्वान् महानुभावों का भी उल्लेखनीय मार्गदर्शन एवं सहकार प्राप्त हुआ है, जिनमें आचार्य श्री महाप्रज्ञ जी, श्रुतधर श्री प्रकाशमुनि जी, श्री प्रवीण ऋषि जी, श्री भुवनचन्द्र जी महाराज एवं श्री सुमति मुनि जी महाराज से विचार-विमर्श और परामर्श प्राप्त हुए। विद्वत् जगत् में वेदमनीषी डॉ० फतहसिंह जी, प्रो० सागरमलजी जैन, पं० अनन्त जी शर्मा, डॉ० दयानन्द जी भार्गव जैसे मूर्धन्य विद्वानों से चर्चा के माध्यम से बहुमूल्य सुझाव प्राप्त हुए। मैं इन सबकी हृदय से कृतज्ञ हूँ।

परिवार के सहयोग के बिना दीर्घकालिक शोधकार्य को पूर्ण कर लेना कथमपि संभव नहीं है। मेरे परम आदरणीय पिताजी श्री सायरचन्द जी कोटड़िया, वात्सल्य विभूति माताजी श्रीमती विमला जी कोटड़िया, लघु भगिनीद्वय हेमलता एवं जयश्री, भ्राता सतीश एवं भाभी भूमिका जी के सहयोग हेतु उनका आभार व्यक्त करती हूँ। ग्रन्थ के कम्प्यूटरीकरण का कार्य जिस मनोयोग से श्री कमलेश मेहता, जोधपुर, ने सम्पन्न किया है, उससे मुझे प्रमोद है तथा मैं उनके उज्ज्वल भविष्य की कामना करती हूँ। इस ग्रन्थ की सम्पूर्ति में प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप से जिन-जिन महानुभावों एवं संस्थाओं का सहयोग रहा है तथा जिनका नामोल्लेख नहीं हो सका है, उनका भी मैं अन्तर्हृदय से आभार अनुभव करती हूँ।

इस ग्रन्थ के प्रकाशन हेतु पार्श्वनाथ विद्यापीठ के मन्त्री श्रद्धेय प्रो० सागरमल जी जैन के अगाध स्नेह एवं सह निदेशक डॉ० श्रीप्रकाश पाण्डेय की ग्रन्थ प्रकाशन में तत्परता के लिए मैं उनकी हृदय से कृतज्ञ हूँ।

- श्वेता जैन

भूमिका

जैन दर्शन में कारण-कार्य-व्यवस्था पर गहन, सूक्ष्म एवं व्यावहारिक चिन्तन हुआ है, जिसका अनुमान डॉ. श्वेता जैन के प्रस्तुत ग्रन्थ से होता है। जैनदर्शन के परिप्रेक्ष्य में कारण-कार्य व्यवस्था को लेकर इससे पूर्व ऐसा व्यवस्थित एवं विस्तृत ग्रन्थ दृष्टिपथ में नहीं आया। पं. बंशीधर व्याकरणाचार्य ने "जैनदर्शन में कार्य-कारणभाव और कारक-व्यवस्था" पुस्तक में जैनदर्शनानुसार कारण-कार्य की चर्चा की है, किन्तु १३३ पृष्ठों की इस पुस्तक में लक्ष्य जैन विचारक कानजी स्वामी की उपादान-निमित्त विषयक विचारधारा का निरसन करना रहा है, समग्र दृष्टिकोण से वहाँ चर्चा नहीं है। पं. फूलचन्द्र सिद्धान्तशास्त्री की 'जैनतत्त्वमीमांसा' एवं 'जयपुर खानिया तत्त्वचर्चा' में भी जैन दर्शनाभिमत उपादान एवं निमित्त कारणों का विस्तृत विवेचन हुआ है। पं. सुखलाल संघवी, पं. महेन्द्र कुमार न्यायाचार्य आदि की कृतियों में भी जैन दर्शनानुसारी कारण-कार्य व्यवस्था का विचार हुआ है, किन्तु कोई स्वतन्त्र ग्रन्थ इस विषय पर प्राप्त नहीं होता। डॉ. श्वेता जैन ने जैनदर्शन में कारण-कार्य-व्यवस्था का प्रतिपादन करते हुए काल, स्वभाव, नियति, पूर्वकृत कर्म, पुरुष/पुरुषार्थ नामक पंचकारण समवाय की विस्तृत समीक्षा की है। यह प्रस्तुति जैनदर्शन एवं भारतीय परम्परा के प्रमुख ग्रन्थों में निहित चिन्तन पर आधृत है।

जैनदर्शन में कारण-कार्य-विमर्श

जैन दर्शन के कारण-कार्य सिद्धान्त की अनेक विशेषताएँ हैं। जिन्हें संक्षेप में निम्नांकित बिन्दुओं में रखा जा सकता है—

(१) द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव और भव के आधार पर कारण-कार्य का चिन्तन जैनदर्शन का अपना वैशिष्ट्य है।^१ प्रायः द्रव्य की कारणता से आशय है— धर्म, अधर्म, आकाश, काल, जीव और पुद्गल की कारणता। किन्तु यहाँ आकाश का समावेश क्षेत्र में होने से तथा काल का पृथक् उल्लेख होने से द्रव्य की कारणता से आशय प्रमुखतः जीव एवं पुद्गल की कारणता है। धर्म एवं अधर्म द्रव्य तो उदासीन निमित्त के रूप में क्रमशः गति एवं स्थिति में कारण बनते हैं। प्रत्येक द्रव्य स्वपरिणमन में उपादान कारण होता है। पुद्गल एवं जीव द्रव्य अन्य जीव तथा पुद्गल के प्रति सक्रिय

^१ व्याख्याप्रज्ञप्ति, शतक १९, उद्देशक ९, प्रज्ञापनासूत्र पद २३, सूत्रकृतांगनिर्युक्ति ४, आदि के आधार पर कथन। कहीं भव के अलावा चार का ही कथन है तो कहीं भव के साथ पाँच कारणों या कारणों का।

निमित्त कारण भी हो सकते हैं। इस प्रकार सभी द्रव्य स्वपरिणमन में अन्तरंग और अन्य द्रव्यों के परिणमन में बहिरंग कारण बनते हैं।

क्षेत्र की कारणता से आशय है आकाश की कारणता। “खित्तं खलु आगासं” कथन क्षेत्र को आकाश प्रतिपादित कर रहा है। सभी द्रव्यों को अवगाहन हेतु स्थान देने के कारण आकाश को ही क्षेत्र माना गया है। सभी द्रव्य आकाश में ही निवास करते हैं, इसलिए वह सबका क्षेत्र या निवास कहा जाता है। जो द्रव्य या पदार्थ जितना आकाशीय स्थान घेरता है, उसका उतना क्षेत्र होता है।

काल की कारणता वर्तना, परिणाम, क्रिया और परत्व-अपरत्व स्वरूप कार्यों की दृष्टि से अंगीकार की गई है। काल के कारण ही धर्मास्तिकाय आदि द्रव्य वर्तन करते हैं अर्थात् बने रहते हैं, दूसरे शब्दों में कहें तो इनका अस्तित्व काल से ही सम्भव होता है। द्रव्यों के पर्याय-परिणमन में, उनके परिस्पन्द रूप क्रिया में तथा ज्येष्ठत्व-कनिष्ठत्व में काल उदासीन निमित्त कारण होता है।

भाव की कारणता का सम्बन्ध विशेषतः जीव से है। जीव के पाँच भाव स्वीकार किये गये हैं- औदयिक, क्षायिक, क्षायोपशमिक, औपशमिक और पारिणामिक^१। छठा भाव इनके मिश्रण से सान्निपातिक कहलाता है।^२ औदयिक भाव से नरक आदि चार गतियाँ, क्रोध आदि चार कषाय, स्त्री आदि तीन वेद, मिथ्यादर्शन, अज्ञान, षड्लेश्याएँ, असंयम, संसारित्व और असिद्धत्व स्वरूप कार्यों की उत्पत्ति होती है। औपशमिक भाव से सम्यक्त्वलब्धि और चारित्र्यलब्धि तथा क्रोध-शमन, मान-शमन आदि कार्य निष्पन्न होते हैं। क्षायोपशमिक भाव से मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्यायज्ञान, चक्षुदर्शन, अचक्षुर्दर्शन, अवधिदर्शन, सम्यक्-दर्शन तथा दान-लाभ-भोग-उपभोग और वीर्यलब्धि प्राप्त होती है। जीव का जीवत्व, अजीव का अजीवत्व, भव्यजीव का भव्यत्व और अभव्य जीव का अभव्यत्व पारिणामिक भाव से निष्पन्न होते हैं। अजीव में अजीवत्व पारिणामिक भाव होता है, किन्तु अजीव पुद्गल के वर्ण, गंध, रस एवं स्पर्श की पर्यायों को भी उनका भाव कहा गया है। इन भावों की तरतमता के अनुसार परिणमनरूप कार्य सिद्ध होता है।

^१ औपशमिकक्षायिकौ भावौ मिश्रश्च जीवस्य स्वतत्त्वमौदयिकपारिणामिकौ च।

- तत्त्वार्थसूत्र, २.९

^२ छव्विधे भावे पण्णत्ते ओदइए, उपसमिते, खत्तिते, खाओवसमिते, परिणामिते, सन्निकाइए।

- अनुयोगद्वारसूत्र, नामाधिकार, सूत्र २३३

भव की कारणता का तात्पर्य है- अमुक योनि में जन्म की कारणता से किसी कार्य का होना। उदाहरणार्थ- देवगति और नरकगति में जन्म से ही वैक्रिय शरीर पाया जाता है। अवधिज्ञान या विभंगज्ञान देवों और नारकों में जन्म से होता है।^१ तिर्यच गति में पक्षियों का उड़ना, साँप का रेंगना, मछली का तैरना, मेंढक का जल-थल में रहना आदि कार्य भव की कारणता सिद्ध करते हैं।

(२) षड्द्रव्यों की कारणता जैनदर्शन की अपनी विशेषता है। जीव के शरीर, मन, वाक्, श्वास, निःश्वास आदि कार्य पुद्गल द्रव्य के द्वारा सम्पन्न होते हैं।^२ जीव-पुद्गल के गति, स्थिति, अवगाहन और वर्तना रूप कार्य क्रमशः धर्म, अधर्म, आकाश और काल द्रव्य द्वारा सम्पन्न किये जाते हैं। जीवों के गमन-आगमन, भाषा, उन्मेष, मन-वचन-काय योग की प्रवृत्ति भी धर्मास्तिकाय के निमित्त से होती है।^३ जीवों के स्थिरीकरण, निषीदन, मन की एकाग्रता आदि स्थिर भावों में अधर्मास्तिकाय निमित्त बनता है।^४ आकाश एवं काल की कारणता का विचार ऊपर बिन्दु न.१ में किया जा चुका है।

पुद्गल से जीवों के औदारिक, वैक्रिय, आहारक, तैजस, कार्मण शरीरों का निर्माण होता है। जीव द्रव्य भी अन्य जीवों के लिए उपकारी होता है- “परस्परोपग्रहो जीवानाम्” (तत्त्वार्थसूत्र, ५.२१) वाक्य से इसकी पुष्टि होती है। कुन्दकुन्दाचार्य द्वारा जीव और पुद्गल में निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध स्वीकार किया गया है। जीव के रागादि परिणामों के निमित्त से पुद्गल कर्म रूप में परिणत होते हैं तथा पुद्गल कर्मों के निमित्त से जीव रागादि भाव में परिणमन करता है।^५ षड्द्रव्यों में कार्य-कारणता स्वीकार करने पर भी जैन दर्शन यह मानता है कि धर्मास्तिकाय आदि द्रव्य अपने स्वरूप का कभी त्याग नहीं करते एवं अन्य द्रव्य रूप में परिणमित नहीं होते हैं।

(३) जैन दर्शन में निरूपित परिणमन भी एक प्रकार का कार्य ही है तथा परिणमनों के आगमों में तीन प्रकार निरूपित हैं- विम्रसा परिणमन, प्रयोग परिणमन

^१ तत्र भवप्रत्ययो नारकदेवानाम्। - तत्त्वार्थसूत्र, १.२२

^२ शरीरवाङ्मनः प्राणापानाः पुद्गलानाम्। - तत्त्वार्थसूत्र, ५.१९

^३ व्याख्याप्रज्ञप्तिसूत्र, शतक १३, उद्देशक ४

^४ व्याख्याप्रज्ञप्तिसूत्र, शतक १३, उद्देशक ४

^५ जीवपरिणामहेतुं कम्मत्तं पुग्गला परिणमंति।

पुग्गलकम्मणिमित्तं तद्देव जीवोवि परिणमइ। - समयसार, गाथा ८०

और मिस्र परिणमन^१ बिना किसी बाह्य प्रेरक निमित्त के उपादान में स्वतः होने वाला परिवर्तन विस्मसा परिणमन कहलाता है। धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय एवं काल द्रव्य में जो परिणमन होता है, वह विस्मसा परिणमन है। जीव और पुद्गल में भी यह परिणमन पाया जाता है। जीव में ज्ञान, दर्शन आदि की पर्यायों का परिणमन सिद्धों में स्वाभाविक रूप से होता है। इसी प्रकार परमाणुओं में परिणमन बहुधा स्वाभाविक रूप से होता है। प्रयोग-परिणमन में जीव के प्रयत्न का योगदान रहता है, यथा- तन्तुओं से वस्त्र, मिट्टी से घट आदि का निर्माण प्रयोगज परिणमन है। मिस्र परिणमन में स्वाभाविक परिणमन एवं जीव के प्रयत्न दोनों का समावेश होता है।

(४) तद्द्रव्य और अन्यद्रव्य की कारणता के रूप में विशेषावश्यकभाष्य एवं उस पर मल्लधारी हेमचन्द्र की वृत्ति में चर्चा की गई है^२, जो दोनों क्रमशः उपादान और निमित्त कारणों के सूचक हैं। पट कार्य की उत्पत्ति में तन्तु 'तद्द्रव्य कारण' तथा वेमादि को 'तद् अन्य द्रव्य कारण' स्वीकार किया गया है।

(५) कर्ता, कर्म, करण, सम्प्रदान, अपादान, अधिकरण-इन षट्कारकों को विशेषावश्यक भाष्य में कारण के रूप में प्रतिपादित किया गया है,^३ क्योंकि ये सभी क्रिया या कार्य की जनकता में सहयोगी होते हैं। व्याकरण-दर्शन में क्रिया का जनक होने से ही कर्ता, कर्म आदि को कारक कहा गया है।

(६) जैनदार्शनिकों के अनुसार नित्यानित्यात्मक, द्रव्यपर्यायात्मक, सामान्य-विशेषात्मक अथवा सदृशासदृशात्मक पदार्थों में ही कार्य-कारण भाव घटित हो सकता है। जैनदार्शनिकों का मन्तव्य है कि कार्य-कारण भाव अर्थक्रिया करने वाले पदार्थों में ही संभव है और अर्थक्रिया सर्वथा नित्य तथा सर्वथा अनित्य पदार्थों में न क्रम से हो सकती है और न युगपत्। नित्यानित्यात्मक पदार्थों में ही अर्थक्रिया का घटन हो सकता है^४ इसलिए उनमें ही कार्य-कारण भाव संभव है।

^१ व्याख्याप्रज्ञप्तिसूत्र, शतक ८, उद्देशक १

^२ विशेषावश्यकभाष्य, दिव्यदर्शन ट्रस्ट, मुम्बई, द्वितीयभाग, पृ० ४३४

^३ विशेषावश्यकभाष्य, गाथा २११२-२११८

^४ (१) कार्यकारणभावश्चार्थक्रियासिद्धौ सिध्येत्। - षट्दर्शनसमुच्चय, वृत्ति, भारतीय ज्ञानपीठ, पृ० ३८९

(२) अर्थक्रिया न युज्येत नित्यक्षणिकपक्षयोः।

क्रमाक्रमाभ्यां भावानां सा लक्षणतया मता। - भट्ट अकलंक, लघुयस्त्रय, ४.

(७) जैन दार्शनिक कार्य-कारण में भेदाभेदता स्वीकार करते हैं। जिस प्रकार घट-कार्य मृत्तिका कारण से भिन्न भी होता है और अभिन्न भी, उसी प्रकार प्रत्येक कार्य अपने कारण से भिन्न भी होता है और अभिन्न भी। सांख्यदर्शन कारण एवं कार्य में एकान्त अभेद मानता है तथा वैशेषिक दर्शन इनमें एकान्त भेद स्वीकार करता है। इन दोनों की मान्यताओं का जैनदार्शनिकों ने निरसन किया है। जैनदार्शनिकों का मन्तव्य है कि कार्य अपने कारण से अभिधान, संख्या, लक्षण आदि से भिन्न भी होता है तथा सत्त्व, ज्ञेयत्व आदि अपेक्षा से वह अभिन्न भी होता है।^१

(८) जैन दर्शन में कारण-कार्य को सदसदात्मक स्वीकार किया गया है।^२ इसमें कारण भी सदसदात्मक होता है तथा कार्य भी सदसदात्मक होता है। कार्य अपनी उत्पत्ति के पूर्व असत् होता है तथा उत्पत्ति के पश्चात् सत् होता है, जबकि कारण कार्य की उत्पत्ति के पूर्व सत् होता है तथा उत्पत्ति के पश्चात् वह असत् हो जाता है। इस दृष्टि से कार्य एवं कारण दोनों सदसदात्मक होते हैं।

(९) उपादान एवं निमित्त भेदों का प्रतिपादन भी जैनदर्शन में हुआ है। जिस कारण में कार्य उत्पन्न होता है अथवा जो कार्य का प्रमुख कारण होता है उसे उपादान कहते हैं तथा सहकारी कारण को निमित्त कारण कहा जाता है। वेदान्तदर्शन में उपादान एवं निमित्त शब्दों से ही कार्य-कारण-व्यवस्था का प्रतिपादन किया गया है। ये शब्द जैनदर्शन में विद्यानन्द की अष्टसहस्री, बृहद्द्रव्यसंग्रहटीका, स्वामिकातिक्रियानुप्रेक्षा आदि ग्रन्थों में प्रयुक्त हुए हैं।^३ फूलचन्द्र सिद्धान्तशास्त्री ने जैनतत्त्वमीमांसा में उपादान-निमित्त की विस्तृत चर्चा की है।

(१०) कार्य उत्पन्न हो जाने के अनन्तर अपनी अर्थक्रिया में वह कारण सापेक्ष नहीं रहता है, इसका प्रतिपादन प्रभाचन्द्र (१८०-१०६५ई.) ने प्रमेयकमलमार्तण्ड में किया है।^४

^१ (१) मल्लधारी हेमचन्द्र, विशेषावश्यकभाष्य वृत्ति, गाथा २१०३ एवं २९११

(२) स्याद्वादरत्नाकर, भारतीय बुक कार्पोरेशन दिल्ली, पृ० ८०३

^३ जैनदर्शन में सांख्य के सत्कार्यवाद, न्याय-वैशेषिक के असत्कार्यवाद, वेदान्त के सत्कारणवाद एवं बौद्धों के असत्कारण का निरसन कर सदसत्कार्यवाद एवं सदसत्कारणवाद की सिद्धि की गई है।

^४ अष्टसहस्री, पृ० २१०, बृहद्द्रव्यसंग्रहटीका, गाथा २१, स्वामिकातिक्रियानुप्रेक्षा, गाथा २१७

^५ प्रमेयकमलमार्तण्ड, भाग-१, पृ० ४१६-४१७

पंचकारण समवाय की पृष्ठभूमि

श्वेताश्वतरोपनिषद् में विभिन्न कारणवादों का उल्लेख हुआ है, यथा-
कालः स्वभावो नियतिर्यदृच्छा, भूतानि योनिः पुरुष इति चिन्त्या।
संयोग एषां न त्वात्मभावादात्माप्यनीशः सुखदुःखहेतोः॥

-श्वेताश्वतरोपनिषद्, १.२

काल, स्वभाव, नियति, यदृच्छा, पंचमहाभूत, योनि, पुरुष-इनका संयोग सृष्टि का कारण है, मात्र आत्मभाव से यह सृष्टि निर्मित नहीं हुई है, क्योंकि सुख-दुःख के कारण आत्मा भी स्वयं की ईश नहीं है। यहाँ पर यह संकेत प्राप्त होता है कि श्वेताश्वतर उपनिषद् में चेतन एवं अचेतन दोनों के संयोग को सृष्टि का कारण स्वीकार किया गया है। यह उपनिषद् उस समय प्रचलित सृष्टि की उत्पत्ति एवं उसके संचालन विषयक विभिन्न मतों को प्रस्तुत कर रहा है। कालवाद, स्वभाववाद, नियतिवाद, यदृच्छावाद, पंचभूतवाद, योनिवाद एवं पुरुषवाद इन सात मतों की ओर यहाँ संकेत मिल रहा है। उपनिषद् का यह मन्त्र विभिन्नवादों में समन्वय स्थापित कर रहा है।

इसी प्रकार का समन्वय हमें सिद्धसेनसूरि (पांचवीं शती) के 'सन्मतितर्क प्रकरण' की निम्नांकित गाथा में प्राप्त होता है।

कालो सहाव णियई, पुव्वकयं पुरिसे कारणेगंता।

मिच्छत्तं ते चेव, समासओ होति सम्मत्तं॥

- सन्मतितर्क, ३.५३

काल, स्वभाव, नियति, पूर्वकृत (कर्म), एवं पुरुष (चेतन तत्त्व, आत्मा, जीव) इन्हें एकान्त कारण मानने पर ये मिथ्यात्व के द्योतक हैं तथा इनका सामासिक (सम्मिलित) रूप सम्यक्त्व कहलाता है।

सिद्धसेनसूरि (सिद्धसेन दिवाकर) यहाँ श्वेताश्वतरोपनिषद् में उक्त यदृच्छावाद, पंचभूतवाद एवं योनिवाद के मतों को अस्वीकृत करते हुए पूर्वकृत कर्म का नूतन उल्लेख कर रहे हैं। जैनदर्शन यदृच्छावाद अथवा आकस्मिकवाद को स्वीकार नहीं करता। वह कार्य-कारण व्यवस्था को अंगीकार करता है। पंचभूत नाम जैन दर्शन में प्रचलित नहीं है, इनका समावेश पृथ्वीकायिकादि जीवों एवं पुद्गलों में हो जाता है। जैन दर्शन द्रव्य की कारणता को अंगीकार करता है, जिसमें पुद्गल द्रव्यों का समावेश हो जाता है। योनि का तात्पर्य है उत्पत्ति स्थान। इसका समावेश पुरुष (चेतन तत्त्व) एवं स्वभाव में

किया जा सकता है। इसलिए इसकी पृथक् गणना करने की आवश्यकता नहीं है। दूसरे विभागानुसार योनि को 'भव' कारण में समाविष्ट किया जा सकता है। पूर्वकृत कर्म को जैनदर्शन स्वीकार करता है, अतः उसे उक्त गाथा में स्थान दिया गया है।

जैनदर्शन में कारण-कार्य सिद्धान्त की पहले से ही व्यवस्था होते हुए भी उसके अनेकान्तवाद एवं नयवाद सिद्धान्त के कारण सिद्धसेनसूरि ने काल, स्वभाव, नियति, पूर्वकृत(कर्म) एवं पुरुष (जीव एवं उसकी क्रिया) के समुदाय को कार्य की उत्पत्ति में कारण स्वीकार किया है। जैनदर्शन में ये पाँचों कारण उत्तरकाल में पंच कारणसमवाय अथवा पंचसमवाय के नाम से प्रसिद्ध हुए हैं। सिद्धसेनसूरि इन पाँचों का समन्वय करने वाले प्रथम जैन दार्शनिक हैं, जो इनके एकान्तवाद को मिथ्या एवं सम्मिलित रूप को सम्यक् कहते हैं। पंचकारण-समवाय का यह सिद्धान्त जैन मान्यताओं से अविरुद्ध है। इसीलिए सिद्धसेनसूरि के अनन्तर विभिन्न जैन दार्शनिकों ने पंचकारणसमवाय सिद्धान्त का तार्किक समर्थन किया है। इन दार्शनिकों में हरिभद्रसूरि (७००-७७० ई.), शीलांकाचार्य (९-१०वीं शती) अभयदेवसूरि (१०वीं शती), मल्लधारी राजशेखरसूरि (१२-१३वीं शती), यशोविजय (१७वीं शती), उपाध्याय विनयविजय (१७वीं शती) आदि का नाम उल्लेखनीय है।^१ आधुनिक युग में पण्डित टोडरमल, कानजी स्वामी, श्री तिलोक ऋषि जी, शतावधानी रतनचन्द्र जी, आचार्य महाप्रज्ञ आदि ने पंच समवाय के सिद्धान्त को पुष्ट किया है।^२ सम्प्रति जैन धर्म के सभी सम्प्रदायों में पंचकारणसमवाय सिद्धान्त मान्य एवं प्रतिष्ठित है। जैनदर्शन सृष्टि उत्पत्ति की दृष्टि से कारणों की चर्चा नहीं करता, क्योंकि इसमें सृष्टि को अनादि अनन्त स्वीकार किया गया है।

कालादि पाँच कारणों के समुदाय को कार्य की सिद्धि में कारण स्वीकार करना जैन दर्शन की समन्वयात्मक दृष्टि का सूचक है। यह उसके व्यापक दृष्टिकोण को भी इंगित करता है। जैनदर्शन में काल, स्वभाव, नियति, पूर्वकृत कर्म, पुरुष/पुरुषकार की कारणता अनेक कार्यों में सिद्ध है। जैनदर्शन के पंचकारणसमवाय में सम्मिलित काल, स्वभाव, नियति, पूर्वकृतकर्म एवं पुरुषवाद/पुरुषकार के सम्बन्ध में प्राचीन भारतीय वाङ्मय में विविध प्रकार की जानकारीयाँ प्राप्त होती हैं। इनको एकान्त रूप से कारण मानने वाले कालवाद आदि सिद्धान्तों के स्वतन्त्र ग्रन्थ प्राप्त नहीं होते, किन्तु डॉ. श्वेता जैन ने इनके सम्बन्ध में परिश्रमपूर्वक सामग्री जुटायी है। यहाँ कालवाद, स्वभाववाद आदि पर संक्षेप में प्रकाश डाला जा रहा है।

^१ ग्रन्थ में लेखिका के द्वारा इन दार्शनिकों की यथास्थान चर्चा की गई है।

^२ इनके मन्तव्यों के उल्लेख हेतु द्रष्टव्य इस ग्रन्थ का सप्तम अध्याय।

कालवाद एवं जैनदर्शन में काल की कथंचित् कारणाता

कालवाद से आशय है ऐसी विचारधारा जो काल को ही कारण मानकर समस्त कार्य उसी से निष्पन्न होना स्वीकार करती है। इस विचारधारा का कोई स्वतन्त्र ग्रन्थ नहीं मिलता, किन्तु भारतीय परम्परा में इसकी गहरी जड़ें रही हैं। अथर्ववेद, नारायणोपनिषद्, शिवपुराण, भगवद्गीता आदि ग्रन्थों में तो काल को परमतत्त्व, परमात्मा, परब्रह्म, ईश्वर आदि स्वरूपों में प्रतिष्ठित किया गया है। अथर्ववेद के १९वें काण्ड के ५३-५४ वें सूक्तों को कालसूक्त के नाम से जाना जाता है। इनमें कहा गया है कि काल ने प्रजा को उत्पन्न किया, काल ने प्रजापति को उत्पन्न किया, स्वयम्भू कश्यप काल से उत्पन्न हुए हैं तथा तप भी काल से उत्पन्न हुआ।^१ काल सभी का ईश्वर और प्रजापति का पिता है। नारायणोपनिषद् में काल को नारायण कहा गया है। अथ्युपनिषद् में काल को समस्त पदार्थों का निरन्तर निर्माता कहा गया है- “कालश्च कलनोद्युक्तः सर्वभावानारतम्”। माण्डूक्योपनिषद् पर रचित गौडपादकारिका (१.८) में कालवाद का स्पष्ट उल्लेख हुआ है- “कालात्प्रसूतिं भूतानां मन्यन्ते कालचिन्तकाः”। शिवपुराण भी कहता है कि काल से ही सब उत्पन्न होता है तथा काल से ही विनाश को प्राप्त होता है। काल से निरपेक्ष कहीं कुछ नहीं है। विष्णुपुराण में उल्लेख है कि कालस्वरूप भगवान् अनादि हैं और इनका अन्त भी नहीं होता। श्रीमद्भागवत में निरूपित है कि पुरुषविशेष ईश्वर काल को उपादान कारण बनाकर अपने आप से विश्वरूप सृष्टि की रचना करता है। महाभारत को विश्वकोष कहा जाता है, अतः कालवाद के भी संकेत इसमें प्राप्त होते हैं। महाभारत में निगदित है कि स्थावर-जंगम प्राणी सभी काल के अधीन हैं। सूर्य, चन्द्रमा, जल, वायु, इन्द्र, अग्नि, आकाश, पृथ्वी, मित्र, पर्जन्य, वसु, अदिति, नदी, समुद्र आदि सभी का कर्ता काल है। सृष्टिगत कार्यों के साथ-साथ काल स्वयं सृष्टि का रचनाकार और संहारकर्ता है। श्रीमद्भगवद्गीता (११.३२) में श्रीकृष्ण ने स्वयं को काल कहा है। वे अर्जुन से कहते हैं- “कालोऽस्मि लोकक्षयकृत्प्रवृद्धो, लोकान् समाहर्तुमिह प्रवृत्तः।” सारी ज्योतिर्विद्या कालाश्रित है। काल के ही आधार पर ज्योतिर्विद्या में गणित एवं फलित निष्पादित किए गये हैं।

^१ कालः प्रजा असृजत, कालो अग्रे प्रजापतिम्।

स्वयम्भूः कश्यपः कालात् तपः कालादजायत॥ - अथर्ववेद, काण्ड १९, अध्याय ६, सूत्र ५३, मंत्र १०

भारतीय दर्शन भी काल की चर्चा करते हैं, किन्तु वे कालवादी नहीं हैं, क्योंकि वे एक मात्र काल से कार्य की उत्पत्ति नहीं मानते। काल को भारतीय दर्शन में प्रायः साधारण निमित्त कारण माना गया है। वैशेषिक दर्शन इसे द्रव्य मानता है तथा इसे एक, नित्य, व्यापक एवं अमूर्त स्वीकार करता है। उनके अनुसार काल की सिद्धि ज्येष्ठत्व, कनिष्ठत्व, क्रम, यौगपद्य, चिर, क्षिप्र आदि प्रत्ययों से होती है।^१ न्यायदर्शन में मान्य १२ प्रमेयों में काल की गणना नहीं हुई है, किन्तु प्रकारान्तर से न्यायदर्शन में काल को अवश्य स्वीकार किया गया है। उदाहरणार्थ मन की सिद्धि करते हुए अक्षपाद गौतम कहते हैं - “युगपज्ज्ञानानुत्पत्तिर्मनसो लिङ्गम्।” (न्यायसूत्र १.१.१६) यहाँ युगपत् शब्द काल का ही बोधक है। एक अन्य स्थल पर दिशा, देश और आकाश के साथ काल शब्द का भी कारणता के सम्बन्ध में प्रयोग किया गया है।^२ सांख्यदर्शन में काल को आकाश तत्त्व का ही स्वरूप माना गया है।^३ योगदर्शन में क्षण को वास्तविक तथा क्रम को अवास्तविक स्वीकार किया गया है, क्योंकि दो क्षण कभी भी साथ नहीं रहते हैं। पहले वाले क्षण के अनन्तर दूसरे क्षण का होना ही क्रम कहलाता है, इसलिए वर्तमान एक क्षण ही वास्तविक है, पूर्वोत्तर क्षण नहीं। मुहूर्त, अहोरात्र आदि जो क्षण समाहार रूप व्यवहार है वह बुद्धिकल्पित है, वास्तविक नहीं।^४ मीमांसादर्शन में काल का स्वरूप वैशेषिक दर्शन के समान माना गया है, किन्तु वैशेषिक जहाँ काल को अप्रत्यक्ष मानते हैं वहाँ मीमांसक उसे प्रत्यक्ष स्वीकार करते हैं।^५ अद्वैतवेदान्त में काल को व्यावहारिक रूप से स्वीकार किया गया है। शुद्धाद्वैत दर्शन में काल को अतीन्द्रिय होने से कार्य से अनुमित स्वीकार किया गया है।^६ व्याकरणदर्शन में भर्तृहरि के वाक्यपदीय में तृतीयकाण्ड का ‘कालसमुद्देश’ काल के स्वरूप एवं भेदों की चर्चा से सम्पृक्त है। टीकाकार हेलाराज ने काल को अमूर्त क्रिया के परिच्छेद का हेतु निरूपित किया है-“कालोऽमूर्तक्रिया-परिच्छेदहेतुः”।^७ बौद्धदर्शन में भी काल को भूत, वर्तमान एवं भविष्य के रूप में स्वीकार किया गया है तथा क्षणिक पदार्थ की व्याख्या

^१ कालः परापरव्यतिकरयौगपद्यचिरक्षिप्रप्रत्ययलिङ्गम्। - प्रशस्तपादभाष्य, द्रव्यनिरूपण

^२ दिदेशकालाकाशेष्वप्येवं प्रसंगः। - न्यायसूत्र २.१.२३

^३ दिक्कालावकाशादिभ्यः। - सांख्यप्रवचनभाष्य, द्वितीय अध्याय, सूत्र १२

^४ योगभाष्य, योगसूत्र ३.५२ पर

^५ नास्माकं वैशेषिकादिवदप्रत्यक्षः कालः, किन्तु प्रत्यक्ष एव, अस्मिन् क्षणे मयोपलब्ध इत्यनुभवात्। - शास्त्रदीपिका, ५.१.५.५

^६ अतीन्द्रियत्वेन कार्यानुमेयत्वेन च। - प्रस्थानरत्नाकर, पृ० २०२

^७ वाक्यपदीय, कालसमुद्देश, कारिका २ पर हेलाराजकृत प्रकाश व्याख्या।

करते हुए वे काल को भी महत्त्व देते हैं। हाँ, बौद्धदर्शन में क्षणस्थायी घटादि पदार्थ को भी क्षण कहा गया है।^१ भारतीय दर्शन में जहाँ भी काल की चर्चा है वहाँ उसे कार्य की उत्पत्ति में आकाश की भाँति साधारण कारण स्वीकार किया गया है, किन्तु एकमात्र काल से कार्य की उत्पत्ति मान्य नहीं की गई है।

जैनदर्शन में भी काल को द्रव्य स्वीकार किया गया है, किन्तु कार्य की उत्पत्ति में उसे उदासीन निमित्त कारण माना गया है। प्रत्येक द्रव्य के पर्याय परिणामन में जैनदर्शन काल को कारण मानता है। जैनदर्शन में काल की विस्तृत चर्चा प्राप्त होती है। तत्त्वार्थसूत्र में वर्तना, परिणाम, क्रिया, परत्व एवं अपरत्व को काल के उपकार या कार्य कहा गया है।^२ समस्त पदार्थों की जो काल के आश्रित वृत्ति है वह वर्तना है। वस्तु का वर्तनमात्र वर्तना है। द्रव्य उत्पत्ति अवस्था में हो, स्थिति अवस्था में हो अथवा गति अवस्था में वह जिस भी अवस्था में प्रथम समय में वर्तमान है वह काल के वर्तना नामक उपग्रह या कार्य का फल है।^३ जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म और आकाश द्रव्यों की वर्तना बहिरंग कारण की अपेक्षा रखती है और उनका बहिरंग कारण काल है। काल के वर्तन का उससे भिन्न कोई कारण नहीं है, अन्यथा अनवस्था दोष उत्पन्न होगा। द्रव्य की स्वजाति का त्याग किये बिना द्रव्य का प्रयोगलक्षण (जीव के प्रयत्न से जन्य) तथा विस्रसालक्षण (स्वभावतः उत्पन्न) विकार परिणाम कहलाता है। क्रिया परिस्पन्दात्मिका होती है। तत्त्वार्थभाष्य में गति को क्रिया कहा है तथा इसे तीन प्रकार का निरूपित किया गया है— प्रयोगगति, विस्रसागति एवं मिश्रिकागति।^४ विद्यानन्द ने तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक में क्रिया को द्रव्य की वह परिस्पन्दात्मक पर्याय माना है जो देशान्तर प्राप्ति में हेतु होती है तथा वह गति, भ्रमण आदि भेदों से युक्त होती है। यदि काल न हो तो क्रिया की अवधारणा घटित नहीं हो सकती। परत्व-अपरत्व शब्दों का प्रयोग काल के सन्दर्भ में ज्येष्ठ-कनिष्ठ, नया-पुराना आदि अर्थों में अथवा पूर्वभावी-पश्चाद्भावी के अर्थ में होता है। जैनदर्शन में काल अमूर्त है। वह वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श से रहित एवं अगुरुलघु है। वह अप्रदेशी किंवा एक प्रदेशी अर्थात् अनस्तिकाय होता है। लोक में प्रत्येक आकाश प्रदेश पर एक पृथक् कालाणु की सत्ता

^१ बौद्धानां मते क्षणपदेन घटादिरेव पदार्थो व्यवहियते, न तु तदतिरिक्तः कश्चित् क्षणो नाम कालोऽस्ति..... क्षणिकः पदार्थ इति व्यवहारस्तु भेदकल्पनया। - ब्रह्मविद्याभरण, द्वितीय, २.२०

^२ वर्तनापरिणामक्रियापरत्वात्वे च कालस्य। - तत्त्वार्थसूत्र, ५.२२

^३ तत्त्वार्थभाष्य ५.२२

^४ तत्त्वार्थभाष्य ५.२२

है।^१ अनन्त पर्यायों की वर्तना में निमित्त होने से यह काल अनन्त भी कहा जाता है। इन कालानुओं में स्निग्ध एवं रुक्ष गुण का अभाव होने से इनका प्रदेश प्रचय अथवा संचय नहीं बन पाता है। समय, आवलिका, मुहूर्त्त, अहोरात्र, पक्ष आदि को जैनदर्शन में अद्वासमय अथवा व्यवहार काल कहा गया है, जो मनुष्यों द्वारा अद्वाईद्वीप (जम्बूद्वीप, धातकीखण्ड एवं अर्द्धपुष्करद्वीप) में ही व्यवहृत होता है। व्यवहार काल को संख्यात, असंख्यात और अनन्त के भेद से भी समझा जाता है।

जैनदर्शनिकों ने काल की कारणता को उदासीन निमित्त के रूप में स्वीकार किया है तथा कालवाद की मान्यताओं का पूर्वपक्ष में उपस्थापन कर निरसन किया है। कालवाद के उपस्थापन एवं विधिवत् निरसन में मल्लवादी क्षमाश्रमण (५वीं शती), हरिभद्रसूरि (७००-७७० ई.), शीलांकाचार्य (९वीं-१०वीं शती), अभयदेवसूरि (१०वीं शती) का विशेष योगदान रहा है। इन दर्शनिकों की कृतियों में पूर्वपक्ष के रूप में काल को परम तत्त्व, परमात्मा, ईश्वर आदि के रूप में तो प्रतिपादित नहीं किया गया है, किन्तु समस्त कारणों के उपलब्ध होने पर भी काल के बिना कार्य नहीं होने के अनेक उदाहरण दिए गए हैं।^२ जैनदर्शनिक कालवाद का निरसन करते हुए विभिन्न तर्क देते हैं। दो, तीन तर्क उदाहरणार्थ यहाँ प्रस्तुत हैं-

(१) हरिभद्रसूरि कहते हैं कि एकमात्र काल को कारण मानना उचित नहीं है, क्योंकि काल के समान होने पर भी कार्य समान नहीं देखा जाता।

(२) शीलांकाचार्य कहते हैं कि क्या काल एक स्वभावी, नित्य और व्यापक है? ऐसा स्वीकार करने में कोई प्रमाण नहीं है, दूसरी बात यह है कि काल को एक स्वभावी, नित्य एवं व्यापक मानने पर उसमें पूर्वापर व्यवहार सम्भव नहीं है। यदि वह समयादि रूप से परिणामन करके कारण बनता है तो भी मात्र उसे ही कारण नहीं माना जा सकता, क्योंकि एक ही समय में कोई मूँग पकता है तथा कोई नहीं।

(३) अभयदेवसूरि का तर्क है कि प्रत्येक कार्य के लिए पृथक्-पृथक् काल की कारणता स्वीकार करना उपयुक्त नहीं है, क्योंकि इसमें अनित्यता आदि दोष आते हैं। काल की क्रम से एवं युगपद् दोनों प्रकार से ही कारणता स्वीकार नहीं की जा सकती। क्रम से कारण होने पर उसमें अनित्यत्व दोष आता है तथा युगपद् कार्योत्पत्ति मानने पर सभी कार्य एक साथ उत्पन्न हो जाने एवं फिर द्वितीय क्षण में काल के अकिंचित्कर होने की अवस्था बनती है।

^१ गोम्मतसार, जीवकाण्ड, ५८९ एवं द्रव्यसंग्रहवृत्ति, २२

^२ तर्कों की विस्तृत चर्चा ग्रन्थ में की गई है।

काल को ही एकान्त कारण मानने का जैनदार्शनिक खण्डन करते हैं, किन्तु उसकी कथंचित् कारणता उन्हें स्वीकार्य है। जैनदर्शन में प्रत्येक द्रव्य के पर्याय-परिणमन में काल की कारणता अंगीकार की गई है। धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय, जीवास्तिकाय एवं पुद्गलास्तिकाय के पर्याय-परिणमन में काल प्रमुख उदासीन निमित्त कारण है। यही नहीं सभी द्रव्यों का वर्तन काल से ही सम्भव होता है। क्रिया एवं ज्येष्ठ-कनिष्ठ का बोध भी काल के बिना सम्भव नहीं। काललब्धि को मोक्ष में भी हेतु माना गया है। कर्मसिद्धान्त में अबाधाकाल की अवधारणा भी काल की कारणता का द्योतन करती है। जैनदर्शन में काल के स्वरूप एवं कारणता की चर्चा पूर्व में भी की जा चुकी है।

स्वभाववाद एवं जैनदर्शन में उसकी कथंचित् कारणता

स्वभाववाद के अनुसार सभी कार्य स्वभावजन्य होते हैं। कांटों की तीक्ष्णता, मृगों और पक्षियों के विचित्र वर्ण एवं स्वरूप स्वभाव से होते हैं। स्वभाववाद का वेदों में सीधा उल्लेख नहीं है, किन्तु वेद व्याख्याकार पं. मधुसूदन ओझा ने नासदीयसूक्त के आधार पर दस वादों का स्थापन किया है। इन दस वादों के अन्तर्गत अपरवाद को स्वभाववाद कहा है। वे “अ पर” का अर्थ “स्व” (अ+पर) करते हैं तथा स्वभाववाद को चार रूपों में प्रस्तुत करते हैं—(१) परिणामवाद (२) यदृच्छावाद (३) नियतिवाद (४) पौरुषी प्रकृतिवाद।^१ स्वभाव से होने वाला परिणमन “परिणामवाद” कहा गया है। उदाहरण के लिए अग्नि की ज्वाला से ताप और प्रकाश स्वतः होते हैं। जल में शीतलता और अन्न-जल से तृप्ति स्वभावतः होती है। यदृच्छावाद को “आकस्मिकवाद” भी कहा जाता है। यह एक पृथक् विचारधारा के रूप में प्रचलित रहा, किन्तु पं. ओझा ने इसे स्वभाववाद का ही एक प्रकार स्वीकार किया है। नियतिवाद को भी पं. ओझा ने स्वभाववाद का अंग माना है। प्राचीनकाल में भी तिलों से तेल होता था, आज भी होता है और भविष्य में भी होता रहेगा, यह नियति एक स्वभाव है। प्रकृतिवाद भी स्वभाववाद है क्योंकि त्रिगुणात्मिकता प्रकृति में स्वभाव से परिणमन होता है। उन्होंने स्वभाव का सम्बन्ध प्रकृतिवाद से माना है तथा पुरुष को स्वभावातीत स्वीकार किया है। पदार्थों की नियत शक्ति का नाम स्वभाव है। जैसे अग्नि का स्वभाव है उष्णता—“स्वभावो नाम पदार्थानां प्रतिनियता शक्तिः

^१ स्वभावमेतं परिणाममेके प्रादुर्यदृच्छां नियतिं तथैके।

स्यात् पौरुषी प्रकृतिस्तदित्थं स्वभाववादस्य गतिश्चतुर्धा॥ - अपरवाद, मधुसूदन ओझा शोध प्रकोष्ठ, जोधपुर, लोकायतवाद अधिकरण, श्लोक ६, पृ० २

अग्नेरौष्ण्यमिव"।^१ हरिवंशपुराण में जगत् को स्वभावकृत प्रतिपादित किया गया है—“स्वभावाज्जायते सर्वं स्वभावाच्च ते तथाऽभवन्, अहंकारः स्वभावाच्च तथा सर्वमिदं जगत्।^२ स्वभाव से ही सबकी उत्पत्ति होती है, स्वभाव से ही वस्तुएँ वैसी हुई हैं। स्वभाव से ही यह अहंकार तथा यह सारा जगत् प्रकट हुआ है। माण्डूक्यकारिका में प्रतिपादित है कि अमर वस्तु कभी मरणशील नहीं होती और न मरणशील वस्तु कभी अमर। क्योंकि कोई भी वस्तु अपने स्वभाव के विपरीत नहीं हो सकती है।^३ भगवद्गीता में भी स्वभाववाद का प्रतिपादन है। क्योंकि वहाँ स्वभाव से उत्पन्न गुणों के आधार पर ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र के कर्मों का विभाग किया गया है। गीता में कहा गया है—

“न कर्तृत्वं न कर्माणि लोकस्य सृजति प्रभुः।

न कर्मफलसंयोगं स्वभावस्तु प्रवर्तते।।”-भगवद्गीता, ५.१४

अर्थात् लोक के कर्तृत्व, कर्म और कर्मफलसंयोग की प्रभु ने रचना नहीं की है, अपितु स्वभाव इन सबमें प्रवृत्त हुआ है। रामायण और महाभारत में भी स्वभाववाद का उल्लेख हुआ है। “स्वभावं भूतचिन्तकाः”^४ वाक्य के द्वारा पंचभूतों को स्वीकार करने वाले स्वभाववाद को अपनी विचारधारा में स्थान देते हैं। पाँच भूतों में अप्, आकाश, वायु, ज्योति और पृथ्वी का समावेश होता है। ये स्वभाव से ही साथ रहते हैं और स्वभाव से ही वियुक्त होते हैं। बुद्धचरित में स्पष्ट रूप से स्वभाववाद का उल्लेख हुआ है।^५ बृहत्संहिता, पंचतंत्र, हितोपदेश आदि साहित्यिक कृतियों में भी स्वभाव की चर्चा है। पं. नारायण ने स्वभाव को दुरतिक्रम बताया है।^६ सांख्यकारिका की मातरवृत्ति में स्वभाव की कारणता का स्पष्ट उल्लेख हुआ है।^७ न्यायसूत्र एवं

^१ शांकरभाष्य, श्वेताश्वतरोपनिषद्, १.२

^२ हरिवंशपुराण, द्वितीयखण्ड, संस्कृति संस्थान, ख्वाजा कुतुब बरेली, पृ० १८९, श्लोक १३

^३ न भवत्यमृतं मर्त्यं न मर्त्यममृतं तथा।

प्रकृतेरन्यथा भावो न कथंचिद् भविष्यति॥ - माण्डूक्यकारिका, ३.२०

^४ महाभारत, शान्ति पर्व, अध्याय २३२, श्लोक १९

^५ कः कण्टकस्य प्रकरोति तैक्ष्ण्यं विचित्रभावं मृगपक्षिणां वा।

स्वभावतः सर्वमिदं प्रवृत्तं न कामचारोऽस्ति कुतः प्रयत्नः॥ - बुद्धचरित, ९.६२

^६ यः स्वभावो हि यस्यास्ति स नित्यं दुरतिक्रमः। - हितोपदेश, विग्रह, श्लोक ६०

^७ केन शुक्लीकृता हंसाः शुकाश्च हरितिकृताः।

स्वभावव्यतिरेकेण विद्यते नात्र कारणम्॥ - मातरवृत्ति, सांख्यकारिका, ६१

न्यायभाष्य में स्वभाववाद का उपस्थापन एवं निरसन किया गया है।^१ वाक्यपदीय में स्वाभाविकी प्रतिभा का उल्लेख है।^२ बौद्ध ग्रन्थ तत्त्वसंग्रह में शान्तरक्षित ने स्वभाववाद का उल्लेख स्पष्ट रूप से किया है। स्वभाववादियों के अनुसार पदार्थों की उत्पत्ति समस्त स्व-पर कारणों से निरपेक्ष होती है। कमल के पराग, मयूर के चन्दोवा आदि का निर्माण किसी के द्वारा नहीं किया गया, स्वभाव से ही उनकी उपलब्धि होती है।^३ न्यायकुसुमाञ्जलि में उदयनाचार्य ने आकस्मिकवाद के अन्तर्गत स्वभाववाद की चर्चा की है। चार्वाक दर्शन में जगत् की विचित्रता को स्वभाव से ही उत्पन्न माना गया है। चार्वाक दर्शन स्वभाववाद का प्रतिनिधि दर्शन है।

जैन आगम प्रश्नव्याकरण सूत्र, नन्दीसूत्र की अवचूरि, हरिभद्र सूरि रचित लोकतत्त्वनिर्णय एवं शास्त्रवार्तासमुच्चय, शीलांकाचार्यकृत आचारांग एवं सूत्रकृतांग की टीका प्रभृति ग्रन्थों में स्वभाववाद की चर्चा उपलब्ध होती है। इनके अतिरिक्त मल्लवादी क्षमाश्रमण के द्वादशारनयचक्र, जिनभद्रगणिक्षमाश्रमण के विशेषावश्यकभाष्य, हरिभद्रसूरि रचित धर्मसंग्रहणि, अभयदेवसूरि कृत तत्त्वबोधविधायनी टीका में स्वभाववाद का उपस्थापन एवं निरसन प्राप्त होता है। जैन ग्रन्थों में प्रतिपादित स्वभाववाद एवं उसके निरसन से स्वभाववाद के सम्बन्ध में विभिन्न तथ्य प्रकट हुए हैं। जैनाचार्यों द्वारा निरूपित स्वभाववाद की विशेषताओं की चर्चा डॉ. श्वेता जैन ने विस्तार से की है। यहाँ कतिपय विशेषताएँ दी जा रही हैं-

(१) प्रश्नव्याकरणसूत्र के टीकाकार ज्ञानविमलसूरि ने स्वभाववाद का स्वरूप प्रतिपादित करते हुए कहा है कि सूंठ में तिक्तता और हरितकी में विरेचनशीलता का गुण स्वभाव से ही होता है।^४ नन्दीसूत्र की अवचूरि में कहा गया है कि स्वभाववाद के अनुसार सभी पदार्थ स्वभाव से उत्पन्न होते हैं, क्योंकि मिट्टी से कुम्भ उत्पन्न होता है, पटादि नहीं।^५

(२) शास्त्रवार्तासमुच्चय में कहा गया है कि प्रत्येक पदार्थ अपने स्वभावानुसार ही कार्य को उत्पन्न करता है। यदि सभी वस्तुओं की उत्पत्ति में मिट्टी

^१ न्यायसूत्र, अध्याय ४, सूत्र २२-२४

^२ वाक्यपदीय, वाक्यकाण्ड, कारिका, १४९-१५०

^३ तत्त्वसंग्रह, श्लोक १११-११२

^४ प्रश्नव्याकरण, मृषावाद प्रकरण, ज्ञानविमलसूरिटीका, शारदा मुद्रणालय, रतनपोल, अहमदाबाद

^५ (१) नन्दीसूत्र, मलयगिरिकृत अवचूरि, पृ० १७९

(२) षड्दर्शनसमुच्चय, भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली, पृ० १९-२० पर भी उद्धृत।

आदि की समान कारणता मानी जाए तो कारण-कार्य की व्यवस्था नहीं बन सकेगी।^१ हरिभद्रसूरि स्वभाववाद का पक्ष रखते हुए कहते हैं- पूर्व-पूर्व उपादान परिणाम उत्तरोत्तर होने वाले तत्तत् उपादेय परिणामों के प्रति कारण हैं। उदाहरण के लिए बीज का चरम क्षणात्मक परिणाम अंकुर के प्रथम क्षणात्मक परिणाम का कारण होता है। इस प्रकार क्रमवत् कार्यजनकत्व भी स्वभाव है।^२

(३) मल्लवादी क्षमाश्रमण द्वादशारनयचक्र में स्वभाववाद को प्रस्तुत करते हुए कहते हैं कि भूमि, जल आदि द्रव्यों की अपेक्षा रखकर कण्टकादि की उत्पत्ति होती है, यह भी स्वभाव ही है। भूमि आदि निमित्तों की निमित्तता भी स्वाभाविक है। इसका तात्पर्य यह भी है कि स्वभाववाद में उपादान एवं निमित्त दोनों का समावेश हो जाता है।^३

शीलाकाचार्य ने तज्जीवतच्छरीरवादी के मत में स्वभाव से ही जगत् की विचित्रता को उपपन्न बताया है।^४ कार्य की उत्पत्ति में स्वभाव से भिन्न द्रव्यों की उपस्थिति से स्वभाववादियों को कोई आपत्ति नहीं है, क्योंकि वे अन्य कारणों को स्वभाव के अन्तर्गत सम्मिलित करते हैं। स्वभाववाद के निरसन में भी जैनदार्शनिक सबल तर्क प्रस्तुत करते हैं। कतिपय तर्क द्रष्टव्य हैं-

(१) मल्लवादी क्षमाश्रमण स्वभाववादियों से प्रश्न करते हैं कि स्वभाव व्यापक है या प्रत्येक वस्तु में परिसमाप्त होता है ? यदि व्यापक है तो एकरूप होने के कारण पररूप का अभाव होने से स्व या पर विशेषण निरर्थक है। यदि यह प्रत्येक वस्तु में परिसमाप्त होता है तो लोक में प्रचलित घट के घटत्व, पट के पटत्व स्वभाव आदि से भिन्न यह स्वभाव नहीं हो सकेगा।^५

(२) हरिभद्रसूरि ने धर्मसंग्रहणि में अनेक प्रश्न खड़े किए हैं। स्वभाव भावरूप है या अभावरूप ? यदि भाव रूप है तो एकरूप है या अनेकरूप ? यदि अनेकरूप है तो वह मूर्त है या अमूर्त ? यदि मूर्त है तो वह जैनदर्शन में मान्य कर्म से अविशिष्ट यानी पुद्गलरूप होगा। यदि अमूर्त है तो वह अनुग्रह एवं उपघात न करने से

^१ द्रष्टव्य, शास्त्रवार्तासमुच्चय, स्तबक, २, श्लोक ६०

^२ पूर्वपूर्वोपादानपरिणामानामेवोत्तरोत्तरोपादेयपरिणामहेतुत्वात् - शास्त्रवार्तासमुच्चय टीका, स्तबक २, श्लोक ६०

^३ द्वादशारनयचक्र, भाग १, पृ० २२३-२२४

^४ द्रष्टव्य, सूत्रकृतांग, १.१.१ के श्लोक १२ की टीका।

^५ द्वादशारनयचक्र, भाग १, पृ० २३३

सुख-दुःख का हेतु नहीं हो सकता। स्वभाव यदि एक रूप है तो वह नित्य है या अनित्य ? यदि नित्य है तो वह भावों/पदार्थों की उत्पत्ति में हेतु नहीं हो सकता, क्योंकि उत्पत्ति में हेतु होने से उसमें परिवर्तन आ जाता है। यदि वह अनित्य है तो एक रूप होकर अनित्य नहीं हो सकता, क्योंकि विविध रूपों वाला होता है, अथवा अनेक होता है।^१

इस प्रकार विभिन्न तर्कों से जैनदार्शनिक मल्लवादी क्षमाश्रमण, जिनभद्रगणि (६-७वीं शती), हरिभद्रसूरि, शीलाकाचार्य, अभयदेवसूरि, यशोविजय (१७वीं शती) आदि ने स्वभाववाद का निरसन किया है। जैनदार्शनिकों ने स्वभाववाद के दो स्वरूपों का निरूपण किया है-१. स्वभावहेतुवाद एवं २. निर्हेतुक स्वभाववाद। प्रथम स्वरूप के अनुसार कार्य की उत्पत्ति एवं जगत् की विचित्रता में एकमात्र स्वभाव ही हेतु है। द्वितीय स्वरूप के अनुसार सभी पदार्थ एवं कार्य बिना किसी कारण के उत्पन्न होते हैं, यही उनका स्वभाव है, किन्तु स्वभाववाद का यह दूसरा रूप यदृच्छावाद, कादाचित्कत्व अथवा आकस्मिकवाद के रूप में भी जाना जाता है।

यद्यपि जैनदार्शनिकों ने स्वभाववाद का निरसन किया है तथापि नयवाद से जैनदर्शन में भी स्वभाव की कारणता स्वीकृत है। उदाहरण के लिए - षड्द्रव्य अपने स्वभाव के अनुसार ही कार्य करते हैं। परिणाम के त्रिविध प्रकारों में विप्रसा परिणमन में वस्तु का स्वभाव ही कारण बनता है। जीव का अनादि पारिणामिक भाव भव्यत्व, अभव्यत्व, जीवत्व आदि के रूप में स्वभाव से ही कार्य करता है। इसी प्रकार दर्शनावरण आदि अन्य कर्मों का भी अपना-अपना स्वभाव है, जिसके अनुसार वे कार्य करते हैं। जैन दर्शन में इसे कर्म का प्रकृतिबन्ध कहा जाता है। यही कारण है कि जैनदार्शनिक पंचकारण समवाय में स्वभाव को भी स्थान देते हैं।

नियतिवाद एवं जैनदर्शन में उसकी कथंचित् कारणता

नियतिवाद के अनुसार नियति ही सब कार्यों का कारण है। नियतिवाद मुख्यतः मंखलिपुत्र गोशालक की मान्यता के रूप में जाना जाता है। किन्तु यह भारतीय मनीषियों की विचारधारा में ओतप्रोत रहा है। आगम, त्रिपिटक, उपनिषद्, पुराण, संस्कृत महाकाव्यों एवं नाटकों में भी नियति के महत्त्व को स्पष्ट करने वाले उल्लेख प्राप्त होते हैं। सूत्रकृतांग टीका (१.१.२.३), शास्त्रवार्तासमुच्चय (२.६२ की टीका), उपदेशमहाग्रन्थ (पृ.१४०), लोकतत्त्वनिर्णय (पृ.२५, श्लोक २७) आदि दार्शनिक ग्रन्थों में नियतिवाद का प्रतिपादक निम्नांकित श्लोक प्राप्त होता है-

^१ धर्मसंग्रहण, गाथा ५४९-५५२

प्राप्तव्यो नियतिबलाश्रयेण योऽर्थः
 सोऽवश्यं भवति नृणां शुभोऽशुभो वा।
 भूतानां महति कृतेऽपि हि प्रयत्ने
 नाभाव्यं भवति न भाविनोऽस्ति नाशः॥

अर्थात् जो पदार्थ नियति के बल के आश्रय से प्राप्तव्य होता है वह शुभ या अशुभ पदार्थ मनुष्यों (जीवमात्र) को अवश्य प्राप्त होता है। प्राणियों के द्वारा महान् प्रयत्न करने पर भी अभाव्य कभी नहीं होता है तथा भावी का नाश नहीं होता है।

नियति को साहित्य में भवितव्यता भी कहा गया है। वेद में नियतिवाद का प्रतिपादक कोई मन्त्र या सूक्त नहीं है, किन्तु वेद विवेचक पं. मधुसूदन ओझा ने अपरवाद के अन्तर्गत नियतिवाद का समावेश भी किया है। श्वेताश्वतरोपनिषद्, महोपनिषद् एवं भावोपनिषद् में नियामक तत्त्व के रूप में नियतिवाद का प्रतिपादन हुआ है। हरिवंशपुराण में “दुर्वारा हि भवितव्यता”, “दुर्लभ्यं हि भवितव्यता”^१ इन उक्तियों से नियतिवाद की पुष्टि हुई है। रामायण में कहा गया है-

नियतिः कारणं लोके, नियतिः कर्मसाधनम्।

नियतिः सर्वभूतानां, नियोगेष्विह कारणम्॥

- किष्किन्धा काण्ड, सर्ग २५ श्लोक ४

लोक में नियति सबका कारण है, नियति समस्त कार्यों का साधन है, समस्त प्राणियों को विभिन्न कार्यों में संलग्न करने में नियति ही कारण है। महाभारत में भी नियति की प्रस्तुति निम्नांकित शब्दों में हुई है-

यथा यथाऽस्य प्राप्तव्यं, प्राप्नोत्येव तथा तथा।

भवितव्यं यथा यच्च, भवत्येव तथा तथा॥

- महाभारत, शान्तिपर्व, अध्याय २२६, श्लोक १०

अर्थात् पुरुष को जो वस्तु जिस प्रकार मिलने योग्य होती है, वह उसे उसी प्रकार प्राप्त कर लेता है। जो जिस प्रकार भवितव्य होता है वह वैसे घटित होता ही है। अभिज्ञानशाकुन्तलम् में भी भवितव्य शब्द से युक्त दो सूक्तियाँ प्रसिद्ध हैं-

(१) भवितव्यानां द्वाराणि भवन्ति सर्वत्र (२) भवितव्यता खलु बलवती।^२

^१ हरिवंशपुराण, ६१.७७ एवं ६२.४४

^२ अभिज्ञानशाकुन्तलम्, १.१४ एवं द्रष्टव्य ६.९ से पूर्व गद्य।

हितोपदेश में भी कहा गया है- 'यदभावि न तदभावि, भावि चेन्न तदन्यथा।'^१ जो होनहार नहीं है वह नहीं होगा तथा जो होनहार है वह अवश्य होगा। भर्तृहरि के नीतिशतक में भी इस प्रकार के विचार पुष्ट हुए हैं। काव्यप्रकाश जैसे साहित्यशास्त्र के ग्रन्थ में भी नियतिकृत नियम का उल्लेख हुआ है।^२ योगवासिष्ठ में अक्षय नियम को नियति कहा है। वे कहते हैं कि नियति को स्वीकार करते हुए भी व्यक्ति को पुरुषार्थ का त्याग नहीं करना चाहिए, क्योंकि पुरुषार्थ रूप से ही नियति नियामक होती है।^३ शैवदर्शन के ग्रन्थ परमार्थसार में "मुझे यह करना चाहिए और यह नहीं करना चाहिए" इस प्रकार के नियमन का हेतु नियति कहा गया है।^४

नियतिवाद का सम्प्रदाय आजीवक नामक सम्प्रदाय के नाम से जाना जाता है। जैन बौद्ध आगमों एवं त्रिपिटकों में नियतिवाद की चर्चा प्राप्त होती है। बौद्ध त्रिपिटक में दीघनिकाय के प्रथम भाग में मंखलि गोशालक के मत को प्रतिपादित करते हुए कहा गया है- "प्राणियों के दुःख का कोई प्रत्यय या हेतु नहीं है। बिना हेतु और प्रत्यय के प्राणी दुःखी होते हैं। प्राणियों की विशुद्धि का भी कोई हेतु या प्रत्यय नहीं है। बिना हेतु या प्रत्यय के ही प्राणी विशुद्धि को प्राप्त होते हैं। न आत्मा कुछ करती है और न पर कुछ करता है। न पुरुषकार है और न बल है, न वीर्य है, न पुरुषस्ताम है, न पुरुषपराक्रम है। सभी सत्त्व, सभी प्राणी, सभी भूत और सभी जीव अवश हैं, अबल हैं, अवीर्य हैं। नियति के संग के भाव से परिणत होकर छह प्रकार की अभिजातियों में सुख-दुःख का संवेदन करते हैं।"

जैनागम सूत्रकृतांग, भगवतीसूत्र और उपासकदशांग जैसे प्रमुख जैनागमों में नियतिवाद का निरूपण एवं निरसन हुआ है। सूत्रकृतांग (२.१.६६५) में नियतिवाद के सम्बन्ध में कहा गया है- "पूर्व आदि दिशाओं में रहने वाले जो त्रस एवं स्थावर प्राणी हैं, वे सब नियति के प्रभाव से ही औदारिक आदि शरीर की रचना को प्राप्त करते हैं। वे नियति के कारण ही बाल, युवा और वृद्धावस्था को प्राप्त करते हैं और शरीर से पृथक् होते हैं। वे नियति के बल से ही काणे या कुब्ज होते हैं। वे नियति का आश्रय लेकर ही नाना प्रकार के सुख-दुःखों को प्राप्त करते हैं।" उपासकदशांग में गोशालक के अनुयायी सकडालपुत्र की नियतिवादी मान्यता का भगवान् महावीर के द्वारा खण्डन किया गया है तथा प्रयत्न, पुरुषार्थ, पराक्रम आदि के महत्त्व का स्थापन किया गया है।

^१ हितोपदेश, संधि, श्लोक १०

^२ नियतिकृतनियमरहितां - काव्यप्रकाश, उल्लास १ श्लोक १

^३ योगवासिष्ठ ३.६२.२७

^४ नियतिः ममेदं कर्तव्यं नेदं कर्तव्यमिति नियमनहेतुः। - परमार्थसार की भूमिका, पृ० १७

जैनाचार्य सिद्धसेनसूरि ने द्वात्रिंशद्-द्वात्रिंशिकाओं में १६ वीं द्वात्रिंशिका में नियति का विवेचन किया है। इन्होंने नियति के स्वरूप की चर्चा करने के अनन्तर सर्व सत्त्वों के स्वभाव की नियतता प्रतिपादित की है। जीव, इन्द्रिय, मन आदि के स्वरूप का भी प्रतिपादन किया है तथा स्वर्ग-नरक की प्राप्ति नियति से स्वीकार की है। ज्ञान को भी उन्होंने नियति के बल से स्वीकार किया है। हरिभद्रसूरि के शास्त्रवार्तासमुच्चय में नियतिवाद का उपस्थापन किया गया है। नियतिवाद के अनुसार सभी पदार्थ नियत रूप से ही उत्पन्न होते हैं। नियति के बिना मृग का पकना भी सम्भव नहीं है। कार्य का सम्यक् निश्चय नियति से होता है। नियति के बिना कार्य में सर्वात्मकता की आपत्ति प्राप्त होती है—

अन्यथा नियतत्वेन सर्वभावः प्रसज्यते।

अन्योन्यात्मकतापत्तेः क्रियावैफल्यमेव च॥

—शास्त्रवार्तासमुच्चय, २.६४

सन्मतितर्क के टीकाकार अभयदेवसूरि ने नियतिवाद के पक्ष को प्रस्तुत करते हुए काल एवं स्वभाव को भी नियति में ही सम्मिलित कर लिया है, जैसा कि कहा है—“न च नियतिमन्तरेण स्वभावः कालो वा कश्चिद् हेतुः यतः कण्टकादयोऽपि नियत्यैव तीक्ष्णादितया नियताः समुपजायन्ते न कुण्ठादितया।”^१ अर्थात् नियति से भिन्न कोई स्वभाव अथवा काल हेतु नहीं है, क्योंकि कण्टकादि भी नियति से ही तीक्ष्णादि होते हैं, कुण्ठादि नहीं होते। दिगम्बर ग्रन्थ स्वयम्भूस्तोत्र, अष्टशती, गोम्मटसार एवं स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा में भी नियति का स्वरूप विवेचित हुआ है। गोम्मटसार में कहा है—

जत्तु जदा जेण जहा जस्स य णियमेण होदि तत्तु तदा।

तेण तहा तस्स हवे इति वादो णियदिवादो हु।।

—गोम्मटसार, कर्मकाण्ड

अर्थात् जो जब, जिसके द्वारा, जिस प्रकार, जिसके नियम से होना होता है वह हो तो यह नियतिवाद है। नियतिवाद में घटना की पूर्ण व्यवस्थिति सुनिश्चित है। भट्ट अकलंक ने अष्टशती में भवितव्यता से सम्बद्ध श्लोक उद्धृत किया है जिसका आशय है कि जैसी भवितव्यता होती है व्यक्ति की वैसी बुद्धि हो जाती है, वैसा ही प्रयत्न होता है तथा सहायक भी वैसे ही मिल जाते हैं।^२

^१ सन्मतितर्क ३.५३ पर अभयदेवकृत टीका।

^२ तादृशी जायते बुद्धिर्व्यवसायश्च तादृशः।

सहायास्तादृशाः सन्ति यादृशी भवितव्यताः। - अष्टशती में उद्धृत

जैनदार्शनिक जहाँ नियतिवाद को पूर्व पक्ष के रूप में प्रस्तुत करने में निपुण हैं, वहाँ वे उसकी एकान्त कारणता का भी निरसन करने में दक्ष हैं। जैनदार्शनिकों के कतिपय तर्क द्रष्टव्य हैं—

(१) सूत्रकृतांगसूत्र में नियतिवाद के निरसन में कहा गया है कि कोई सुख-दुःख पूर्वकृतकर्म जन्य होने से नियत होते हैं तथा कोई सुख-दुःख पुरुष के उद्योग, काल आदि से उत्पन्न होने के कारण अनियत होते हैं। इसलिए एकान्त नियति को कारण मानना समुचित नहीं।^१

(२) नियतिवाद को स्वीकार करने पर शुभ क्रिया के पुरुषार्थ की आवश्यकता नहीं रहती, इसलिए नियतिवादी विप्रतिपन्न हैं।

(३) नियति को अंगीकार करने पर हित की प्राप्ति एवं अहित के परिहार के लिए उपदेश निरर्थक हो जाता है।

(४) नियति की एकरूपता होने पर कार्यों की अनेकरूपता सम्भव नहीं हो सकती।

(५) अभयदेवसूरि कहते हैं कि नियति को नित्य मानने पर उसमें कारकत्व का अयोग होगा, क्योंकि नित्यत्व में परिवर्तनशीलता का अभाव होता है। नियति को अनित्य मानने पर वह स्वयं कार्य बन जाएगी, अतः उसकी उत्पत्ति के लिए किसी अन्य कारण की कल्पना करनी होगी।^२

नियतिवाद के निरसन में जैनदार्शनिकों ने अनेक तर्क दिए हैं, जिनकी चर्चा प्रस्तुत ग्रन्थ में देखी जा सकती है। किन्तु जैनदर्शन में काललब्धि एवं सर्वज्ञता ऐसे प्रत्यय हैं, जो जैनदर्शन में कथंचित् नियति को स्वीकृत करते हैं। जैनदर्शन की यह मान्यता है कि अनादिकालीन मिथ्यादृष्टि जीव काललब्धि आने पर ही सम्यक्त्व की प्राप्ति करता है। काललब्धि से आशय है समुचित काल की प्राप्ति। उसका होना नियत होता है तभी काललब्धि होती है। इसी प्रकार सर्वज्ञता को तीनों कालों के समस्त द्रव्यों एवं उनकी पर्यायों को जानने के रूप में स्वीकार किया जाता है तो भी भावी को जानने के कारण नियतता का प्रसंग उपस्थित होता है। इस नियतता के आधार पर ही विगत शताब्दियों में जैनदर्शन में क्रमबद्धपर्याय सिद्धान्त का विकास हुआ है। सर्वज्ञता का आत्मज्ञता अर्थ

^१ एवमेयाणि जंपंता, बाला पंडिअमाणिणो।

निययानिययं संतं, अयाणंता अबुद्धिया॥ - सूत्रकृतांग १.१.२.४.

^२ सन्मतितर्क ३.५३ पर अभयदेवकृत टीका

स्वीकार करने पर उपर्युक्त स्थिति नहीं बनती, तथापि जैन परम्परा में नियति को कारण मानने के अनेक उदाहरण प्राप्त होते हैं, यथा- (१) कालचक्र में अवसर्पिणी एवं उत्सर्पिणी का क्रम तथा उनमें छह आरकों का विधान। (२) २४ तीर्थंकर, १२ चक्रवर्ती, ९ बलदेव, ९ वासुदेव, ९ प्रतिवासुदेव आदि की मान्यता। (३) अकर्मभूमि में सदैव तथा कर्मभूमि में तीन आरों में स्त्री-पुरुष के युगलों की उत्पत्ति। (४) अनपवर्त्य आयुष्य वाले जीवों का आयुष्य की पूर्ण अवधि भोगकर मरण को प्राप्त होना। (५) पूर्वभवाश्रित सिद्धों, क्षेत्राश्रित सिद्धों, अवगाहना आश्रित सिद्धों का कथन भी कथंचित् नियति को मान्य करता है। एक समय में अधिकतम १०८ जीवों के सिद्ध होने का कथन इसी प्रकार का है। (६) विभिन्न गतियों में जीवों की अधिकतम आयु निश्चित है।

पूर्वकृतकर्मवाद एवं जैनदर्शन में उसका स्थान

पूर्वकृतकर्मवाद एक प्रमुख सिद्धान्त है जो यह प्रतिपादित करता है कि प्राणी के द्वारा पूर्व में किए गए कर्मों का फल अवश्य प्राप्त होता है। जीव जगत् की विचित्रता में यह एक प्रमुख कारण है। प्राणी के द्वारा किए गए कर्मों का फल ईश्वर प्रदान करता है, या अपने आप प्राप्त होता है, इस विषय में भारतीय दर्शनों में मतभेद है। न्याय-वैशेषिक आदि दर्शन कर्मों का फल प्रदाता ईश्वर को मानते हैं, जबकि जैन, बौद्ध आदि दर्शन इनकी फल-प्राप्ति को स्वतः व्यवस्थापित मानते हैं। इसमें सन्देह नहीं कि कर्म-सिद्धान्त को लेकर जितना चिन्तन जैनदर्शन में हुआ है, उतना किसी अन्य दर्शन में प्राप्त नहीं होता। ज्ञानावरण, दर्शनावरण आदि अष्टविध कर्मों, करण-सिद्धान्त तथा पुण्य-पाप, आस्रव-संवर, बंध-निर्जरा एवं मोक्ष सद्दृश तत्त्वों का प्रतिपादन जैनदर्शन का वैशिष्ट्य है जो कर्म-पुद्गलों के बंधन एवं विमोचन की प्रक्रिया को स्पष्ट करता है। पूर्वकृत कर्मों से ही दैव अथवा भाग्य का निर्माण होता है।

कर्म के साथ पुनर्जन्म का अटूट सम्बन्ध है। इसकी पुष्टि कठोपनिषद्,^१ बृहदारण्यकोपनिषद्,^२ छान्दोग्योपनिषद्, पुराण-साहित्य, रामायण एवं महाभारत सद्दृश ग्रन्थों से भी होती है। जैन एवं बौद्ध दर्शन के ग्रन्थ तो पुनर्जन्म को पुष्ट करते ही हैं, किन्तु चार्वाकदर्शन के अतिरिक्त सभी भारतीय दर्शन पुनर्जन्म को स्वीकार करते हैं। उपनिषदों में कर्म-सिद्धान्त का प्रतिपादन है इसको पुष्टि विभिन्न वाक्यों से होती है। कर्मणा बध्यते जन्तुर्विद्यया च विमुच्यते।^३ "मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः"^४ आदि ऐसे

^१ सस्यमिव मर्त्यः पच्यते सस्यमिवाजायते पुनः। - कठोपनिषद्, १.१.६

^२ पुण्यो वै पुण्येन कर्मणा भवति, पापः पापेनेति। - बृहदारण्यकोपनिषद्, ३.२.१३

^३ संन्यासोपनिषद्, २.९८

ही वाक्य है। रामायण में कहा है-“यादृशं कुरुते कर्म तादृशं फलमश्नुते।”^१ अर्थात् जो जैसा कर्म करता है उसे वैसा फल प्राप्त होता है। भगवद्गीता में अनासक्त कर्मयोग का प्रतिपादन है, जिसके अनुसार फलाकांक्षा से रहित होकर कर्म किया जाना चाहिए। “कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन” (भगवद्गीता, २.४७) वाक्य यही संदेश देता है। फलेच्छा में आसक्ति रखने वाला व्यक्ति सदा कर्मों से बंधता है।

संस्कृत-साहित्य में पूर्वकृतकर्म को दैव या भाग्य कहा गया है तथा उसके अनुसार फलप्राप्ति अंगीकार की गई है। शुक्रनीति में पूर्वजन्म कृत कर्म को भाग्य तथा इस जन्म में किए गए कर्म को पुरुषार्थ कहा है,^२ किन्तु भाग्य एवं पुरुषार्थ का दायरा इससे व्यापक है, क्योंकि इस जन्म में किया गया कर्म भी भाग्य को प्रभावित करता है। स्वप्नवासवदत्तम् में “कालक्रमेण जगतः परिवर्तमाना चक्रारपंवित्तिरिव भाग्यपंवित्तिः” तथा मेघदूत में “नीचैर्गच्छत्युपरि च दशा चक्रनेमिक्रमेण” आदि वाक्य भी पूर्वकृतकर्म अथवा भाग्य के स्वरूप को प्रकट करते हैं। भर्तृहरि विरचित नीतिशतक में “भाग्यानि पूर्वतपसा खलु संचितानि काले फलन्ति पुरुषस्य यथैव वृक्षाः” वाक्य स्पष्ट करता है कि पूर्वतप से संचित भाग्य समय आने पर उसी प्रकार फल प्रदान करते हैं, जैसे वृक्ष समय आने पर फल प्रदान करते हैं। योगवासिष्ठ में प्रतिपादित है कि दैव से प्रबल पुरुषार्थ होता है। भारतीय दर्शनों में भी कर्म को विभिन्न रूपों में स्वीकृति मिली है। न्यायदर्शन में इसे अदृष्ट, सांख्यदर्शन में धर्माधर्म, मीमांसादर्शन में अपूर्व तथा बौद्धदर्शन में चैतसिक कहा गया है। योगदर्शन में कृष्ण, शुक्ल, शुक्लकृष्ण एवं अशुक्लकृष्ण के भेद से चार प्रकार के कर्म निर्दिष्ट हैं।^३ वैदिक परम्परा में कर्म तीन प्रकार का है- संचित, प्रारब्ध और क्रियमाण। पूर्वजन्म में कृतकर्म संचित है, जिन कर्मों का फल प्रारम्भ हो गया है वे प्रारब्ध कर्म हैं तथा वर्तमान में पुरुषार्थ के रूप में जो कर्म किए जा रहे हैं वे क्रियमाण कर्म हैं।

श्वेताम्बर जैनपरम्परा में प्रज्ञापनासूत्र, व्याख्याप्रज्ञप्तिसूत्र, कर्मग्रन्थ, पंचसंग्रह, कम्पयडि आदि ग्रन्थों में तथा दिगम्बर परम्परा में षट्खण्डागम, कसायपाहुड, महाबंध तथा इनकी धवला, जयधवला महाधवला टीकाओं में कर्मसिद्धान्त का विस्तृत प्रतिपादन

^१ ब्रह्मबन्दिपनिषद्, २

^२ रामायण, उत्तरकाण्ड, सर्ग १५, श्लोक २३

^३ दैवे पुरुषकारे च खलु सर्वं प्रतिष्ठितम्।

पूर्वजन्मकृतं कर्मैहार्जितं तद् द्विधाकृतम्॥ - शुक्रनीति, १.४९.

^४ योगसूत्र, ४.७-८

हुआ है। पूर्वकृतकर्मवाद जैनदर्शन का प्रमुख सिद्धान्त है तथा जैनदर्शन में इसका विस्तृत विवेचन प्राप्त होता है। जैनदर्शन कर्म को पौद्गलिक अंगीकार करता है। कर्म एवं जीव का अनादिकाल से सम्बन्ध है, किन्तु मोक्षावस्था में जीव कर्म से रहित हो जाता है। शुभाशुभ क्रिया करने पर जीव में विद्यमान कषाय से कर्म-पुद्गल जीव के साथ चिपक जाते हैं, जिसे बन्ध कहते हैं। यह बन्ध प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेश के भेद से चार प्रकार का होता है। प्रकृतिबन्ध कर्म के ज्ञानावरण आदि स्वभाव को निश्चित करता है। स्थितिबन्ध उस कर्म की फलावधि को द्योतित करता है। अनुभाग या अनुभाव बन्ध उस कर्म की फलदानशक्ति की तरतमता का निर्धारण करता है तथा प्रदेशबन्ध कर्मप्रदेशसमूह को इंगित करता है। कर्मों को जैनदर्शन में आठ प्रकार का निरूपित किया गया है, यथा- ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय, मोहनीय, आयुष्य, नाम, गोत्र और अन्तराय। इनमें ज्ञानावरण कर्म जीव के ज्ञान को आवरित करता है, दर्शनावरण उसके दर्शन गुण को आवरित करता है। वेदनीय कर्म सुख-दुःख का वेदन कराता है। मोहनीय कर्म जीव की अन्तःदृष्टि को मलिन बनाता है तथा उसके आचरण को क्रोध, मान, माया एवं लोभ से युक्त करता है। आयुष्यकर्म एक भव की जीवनावधि का निर्धारक है। नामकर्म से गति, जाति, शरीरादि की प्राप्ति होती है। गोत्रकर्म जीव के उच्च एवं नीच संस्कारों का द्योतक है। अन्तरायकर्म विघ्नरूप होता है जो जीव के दान, लाभ, भोग, उपभोग एवं वीर्यगुण को बाधित करता है। जैनदर्शन में कर्म की बन्धन, सत्ता, उदय, उदीरणा, उद्वर्तना, अपवर्तना, संक्रमण, उपशमन, निधति एवं निकाचना अवस्थाओं का निरूपण हुआ है, जिनका स्वरूप इस ग्रन्थ के भीतर द्रष्टव्य है।

जैनदर्शन में कर्म को पौद्गलिक किंवा मूर्त माना गया है, क्योंकि वह आत्मा से भिन्न है तथा उस मूर्तकर्म से मूर्त शरीरादि की प्राप्ति होती है। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक् चारित्र और सम्यक् तप की साधना द्वारा जीव से मूर्तकर्म का सम्बन्ध-विच्छेद होने पर मुक्ति की प्राप्ति हो जाती है। मुक्त होने पर भी जीव में अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अव्याबाध सुख, क्षायिक सम्यक्त्व आदि गुण रहते हैं तथा उस जीव अथवा आत्मा का स्वतन्त्र अस्तित्व बना रहता है।

प्रश्न यह है कि जैन दर्शन कर्म-सिद्धान्त का सूक्ष्म विवेचन करके भी कार्य की सिद्धि में उसकी एकान्त कारणता को अंगीकार क्यों नहीं करता ? इसका एक कारण यह प्रतीत होता है कि जैन दर्शन व्यापकदृष्टि को लिए हुए है, अतः वह पुरुषार्थ को भी उतना ही महत्त्व देता है, जितना पूर्वकृत कर्म को। बल्कि नूतन कर्मों की रचना वर्तमान पुरुषार्थ से ही होती है। पुरुषार्थ के द्वारा पूर्वबद्ध कर्मों की स्थिति एवं फलदानशक्ति में भी परिवर्तन को जैनदर्शन अंगीकार करता है। पुरुषार्थ के साथ वह काल, स्वभावादि को भी महत्त्व देता है।

पूर्वकृतकर्मवाद जैनदर्शन की प्रमुख विशेषता है, फिर भी जैनदार्शनिक पूर्वकृतकर्मवाद को ही एक मात्र कारण मानने का निरसन करते हैं तथा काल, स्वभाव, पुरुषार्थ आदि की कारणता को भी महत्त्व देते हैं।

पुरुषवाद एवं पुरुषकार (पुरुषार्थ) : जैनदर्शन में इनका स्थान

पंच कारणसमवाय में जैनदार्शनिक पंचम कारण के रूप में पुरुषार्थ/पुरुषक्रिया को महत्त्व देते हैं। वस्तुतः पुरुषार्थ/पुरुषक्रिया श्रमण परम्परा का प्रमुख वैशिष्ट्य है, जिसका जैनदर्शन में भी अप्रतिम स्थान है। जैनदर्शन पुरुषार्थवादी दर्शन है, जिसमें जीव ही अपने कर्मफल के लिए उत्तरदायी होता है। वह ही अपने समस्त बंधनों से मुक्त होने का सामर्थ्य रखता है तथा वह ही अपने कार्यों से बंधन को सुदृढ़ बनाता है। अहिंसा, संयम एवं तप का निरूपण जैनदर्शन में जीव के स्वातन्त्र्य एवं पराक्रम का द्योतक है। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र्य स्वरूप त्रिरत्न जैनदर्शन में पुरुषकार/पुरुषार्थ के महत्त्व को प्रतिष्ठित करते हैं।

जैनदर्शन जहाँ पुरुषकार/पुरुषार्थ को प्रमुख स्थान देता है वहाँ वह पुरुषवाद का निरसन करता है। पुरुषवाद के अनुसार जगदुत्पत्ति में एक पुरुष, ब्रह्म या ईश्वर ही कारण है। जैनदर्शन ऐसे पुरुषवाद को कतई स्वीकार नहीं करता। वह तो जगत् को अनादि एवं अनन्त मानता है।

सिद्धसेनसूरि ने काल, स्वभाव आदि पंचकारण समवाय का प्रतिपादन करते समय जो “कालो सहाव णियई, पुव्वकयं पुरिसे कारणेगंता ” आदि गाथा दी है उसमें ‘पुरिसे’ शब्द का प्रयोग किया है। ‘पुरिसे’ के दो अर्थ हो सकते हैं— एक वह परम पुरुष जो समस्त सृष्टि की उत्पत्ति का कारण है तथा दूसरे अर्थ के अनुसार वह पुरुष जिसे चेतन या जीव कहा जाता है। जैनदर्शन के सन्दर्भ में द्वितीय अर्थ ग्राह्य है, प्रथम नहीं, क्योंकि जैनदर्शन प्रथम अर्थ जगत्स्रष्टा पुरुष का तो निरसन करता है। यही कारण है कि जैनदार्शनिक हरिभद्रसूरि ने ‘पुरिसे’ के स्थान पर बीजविंशिका में ‘पुरिसकिरियाओ’ शब्द का प्रयोग किया है।^१ पुरिसकिरियाओ का अर्थ है— पुरुष अर्थात् जीव की क्रिया। पुरुष या जीव की इस क्रिया को पुरुषकार अथवा पुरुषार्थ भी कहा जा सकता है। जैनदर्शन के पंचकारणसमवाय में पुरुषकार, पुरुषार्थ या पुरुषक्रिया शब्द का प्रयोग ही अभीष्ट है। उत्तरवर्ती कुछ आचार्यों ने यही अर्थ ग्रहण किया है।

पुरुषवाद कारण-कार्य व्यवस्था का एक सिद्धान्त रहा है, जिसकी चर्चा वेदों में भी प्राप्त होती है। ऋग्वेद में इस पुरुष का वर्णन ‘सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः

^१ तह भव्यत्तं जं कालनियइपुव्वकयंपुरिसकिरियाओ।

अकिखवइ तह सहावं ता तदधीणं तयं पि भवे॥ - बीजविंशिका, ९

सहस्रपात्। स भूमिं विश्वतो वृत्वात्यतिष्ठत् दशाङ्गुलम्' (ऋग्वेद १०.४.९०.१) आदि शब्दों में हुआ है, जिसका तात्पर्य है कि वह पुरुष सहस्र शिरों वाला, सहस्र नेत्रों वाला, सहस्र पैरों वाला है, वह भूमि को चारों ओर से घेरकर स्थित है। पुरुष की महिमा में कहा है-

पुरुष एवेदं सर्वं यदभूतं यच्च भव्यम् ।

उतामृतत्वस्येशानो यदन्नेनातिरोहति ।।

-ऋग्वेद १०.४.९०.२

अर्थात् जो कुछ विद्यमान है, जो कुछ उत्पन्न हुआ है और जो उत्पन्न होने वाला है तथा जो अमृतत्व का ईश है और अन्न से आविर्भाव को प्राप्त होता है वह पुरुष ही है। इस पुरुषवाद का वर्णन ऐतरेयोपनिषद्, तैत्तिरीयोपनिषद्, श्वेताश्वतरोपनिषद्, प्रश्नोपनिषद् आदि उपनिषदों में भी प्राप्त होता है। वहाँ कहीं पुरुष एवं कहीं ब्रह्म शब्द का प्रयोग किया गया है। छान्दोग्योपनिषद् में 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म'^१ वाक्य में उसे ब्रह्म कहा है। तैत्तिरीयोपनिषद् की ब्रह्मवल्ली, अनुवाक् १ में कहा है- "यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति। यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति। द्विजिज्ञास्व। तद् ब्रह्मेति।" जिससे ये प्राणी उत्पन्न होते हैं, उत्पन्न होकर जिसके साथ जीते हैं तथा जिसमें मिल जाते हैं, उसे जानो, वह ब्रह्म है।"

इस प्रकार यह पुरुषवाद ही ब्रह्मवाद के रूप में वर्णित है। इस पुरुषवाद का ही ईश्वरवाद के रूप में भी विकास हुआ है। पुराण, महाभारत, रामायण एवं मनुस्मृति ग्रन्थ इसके साक्षी हैं। यह विशेष बात है कि उस जगत्प्राप्ता पुरुषवाद का वर्णन पूर्वपक्ष के रूप में जैन ग्रन्थों में भी हुआ है। मल्लवादी क्षमाश्रमण (५वीं शती) के द्वादशारनयचक्र में उस पुरुष को सर्वात्मक एवं सर्वज्ञ प्रतिपादित करने के साथ उसकी चार अवस्थाएँ बताई गई हैं, यथा- जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति और तूर्य।^२ इन चार अवस्थाओं का वर्णन माण्डूक्योपनिषद् में भी प्राप्त होता है। वहाँ जगत् के साथ पुरुष का ऐक्य स्वीकार किया गया है। जिनभद्रगणि (६-७वीं शती) ने विशेषावश्यकभाष्य^३ में एवं अभयदेवसूरी (१०-११वीं शती) ने सन्मतितर्कटीका में पुरुष के स्वरूप को उपस्थापित किया है। अभयदेवसूरी ने पुरुषवाद के अनुसार समस्त लोक की स्थिति, सर्ग और प्रलय का हेतु उस पुरुष को बताया है।^४

^१ छान्दोग्योपनिषद्, अध्याय ३, खण्ड १४, मन्त्र १

^२ द्वादशारनयचक्र, भाग १, पृ० १७९-१८२

^३ विशेषावश्यकभाष्य एवं मल्लधारी हेमचन्द्र की वृत्ति, गाथा १६४३

^४ सन्मतितर्कटीका (तत्त्वबोधविधायिनी), पृ० ७१५

मल्लवादी क्षमाश्रमण, जिनभद्रगणि एवं अभयदेवसूरि ने अपनी कृतियों में पुरुषवाद का आमूल उत्पाटन किया है। मल्लवादी के अनुसार पुरुष की अद्वैतता, सर्वगतता एवं सर्वज्ञता सम्भव नहीं है। उन्होंने पुरुष की जाग्रत आदि चार अवस्थाओं का भी निरसन किया है।^१ अभयदेवसूरि ने विभिन्न तर्क देते हुए कहा है कि बिना उद्देश्य के एवं अनुकम्पा से पुरुष के द्वारा सृष्टि की रचना करना उचित नहीं, क्योंकि तब दुःखी प्राणियों की रचना नहीं की जा सकती। दूसरी बात यह है कि वह न युगपत् जगत् का निर्माण कर सकता है, न ही क्रम से, क्योंकि दोनों में दोष आते हैं।^२

ब्रह्मवाद का निरूपण एवं निरसन प्रभाचन्द्र (११वीं शती) ने प्रमेयकमलमार्तण्ड में विस्तार से किया है। ब्रह्मवाद के अनुसार ब्रह्म ही समस्त जगत् के चेतन-अचेतन, मूर्त-अमूर्त आदि पदार्थों का उपादान कारण होता है। मायोपहित ब्रह्म ही जगत् का कारण है। प्रभाचन्द्र ने ब्रह्मवाद की अद्वैतता एवं जगत्कारणत्व का सबल खण्डन किया है।^३

ईश्वरवाद मुख्यतः न्याय-वैशेषिक दर्शन का सिद्धान्त है। वेदान्त में भी इसे अज्ञान की समष्टि से आच्छन्न ब्रह्म के रूप में स्वीकृति दी गई है। ईश्वरवाद की सिद्धि में न्यायदार्शनिक उदयन ने न्यायकुसुमांजलि में विभिन्न हेतु दिए हैं, किन्तु उनका निरसन अभयदेवसूरि, प्रभाचन्द्र, मल्लिषेणसूरि ने अपनी कृतियों में सबल रूप से किया है। मल्लिषेण ने स्याद्वादमंजरी में स्पष्टतः सिद्ध किया है कि ईश्वर जगत् का कर्ता नहीं है, क्योंकि एक ईश्वर द्वारा जगत् का निर्माण सम्भव नहीं। वह न सर्वज्ञ है और न ही जगत् के कार्य में स्वतन्त्र।^४

पुरुष का जीव अर्थ ग्रहण करके पुरुषकार, पुरुषक्रिया अथवा पुरुषार्थ की स्थापना को जैनदर्शन में पूर्ण स्वीकृति है, क्योंकि जैनदर्शन श्रमणसंस्कृति का दर्शन होने के कारण मूलतः पुरुषार्थवादी है। यहाँ उत्थान, कर्म, बल, वीर्य, पराक्रम आदि को महत्त्व दिया गया है।^५ जैनदर्शन का मन्तव्य है कि सुख-दुःख का कर्ता आत्मा स्वयं है। दुःख दूसरे के द्वारा नहीं, स्वयं के द्वारा उत्पन्न है- अत्तकडे दुक्खे नो परकडे'। पुरुषार्थ के चार प्रकारों की दृष्टि से कहें तो जैनदर्शन में धर्म पुरुषार्थ का सर्वाधिक महत्त्व है, क्योंकि वही मोक्ष का साधन बनता है। अर्थ एवं काम पुरुषार्थ को यहाँ त्याज्य कहा गया है। यदि उनका सेवन भी किया जाए तो धर्म पुरुषार्थ पूर्वक सेवन किया जाना

^१ द्वादशारनयचक्र, भाग १, पृ० २४६-२४८

^२ सन्मतितर्कटीका (तत्त्वबोधविधायिनी), पृ० ७१५

^३ प्रमेयकमलमार्तण्ड, प्रथम भाग, पृ० १८५-१९०

^४ स्याद्वादमंजरी, कारिका ५ की टीका।

^५ उट्ठाणे कम्मे बले वीरिए पुरिसक्कारपरक्कमे, तं चेव जाव अफासे पन्नत्ते।

- व्याख्याप्रज्ञप्ति, शतक १२, उद्देशक ५, सूत्र ११

चाहिए। जैनदर्शन अहिंसा, संयम एवं तप में पराक्रम करने की शिक्षा देता है। संवर एवं निर्जरा की साधना को ही जैनदर्शन में महत्त्व दिया गया है, वही मोक्ष में सहायक होती है। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चरित्र के रूप में इसे त्रिरत्न कहा जाता है। जैनदर्शन में समता की साधना हो या अप्रमत्तता की, अहिंसा का आचरण हो या अपरिग्रह का, परीषहजय का प्रसंग हो या आभ्यन्तर तप के आराधन का, स्वाध्याय का आराधन हो या ध्यान का, सर्वत्र पुरुषकार या पुरुषार्थ की आवश्यकता प्रतिपादित की गई है।

पुरुषार्थवादी दर्शन होकर भी इसमें काल, स्वभाव, नियति एवं पूर्वकृतकर्म की कारणता को भी महत्त्व दिया गया है, इसलिए इसे एकान्त पुरुषार्थवादी भी नहीं कहा जा सकता। हाँ, पुरुषार्थ की प्रधानता के साथ अन्य कारणों को भी महत्त्व दिया जा सकता है। इसीलिए इसमें पंचकारणों के समवाय को अंगीकार किया गया है। काल, स्वभाव, नियति आदि पाँच कारणों में कभी कोई प्रधान होता है तो कभी कोई गौण। कभी जीव की प्रवृत्ति ही न हो तो अजीव से जन्य कार्योत्पत्ति में पुरुषार्थ एवं पूर्वकृत की कारणता का होना आवश्यक नहीं होता।

कालादि में भेद-व्यवस्था

काल, स्वभाव, नियति, पूर्वकृतकर्म एवं पुरुषार्थ में सूक्ष्मतया क्या भेद है, इसे समझना आवश्यक है। काल की कारणता में वस्तु के स्वभाव की कारणता का समावेश नहीं होता, इसलिए काल को स्वभाव से भिन्न मानना चाहिए। मूंग की फली जब खेत में पकती है तो उसमें काल भी कारण है एवं स्वभाव भी, किन्तु कालवादी मात्र काल को कारण कहेगा तथा स्वभाववादी मात्र स्वभाव को कारण कहेगा। स्वभाववादी मूंग को आंच पर पकाते समय कहेगा कि जो मूंग पकने के स्वभाव वाले हैं वे ही पकते हैं एवं कड़ु मूंग लाख प्रयत्न करने पर भी नहीं पकते। नियति में काल एवं स्वभाव की अपेक्षा रहती है, किन्तु नियतिवाद के अनुसार नियति ही कारण है, काल एवं स्वभाव नहीं। नियतिवाद का सिद्धान्त एक ऐसा सिद्धान्त है जिसमें समस्त कारण समाहित है। नियतिवाद जीव एवं अजीव के सब कार्यों एवं अवस्थाओं को नियतिजन्य मानता है। जो भी भवितव्य है वह सुनिश्चित है, वह होकर ही रहेगा। नियतिवाद एक ऐसा सिद्धान्त है जिसमें काल, स्वभाव, पूर्वकृतकर्म एवं पुरुषार्थ सबका समावेश हो जाता है, यह हमारी समस्याओं का मनोवैज्ञानिक उत्तर तो हो सकता है, किन्तु इससे आत्म-स्वातन्त्र्य का सिद्धान्त कुण्ठित होता है। पूर्वकृतकर्म का जो सिद्धान्त है उसके अनुसार जीव को अपने द्वारा कृत कर्मों की फलप्राप्ति होती है। इसे नियति से भिन्न समझना चाहिए। पूर्वकृतकर्म पुरुषार्थ से निर्मित वे कर्म हैं जिनका फल यथावसर प्राप्त होने वाला है। इन्हें दैव या भाग्य भी कहा गया है। नियति इससे भिन्न है क्योंकि वह जीव एवं अजीव दोनों पर लागू होती है जबकि पूर्वकृतकर्म का सम्बन्ध जीव से ही है। पूर्वकृतकर्म जहाँ पुरुषार्थ पर

आधृत है वहाँ नियति के सम्बन्ध में ऐसा निश्चित नहीं कहा जा सकता, क्योंकि उसमें कर्मसिद्धान्त एवं पुरुषार्थ को महत्त्व नहीं दिया गया है। पुरुषवाद का सिद्धान्त सब कुछ जगत्स्रष्टा एवं संचालक परमपुरुष के अधीन मानता है। उससे ही जगत् उत्पन्न है तथा वही प्रत्येक कार्य को उत्पन्न करता है, उसी में सब विलीन होता है। यह पुरुषवाद ही ब्रह्मवाद एवं ईश्वरवाद के रूप में विकसित हुआ। पुरुष का अर्थ जब जीव करते हैं तो जीव की क्रिया अथवा पुरुषकार/पुरुषार्थ का स्वरूप उभरकर आता है, जो कार्य की उत्पत्ति में एक महत्त्वपूर्ण कारण है। जैनदर्शन को इसकी कारणता अभीष्ट है।

निष्कर्ष रूप में यह कहा जा सकता है कि जैनदर्शन के कारण-कार्य सिद्धान्त के ढांचे में पंचकारण-समवाय का सिद्धान्त सर्वथा उपयुक्त है। यह जैनदर्शन की अनेकान्तवादी, नयवादी एवं समन्वयवादी दृष्टि का परिचायक है। इस सिद्धान्त का प्रारम्भ जहाँ सिद्धसेनसूरि से हुआ है वहाँ हरिभद्रसूरि, मलयगिरि, शीलानकाचार्य अभयदेवसूरि, यशोविजय आदि दार्शनिकों ने इसे पुष्ट किया है। जैनदर्शन में पहले से स्वीकृत द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव एवं भव की कारणता से इस पंचकारणसमवाय का कोई विरोध नहीं है, अपितु इन पंच कारणों का द्रव्य, क्षेत्र आदि में समावेश किया जा सकता है। उदाहरणार्थ काल को काल में, स्वभाव एवं पूर्वकृत कर्म को भाव में, नियति को भव एवं क्षेत्र में, पुरुषार्थ को जीवद्रव्य एवं भाव (जीव के भाव) में समाहित किया जा सकता है।

डॉ. श्वेता जैन ने इस पुस्तक में कालवाद, स्वभाववाद, नियतिवाद, पूर्वकृत-कर्मवाद एवं पुरुषवाद/पुरुषकार पर भारतीय परम्परा के ग्रन्थों से दुर्लभ सामग्री का संयोजन कर महत्त्वपूर्ण कार्य किया है। कालवाद, स्वभाववाद, नियतिवाद एवं पुरुषवाद पर अद्यावधि कोई स्वतन्त्र ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है, न ही एक साथ इतनी विपुल सामग्री का कहीं संयोजन हुआ है। अतः यह इन वादों की जानकारी के लिए अत्यन्त महत्त्वपूर्ण एवं उपादेय है। इस ग्रन्थ की तीन प्रमुख विशेषताएँ हैं। एक तो यह कि इसमें जैनदृष्टि से कारण-कार्यव्यवस्था का प्रतिपादन हुआ है, दूसरा यह कि इसमें कालवाद, स्वभाववाद आदि पाँचों कारणसिद्धान्तों पर वेदों से लेकर जैनदर्शन के ग्रन्थों में प्राप्त विवेचन के आधार पर व्यवस्थित रूप से सामग्री संयोजित की गई है। तीसरी विशेषता है कि इस ग्रन्थ में जैनदृष्टि से काल, स्वभाव, नियति, पूर्वकृतकर्म और पुरुष/पुरुषार्थ की कथंचित् कारणता सिद्ध की गई है। मैं डॉ. श्वेता जैन के उज्ज्वल शैक्षिक भविष्य हेतु शुभकामना करता हूँ।

धर्मचन्द्र जैन

आचार्य, संस्कृत-विभाग

जयनारायण व्यास विश्वविद्यालय

जोधपुर

विषयानुक्रमणिका

पुरोवाक्	v-xii
भूमिका	xiii-xi
प्रथम अध्याय : जैनदर्शन में कारणवाद और पंच समवाय	१-७१
➤ कारण-कार्य का लक्षण	१
➤ कारण-कार्य के प्रमुख सिद्धान्त	२
• सत्कार्यवाद	३
• विवर्तवाद (सत्कारणवाद)	५
• असत्कार्यवाद	६
• असत्कारणवाद या प्रतीत्यसमुत्पाद	७
➤ जैनदर्शन में कार्य-कारण सिद्धान्त	९
• सदसत्कार्यवाद	९
• कारण और कार्य के लक्षण	१०
• कार्यकारण में क्रमभाव	१२
• कार्य में कारण से विशिष्टता	१२
• नित्यानित्यात्मक पदार्थों में ही कार्यकारणभाव	१३
➤ कार्य-कारण की भेदाभेदता	१४
➤ कार्य-कारण की सदृशासदृशात्मकता	१५
➤ विशेषावश्यक भाष्य में कारण विचार	१६
• तद्द्रव्य और अन्य द्रव्य कारण	१७
• निमित्त और नैमित्तिक कारण	१७
• समवायी और असमवायी कारण	१७
• षट्कारकों की कारणता	१७

➤ द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव और भव की कारणता	२०
• जैन वाङ्मय में एतत् विषयक विचार	२०
• द्रव्य की कारणता	२२
• क्षेत्र की कारणता	२३
• काल की कारणता	२४
• भाव की कारणता	२५
▪ औदयिक, औपशमिक, क्षायिक, क्षायोपशमिक, पारिणामिक और सान्निपातिक भाव की कारणता	२६
▪ विशेषावश्यक भाष्य में प्रशस्त एवं अप्रशस्त भाव	२७
• भव की कारणता	२८
➤ निमित्त और उपादान	२८
• वैदिक दर्शन में उपादान एवं निमित्त का स्वरूप	३०
• जैनदर्शन में उपादान-निमित्त का स्वरूप	३१
• षड्द्रव्यों में निमित्तोपादानता	३५
• द्रव्यादिचतुष्क में निमित्तोपादानता.	३५
➤ षड्द्रव्यों की कारणता	३५
• धर्मास्तिकाय की कारणता	३६
• अधर्मास्तिकाय की कारणता	३७
• आकाशास्तिकाय की कारणता	३७
• काल की कारणता	३८
• पुद्गल की कारणता	३८
• जीवास्तिकाय की कारणता	३९

➤ षड्द्रव्य में घटित कार्य का स्वरूप	४०
➤ पंच समवाय और उसकी कारणता	४३
• पंच समवाय से आशय	४३
• भारतीय वाङ्मय में स्वभावादि कारणों की चर्चा	४३
• पंच समवाय के विकास में सिद्धसेनसूरि एवं उत्तरवर्ती आचार्यों का योगदान	४५
• आधुनिक काल में पंच समवाय की संस्थिति	४९
• कालवाद	५१
• स्वभाववाद	५२
• नियतिवाद	५३
• पूर्वकृत कर्मवाद	५५
• पुरुषार्थवाद/पुरुषवाद	५६
➤ अन्यवाद	६०
➤ निष्कर्ष	६१
 द्वितीय अध्याय : कालवाद	 ७२-१३१
➤ उत्थापनिका	७२
➤ वेद, उपनिषद् और पुराण में कालवाद	७५
• वेद में कालवाद के तत्त्व	७६
• उपनिषद् में कालवाद	७६
• पुराण में कालवाद के तत्त्व	७७
• महाभारत में कालवाद एवं उसका निरसन	७९
• श्रीमद्भगवद् गीता में काल का परमात्म स्वरूप	८१

➤ ज्योतिर्विद्या में कालवाद	८१
➤ विभिन्न भारतीय दर्शन में काल का स्वरूप एवं उसकी कारणता	८२
• वैशेषिक दर्शन में काल स्वरूप एवं उसकी कारणता	८२
• न्याय दर्शन में काल	८४
• सांख्य दर्शन में काल एवं उसकी कारणता	८४
• योग दर्शन में काल एवं उसकी कारणता	८५
• पूर्व मीमांसा में काल	८५
• वेदान्त दर्शन में काल	८६
• व्याकरण दर्शन में काल एवं उसकी कारणता	८७
➤ जैन ग्रन्थों में कालवाद की चर्चा	८८
• आगम एवं उनकी टीकाओं में कालवाद के तत्त्व	८९
• क्रियावाद आदि चार मत	८९
▪ क्रियावादी	८९
▪ अक्रियावादी	९१
▪ अज्ञानवादी	९२
▪ विनयवादी	९३
• क्रियावादियों और अक्रियावादियों में कालवाद के भेद	९४
• आगम टीकाओं में कालवाद का स्वरूप	९५
• सिद्धसेन सूरि, हरिभद्रसूरि आदि के ग्रन्थों में कालवाद	९६
➤ जैन दार्शनिकों द्वारा कालवाद का उपस्थापन एवं निरसन	९८
• मल्लवादी क्षमाश्रमण द्वारा उपस्थापन एवं निरसन	९८
• हरिभद्रसूरि द्वारा उपस्थापन एवं खण्डन	९९

● शीलांकाचार्य द्वारा उपस्थापित पूर्वपक्ष एवं उसका खण्डन	१०१
● अभयदेव सूरि द्वारा निरूपण एवं निरसन	१०४
➤ जैनदर्शन में काल का स्वरूप	१०७
● काल विषयक दो मत	१०७
● काल के भेद	१०८
● काल का अनस्तिकायत्व एवं अप्रदेशात्मकत्व	१०८
● काल की अनन्तसमयरूपता	१०९
➤ जैनदर्शन में काल की कारणता	१०९
➤ जैनदर्शन में मान्य काल के कार्य	१११
➤ निष्कर्ष	११४

तृतीय अध्याय : स्वभाववाद १३२-२३६

➤ उपस्थापन	१३२
➤ ऋग्वेद में अपरवाद के रूप में स्वभाववाद	१३३
● परिणामवाद	१३३
● यदृच्छावाद	१३४
● नियतिवाद	१३४
● प्रकृतिवाद	१३५
➤ उपनिषद् में स्वभाववाद की चर्चा	१३६
➤ पुराण में स्वभाव विषयक मत	१३७
➤ गीता में स्वभाव का प्रतिपादन	१३८
➤ रामायण में स्वभाव की कारणता	१३९
➤ महाभारत में स्वभाववाद का निरूपण एवं निरसन	१३९

➤ संस्कृत साहित्य में स्वभाववाद का स्वरूप	१४२
• बुद्धचरित में	१४२
• बृहत्संहिता में	१४३
• पंचतन्त्र में	१४३
• हितोपदेश में	१४४
➤ दार्शनिक कृतियों में स्वभाववाद की चर्चा	१४४
• सांख्यकारिका और उसकी वृत्ति में स्वभाववाद	१४४
• न्याय सूत्र एवं न्याय भाष्य में स्वभाववाद का विमर्श	१४५
• वाक्यपदीय में स्वभाव की कारणता	१४६
• बौद्ध ग्रन्थ तत्त्वसंग्रह में स्वभाववाद की चर्चा	१४७
• न्यायकुसुमांजलि में आकस्मिकवाद के अन्तर्गत स्वभाववाद	१४९
• चार्वाक दर्शन में स्वभाववाद	१५१
➤ जैन ग्रन्थों में स्वभाववाद का निरूपण	१५२
• प्रश्नव्याकरण सूत्र एवं उसकी टीकाओं में	१५२
• नन्दीसूत्र की अवचूरि में	१५४
• हरिभद्रसूरि विरचित लोक तत्त्व निर्णय में	१५४
• शास्त्रवार्ता समुच्चय में स्वभाववाद का विस्तृत विवेचन	१५५
• आचारांग सूत्र की शीलांक टीका में	१६१
• सूत्रकृतांग की शीलांक टीका में	१६१
• क्रियावाद और अक्रियावाद में स्वभाववाद के भेद	१६३
• तिलोक काव्य कल्पतरु में स्वभाववाद का पद्यबद्ध रूप	१६४
➤ स्वभाववाद का निरूपण एवं निरसन: विभिन्न ग्रन्थों में	१६७
• मल्लवादी क्षमाश्रमण के द्वादशारण्यचक्र में स्वभाववाद का उपस्थापन एवं खण्डन	१६७

• जिनभद्रगणि द्वारा विशेषावश्यक भाष्य में स्वभाववाद का निरूपण एवं निरसन	१७०
• हरिभद्रसूरि विरचित धर्मसंग्रहणि में स्वभावहेतुवाद का निरसन	१७२
• शास्त्रवार्ता समुच्चय में स्वभाववाद का खण्डन	१७५
▪ हरिभद्रसूरि द्वारा स्वभावहेतुवाद का निरसन	१७५
▪ टीकाकार यशोविजय द्वारा खण्डन में प्रस्तुत तर्क	१७७
• अज्ञात कृतिकार द्वारा निरूपण एवं निरसन	१७९
• अभयदेवसूरिकृत तत्त्वबोधविधायिनी टीका में स्वभाववाद का उपस्थापन एवं खण्डन	१८०
• बौद्ध दार्शनिक शान्तरक्षित द्वारा तत्त्वसंग्रह में स्वभाववाद का उपस्थापन एवं निरसन	१८६
➤ जैनदर्शन में स्वभाव का स्वरूप एवं उसकी कारणाता	१९१
• आगम में स्वभाव निरूपण	१९२
▪ भगवती सूत्र और उसकी वृत्ति में	१९२
▪ स्थानांग सूत्र एवं उसकी वृत्ति में	१९२
▪ सूत्रकृतांग टीका में	१९३
• दिगम्बर परम्परा में स्वभाव की चर्चा	१९३
• स्वभाव-विभाव पर्याय के आधार पर स्वभाव का स्वरूप	१९५
• स्वभाव के भेद	१९७
▪ द्रव्य के आधार पर	२०६
○ सामान्य	१९७
○ विशेष	१९९
▪ पर्याय के आधार पर	२००
▪ वस्तु-देश-जाति-कालगत स्वभाव	२०१
➤ निष्कर्ष	२०२

चतुर्थ अध्याय : नियतिवाद

२३७-३३८

- उत्थापनिका २३७
- नियतिवाद के प्ररूपक गोशालक- एक परिचय २४१
- वैदिक वाङ्मय में नियतिवाद की चर्चा : पं. ओझा का मत २४५
- उपनिषदों में नियतिवाद २४६
- पुराण साहित्य में नियति एवं उसके पर्याय २४७
- रामायण में नियति की कारणता २४८
- महाभारत में नियति का स्वरूप २४९
- संस्कृत-साहित्य में नियति का विशेष रूप २४९
 - अभिज्ञानशाकुन्तल में भवितव्यता के रूप में नियति २४९
 - भर्तृहरि विरचित नीतिशतक में नियति २५०
 - हितोपदेश एवं पंचतन्त्र में भवितव्यता २५०
 - राजतरंगिणी में नियति की महत्ता २५१
 - काव्य प्रकाश में नियति २५१
- दार्शनिक ग्रन्थों में नियति का स्वरूप २५२
 - बौद्ध त्रिपिटक में नियतिवाद २५२
 - योगवासिष्ठ में नियति एवं पुरुषार्थ की सापेक्षता २५२
 - शैवदर्शन के ग्रन्थ परमार्थसार में नियति २५३
- जैन ग्रन्थों में नियतिवाद का निरूपण २५५
 - आगम एवं टीकाओं में चर्चित नियतिवाद २५५
 - सूत्रकृतांग में नियतिवाद का स्वरूप २५५
 - भगवती, स्थानांग और सूत्रकृतांग की निर्युक्ति में नियतिवाद २५७
 - प्रश्नव्याकरण और उसकी टीकाओं में नियतिवाद २५९

- नन्दीसूत्र की अवचूरि में नियतिवाद २६०
- आचारांग सूत्र की शीलांक टीका में नियतिवाद २६१
- आचार्य सिद्धसेन द्वारा उपस्थापित नियतिवाद २६१
 - नियति द्वात्रिंशिका में निरूपित नियतिवाद २६१
 - सर्वसत्त्वों के स्वभाव की नियतता २६१
 - बुद्धि के धर्मादि आठ अंग और नियति २६३
 - नियतिवाद में जीव का स्वरूप २६३
 - इन्द्रिय और मन का स्वरूप २६४
 - स्वर्ग-नरकादि नियति से २६४
 - ज्ञान में भी नियति २६४
 - उच्चकुलीनों का स्वभाव नियति से नियत २६५
 - नियतिवादी द्वारा मान्य सृष्टि स्वरूप २६५
 - नियतिवाद द्वारा मान्य तत्त्व २६६
 - अनुमान का स्वरूप नियतिवाद में २६६
 - कर्तृत्ववाद (आत्मवाद) के खण्डन में नियतिवाद का प्रतिपादन २६७
 - शरीर आदि का कर्ता आत्मा नहीं २६७
 - जगद्वैचित्र्य और धर्म-अधर्म का अप्रत्यक्ष रूप कर्तृत्ववाद को सिद्ध करने में असमर्थ २६८
 - उपादान-निमित्त कारण से कर्तृप्राधान्यवाद का घात २६८
 - दृष्टान्तमात्र से आत्मवाद को सिद्ध करना असंभव २६९
- हरिभद्रसूरिकृत शास्त्रवार्ता समुच्चय में नियतिवाद २६९
- लोकतत्त्व निर्णय में नियतिवाद २७२
- यशोविजयकृत नयोपदेश में नियतिवाद २७२
- तिलोकऋषि द्वारा निबद्ध काव्य में नियतिवाद २७३

➤ दिगम्बर ग्रन्थों में नियति की चर्चा	२७५
• स्वयम्भूस्तोत्र में नियति	२७५
• अष्टशती में भवितव्यता	२७६
• गोम्मटसार एवं स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा में नियति	२७६
➤ जैनागम एवं दार्शनिक ग्रन्थों में नियतिवाद का निरूपण एवं निरसन	२७८
• सूत्रकृतांग और उसकी शीलांक टीका में नियतिवाद का निरूपण एवं निरसन	२७८
• उपासकदशांग में नियतिवाद का प्रत्यवस्थान	२८२
• प्रश्नव्याकरण की टीकाओं में नियतिवाद का खण्डन	२८४
• द्वादशारनयचक्र में नियतिवाद का उपस्थापन एवं निरसन	२८४
• शास्त्रवार्ता समुच्चय में नियतिवाद का खण्डन	२८७
• सन्मति तर्क टीका में नियतिवाद का स्वरूप एवं उसका निरसन	२९०
• धर्मसंग्रहणि टीका में मलयगिरि द्वारा नियतिवाद का निरसन	२९२
• जैन तत्त्वादर्श में नियतिवाद का खण्डन	२९३
➤ काललब्धि और नियति	२९६
• काललब्धि के अभाव में सम्यक्त्व का अभाव	२९६
• मोक्ष में काललब्धि की हेतुता	२९७
• सभी पर्यायों में काललब्धि	२९८
➤ सर्वज्ञता और नियतिवाद	२९८
➤ क्रमबद्धपर्याय और नियतिवाद	३०२
➤ पूर्वकृत कर्म और नियतिवाद	३०३
➤ पुरुषार्थ और नियतिवाद	३०४
➤ आचार्य महाप्रज्ञ के मत में नियति का स्वरूप	३०४
➤ निष्कर्ष	३०६

पंचम अध्याय : पूर्वकृत कर्मवाद	३३९-४५८
➤ उत्थापनिका	३३९
➤ वेदों में कर्म-संदर्भ	३४१
➤ उपनिषदों में कर्म चर्चा	३४३
➤ पुराणों में कर्म-प्रतिष्ठा	३४७
➤ आदिकाव्य रामायण में कर्म चर्चा	३४८
➤ महाभारत में कर्म विचार	३५०
➤ भगवद्गीता में कर्म की अवधारणा	३५२
➤ संस्कृत-साहित्य में पूर्वकृत कर्म का स्वरूप	३५५
• शुक्रनीति में दैव	३५५
• स्वप्नवासवदत्त में भाग्य	३५५
• पंचतंत्र में कर्म	३५५
• हितोपदेश में पूर्वजन्मकृत कर्म	३५६
• नीतिशतक में भाग्य एवं कर्म	३५७
➤ योगवासिष्ठ में दैव और पुरुषार्थ	३५८
➤ विभिन्न भारतीय दर्शनों में कर्म	३६०
• न्यायदर्शन में कर्म	३६१
• वैशेषिक सूत्र में कर्म	३६२
• सांख्यदर्शन में कर्म	३६३
• मीमांसा दर्शन में कर्म	३७७
• बौद्ध दर्शन में कर्म	३६५
• वेदान्त दर्शन में कर्म	३६६
• योगदर्शन में कर्म	३७७

➤ कर्म की अवधारणा : कतिपय मुख्य बिन्दु	३६७
• कर्म और भाग्य	३६७
• ईश्वर और कर्मफल	३६८
▪ न्याय वैशेषिक दर्शन में कर्मफलदाता : ईश्वर	३६९
▪ वेदान्त में ईश्वर द्वारा कर्मफल	३७०
▪ सांख्यादि अनीश्वरवादी दर्शनों में कर्मफल	३७०
• जैनमत में कर्म, कर्मफल और ईश्वर विषयक विचार	३७१
• कर्मवादियों पर ईश्वरवादियों का आक्षेप और उसका समाधान	३७३
➤ जैन दर्शन में कर्म सिद्धान्त : विकसित स्वरूप	३७४
• कर्म का अर्थ एवं स्वरूप	३७५
• कर्म बन्ध : चार प्रकार	३७६
• कर्म की विभिन्न अवस्थाएँ	३७८
• अष्टविध कर्म और उनकी उत्तर प्रकृतियाँ	३८२
• कर्मबन्ध के हेतु	४८८
• कर्मबन्ध के विशिष्ट कारण	४९०
• कर्म मोक्ष	३९३
➤ विशेषावश्यक भाष्य में कर्म-विवेचन	३९४
• कर्म की सिद्धि : विभिन्न हेतुओं से	३९५
• कर्म की मूर्तता	३९९
• कर्म की परिणामिता	४००
• विचित्रता में कर्म की कारणता	४०१
• परलोक का आधार : कर्म	४०२

- मूर्त कर्म का अमूर्त आत्मा से संबंध ४०२
- जीव-कर्म का अनादि संबंध ४०२
- कर्म का कर्ता : जीव ४०३
- कर्मबंध अनादि सान्त है ४०३
- पुण्य-पाप का स्वरूप ४०४
- पुण्य-पाप कर्मों का फल : स्वर्ग-नरक ४०४
- देहादि की प्राप्ति एवं सुख-दुःखादि में पुण्य-पाप की कारणता ४०५
- कर्मपुद्गल ग्रहण की प्रक्रिया ४०६
- कर्म-संक्रम का नियम ४०७
- जीव के साथ कर्म का वियोग संभव ४०८

➤ कर्म सिद्धान्त : कतिपय अन्य बिन्दु ४०८

- कर्म की मूर्तता के संबंध में विचार ४०८
- मूर्त कर्म से अमूर्त आत्मा का संबंध और प्रभाव ४०९
- कर्म-फल संविभाग नहीं ४०९
- कर्म-सिद्धान्त के दो महत्त्वपूर्ण तथ्य : गुणस्थान एवं मार्गणास्थान ४११
- आत्मा और कर्म से संबंधित समस्याएँ ४१२
 - कर्म पहले या आत्मा? ४१२
 - कर्म बलवान या आत्मा? ४१३
 - अनादि का अन्त कैसे? ४१४
- कर्म और पुनर्जन्म ४१५

➤ जैन कर्म सिद्धान्त संबंधी साहित्य ४१६

- श्वेताम्बर परम्परा में ४१६
- दिगम्बर परम्परा में ४१७

➤ जैनवाङ्मय में एकान्त कर्मवाद एवं उसका खण्डन	४१७
• आचारांग सूत्र एवं उसकी शीलांक टीका में कर्मवाद	४१७
• द्वादशारनयचक्र में कर्मवाद का उपस्थापन एवं प्रत्यवस्थान	४१८
• शास्त्रवार्ता समुच्चय एवं उसकी टीका में कर्मवाद का निरसन	४२१
• सन्मतितर्क टीका में कर्मवाद का निरूपण एवं निरसन	४२४
➤ निष्कर्ष	४२६

षष्ठ अध्याय : पुरुषवाद और पुरुषकार ४५९-५४२

➤ उत्थापनिका	४५९
• पुरुषवाद से पुरुषार्थवाद तक	४५९
• पुरुषकारणता : पुरुषवाद, ईश्वरवाद एवं पुरुषार्थ के रूप में	४६०
• पंच समवाय में पुरुषकारवाद/पुरुषार्थवाद का औचित्य	४६०

पुरुषवाद

➤ पुरुषवाद का प्रतिपादन	४६२
• वेद में पुरुषवाद की चर्चा	४६२
• उपनिषद् में पुरुषवाद का प्रतिपादन	४६४
• पुराणों में पुरुषवाद पर विचार	४६६
• महाभारत और गीता में पुरुषवाद	४६८
• रामायण में पुरुषवाद	४६८
• मनुस्मृति में सृष्टिरचना	४६९
• जैन ग्रन्थों में पुरुषवाद का निरूपण एवं निरसन	४७०
▪ सूत्रकृतांग सूत्र में सृष्टि-रचना विषयक विभिन्न मत	४७०
▪ द्वादशारनयचक्र में पुरुषवाद का निरूपण.	४७०

■ मल्लवादी क्षमाश्रमण द्वारा पुरुषवाद का निरसन	४७२
○ पुरुष की चार अवस्थाओं का निरसन	४७६
○ 'पुरुष एव इदं सर्वं' का निरसन.	४७८
○ पुरुष की अद्वैतता का निरसन	४७८
○ पुरुष की सर्वगतता का निरसन	४७९
■ विशेषावश्यक भाष्य में पुरुषवाद का निरूपण एवं निरसन	४७९
■ सन्मतितर्क की टीका में अभयदेवसूरि द्वारा प्रस्तुत पुरुषवाद एवं उसका निरसन	४८०
○ निरुद्देश्य और अनुकम्पा से सृष्टि की रचना अनुचित	४८१
○ युगपत् और क्रमपूर्वक जगत् का निर्माण असमीचीन	४८१
○ अबुद्धिपूर्वक जगत्-निर्माण में प्रवृत्ति नहीं	४८१
➤ ब्रह्मवाद : पूर्वपक्ष एवं उत्तरपक्ष	४८२
● प्रमेयकमलभार्तृण्ड में ब्रह्मवाद का स्वरूप एवं खण्डन	४८२
■ प्रत्यक्षप्रमाण से ब्रह्मवाद की सिद्धि	४८३
■ प्रभाचन्द्र द्वारा निरसन	४८३
■ अनुमान प्रमाण से ब्रह्मवाद की सिद्धि	४८४
■ प्रभाचन्द्र द्वारा निरसन	४८४
■ आगम प्रमाण से ब्रह्मवाद की सिद्धि	४८४
■ प्रभाचन्द्र द्वारा निरसन	४८५
➤ ईश्वरवाद : पक्ष-प्रतिपक्ष	४८५
● पुरुषवाद का विकास ईश्वरवाद में	४८५
■ ईश्वरवाद की सिद्धि में साधक प्रमाण	४८६

- सूत्रकृतांग और उसकी टीका में ईश्वरवाद का निरूपण एवं निरसन ४८८
 - ईश्वर की स्वतः प्रेरित और परतः प्रेरित क्रियाएँ कल्पना मात्र ४८९
 - पूर्व शुभाशुभ कर्मों की कारणता से ईश्वर की सिद्धि अयुक्तियुक्त ४८९
 - अविनाभाव के अभाव में कार्यमात्र से कारण का अनुमान असंगत ४८९
 - जगत् का वैचित्र्य ईश्वर की सिद्धि में अनुपपन्न ४९१
- सन्मतितर्क टीका में ईश्वरवाद का निरसन ४९१
- प्रभाचन्द्राचार्य द्वारा ईश्वरवाद का खण्डन ४९२
- सांख्यतत्त्वकौमुदी में ईश्वरवाद का खण्डन ४९५
- स्याद्वादमंजरी के अनुसार ईश्वरवाद का प्रत्यवस्थान ४९५
 - ईश्वर जगत्कर्ता नहीं ४९६
 - जगत् का निर्माण एक ईश्वर द्वारा संभव नहीं ४९७
 - ईश्वर की सर्वज्ञता का निरसन ४९७
 - ईश्वर जगत्सर्जन में स्वतन्त्र भी नहीं ४९८

पुरुषार्थ/पुरुषकार

- जैन दर्शन में पुरुषकार (पुरुषार्थ) का महत्त्व ४९९
- भारतीय संस्कृति में पुरुषार्थ चतुष्टय ५०१
 - धर्म पुरुषार्थ ५०१
 - अर्थ पुरुषार्थ ५०२
 - काम पुरुषार्थ ५०२
 - मोक्ष पुरुषार्थ ५०३

➤ जैन दर्शन में धर्म-पुरुषार्थ की प्रमुखता	५०३
➤ जैन साधना-पद्धति में पुरुषार्थ	५०४
➤ संयम में पराक्रम का उपदेश	५०४
➤ पुरुषकार : जीव का लक्षण	५०६
➤ चारित्र धर्म : पुरुषार्थ का द्योतक	५०६
➤ परीषह जय में पुरुषार्थ	५०७
➤ वीर्य के रूप में पुरुषार्थ निरूपण	५०७
➤ सम्यक्त्व पराक्रम : उत्तराध्ययन का एक अध्ययन	५०८
➤ तप के रूप में पुरुषार्थ	५०८
➤ पराक्रम का एक रूप : अप्रमत्तता	५०९
➤ संवर एवं निर्जरा में पुरुषार्थ की उपयोगिता	५१०
➤ शरीरादि की प्राप्ति में पुरुषार्थ की कारणता	५१०
➤ कर्म सिद्धान्त में पुरुषार्थ का स्थान	५१०
➤ पुरुषार्थ से असंख्यात गुणी कर्म निर्जरा	५१२
➤ निष्कर्ष	५१४

सप्तम अध्याय : जैन दर्शन की नयदृष्टि एवं पंच समवाय ५४३-६०४

➤ उत्थापनिका	५४३
➤ पंच कारण समवाय के प्रथम प्रणेता : सिद्धसेन दिवाकर	५४४
➤ 'पंच समवाय' शब्द का प्रथम प्रयोग	५४५
➤ पंच समवाय की प्रतिष्ठा	५४६
➤ जैनदर्शन में काल की कारणता	५४७
• सभी द्रव्यों के परिणमन में काल की कारणता	५४७
• व्यवहार में काल की कारणता	५४८
• धर्मास्तिकाय की भाँति 'काल' की स्वतंत्र द्रव्यता	५४८

● काल की बहिरंग कारणता	५४९
● वर्तना का कारण आकाश नहीं, काल है	५४९
● काललब्धि के रूप में काल की कारणता	५४९
● अबाधा काल के रूप में काल की कारणता	५५०
● विभिन्न आरकों का प्रभाव	५५१
➤ जैनदर्शन में स्वभाव की कारणता	५५२
● षड्द्रव्यों का अपना स्वभाव	५५२
● उत्पादव्ययध्रौव्यात्मकता : स्वभाव	५५२
● विस्मसा परिणमन में स्वभाव की कारणता	५५३
● जीव का अनादि पारिणामिक भाव : स्वभाव	५५३
● अष्ट कर्मों में स्वभाव की कारणता	५५३
➤ जैनदर्शन में नियति की कारणता	५५४
● कालचक्र में नियति की कारणता	५५४
● तीर्थकरों में नियति	५५५
● काल एवं क्षेत्र में नियति.	५५६
● जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति में नियति पोषक तत्त्व	५५६
● सिद्धों में नियति	५५६
● ६३ शलाका पुरुषों में नियति	५५७
● कर्मसिद्धान्त में नियति	५५७
● केवलज्ञान सहित दश बोलों का विच्छेद	५५८
● नियति की साधारण धारणाएँ	५५९
➤ जैनदर्शन में पूर्वकृत कर्म की कारणता	५५९
● अष्टविध कर्मों का प्रभाव	५६०
● तीर्थकर बनना भी पूर्वकृत कर्म का परिणाम	५६१
● कर्म की कारणता का विशद प्रतिपादन	५६१

➤ जैनदर्शन में पुरुष/पुरुषकार (पुरुषार्थ) की कारणता	५६३
• पुरुष या जीव कर्मों का कर्ता एवं भाक्ता	५६३
• पुरुष के साथ पुरुषकार की कारणता स्वयंसिद्ध	५६४
• तप-संयम में किया गया पराक्रम ही पुरुषार्थ	५६४
• स्वयं का पुरुषार्थ ही मोक्ष का साधक	५६४
• पुरुषार्थ : संयम, तप, निर्जरा आदि का आधार	५६५
• पुरुषार्थ की प्रमुखता के निदर्शन	५६५
▪ तीर्थंकर महावीर	५६५
▪ गौतम आदि गणधर	५६६
▪ अन्तगडसूत्र में ९९ आत्माओं द्वारा पुरुषार्थ	५६६
▪ शालिभद्र, धन्ना अणगार, स्कन्धक ऋषि, धर्मरुचि अणगार आदि के उदाहरण	५६६
➤ पंच समवाय में पाँच कारणों का समन्वय	५६७
• प्राचीन श्वेताम्बर जैनाचार्यों का योगदान	५६७
▪ सिद्धसेनसूरि	५६७
▪ हरिभद्रसूरि	५६८
▪ शीलांकाचार्य	५७०
▪ अभयदेवसूरि	५७३
▪ मल्लधारी राजशेखरसूरि	५७४
▪ उपाध्याय यशोविजय	५७४
▪ उपाध्याय विनयविजय	५७४
• प्राचीन दिगम्बराचार्यों का योगदान	५७५
• आधुनिक युग में पंच समवाय का प्रतिष्ठापन	५७५
▪ तिलोकऋषि जी महाराज	५७६
▪ शतावधानी श्री रत्नचन्द्रजी महाराज	५७६
▪ आचार्य विजयलक्ष्मीसूरीश्वर जी महाराज	५७८

▪ मुनि श्री न्यायविजय जी	५७९
▪ कानजी स्वामी	५७९
▪ आचार्य महाप्रज्ञ	५८१
▪ आचार्य श्री विजयरत्नसुन्दरसूरि जी महाराज	५८२
▪ श्रुतधर श्री प्रकाशमुनि जी महाराज	५८२
▪ पं. दलसुख मालवणिया	५८३
▪ डॉ. सागरमल जैन	५८३
▪ डॉ. हुकमचन्द भारिल्ल	५८३
➤ मुक्ति प्राप्ति में पंच समवाय की कारणता	५८४
➤ व्यावहारिक जीवन में पंच समवाय	५८६
➤ पंच कारण-समवाय में गौण प्रधान भाव	५८८
➤ पंच कारणों की न्यूनाधिकता	५८९
➤ पंच कारण परस्पर प्रतिबन्धक नहीं	५९०
➤ पंच समवाय : अनेकान्तवादी दृष्टि का परिणाम	५९१
➤ निष्कर्ष	५९२
उपसंहार	६०५-६३८
सहायक ग्रन्थ सूची	६३९-६५६



जैनदर्शन में कारणवाद और पंचसमवाय

प्रत्येक दर्शन की तत्त्वमीमांसा में कार्य-कारणवाद की चर्चा हुई है। कार्य-कारणवाद की चर्चा के बिना कोई भी दर्शन स्थापित नहीं हो सकता। सृष्टि की उत्पत्ति का क्रम हो, बन्धन या मुक्ति की घटना हो अथवा जीवन के अन्य सामान्य कार्य हों, सभी के संबंध में कार्य-कारण सिद्धान्त को समझना आवश्यक होता है। कार्य-कारण सिद्धान्त विश्व की सभी विद्याओं से जुड़ा हुआ है। विज्ञान, राजनीति, साहित्य, शास्त्र, अर्थशास्त्र, चिकित्सा शास्त्र आदि सभी क्षेत्रों में कारण-कार्य सिद्धान्त का महत्त्व है। एक चिकित्सा विज्ञानी रोग के कारणों को जानकर रोग से बचने के उपायों का प्रतिपादन कर सकता है। एक सफल राजनेता भी अपनी नीतियों की असफलता के कारणों को जाने बिना सफलता को प्राप्त करने में असमर्थ रहता है। जब तक वह इन कारणों को नहीं समझ पाता है तब तक नीतियों में सुधारात्मक कदम नहीं उठा सकता अर्थात् कार्य-कारणवाद को समझना उसके जीवन में भी आवश्यक है। अर्थशास्त्रकार इस सिद्धान्त को जाने बिना अर्थशास्त्र संबंधी नियमों का प्रतिपादन नहीं कर सकता। कारण-कार्य नियम के माध्यम से अर्थशास्त्री अपने देश की आर्थिक-प्रगति नहीं होने के कारणों को जानकर उसके निवारणार्थ उपाय खोज सकता है। विज्ञान का कोई भी क्षेत्र हो चाहे जीवन विज्ञान हो या रसायन विज्ञान या भौतिक विज्ञान या कम्प्यूटर, सभी का आधार कार्य-कारणवाद है। समाजशास्त्र भी कारणवाद के सिद्धान्त को लेकर चलता है तभी समाज में होने वाली समस्याओं का हल हो पाता है। साहित्य-शास्त्र में रस की निष्पत्ति रूप कार्य के लिए विभाव, अनुभाव और संचारी भावों को कारण स्वीकार किया गया है। आध्यात्मिक क्षेत्र में भी दुःख के कारणों को जानकर उनका निवारण किया जाता है। इस प्रकार कारण-कार्यवाद जीवन के प्रत्येक पक्ष से सम्बद्ध है। यह भूतकाल की उपलब्धि-अनुपलब्धि की समीक्षा में तथा भावी योजनाओं को मूर्तरूप प्रदान करने में सहायक बनता है।

कारण-कार्य का लक्षण

कारण शब्द 'कृ' धातु से 'ल्युट्' प्रत्यय लगकर निष्पन्न होता है और कृ धातु क्रियार्थक है। अतः क्रिया के कारक 'कारण' कहलाते हैं। कारण कार्य का नियामक हेतु होता है।

न्यायवैशेषिक-दर्शन में कारण को निम्न रूप में परिभाषित किया गया है- 'यस्य कार्यात् पूर्वभावो नियतः अनन्यथासिद्धश्च, तत् कारणम्'^१ कारण कार्य का पूर्वभावी होता है। पूर्वभाव का अर्थ दो प्रकार से किया जाता है- १. कार्य की उत्पत्ति के पूर्व रहना २. कार्योत्पत्ति के अव्यवहित पूर्वक्षण में रहना। इस तरह अव्यवहित पूर्वक्षण में और किसी समय कार्य के पूर्व रहने वाले पदार्थ दोनों ही पूर्वभावी कारण होंगे। ये पूर्ववर्ती कारण कादाचित्क नहीं हों, इसलिए लक्षण में 'नियत' शब्द का विधान किया गया है। 'नि' उपसर्ग पूर्वक 'यम्' धातु से 'क्त' प्रत्यय जोड़ देने पर 'नियत' शब्द की निष्पत्ति होती है। अतः नियत का अर्थ है- 'नियम से युक्त होना' जो नियमित रूप से कार्य का पूर्ववर्ती हो वह नियतपूर्ववर्ती कहलाता है। निश्चित (नियत) पूर्ववर्ती की भी अनेक स्थितियाँ संभावित हैं, इसलिए उक्त परिभाषा में 'अनन्यथासिद्ध' शब्द को जोड़ा गया है। अन्यथासिद्ध से भिन्न अनन्यथासिद्ध होता है। अन्यथासिद्ध से तात्पर्य जिसका कार्य के साथ साक्षात् संबंध न हो। अन्यथासिद्ध से भिन्न यानी कार्य के साथ साक्षात् संबंध वाला कारण अनन्यथासिद्ध होता है। इस प्रकार कारण वह कहलाता है जो नियतपूर्ववर्ती और अनन्यथासिद्ध हो।

कारणों के द्वारा सम्पन्न क्रिया कार्य कहलाती है। नैयायिकों ने परिभाषित करते हुए कहा है- 'अनन्यथासिद्धनियतपश्चाद्भावित्वं कार्यत्वम्'^२ अर्थात् अन्यथासिद्ध न होकर नियतरूप से कारण के पश्चात् होना ही 'कार्य' का लक्षण है। 'घट' के प्रति अन्यथासिद्ध न होकर घट के पूर्व नियत रूप से उपस्थित होने वाले कुलाल, चक्र, चीवर, दण्ड आदि और 'पट' के प्रति तुरी, वेमा आदि घट एवं पट कार्य के प्रति क्रमशः कारण कहे जाते हैं। इन सब कारणों के उपस्थित होने के पश्चात् उत्पन्न होने से 'घट' या 'पट' को यथाक्रम उन सबका कार्य कहा जाता है।

कारण-कार्यवाद के प्रमुख सिद्धान्त

भारतीय दर्शन में वैदिक-अवैदिक सभी दर्शनों ने कारण-कार्य सिद्धान्त को स्वीकार किया है। किन्तु उसके स्वरूप के संबंध में सबमें मतभेद पाया जाता है। यह मतभेद उनकी अपनी तत्त्वमीमांसा के कारण है। कारण-कार्य के संबंध में प्रमुख सिद्धान्त इस प्रकार हैं-

१. सत्कार्यवाद- सांख्य
२. सत्कारणवाद (विवर्तवाद)- वेदान्त
३. असत्कार्यवाद- नैयायिक
४. असत्कारणवाद- बौद्ध
५. सदसत्कार्यवाद- जैन

सत्कार्यवाद

सांख्यदर्शन में कारण-कार्य सिद्धान्त पर गहनता से विचार हुआ है। वहाँ कारण में कार्य की सत्ता, उसके प्रकट होने से पूर्व भी स्वीकार की गई है। कार्य की अपने कारण से अभिव्यक्ति मात्र होती है, सर्वथा असत् कार्य प्रकट नहीं होता। कार्य को अपने प्रकटीकरण से पूर्व सत् मानने के कारण सांख्य का कारण-कार्य सिद्धान्त सत्कार्यवाद के नाम से प्रसिद्ध है। सांख्य में कारण को अव्यक्त अवस्था तथा कार्य को व्यक्त अवस्था की संज्ञा दी गई है। सांख्य में २५ तत्त्व परिगणित हुए हैं— पुरुष, प्रकृति, महत्, बुद्धि, एकादश इन्द्रियाँ, पंच महाभूत और पंच तन्मात्राएँ। इनमें से पुरुष अकारण और अकार्य है, किन्तु प्रकृति आदि २४ तत्त्वों में कारण-कार्य घटित होते हैं। प्रकृति अन्य २३ कार्यों (तत्त्वों) की मूल कारण है। प्रकृति की अन्तर्निहित प्रयोजनवत्ता के कारण त्रिगुणों का इस प्रकार संगठन होता है कि वे महत् के रूप में परिवर्तित हो जाते हैं तथा महत् के त्रिगुणों का ऐसा संगठन होता है कि वे पंचभूत, एकादश इन्द्रियाँ और पंचतन्मात्रा में अभिव्यक्त हो जाते हैं। इस प्रकार सृष्टि की उत्पत्ति और उसमें होने वाले कार्य प्रकृति आदि तत्त्वों का परिणाम है। प्रकृति आदि तत्त्वों की संरचना ही कारण-कार्य के सिद्धान्त को सत्कार्यवाद के रूप में अंकित करती है।

सांख्य का मत है कि ऐसी कोई भी चीज पैदा नहीं हो सकती जो पहले से विद्यमान न हो। जैसे— तिलों में विद्यमान तेल को मशीन की सहायता से निकाला जाता है। तेल जो तिल में समाहित था वह तरल पदार्थ के रूप में प्रकट हो गया। तेल प्रकट होने से पूर्व भी तिलरूपी कारण में सत् था। अतः जो पूर्व में सत् होता है वह ही बाद में प्रकट होता है।

सत्कार्यवाद की सिद्धि में पाँच हेतु 'सांख्यकारिका' की नवम कारिका में इस प्रकार उल्लिखित हैं—

असदकरणादुपादानग्रहणात् सर्वसम्भवाभावात्।

शक्तस्य शक्यकरणात् कारणभावाच्च सत्कार्यम्।।

१. असदकरणात्—असत् कारण से सत् कार्य की उत्पत्ति संभव नहीं है। असत् यानी अभाव, अभाव से भाव का पैदा होना प्राप्त नहीं होता। हजारों प्रयत्न करने पर भी कारण व्यापार के पूर्व जो कार्य असत् होता है उसे सत् नहीं बनाया जा सकता। जैसे— हजारों किसान मिलकर भी आम के बीज से जामुन पैदा नहीं कर सकते।

२. उपादानग्रहणात्- जिस कारण का कार्य के साथ अभिन्न संबंध होता है, वह उपादान कारण कहलाता है। उपादान कारण के होने पर कार्य का होना तथा न होने पर नहीं होना रूप अविनाभाव संबंध भी सत्कार्यवाद को सिद्ध करता है। उपादान कारण को ग्रहण न करने पर किसी भी कारण से कोई भी कार्य पैदा हो जाएगा। जैसे- मिट्टी से कपड़ा और कम्बल भी तैयार हो जायेंगे, जबकि यह असंभव है। अतः उपादानकारण का कार्य के साथ संबंध सत्कार्यवाद को पुष्ट करता है।

३. सर्वसम्भवाभावात्- सभी कारणों से सभी कार्यों की उत्पत्ति का अभाव पाया जाता है। अतः संबंधित कारण ही उस कार्य को करने में समर्थ होने से कार्य कारण में सत् है। यदि असंबंधित कारण से भी कार्य पैदा होने लग जाए तो कोई भी कार्य किसी भी कारण से उत्पन्न होने लग जाए, किन्तु ऐसा जगत् में परिलक्षित नहीं होता। अतः सभी कार्य कारण में सत् है।

४. शक्तस्य शक्यकरणात्- समर्थ कारण से ही कार्य उद्भूत होता है। प्रत्येक कारण पृथक्-पृथक् कार्य के प्रति शक्ति सम्पन्न होता है। जिस कारण में जैसी शक्ति नियत होती है, वह शक्ति उसी प्रकार का कार्य सम्पादित करती है। अपनी शक्ति और सामर्थ्य से विपरीत कार्य में कारण के परिणत न होने से सत्कार्यवाद की सिद्धि होती है। जैसे- आम के बीज से आम ही होता है।

५. कारणभावात्- कार्य का मूल 'कारण' है। यथा- वृक्ष का मूल बीज है। बीज में रही हुई वृक्ष की सत्ता बीज से अभिन्न होती है, उसी प्रकार कारण से कार्य अभिन्न है। कार्य-कारण की अभेदता ही कार्य की उत्पत्ति से पूर्व उसके सत् होने की पुष्टि करती है। जैसे- पट तन्तुसमूह रूप कारण से भिन्न नहीं है।

इस प्रकार कारण की ही सदैव कार्य में परिणति देखे जाने से सत्कार्यवाद को परिणामवाद भी कहा जाता है। जैसे दूध का परिणाम दही है।

कारण में कार्य जिस रूप से रहता है, उस रूप में वह साधारणतया इन्द्रिय से दर्शनीय नहीं है, क्योंकि कारण में कार्य सूक्ष्म रूप से स्थित होता है। सबसे सूक्ष्मतम स्थिति प्रकृति होती है। प्रकृति ही वह कारण है, जिससे सभी कार्य उत्पन्न होते हैं और उसी में विलीन हो जाते हैं। प्रकृति ही वह केन्द्र है जहाँ से सभी कार्य प्रसार पाते हैं और पुनः उसी में सिमट जाते हैं। प्रकृति रूपी कारण में कार्य सदैव सत् रहता है चाहे कार्य व्यक्त हो या अव्यक्त। अतः प्रकृति के रूप में कार्य की उपस्थिति होने से सत्कार्यवाद का सिद्धान्त सिद्ध होता है।

विवर्तवाद (सत्कारणवाद)

क्रियाओं के क्रम का निर्धारक कारण-कार्य सिद्धान्त है। यह दर्शनशास्त्र का प्रमुख एवं विचारणीय सिद्धान्त है। कोई भी ऐसा दर्शन नहीं होगा जिसने इस सिद्धान्त पर अपना मत प्रकट नहीं किया हो। अतः वेदान्त दर्शन भी विवर्तवाद के रूप में सत्कारणवाद सिद्धान्त को स्वीकार करता है।

वेदान्ती कारणरूप ब्रह्म को सत् मानते हैं, कार्य रूप जगत् को असत् स्वीकार करते हैं। वे 'सत्' शब्द का अर्थ केवल वस्तु की पूर्व विद्यमान सत्ता ही नहीं वरन् त्रिकालाबाधित वस्तु लेते हैं जो सदैव एक ही स्थिति में रहती है (अपरिवर्तनशील), जिसे देश और काल की सीमा में भी विभक्त नहीं किया जा सकता।

वेदान्ती के मतानुसार जगत् का मूल कारण 'ब्रह्म' कहा गया है। यह कारण दो प्रकार का है- १. निमित्त कारण २. उपादान कारण। इस दृश्यमान जगत् का उपादान तथा निमित्त कारण दोनों ब्रह्म हैं। वेदान्त में मकड़ी के उदाहरण के माध्यम से निर्विकारी ब्रह्म को जगत् का उपादान तथा निमित्त कारण सिद्ध किया गया है-

*“शक्तिद्वयवदज्ञानोपहितं चैतन्यं स्वप्रधानतया निमित्तं
स्वोपाधिप्रधानतयोपादानं च भवति। यथा- लूता तन्तुकार्यं प्रति स्वप्रधानतया
निमित्तं स्वशरीरप्रधानतयोपादानं च भवति।”*^१

जिस प्रकार अपने शरीर की प्रधानता के कारण मकड़ी अपने तन्तु रूप कार्य के प्रति उपादान कारण होती है तथा अपने चैतन्यांश की प्रधानता से निमित्त कारण, उसी प्रकार अवर्णनीय ब्रह्म अपनी प्रधानता से तो जगत् का निमित्त कारण बनता है तथा माया (अज्ञान) की प्रधानता से इस सृष्टि का उपादान कारण।

किसी वस्तु में अन्य वस्तु की प्रतीति होना विवर्त है, इस प्रकार एक ही वस्तु में दूसरी वस्तु की सत्ता प्रतीत होती है। वस्तुतः वस्तु तो एक ही है, अद्वैत है। विवर्तवाद के सिद्धान्त द्वारा ही वेदान्त अद्वैतवाद की दुरूहता को हल करने में समर्थ हो सका है। वेदान्त दर्शन का अद्वैत प्रतिपादक प्रसिद्ध सिद्धान्त है- “सर्वं खल्विदं ब्रह्म”। उसके अनुसार सब कुछ ब्रह्म है और ब्रह्म के अतिरिक्त कुछ नहीं। प्रतिक्षण अपनी सत्ता की अनुभूति कराने वाले जगत् को मिथ्या तथा चर्मचक्षुओं से परे रहने वाले ब्रह्म को एकमात्र सत्य स्वीकार करना बिना विवर्तवाद के सिद्धान्त के संभव नहीं।

६ जैनदर्शन में कारण-कार्य व्यवस्था : एक समन्वयात्मक दृष्टिकोण

वेदान्तसार के अनुसार परिणामवाद और विवर्तवाद में अन्तर है। जैसा कि कहा है-

सतत्त्वोऽन्यथा प्रथा विकार इत्युदीरितः।

अतत्त्वोऽन्यथा प्रथा विवर्त इत्युदीरितः।।*

परिणामवाद का अर्थ है- जब कोई वस्तु अपने यथार्थ स्वरूप को त्यागकर अन्य स्वरूप को ग्रहण कर लेती है तो यह स्वरूप ग्रहण करना ही विकार या परिणाम कहलाता है। यथा- दही दूध का विकार या परिणाम है। अपने स्वरूप का त्याग न करने पर भी उसी वस्तु विशेष में अन्य किसी वस्तु की मिथ्या प्रतीति होना विवर्तवाद है। यथा- रज्जु में सर्प की भ्रान्ति। इस प्रकार ब्रह्म का विवर्त रूप जगत् होने से सर्वत्र ब्रह्म ही कारण है।

असत्कार्यवाद

न्याय-वैशेषिक के कारण-कार्य सिद्धान्त को 'असत्कार्यवाद' अथवा 'आरम्भवाद' के नाम से जाना जाता है। वास्तववादी न्याय-वैशेषिक के अनुसार कारण में कार्य पहले से नहीं रहता, वह नया उत्पन्न होता है। कार्य को कारण में पहले से स्वीकार न करने के कारण उसे असत्कार्यवाद कहा गया है। कारणता के संबंध में न्याय-वैशेषिक का मत रचनात्मक विचारधारावाला है। कारण तथा कार्य में भेद को स्वीकार करते हुए नैयायिक कार्य की रचना नए सिरे से मानते हैं। उत्पत्ति के पूर्व कार्य का प्रागभाव होता है तथा कार्योत्पत्ति के बाद अभाव नष्ट हो जाता है। कारण कार्य का उत्पादक होता है, जैसे- तन्तु से वस्त्र। यहाँ तन्तु कारण और वस्तु कार्य है। उत्पत्ति के पूर्व वस्त्र तन्तु रूपी कारण में विद्यमान नहीं रहता अर्थात् कार्य कारण में असत् होता है। अतः यह मत 'असत्कार्यवाद' कहलाता है। कार्य का नवीन आरम्भ होता है ऐसा स्वीकार करने के कारण असत्कार्यवाद को आरम्भवाद भी कहा जाता है।

न्याय-वैशेषिक की मान्यतानुसार तन्तु पट में परिणमित नहीं होते हैं, अपितु स्वयं के अस्तित्व को टिकाए हुए अपने साथ-साथ रहने वाली एक नयी वस्तु पट को उत्पन्न करते हैं। पट तन्तुओं में समवाय संबंध से रहता है। समवाय संबंध ही वह कड़ी है, जो तन्तु व पट की भिन्नता में अभिन्नता बनाए रखती है। अतः यह नहीं कहा जा सकता कि तन्तु पट के रूप में बदल गए, क्योंकि पट के उत्पन्न होने के बाद भी तन्तु विद्यमान हैं। इस प्रकार पूर्व में असत् पट सत्ता में आता है।

कारण में कार्य की सत्ता को अस्वीकार करते हुए नैयायिकों का यह दृष्टिकोण नहीं है कि कोई भी वस्तु जिसका अस्तित्व नहीं है, उत्पन्न की जा सकती है, अपितु जो वस्तु उत्पन्न हुई है पहले उसका अभाव था। अतः कार्य उत्पन्न होने पर प्रागभाव का नाश हो जाता है।

कार्य की पूर्ति में विभिन्न कारणों की अपेक्षा रहती है। इन कारणों का संयोग मिलने पर ही नए कार्य की उत्पत्ति शक्य बनती है। नैयायिकों ने इन कारणों को तीन प्रकार से वर्गीकृत किया है-

१. समवायिकारण-"सत्समवेतं कार्यमुत्पद्यते तत्समवायिकारणम्"
जिसमें समवाय संबंध से रहता हुआ कार्य उत्पन्न हो वह उस कार्य का समवायिकारण है। इस प्रकार कार्य अपने कारण में समवेत होता है। जैसे घट मिट्टी में समवेत है। अतः घट का समवायिकारण मिट्टी है।
२. असमवायिकारण-"समवायिकारणे आसन्नं प्रत्यासन्नं कारणं द्वितीयमसमवायिकारणमित्यर्थः" समवायिकारण में जो आसन्न (साथ रहता) है, वह असमवायिकारण है। जैसे- तन्तु रूप समवायिकारण में तन्तुसंयोग प्रत्यासन्न है। अतः तन्तुसंयोग असमवायिकारण है।
३. निमित्तकारण-"आभ्यां समवायिकारणासमवायिकारणाभ्यां परं भिन्नं कारणं तृतीयं निमित्तकारणम्" समवायिकारण और असमवायिकारण से भिन्न तृतीय निमित्त कारण होता है। जैसे- कर्ता, करण आदि।

इस प्रकार समवायी, असमवायी और निमित्त कारणों से ही जगत् के कार्य संभव बनते हैं।

असत्कारणवाद या प्रतीत्यसमुत्पाद

बौद्ध दर्शन में कारणवाद के सिद्धान्त को प्रतीत्यसमुत्पाद के नाम से अभिहित किया गया है। भगवान् बुद्ध के द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्तों में "चार आर्य सत्य" एक महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त है। इनमें दूसरा आर्य सत्य "दुःखसमुदय" है। दुःख समुदय के अन्तर्गत १२ निदान का कथन है। ये १२ निदान ही प्रतीत्यसमुत्पाद हैं।

प्रतीत्य समुत्पाद का अर्थ है- प्रत्ययों से उत्पत्ति का नियम। प्रत्यय के पर्याय रूप हेतु, कारण, निदान, समुदय और उद्भव आदि शब्द इस प्रसंग में प्रयुक्त होते हैं।

प्रत्येक उत्पाद (उत्पत्ति) का कोई प्रत्यय, कारण और हेतु है, यही प्रतीत्यसमुत्पाद है। जिसके होने पर अन्य वस्तु का सृजन हो तो वह पहली वस्तु दूसरी वस्तु का प्रत्यय कहलाती है। किसी उत्पाद में सहायक होना ही प्रत्यय का लक्षण है। इसलिए प्रत्यय सामग्री के निमित्त से ही पदार्थों का सत्ता में आना प्रतीत्य समुत्पाद है। प्रतीत्य समुत्पाद को 'तथता', 'अवितथता', 'अनन्यथता' और 'इदं प्रत्ययता' भी कहा गया है।

द्वितीय और तृतीय आर्यसत्य रूप दुःख-समुदय और दुःख-निरोध की वैज्ञानिक व्याख्या है- प्रतीत्य समुत्पाद। हेतु सहित धर्म को जान लेना ही प्रतीत्य समुत्पाद है। प्रज्ञा से हेतुओं का दर्शन करके ही प्राणी नाम और रूप के बंधन से विमुक्त होता है। यही कारण है कि प्रतीत्यसमुत्पाद को प्रज्ञा की भूमि भी कहा गया है। प्रतीत्यसमुत्पाद केवल दार्शनिक सिद्धान्त ही नहीं, अपितु जीवन के विकास का क्रम भी है। यह दुःख निरोधगामी आर्य आष्टांगिक मार्ग की तात्त्विक व्याख्या करता है।

जगत् में कुछ लोग भवितव्यता के कारण दुःख का उद्गम मानते हैं तो कुछ काल और स्वभाव को हेतु मानते हैं। इनके मन्तव्य को अस्वीकार करते हुए भगवान् बुद्ध ने दुःख के अन्य वास्तविक कारण माने हैं क्योंकि उन कारणों का निरोध कर दिए जाने पर दुःख परम्परा भी निरुद्ध हो जाती है। किस तरह यह प्राणी इस तृष्णा रूपी जाल से अपने आपको निकाल पाएगा, इसी समस्या का समाधान तथागत के द्वारा विशुद्धि मार्ग के रूप में दिया गया है और इसी को सैद्धान्तिक रूप में प्रतीत्यसमुत्पाद की संज्ञा दी गई है।

प्रतीत्यसमुत्पाद की प्रक्रिया- अविद्या के प्रत्यय से संस्कार, संस्कार के प्रत्यय से विज्ञान, विज्ञान के प्रत्यय से नाम रूप, नाम रूप के प्रत्यय से षडायतन, षडायतन के प्रत्यय से स्पर्श, स्पर्श के प्रत्यय से वेदना, वेदना के प्रत्यय से तृष्णा, तृष्णा के प्रत्यय से उपादान, उपादान के प्रत्यय से भव, भव के प्रत्यय से जाति, जाति के प्रत्यय से जरा-मरण-शोक, परिदेव, दुःख, दौर्मनस्य और हैरानी-परेशानी उत्पन्न होते हैं। यह दुःख स्कन्ध का समुदय ही प्रतीत्यसमुत्पाद है।

इस नियम के अनुसार आध्यात्मिक या बाह्य जगत् की होने वाली कोई भी घटना अपनी उत्पत्ति के पूर्व की घटना रूप प्रत्यय हेतु अथवा निदान के फलस्वरूप होती है तथा वह स्वयं भी भविष्य की घटना के प्रति कारण होती है। इस प्रकार यह कारण-कार्य रूप भवचक्र निरन्तर चलता है। व्यक्ति यदि इस नियम के अनुसार आचरण करे तो अपने दुःख का अन्त कर सकता है और अपनी समस्याओं का हल पा सकता है।

जो दार्शनिक गहनता, नैतिक व्यापकता और मनोवैज्ञानिक सूक्ष्मता भगवान् बुद्ध के द्वारा उपदिष्ट इस प्रतीत्य समुत्पाद संबंधी सिद्धान्त में है, वह अन्य दार्शनिक नय में दुर्लभ है। वास्तव में कारणवाद संबंधी ज्ञान ही भगवान् बुद्ध के सम्पूर्ण मन्तव्य का विश्लेषण है।

जैन दर्शन में कार्य-कारण सिद्धान्त

सदसत्कार्यवाद

जैन दर्शन का कारण-कार्य सिद्धान्त 'सदसत्कार्यवाद' के नाम से अभिहित किया जा सकता है। जैन मतावलम्बियों के अनुसार 'बीज' रूपी कारण सत् भी है और असत् भी। इसी प्रकार 'वृक्ष' रूपी कार्य भी सत् व असत् दोनों हैं। बीज अपने स्वरूप से सत् है तथा वृक्ष के उत्पन्न होने से बीज की सत्ता नष्ट हो जाती है तब वह असत् होता है। वृक्ष जब बीज रूप में था तब वह असत् था और वृक्ष के रूप में वह सत् होता है। इस प्रकार जैन दार्शनिकों द्वारा निरूपित 'सदसत्कार्यवाद' सिद्धान्त कारण-कार्यवाद के सम्यक् स्वरूप को प्रकट करता है। इसमें कार्य-कारणवाद के सत्कारणवाद, सत्कार्यवाद, असत्कारणवाद और असत्कार्यवाद नामक चारों सिद्धान्तों का समन्वय हो जाता है।

जैनमतानुसार प्रत्येक पदार्थ नित्यानित्यात्मक, सामान्यविशेषात्मक, द्रव्यपर्यायात्मक, भेदाभेदात्मक और सदसदात्मक है। कारण-कार्य सिद्धान्त के आधारभूत पदार्थ सदसदात्मक होने से जैन दर्शन में यह सिद्धान्त सदसत्कार्यवाद के नाम से प्रचलित है।

सदसत्कार्यवाद का स्वरूप - एकान्त सत् अथवा एकान्त असत् पदार्थ न तो स्वयं उत्पन्न होते हैं और न ही किसी को उत्पन्न करने में समर्थ होते हैं। अतः उनमें कार्यकारणभाव भी नहीं बनता। कार्यकारणभाव वहीं होता है जहाँ कथंचित् सत्त्व और कथंचित् असत्त्व हो। इसलिए जैन दर्शन में सदसत्कार्यवाद को स्वीकार किया गया है। द्रव्य की दृष्टि से उसमें सत्कार्यवाद को महत्त्व दिया गया है तथा पर्याय की दृष्टि से असत्कार्यवाद स्वीकार किया गया है। दोनों के सम्मिलित स्वरूप में सदसत्कार्यवाद अंगीकृत है।

कुन्दकुन्दाचार्य ने सत्कार्यवाद और असत्कार्यवाद का समन्वय द्रव्य-पर्याय दृष्टि के आधार पर अपने ग्रन्थ 'पंचास्तिकाय' में इस प्रकार किया है-

द्रव्य दृष्टि से सत्कार्यवाद का समर्थन करते हुए कहा है- “एवं सदो विणासो असदो जीवस्स णत्थि उप्पादो।”^{१४} जीव का चैतन्य गुण कभी विनष्ट नहीं होता, इसलिए विभिन्न पर्यायों को धारण करता हुआ भी जीव सर्वथा नष्ट नहीं होता और न ही सर्वथा नवीन रूप में उत्पन्न होता है। द्रव्य दृष्टि से सत् का सर्वथा नाश नहीं होता और न ही असत् का उत्पाद होता है।

पर्याय दृष्टि से असत्कार्यवाद का समर्थन करते हुए कहा है- “एवं सदो विणासो असदो जीवस्स हवदि उप्पादो।”^{१५} जीव का जन्म और मरण की अपेक्षा से विनाश और उत्पाद होता रहता है। एक स्थान से अन्य स्थान पर जन्म लेने के लिए उसे अपने पूर्व शरीर का त्याग करना होता है। अन्य स्थान पर वह नवीन शरीर को धारण करता है।

कुन्दकुन्दाचार्य ने उपर्युक्त दोनों अवधारणाओं के भेद को मिटाकर उसमें नयदृष्टि से एकता स्थापित की है। नयवाद के आधार पर ही जैन-दर्शन में कारण-कार्य सिद्धान्त ‘सदसत्कार्यवाद’ से नामांकित हुआ है।

पं. सुखलाल संचवी ने शक्ति और उत्पत्ति के आधार पर सदसत्त्व की व्याख्या की है- शक्ति की अपेक्षा से कार्य सत् है, पर उत्पत्ति की अपेक्षा से असत् है। अतः उत्पत्ति के लिए प्रयत्न की अपेक्षा रहती ही है और इसीलिए उत्पत्ति के पूर्व अव्यक्त दशा में व्यक्त कार्य-सापेक्ष व्यवहार संभव नहीं है। इसी तरह कार्य उत्पत्ति की अपेक्षा असत् है, पर शक्ति की अपेक्षा वह सत् है। इसीलिए प्रत्येक कारण से प्रत्येक कार्य की उत्पत्ति के लिए अथवा मनुष्य शृंग जैसी असत् वस्तु की उत्पत्ति के लिए अवकाश नहीं रहता। जिस कारण में जिस कार्य को प्रकट करने की शक्ति हो, उसमें से प्रयत्न करने के पश्चात् वही कार्य प्रकट होता है, दूसरा नहीं। इस प्रकार सत् और असत्वाद का समन्वय सम्यक् या समीचीन (वास्तविक) स्थिति को प्रकट करता है।^{१६}

कारण और कार्य के लक्षण

कारण एवं कार्य का स्वरूप प्रायः न्यायदार्शनिकों की भाँति ही जैनदार्शनिकों को भी स्वीकार्य है। वे भी कार्य-कारण को भिन्न लक्षण वाला मानते हैं। यदि इनका लक्षण भिन्न न हो तो सांकर्य दोष हो जाएगा।^{१७}

प्रभाचन्द्राचार्य (११वीं शती) ने कारण का लक्षण दिया है-

‘यद्भावे नियता यस्योत्पत्तिस्तत्तस्य कार्यम्, इतरच्च कारणम्’^{१८}

अर्थात् जिसके होने पर नियम से जिसकी उत्पत्ति है, वह उसका कार्य और इतर कारण कहलाता है।

अष्टसहस्री में विद्यानन्द ने कारण को इस प्रकार परिभाषित किया है-

‘नियतपूर्वक्षणवर्तित्वं कारणलक्षणम्’

अर्थात् कार्य के नियत पूर्ववर्ती क्षण में रहने वाला कारण होता है।

प्रमाणनयतत्त्वालोक में वादिदेवसूरि ने चार प्रकार के अभावों का विवेचन करते हुए प्रागभाव की निवृत्ति को कार्य की उत्पत्ति के रूप में स्वीकार किया है-

“यन्निवृत्तावेव कार्यस्य समुत्पत्तिः सोऽस्य प्रागभाव इति।

यथा- मृत्पिण्डनिवृत्तावेव समुत्पद्यमानस्य घटस्य मृत्पिण्ड इति।”^{११}

प्रागभाव की निवृत्ति होने पर कार्य होता है, उदाहरणार्थ मिट्टी के पिण्ड की निवृत्ति होने पर ही घट की उत्पत्ति देखी जाती है। मिट्टी कारण है और घट कार्य है।

अष्टसहस्री में कहा है- *‘नियतोत्तरक्षणवर्तित्वं कार्यलक्षणम्’* नियत रूप से होने वाला कारण के उत्तरक्षणवर्ती कार्य होना कहलाता है।

स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा में कार्यकारणभाव निरूपण इस प्रकार हुआ है-

पुष्प-परिणाम-जुतं कारणभावेण वट्टदे दव्वं।

उत्तर-परिणाम जुदं तं चिय कज्जं हवे णियमा।।^{१२}

प्रत्येक द्रव्य में प्रतिसमय परिणमन होता रहता है। उसमें से पूर्वक्षणवर्ती द्रव्य कारण होता है और उत्तरक्षणवर्ती द्रव्य कार्य होता है। जैसे- लकड़ी जलने पर कोयला हो जाती है और कोयला जलकर राख हो जाता है। यहाँ कोयले रूपी कार्य में लकड़ी कारण है और राख रूपी कार्य में कोयला कारण है। आप्तमीमांसा में समन्तभद्र (छठी शती) ने कहा है कि कारण का विनाश ही कार्य का उत्पाद है। अतः पहली पर्याय के नष्ट होने पर दूसरी पर्याय के उत्पन्न होने में पूर्व पर्याय उत्तर पर्याय का कारण है और उत्तर पर्याय कार्य है। इस तरह प्रत्येक द्रव्य में कार्य-कारण भाव की विद्यमानता है।

‘कारण’ कार्य का अन्वय-व्यतिरेकी होता है। कारण के होने पर कार्य का होना अन्वय तथा कारण के न होने पर कार्य का न होना व्यतिरेक कहलाता है। अतः कार्य कारण का अनुगामी होता है। जैसे- मिट्टी की उपस्थिति में घट का होना और

१२ जैनदर्शन में कारण-कार्य व्यवस्था : एक समन्वयात्मक दृष्टिकोण

मिट्टी की अनुपस्थिति में घट का न होना। ध्वला पुस्तक में भी कारण-कार्य का अन्वय-व्यतिरेक प्रतिपादित हुआ है-

“जस्स अण्ण-विदिरेगेहि णियमेण जस्सण्णयविदिरेगा उवलंभंति
तस्स कज्जमियारं च कारणं।”^{१३}

जिसके अन्वय और व्यतिरेक के साथ नियम से जिसका अन्वय और व्यतिरेक पाया जाये, वह उसका कार्य और दूसरा कारण होता है।

कार्यकारण में क्रमभाव

जैन दार्शनिक माणिक्यनन्दी ने ‘परीक्षामुख’ में कार्य-कारण को क्रमभावी बताते हुए कहा है- “पूर्वोत्तरचारिणोः कार्यकारणयोश्च क्रमभावः”^{१४} अर्थात् पूर्व और उत्तर कालभावी पदार्थों में तथा कार्य-कारणों में क्रमभाव अविनाभाव होता है। कृतिका नक्षत्र का उदय और रोहिणी नक्षत्र का उदय आदि पूर्वोत्तरचारी कहलाते हैं एवं धूम और अग्नि आदि कार्य-कारण कहलाते हैं, इनमें क्रमभाव पाया जाता है। जो युगपत् होते हैं या बिना क्रम से होते हैं, उनमें कारण-कार्य भाव नहीं बनता, जैसे- गाय के शृंग। कारण-कार्य का क्रम काल द्वारा निर्धारित होता है। अतः पूर्वकाल में कारण और उत्तर काल में कार्य संभव बनता है। कारण के समय में कार्य और कार्य के समय में कारण नहीं होता, क्योंकि समान काल वाले पदार्थों में कार्य-कारण भाव असंभव है। अतः गौ के दायें बायें सींगों में कार्य-कारण भाव नहीं बनता। कार्य-कारण संबंध वाले पदार्थ सहभावी नहीं पाए जाते। अतः ध्वला पुस्तक में कहा गया है- “कार्यकारणयोरेककालं समुत्पत्ति-विरोधात्।”^{१५}

यहाँ उल्लेखनीय है कि कार्य एवं कारण की एककालता का प्रतिषेध उपादान कारण को दृष्टि में रखकर किया गया प्रतीत होता है, क्योंकि निमित्त कारण तो कार्य के समय में भी विद्यमान रहते हैं। उदाहरणार्थ ‘घट’ कार्य के उत्पन्न होने पर उपादान मिट्टी घट कार्य में परिणत हो जाने से घट कार्य के समय मिट्टी स्वरूप में नहीं रहती, किन्तु कुम्भकार, चक्र आदि निमित्त कारण तो घट कार्य के पूर्व एवं उसके समय में भी विद्यमान रहते हैं। हाँ, यह अवश्य है कि उन निमित्त कारणों का भी कार्य हो जाने पर कारणत्व नहीं रहता। अतः ध्वलाकार का कथन उपयुक्त ही है।

कार्य में कारण से विशिष्टता

कार्य उत्पन्न हो जाने के पश्चात् अपनी अर्थक्रिया में कारण-सापेक्ष नहीं रहता है। इस तथ्य को प्रकट करते हुए प्रभाचन्द्राचार्य (९८०-१०६५ ई.) ‘प्रमेयकमलमार्तण्ड’^{१६} में कहते हैं-

“कार्य में जो स्वभाव रहता है वह उसमें अपने कारण से आता है, कार्य जैसे ही कारण से उत्पन्न हुआ कि साथ ही वे स्वभाव उसमें उत्पन्न हो जाते हैं। जैसे- मिट्टी के पिण्ड में रूप आदि गुण हैं वे घटरूप कार्य के उत्पन्न होते ही साथ के साथ घट रूप कार्य में आ जाते हैं। कोई-कोई कार्य के स्वभाव ऐसे भी होते हैं कि जो कारणों में नहीं रहते हैं, ऐसे कार्य के वे गुण उस कारण से पैदा न होकर स्वतः ही उस कार्य में हो जाया करते हैं। जैसे कार्यरूप घट में जल को धारण करने का गुण है वह मात्र उस घट रूप कार्य का ही निज स्वभाव है, मिट्टी रूप कारण का नहीं। इस प्रकार पदार्थ उत्पत्ति मात्र में कारणों की अपेक्षा रखते हैं, जब वे पदार्थ उत्पन्न हो जाते हैं अर्थात् अपने स्वरूप को प्राप्त कर चुकते हैं तब उनकी निजी कार्य में प्रवृत्ति तो स्वयं ही होती है। अतः कार्य निष्पन्न होने पर अपने कार्य के संपादन में वह कारण-सापेक्ष नहीं रहता।”

नित्यानित्यात्मक पदार्थों में ही कार्यकारणभाव

जैन दार्शनिकों के अनुसार नित्यानित्यात्मक, द्रव्यपर्यायात्मक अथवा सामान्य-विशेषात्मक पदार्थों में ही कार्यकारणभाव घटित हो सकता है, मात्र नित्य एवं मात्र अनित्य पदार्थों में कार्य-कारणभाव घटित नहीं होता। इस तथ्य का प्रतिपादन हरिभद्राचार्य विरचित षड्दर्शन समुच्चय के टीकाकार गुणरत्नसूरि ने इस प्रकार किया है-

“कार्यकारणभावे संभविनी, कार्यकारणभावश्चार्थक्रियासिद्धौ सिध्येत्। अर्थक्रिया च नित्यस्य क्रमाक्रमाभ्यां सहकारिषु सत्स्वसत्सु च जनकाजनकस्वभावद्वयानभ्युपगमेन नोपपद्यते। अनित्यस्य तु सतोऽसतो वा सा न घटते।”^{१९}

अर्थात् कार्य-कारण भाव अर्थक्रिया करने वाले पदार्थों में होता है। सर्वथा नित्य तथा सर्वथा अनित्य साध्य-साधनों में अर्थक्रिया संभव न होने से उनमें कार्यकारणभाव नहीं बनता। नित्य पदार्थ सदा एक स्वभाव वाला होता है, अतः उसमें क्रम से तथा युगपत् सहकारियों की मदद से तथा उनकी मदद के बिना, किसी भी तरह कोई भी अर्थक्रिया नहीं हो सकती, क्योंकि हर हालत में अनेक कार्यों को उत्पन्न करने के लिए अनेक स्वभावों की आवश्यकता है, जिनका कि नित्य में सर्वथा अभाव है। इसी प्रकार सर्वथा क्षणिक (अनित्य) पदार्थ भी अपने सद्भाव में तथा असद्भाव में अर्थक्रिया नहीं कर सकता।

कार्य-कारण की भेदाभेदता

जैन दर्शन भेदाभेदवादी है। वह कारण को कार्य से न तो सर्वथा पृथक् मानता है और न सर्वथा अपृथक्। जैन दर्शन में कारण-कार्य सिद्धान्त अनेकान्तवाद और स्याद्वाद सिद्धान्तरूपी भूमि पर पल्लवित और पुष्पित हुआ है। अतः एकान्त भेद और एकान्त अभेद जैनदर्शन को मान्य नहीं है। पदार्थ को कथंचित् भिन्न और कथंचित् अभिन्न मानने से उसमें घटित होने वाले कार्य भी भेदाभेदात्मक स्वीकार किए गए हैं। भेदाभेद मानने पर एकान्त भेद और एकान्त अभेद से होने वाले समस्त दोष स्वतः निरस्त हो जाते हैं।

जिस प्रकार घट मृत्तिका से भिन्न भी होता है और अभिन्न भी होता है, उसी प्रकार कार्य कारण से भिन्न भी होता है और अभिन्न भी होता है। घट मिट्टी से ही निष्पन्न होता है, क्योंकि घट निर्माण की शक्ति मृत्तिका में ही है। घट रूप से निष्पन्न होने पर भी वह मृत्तिका से अभिन्न है। इसी तरह पहले जब मिट्टी थी, तब घट नहीं था और तब घट से निष्पन्न होने वाले कार्य भी नहीं होते थे, अतः मिट्टी और घट भिन्न भी हैं।^{१८}

वृत्तिकार अभयदेवसूरि (१०वीं शती) ने निष्कर्ष रूप में यही लिखा है—
“कारणात् कार्यं अन्यत् कथंचित् अनन्यत् अतएव तदतद्रूपतया सच्च असच्च इति।”^{१९}

इस प्रकार एकान्त सत्कार्यवाद और एकान्त असत्कार्यवाद काल्पनिक हैं और दोनों का समन्वित रूप ही यथार्थ और युक्तियुक्त है।

वादिदेवसूरि (१२वीं शती) ने कार्य-कारण के एकान्त भेद और एकान्त अभेद का खण्डन किया है। एकान्त अभेद मानने वाले सांख्य दर्शन का खण्डन करते हुए वे कहते हैं—^{२०} “न खलु कापिलपरिकल्पितः कार्यकारणयोरभेदैकान्तः स्वप्नेऽपि प्रतीयते। संज्ञासंख्यास्वलक्षणादि भेदतः स्तन्त्वादिकारणपटादि-कार्ययोर्भेदस्याप्य- नुभूयमानस्य निहोतुमशक्यत्वात्।” अर्थात् कपिल मतावलम्बी सांख्यों का कार्य-कारण-अभेद एकान्त सम्यक् नहीं है। कारण और कार्य का भेद अनुभवगम्य है, तन्तु आदि कारणों और पटादि कार्यों में संज्ञा, संख्या, स्वलक्षण आदि भेद की स्पष्ट प्रतीति होती है। कार्य-कारण में ऐकान्तिक भेद मानने वाले वैशेषिकों का भी वादिदेवसूरि ने खण्डन करते हुए कहा है— “नापि वैशिषिकादिसंमतस्तयोर्भेदैकान्तः कदाचानाप्यनुभवभुवमगाहते।”^{२१}

वैशेषिक आदि सम्मत कार्य और कारण का भेद-एकान्त कभी भी अनुभव में नहीं आता है, इनकी (कार्य-कारण) कथंचित् भिन्नाभिन्नता जैनों को स्वीकार्य है।^{२२} इसकी सिद्धि में मल्लधारी हेमचन्द्राचार्य (१०७८ ई.शती) ने निम्न हेतु दिए हैं-

१. तत्र संख्यासंज्ञा-लक्षणादिभेदादन्यत्वम्^{२३} - तन्तु कारण है और पट कार्य है। अभिधानादि लक्षण से ये भिन्न हैं। अभिधान अर्थात् नाम, इन दोनों का नाम पृथक् है। तन्तु अनेक और पट एक होने से इनमें संख्या भेद है। दोनों का स्वरूप भिन्न होने से इनके लक्षण भिन्न हैं। कार्य की भिन्नता भी दृष्टिगोचर होती है, जैसे-तन्तुओं से बन्धन आदि और पट से शीत-रक्षा आदि कार्य सम्पादित होते हैं।

२. मृदादिरूपतया सत्त्व-प्रमेयत्वादिभिश्चानन्यत्वम्^{२४} - पृथ्वी से व्यतिरिक्त घट नहीं है क्योंकि यह पृथ्वी की पर्याय है। पर्याय रूप से मिट्टी और घट में एकत्व है। कारण और कार्य में सत्ता की समानता है तथा कारण-कार्य दोनों जानने योग्य होने से उनमें ज्ञेयत्व की एकता है। कारण-कार्य का प्रमाणित स्वरूप होने से ये प्रमेयत्व रूप भी हैं। अतः कहा गया है-

“कार्यमभिधानादिभेदाद् भिन्नं सत्त्व-ज्ञेयत्वादिभिस्त्वभिन्नं स्यात्।”^{२५}

मिट्टी से भिन्न घट नहीं है, पृथ्वी की पर्याय होने से। घट मिट्टी से अनन्य और अभिन्न है, किन्तु मात्र पृथ्वी या मिट्टी को देखकर घट को नहीं जाना जा सकता है। अतः कार्य-कारण में अभेद के साथ भेद को भी स्वीकारना आवश्यक है। इस प्रकार पृथ्वी या मिट्टी से घट अन्य और भिन्न भी है। जैसा कि भाष्यकार ने विशेषावश्यकभाष्य की निम्नांकित गाथा में कहा है-

जं कज्ज-कारणाइं पज्जाया वत्थुणो जओ ते य।

अन्नेऽणन्ने य मया तो कारण-कज्जभयणोयं।^{२६}

इस प्रकार कारण और कार्य परस्पर भिन्न भी हैं और अभिन्न भी हैं। जैनदर्शन में सर्वत्र कारण-कार्य की भिन्नाभिन्नता स्वीकार की गयी है।

कार्य-कारण की सदृशासदृशात्मकता

स्याद्वादी जैन दर्शन कार्य को न तो पूर्ण रूप से कारण के सदृश स्वीकार करता है और न ही कारण के असदृश स्वीकार करता है। वह कार्य को कारण से कथंचित् सदृश और कथंचित् असदृश मानकर कार्य-कारण की सदृशासदृशात्मकता प्रतिपादित करता है। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि कार्य की सदृशता उपादान कारण से

१६ जैनदर्शन में कारण-कार्य व्यवस्था : एक समन्वयात्मक दृष्टिकोण

ही होती है, निमित्त कारण से नहीं। जैसे- घट मिट्टी के सदृश होता है, किन्तु दण्डादि के सदृश नहीं होता।

कार्य-कारण की एकान्त सदृशात्मकता का खण्डन करते हुए भट्ट अकलंक (७२० से ७८० ई.शती) ने 'राजवार्त्तिक' में कहा है-

“नायमेकान्तोऽस्ति- 'कारणसदृशमेव कार्यम्' इति कुतः। तत्रापि सप्तभंगीसंभवात्। कथम्। घटवत्। यथा- घटः कारणेनमृत्पिण्डेन स्यात्सदृशः स्यान्न सदृशः इत्यादि। मृदद्व्याजीवनुपयोगाद्यादेशात् स्यात्सदृशः। पिण्डघटसंस्थानादिपर्यायादेशात् स्यान्नसदृशः।.....यस्यैकान्तेन कारणानुरूपं कार्यम्, तस्य घटपिण्डशिवकादिपर्याया उपलभ्यन्ते। किंच, घटेन जलधारणादिव्यापारो न क्रियते मृत्पिण्डे तददर्शनात्। अपि च मृत्पिण्डस्य घटत्वेन परिणामवद् घटस्यापि घटत्वेन परिणामः स्यात् एकान्तसदृशत्वात्। न चैवं भवति। अतो नैकान्तेन कारणसदृशत्वम्।”^{१२९}

अर्थात् यह कोई एकान्त नहीं है कि कारण के सदृश ही कार्य हो। पुद्गल द्रव्य की दृष्टि से मिट्टी रूप कारण के समान घड़ा होता है, पर पिण्ड और घट आदि पर्यायों की अपेक्षा दोनों विलक्षण हैं। यदि कारण के सदृश ही कार्य हो तो घट अवस्था से भी पिण्ड, शिवक आदि पर्यायें मिलनी चाहिए थीं। जैसे-मृत्पिण्ड में जल नहीं भर सकते उसी तरह घड़े में भी नहीं भरा जाना चाहिए था और मिट्टी की भाँति घट का भी घट रूप से ही परिणमन होना चाहिए था, कपाल रूप नहीं, कारण कि दोनों सदृश जो हैं। परन्तु ऐसा तो कभी होता नहीं है, अतः कार्य एकान्त से कारण सदृश नहीं होता। उसकी सदृशता कथंचित् ही होती है। इसी प्रकार असदृशता भी कथंचित् होती है।

विशेषावश्यक भाष्य में कारण-विचार

विशेषावश्यक भाष्य में द्रव्य एवं भाव की कारणता का विस्तार से विचार किया है। वहाँ द्रव्य की कारणता का विचार निम्नांकित बिन्दुओं के आधार पर किया गया है-

१. तत्द्रव्य और अन्यद्रव्य कारण।
२. निमित्त और नैमित्तिक कारण।
३. समवायी और असमवायी कारण
४. षट्कारकों की कारणता

तद्द्रव्य और अन्य द्रव्य कारण- पटादि कार्य की उत्पत्ति में तन्तु आदि तद्द्रव्य कारण होते हैं तथा वेमादि तद् अन्य द्रव्य कारण माने गए हैं। जैसा कि विशेषावश्यक भाष्य पर मल्लधारी हेमचन्द्र की वृत्ति में स्पष्ट किया गया है-
 “तस्यैव जन्यस्य पटादेः सजातीयत्वेन संबन्धि द्रव्यं तन्त्रादि तद्द्रव्यम्, तच्च तत् कारणं च तद्द्रव्यकारणम्, तथा यत् तद्विपरीतं तदन्यद्रव्यकारणं जन्यपटादिविजातीयं वेमादीत्यर्थः”^{१८}

निमित्त और नैमित्तिक कारण- विशेषावश्यक भाष्य एवं उसकी वृत्ति में निमित्त-नैमित्तिक शब्दों का प्रयोग क्रमशः उपादान और निमित्त का वाचक प्रतीत होता है। वहाँ तन्तुओं को पट का निमित्त कारण तथा वेमादि को नैमित्तिक कारण बताया गया है। यथा- ‘तत्र कार्यात्मन आसन्नभावेन जनकं निमित्तं यथा- पटस्यैव तन्त्रवः तद्रव्यतिरेकेण पटस्यानुत्पत्तेः, तच्च तत् कारणं च निमित्तकारणम्, यथा च तन्तुभिर्विना पटो न भवति तथा तद्गताऽऽतान-वितानादिचेष्टाव्यतिरेकेणापि न भवत्येव तस्याश्च तच्चेष्टाया वेमादि कारणम्, अतो निमित्तस्येदं नैमित्तिकमिति।’^{१९}

समवायी और असमवायी कारण- एकीभाव से अपृथक् गमन को समवाय कहा गया है तथा पट की उत्पत्ति में तन्तुओं को समवायी कारण और तन्तु-संयोग को असमवायी कारण प्रतिपादित किया गया है। यथा- ‘समवायीत्यादि’ ‘सम्’ एकीभावे, ‘अवशब्दोऽपृथक्त्वे’, ‘अय् गतौ’ ‘इण् गतौ’ वा। ततश्चैकी-भावेनापृथग् गमनं समवायः संश्लेषः स विद्यते येषां ते समवायिनस्तन्त्रवः, यस्मात् तेषु, पटः समवेतीति, समवायिनश्च ते कारणं च समवायिकारणम्। तन्तुसंयोगास्तु कारणरूपद्रव्यान्तरधर्मत्वेन पटाख्यकार्यद्रव्यान्तरस्य दूरवर्तित्वादसमवायिनस्त एव कारणसमवायिकारणम्।’^{२०}

भाष्य में कथंचित् वेमादि को समवेत न होने से असमवायीकारण भी कहा गया है-

समवाइकारणं तंतवो पडे जेण ते समवयंति।

न समेइ जओ कज्जे वेमाइ तओ असमवाई।।^{२१}

षट्कारकों की कारणता- विशेषावश्यक भाष्य में षट् कारकों को भी कारण के रूप में प्रतिपादित किया गया है। ‘क्रियाजनकत्वं कारकत्वम्’ अर्थात् जिसमें क्रिया की जनकता (उत्पादकता) पायी जाती है, वह कारक कहलाता है। इस प्रकार कर्ता, कर्म, करण, सम्प्रदान, अपादान और अधिकरण- ये सब कारक कहे

१८ जैनदर्शन में कारण-कार्य व्यवस्था : एक समन्वयात्मक दृष्टिकोण

जाते हैं, क्योंकि इन सबमें अपने-अपने ढंग से क्रिया की जनकता पायी जाती है। कारक होने से ये सब किसी न किसी रूप में कार्य की जनकता में कारण बनते हैं।

व्याकरण सम्मत षट् कारकों की कारणता का प्रतिपादन विशेषावश्यक भाष्य^{१२} में जिनभद्रगणि (६-७वीं शती) ने इस प्रकार किया है-

कारणमहवा छद्धा तत्थ संततो त्ति कारणं कत्ता।

कज्जपसाहगतमं करणम्मि उ पिंडं दंडाइं।।

कम्मं किरिया कारणमिह निच्छिदो अओ न साहेइ।

अहवा कम्मं कुंभो स कारणं बुद्धि हेउ त्ति।।

देओ स जस्स तं संपयाणमिह तं पि कारणं तस्स।

होइ तदत्थित्ताओ न कीरए तं विणा जं सो।।

भूपिंडावायाओ पिंडो वा सक्करादवायाओ।

चक्कमहावाओ वाऽपादाणं कारणं तं पि।।

वसुहाऽऽगासं चक्कं सरूवमिच्छाइ सनिहाणं जं।

कुंभस्स तं पि कारणमभावओ तस्स जदसिद्धी।।

विशेषावश्यक पर मल्लधारी हेमचन्द्राचार्य ने वृत्ति करते हुए कर्ता आदि कारकों की कारणता को स्पष्ट किया है-

(i) कर्त्ता की कारणता- 'कर्त्ता कुलाललक्षणस्तावत् कार्यस्य घटादेः कारणम्, तस्य तत्र स्वातन्त्र्येण व्यापारात्'^{१३} अर्थात् घट रूपी कार्य में कुलाललक्षण वाला कर्त्ता-कारण है। कर्त्ता जब कार्य रूप कर्म को अपनी क्रिया का उद्देश्य बना लेता है तभी उसकी सम्पन्नता के लिए वह क्रिया करने में प्रवृत्त होता है। अतः कार्य करने में स्वतंत्र होने से वह कर्त्ता रूप में घट का कारण बनता है।

(ii) कर्म की कारणता- 'क्रियते कर्त्ता निवर्त्यते इति कर्म'^{१४} इस व्युत्पत्ति से कर्म के दो स्वरूप प्रकट होते हैं। एक क्रिया रूप और दूसरा कार्य रूप। क्रिया तो कर्त्ता के व्यापार रूप होती है, इसकी घट आदि कार्य के प्रति कारणता प्रतीत ही है, क्योंकि इसके बिना कुम्भकार भी घट का कारण नहीं हो सकता। कर्त्ता को ईप्सिततम होने से क्रियमाण घट ही कर्म बनता है। यह घट ही कार्य भी है। कार्य

स्वयं का कारण कैसे हो सकता है? जैसे तीक्ष्ण नोक वाली सुई अपने आपको नहीं बौंधती इसी प्रकार कार्य कभी अपना कारण नहीं बनता है। अतः घट स्वयं अपना कारण कैसे हो सकता है? इस शंका का निराकरण करते हुए भाष्यकार कहते हैं- 'स कारणं बुद्धिहेउत्ति' जो घट कारण बनता है, वह कुम्भकार की बुद्धि में स्थित है, जिसके अनुसार वह मिट्टी को घट की आकृति देता है। सभी कार्य बुद्धि के संकल्प से ही होते हैं^{३५} तभी बुद्धि में अध्यवसित कुम्भ द्रव्यरूप कुम्भ का अवलम्बन होता है।

पुनः प्रश्न किया जाता है कि द्रव्य कुम्भ के प्रकरण में बुद्धि में स्थित कुम्भ का कथन अनुचित है। इस प्रश्न के उत्तर में जैन दार्शनिक हेमचन्द्र कहते हैं- 'भाविनि भूतवदुपचारन्यायेन तयोरेकत्वाध्यवसानाददोषः' अर्थात् भूत और भविष्य के आधार पर उपचार से ऐसा कह दिया जाता है। जैसे घट बनाते समय स्थास-कोश की स्थिति हो तब भी कुम्भार को 'क्या बना रहे हो' पूछने पर वह 'घट' कहता है। भविष्यकाल में होने वाले घट को उपचार से वर्तमान में वह कह देता है। इसी प्रकार बुद्धि में स्थित कुम्भ को कारण मानना अनुचित नहीं है।^{३६}

सभी कारण सामग्री के संनिधान होने पर भी कर्ता की बुद्धि का अध्यवसाय उस कार्य में न हो तो वह कार्य नहीं होता है। जैसे कुलाल-चक्र-चीवर आदि उपस्थित होने पर भी कुलाल की बुद्धि में घट-निर्माण की पूर्व योजना न हो तो घट के स्थान पर शराव आदि अन्य का निर्माण होता है या कुछ भी नहीं होता। इसलिए घट के निर्माण में घट भी कर्म कारण है।^{३७}

(iii) करण- 'मृत्पिण्ड-दण्ड-सूत्रादिकं घटस्य करणम्, साधकतमत्वात्'^{३८} जो कार्य की सिद्धि में साधकतम कारण हो, वह करण कहलाता है। यहाँ घट के निर्माण में मिट्टी का पिण्ड, दण्ड, सूत्र आदि साधकतम होने से करण रूप में कारण है।

(iv) सम्प्रदान- 'सम्यक् सत्कृत्य वा प्रयत्नेन दानं यस्मै तत् सम्प्रदानम्'^{३९} अर्थात् सम्यक् रूप से अथवा सत्कारपूर्वक प्रयत्न से जिसको दिया जाय वह सम्प्रदान है। घट के ग्राहक या क्रेता सम्प्रदान कारण है। सम्यक् रूप से उसी को दिया जा सकता है, जिसको उसकी आवश्यकता या लेने की इच्छा हो। ग्राहक को उद्देश्य में रखकर ही घट का निर्माण होता है अन्यथा निर्माण न हो। अतः घट रूपी कार्य में ग्राहकादि उसके सम्प्रदान कारण है।

(v) अपादान- 'ध्रुवत्वाद् भूमिलक्षणमपादानम्'^{४०} जिस ध्रुव पदार्थ से पृथक्करण होता है, वह अपादान कारण है। घट निर्माण में मिट्टी को ध्रुव भूमि से

२० जैनदर्शन में कारण-कार्य व्यवस्था : एक समन्वयात्मक दृष्टिकोण

पृथक् किया जाता है, अतः भूमि घट-कार्य के प्रति अपादान कारण है। अपेक्षा से चक्र से घट को अलग करने पर चक्र भी अपादान कारण होता है।

(vi) अधिकरण- 'संनिधीयते स्थाप्यते कार्यं यत्र तत् संनिधानमाधारः अधिकरणमित्यर्थः।' ^{४१} जो पदार्थ कार्य के होने में आधार बनता है, वह अधिकरण कारण है। घट का आधार चक्र है। चक्र का आधार भूमि है और भूमि का आधार आकाश है। आकाश स्वरूपप्रतिष्ठित होने से स्वयं ही आधारभूत है। इस प्रकार चक्र, भूमि तथा आकाश घट-कार्य के प्रति अधिकरण कारण हैं।

द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव और भव की कारणता

जैन दर्शन में कारणता के प्रतिपादन की एक और दृष्टि प्राप्त होती है, वह है- द्रव्य, क्षेत्र, काल एवं भाव की कारणता। कहीं पर इन चार कारणों के साथ भव को भी कारण मानते हुए पाँच कारण निरूपित हैं- द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव और भव। इनकी कारणता का उल्लेख आगम-साहित्य एवं टीका साहित्य में विभिन्न स्थानों पर प्राप्त होता है।

जैन वाङ्मय में एतत् विषयक विचार

व्याख्याप्रज्ञप्तिसूत्र में कहा है-

'कतिविधे णं भंते! करणे पन्नत्ते?

'गोयमा! पंचविहे करणे पन्नत्ते, तंजहा- दव्वकरणे, खेत्तकरणे, कालकरणे, भवकरणे, भावकरणे'^{४२}

भगवन्! करण कितने प्रकार का कहा गया है?

गौतम! करण पाँच प्रकार का कहा गया है। यथा- १. द्रव्यकरण २. क्षेत्रकरण ३. कालकरण ४. भवकरण और ५. भावकरण।

ये पाँच प्रकार के करण पंचविध कारणों का ही ख्यापन कर रहे हैं। 'करण' शब्द का प्रयोग साधन या कारण के अर्थ में भी होता है। व्याकरण में साधकतम कारण को करण कहा जाता है। यहाँ द्रव्य, क्षेत्र आदि पाँचों कारण क्रिया की निष्पत्ति में सहायकभूत होने से करण हैं। इन कारणों अथवा करणों का विचार जीवों में घटित होने वाले कार्यों की अपेक्षा लेकर किया गया है। यह तथ्य निम्नांकित आगम-वाक्यों से भी पुष्ट होता है-

“नेरतियाणं भन्ते! कतिविधे करणे पन्नत्ते?

गोयमा! पंचविधे करणे पन्नत्ते, तंजहा- दब्बकरणे जाव भावकरणे।
एवं जाव वेमाणियाणं।”^{१४३}

भगवन्! नैरयिकों के कितने करण कहे गए हैं?

गौतम! उनके पाँच प्रकार के करण कहे गए हैं, यथा- द्रव्यकरण यावत् भावकरण (नैरयिकों से लेकर वैमानिकों तक इसी प्रकार का कथन करना चाहिए)

यहाँ पर नैरयिक से लेकर वैमानिक तक के जीवों में समस्त संसारी जीवों का समावेश हो जाता है। इस प्रकार सभी संसारी जीवों में द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव और भाव की कारणता स्पष्ट है।

सूत्रकृतांग निर्युक्ति में द्रव्य-क्षेत्र-काल एवं भाव से जीव को कर्ता स्वीकार किया गया है- ‘दब्बे खित्ते काले भावेण उ कारओ जीवो।’^{१४४}

दिगम्बर आगम ‘कसाय पाहुड’^{१४५} में प्रागभाव के विनाश में (जो कार्य का कारण माना गया है) द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव की अपेक्षा स्वीकार की गयी है। ‘पागभावस्स विणासो वि दब्ब-खेत-काल-भावावेक्खाए जायदे।’

कर्म-विपाक के संबंध में भी द्रव्यादि की कारणता मानी गयी है-

उदय-व्खय-खाओवसमोवसमा वि य जं च कम्मणो भणिया।

दब्बं खेतं कालं भावं च भवं च संपप्प।।^{१४६}

अर्थात् जीवों में कर्मों के उदय-क्षय-क्षयोपशम और उपशम द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव और भव का निमित्त पाकर घटित होते हैं।

आगम के अतिरिक्त दार्शनिक ग्रन्थों में भी बंध, उदय आदि कार्यों में द्रव्य-क्षेत्र-काल-भव-भाव की कारणता मानी गयी है। भट्ट अकलंक (७२०-७८० ईस्वी शती) ने राजवार्तिक में कहा है-

“प्रकृष्टं शुभकर्म सर्वार्थसिद्धिसौख्यप्रापकं तीर्थकरत्वमहर्द्धिनिर्वर्तकं वा असाधारणम्। अशुभकर्म च प्रकृष्टं कलंकलपृथिवीमहादुःखप्रापकं अप्रतिष्ठाननरकगमनं च कर्मभूमिष्वेवोपाज्यते द्रव्य-भव-क्षेत्र-काल-भावापेक्षत्वात् कर्मबन्धस्य।”^{१४७}

सर्वार्थसिद्धि प्राप्त कराने वाला या तीर्थकर प्रकृति बांधने वाला प्रकृष्ट शुभकर्म अथवा सातवें नरक ले जाने वाला प्रकृष्ट अशुभ कर्म द्रव्य-भव-क्षेत्र-काल और भाव की अपेक्षा से कर्मभूमि में ही बंधता है।

२२ जैनदर्शन में कारण-कार्य व्यवस्था : एक समन्वयात्मक दृष्टिकोण

स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा में द्रव्यादि कारण की पुष्टि निम्न प्रकार से की गयी है-

कालाइलद्धिजुत्ता णाणासत्तीहि संजुदा अत्था।

परिणममाणा हि सयं ण सक्कदे को वि वारेदुं।^{१८}

अर्थात् काल आदि लब्धियों से युक्त तथा नानाशक्तियों वाले पदार्थों को स्वयं परिणमन करते हुए कौन रोक सकता है?

शुभचन्द्राचार्य ने 'कालाई' पर टीका करते हुए कहा है- 'कालादिलब्धियुक्ताः कालद्रव्यक्षेत्रभवभावादिसामग्री प्राप्ता।' वे पदार्थ द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव और भव रूप सामग्री के प्राप्त होने पर स्वयं परिणमन करते हैं, उन्हें उससे कोई नहीं रोक सकता। जैसे- भव्यत्व आदि शक्ति से युक्त जीव काललब्धि के प्राप्त होने पर मुक्त हो जाते हैं। भातरूप होने की शक्ति से युक्त चावल, ईंधन, आग, बटलोही, जल आदि सामग्री के मिलने पर भावरूप हो जाते हैं। ऐसी स्थिति में जीव को मुक्त होने से और चावलों को भातरूप होने से कौन रोक सकता है।

राजवार्तिक, प्रवचनसार, सर्वार्थसिद्धि में कर्मोदय में द्रव्य, क्षेत्र आदि को निमित्त माना गया है।

यहाँ द्रव्य क्षेत्र, काल, भाव एवं भव की कारणता पर संक्षेप में प्रकाश डाला जा रहा है-

द्रव्य की कारणता

जैन दर्शन में द्रव्य को सत्ता लक्षण वाला कहा गया है अर्थात् जो सत् है अथवा जो उत्पाद-व्यय-धौव्य से संयुक्त है अथवा जो गुण और पर्यायों का आधार है, वह द्रव्य है। ऐसा पंचास्तिकाय में प्रतिपादित है-

द्व्वं सत्त्वनक्खणिगं उप्पादव्ययधुवत्तसंजुतं।

गुणपज्जयासयं वा जं तं भण्णंति सव्वणदू।^{१९}

द्रव्य छः प्रकार के हैं- धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य, आकाश द्रव्य, काल द्रव्य, जीव द्रव्य और पुद्गल द्रव्य। ये छः ही द्रव्य परस्पर कारण बनते हैं। प्रत्येक द्रव्य स्वपरिणमन में उपादान कारण होते हैं। धर्म, अधर्म, आकाश और काल जीव-अजीव के कार्य में उदासीन कारण, पुद्गल एवं जीव द्रव्य अन्य जीव के प्रति निमित्त कारण तथा जीव-कार्य एवं अन्य पुद्गल के प्रति पुद्गल द्रव्य निमित्त कारण होते हैं।^{२०} इस

प्रकार सभी द्रव्य अंतरंग और बहिरंग के रूप में कारण बनते हैं। वे स्वपरिणमन में अंतरंग और अन्य द्रव्यों के परिणमन में बहिरंग निमित्त होते हैं।

क्षेत्र की कारणता

‘क्षि’ निवासगत्योः धातु से उणादिक ‘त्र’ प्रत्यय होकर ‘क्षेत्र’ शब्द बनता है। कहीं ‘क्षि’ धातु से ‘ष्ट्रन्’ प्रत्यय करके भी ‘क्षेत्र’ शब्द निष्पन्न किया गया है। ‘क्षियन्ति निवसन्ति जीवाजीवाश्च अत्र इति क्षेत्रम्’ जहाँ जीव और अजीव पदार्थ निवास करते हैं उसे ‘क्षेत्र’ कहते हैं। यह निवास आकाश में किया जाता है इसलिए क्षेत्र को भी आकाश कहा गया है। ‘खित्तं खलु आगासं’ इस वचन से तथा विशेषावश्यक भाष्य की मल्लधारी हेमचन्द्रकृत वृत्ति के वाक्य ‘तच्छाकाशं सर्वार्थवेदिनां मतम्’ से भी पुष्ट होता है कि आकाश ही क्षेत्र है। विशेषावश्यक भाष्य में स्पष्ट कथन है—

खित्तं मयमागासं सव्वदव्वावगाहणालिंगं।

तं दव्वं चेव निवासमेतपज्जायओ खित्तं।^{१२}

सभी द्रव्यों को अवगाहन या स्थान देने के कारण आकाश को ही क्षेत्र माना गया है। वह आकाशद्रव्य ही निवासमात्र पर्याय से क्षेत्र कहा जाता है। उपाधिभेद से इस क्षेत्र के अनेक प्रकार होते हैं। जहाँ कोई पदार्थ रहता है वही उसका क्षेत्र कहलाता है। उदाहरण के लिए जिस एक प्रदेश में परमाणु रहता है वह एक प्रदेश उस परमाणु का क्षेत्र कहलाता है। इसी प्रकार अन्य द्रव्यों एवं पदार्थों का क्षेत्र भी समझना चाहिए। धर्म-अधर्म आदि द्रव्य जहाँ रहते हैं, वह उनका क्षेत्र होता है। इसका तात्पर्य यह है कि जो द्रव्य या पदार्थ जितना स्थान घेरता है, उसका उतना क्षेत्र होता है।

विश्व का कोई भी कार्य हो, उसमें क्षेत्र आवश्यक रूप से कारण होता है। बिना क्षेत्र के कोई कार्य सम्पन्न नहीं होता। क्षेत्र सभी कार्यों का सामान्य कारण होता है। धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, पुद्गलास्तिकाय, जीवास्तिकाय और काल ये सभी द्रव्य क्षेत्र (आकाश) में ही रहते हैं। इस प्रकार सभी द्रव्यों के पर्याय-परिणमन रूप कार्य में क्षेत्र की कारणता स्वतः सिद्ध है। ‘क्षेत्र’ शब्द का प्रयोग मूलतः आकाश के लिए हुआ है किन्तु उपचार से जनपद, नगर, ग्राम आदि को भी क्षेत्र कहा गया है। इसी प्रकार आकाश से सम्बद्ध पृथ्वी या भूमि को भी क्षेत्र कहा जाता है। इसी क्षेत्र के लिए लोक भाषा में ‘खेत’ शब्द प्रयुक्त हुआ है।

विशिष्ट खेत या क्षेत्र की कारणता कृषि-कार्य की विशिष्टता को सिद्ध करती है। इसीलिए अलग-अलग क्षेत्रों में अलग-अलग प्रकार की खेती देखी जाती

२४ जैनदर्शन में कारण-कार्य व्यवस्था : एक समन्वयात्मक दृष्टिकोण

है, यथा- काश्मीर में केशर, गुजरात में कपास, आसाम में चाय, राजस्थान में बाजरा, प.बंगाल में चावल की खेती अधिक होती है।

घट, पट आदि कोई भी कार्य हो, क्षेत्र की कारणता सबमें निहित है। क्षेत्र को यह कारणता उदासीन निमित्त कारण के रूप में स्वीकार की जा सकती है। क्षेत्र किसी कार्य का उपादान कारण नहीं बनता है, किन्तु सभी कार्यों की उत्पत्ति में उदासीन निमित्त कारण अवश्य बनता है। क्षेत्र को भौगोलिक कारणों के रूप में भी व्याख्यायित किया जा सकता है। विभिन्न कार्यों की उत्पत्ति में भौगोलिक कारण स्पष्टतया अनुभव किए जाते हैं।

काल की कारणता

‘कलयते असौ इति कालः’ अर्थात् जो निर्माण करता है, वह काल है। यह काल कार्य के निर्माण में सहयोगी बनता है। उत्तराध्ययन सूत्र में काल को परिभाषित करते हुए कहा है-

‘वट्टणालक्खणो कालो’^{१२}

जो वर्तन लक्षण वाला है, वह काल है। काल के कारण ही धर्मास्तिकाय आदि द्रव्य में वर्तन करते हैं अर्थात् बने रहते हैं।

तत्त्वार्थसूत्रकार ने ‘काल’ के कार्य बताते हुए उसे कारण रूप में प्ररूपित किया है-

‘वर्तना परिणामः क्रिया परत्वापरत्वे च कालस्य’^{१३}

काल द्रव्य के चार उपकार (कार्य) बताए हैं- १. वर्तना २. परिणाम ३. क्रिया ४. परत्व-अपरत्व। वर्तन, परिणमन, क्रिया, ज्येष्ठत्व-कनिष्ठत्व इन कार्यों के प्रति ‘काल’ उदासीन निमित्त कारण होता है। प्रत्येक द्रव्य अपनी निज शक्ति से पर्याय रूप परिणमन करता है, नई-नई पर्याय धारण करता है और पुरानी पर्याय का त्याग करता है। द्रव्य के इस परिणमन में काल निमित्त कारण बनता है। काल अन्य द्रव्यों के प्रति सदैव उदासीन निमित्त कारण बनता है, उपादान कारण नहीं बन सकता। भगवती सूत्र^{१४} काल के स्वरूप का प्रतिपादन ‘अणंता समय’ के रूप में करता है। बृहद् द्रव्य-संग्रह^{१५} में भी ‘द्व्यपरिवट्टरूवो जो सो कालो हवेइ’ उक्ति द्वारा काल को द्रव्यों के परिवर्तन में सहायक कारण के रूप में प्रतिपादित किया गया है।

काल को द्रव्य के रूप में स्वीकार करने में जैनाचार्यों में मतभेद है, किन्तु इसे सामान्य कारण मानने में कोई आपत्ति नहीं है। काल के प्रभाव से ही जीव

कर्मोदय के कारण नरक गति, तिर्यच गति अर्थात् पशु-पक्षियों की गति, मनुष्य गति एवं देव गति में जाता है। कालचक्र के कारण ही शीतकाल में ठण्ड, ग्रीष्मकाल में गर्मी, वर्षाकाल में वर्षा होती है। उचित काल आने पर ही फूल खिलता है, फल पकता है, पक्षी उड़ता है, मनुष्य जन्मता है, सूर्य उगता है और कमल विकसित एवं संकुचित होते हैं।

भाव की कारणता

आगम^६ में भाव को पर्याय कहकर दोनों को एकार्थक सिद्ध किया गया है। पूर्वोक्त षड् द्रव्यों की पर्याय ही भाव है। धर्म, अधर्म, आकाश और काल की क्रमशः गति, स्थिति, अवगाहन एवं वर्तना लक्षण रूप पर्याय हैं जो जीव और पुद्गल के विभिन्न परिणामों में सहायक होती हैं। पुद्गल की वर्ण-गंध-रस और स्पर्श पर्यायें हैं तथा जीव की औदयिक, क्षायिक, क्षायोपशमिक, औपशमिक और पारिणामिक ये पाँच भाव पर्यायें हैं। धर्म, अधर्म, आकाश और काल की पर्यायें कार्य में उदासीन कारण होती हैं। प्रत्येक पुद्गल की वर्णादि पर्याय पृथक्-पृथक् होती हैं, अतः उनसे निर्मित अनेक कार्य जगत् की विभिन्नता में दृष्टिगोचर होते हैं। जीव के पंच भाव मोक्ष, बंध आदि कार्यों में निमित्त बनते हैं।

कोई भी द्रव्य पर्याय या भाव से रहित नहीं होता, उस द्रव्य की पर्याय प्रतिक्षण परिवर्तनशील होती है। पूर्व पर्याय का विनाश और उत्तर पर्याय का उत्पाद सतत चलता रहता है। फिर भी द्रव्य की ध्रुवता बनी रहती है। वस्तु उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मक होने से त्रयात्मक कही जाती है। यह त्रयात्मकता वस्तु से भिन्न नहीं है, यह तो वस्तु का लक्षण एवं स्वरूप है। जब एक वस्तु किसी कार्य में कारण बनती है तो उसकी पर्याय या उसका भाव भी अवश्य कारण बनता है। पर्याय के बिना तो कारण-कार्य सिद्धान्त ही प्रवृत्त नहीं होता। कोई पर्याय कारण है तो कोई पर्याय कार्य। एक सामान्य नियम है 'कारणगुणा हि कार्यगुणान् आरभन्ते' अर्थात् कारण के जैसे गुण होते हैं वैसे ही कार्य में आते हैं। तात्पर्य यह है कि कारण के अनुरूप ही कार्य उत्पन्न होता है। बीज जिन कटु आदि पर्यायों से युक्त होता है, वह वैसे ही कटु वृक्ष या फल को उत्पन्न करता है।

जीव में घटित होने वाले कार्यों के प्रति 'भाव' कारण बनते हैं, ऐसा अनुयोगद्वारसूत्र में विस्तार से प्रतिपादन हुआ है-

छव्विधे भावे णण्णत्ते-

ओदइए, उणसमिते, खत्तिते, खाओवसमिते, परिणामिते, सन्निवाइए।^७

भाव छः प्रकार के होते हैं- १. औदयिक २. औपशमिक ३. क्षायिक ४. क्षायोपशमिक ५. पारिणामिक और ६. सान्निपातिक।

औदयिक, औपशमिक, क्षायिक, क्षायोपशमिक, पारिणामिक और सान्निपातिक भाव की कारणाता-

औदयिक भाव- 'उदए अट्ठण्हं कम्मपगडीणं उदएणं। से तं उदए।'^{५८}

ज्ञानावरणादिक आठ कर्मप्रकृतियों के उदय से होने वाला भाव-पर्याय औदयिक भाव है। ज्ञानावरणादि आठ कर्मों का उदय होने पर तज्जन्य अवस्थाएँ उत्पन्न होने से कर्मोदय कारण है और तज्जन्य अवस्थाएँ कार्य हैं। इन भावों के निमित्त से जीव में निम्न कार्य सम्पन्न होते हैं^{५९}- नारक आदि चार गतियाँ, क्रोधादि चार कषाय, तीन वेद, मिथ्यादर्शन, अज्ञान छः लेश्याएँ, असंयम, संसारित्व, असिद्धत्व आदि।

जैसे कि गति नाम कर्मोदय के कारण मनुष्यादि गतियाँ, कषायचारित्र-मोहनीय कर्मोदय के कारण क्रोधादि कषाय, नोकषाय चारित्रमोहनीय कर्मोदय के कारण वेदत्रिक्, मिथ्यात्व मोहनीय के कारण मिथ्यादर्शन और ज्ञानावरण के कारण अज्ञान आदि विभिन्न कार्य जीव में निष्पन्न होते हैं। औदारिक, वैक्रिय, आहारक आदि शरीर भी औदयिक भाव से प्राप्त होते हैं।

औपशमिक भाव- 'उवसमे मोहणिज्जस्स कम्मस्स उवसमेणं। से तं उवसमे'^{६०} अर्थात् मोहनीय कर्म के उपशम से होने वाले भाव को उपशम (औपशमिक) भाव कहते हैं। इन औपशमिकभाव रूप हेतु से सम्यक्त्व चारित्र आदि लब्धियाँ जीवों को प्राप्त होती हैं। दर्शन मोहनीय के उपशम से सम्यक्त्व लब्धि, चारित्र मोहनीय के उपशम से चारित्र लब्धि, मोहनीय कर्म के अन्य प्रभेदों के उपशम से क्रोधशमन, मानशमन आदि क्रियाएँ जीव में निष्पन्न होती हैं।^{६१}

क्षायिक भाव- 'खाए अट्ठण्हं कम्मपगडीणं खाएणं। से तं खाए।'^{६२} आठ कर्म प्रकृतियों के क्षय से होने वाला भाव क्षायिक है। क्षायिक भावरूप हेतु (कारण) से केवलज्ञान-केवलदर्शन की प्राप्ति, अव्याबाध सुख की प्राप्ति, मोह का क्षय और अनन्तवीर्य प्राप्त होता है।^{६३} इस प्रकार क्षायिक भाव ही जीव के सिद्ध, बुद्ध और मुक्त होने में निमित्त है।

क्षायोपशमिक भाव- 'खाओवसमे चउण्हं घाडकम्माणं खाओवसमेणं।

तंजहा- १ पाणावरणिज्जस्स २. दंसणावरणिज्जस्स ३. मोहणिज्जस्स ४. अंतराडयस्स। से तं खाओवसमो।'^{६४} ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय और अन्तराय इन चारों घाति कर्मों के क्षयोपशम को क्षयोपशम भाव कहते हैं।

क्षयोपशमिक भावों से ज्ञानावरण आदि कर्मों के आवरण अनावृत होते हैं। मतिज्ञानलब्धि, श्रुतज्ञानलब्धि, अवधिज्ञानलब्धि और मनःपर्यायज्ञान लब्धि तत्तत् ज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम से एवं चक्षुदर्शनलब्धि, अचक्षुदर्शनलब्धि, अवधिदर्शनलब्धि क्रमशः चक्षुदर्शनावरण, अचक्षुदर्शनावरण और अवधिदर्शनावरण कर्म के क्षयोपशम से प्राप्त होने के कारण क्षयोपशमनिष्पन्न कार्य हैं। मिथ्यात्वमोहनीय के क्षयोपशम से सम्यग्दर्शनलब्धि और दानान्तराय कर्म क्षयोपशम से दान-लाभ-भोग-उपभोग और वीर्य लब्धि प्राप्त होती है।

पारिणामिक भाव- द्रव्य के मूल स्वभाव का परित्याग न होना और पूर्व अवस्था का विनाश तथा उत्तर अवस्था की उत्पत्ति होते रहना परिणमन-परिणाम है। अर्थात् स्वरूप में स्थित रहकर उत्पन्न तथा नष्ट होना परिणाम है। ऐसे परिणाम को अथवा इस परिणाम से जो भाव निष्पन्न हो उसे पारिणामिक भाव कहते हैं।

पारिणामिक भाव के कारण ही जिस द्रव्य का जो स्वभाव है, उसी रूप में उसका परिणमन-परिवर्तन होता है।

सान्निपातिक भाव- सण्णिवाइए एतेसिं चेव उदइय उवसमिय-खइय-खओवसमिय परिणामियाणं-भावणं-दुघसंजोएणं तिघसंजोएणं चउक्कसंजोएणं पंचग-संजोएणं जे निप्पज्जंति सब्बे से सन्निवाइए जामे।^{६६} अर्थात् औदयिक, औपशमिक, क्षायिक, क्षयोपशमिक और पारिणामिक इन पाँचों भावों के द्विकसंयोग, त्रिकसंयोग, चतुःसंयोग और पंचसंयोग से जो भाव निष्पन्न होते हैं, वे सान्निपातिक भाव हैं। यह भाव पूर्वोक्त कार्यों में कारण बनता है। अतः पृथक् से विवेचन की आवश्यकता नहीं है।

जीव के बंधन और मोक्ष में उसके भावों को ही प्रधान कारण माना गया है। जीव के गति (नरकादि), कषाय, लेश्या आदि औदयिक भाव जहाँ बंध के कारण हैं, वहाँ सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान, सम्यक् चारित्र आदि क्षायिक भाव मोक्ष के हेतु बनते हैं। इस प्रकार भावों की कारणता असंदिग्ध है। पुद्गल में भी इसी प्रकार उसके वर्ण गंध, रस, स्पर्श भावों के अनुरूप प्रशस्त या अप्रशस्त कार्य उत्पन्न होते हुए देखे जाते हैं। जैसे- कोमल एवं स्निग्ध धागों से मुलायम कपड़ा बनता है, इसमें धागे की स्निग्ध और कोमल पर्याय कपड़े के मुलायम होने में कारण है।

विशेषावश्यक भाष्य में प्रशस्त एवं अप्रशस्त भाव- विशेषावश्यक भाष्य^{६७} में भाव कारण की दो प्रकार का निरूपित किया गया है-१. प्रशस्त और २. अप्रशस्त।

अप्रशस्त कारण संसार से संबंधित होते हैं, इन्हें असंयम के आधार पर एक प्रकार का, अज्ञान और अविरति के आधार पर दो प्रकार का तथा मिथ्यात्व, अज्ञान और अविरति के आधार पर तीन प्रकार का निरूपित किया गया है। प्रशस्त भाव कारण को भी इसी प्रकार एकविध, द्विविध और त्रिविध प्रतिपादित किया गया है। एकविध में संयम को द्विविध में ज्ञान-संयम को, तथा त्रिविध में सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान और संयम को भाव कारण बताया गया है। यह प्रशस्त भाव कारण मोक्ष में हेतु होता है।

भव की कारणता

भव का अर्थ होता है-जन्म। जन्म ही जब किसी कार्य में कारण होता है तो उसे भव की कारणता कहा जाता है। यथा-देवगति और नरकगति में वैक्रिय शरीर होना रूप कार्य भव की कारणता से सम्पन्न होता है। इसी प्रकार अवधिज्ञान या विभंगज्ञान देवों और नारकों में देवायु और नरकायु रूप भव की कारणता से प्रकट होता है। जैसा कि कहा है- 'तत्र भवप्रत्ययो नारकदेवानाम्'^{६८} इसी प्रकार मनुष्य भव में ही मोक्ष मान्य होने से मनुष्य भव मोक्षरूपी कार्य में कारण बनता है। देवगति में सुख और नरकगति में अत्यन्त दुःख में भी भव की कारणता अंगीकार की जा सकती है। तिर्यच गति में पक्षियों का उड़ना, मछली का तैरना, सर्प का रेंगना, मेंढक का थल-जल में रहना आदि सभी कार्य भव की कारणता सिद्ध करते हैं। यथा- 'जीव' की कर्म-बंधन क्रिया में जीव द्रव्य स्वयं अंतरंग कारण और कर्म पुद्गल बाह्य कारण होते हैं। किन्तु कई स्थानों पर जीव द्रव्य के लिए पाँचवां 'भव' कारण भी माना गया है। जीव द्रव्य में बंध, उदय, मोक्ष आदि की घटनाएँ होती हैं। इन क्रियाओं में द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव और भव कारण होते हैं, यथा- कर्मों के उदय में जीव द्रव्य स्वयं आन्तरिक कारण और उदय में आने वाले कर्म-पुद्गल बाह्य कारण, स्थल आदि का प्रभाव 'क्षेत्र' कारण, काल विशेष में कर्मोदय होना 'काल' कारण, जीव के तत्कालीन कषाय भाव 'भाव' कारण और नरक तिर्यच-मनुष्य-देव रूपी किसी गति में रहने से 'भव' कारण बनते हैं।

निमित्त और उपादान

कार्य एक विशिष्ट प्रकार की पर्याय है जो उपादान एवं निमित्त कारणों से प्रकट होती है। कार्य को उपादान कारण की पर्याय कहा जा सकता है, जिसके प्रकट होने में निमित्त सहायभूत होता है। प्रत्येक कार्य कारणपूर्वक ही होता है और कार्य की उत्पादक सामग्री को कारण कहा जाता है। यह उत्पादक सामग्री उपादान और निमित्तों के रूप में दो प्रकार की होती है।

‘उपादीयते अनेन’ इस विग्रह के आधार पर ‘उप’ एवं ‘आ’ उपसर्गपूर्वक विशिष्ट ‘दा’ धातु से कर्ता के अर्थ में ‘लयुद्’ प्रत्यय होकर ‘उपादान’ शब्द निष्पन्न हुआ है। जिसका अर्थ होता है कि जो कार्य रूप परिणत हो या जिसमें कार्य उत्पन्न हो, वह उपादान है। ‘उपादान कारण’ कारण समूह में मुख्य होता है। अन्य कारणों की उपस्थिति के बावजूद भी इस मुख्य कारण के बिना कार्य सम्पन्न नहीं होता। जैसे-घट की उत्पत्ति में मिट्टी उपादान कारण है। दण्ड, चक्र, कुम्हार आदि अन्य सभी कारण वर्तमान हों तब भी उपादान कारण के अभाव में घट का निर्माण नहीं हो सकता। सम्पूर्ण कारणों में इसकी मुख्यता प्रकट होने से इसे ‘मुख्य कारण’ से भी अभिहित किया जाता है।

‘निमित्त’ शब्द ‘नि’ उपसर्गपूर्वक स्नेहार्थक ‘मिद्’ धातु से कर्ता अर्थ में ही ‘क्त’ प्रत्यय होकर निष्पन्न हुआ है। ‘मित्र’ शब्द भी मिद् धातु से बनता है। इस प्रकार जो मित्र के समान उपादान का स्नेहन करे अर्थात् उपादान की कार्यपरिणति में मित्र के समान सहयोग प्रदान करे, वह निमित्त है। जैसे- घट की निष्पत्ति में दण्ड, चक्र, कुम्हार आदि निमित्त कारण हैं। ये निमित्त कारण स्वयं घट नहीं बनते, किन्तु घट बनने में मिट्टी रूपी उपादान कारण का सहयोग करते हैं। सहयोगी होने से निमित्त को सहकारी कारण भी कहते हैं।

जिस पदार्थ में कार्य निष्पन्न होता है, उस पदार्थ को उपादान कारण और जो कार्य निष्पन्न हुआ है, उसे उपादेय कहा जाता है तथा निमित्त कारण की अपेक्षा कथन करने पर उसी कार्य (उपादेय) को नैमित्तिक भी कहा जाता है। इस प्रकार एक ही कार्य को उपादान कारण की अपेक्षा उपादेय और निमित्त कारण की अपेक्षा नैमित्तिक कहा गया है। जो घट रूप कार्य मिट्टी रूप उपादानकारण का उपादेय कार्य है, वही घटरूप कार्य कुम्हाररूप निमित्त कारण की अपेक्षा से नैमित्तिक कार्य है। तात्पर्य यह है कि मिट्टी और घट में उपादान-उपादेय संबंध है तथा कुम्हारदि निमित्त कारण और घट में निमित्त-नैमित्तिक संबंध है।

अतः उपादान-उपादेय संबंध एवं निमित्त-नैमित्तिक संबंध कारण-कार्य संबंध के ही रूप हैं, जो प्रत्येक कारण-कार्य संबंध पर अनिवार्य रूप से घटित होते हैं। इस प्रकार प्रत्येक कार्य नियम रूप से उपादेय भी है और नैमित्तिक भी है, उपादान की अपेक्षा उपादेय है और निमित्त की अपेक्षा नैमित्तिक है।

वैदिक दर्शनों में उपादान एवं निमित्त का स्वरूप

वेदान्ती कार्य-कारण सिद्धान्त को प्रतिपादित करते हुए उपादान और निमित्त कारण से कार्य की निष्पत्ति स्वीकार करते हैं। यह सदानन्दयोगीकृत वेदान्तसार के निम्न कथन द्वारा प्रमाणित होता है-

“शक्तिद्वयवदज्ञानोपाहितं चैतन्यं स्वप्रधानतया निमित्तं

स्वोपाधिप्रधानतयोपादानं च भवति। यथा-

लूता तन्तुकार्यं प्रति स्वप्रधानतया निमित्तं।

स्वशरीरप्रधानतयोपादानं च भवति।।”^{१९}

अर्थात् दो शक्तियों की अज्ञानोपाधि से युक्त चैतन्य अपने प्राधान्य से निमित्त कारण तथा अपनी उपाधि के प्राधान्य से उपादान कारण होता है। जैसे- एक ही मकड़ी जालरूप कार्य के प्रति चैतन्य के प्राधान्य से निमित्त कारण है तथा अपने शरीर के प्राधान्य से उपादान कारण भी है, उसी भाँति अज्ञानोपाधि युक्त आत्मा चैतन्य की प्रधानता से समस्त प्रपंच (संसार) का निमित्त कारण तथा अज्ञान के प्राधान्य से उपादान कारण है।

इस प्रकार वेदान्तियों ने ब्रह्म को उपादान और निमित्त कारण रूप स्वीकार करके उससे जगदुत्पत्ति रूपी कार्य माना है।

नैयायिक समवायी, असमवायी और निमित्त रूप से कारण के तीन रूप स्वीकार करते हैं-

“तच्च कारणं त्रिविधम्। समवायि-असमवायि-निमित्त-भेदात्।”^{२०}

कार्य के मूलभूत कारण अर्थात् उपादान कारण को ही वे समवायिकारण मानते हैं, जैसे- घट का मिट्टी। असमवायिकारण को वे समवायिकारण पर निर्भर मानते हैं। अतः असमवायिकारण भी ‘उपादान कारण’ ही है। इस प्रकार समवायि-असमवायि कारणों को उपादान कारण का ही भेद माना जा सकता है। तीसरा निमित्त कारण है जो वेदान्त में स्वीकृत निमित्त कारण के समान ही है। इस प्रकार न्यायदर्शन में प्रतिपादित समवायी आदि कारणत्रय को उपादान और निमित्त के भेदों में विभक्त किया जा सकता है।

सांख्यदार्शनिक भी सृष्टि के सर्जन में उपादान और निमित्त रूप में कारण को स्वीकार करते हैं। वाचस्पति मिश्र ने सांख्यकारिका की २१ वीं कारिका पर

तत्त्वकौमुदी टीका में कहा है-‘प्रधानस्य सर्वकारणस्य यद् दर्शनमिति’ अर्थात् बुद्ध्यात्मक कार्यरूप में परिणत हुई ‘प्रकृति’ जो सर्व कारण अर्थात् समस्त संसार का उपादान कारण है और ‘तत्कृतः सर्गः’ द्वारा प्रकृति और पुरुष का संयोग निमित्त कारण है। इस प्रकार प्रकृति रूप उपादान और प्रकृति-पुरुष संयोग रूप निमित्त कारण संसार की निष्पत्ति के जनक हैं।

जैनदर्शन में उपादान-निमित्त का स्वरूप

आगमों में कारण के उपादान और निमित्त भेदों का स्पष्ट कथन नहीं मिलता है किन्तु अनुयोगद्वारसूत्र में प्रकारान्तर से उपादान कारण की स्वीकृति मिलती है, वहाँ शेषवत् अनुमान का निरूपण करते हुए कारण से कार्य के अनुमान का उदाहरण देते हुए तन्तुओं को पट का कारण निरूपित किया गया है। पट के प्रति तन्तुओं की कारणता उपादान कारणता ही है, अन्य नहीं।^{११}

आगमों में निमित्त शब्द का भले ही प्रयोग न हुआ हो, किन्तु आगमों में यत्र-तत्र निमित्तों की कारणता को जाना जा सकता है। उदाहरणार्थ- प्रज्ञापना सूत्र के २३वें पद में अष्टविध कर्म प्रकृतियों के बंधन की चर्चा करते हुए कहा गया है कि ज्ञानावरणीय कर्म के उदय से जीव दर्शनावरणीय कर्म को निश्चय ही प्राप्त करता है, दर्शनावरणीय कर्म के उदय से दर्शन मोहनीय को प्राप्त करता है, दर्शनमोहनीय कर्म के उदय से मिथ्यात्व को प्राप्त करता है और मिथ्यात्व के उदय से जीव आठ कर्म प्रकृतियों को बांधता है। यहाँ ज्ञानावरणीय का उदय दर्शनावरणीयके उदय का निमित्त कारण है। दर्शनावरणीय का उदय दर्शन मोहनीय की प्राप्ति का निमित्त कारण है, उसी प्रकार दर्शन मोहनीय कर्म मिथ्यात्व की प्राप्ति में निमित्त कारण है और मिथ्यात्व का उदय आठ कर्म प्रकृतियों को बांधने में निमित्त कारण है। इस प्रकार निमित्त कारण की स्वीकृति आगम-साहित्य में अनेक स्थानों पर हुई है।^{१२}

स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा में उपादान-निमित्त का स्वरूप इस प्रकार प्रतिपादित हुआ है-

णिय-णिय-परिणामाणं णिय-णिय-द्वयं च कारणं होदि।

अण्णं बाहिर - द्वयं णिमित्त - मित्तं वियाणेह।।^{१३}

अर्थात् अपने अपने परिणामों का उपादान कारण अपना द्रव्य ही होता है। अन्य जो बाह्य द्रव्य है, वह तो निमित्त मात्र है। इस प्रकार जो कारण स्वयं ही कार्यरूप

३२ जैनदर्शन में कारण-कार्य व्यवस्था : एक समन्वयात्मक दृष्टिकोण

परिणमन करता है, वह उपादान कारण होता है। जैसे- संसारी जीव स्वयं ही क्रोध, मान, माया, लोभ या राग-द्वेष आदि रूप परिणमन करता है, अतः वह उपादान कारण है और जो उसमें सहायक होता है, वह निमित्त कारण होता है।

उपादान कारण- अष्टसहस्री में उपादान कारण का स्वरूप प्रकट करते हुए कहा गया है-

त्यक्तात्यक्तात्यरूपं यत्पूर्वापूर्वेण वर्तते।

कालत्रयेऽपि तद् द्रव्यमुपादानमिति स्मृतम्।^{१४४}

अर्थात् जो द्रव्य तीनों कालों में अपने रूप को छोड़ता हुआ और नहीं छोड़ता हुआ, पूर्व रूप से और अपूर्व रूप से वर्त रहा है वह उपादान कारण है।

द्रव्य गुणपर्यायवान् है। गुण शाश्वत होने के कारण अपने स्वरूप को त्रिकाल नहीं छोड़ते और पर्याय क्षणिक होने के कारण अपने स्वरूप को प्रतिक्षण छोड़ती है। ये गुण एवं पर्याय उस द्रव्य से पृथक् कोई अर्थान्तर रूप नहीं है। इन दोनों में समवेत द्रव्य ही कार्य का उपादान कारण है।

उपादान कारण के लिए निज शक्ति, समर्थ कारण, मूलहेतु, अन्तरंग साधन, मुख्य हेतु कर्ता आदि विभिन्न संज्ञाएँ प्रयुक्त होती हैं। प्रवचनसार की टीका में उपादान को अन्तरंग साधन मानते हुए कहा गया है-

*“द्रव्यमपि समुपात्तप्राक्तनावस्थं समुचितबहिरंगसाधनसन्निधि-
सद्भावे विचित्रबहुतरावस्थानं स्वरूपकर्तृकरणसामर्थ्यस्वभावेनांतरंग-
साधनतामुपागतेनानुगृहीतमुत्तरावस्थयोत्पाद्यमानं तेनोत्पादेन लक्ष्यते।”^{१४५}*

अर्थात् जिसने पूर्व अवस्था प्राप्त की है ऐसा द्रव्य भी जो कि उचित बहिरंग साधनों के सान्निध्य के सद्भाव में अनेक प्रकार की बहुत सी अवस्थाएँ प्राप्त करता है वह अन्तरंगसाधनभूत स्वरूपकर्ता और स्वरूपकरण के सामर्थ्यरूप स्वभाव से अनुगृहीत होने पर, उत्तर अवस्था से उत्पन्न होता हुआ वह उत्पाद से लक्षित होता है।

पंचास्तिकाय^{१४६} में धर्म-अधर्म को जीव की गति-स्थिति का मुख्य हेतु नहीं कहकर जीव या पुद्गल को ही उसका मुख्य हेतु अर्थात् उपादान माना है। इस प्रकार पंचास्तिकाय में उपादान के लिए ‘मुख्य हेतु’ शब्द प्रयुक्त हुआ है। समयसार कलश^{१४७} में “यः परिणति सः कर्ता” उक्ति के द्वारा उपादान को कर्ता शब्द से संबोधित

किया गया है। चूँकि परिणमन का कर्ता उपादान है अतः यहाँ उपादान के लिए कर्ता आया है। धवला(१२/४) में 'समर्थ कारण' और स्वयंभूस्तोत्र में 'मूलहेतु' शब्दों का उल्लेख उपादान के लिए प्राप्त होता है। निमित्त कारण की अपेक्षा उपादान को नैमित्तिक भी कहा जाता है।

कार्य की उत्पत्ति का नियामक कारण उपादान होता है क्योंकि कार्य की उत्पत्ति उपादान कारण के अनुसार होती है। जैसे- यव बोने पर यव ही उत्पन्न होते हैं।* यहाँ कार्य की उत्पत्ति का जो कारण कहा गया है वह समर्थ कारण ही है। समर्थ कारण उपादान कारण को कहते हैं, अतः उपादान कारण के अनुसार ही कार्य होता है। ऐसा बृहद्ब्रह्मसंग्रह टीका में कहा गया है-

“उपादानकारणसदृशं कार्यमिति वचनात्”^{१९}

निमित्त कारण- आचार्य विद्यानन्दि (७७५-८४० ई. शती) ने तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक में सहकारी कारण यानी निमित्त कारण का लक्षण करते हुए लिखा है-

‘यदनन्तरं हि यदवश्यं भवति तत्तस्य सहकारिकारणम्’^{२०}

अर्थात् जो जिसके अनन्तर नियम से होता है, वह उसका सहकारी कारण है। इस प्रकार सहकारी यानी निमित्त कारण की कार्यकारिता सिद्ध है कि वह कार्य निमित्त के सद्भाव में ही होता है, उसके अभाव में कभी नहीं होता है। निमित्त कारण स्वयं कार्यरूप में परिणमित नहीं होकर कार्य की निष्पत्ति में सहयोगी बनता है। जैसे- घड़े की उत्पत्ति में कुम्भकार, दण्ड, चक्रादि।

सर्वार्थसिद्धि में प्रत्यय, कारण तथा निमित्त को एकार्थवाची कहा है-

प्रत्ययः कारणां निमित्तमित्यनर्थान्तरम्^{२१}

सर्वार्थसिद्धि में निमित्त, कारण, प्रत्यय, हेतु, साधन, आश्रय, आलम्बन, अनुग्राहक, हेतुकर्ता, प्रेरक, राजवार्तिक में कारण, हेतु, समयसार में हेतु, उत्पादक, कर्ता, प्रवचनसार में कारण, हेतु तथा पंचाध्यायी में हेतुमत, अभिव्यंजक व उपकारी शब्द निमित्त कारण के लिए प्रयुक्त हुए हैं।^{२२} जैन-तत्त्व-मीमांसा में बंधक परिणाम, उपकारक, सहायक, आधार निमित्त, आश्रय निमित्त, उदासीन निमित्त आदि पर्यायवाची नामों का भी उल्लेख प्राप्त होता है।^{२३} आचार्य अमृतचन्द्र ने निमित्त के लिए कारण, हेतु, निमित्तकर्ता, हेतुकर्ता, बहिरंग साधन, उदासीन कारण, आश्रयकारण, उदासीन हेतु, निमित्तमात्र आदि शब्दों का प्रयोग किया है। इस प्रकार विभिन्न ग्रन्थों में निमित्त के लिए विभिन्न पर्यायवाची शब्दों के प्रयोग देखे जाते हैं।

निमित्त दो प्रकार के होते हैं^{६६}— १. उदासीन और २. प्रेरक। उदासीन निमित्त अन्य द्रव्य को प्रेरणा किए बिना उसके कार्य में सहायक मात्र होता है। इसका यह तात्पर्य नहीं है कि वह बिल्कुल व्यर्थ ही है अपितु कार्य की निष्पत्ति उसके बिना असंभव होने से उसको अविनाभावी सहायक माना गया है जैसे— मछली के लिए जल तैरने में उदासीन रूप से सहायक है, इसी प्रकार धर्म, अधर्म आदि द्रव्य भी जीव की गति-स्थिति में उदासीन कारण हैं। जो अपने आप में क्रियाशील-सक्रिय रहकर अन्य वस्तु के परिणामन में अनुकूल होते हैं, वे प्रेरक निमित्त कहलाते हैं। प्रेरक निमित्त क्रियावान् द्रव्य ही हो सकता है। वस्तु की सहायता व अनुग्रह करने के कारण वह निमित्त उपकारक, सहायक, सहकारी, अनुग्रहक आदि नामों से पुकारा जाता है। जैसे—घट निर्माण में कुम्भकार आदि प्रेरक निमित्त हैं।

इस तरह उपादान और निमित्त के समन्वय से ही कार्य संभव बनता है। अतः तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक में “सुखदुःखजीवितमरणोपग्रहाश्च” सूत्र की टीका में सूत्रकार ने सातावेदनीय के लिए जीव को उपादान और कर्म को निमित्त कारण कहते हुए लिखा है—

‘अत्रोपग्रहवचनं सद्देहादिकर्मणां सुखाद्युत्पत्तौ निमित्तमात्रत्वेनानुग्राहकत्व-प्रतिपत्त्यर्थं परिणामकारणं जीवः सुखादीनां तस्यैव तथा-परिणामात्’^{६७}

अर्थात् यहाँ ‘उपग्रह’ शब्द का प्रयोजन यह प्रतिपत्ति करा देना है कि जीव के सुखादि की उत्पत्ति करने में सातावेदनीय आदि कर्म केवल निमित्त होकर अनुग्राहक हैं। शरीर आदि के उपादान कारण जैसे पुद्गल हैं, उस प्रकार सुखादि के उपादान कारण पुद्गल नहीं है, सुखादि परिणामों का उपादान कारण जीव है। क्योंकि उस जीव की ही उस प्रकार सुख आदि रूप करके परिणति होती है। इसी कारण सातावेदनीय आदि कर्मों को जीव-विपाकी प्रकृति कहा गया है— ‘अद्वुत्तरि अवसेसा जीव-विवाई मुणोयव्वा’ क्योंकि जीव में उन सातावेदनीय आदि कर्मों का विपाक हो रहा देखा जाता है।

दोनों कारण आवश्यक—इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि निमित्त के अभाव में अकेले उपादान से कार्य नहीं होता और न उपादान के बिना निमित्त कारण से ही कार्य का होना संभव है। सभी कार्यों में यही व्यापक नियम लागू होता है।

सम्यग्दर्शन को प्रकट करने में जीव के भाव कारणभूत बनते हैं। पाँच भावों में दर्शन मोहनीय का क्षयोपशम, क्षय और उपशम, ये तीन भाव सम्यग्दर्शन की

प्रकटता के लिए उपादान रूप से कारण बनते हैं। क्योंकि सम्यग्दर्शन इन तीन भाव स्वरूप ही हैं। चारित्र मोहनीय (अनन्तानुबंधी) आदि का क्षयोपशम और संज्ञी पंचेन्द्रिय आदि का उदय, ये दोनों भाव सम्यग्दर्शन के लिए निमित्त रूप से कारण बनते हैं क्योंकि इनकी विद्यमानता में ही सम्यग्दर्शन प्रकट होता है। इस प्रकार उपादान-निमित्त की समग्रता ही सम्यग्दर्शन को प्रकट करती है। मोक्षप्राप्ति में भी उपादान-निमित्त सहायक बनते हैं।

जैनदर्शन उपादान और निमित्त के योग से कार्य की निष्पत्ति स्वीकार करता है। यहाँ षड् द्रव्यों में एवं द्रव्यादिचतुष्क में निमित्त एवं उपादान की कारणता पर विचार किया जा रहा है-

षड्द्रव्यों में निमित्तोपादानता

जैन दर्शन में छः द्रव्य माने गए हैं- १. धर्मास्तिकाय २. अधर्मास्तिकाय ३. आकाशास्तिकाय ४. काल ५. पुद्गलास्तिकाय ६. जीवास्तिकाय।

इन छह द्रव्यों में सभी द्रव्य उपादान और निमित्त रूप में कारण हैं। प्रत्येक द्रव्य में कार्य की अपेक्षा वह द्रव्य कार्य का उपादान कारण होता है तथा अन्य द्रव्य निमित्त कारण होते हैं।

साधारणतया इन छः द्रव्यों में प्रथम चार धर्म, अधर्म, आकाश और काल द्रव्य उदासीन निमित्त के अन्तर्गत आते हैं और जीव व पुद्गल अपेक्षा से निमित्त कारण बनते हैं। जीव कार्य में अजीव प्रेरक निमित्त और अजीव कार्य में जीव प्रेरक निमित्त बन सकता है। अतः ये छः ही उदासीन और प्रेरक रूप से निमित्त कारण बनते हैं।

द्रव्यादिचतुष्क में निमित्तोपादानता

द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव में से द्रव्य का त्रिकाली उपादान में और भाव का क्षणिक उपादान में समावेश कर सकते हैं। अतः द्रव्य तथा भाव को उपादान कारण कहा जा सकता है। क्षेत्र (स्थान) और काल उदासीन निमित्त होने से निमित्त कारण माने जा सकते हैं।

षड्द्रव्यों की कारणता

षड्द्रव्यात्मक इस लोक में निरन्तर कारण कार्य घटित होते रहते हैं। कारण की दृष्टि से षड्द्रव्य पर विचार किया जा रहा है। षड्द्रव्यों को कारण के रूप में व्याख्यायित करते हुए द्रव्य संग्रह की टीका में कहा है-

“पुद्गलधर्माधर्माकाशकालद्रव्याणि व्यवहारनयेन जीवस्य शरीरवाङ्मनः प्राणाणानादिगतिस्थित्यवगाहवर्तनाकार्याणि कुर्वन्तीति कारणानि भवन्ति। जीवद्रव्यं पुनर्यद्यपि गुरुशिष्यादिरूपेण परस्परप्रेषग्रहं करोति तथापि पुद्गलादिपञ्चद्रव्याणां किमपि न करोतीत्यकारणम्।”^{६५}

पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश, काल-ये पाँचों द्रव्य जीव का उपकार करते हैं, इसलिए वे कारणभूत हैं, किन्तु जीव सत्तास्वरूप है, उनका कारण नहीं है। उपर्युक्त पाँचों द्रव्यों में से व्यवहार नय की अपेक्षा जीव के शरीर, मन, वचन, श्वास, निःश्वास आदि कार्य तो पुद्गल द्रव्य करता है और गति, स्थिति, अवगाहन और वर्तना रूप कार्य क्रम से धर्म, अधर्म, आकाश और काल करते हैं। इसलिए पुद्गलादि पाँच द्रव्य कारण हैं। पुद्गल आदि पाँचों द्रव्यों के लिए जीव कुछ भी नहीं करता, इसलिए वह अकारण है,^{६६} किन्तु जीव द्रव्य गुरु शिष्य आदि रूप से आपस में एक-दूसरे का उपकार करने से कारण है।

धर्मास्तिकाय की कारणता

धर्मास्तिकाय जीवों और अजीवों की गति में सहकारी कारण बनता है। व्याख्याप्रज्ञप्ति सूत्र में कहा है-

“धम्मऽत्थिकाए णं जीवाणं आगमण-गमण, भासुम्मेस, मणजोग-वडजोग-कायजोग, जे यावन्ने तहप्पगारा चलाभावा सब्बे ते धम्मत्थिकाए पवत्तन्ति। गतिलक्खणे णं धम्मत्थिकाए।”^{६७}

धर्मास्तिकाय जीवों के आगमन, गमन, भाषा और उन्मेष में ही सहायक नहीं होता, अपितु मनोयोग, वचनयोग और काययोग की प्रवृत्ति में भी जीव का निमित्त बनता है। इस तरह के जितने भी चल भाव हैं, वे सब धर्मास्तिकाय द्वारा प्रवृत्त होते हैं।

बृहत्त्रयसंग्रह में इस प्रकार कहा गया है-

गडपरिणयाण धम्मो पुग्गलजीवाण गमणसहयारी।

तोयं जह मच्छाणं अच्छंताणेव सो णोई।^{६८}

धर्मास्तिकाय जीवों को गमन के लिए प्रेरित नहीं करता, किन्तु उदासीन रूप से उसके गमन कार्य में कारण बनता है। जैसे- मछलियों के गमन में जल सहायक बनता है किन्तु उसे तैरने के लिए प्रेरित नहीं करता।

अधर्मास्तिकाय की कारणता

जीव और अजीव की स्थिरता में अधर्म द्रव्य हेतु होता है। भगवती सूत्र के अनुसार अधर्मास्तिकाय जीवों के स्थिरीकरण में, निषीदन में, त्वग्वर्तन (करवट, लेटना या सोना) में सहायक होता है तथा मन की एकाग्रता आदि जितने भी स्थिर भाव हैं, वे सब अधर्मास्तिकाय से प्रवृत्त होते हैं।

“अहम्मऽस्थिकाए णं जीवाणं ठाण-निसीयण, तुयद्वुण-मणस्सय एगत्ती भावकरणता, जे यावन्ने तहप्पगारा थिरा भावा सव्वे ते अहम्मऽस्थिकाये पवत्तंति।”^{१८}

‘यावन्ने तहप्पगारा’ के अन्तर्गत मौन भाव कायोत्सर्ग आदि का भी ग्रहण किया जा सकता है।

बृहत्स्रव्यसंग्रह में कहा है-

ठाणजुदाण अधम्मो पुग्गलजीवाण ठाणसहयारी।

छाया जइ पटियाणं गच्छंता णेव सो धरई।”^{१९}

जिस प्रकार छाया यात्रियों को ठहरने में सहकारी होती है उसी प्रकार ‘अधर्म’ द्रव्य जीवों के ठहरने में उदासीन कारण बनता है। गमन करते हुए जीवों को और पुद्गलों को अधर्म द्रव्य बलात् नहीं ठहराता, किन्तु वह जब स्थिर होता है तो वह उसकी स्थिरता में सहायता करता है।

आकाशास्तिकाय की कारणता

जीव और पुद्गलों को अवकाश देने का कार्य आकाश द्रव्य करता है-

अवगासदाणजोग्गं जीवादीणं विद्याण आयासं।”^{२०}

जैसे-दूध से पूरे भरे गिलास में शक्कर डालने पर भी दूध बाहर नहीं गिरता है और शक्कर को अपने अन्दर स्थान दे देता है, वैसे ही आकाश धर्म-अधर्म से ठसाठस भरा होने पर भी इस लोक में जीव व पुद्गलों को स्थान देने में सहायक होता है। यही इसकी अन्य द्रव्यों के प्रति कारणता है। भगवती सूत्र में आकाश को जीव-अजीव द्रव्यों का भाजन भूत कहा है-

“आगासस्थिकाए णं जीव दव्वाण य अजीव दव्वाण य भायणभूए।”^{२१}

काल की कारणाता

पुद्गलों के सड़न-गलन और विध्वंसन में और जीवों के कर्मबंधन एवं मुक्ति में काल सहकारी निमित्त बनता है। काल को दो रूपों में बाँटकर उसकी कारणाता बृहद्-द्रव्यसंग्रह में इस प्रकार सिद्ध की गई है-

द्रव्य परिवद्वरूवो जो सो कालो हवेइ बवहारो।

परिणामादीलक्खो वट्टगलक्खो य परमद्वो।।^{१४}

अर्थात् जो द्रव्यों के परिवर्तन में सहायक, परिणामादि लक्षण वाला है, वह व्यवहारकाल है, वर्तना लक्षण वाला जो काल है, वह निश्चयकाल है। परिणामादि से तात्पर्य क्रिया, परत्व, अपरत्व से है और वर्तन का अर्थ परिवर्तन से है। कालद्रव्य अन्य द्रव्यों के परिणमन में तो सहकारी बनता ही है साथ में स्वयं के परिणमन में भी वैसे ही सहकारी बनता है।

पुद्गल की कारणाता

जीवों के सुख-दुःख, जीवन-मरण, शरीर, मन, वचन और उच्छ्वास-निःश्वास में पुद्गल द्रव्य निमित्त कारण बनता है। अतः उमास्वाति ने तत्त्वार्थ सूत्र में लिखा है-

शरीरवाङ्मनः प्राणापानाः पुद्गलानाम्।

सुख-दुःख जीवित मरणोपग्रहाश्च।।^{१५}

शरीर औदारिक पुद्गलों से निर्मित है। भाषा और मन भी पुद्गल हैं और श्वासोच्छ्वास क्रिया भी वायु के पुद्गलों से होती है। सातावेदनीय और असातावेदनीय कर्मों के द्वारा जीव सुख-दुःख भोगता है, ये कर्म पौद्गलिक हैं। कोमल स्पर्श, सुगन्धित द्रव्य मन को सुख देते हैं और गर्भियों में शीतल वायु आदि भी सुखद प्रतीत होते हैं। जबकि दुर्गन्ध, रुक्ष और कठोर स्पर्श वाले तीखे काँटे आदि दुःख की अनुभूति कराते हैं।

इस प्रकार सभी इन्द्रियों के विषय भी पौद्गलिक होने से इन्द्रियों के कार्य पुद्गलों पर ही आधारित है। स्पष्ट होता है कि पुद्गल द्रव्य जीवों के कार्य में निमित्त कारण बनते हैं। भगवती सूत्र में पुद्गल को कारण रूप में व्याख्यायित करते हुए कहा है-

“पोग्गलऽत्थिकाए णं जीवाणं ओरालिथ-वेउब्बिय-आहारग-तेया-कम्मा-सोतिंदिय-चक्खिंदिय-घाणिंदिय-जिभिंदिय-फाकिम्मा-सोतिंदिय-चक्खिंदिय-घाणिंदिय-जिभिंदिय-फाचि गहणं पवत्तति।”^{१६}

पुद्गलास्तिकाय से जीवों के औदारिक, वैक्रिय, आहारक, तैजस, कर्मण, श्रोत्रेन्द्रिय, चक्षुन्द्रिय, घ्राणेन्द्रिय, जिह्वेन्द्रिय, सपर्शनेन्द्रिय, मनोयोग, वचनयोग, काययोग और श्वास-उच्छ्वास का ग्रहण करने की प्रवृत्ति होती है। इस प्रकार पुद्गल की कारणता विभिन्न कार्यों से स्पष्ट है।

जीवास्तिकाय की कारणता

भगवती सूत्र में जीव एक-दूसरे के कैसे उपकारी या कारणभूत होते हैं, यह प्रतिपादित किया गया है-

“जीवऽत्थिकाए णं जीवे अणंताणं आभिणिबोहियनाणपज्जवाणं
अणंताणं सुयनाण-पज्जवाणं। उवयोगलक्खणे णं जीवे।”^{१७}

अर्थात् जीवास्तिकाय के द्वारा जीव अनन्त आभिनिबोधिक ज्ञान की पर्यायों को, अनन्त श्रुतज्ञान की पर्यायों को प्राप्त करता है। जीव का लक्षण उपयोग रूप है। गुरु शिष्य को प्रतिबोध देकर और शिष्य गुरु की आज्ञा का पालन कर, उनके अनुशासन में रहकर दोनों एक-दूसरे के लक्ष्य में सहयोगी बनते हैं। जीव एक-दूसरे के सहयोग के बिना जीवनयापन करने में असमर्थ है, इसी बात को इंगित करते हुए तत्त्वार्थसूत्रकार ने लिखा है-

“परस्पररोपग्रहो जीवानाम्”^{१८}

एकेन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय तक के जीव परस्पर उपग्रह करते हैं। उनका यह उपग्रह सहकारी या निमित्त कारण के रूप में स्वीकार्य है।

उमास्वाति (२-३ शती) ने जहाँ जीवों को परस्पर कारणभूत माना है, वहाँ कुन्दकुन्दाचार्य ने जीव और पुद्गल में भी परस्पर कारणता स्वीकार की है। वे जीव और पुद्गल में निमित्त-नैमित्तिक संबंध बताते हैं-

जीवपरिणामहेतुं कम्मत्तं पुग्गला परिणमति।

पुग्गलकम्मणिमित्तं तहेव जीवोवि परिणमइ।^{१९}

अर्थात् जीव के (रागादि) परिणाम के निमित्त से पुद्गल कर्मरूप से परिणमित होते हैं। इसी प्रकार जीव भी (मोहनीय आदि) पुद्गल कर्म निमित्त से (रागादि भाव रूप से) परिणमन करता है।

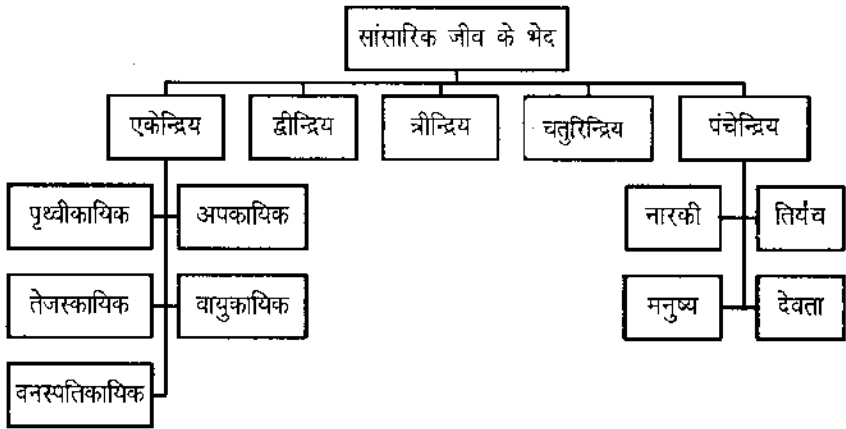
इस प्रकार जीव और पुद्गल एक-दूसरे के निमित्त कारण हैं। अतः जब जीव में कार्य होता है तो कदाचित् पुद्गल निमित्त कारण और जीव स्वयं नैमित्तिक बनता है तथा पुद्गल में कार्य की स्थिति में कदाचित् जीव निमित्त और पुद्गल नैमित्तिक होता है।

षड्रव्यों की कार्य कारणता सिद्ध होने पर भी जैन दर्शन में यह भी बलपूर्वक प्रतिपादित है कि सब द्रव्य अपने ही स्वरूप में परिणमन करते हैं, कोई भी द्रव्य दूसरा द्रव्य नहीं बन जाता है। धर्मास्तिकाय आदि द्रव्यों में परिणमन के पश्चात् भी ये द्रव्य अपने स्वरूप का त्याग नहीं करते तथा धर्मास्तिकाय आदि द्रव्य रूप ही रहते हैं। दूसरे शब्दों में इसे ऐसा भी कहा जा सकता है कि जीव द्रव्य कभी पुद्गल नहीं बन सकता तथा पुद्गल द्रव्य कभी जीव नहीं बन सकता। इसी प्रकार एक द्रव्य दूसरे द्रव्य में परिणमित नहीं होता है।

षड्रव्य में घटित कार्य का स्वरूप

षड् द्रव्यों को दो भागों में विभक्त किया जा सकता है- जीव और अजीव। जीवास्तिकाय जीव द्रव्य है तथा शेष पाँच द्रव्य धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय, काल एवं पुद्गल अजीव द्रव्य हैं। संसार के समस्त कार्य जीव और अजीव में ही घटित होते हैं। जीव दो प्रकार के हैं- शुद्ध और अशुद्ध अथवा सिद्ध और संसारी। आठ कर्मों से मुक्त जीव शुद्ध या सिद्ध कहलाते हैं तथा कर्मसहित जीव अशुद्ध या संसारी कहे जाते हैं। सिद्ध जीवों में ज्ञान, दर्शन आदि गुणों की पर्याय स्वतः परिवर्तित होती रहती है, इसे आगमों में विस्रसा परिणमन कहा गया है। इस कार्य में किसी अतिरिक्त शक्ति या ऊर्जा की आवश्यकता नहीं होती। स्वाभाविक रूप से उनके ज्ञान, दर्शन आदि गुणों की पर्याय बदलती रहती है। किन्तु अशुद्ध या संसारी जीवों के कार्य दो प्रकार के होते हैं- १. विस्रसा परिणत और २. प्रयोग परिणत। विस्रसा का अर्थ होता है-स्वाभाविक या स्वतः होने वाला। इसमें अतिरिक्त शक्ति, ऊर्जा या प्रयत्न की आवश्यकता नहीं होती। उदाहरण के लिए शरीर में श्वासोच्छ्वास की क्रिया रूप कार्य का होना, धमनियों एवं कोशिकाओं में रक्त का दौड़ना, भोजन का पचना आदि। प्रयोग परिणत कार्य वे हैं जिनमें प्रयत्न या अतिरिक्त शक्ति की आवश्यकता होती है। जैसे-जीव का अत्यधिक क्रोधित होना, किसी का सहयोग करना, प्रेरणा करना, स्नान करना आदि।

जैन दर्शन में सांसारिक जीवों को इन्द्रियों के आधार पर पाँच भागों में विभक्त किया गया है-



इन जीवों में घटित होने वाले कार्य अनन्त प्रकार के हो सकते हैं, उनमें से कुछ का दिग्दर्शन कराया जा रहा है-

१. **पृथ्वीकायिक जीव में कार्य-** मिट्टी का पत्थर बनाना, पृथ्वी के गर्भ में हीरा/सोना आदि का निर्मित होना, पृथ्वीकाय के जीव का मरकर अन्य योनि में उत्पन्न होना।
२. **अपकायिक में कार्य-** पानी का बर्फ बनना, पानी का भाप बनना, अपकाय के जीव का मरकर अन्य योनि में जाना।
३. **तेजस्कायिक में कार्य-** अग्नि के जीव का मरकर अन्य योनि में जाना।
४. **वायुकायिक में कार्य-** तूफान आना, आँधी आना, वायुकाय के जीव का मरकर अन्य योनि में जाना।
५. **वनस्पति में कार्य-** बीज का पौधा या पेड़ बनना, पत्तों की खाद बनना, फूल के फल बनना, लकड़ी से फर्नीचर बनना।
६. **द्वीन्द्रिय-** द्वीन्द्रिय प्राणियों का एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाना, भोजन करना।
७. **त्रीन्द्रिय-** चींटी-मकोड़े आदि के द्वारा बिल बनाना, भोजन को एकत्रित करना, मरकर अन्य योनि में जाना।
८. **चतुरिन्द्रिय-** श्वास लेना, मक्खी-मच्छर का काटना, उड़ना, मरकर अन्य योनि में जाना।

९. पंचेन्द्रिय- (१) नारकी- दुःख भोगना (२) तिर्यच- मछली आदि का तैरना, पक्षियों का उड़ना, पशुओं का चलना, सर्पादि का रैगना आदि। (३) मनुष्य- मुक्ति हेतु प्रयत्न करना, दुःख देना, सेवा कार्य करना, कषायों को मन्द करना आदि। (४) देवता- सुख भोगना।

अजीव में कार्य- अजीव में भी विस्मसा परिणत एवं प्रयोग परिणत दोनों प्रकार के कार्य उपलब्ध होते हैं। जैन दर्शन में पाँच प्रकार के अजीव द्रव्य हैं - धर्म, अधर्म, आकाश, काल और पुद्गल। धर्म, अधर्म, आकाश एवं काल में स्वाभाविक अर्थात् विस्मसा परिणमन पाया जाता है, जबकि पुद्गल में दोनों प्रकार के परिणमन हो सकते हैं। धर्म, अधर्म, आकाश एवं काल अमूर्त हैं, उनमें जो भी परिणमन होता है, वह स्वतः होता रहता है। उनकी पर्याय स्वतः बदलती रहती है। मूर्त द्रव्य पुद्गल की पर्याय स्वतः भी परिवर्तित होती है तथा प्रयोग परिणत कार्य भी उसमें देखा गया है। जैन दर्शन में प्रतिक्षण प्रत्येक द्रव्य का पर्याय-परिणमन स्वीकार किया गया है, जो विस्मसा-परिणमन रूप ही होता है। जीव के द्वारा प्रयत्नपूर्वक तन्तुओं से वस्त्र, मिट्टी से घट आदि बनाए जाते हैं, वे पुद्गलों में होने वाले प्रयोग परिणत कार्य हैं।

जीव एवं पुद्गल के संयोग से कार्य- संसारी जीव कर्मरूपी पुद्गल से संयुक्त हैं, अतः उनका परिणमन वैभाविक परिणमन कहलाता है। इस दृष्टि से जीव की पर्याय दो प्रकार की हो सकती है- १. स्वभाव पर्याय २. विभाव पर्याय। जीव के ज्ञान, दर्शन आदि गुणों का परिणमन स्वभाव पर्याय है तथा क्रोध, मान, माया एवं लोभ कषायों का परिणमन विभाव पर्याय है। क्योंकि क्रोधादि जीव के स्वरूप नहीं है।

अनादिनिधन जीव में स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा की निम्न गाथा कार्यकारणभाव को प्रकट करती है-

जीवो आणाइं-णिहणो परिणममाणो हु णव-णवं भावं।

सामग्गीसु णवडुदि कज्जाणि समासदे पच्छा।।^{१००}

अनादि-अनन्त जीव द्रव्य में प्रति समय नई-नई पर्याय उत्पन्न होती रहती है। इन पर्यायों को उत्पन्न करने के लिए वह जीव, द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव और भाव आदि कारण सामग्री से युक्त होने के पश्चात् नई-नई पर्यायें रूपी कार्य को उत्पन्न करता है। जैसे-कोई जीव देव पर्याय को धारण करने के पूर्व समीचीन व्रतों का पालन, सामायिक, धर्मध्यान आदि कारण सामग्री को अपनाता है। कोई जीव नारकी

अथवा तिर्यच पर्याय की प्राप्ति के पहले सात व्यसन, बहुत आरम्भ, बहुत परिग्रह, मायाचार, कपट, छल-छद्म वगैरह सामग्री को अपनाता है। इस तरह जीव में विशेष कारणों से कार्य विशेष संभव हो पाता है।

पंच समवाय और उसकी कारणता

पंच समवाय से आशय

जैनदर्शन में कारणवाद के संदर्भ में पंच समवाय का सिद्धान्त आधुनिक युग में सुप्रसिद्ध है तथा जैन धर्म की सम्प्रदायों को मान्य है। पंच समवाय से तात्पर्य है पाँच का समवाय- 'पंचानां (कारणानां) समवायः पंचसमवायः' अर्थात् पाँच कारणों का समवाय या समुदाय ही पंच समवाय कहलाता है। वे पाँच कारण हैं- १. काल २. स्वभाव ३. नियति ४. पूर्वकृत कर्म और ५. पुरुष/पुरुषार्थ। जैनदर्शन में इन पाँच कारणों के समुदाय को कार्य की उत्पत्ति में कारण स्वीकार किया गया है।

भारतीय वाङ्मय में स्वभावादि कारणों की चर्चा

प्राचीन काल में कारण-कार्यवाद के संदर्भ में विभिन्न प्रकार की विचारधाराएँ प्रचलित रही हैं। श्वेताश्वतरोपनिषद् में कहा गया है-

कालः स्वभावो नियतिर्यदृच्छा भूतानि योनिः पुरुष इति चिन्त्या।

संयोग एषां न त्वात्मभावादात्माप्यनीशः सुखदुःखहेतोः।।^{१०१}

अर्थात् काल, स्वभाव, नियति, यदृच्छा, भूत एवं पुरुष - ये कारण माने जाते हैं। किन्तु ये कालादि पृथक् और समुदाय दोनों रूप से कारण नहीं हो सकते क्योंकि ये आत्मा के अधीन हैं। आत्मा सुख-दुःखों के हेतुभूत प्रारब्ध के अधीन होने से कारण नहीं हो सकती। वास्तव में श्वेताश्वतरोपनिषद् के अनुसार सर्वशक्तिमान् परमदेव की महिमा को समस्त कारणों का अधिपति स्वीकार किया गया है।

यहाँ पर यह सुस्पष्ट है कि श्वेताश्वतरोपनिषद् के समय काल, स्वभाव, नियति, यदृच्छा, पंच महाभूत, पुरुष, आत्मा आदि को कारण मानने के सिद्धान्त प्रचलित थे।

महाभारत में भी विभिन्न कारणों की चर्चा प्राप्त होती है-

कारणं पुरुषो ह्येषां प्रधानं चापि कारणम्।

स्वभावश्चैव कर्माणि दैवं येषां च कारणम्।।^{१०२}

४४ जैनदर्शन में कारण-कार्य व्यवस्था : एक समन्वयात्मक दृष्टिकोण

अर्थात् पुरुष प्रधान स्वभाव, कर्म तथा दैव ये जिन कार्यों के कारण हैं वे भी नारायण रूप ही हैं।

पौरुषं कारणं केचिदाहुः कर्मसु मानवाः।

दैवमेके प्रशंसन्ति स्वभावमपरे जनाः॥

पौरुषं कर्म दैवं च कालवृत्तिस्वभावतः।

त्रयमेतत् पृथग्भूतमविवेकं तु केचन॥^{१०३}

अर्थात् कुछ मनुष्य पौरुष (पुरुषार्थ) को कारण कहते हैं, कोई दैव (भाग्य) की प्रशंसा करते हैं और कोई स्वभाव को स्वीकार करते हैं। कुछ मनुष्य पौरुष क्रिया, दैव और कालगत स्वभाव इन तीनों को कारण मानते हैं। कुछ इनको पृथक्-पृथक् कारण मानते हैं तो कुछ सम्मिलित रूप से।

अधिष्ठानं तथा कर्ता करणं च पृथग्विधम्।

विविधा च तथा चेष्टा दैवं चैवात्र पञ्चमम्॥

पञ्चकारणसंख्यातो निष्ठा सर्वत्र वै हरिः॥^{१०४}

अधिष्ठान, कर्ता, करण, नाना चेष्टाएँ तथा दैव इन पाँच कारणों के रूप में सर्वत्र श्री हरि ही विराजमान हैं।

महाभारत के उद्धरण विभिन्न कारणवादों का उल्लेख करते हुए उनमें समन्वय की स्थापना करते हैं। महाभारत के उद्धरणों से ज्ञात होता है कि उस समय (५४७ ई० पूर्व) कारण-कार्य को लेकर विभिन्न मान्यताएँ प्रचलित थीं। यथा- पुरुषवाद, स्वभाववाद, दैववाद, प्रकृतिवाद (प्रधानवाद), पुरुषार्थवाद, कालवाद आदि।

जैनागमों और बौद्धत्रिपिटकों में वे काल, स्वभाव, नियति, यदृच्छा आदि विभिन्न कारणवादों का उल्लेख प्राप्त होता है। कालवाद, स्वभाववाद, नियतिवाद, यदृच्छावाद, कर्मवाद, पुरुषवाद, ईश्वरवाद आदि की चर्चा जैन बौद्ध और वैदिक ग्रन्थों में प्रासंगिक रूप से हुई है। बौद्ध त्रिपिटकों में नियतिवाद की चर्चा विस्तार से प्राप्त है। दीघनिकाय^{१०५} आदि ग्रन्थ इसके निदर्शन हैं। जैनागमों में भी नियतिवाद की चर्चा अधिक हुई है। सूत्रकृतांग एवं उपासकदशांग में क्रमशः द्वितीय श्रुतस्कन्ध के प्रथम अध्ययन व द्वादश अध्ययन और सातवें अध्याय के शकडाल कुम्भकार के प्रकरण में प्राप्त होती है।

पंच समवाय के विकास में सिद्धसेन सूरि एवं उत्तरवर्ती आचार्यों का योगदान

पाँचवीं शती ईस्वी में प्रसिद्ध जैन दार्शनिक सिद्धसेन दिवाकर ने अनेकान्तवाद, स्याद्वाद और नयवाद की स्थापना करते हुए उस समय प्रचलित कारणवादों में से पाँच का समन्वय जैन दर्शन में स्वीकार करते हुए सन्मति तर्क ग्रन्थ में लिखा है-

कालो सहाव नियई पुव्वकयं पुरिसे कारणोगता।

मिच्छत्तं ते चेव, समासओ होति सम्मत्तं।।^{१०६}

अर्थात् काल, स्वभाव, नियति, पूर्वकृत कर्म और पुरुष की एकान्त कारणता मिथ्यात्व है और इनकी सामूहिक कारणता सम्यक्त्व है।

जैन दर्शन के पंच समवाय सिद्धान्त की मूल सिद्धसेन सूरि की यह गाथा ही रही है। क्योंकि इसके पूर्व पाँचों कारणों के समुदाय का एक साथ उल्लेख किसी भी जैनागम एवं जैन दार्शनिक-कृति में प्राप्त नहीं होता। सिद्धसेन सूरि की यह गाथा ही आगे चलकर 'पंच समवाय' सिद्धान्त के रूप में परिणत हुई प्रतीत होती है। आगम से भी इस गाथा का विरोध नहीं है इसलिए उत्तरवर्ती जैनाचार्यों ने भी इस सिद्धान्त का समर्थन किया है।

सिद्धसेन सूरि ने काल आदि पाँच कारणों के एकान्त को मिथ्या एवं समास (समन्वित रूप) को सम्यक्त्व अवश्य कहा, किन्तु उन्होंने पंच समवाय शब्द का प्रयोग नहीं किया है। पंच समवाय शब्द का प्रथम प्रयोग १९वीं शती में रचित साहित्य में स्पष्टतः दृष्टिगोचर होता है। उसके पूर्व समवाय के लिए समुदाय, समुदित, कलाप आदि शब्दों का प्रयोग प्राप्त होता है।

पंच कारणों को सम्मिलित रूप से स्वीकार करने की परम्परा को प्रमुख श्वेताम्बर जैन दार्शनिक हरिभद्र सूरि (आठवीं शती) ने इसे आगे बढ़ाया है। उन्होंने शास्त्रवार्ता समुच्चय में काल आदि के समुदाय को कारण मानने के मत का समर्थन करते हुए कहा है-

अतः कालादयः सर्वे, समुदायेन कारणाम्।

गर्भादेः कार्यजातस्य, विज्ञेया न्यायवादिभिः।।^{१०७}

हरिभद्रसूरि ने धर्मबिन्दु में वरबोधि लाभ के निरूपण के समय भव्यत्व के साथ काल, नियति, कर्म एवं पुरुषार्थ को भी स्थान दिया है।^{१०८}

४६ जैनदर्शन में कारण-कार्य व्यवस्था : एक समन्वयात्मक दृष्टिकोण

बीजविंशिका में हरिभद्रसूरि ने पाँचों कारणों का समन्वय करते हुए कहा है-

तहभव्वत्तं जं कालनियइपुव्वकयपुरिसकिरियाओ।

अक्खिखवइ तहसहावं ता तदधीणं तथंपि भवे।।^{१९९}

जिस प्रकार काल, नियति, पूर्वकृत कर्म और पुरुषार्थ का होना आवश्यक है उसी प्रकार स्वभाव का होना आवश्यक है, क्योंकि वे भी उसके अधीन हैं।

उपदेश पद में हरिभद्र (७००-७७० ई. शती) ने समवाय के अर्थ में कलाप शब्द का प्रयोग करते हुए कहा है-

सव्वम्मि चेव कज्जे एस कलावो बुहेहिं निदिट्ठो।

जणगतेण तओ खलु परिभावेयव्वओ सम्मं।।^{१९०}

ज्ञानियों के द्वारा सभी कार्यों में काल, स्वभाव, नियति, पूर्वकृत कर्म और पुरुष का कलाप (समवाय) निर्दिष्ट किया गया है। इसलिए इसे कारण रूप में सम्यक्तया जान लेना चाहिए।

हरिभद्रसूरि के अनन्तर शीलांकाचार्य (९-१०वीं शती) ने सूत्रकृतांग की टीका में काल आदि पंच कारणों की चर्चा करते हुए उनकी एकांत कारणता का निरसन किया है तथा उनके समुदित स्वरूप को स्वीकार किया है-

कालादीनामपि समुदितानां परस्परसव्व्यपेक्षाणां।

कारणत्वेनेहाश्रयणात्सम्यक्त्वमिति।।^{१९१}

शीलांकाचार्य ने सूत्रकृतांग के बारहवें अध्ययन की टीका में कालादि की कारणता के संबंध में आठ गाथाएँ उद्धृत की हैं। जिनमें से प्रथम गाथा तो सिद्धसेन सूरि के सन्मति तर्क प्रकरण की है किन्तु अन्य गाथाओं के स्थल ढूँढ़ने पर भी नहीं मिल सके हैं। वे गाथाएँ इस प्रकार हैं-

कालो सहाव णियई पुव्वकयं पुरिस कारणेगता।

मिच्छत्तं ते चेव उ समासओ होंति सम्मं।।१।।

सव्वेवि य कालाई इह समुदायेण साहगा भणिया।

जुज्जंति य एमेव य सम्मं सव्वस्स कज्जस्स।।२।।

न हि कालादिहितो केवलएहिं तु जायए किंचि।

इह मुग्गरंधणादिव ता सव्वे समुदिता हेऊ॥३॥
जह णेगलक्खणाणुणा वेरुलियादी मणी विसंजुत्ता।
रयणावलिववएसं ण लहंति महग्घमुल्लावि॥४॥
तहणिययवाद सुविणिच्छयावि अण्णोऽण्णपक्खानिरवेक्खा।
सम्मदंसणसदं सव्वेऽवि णया ण याविति॥५॥
जह पुण ते चेव मणी जहा गुणविसेसभागपडिबद्धा।
रयणावलित्ति भण्णइ चयंति याडिक्कसण्णाओ॥६॥
तह सव्वे णयवाया जहाणुरुवविणिउत्तवत्तव्वा।
सम्मदंसणसदं लभंति ण विसेससण्णाओ॥७॥
तम्हा मिच्छदिट्ठी सव्वेवि णया सपक्खपडिबद्धा।
अण्णाण्णनिसिंसा पुण हवंति सम्मत्त सब्भावा॥८॥^{११२}

उपर्युक्त गाथाओं का तात्पर्य है कि काल, स्वभाव, नियति और पुरुष ये एक साथ मिलकर ही सब कार्यों के साधक होते हैं। अकेले काल आदि से कोई कार्य सम्पन्न नहीं होता है। जिस प्रकार मूंग उबालने में आग, पानी, लकड़ी, बर्तन आदि सम्मिलित रूप से कारण होते हैं तथा जिस प्रकार उत्तम लक्षणों से युक्त वैदुर्य मणि आदि परस्पर मिलकर ही रत्नावली कहे जाते हैं इसी प्रकार कालवाद नियतिवाद आदि विभिन्न मत परस्पर मिलकर ही कार्य की उत्पत्ति में सहायक होते हैं। जो अपने पक्ष में कदाग्रह रखते हैं वे सभी नयवाद मिथ्यादृष्टि हैं परन्तु वे ही परस्पर मिलकर सम्यक् हो जाते हैं।

शीलांकाचार्य द्वारा उद्धृत गाथाएँ प्राचीन प्रतीत होती हैं जिनमें जैन दर्शन के अनेकान्तवाद और नयवाद भी प्रतिबिम्बित हैं। उसी का फल कारणवाद के संदर्भ में कालादि कारणवादों का समन्वय है।

दसवीं शती में राजगच्छीय तर्क पंचानन अभयदेव सूरि ने सिद्धसेन दिवाकर विरचित सन्मति तर्क प्रकरण पर विशाल टीका का निर्माण किया है, जो तत्त्वबोधविधायिनी के नाम से प्रसिद्ध है। यह टीका अत्यन्त प्रौढ़ एवं क्लिष्ट है। प्रभाचन्द्र के प्रमेयकमलमार्तण्ड पर भी इस टीका का प्रभाव परिलक्षित होता है। डॉ. धर्मचन्द्र जैन ने अभयदेव सूरि को प्रभाचन्द्र का पूर्ववर्ती सिद्ध किया है।^{११३} अभयदेव सूरि विरचित यह टीका भारतीय न्याय ग्रन्थों की क्लिष्ट टीकाओं के तुल्य है।

सिद्धसेन सूरि विरचित 'कालो णियई.....' गाथा पर विस्तार से टीका करते हुए अभयदेव सूरि ने कालवाद, स्वभाववाद, नियतिवाद, पूर्वकृत कर्मवाद और पुरुषवाद के पूर्व पक्ष को उपस्थापित किया है तथा उनकी एकान्तकारणता का खण्डन करते हुए पाँचों के समुदित रूप को समीचीन ठहराया है। पाँचों वादों का निरसन करते हुए वे उपसंहार वाक्य में कहते हैं-

काल-स्वभाव-नियति पूर्वकृतपुरुषकारणरूपा एकान्ताः सर्वेऽपि
एकका मिथ्यात्वां।

त एव समुदिताः परस्पराऽजहद्वृत्तयः सम्यक्त्वरूपतां प्रतिपद्यन्ते इति
तात्पर्याद्यार्थः।।^{११४}

अर्थात् काल, स्वभाव, नियति, पूर्वकृत कर्म और पुरुष ये सब एकान्तवाद मिथ्या हैं तथा ये सब समुदित रूप से परस्पर अजहद वृत्ति से सम्यक्त्व रूपता को प्राप्त करते हैं।

कुन्दकुन्दाचार्य के टीकाकार अमृतचन्द्राचार्य (१०वीं शती) ने प्रवचनसार की तत्त्व प्रदीपिका की टीका के अन्त में द्रव्य नय, पर्याय नय, अस्तित्व नय, नास्तित्व नय आदि ४७ नयों के अन्तर्ग काल नय, स्वभाव नय, नियति नय, दैव नय और पुरुषकार नय की भी चर्चा की है।^{११५} इससे पंच कारण समुदाय की अथवा पंच समवाय की तो सिद्धि नहीं होती, किन्तु जैन दर्शन में इन नयों के समन्वय की दृष्टि अवश्य पुष्ट होती है।

बारहवीं-तेरहवीं शती में मल्लधारी राजशेखर सूरि ने भी पंच कारण समुदाय की पुष्टि की है-

कालस्वभावनियति - चेतनेतरकर्मणाम्।

भवितव्यता पाके, मुक्तिर्भवति नान्यथा।।^{११६}

काल, स्वभाव, नियति, पुरुषकार-उद्यम और पूर्वकृत शुभाशुभ कर्म- इन पाँच कारणों का योग मिलने पर ही जीव की मुक्ति होती है, इन पाँच कारणों के बिना मुक्ति नहीं मिलती।

उसके पश्चात् सत्रहवीं शती में उपाध्याय यशोविजय और उपाध्याय विनयविजय की कृतियों में काल आदि पाँच कारणों को स्थान दिया गया है। उपाध्याय यशोविजय ने हरिभद्र सूरि के शास्त्रवार्ता समुच्चय पर टीका करते समय काल आदि पाँच कारणों का

समन्वय स्थापित किया है। उनके समकालीन उपाध्याय विनयविजय ने पाँच कारणों पर स्तवन की रचना की है। स्तवन की कतिपय पंक्तियाँ इस प्रकार हैं—

अे पाँचे समुदाय मिल्या बिण, कोई काज न सीझे।

अंगुलीयोगे करतणी परे, जे बुझे तो रीझे रे।^{११७}

अर्थात् कालादि पाँच कारणों के समुदाय के मिले बिना कोई भी कार्य सिद्ध नहीं होता है। जिस प्रकार अंगुलियों का योग होने पर ही हाथ से कार्य होता है उसी प्रकार पाँचों के समुदाय की अपेक्षा है। जो इस तथ्य को जान लेते हैं वे प्रसन्न होते हैं।

आधुनिक काल में पंच समवाय की संस्थिति

१९वीं शती में स्थानकवासी परम्परा के संत श्री तिलोकऋषि ने सवैया छन्द में पंचवादी विषयक स्वरूप काव्य के अन्तर्गत काल आदि पाँच वादियों का विस्तार से निरूपण करते हुए अन्त में पंच समवाय सिद्धान्त की प्ररूपणा की है। इनकी कृति में पंच समवाय शब्द का प्रयोग अनेक बार हुआ है। मुझे अधीत ग्रन्थों में पंच समवाय शब्द का स्पष्टतः प्रथम प्रयोग इनकी रचना में प्राप्त हुआ है। संभव है उनके समय यह शब्द प्रसिद्ध हो चुका था। पंच समवाय सिद्धान्त की सिद्धि में वे लिखते हैं—

पंच समवाय मिल्या होत है कारज सब।

एक समवाय मिल्या कारज न होइए।

पंच समवाय माने सो ही समदृष्टि जीव।

अनुभो लगाय दूर दृष्टि कर जोइए।^{११८}

बीसवीं शती में शतावधानी रत्नचन्द्र जी महाराज भी स्थानकवासी परम्परा के प्रभावशाली एवं विद्वान् संत हुए हैं। कारण संवाद नामक अपनी कृति में उन्होंने राजा, मंत्री, पंडित, कालवादी, स्वभाववादी, नियतिवादी, पूर्वकृतकर्मवादी और पुरुषार्थवादी को पात्र बनाकर रोचक संवाद प्रस्तुत किया है। जिसमें उन्होंने पाँच वादियों के पक्ष को बोधगम्य बनाकर प्रस्तुत किया है तथा अन्त में पाँचों का समन्वय स्थापित किया है। बीसवीं शती में कानजी स्वामी ने कालनय, स्वभावनय, नियतिनय, पूर्वकृतकर्मनय और पुरुषार्थनय के आधार पर पंच समवाय सिद्धान्त का निरूपण किया है।

वर्तमान में लगभग सभी जैन सम्प्रदायों के आचार्य, संत और विद्वान् जैनदर्शन के पंच समवाय सिद्धान्त को अंगीकार कर समय-समय पर उसकी अपने प्रवचनों एवं लेखों के माध्यम से पुष्टि करते हैं। आधुनिक चिन्तकों में आचार्य महाप्रज्ञ ने पंच समवाय को द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव नामक चार दृष्टियों का विकास स्वीकार किया है। वे लिखते हैं- “द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव ये चार दृष्टियाँ जैन दर्शन में उपलब्ध हैं, अन्यत्र कहीं प्राप्त नहीं हैं। उत्तरकाल में जैनाचार्यों ने इनका विकास किया। चार आदेशों के स्थान पर पाँच समवायों का विकास हुआ है- स्वभाव, काल, नियति, पुरुषार्थ, भाग्य या कर्म। ये पाँच समवाय चार दृष्टियों का विकास हैं।”^{१९}

इस सिद्धान्त का प्रतिपादन करने वाले अन्य आचार्य, संत एवं विद्वान् इस प्रकार हैं- आचार्य श्री जवाहरलाल जी महाराज, आचार्य श्री हस्तीमल जी महाराज, आचार्य श्री आत्माराम जी महाराज, पं. श्री समर्थमल जी महाराज, दिवाकर श्री चौथमल जी महाराज, आचार्य श्री विद्यासागर जी महाराज, आचार्य श्री विद्यानन्द जी महाराज, आचार्य श्री नानालाल जी महाराज, आचार्य श्री भुवन भानू सूरेश्वर जी महाराज, आचार्य श्री विजयरत्नसुन्दरश्रीजी महाराज, आचार्य श्री विजयमुनि जी म.सा., पं. सुखलाल संघवी, पं. बेचरदास दोशी, पं. दलसुख मालवणिया, श्रुतधर श्री प्रकाशमुनि जी म.सा., महोपाध्याय श्री मानविजय जी महाराज, श्री हरिभद्रसूरेश्वरजी महाराज, डॉ. सागरमल जैन, डॉ. हुकमचन्द भारिल्ल आदि। यहाँ समस्त आचार्यों, मुनिवर्यों एवं विद्वत्जनों के नामों की गणना संभव नहीं, स्थूल रूप से ही यहाँ कुछ नाम गिनाए गए हैं। यह कहा जा सकता है कि जैन कारणवाद के संदर्भ में पंच समवाय का कोई भी जैनाचार्य या जैन विद्वान् विरोध नहीं करते हैं। समर्थन में सबका साहित्य प्राप्त नहीं होता है। क्योंकि साहित्य का लेखन कुछ ही आचार्यों, संतों एवं विद्वानों द्वारा किया जाता है, सबके द्वारा नहीं। तथापि अपने प्रवचनों एवं प्रश्नोत्तरों के माध्यम से सब पंच समवाय का समर्थन करते हुए ही दृष्टिगोचर होते हैं, विरोध करते हुए नहीं। इसलिए यह कहा जा सकता है कि आधुनिक युग में पंच समवाय का सिद्धान्त सुप्रतिष्ठित एवं सर्व जैन सम्प्रदायों द्वारा मान्य सिद्धान्त है।

पंच समवाय सिद्धान्त सभी सम्प्रदायों को मान्य एवं प्रसिद्ध होने पर भी पंच समवाय शब्द का प्रयोग अधिक प्राचीन नहीं है। जैसे कि पूर्व में चर्चा की गई है कि १९वीं शती के तिलोक्तप्रधि जी महाराज के पद्यों में पंच समवाय शब्द का प्रयोग भूरिशः हुआ और उस समय यह शब्द प्रसिद्ध हो चुका था। किन्तु यह ज्ञात नहीं हो सका है कि उनके पूर्व इस शब्द का प्रयोग किसके द्वारा किया गया है। दूसरे शब्दों में कहें तो पंच

समवाय शब्द ने अपने विकास में एक लम्बी यात्रा तय की है। सिद्धसेन सूरि ने कालो सहाव णियई....गाथा में पाँच कारणों को गिनाकर 'समासओ' शब्द का प्रयोग किया है।^{१२०} जिसका अर्थ है समन्वित या समस्त रूप से। हरिभद्र सूरि ने 'समासओ' के स्थान पर 'कलाप'^{१२१} व 'समुदाय'^{१२२} शब्द का प्रयोग किया है। अभयदेव सूरि ने एवं शीलांकाचार्य ने 'समुदित'^{१२३} शब्द का प्रयोग किया है। शीलांकाचार्य के द्वारा उद्धृत गाथा में समुदायेण शब्द स्पष्टतः प्रयुक्त है।^{१२४} यह समुदाय शब्द ही आगे चलकर समवाय शब्द के रूप में परिणत हो गया। पंचसमवाय एक समस्तपद है, जिसका विग्रह होगा—पंचानां कारणानां समवायः। यह मध्यम पदलोपी समास है, जिसमें कारण शब्द का लोप होकर पंच समवाय शब्द निष्पन्न हो गया।

समवाय शब्द का प्रयोग जैन वाङ्मय में प्राचीन है। समवायांग सूत्र इसका अप्रतिम उदाहरण है। जिसमें विभिन्न समवायों (समूहों) में प्रतिपाद्य विषय का निरूपण किया गया है। वहाँ समवाय शब्द समूह के अर्थ में प्रयुक्त है। वैशेषिक दर्शन में समवाय को एक पदार्थ के रूप में निरूपित किया गया है जो गुण-गुणी, क्रिया-क्रियावान, अवयव-अवयवी आदि में संबंध स्थापित करता है तथा वह नित्य एवं एक है। वैसा समवाय यहाँ अभीष्ट नहीं है। यहाँ तो समुदाय या समूह का बोधक समवाय शब्द ही अभिप्रेत है। द्वादशारनयचक्र के टीकाकार सिंहसूरि ने भी इस शब्द का इसी अर्थ में प्रयोग किया है— 'कार्यकारणाधाराद्येयसमवायात्'।^{१२५}

पंच समवाय के अन्तर्गत समाविष्ट काल, स्वभाव, नियति, कर्म एवं पुरुष/पुरुषार्थ में जब एक-एक को ही माना जाता है तो इन्हें क्रमशः कालवाद, स्वभाववाद, नियतिवाद, कर्मवाद और पुरुषवाद/पुरुषार्थवाद कहा जाता है। इन विभिन्नवादों का संक्षिप्त परिचय यहाँ दिया जा रहा है, विस्तार से विवेचन सम्बद्ध अध्यायों में किया गया है।

कालवाद

अथर्ववेद काल से कालवाद का प्रारम्भ माना जाता है। उससे पूर्व भी काल को कारण माना गया, किन्तु एकान्त रूप से नहीं। सभी कार्यों में मात्र काल को ही कारण मानने से ये कालवादी कहलाए। अथर्ववेद में काल का महत्त्व स्थापित करने वाला कालसूक्त है जो इस बात की पुष्टि करता है—

कालो भूमिमसृजत, काले तपति सूर्यः।

काले ह विश्वा भूतानि, काले चक्षुर्विपश्यति।।^{१२६}

अर्थात् काल से ही पृथ्वी की उत्पत्ति हुई है, काल के कारण ही सूर्य तपता है, समस्त भूतों का आधार काल ही है। काल के कारण ही आँखें देखती हैं।

महाभारत में तो प्रत्येक उपलब्धि का आधार काल को बतलाकर उसका महत्त्व सुप्रतिष्ठित है। वहाँ समस्त जीव सृष्टि के सुख-दुःख, जीवन-मरण इन सबका आधार भी काल को ही माना गया है। कर्म से, चिंता से या प्रयोग करने से कोई भी वस्तु प्राप्त नहीं होती किन्तु काल से ही समस्त वस्तुएँ प्राप्त होती हैं। सब कार्यों के प्रति काल ही कारण है।^{१३७}

अतः कालवादी के अनुसार काल के बल से ही सब कार्य सिद्ध होते हैं। वस्तुतः इस अद्भुत काल की मर्यादा अनुल्लंघनीय है। ग्रीष्मकाल में ही सूर्य तपता है, शीतकाल में ही ठंड पड़ती है, चातुर्मास में ही वर्षा होने पर धान्य पकता है। वसंत ऋतु में ही वृक्ष नव-पल्लव युक्त होकर फलते-फूलते हैं, प्रातः काल ही कमल विकसित होता है और सायंकाल ही संकुचित होता है। यौवन काल में ही मनुष्य के दाढ़ी मूँछ आती है और युवती ही गर्भ धारण करती है।

प्रत्येक वस्तु को उत्पन्न करने वाला, स्थिर करने वाला, संहार करने वाला, संयोग में वियोग और वियोग में संयोग करने वाला भी काल ही है। परमाणु को द्वयणुक रूप बनाने वाला तथा द्वयणुक से परमाणु को भिन्न करने वाला भी काल है। क्योंकि परमाणु तथा द्वयणुकादि अनन्तानंत स्कन्ध स्थिति के आधीन रहते हैं और स्थिति काल ही है। कर्मोदय करने वाला तथा नियत समय तक कर्म का फल देकर उससे मुक्त करने वाला भी काल ही है। किं बहुना मनुष्य को संसार से मोक्ष में भेजने वाला भी काल ही है। भवस्थिति पके बिना मोक्ष भी प्राप्त नहीं हो सकता। अतः जड़ चेतन सब वस्तुओं पर काल का ही साम्राज्य चलता है।

स्वभाववाद

स्वभाववादियों का मत है कि इस जगत् की विचित्रता में स्वभाव के अतिरिक्त कोई अन्य हेतु नहीं है। स्वभावतः ही वस्तु की उत्पत्ति एवं नाश होता है। पदार्थों में भिन्नता या समानता का कारण भी स्वभाव है, यथा- अग्नि की उष्णता और जल की शीतलता स्वभावगत ही है। जिस पदार्थ में जैसा स्वभाव है वह उसी के अनुसार स्वरूप ग्रहण करता है। आम की गुठली से आम और बेर की गुठली से बेर ही उत्पन्न होगा, क्योंकि उनका स्वभाव ऐसा ही है। वैदिक काल से ही स्वभाववाद पल्लवित हुआ है, इसका प्रमाण श्वेताश्वेतरोपनिषद् के प्रथम अध्याय में प्राप्त होता है।^{१३८}

अश्वघोष कृत बुद्धचरित में भी स्वभाववाद के मत को पुष्ट करते हुए कहा गया है कि काँटों का नुकीलापन, मृग और पक्षियों के विविध वर्ण, हंस का श्वेत वर्ण, कौए का कालापन, तोतों का हरा वर्ण यह सब स्वभाव से ही है।^{१२९}

महाभारत में भी स्वभाववाद की चर्चा प्राप्त होती है। सभी कुछ स्वभाव से निर्धारित है। व्यक्ति अपने प्रयत्न या पुरुषार्थ से उसमें कोई परिवर्तन नहीं कर सकता। सभी तरह के भाव और अभाव स्वभाव से प्रवर्तित एवं निवर्तित होते हैं। पुरुष के प्रयत्न से कुछ भी नहीं होता।^{१३०}

वसंत ऋतु में वृक्षों का फूलने-फलने का स्वभाव है तो फलते-फूलते हैं। मछलियों का पानी में तैरने का, पक्षियों का आकाश में उड़ने का, सर्पों का छाती के बल रेंगने का, पशुओं का चार पैरों से चलने का, मनुष्यों का दो पैरों से चलने का, मनुष्य के बालकों का साल या दो साल में बोलने-चलने का, पक्षियों का अंडे से जन्म होने का, बंदरों का कूदने का, अन्न में भूख मिटाने और शरीर के पोषण का, पानी में तृष्णा दूर करने का, बड़ के वृक्ष में छोटे फल देने का और तुंबी की लता में बड़े फल देने का, केर के वृक्ष में पत्र न होने का, नीम में कडुवापन होने का और ईख में मीठापन होने का, जहर में प्राण हरने का, मदिरा में बेहोश करने का, मीढण (एक प्रकार का फल विशेष) में उलटी कराने का, सूँठ में वायु हरने का स्वभाव है। इन स्वभावों से ही वे कार्य हो सकते हैं। स्वभाव के विरुद्ध किसी से कुछ नहीं बनता। कुछ बातों में देश स्वभाव कार्य करता है, जैसे- अफ्रीका के हब्बिश्यों की चमड़ी श्याम वर्ण की और यूरोप के निवासियों की चमड़ी गौर वर्ण की होती है। यह देश और जाति का स्वभाव है। द्रव्य का संयोग और विभाग होना स्वभाव है और उसी कारण आत्मा का संसार और मोक्ष भी स्वभावतः ही होता है। जैसे अशुद्ध सोने का शुद्धीकरण दो प्रकार से होता है- क्रिया और अक्रिया से। इस प्रकार स्वभाववाद की स्थापना की गई है।

नियतिवाद

बौद्ध धर्म के पल्लवनकाल में नियतिवादी भी अपने मत का प्रचार कर रहे थे। भगवान महावीर के काल में भी गोशालक आदि नियतिवादी विद्यमान थे। निश्चित समय पर कार्य का होना नियति है अर्थात् जिस वस्तु को जिस समय, जिस कारण से तथा जिस परिणाम में उत्पन्न होना होता है, वह वस्तु उसी समय, उसी कारण से तथा उसी परिणाम में नियत रूप से उत्पन्न होती है। जगत् के सभी घटना क्रम नियत हैं इसलिए उनका कारण नियति को मानना चाहिए। अतः कहा गया है-

उदयति यदि भानुः पश्चिमायां दिशायां।

प्रचलति यदि मेरुः शीततां याति बह्विः॥

विकसति यदि पद्मं पर्वताग्रे शिलायां।

तदपि न चलतीयं भाविनी कर्मरिखा॥

अर्थात् सूर्य पूर्व में उदय होता है, परन्तु वह भी यदि कभी पश्चिम में उदय होने लगे, अटल माना जाने वाला सुमेरु पर्वत भी कभी चलायमान हो जाए, अग्नि उष्णता छोड़कर शीतल हो जाए, पर्वत की शिला पर कमल उत्पन्न हो जाए- ये सब अनहोनी भी कदाचित् देवयोग से हो जाए, परन्तु भवितव्यता स्वरूप जो कर्मरिखा बन चुकी, वह तो अचल, अटल ही रहती है। वह किसी भी शक्ति से अन्यथा नहीं हो सकती।

कभी-कभी बिना प्रयत्न के भी कार्य में सफलता देखी जाती है तो कभी अधिक प्रयत्न करने पर भी असफलता प्राप्त होती है। सभी कारणों के विद्यमान होने पर भी कभी-कभी कार्योत्पत्ति संभव नहीं हो पाती है। इस प्रकार कारण सादृश्य रहते हुए भी उसके फल में वैसादृश्य देखा जाता है, इसकी एक मात्र कारक नियति हो सकती है। किसी दुर्घटना के घटित होने पर भी सबकी मृत्यु नहीं होती, अपितु कुछ लोग ही मरते हैं और कुछ लोग जीवित रह जाते हैं। ऐसे प्रसंग पर यह मानना उपयुक्त है कि प्राणी का जीवन और मरण नियति पर निर्भर है। जिसका मरण जब नियत होता है तभी उसकी मृत्यु होती है और जब तक जिसका जीवन शेष होता है तब तक मृत्यु के प्रसंग बार-बार आने पर भी वह जीवित रहता है, उसकी मृत्यु नहीं होती।

नियतिवाद के अनुसार सृष्टि का संचालन, जीवों के जन्म-मरण, सुख-दुःख आदि सब नियत क्रम से ही होते हैं। इसके अनुसार सभी घटनाएँ पहले से निश्चित होती हैं। महाकवि कालिदास ने भी 'भवितव्यानां द्वाराणि भवन्ति सर्वत्र' वाक्य के द्वारा नियति को ही प्रस्तुत किया है। नियतिवाद के समक्ष पुरुषार्थ, बल, वीर्य, काल, स्वभावाद का कोई पृथक् महत्त्व नहीं है।

उपासकदशांग^{१३१}, व्याख्याप्रज्ञप्ति^{१३२} और सूत्रकृतांग^{१३३} में भी नियतिवादियों का मन्तव्य प्राप्त होता है। नियतिवादी दृष्टिकोण के संबंध में सूत्रकृतांग टीका में संकेत किया गया है-

“प्राप्तव्यो नियति बलाश्रयेण योऽर्थः सोऽवश्यं भवति नृणां शुभाऽशुभो वा।

भूतानां महति कृतेऽपि प्रयत्ने नाभाव्यं भवति न भाविनोऽस्ति नाशः॥”^{१३४}

मनुष्यों को नियति के कारण जो भी शुभ और अशुभ प्राप्त होना है, वह अवश्य प्राप्त होता है। प्राणी कितना भी प्रयत्न कर ले, लेकिन जो नहीं होना है, वह नहीं ही होगा और जो होना है, उसे कोई रोक नहीं सकता है। सब जीवों का सब कुछ नियत है और वह अपनी स्थिति के अनुसार होगा।

पूर्वकृत कर्मवाद

जीव के द्वारा पहले किए गए कर्म के अनुरूप ही फल की प्राप्ति होती है। पूर्व जन्म में किए हुए शुभ कर्मों का शुभ फल और अशुभ कर्मों का अशुभ फल प्राप्त होता है। जीव के सुखी-दुःखी बनने में, जन्म-मरण में, ज्ञानी-अज्ञानी होने में, अमीर-गरीब बनने में, रूपवान-कुरूपवान होने आदि में पूर्वकृत कर्मों का योगदान स्वीकार करने की मान्यता 'पूर्वकृत कर्मवाद' के नाम से जानी जाती है।

एक ही माँ के उदर से एक ही काल में उत्पन्न बच्चों में एक कुरूप और दूसरा सुरूप, एक बुद्धिमान और दूसरा मूर्ख, एक मंद और दूसरा चतुर, एक सौभाग्यशाली और दूसरा मन्दभागी होने में पूर्व कर्म के अतिरिक्त स्वभाव, काल आदि कोई कारण नहीं हो सकता।

राजा को रंक और रंक को राजा बनाने में, इन्द्रिय और प्राणशक्ति का हरण करने में, एकेन्द्रिय से पंचेन्द्रिय जाति में उत्पन्न होने में तथा पंचेन्द्रिय से एकेन्द्रिय जाति में जाने में तथा शरीर, स्वास्थ्य, मनोबल तथा बुद्धिविकास में भी कर्म निमित्त बनते हैं। महाभारत के ग्यारहवें पर्व में धृतराष्ट्र को विदुर ने ठीक ही कहा है कि—

वैचित्रवीर्य! साध्यं हि, दुःखं वा यदि वा सुखम्।

प्राप्तुवन्तीह भूतानि, स्वकृतेनैव कर्मणा।।^{१३५}

अर्थात् हे वैचित्रवीर्य! साध्य सुख और दुःख प्राणी अपने किए हुए कर्म से ही प्राप्त करते हैं।

बड़े-बड़े चक्रवर्ती सम्राटों को अपने पद से हटाकर अप्रतिष्ठान नामक महानारकावास पहुँचाने में, कई श्लाघनीय पुरुषों को विपत्ति के महाचक्र में डालने में, रामचन्द्र जी को चौदह वर्ष तक वनवास में भटकाने में, ऋषभदेव जी को १ वर्ष पर्यन्त आहार नहीं मिलने में, परम वीतराग सर्वज्ञ-सर्वदर्शी तीर्थंकर भगवान् महावीर प्रभु को परमात्म दशा में पहुँचाने में गोशालक को निमित्त बनाकर भगवान् से अपना बदला लेने में, गजसुकुमाल मुनि के मस्तक पर अंगारे रखवाने में और खंदक ऋषि को घानी में पिलवाने में कर्म का ही हाथ है। कहा भी है कि—

नाभुक्तं क्षीयते कर्म, कल्पकोटिशतैरपि।

अवश्यमेव भोक्ताभ्यां, कृतं कर्म शुभाशुभम्॥

करोड़ों कल्प व्यतीत हो जाएँ तो भी किए हुए शुभाशुभ कर्मों का फल भोगे बिना छुटकारा नहीं होता। किए हुए कर्मों का फल तो अवश्य भोगना पड़ता है।

मीमांसा दर्शन में यज्ञ कर्म को अदृष्ट मानकर भी इसी पूर्वकृत कर्मवाद की ओर संकेत किया है। जैन और बौद्ध दर्शन भी पहले किए हुए कर्मों के अनुसार फल की प्राप्ति को स्वीकार करते हैं, यही नहीं वेदान्त और अन्य वैदिक दर्शन भी कर्म की महत्ता का प्रतिषेध नहीं करते। जैन दर्शन आत्मा को ही कर्म का कर्ता एवं भोक्ता स्वीकार करता है- “अप्या कत्ता विकत्ता य, दुहाण य सुहाण य।”^{१३६}

पुरुषार्थवाद/पुरुषवाद

सिद्धसेनसूरि ने ‘कालो सहाव णियई..’ गाथा में ‘पुरिसे’ शब्द का प्रयोग किया है। जो पुरुषवाद को संकेतित करता है, किन्तु उत्तरकालीन जैनाचार्यों ने इसे पुरुषकार अथवा पुरुषार्थवाद के रूप में विकसित किया है। यहाँ पहले पुरुषार्थवाद एवं फिर पुरुषवाद पर विचार प्रस्तुत हैं-

पुरुषार्थवाद- पुरुष या जीव तत्त्व का इच्छापूर्वक होने वाला जो प्रयत्न या प्रवृत्ति है, वह पुरुषार्थ कहलाता है। यहाँ पुरुषार्थ का अर्थ प्रयत्नमात्र से अधिक व्यापक है। प्रत्येक पदार्थ में कोई न कोई पुरुषार्थ प्रतिसमय पाया जाता है, क्योंकि प्रत्येक पदार्थ जड़ हो या चेतन, छोटा हो या बड़ा, अपनी एक अवस्था विशेष को तजकर दूसरी अवस्था विशेष को धारण करने के प्रति या एक स्थान को तजकर अन्य स्थान को प्राप्त करने के प्रति बराबर झुकने का प्रयत्न कर रहा है। जड़ का वीर्य जड़तात्मक और चेतना का वीर्य चेतनात्मक होता है। इस वीर्य गुण की पर्याय या प्रवृत्ति विशेष को पुरुषार्थ कहते हैं।

पुरुषार्थवाद का अपना दर्शन है। उसका कहना है कि संसार के प्रत्येक कार्य के लिए प्रयत्न होना जरूरी है। बिना पुरुषार्थ के कोई भी कार्य सफल नहीं होता है। संसार में जो कुछ भी उन्नति होती है, वह सब पुरुषार्थ का परिणाम है। यदि पेट में भूख मालूम पड़ती है तो उसकी निवृत्ति के लिए प्रयत्न करना पड़ेगा, भूख की शांति विचारों से नहीं हो जाएगी। संसार में जितने भी पदार्थ हैं, उनका स्वाभाविक अपना अपना है, लेकिन उसकी अभिव्यक्ति पुरुषार्थ के बिना नहीं हो सकती है। इसलिए कहा है-

“कुरु कुरु पुरुषार्थ निर्वृत्तानन्द हेतोः”

मुक्ति-सुख की प्राप्ति के लिए पुरुषार्थ करो। पुरुषार्थ करो।

पुरुषार्थ का अर्थ यहाँ उद्योग, परिश्रम, पराक्रम, बल-वीर्य आदि है। जैनदर्शन पुरुषार्थवादी दर्शन है। उपासकदशा सूत्र के छठे अध्ययन में कुण्डकोलिक और देवता के संवाद से तथा सातवें अध्ययन में महावीर स्वामी द्वारा शकडाल को दिए गए उपदेश से पुरुषार्थ की सिद्धि होती है। भगवती सूत्र के प्रथम शतक के तृतीय उद्देशक में भी कर्म का उदय, उपशम, उदीरणा आदि अपने किए होता है, ऐसा बतला कर उत्थान, कर्म, बल, वीर्य, पुरुषार्थ की ही स्थापना की है।

महाभारत में भी इसकी उपयोगिता सिद्ध की गई है-

यदि दक्षः समारम्भात्, कर्मणो नाश्नुते फलम्।

नास्य वाच्यं भवेत्किञ्चिल्लब्धव्यं वाधिगच्छति।।

अर्थात् पुरुषार्थी मनुष्य कदाचित् कार्यारम्भ में फल प्राप्त नहीं करे तो भी उसे किसी प्रकार का धोखा नहीं हो सकता, कभी न कभी फल प्राप्ति होकर ही रहेगी।

भारतीय परम्परा में धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्ष को भी पुरुषार्थ कहा गया है। इसमें से जैन दर्शन में धर्म एवं मोक्ष को ही महत्त्व दिया गया है। मोक्ष की प्राप्ति पुरुषार्थवादी दर्शनों में ईश्वर की कृपा का फल नहीं, अपितु स्वयं जीव के द्वारा किए हुए सत्प्रयत्न एवं साधना का सुपरिणाम है। श्रमण संस्कृति के दर्शन प्रायः पुरुषार्थ को प्रधान मानते हैं।

पुरुषवाद- पुरुषवादियों के अनुसार इस संसार का रचयिता पालनकर्ता एवं हर्ता पुरुष विशेष है। इसमें सामान्यतः दो मतों का समावेश है- ब्रह्मवाद और ईश्वरवाद। ब्रह्मवाद की मान्यता है कि जिस प्रकार मकड़ी जाले के लिए और चन्द्रकान्त मणि जल के लिए हेतुभूत है उसी प्रकार पुरुष अर्थात् ब्रह्म समस्त जगत् के प्राणियों की सृष्टि, स्थिति एवं संहार के प्रति निमित्तभूत है। इनके मतानुसार ब्रह्म ही संसार के समस्त पदार्थों का उपादान कारण है। ईश्वरवाद की मान्यतानुसार जड़ और चेतन द्रव्यों के पारस्परिक संयोजन में ईश्वर निमित्तकारण है। ईश्वर की इच्छा के बिना जगत् का कोई भी कार्य नहीं हो सकता। वह विश्व का नियन्त्रक एवं नियामक है।

पुरुषवाद का बीज वैदिककाल से ही प्राप्त होता है। इस मत का संकेत या उल्लेख उपनिषदों, पुराणों, स्मृतियों तथा वैदिक दर्शनों में मिलता है। वैदिक युग में मनुष्य का एक वर्ग अग्नि, वायु, जल, आकाश, विद्युत्, दिशा आदि शक्तिशाली तत्त्वों का उपासक था, प्रकृति को ही देव मानता था। वे मानते थे कि मनुष्य में इतनी शक्ति कहाँ जो इतने विशाल ब्रह्माण्ड की रचना कर सके, देव ही शक्तिशाली है। इस धारणा

से देवकृत या ईश्वरकृत लोक की कल्पना प्रचलित हुई। मुण्डकोपनिषद्^{१३७} में तो स्पष्ट कहा है- विश्व का कर्ता और भुवन का गोप्ता (रक्षक) ब्रह्मा देवों में सर्वप्रथम हुआ। तैत्तिरीयोपनिषद्^{१३८} में भी प्राणी ब्रह्मा से प्रसृत कहे हैं। बृहदारण्यक में ब्रह्मा के द्वारा सृष्टि रचना की विचित्र कल्पना बतायी गई है और क्रम भी। ब्रह्मा अकेला रमण नहीं कर सकता था, उसने दूसरे की इच्छा की और स्वयं ने अपने आपके दो भाग किए। वे दोनों भाग पति-पत्नी के रूप में हो गए। पहले मनुष्य, फिर गाय-बैल, गर्दभ-गर्दभी, बकरा-बकरी, पशु-पक्षी आदि से लेकर चींटी तक सबके जोड़े बनाए। उसे विचार हुआ कि मैं सृष्टि रूप हूँ, मैंने ही सबका सृजन किया है, इस प्रकार सृष्टि हुई।^{१३९} वैदिक पुराण में भी सृष्टि का क्रम बताया गया है। इस प्रकार के अनेक प्रसंग ब्रह्मा द्वारा सृष्टि रचना के मिलते हैं।

वेद के अतिरिक्त पुरुषवादी मुख्यतया तीन दार्शनिक हैं- १. वेदान्ती २. नैयायिक ३. वैशेषिक। वेदान्ती ईश्वर (ब्रह्मा) को ही जगत् का उपादान कारण एवं निमित्त कारण मानते हैं। ब्रह्म माया के द्वारा आवृत्त होने पर जब सविशेष या सगुण भाव को धारण करता है, तब उसे 'ईश्वर' कहते हैं। विश्व की सृष्टि, स्थिति और लय का कारण यही ईश्वर है। माया से आवृत्त ब्रह्म अर्थात् ईश्वर चेतना युक्त है। चैतन्य पक्ष का अवलम्बन लेने पर ब्रह्म जगत् का निमित्त कारण और उपाधि (माया) पक्ष का अवलम्बन लेने पर यही ब्रह्म जगत् का उपादान कारण है।

नैयायिक मतावलम्बी ईश्वर के रूप में शिव को मानते हैं और शिव को ही इस चराचर जगत् का कर्ता, भर्ता और संहर्ता मानते हैं। ईश्वर जीवों के कर्मफलों का प्रदाता होने से नैतिक अध्यक्ष तथा शासक है। मनुष्य कर्म के सम्पादन में निमित्तकारण होता है और ईश्वर उनका प्रयोजक कर्ता होता है, जो उसे कार्यों में लगाता है तथा करने की प्रेरणा देता है। वह हमारे सुखों और दुःखों का नियामक है। ईश्वर को जगत्कर्ता मानने के साथ-साथ नैयायिक उसे एक, सर्वव्यापी (आकाशवत्), नित्य, स्वाधीन, सर्वज्ञ एवं सर्वशक्तिमान भी मानते हैं। ईश्वरकृत कार्यों द्वारा उदयनाचार्य ने न्यायकुसुमांजलि^{१४०} ग्रन्थ में ईश्वर की सिद्धि की है। इसके बाद न्यायवार्तिक, न्यायमंजरी, न्यायकंदली आदि अनेकानेक न्याय ग्रन्थों में ईश्वरवाद का उत्तरोत्तर विकास हुआ है। वेदान्त दर्शन जहाँ ईश्वर को उपादान कारण भी मानता है, वहाँ नैयायिक मात्र निमित्त कारण ही मानते हैं। ईश्वर कर्तृत्व के विषय में वैशेषिकों की मान्यता नैयायिकों की मान्यता से प्रायः समान ही है। पतंजलि ईश्वर को पुरुष विशेष के रूप में स्वीकार करते हैं। उनके अनुसार जो पतंजलि क्लेश, सर्वविध कर्मविपाक और कर्म-आशय से रहित होता है, ऐसा पुरुष विशेष ही ईश्वर है।^{१४१}

जैनदर्शन में भी ईश्वरवाद का संकेत मात्र सूत्रकृतांग में मिलता है। इसके द्वितीय श्रुतस्कंध के प्रथम अध्ययन 'पौण्डरिक' में ईश्वरवादी का उल्लेख एक रूपक में प्राप्त होता है। इस रूपक में तत्कालीन ईश्वरवादियों का मन्तव्य स्पष्ट हुआ है, जो इस तरह है-

इह खलु धम्मा पुरिसादीया पुरिसोत्तरिया पुरिसप्पणीया
पुरिसपज्जोइता पुरिसअभिसमण्णागता पुरिसमेव अभिभूय चिट्ठंति।^{१४२}

इस जगत् में जितने भी चेतन-अचेतन धर्म (पदार्थ) हैं, वे सब पुरुषादिक हैं- ईश्वर या आत्मा उनका कारण है, वे सब पुरुषोत्तरिक हैं। ईश्वर या आत्मा ही सब पदार्थों का कर्त्ता है तथा संहारक है, सभी पदार्थ ईश्वर द्वारा प्रणीत (रचित) हैं, ईश्वर से ही उत्पन्न (जन्मे हुए) हैं, सभी पदार्थ ईश्वर द्वारा प्रकाशित हैं, सभी पदार्थ ईश्वर के अनुगामी हैं, ईश्वर का आधार लेकर टिके हुए हैं।

इसके अतिरिक्त यहाँ ईश्वर के प्रतिपादन में सात युक्तियाँ भी प्रस्तुत की गई हैं, जो ईश्वर के कर्तृत्व की व्याख्या करती हैं।

ईश्वर कर्तृत्व को आचार्य हरिभद्रसूरि ने एक अपेक्षा से स्वीकार करते हुए जैनदर्शन में इसके मान्य स्वरूप को प्रस्तुत किया है। ईश्वर कर्तृत्ववाद का कथंचित् औचित्य है, यह निम्न गाथा से प्रमाणित होता है-

ईश्वरः परमात्मैव तदुक्तव्रतसेवनात्।

यतो मुक्तिस्ततस्तस्याः कर्ता स्याद् गुणभावतः।।^{१४३}

इस तथ्य को स्याद्वादकल्पलता टीका में स्पष्ट करते हुए टीकाकार यशोविजय जी कहते हैं- 'परमाप्तप्रणीतागमविहितसंयमपालनात्, यतो मुक्तिः कर्मक्षयरूपा भवति, ततस्तस्या राजादिवदप्रसादाभावेऽप्य-चिन्त्यचिन्तामणिवद् वस्तुस्वभावबलात् फलदोषासनाकत्वेनोपचारात्, कर्ता स्यात्।' अर्थात् परमात्मा द्वारा उपदिष्ट आगमों में जिस संयम धर्म का वर्णन है उसके पालन से मुक्ति होती है। यह मुक्ति समग्र कर्मों का क्षय रूप है। इस मुक्ति का आदि मूल परमात्मा का उपदेश ही होता है, इसलिए ही परमात्मा को उपचार से उनका कर्त्ता कहा जाता है। जैसे-राजा आदि का प्रसाद और रोष अन्यो के अनुग्रह-निग्रह का कर्त्ता होता है, वैसा प्रसाद-रोष परमात्मा में नहीं होता है।

वह चिन्तामणि के समान स्वभाव से ही मनुष्य की इच्छाओं की सिद्धि करता है। चिन्तामणि के सम्पर्क से वांछित की प्राप्ति होने से चिन्तामणि वांछित का

६० जैनदर्शन में कारण-कार्य व्यवस्था : एक समन्वयात्मक दृष्टिकोण

दाता या कर्ता कहा जाता है वैसे ही परमात्मा की उपासना से विभिन्न फलों की प्राप्ति होने से वह विभिन्न फलों का कर्ता कहा जाता है।

अतः 'ईश्वर संसार का कर्ता है' इसका अर्थ है कि ईश्वर ऐसे व्रतों का उपदेष्टा है जिनका सेवन न करने से संसार बनता है अर्थात् संसरण होता है। ईश्वर में संसारकर्तृत्व का यह औपचारिक व्यवहार उसी प्रकार उपपन्न किया जा सकता है जिस प्रकार 'अङ्गुल्यग्रे करिशतम्' अङ्गुल के अग्रभाग में सौ हाथी खड़े हैं, यह व्यवहार अङ्गुली के अग्रभाग से सौ हाथी की गिनती होने के आधार पर उपपन्न किया जाता है।

प्रत्येक आत्मा शक्ति रूप से परमात्मा है, इसलिए परमात्मा का ईश्वरकर्तृत्व निर्बाध रूप से सिद्ध होता है-

पारमैश्वर्ययुक्तत्वात्, आत्मैव मत ईश्वरः।

स च कर्तेति निर्दोषं, कर्तृवादो व्यवस्थितः।।^{१००}

आत्मा परम ऐश्वर्य सम्पन्न है। अतः वह ईश्वर है, वह कर्ता है, इस दृष्टि से महावीर के दर्शन में ईश्वरकर्तृत्ववाद स्वीकार करने में कोई बाधा नहीं है।

महावीर ने आत्मा के कर्तृत्व का निरसन नहीं किया। उन्होंने उस कर्तृ-सत्ता का निरसन किया, जिसे समग्र जगत् का कारण माना गया है। भगवान् महावीर ने परमात्मा या तीर्थंकर के अस्तित्व का प्रतिपादन किया, किन्तु उसकी मनुष्य से भिन्न सत्ता स्वीकार नहीं की। भगवान् ने मनुष्य को परमात्मा के स्थान पर प्रतिष्ठित किया और यह उद्घोष किया कि संसार का संचालन करने वाला कोई ईश्वर नहीं है, वह मनुष्य का ही चरम विकास है। जो मनुष्य विकास की उच्च कक्षा तक पहुँच जाता है, वह परमात्मा या ईश्वर है।

अन्यवाद

पूर्वोक्त काल, स्वभाव, नियति, पूर्वकृत कर्म, पुरुषार्थ/पुरुषवाद (ईश्वरवाद) आदि कारणों के अतिरिक्त भी भारतीय चिन्तकों ने अन्य कारणों के रूप में अपने-अपने वाद का प्रतिपादन किया है। जैसे-भूतवाद, प्रकृतिवाद, यदृच्छावाद आदि।

भूतवाद- यह भौतिकवादी धारणा है। इसके अनुसार पृथ्वी, अग्नि, वायु और पानी ये चारों महाभूत ही मूलभूत कारण हैं, सभी कुछ इनके विभिन्न संयोगों का परिणाम है।

प्रकृतिवाद- प्रकृतिवाद त्रिगुणात्मक प्रकृति को ही समग्र जागतिक विकास तथा मानवीय सुख-दुःख एवं बंधन का कारण मानता है।

यदुच्छावाद- जगत की किसी भी घटना का कोई भी नियत हेतु नहीं है, उसका घटित होना मात्र एक संयोग है। इस प्रकार यह संयोग पर बल देता है तथा अहेतुवादी धारणा का प्रतिपादन करता है।

निष्कर्ष

भारतीय दर्शन में कारण-कार्य सिद्धान्त की चर्चा में जैन दर्शन का भी अप्रतिम स्थान है। जैन दार्शनिक सांख्य के सत्कार्यवाद, वेदान्त के सत्कारणवाद, न्यायदर्शन के असत्कार्यवाद और शून्यवादी बौद्ध दर्शन के असत्कारणवाद का निरसन करते हुए सदसत्कारणवाद तथा सदसत्कार्यवाद की स्थापना करते हैं। इसके अनुसार कारण सत् भी है और असत् भी। कार्य की उत्पत्ति होने से पूर्व कारण सत् होता है तथा कार्य उत्पन्न हो जाने पर उपादान कारण का मूल स्वरूप न रहने से वह असत् ही होता है। वृक्ष की उत्पत्ति के पूर्व बीज सत् होता है तथा वृक्ष की उत्पत्ति के पश्चात् वह असत् हो जाता है। इस दृष्टि से जैन दर्शन में कारण सदसत् है। कारण की भाँति जैन दर्शन में कार्य को भी सदसत् माना गया है। उदाहरणार्थ वृक्ष रूपी कार्य अपनी उत्पत्ति के पूर्व असत् होता है तथा उत्पत्ति के पश्चात् सत्। इस प्रकार जैन दर्शन का कारण-कार्य सिद्धान्त सदसत्कार्यवाद के नाम से प्रसिद्ध है। जैन दार्शनिक यह भी मानते हैं कि कार्य अपनी उत्पत्ति के पूर्व कथंचित् सत् और कथंचित् असत् होता है। एकान्त सत् अथवा एकान्त असत् पदार्थ न तो स्वयं उत्पन्न होते हैं और न किसी को उत्पन्न करने में समर्थ होते हैं। जैन दार्शनिकों के अनुसार नित्यानित्यात्मक सामान्यविशेषात्मक या द्रव्यपर्यायात्मक पदार्थों में ही कारण-कार्य भाव घटित होता है। जिसे सदसत्कार्यवाद कहा गया है।

जैन दार्शनिक कारण-कार्य को अन्य दार्शनिकों की भाँति स्वीकार करते हैं कि कारण पहले होता है तथा कार्य बाद में। वे कारण-कार्य को क्रमभावी भी कहते हैं। वे कारण-कार्य को सर्वथा भिन्न न मानकर भिन्नाभिन्न स्वीकार करते हैं। अभयदेव सूरि कहते हैं- 'कारणात् कार्य अन्यत् कथंचित् अनन्यत् अतएव तदतद्रूपतया सच्च असच्च इति।' कारण से कार्य कथंचित् भिन्न है और कथंचित् अभिन्न। यदि कार्य कारण से सर्वथा भिन्न हो तो यह इस कारण का कार्य है- ऐसा नहीं जाना जा सकता तथा सर्वथा अभिन्न हो तो यह कारण है और यह कार्य ऐसा भेद नहीं हो सकता इसलिए जैन दर्शनानुसार कार्य-कारण में भेदाभेदता ही ग्राह्य है। वादिदेवसूरि कहते हैं कि तन्तु आदि कारणों और पटादि कार्यों में संज्ञा, संख्या, स्वलक्षण आदि भेद की स्पष्ट प्रतीति होती है। मल्लधारी हेमचन्द्राचार्य ने संख्या, संज्ञा, लक्षण आदि के भेद से कारण-कार्य में भिन्नता का प्रतिपादन किया है। साथ ही

६२ जैनदर्शन में कारण-कार्य व्यवस्था : एक समन्वयात्मक दृष्टिकोण

उन्होंने मृदादि की एकता सत्त्व, प्रमेयत्व आदि के आधार पर अनन्यता सिद्ध की है। जैन दार्शनिक कारण-कार्य को एकान्त सदृश एवं एकान्त असदृश न मानकर सदृशासदृशात्मकता स्वीकार करते हैं।

अनेकान्तवादी जैन दार्शनिकों ने कारण-कार्यवाद पर विभिन्न दृष्टियों से विचार किया है। जिनमें प्रमुख हैं-

१. षट्कारकों की कारणता
२. द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव और भव की कारणता
३. षड्द्रव्यों की कारणता
४. निमित्त और उपादान की कारणता
५. पंच समवाय की कारणता

विशेषावश्यक भाष्य में जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण ने कर्ता, कर्म, करण, संप्रदान, अपादान एवं अधिकरण कारकों की कारणता को प्रतिपादित कर अनेकान्त दृष्टि का परिचय दिया है। द्रव्य, क्षेत्र, काल एवं भाव की कारणता पर विचार जैन दार्शनिकों का अपना मौलिक योगदान है। वे इन चार कारणों को आधार बनाकर समस्त कारण-कार्य सिद्धान्त की व्याख्या करते हैं। अजीव द्रव्यों में घटित होने वाले कार्यों में इन चारों कारणों का व्यापक दृष्टि से विचार किया गया है। जीव में घटित होने वाले कार्यों के प्रति भव की कारणता को भी अंगीकार किया गया है। नारक, तिर्यक्, मनुष्य और देव भव विभिन्न कार्यों के विशिष्ट कारण होते हैं। उदाहरणार्थ देव भव और नरक भव में वैक्रिय शरीर जन्म से होता है, उनमें अवधिज्ञान/विभंग ज्ञान भी जन्म से होता है। मनुष्य और तिर्यक् भव में जन्म से औदारिक शरीर होता है, अवधिज्ञान में उनका भव कारण नहीं है। केवलज्ञान मनुष्य भव में ही हो सकता है। इस प्रकार भव की विशिष्ट कारणता पर जैन दार्शनिकों ने विचार किया है। जीव में घटित होने वाले कार्यों में क्षायिक, औपशमिक, क्षायोपशमिक, औदयिक और पारिणामिक भावों का विशिष्ट स्थान है।

जैन दार्शनिकों ने धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय, पुद्गलास्तिकाय, जीवास्तिकाय और कालद्रव्य की कारणता पर विचार किया है। इन षड्द्रव्यों के अपने उपग्रह या उपकार हैं। वे ही उनके कार्य हैं जो अन्य द्रव्यों के कार्यों में भी सहायक बनते हैं। धर्मास्तिकाय जीव और पुद्गल की गति में, अधर्मास्तिकाय उनकी स्थिति में, आकाश सभी द्रव्यों के अवगाहन में, पुद्गल-द्रव्य जीव के शरीर,

इन्द्रिय, प्राण आदि के निर्माण में, जीव द्रव्य पुद्गल के प्रयोग परिणमन में तथा परस्पोपग्रह में सहायक कारण होता है। काल द्रव्य सभी द्रव्यों के परिणमन में सहायक भूत है।

वेदान्त दर्शन में निरूपित उपादान और निमित्त कारणों के रूप में भी जैन दार्शनिकों ने कारण-कार्य सिद्धान्त की व्याख्या की है। आगम वाङ्मय में उपादान और निमित्त शब्दों का प्रयोग नहीं हुआ है किन्तु उत्तरवर्ती दार्शनिकों ने इन्हें जैनदर्शन में यथोचित स्थान दिया है। उपादान प्रमुख कारण होता है जिसमें कार्य घटित होता है तथा अन्य सहायक कारण निमित्त कहलाते हैं। निमित्त कारण को सहकारी कारण भी कहा गया है।

कारण-कार्यवाद में जैन दार्शनिकों का पंच समवाय सिद्धान्त अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। यह उनकी अनेकान्त दृष्टि का परिणाम है। पंच समवाय के संबंध में आगम वाङ्मय में कोई स्पष्ट उल्लेख नहीं मिलता। काल, स्वभाव, नियति, पूर्वकृत कर्म और पुरुषार्थ की चर्चा यत्र-तत्र विकीर्ण है। सिद्धसेन सूरि ने पाँचवीं शती ईस्वी में सन्मति तर्क प्रकरण में इन कारणों का निम्नानुसार कथन किया है—

कालो सहाव णियई पुव्वकयं पुरिसे कारणेगंता।

मिच्छन्तं ते चेव उ, समासओ होन्ति सम्पन्तं।।^{१५६}

सिद्धसेन सूरि ने अनेकान्तवाद, स्याद्वाद और नयवाद का प्ररूपण करते हुए नयदृष्टि से काल, स्वभाव, नियति, पूर्वकृत कर्म और पुरुष/पुरुषार्थ की कारणता अंगीकार की है। वे इनमें से मात्र एक की कारणता को ही अंगीकार करने को मिथ्यात्व एवं सबकी सामुदायिक कारणता को सम्यक्त्व मानते हैं। काल आदि पाँचों की सामूहिक कारणता का प्रतिपादन ही 'पंच समवाय' के सिद्धान्त के नाम से जाना जाता है।

पंच समवाय के संबंध में निष्कर्ष रूप में निम्नांकित तथ्य उभर कर आते हैं—

१. काल, स्वभाव, नियति, पूर्वकृत कर्म और पुरुष/पुरुषार्थ की सामूहिक या सापेक्ष कारणता का सिद्धान्त ही पंच समवाय के रूप में प्रसिद्ध हुआ।
२. पंच समवाय सिद्धान्त जैन दार्शनिकों की अनेकान्त दृष्टि या नय दृष्टि का परिणमन है।

३. 'पंच समवाय' शब्द आधुनिक युग में अत्यन्त प्रसिद्ध होकर भी अधिक प्राचीन नहीं है। सर्वप्रथम इसका उल्लेख कब हुआ यह तो निश्चित नहीं कहा जा सकता किन्तु १९वीं शती में तिलोकऋषि जी द्वारा इस शब्द का अपनी काव्यरचना में भूरिशः प्रयोग किया गया है। इससे यह ज्ञात होता है कि तिलोकऋषि जी के समय 'पंच समवाय' शब्द प्रसिद्ध हो चुका था किन्तु उसके पूर्व पंच समवाय का प्रयोग किसने किया, यह उपलब्ध एवं अधीत स्रोतों से ज्ञात नहीं हो सका है।
४. सिद्धसेन सूरि ने 'समासओ' शब्द का प्रयोग किया है जो आगे चलकर 'कलाप' 'समुदाय', 'समुदित' से 'समवाय' के रूप में विकसित हुआ है।

संदर्भ

१. तर्कभाषा, चौखम्बा संस्कृत संस्थान, वाराणसी, संस्करण-९, वि.सं. २०५२, पृ. १९
२. वही, पृ. २१
३. वेदान्तसार, साहित्य भण्डार, मेरठ, चतुर्दश संस्करण २०००, पृ. ८८-८९
४. वेदान्तसार, साहित्य भण्डार, मेरठ, पृष्ठ १२०
५. पंचास्तिकाय, गाथा १९
६. पंचास्तिकाय, गाथा ५४
७. सन्मति प्रकरण, तृतीय काण्ड, गाथा ५०-५२ का विवेचन
८. दृष्टव्य पृ. ७
९. तत्तस्य कार्य-कारणं वा युक्तं भिन्नलक्षणत्वात्तयोः। अन्यथा तद्व्यवस्था संकीर्येत। -प्रमेयकमलमार्तण्ड, द्वितीय भाग, पृ. १५३
१०. प्रमेयकमलमार्तण्ड, तृतीय भाग, पृ. १५७
११. प्रमाणनयतत्त्वालोक, ३.५५, ५६
१२. कार्तिकेयानुप्रेक्षा, गाथा २२२ (पृ. १५५)
१३. धवला पुस्तक ७/२, १, ७/१०/५
१४. परीक्षामुख, तृतीय परिच्छेद, सूत्र १८
१५. धवला पुस्तक- १/१, १, ४७/२७९/७

१६. यः कार्यगतो धर्मः कारणे समस्ति स कार्यवत्त एवोदयमासादयति यथा मृत्पिण्डे विद्यमाना रूपादयो घटेऽपि मृत्पिण्डादुपजायमाने मृत्पिण्डरूपादि-द्वारेणोपजायन्ते। ये तु कार्यधर्माः कारणेष्वविद्यमाना न ते ततः कार्यवत् जायन्ते किन्तु स्वत एव यथा- तस्यैवोदकाहरणशक्तिः। -प्रमेयकमलमार्तण्ड, भाग-प्रथम, पृ. ४१६, ४१७ (श्री दिगम्बर जैन त्रिलोक शोध संस्थान, हस्तिनापुर)
१७. षड्दर्शन समुच्चय, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, पृ. ३८९
१८. णत्थि पुढवीविसिद्धो 'घडो' ति जं तेण जुज्झइ अण्णो।
जं पुण 'घडो' ति पुव्वं ण आसि पुढवी तओ अणो।। -सन्मतितर्कप्रकरण ३.५२
१९. सन्मतितर्कप्रकरणम् वृत्ति पृ. ७०५-७०९
२०. स्याद्वादरत्नाकर, भारतीय बुक कोर्पोरेशन, दिल्ली, पृ. ८०३
२१. स्याद्वादरत्नाकर, पृ. ८०३
२२. भेदएकान्त के विस्तार से खण्डन हेतु द्रष्टव्य, स्याद्वादरत्नाकर, पृ. ८०३ से ८०७
२३. विशेषावश्यकभाष्य, गाथा २१०३ की टीका में
२४. वही, गाथा २१०३ की टीका में
२५. विशेषावश्यकभाष्य, गाथा २९११ की टीका में
२६. विशेषावश्यकभाष्य, गाथा २१०३
२७. राजवार्तिक १/२०/५/७१/११ उद्धृत जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश, भाग द्वितीय, पृ. ५७
२८. विशेषावश्यकभाष्य, दिव्य दर्शन ट्रस्ट, मुम्बई, द्वितीय भाग, पृ. ४३४
२९. विशेषावश्यकभाष्य, दिव्य दर्शन ट्रस्ट, मुम्बई, द्वितीय भाग, पृ. ४३४
३०. विशेषावश्यकभाष्य, दिव्य दर्शन ट्रस्ट, मुम्बई, द्वितीय भाग, पृ. ४३४
३१. विशेषावश्यकभाष्य, गाथा २१०६
३२. विशेषावश्यकभाष्य, गाथा २११२, २११३, २११६, २११७, २११८
३३. विशेषावश्यकभाष्य, दिव्य दर्शन ट्रस्ट, पृ. ४३४
३४. विशेषावश्यकभाष्य, दिव्य दर्शन ट्रस्ट, पृ. ४३७

६६ जैनदर्शन में कारण-कार्य व्यवस्था : एक समन्वयात्मक दृष्टिकोण

३५. सर्वोऽपि बुद्धौ संकल्प्य कुम्भादिकार्यं करोतीति व्यवहारः

- विशेषावश्यकभाष्य गाथा २११३ की शिष्यहिता नामक बृहदवृत्ति

३६. अतः सुकरत्वात् कार्यमप्यात्मनः कारणमिष्यते

-विशेषावश्यकभाष्य गाथा २११३ की शिष्यहिता बृहदवृत्ति

३७. बाह्यानि कुलाल-चक्र-चीवरादीनि यानि निमित्तानि तदपेक्षं क्रियमाणकालेऽन्तरंगबुद्ध्यालोचितं कार्यं भवति स्वस्यात्मनः कारणम् स्वकारणम्, अन्यथा यदि बुद्ध्या पूर्वमपर्यालोचितमेव कुर्यात् तदाऽप्रेक्षापूर्वे शून्यमनस्कारम्भविपर्ययो भवेत्, घटकारणसंनिधानेऽप्यन्यत् किमपि शरावादिकार्यं भवेत्, अभावो वा भवेत्- न किञ्चित् कार्यं भवेदित्यर्थः। तस्माद् बुद्ध्यध्यवसितं कार्यमप्यात्मनः कारणमेष्टव्यम्।-विशेषावश्यक भाष्य गा. २११४, २११५ की टीका

३८. विशेषावश्यक भाष्य भाग द्वितीय, दिव्य दर्शन ट्रस्ट, पृ. ४३४

३९. विशेषावश्यक भाष्य भाग द्वितीय, दिव्य दर्शन ट्रस्ट, पृ. ४३४

४०. विशेषावश्यक भाष्य भाग द्वितीय, दिव्य दर्शन ट्रस्ट, पृ. ४३४

४१. विशेषावश्यक भाष्य भाग द्वितीय, दिव्य दर्शन ट्रस्ट, पृ. ४३४

४२. व्याख्याप्रज्ञप्ति, शतक १९, उद्देशक ९

४३. व्याख्याप्रज्ञप्ति, शतक १९, उद्देशक ९

४४. सूत्रकृतांग निर्युक्ति, ४

४५. (क)कसाय पाहुड १/२४५/२८९/३ उद्धृत जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश, भाग द्वितीय, पृ. ६४

(ख)“सो पुण खेत्त भाव काल पोग्गलट्ठिदी विवागोदय ति एदस्स गाहाथच्छद्दस्स समुदायत्थो भवदि”

-कसायपाहुड उद्धृत जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश, भाग प्रथम पृ. ३६५

४६. प्रज्ञापनासूत्र पद २३वां

४७. राजवार्तिक, अध्याय ३, सूत्र ३७ की टीका में

४८. कार्तिकेयानुप्रेक्षा, २१९

४९. पंचास्तिकाय, गाथा १०

५०. अधिक विस्तार के लिए द्रष्टव्य पृ. ३५

५१. विशेषावश्यक भाष्य, गाथा २०८८
५२. उत्तराध्ययन सूत्र २८.१०
५३. तत्त्वार्थ सूत्र अ. ५, सूत्र २२
५४. भगवती सूत्र, शतक २५, उद्देशक ५
५५. बृहद् द्रव्य संग्रह-प्रथमाधिकार, गाथा २१
५६. भगवती सूत्र, शतक ७, उद्देशक २
५७. अनुयोगद्वार सूत्र, नामाधिकार, सूत्र २३३
५८. अनुयोगद्वार सूत्र, नामाधिकार, पृ. १५७
५९. जीवोदयनिष्फन्ने अणेगविहे पण्णत्ते। तंजहा- णेरइए, तिरिक्खजोणिए, मणुस्से, देवेपुढविकाइए जाव वणस्सइकाइए तसकाइए, कोहकसायी जाव लोहकसायी इत्थीवेदए पुरिसवेदए, णपुंसगवेदए, कण्हलेसे एवं नील. काउ.तेउ.पम्ह. सुक्कलेसे, मिच्छादिद्धि, अबिरए अण्णणी आहरए छउमत्थे सजोगी संसारत्थे असिद्धे। से तं जीवोदयनिष्फन्ने। - अनुयोगद्वारसूत्र, नामाधिकार पृ. १५८
६०. अनुयोगद्वारसूत्र, नामाधिकार पृ. १५९
६१. अनुयोगद्वारसूत्र, नामाधिकार, पृ. १५९
६२. अनुयोगद्वारसूत्र, नामाधिकार, पृ. १६१
६३. अनुयोगद्वारसूत्र, नामाधिकार, पृ. १६१
६४. अनुयोगद्वारसूत्र, नामाधिकार, पृ. १६४
६५. अनुयोगद्वारसूत्र, नामाधिकार, पृ. १६४
६६. अनुयोगद्वारसूत्र, नामाधिकार, पृ. १६९
६७. भावम्मि होइ दुविहं अपसत्थ पसत्थ यं च अपसत्थं।
संसारस्सेगविहं दुविहं तिविहं च नायव्वं॥२११९॥
असंजमो य एक्को अन्नाणं अविरई य दुविहं च।
मिच्छत्तं अन्नाणं अविरई चेव तिविहं तु॥२१२०॥
होइ पसत्थं मोक्खस्स कारणमेगविह दुविह तिविहं च।
तं चेव य विवरीयं अहिगार पसत्थएणेत्थं॥२१२१॥ - विशेषावश्यकभाष्य
६८. तत्त्वार्थ सूत्र, १.२२

६८ जैनदर्शन में कारण-कार्य व्यवस्था : एक समन्वयात्मक दृष्टिकोण

६९. वेदान्तसार, साहित्य भण्डार मेरठ, २०००, पृ. ८८-८९

७०. तर्कभाषा, चौखम्भा, सुरभारती प्रकाशन, वाराणसी, १९८४, पृ. ३०

७१. कारणेण तंतवो पडस्स कारणं ण पडो तंतुकारणं

-अनुयोगद्वार सूत्र, प्रमाणाधिकार निरूपण में, पृ. ३६४

७२. प्रज्ञापना सूत्र, २३वां पद, प्रथम उद्देशक बंध द्वार, पृ. १०

७३. स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा, गाथा २१७

७४. अष्टसहस्री पृ. २१०

७५. प्रवचनसार, गाथा ९५ की टीका में से

७६. धर्मः किल न जीव पुद्गलानां कदाचिद्गतिहेतुत्वमभ्यस्यति, न कदाचित्स्थितिहेतुत्वमधर्मः। तौ हि परेषां गतिस्थितियोर्यादि मुख्यहेतू स्यातां तदा तेषां गतिस्तेषां गतिरेव न स्थितिः, येषाः स्थितिस्तेषां स्थितिरेव न गतिः।

-पंचास्तिकाय, गाथा ८९ की टीका

७७. समयसार कलश-श्लोक ६, पृ. ५१

७८. 'कारणानुविधायीनि कार्याणीति कृत्वा यथपूर्वका यथा यथा एवेति'

-समयसार गाथा ६८ की टीका

७९. बृहद् द्रव्य संग्रह टीका गाथा २१

८०. तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक, पृ. १५१

८१. सर्वार्थसिद्धि १, २१, १२५

८२. जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश, भाग द्वितीय, पृष्ठ ६११

८३. जैन तत्त्व मीमांसा -द्वितीय संस्करण पृ. ५६

८४. निमित्तोपादान, पृ. ७

८५. तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक अध्याय ५ सूत्र २० की वृत्ति से

८६. द्रव्यसंग्रह टीका/अधिकार २ की चूलिका/७८/२ उद्धृत जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश, भाग द्वितीय पृ. ६४

८७. जीव को पुद्गल के परिणमन में कारण भी बताया गया है, यथा-

जीवपरिणामहेतुं कम्मत्तं पोग्गला परिणमंति।

पोग्गलकम्मणिमत्तं तहेव जीवो वि परिणमदि॥ -समयसार, गाथा ८०

८८. व्याख्याप्रज्ञप्ति सूत्र, शतक १३, उद्देशक ४
८९. बृहद्द्रव्यसंग्रह, गाथा १७
९०. भगवती सूत्र, शतक १३, उद्देशक ४
९१. बृहद्द्रव्यसंग्रह, गाथा १८
९२. बृहद्द्रव्यसंग्रह, गाथा १९
९३. भगवती सूत्र शतक १३, उद्देशक ४
९४. बृहद्द्रव्यसंग्रह, गाथा २१
९५. तत्त्वार्थ सूत्र ५, १९-२०
९६. भगवती सूत्र शतक १३, उद्देशक ४
९७. वही, शतक १३, उद्देशक ४
९८. तत्त्वार्थ सूत्र ५.२१
९९. समयसार, गाथा ८०
१००. स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा, २३१
१०१. श्वेताश्वतरोपनिषद् १.१
१०२. महाभारत, शांतिपर्व, अध्याय ३४७, श्लोक ८८
१०३. महाभारत, शांति पर्व, २३८.४, ५
१०४. महाभारत, शांति पर्व, ३४७.८९-९०
१०५. सुतपिटक के दीघनिकाय के प्रथम भाग में, सामञ्जसलसुत्तं, मक्खलिगोसालवाद।
१०६. सन्मति तर्क ३.५३
१०७. शास्त्रवार्ता समुच्चय २.७९
१०८. धर्मबिन्दु २.६८
१०९. विंशति विंशिका, बीजविंशिका, श्लोक ९
११०. उपदेश पद, गाथा १६५
१११. सूत्रकृतांग की शीलांक टीका पर अम्बिकादत्त व्याख्या, भाग तृतीय, पृष्ठ ८८
११२. सूत्रकृतांग, श्रुतस्कन्ध १, अध्ययन १२ की प्रारम्भ की शीलांक टीका में

७० जैनदर्शन में कारण-कार्य व्यवस्था : एक समन्वयात्मक दृष्टिकोण

११३. बौद्ध प्रमाण मीमांसा की जैन दृष्टि से समीक्षा, पृ. ५७

११४. सन्मति तर्क ३.५३ पर अभयदेव की टीका

११५. प्रवचनसार के परिशिष्ट में

११६. षड्दर्शन समुच्चय, श्लोक ७९

११७. जिनेन्द्र भक्ति प्रकाश में विनयविजय की पंचसमवाय की ढाल ६ का पद्य २

११८. तिलोक काव्य कल्पतरु, पंचवादी स्वरूप विषयक काव्य, पृ. १०५

११९. एम.ए. (प्रथम वर्ष) का तृतीय प्रश्नपत्र, खण्ड (ख)-जैन विश्व भारती संस्थान (मान्य विश्वविद्यालय), लाडनूँ

१२०. सन्मति तर्क ३.५३

१२१. उपदेश पद, गाथा १६५

१२२. शास्त्रवार्ता समुच्चय २.७९

१२३. (क) सन्मति तर्क ३.५३ की तत्त्वबोधविधायिनी टीका में

(ख) सूत्रकृतांग, श्रुतस्कन्ध १, अध्ययन १२ की प्रारम्भ की शीलांक टीका में

१२४. सूत्रकृतांग १.१२ की प्रारम्भ की शीलांक टीका में

१२५. द्वादशारनयचक्र, पृ. ७१०

१२६. अथर्व संहिता काण्ड १९

१२७. न कर्मणा लभ्यते न चिन्तया वा नाप्यस्ति दाता पुरुषस्य कश्चित्।

पर्याययोगाद् विहितं विधात्रा कालेन सर्वं लभते मनुष्य॥

-महाभारत 'शान्तिपर्व' अध्याय २५, श्लोक ५

१२८. कालः स्वभावोनियतिर्यद्वृच्छा भूतानि योनिः पुरुष इति चिन्त्या।

संयोग एषां न त्वात्मभावादात्माप्यनीशः सुखदुःखहेतोः॥

-श्वेताश्वतरोपनिषद् १.२

१२९. कः कण्टकानां प्रकरोति तैक्ष्ण्यं विचित्रभावं मृगपक्षिणां च।

स्वभावतः सर्वमिदं प्रवृत्तं न कामचरोऽस्ति कुतः प्रयत्नः॥-बुद्धचरित, ५२

१३०. स्वभावात्संप्रवर्तन्ते निवर्तन्ते तथैव च।

सर्वे भावास्तथाऽभावाः पुरुषार्थो न विद्यते॥

-महाभारत, शान्ति पर्व, अध्याय २२२, श्लोक १५

१३१. उपासकदशांग, अध्ययन ७
१३२. व्याख्याप्रज्ञप्ति शतक १५
१३३. सूत्रकृतांग सूत्र २.१.१२, २.६
१३४. सूत्रकृतांग १.१.२.३ की शीलांक टीका में
१३५. महाभारत, स्त्री.पर्व, अध्याय ११ श्लोक १०
१३६. उत्तराध्ययन सूत्र २०.३७
१३७. ओऽम् ब्रह्मा देवानां प्रथमः सम्बभूव विश्वस्य कर्ता, भुवनस्य गोप्ता।
-मुण्डकोपनिषद् खण्ड. १, श्लोक १
१३८. यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते- तैत्तिरीयोपनिषद् २/१/१
१३९. स वै नैव रेमे तस्मादेकाकी न रमते, स द्वितीयमैच्छत्। स हैतावानास यथा स्त्रीपुमांसौ संपरिष्वक्तौ, स इममेवात्मानं द्वेष्मापतयत्ततः पतिश्च पत्नी चाभवताम् तस्मादिदमर्धबगलामिव स्व इति द्व स्माह याज्ञवल्क्यस्तस्मादभाकाशः, ...ततो मनुष्या अजायन्त...गौरभववृषभः....ततो गावोऽजायन्त, वडवतेराभवदश्ववृष इतरो गर्दभीतरा गर्दभः...अजेतराभवद्वस्त....यदिदं किं च मिथुनमृगपिपीलिकाभ्यस्तत् सर्वमसृजत, सोऽवेदहं वाव सृष्टिरस्म्यहं सर्वमसृक्षीति, ततः सृष्टिरभवत्
-बृहदारण्यकोपनिषद्, प्रथमाध्याय, ब्रा.४, सूत्र ३ से ५
१४०. कार्याऽऽयोजन-धृत्यादेः पदात् प्रत्ययतः श्रुतेः।
वाक्यात् संख्याविशेषाच्च साध्यो विश्वविदव्ययः॥ -न्यायकुसुमांजलि ५.१
१४१. क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेषः ईश्वरः। -'योगसूत्र १.२४
१४२. सूत्रकृतांग, द्वितीय श्रुतस्कन्ध, प्रथम अध्ययन पृ. ४३७
१४३. शास्त्रवार्त्ता समुच्चय, स्तबक ३, गाथा ११
१४४. शास्त्रवार्त्ता समुच्चय, स्तबक ३, गाथा १४
१४५. सन्मतितर्कप्रकरण की तत्त्वबोधविधायिनी टीका पृष्ठ ७०५-७०९
१४६. सन्मतितर्क ३.५३

द्वितीय अध्याय

कालवाद

उत्थापनिका

कारण के बिना कार्य की निष्पत्ति नहीं होती, प्रायः यह सर्वमान्य सिद्धान्त है। प्राचीनकाल से ही कारण-कार्य के संबंध में भारतीय मनीषी चिन्तन कर विभिन्न सिद्धान्तों या मन्तव्यों का प्रतिपादन करते रहे हैं। उन विभिन्न सिद्धान्तों में से एक मान्यता 'कालवाद' के नाम से जानी जाती है। कालवाद की मान्यता है कि समस्त जगत् कालकृत है, काल ही समस्त कार्यों का कारण है। कालवाद की मान्यता के संबंध में निम्नांकित श्लोक महाभारत, अभयदेव की सन्मति-तर्क टीका, सूत्रकृतांग पर शीलांकाचार्य की टीका, हरिभद्रसूरि विरचित शास्त्रवार्ता समुच्चय आदि में सम्प्राप्त होता है-

कालः पचति भूतानि, कालः संहरते प्रजाः।

कालः सुप्तेषु जागर्ति, कालो हि दुरतिक्रमः॥^१

अर्थात् काल ही पृथ्वी आदि भूतों का परिणमन करता है, काल ही प्रजा (जीवों) को पूर्व पर्याय से प्रच्यवित कर अन्य पर्याय में स्थापित करता है, काल ही लोगों के सो जाने पर जागता है इसलिए काल की कारणता का अपाकरण संभव नहीं है।

काल को परमतत्त्व परमात्मा के रूप में भी स्वीकार किया गया है। अथर्ववेद, नारायणोपनिषद्, शिवपुराण, भगवद्गीता आदि ग्रन्थ इसके साक्षी हैं। अथर्ववेद में यथा-

कालःप्रजा असृजत, कालो अग्रे प्रजापतिम्।

स्वयंभूः कश्यपः कालात्, तपः कालादजायत॥

कालादाय समभवन् कालाद् ब्रह्म तपो दिश।

कालेनोदेति सूर्यः काले निविशते पुनः॥^२

काल ने प्रजा (जगत् एवं जीवों) को उत्पन्न किया, काल ने प्रजापति को उत्पन्न किया, स्वयंभू कश्यप काल से उत्पन्न हुए हैं तथा तप भी काल से उत्पन्न हुआ।

काल से जलतत्त्व(आपः) उत्पन्न हुआ, काल से ही ब्रह्म, तप एवं दिशाएँ उत्पन्न हुई, काल से ही सूर्य उदित होता है तथा पुनः काल में ही निविष्ट होता है।

नारायणोपनिषद् में कहा है-

‘कालश्च नारायणः’^३ अर्थात् काल नारायण स्वरूप है।

शिवपुराण में-

अप्रियैश्च प्रियैश्चैव ह्यचिंतितसमागमैः।

संयोजयति भूतानि वियोजयति चेश्वरः॥^४

काल ईश्वर रूप है, जो अप्रिय, प्रिय एवं अचिंतित वस्तुओं से प्राणियों को संयोजित करता है और वियोजित करता है।

विष्णु पुराण में-

परस्य ब्रह्मणो रूपं पुरुषः द्विजः।

व्यक्ताव्यक्ते तथैवान्ये रूपे कालस्तथापरम्॥^५

परम ब्रह्म का प्रथम स्वरूप पुरुष है, अव्यक्त (प्रकृति) और व्यक्त (महदादि) उसके दूसरे रूप हैं तथा काल उसका परम प्रधान रूप है।

भगवद् गीता में कहा है-

कालोऽस्मि लोकक्षयकृत्प्रवृद्धो, लोकान् समाहर्तुमिह प्रवृत्तः।^६

कृष्ण स्वयं कहते हैं- “मैं लोक का क्षय करने वाला, प्रवृद्ध काल हूँ तथा इस समय लोकों को नष्ट करने के लिए प्रवृत्त हुआ हूँ।”

वैदिक काल में प्रचलित मान्यताओं के साथ श्वेताश्वतरोपनिषद् में काल की समस्त जगत् के प्रति कारणता स्वीकार करने वाले कालवाद का नामोल्लेख प्राप्त होता है- ‘कालः स्वभावो नियतिर्यदृच्छा भूतानि योनिः पुरुष इति चिन्त्या’^७

ज्योतिर्विद्या में काल के आधार पर ही समस्त गणनाएँ की जाती हैं तथा जीव एवं जगत् की विभिन्न घटनाओं का आकलन काल के आधार पर ही किया जाता है।

भारतीय संस्कृति में कालवाद की मान्यता की जड़ें इतनी गहरी हैं कि जन-जीवन में इसके अवशेष आज भी विद्यमान हैं। बुरे दिनों का आना, अच्छे दिनों का आना आदि की जनमान्यता ‘कालवाद’ या काल की कारणता को ही इंगित करती है।

काल अमूर्त होते हुए भी वैज्ञानिकों के लिए भी अध्ययन का विषय बना हुआ है तथा वे भी इसकी कारणता पर विचार कर रहे हैं।

भारतीय दर्शनों में भी काल की कारणता पर विचार हुआ है एवं भारतीय दार्शनिक 'काल' को कार्य की उत्पत्ति में साधारण कारण मानते हैं। प्रत्येक कार्य की उत्पत्ति में काल की उपस्थिति साधारण कारण होती है, किन्तु वे काल को क्षिप्र, चिर, ज्येष्ठ, कनिष्ठ आदि के व्यवहार में असाधारण कारण मानते हैं।

प्रश्न यह है कि क्या एकमात्र 'काल' ही समस्त कार्यों का जनक हो सकता है तो उत्तर में कहना होगा कि कालवाद सिद्धान्त ने एकमात्र काल को ही समस्त कार्यों का कारण स्वीकार किया है।

कालवाद के अनुसार 'काल' का कितना व्यापक स्वरूप मान्य रहा होगा, इसका अनुमान अथर्ववेद, महाभारत आदि ग्रन्थों से यत्किंचित् हो सकता है, किन्तु 'कालवाद' के संबंध में कोई स्वतंत्र ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है। 'कालवाद' को लेकर किसी ग्रन्थ की रचना की गई, ऐसा भी उल्लेख नहीं मिलता और न ही इस सिद्धान्त के प्रवर्तक का नोमोल्लेख मिलता है। कालवाद किसी एक व्यक्ति की मान्यता न होकर सामूहिक मान्यता बन गई थी, ऐसा प्रतीत होता है।

कालवाद के स्वतंत्र ग्रन्थ होते तो उनके आधार पर यहाँ काल का विवेचन किया जा सकता था, किन्तु सम्प्रति समुपलब्ध विभिन्न स्रोतों से काल एवं कालवाद की चर्चा करने का प्रयास इस अध्याय में किया गया है।

अथर्ववेद, उपनिषद्-साहित्य, पुराण-वाङ्मय, भगवद्गीता, महाभारत आदि के साथ जैनागम एवं विभिन्न दार्शनिक ग्रन्थों के आधार पर 'कालवाद' के स्वरूप को प्रस्तुत करने का प्रयास किया जा रहा है। जैनागम सूत्रकृतांग सूत्र में क्रियावादी-अक्रियावादी के भेदों के अन्तर्गत 'कालवाद' की मान्यता दृष्टिगोचर होती है। जैनागम टीकाकार शीलांक और मलयगिरि ने कालवाद पर विस्तार से विवेचन किया है। सिद्धसेनकृत सन्मतितर्क प्रकरण एवं उस पर अभयदेवसूरि विरचित टीका, हरिभद्रसूरिकृत शास्त्रवार्तासमुच्चय आदि में कालवाद का पूर्वपक्ष के रूप में उपस्थापन कर काल को एकान्त कारण मानने का खण्डन किया गया है।

इस अध्याय में कालवाद के साथ विभिन्न दर्शनों में मान्य 'काल' के स्वरूप की भी चर्चा की गई है। वैशेषिक दर्शन में काल को एक द्रव्य स्वीकार किया गया है जो ज्येष्ठ, कनिष्ठ, युगपद, चिर, क्षिप्र आदि से अनुमित होता है। व्याकरण दर्शन में इसे अमूर्त क्रिया के परिच्छेद के हेतु रूप में मान्य किया गया है। न्याय दर्शन में काल

का स्वरूप वैशेषिक दर्शन की भांति ही युगपद्, चिर, क्षिप्र आदि व्यवहार से अनुमित माना गया है तथा इसे आकाश, दिशा एवं देश के समान कार्योत्पत्ति में साधारण कारण स्वीकार किया गया है। सांख्य दर्शन में यद्यपि काल को पृथक् तत्त्व नहीं माना गया है, किन्तु उसे पंचभूतों में आकाश के स्वरूप में समाहित करते हुए उसे कैवल्य आदि की प्राप्ति में साधारण कारण स्वीकार किया गया है। चार आध्यात्मिक तुष्टियों में काल को तृतीय तुष्टि के रूप में प्रतिपादित किया गया है। योग दर्शन में मुहूर्त्त से लेकर महाकाल पर्यन्त काल को बुद्धिकल्पित समाहार के रूप में तथा क्षण को वास्तविक काल के रूप में मान्य किया गया है। अद्वैत वेदान्त में काल को अज्ञानजन्य तथा शुद्धाद्वैत वेदान्त में काल की आधिभौतिक, आध्यात्मिक एवं आधिदैविक दृष्टि से व्याख्या की गई है। काल के स्वरूप के संबंध में जैन दर्शन के आगम ग्रन्थ, दर्शन ग्रन्थ और अन्य ग्रन्थों में भी विशद वर्णन है। अनस्तिकायत्व, अप्रदेशात्मकता, अनन्तसमयरूपता, उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यशीलता, स्थूलता, ऊर्ध्वप्रचयता, कारणता, कार्य और भेद आदि विभिन्न कोणों से जैन दर्शन में काल का वर्णन मिलता है। काल को स्वतंत्र द्रव्य मानने के संबंध में जैन दार्शनिकों में मतभेद है।

यहाँ अथर्ववेद, महाभारत आदि विभिन्न ग्रन्थों के आधार पर कालवाद के स्वरूप का प्रतिपादन करने के पश्चात् विभिन्न दर्शनों में मान्य काल के स्वरूप की चर्चा की जाएगी तथा फिर जैन दर्शन के ग्रन्थों में चर्चित कालवाद का उपस्थापन कर उनका खण्डन प्रस्तुत किया जायेगा।

वेद, उपनिषद् और पुराण में कालवाद

कारण-कार्य सिद्धान्त में एक मत कालवाद का है। कालवाद के अनुसार प्रत्येक कार्य का कारण काल ही है और वही सृष्टि का मूल कारण है। कालवाद का सिद्धान्त कब से प्रारम्भ हुआ यह तो सुनिश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता, किन्तु काल को ही प्रमुख कारण के रूप में मानने का उल्लेख वेद, उपनिषद्, पुराण, महाभारत और विभिन्न दार्शनिक ग्रन्थों में प्राप्त होता है। जगत् की सृष्टि काल से स्वीकारने का उल्लेख उपनिषद् में प्राप्त होता है। किन्तु कालवाद का प्रवर्तक कौन था, इसका स्पष्ट उल्लेख नहीं मिलता है। अथर्ववेद^१ में 'काल सूक्त' के रूप में काल की महिमा गायी गई है। शिवपुराण^२ में काल को शिव की शक्ति और विष्णुपुराण^३ में इसे विष्णु की शक्ति के रूप में मान्य किया गया है। इस प्रकार उस समय कालवाद का प्रचार बहुत अधिक व्यापक रूप से हुआ। बड़े-बड़े महर्षि भी इस वाद को मानने वाले थे। एक दिन संसार में इसी की दुन्दुभि बजा करती थी। प्राचीन काल में काल का इतना महत्त्व होने के कारण ही दार्शनिक काल में चिन्तकों ने ईश्वरादि कारणों के

साथ काल को भी साधारण कारण स्वीकार किया। काल को असाधारण मानने वाले कालवादियों का मत वेद आदि विभिन्न ग्रन्थों में निरूपित हुआ है, उसे यहाँ संक्षेप में प्रस्तुत किया जा रहा है।

वेद में कालवाद के तत्त्व

अथर्ववेद^{११} में १९वें काण्ड के ५३-५४ वें सूक्त में काल की महिमा का वर्णन है। इसी कारण ये सूक्त 'काल-सूक्त' के नाम से प्रसिद्ध हैं। ५३वें सूक्त में काल को रथाश्व के रूप में प्रस्तुत करते हुए कहा है कि समस्त लोक अश्वरथ के चक्र हैं। इस सूक्त के ऋषि का कथन है कि काल ही परब्रह्म है। यह कालात्मक ब्रह्म चराचरात्मक विश्व की रचना और नाश करता हुआ भी स्थिर रहता है। द्युलोक और प्राणियों को आश्रय देने वाली पृथिवी को काल ने ही प्रकट किया है तथा भूत-भविष्य-वर्तमान भी इस काल के ही आश्रित हैं।^{१२} काल की प्रेरणा से ही सूर्य इस विश्व को प्रकाश देता है और काल से ही सब प्रजा अभीष्ट सिद्धि को प्राप्त कर प्रसन्न होती है। काल ही तप है, काल ज्येष्ठ है, काल में ही ब्रह्म प्रतिष्ठित है। काल सभी का ईश्वर, पिता और प्रजापति है।^{१३} काल ने पहले प्रजापति को उत्पन्न किया, फिर प्रजाओं की रचना की। काल स्वयंभू है तथा काल से ही कश्यप, अंगिरा, अथर्वा आदि महर्षि उत्पन्न हुए।^{१४} काल से भूत, भविष्य, पुत्र, पुर, ऋचा और यजुर्वेदी उत्पन्न हुए हैं।^{१५} काल ने ही यज्ञ को देवताओं के भाग के रूप में प्रकट किया। काल से ही गन्धर्व और अप्सराएँ हुईं और ये सभी लोक काल के ही आश्रित हैं।^{१६}

अथर्ववेद में ऋषियों की इस विचारधारा कि 'काल ने जगत् की सृष्टि की' का प्रभाव बड़ा दूरगामी सिद्ध हुआ। कालान्तर में विकसित होने वाले विविध साहित्य तथा दार्शनिक-चिन्तन की सम्प्रदायगत धाराओं पर इस विचार का पूर्ण प्रभाव पड़ा।

उपनिषद् में कालवाद

कालवाद की प्राचीनता उपनिषदों से भी प्रमाणित होती है। अक्ष्युपनिषद् में काल को समस्त पदार्थों का निरन्तर निर्माता प्रतिपादित करते हुए कहा गया है—
 "कालश्च कलनोद्युक्तः सर्वभावनानारतम्"^{१७} नारायण उपनिषद् में काल को संभवतः किसी अपेक्षा से नारायण कहा है—
 "कालश्च नारायणः।"^{१८} सीतोपनिषद् में काल के कला, निमेष, घटिका, याम, दिवस, रात्रि, पक्ष, मास, ऋतु, अयन, संवत्सर आदि का उल्लेख करते हुए निमेष से लेकर परार्थ पर्यन्त कालचक्र का संकेत किया गया है।^{१९}

माण्डूक्योपनिषद् पर रचित गौडपादकारिका में कालवादियों का उल्लेख करते हुए स्पष्ट कथन है-“कालात्प्रसूतिं भूतानां मन्यन्ते कालचिन्तकाः”^{१०} इसी माण्डूक्यकारिका में कालविदों के मत में काल को ही परमार्थ तत्त्व प्रतिपादित किया गया है- ‘काल इति कालविदो’^{११} टीकाकार ने ‘काल इति कालविदो’ का अभिप्राय प्रकट करते हुए कालविद् को ज्योतिर्विद् स्वीकार किया है-कालः परमार्थतः इति ज्योतिर्विदः।

श्वेताश्वतरोपनिषद् में कालवाद की मान्यता इस प्रकार प्रकाश में आई है- ब्रह्मवादी परस्पर चर्चा करते हैं कि जगत् का मुख्य कारण कौन है, यह किसके आधार पर प्रतिष्ठित है-

कालःस्वभावो नियतिर्यदृच्छा भूतानि योनिः पुरुष इति चिन्त्या।

संयोग एषां न त्वात्मभावादात्माप्यनीशः सुखदुःखहेतोः॥^{१२}

स्वभावमेके कवयो वदन्ति कालं तथान्ये परिमुह्यमानाः।

देवस्थैष महिमा तु लोके येनेदं भ्राम्यते ब्रह्मचक्रम्॥^{१३}

वेद शास्त्रों में काल, स्वभाव, नियति, यदृच्छा, पंच महाभूत, जीवात्मा-कारणों का वर्णन आता है। ये काल आदि पृथक् और समुदाय दोनों रूप से कारण नहीं हो सकते, क्योंकि ये आत्मा के अधीन हैं। आत्मा सुख-दुःखों के हेतुभूत प्रारब्ध के अधीन होने से कारण नहीं हो सकती।

वास्तव में यह परमदेव सर्वशक्तिमान परमेश्वर की ही महिमा है। ये स्वभाव और काल आदि समस्त कारणों के अधिपति हैं और उन्हीं के द्वारा यह संसार चक्र घुमाया जाता है। वैदिक काल में कालवाद विकसित एवं पल्लवित था, यह उपर्युक्त विवरण से स्वतः प्रमाणित होता है।

पुराणों में कालवाद के तत्त्व

शिवपुराण में काल को शिव की शक्ति बताते हुए कहा गया है- सबकी उत्पत्ति और विनाश में काल ही कारण है।^{१४} काल से निरपेक्ष कहीं भी कुछ भी नहीं होता। सृष्टिकारक एवं संहारक काल जंगम-स्थावर के द्वारा ही नहीं ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र आदि सुर-असुरों द्वारा भी अनुलंघनीय है। इनके अतिरिक्त इन्द्रियों पर विजय प्राप्त करने वाले ऋषि मुनि भी काल को जीतने में समर्थ नहीं हैं। कला, काष्ठा, निमेष आदि कलाओं से निर्मित कालात्मा का शरीर शिव का परम तेज है।^{१५} शिव की अंशमयी शक्ति कालात्मा रूप महात्मा में उसी प्रकार निकल कर संक्रान्त हो गई है,

जिस प्रकार की अग्नि लोहे में संक्रान्त होती है।^{३६} इसलिए विश्व काल के अधीन है और काल शिव के अधीन है।

काल ईश्वररूप है, जो अप्रिय, प्रिय एवं अचिंतित वस्तुओं से प्राणियों को संयोजित करता है और वियोजित करता है।^{३७} काल सभी परिवर्तनों का आधार है, यथा- युवा का वृद्ध होना, बलवान का दुर्बल होना, लक्ष्मीपति का कंगाल होना, सनाथ का अनाथ होना तथा दाता से भिखारी बनना आदि।^{३८} जन्म-मरण, सुख-दुःख, सर्दी-गर्मी-वर्षा आदि सभी कार्य काल द्वारा संचालित होते हैं।^{३९} शिवपुराण में काल के संबंध में विस्तारपूर्वक वर्णन उपलब्ध है।^{४०}

विष्णुपुराण में भी काल का विवेचन प्राप्त होता है। सृष्टि-प्रक्रिया का प्रतिपादन करते हुए 'काल' के संबंध में अनेक तथ्य प्रकट हुए हैं, यथा-परमब्रह्म का प्रथम स्वरूप पुरुष है, अव्यक्त (प्रकृति) और व्यक्त (महदादि) उसके दूसरे रूप हैं तथा काल उसका परम (प्रधान) रूप है। प्रधान और पुरुष सृष्टि एवं प्रलयकाल में संयुक्त और वियुक्त होते हैं, उसी रूपान्तर का नाम 'काल' है। कालस्वरूप भगवान् अनादि हैं और इनका अन्त भी नहीं होता। अतएव संसार की उत्पत्ति, पालन और अन्त (प्रलय) नहीं रुकते, किन्तु प्रवाह रूप से सदा होते ही रहते हैं। प्रलयकाल में प्रधान (प्रकृति) को गुण की साम्यावस्था में स्थित हो जाने पर तथा पुरुष के प्रकृति से अलग स्थित होने पर श्री विष्णु भगवान का कालस्वरूप प्रवृत्त होता है।^{४१}

श्रीमद्भागवत में काल के स्वरूप का वर्णन करते हुए कहा गया कि जो सत्त्व, रज और तम नामक गुणत्रय के आकार वाला होता है, निर्विशेष होता है। अप्रतिष्ठित अर्थात् आदि अन्त से रहित होता है, वह काल है। पुरुषविशेष ईश्वर उसी काल को उपादान कारण बनाकर अपने आप से विश्वरूप सृष्टि की रचना करता है। काल के इस स्वरूप का उल्लेख विदुर के द्वारा प्रश्न किए जाने पर मैत्रेय ने उत्तर देते हुए किया है-

यदाऽऽत्थ बहुरूपस्य हेतुरदभुतकर्मणः।

कालाख्यं लक्षणं ब्रह्मन्यथा वर्णय नः प्रभो॥

गुणव्यतिकराकारो निर्विशेषोऽप्रतिष्ठितः।

पुरुषस्तदुपादानमात्मानं लीलयाऽसृजत्॥^{४२}

श्रीमद्भागवत की वंशीधरी टीका में स्पष्ट किया गया है कि ईश्वर सृष्टि की रचना कालाख्य निमित्त से करता है-

एतदेव दर्शयितुमीश्वरः सृष्ट्यादितेन निमित्तभूतेन करोतीत्याह।

कालेन निमित्तेन चासृजदित्येतावदेव विवक्षितम्॥^{३३}

विष्णु माया से युक्त ब्रह्म काल के निमित्त से ईश्वर के द्वारा विश्व के रूप में प्रकाशित किया जाता है। काल के निमित्त से होने वाली प्राकृत व वैकृत सृष्टि के ९ भेद हैं। जिसमें महत्, अहंकार, भूत सर्ग, ऐन्द्रिय सर्ग, मनस्सर्ग, तमस्सर्ग, स्थावर सर्ग, तिर्यक् सर्ग और मानव सर्ग आदि का समावेश होता है।

महाभारत में कालवाद एवं उसका निरसन

महाभारत में काल की कारणता के संबंध में दो मत मिलते हैं। पहला मत जो काल को सभी कार्यों के प्रति निर्विशेष यानी सामान्य कारण तथा सभी प्राणियों में समान रूप से कारक मानता है- 'कालो हि कार्यं प्रति निर्विशेषः', 'कालः सर्वेषु भूतेषु चरत्यविधृतः समः'^{३४} दूसरा मत जो सभी कार्यों के प्रति काल विशेष को ही कारण मानता है, अन्य को नहीं- 'सर्वे कालात्मकाः सर्वं कालात्मकमिदं जगत्', 'कालो हि कुरुते भावान् सर्वलोके शुभाशुभान्'^{३५} कालवाद का प्रसंग होने से यहाँ दूसरे मत का कथन ही विस्तार से अभिप्रेत है।

कारण और कार्य का पृथक्-पृथक् अस्तित्व होता है। इसलिए काल का कार्य से भिन्न स्वरूप होने से कार्य में निहित होना संभव नहीं है। महाभारत की निम्न पंक्ति यह प्रमाणित करती है- 'नाभ्येति कारणं कार्यं न कार्यं कारणं तथा, कार्याणां तूपकरणं कालो भवति हेतुमान्'^{३६} काल कार्य की सिद्धि और असिद्धि में समान रूप से कारण बनता है। लोक में हो रही चेष्टाएँ, प्रवृत्ति-निवृत्ति तथा विकृतियाँ सभी काल के निमित्त से हैं।^{३७} स्थावर-जंगम प्राणी सभी काल के अधीन हैं। सूर्य, चन्द्रमा, जल, वायु, इन्द्र, अग्नि, आकाश, पृथ्वी, मित्र, पर्जन्य, वसु, अदिति, नदी, समुद्र आदि सभी का कर्ता काल है।^{३८} वर्तमान में विद्यमान पदार्थ के प्रति ही नहीं, अपितु भविष्य और भूतकाल के पदार्थों के प्रति भी काल हेतु है।^{३९} सृष्टिगत कार्यों के साथ-साथ काल स्वयं सृष्टि का रचनाकार और संहारकर्ता है।^{४०} काल माता-पिता के समान प्राणियों का जनक होने के साथ संरक्षक भी है, अतः वह सबको पोषित एवं धारण करने वाला है।^{४१} काल द्रव्योत्पत्ति में ही नहीं भाव में भी कारण है, जन्तुओं के सात्त्विक, राजसिक और तामसिक भाव भी कालात्मक है।^{४२}

प्राकृतिक-परिवर्तन में भी काल कारणभूत होता है, इसके विभिन्न निदर्शन हैं, यथा- तेज हवा का चलना, मेघों द्वारा जल बरसाना, उदक में उत्पल का उत्पन्न होना, वन में वृक्षों का पुष्ट होना, चन्द्रमा का घटना-बढ़ना, वृक्षों का फल-फूलों से

लदना आदि परिवर्तनों का काल नियामक है।^{५३} असमय में पक्षी, सर्प, जंगली मृग, हाथी, शैल मृग मतवाले नहीं होते, स्त्रियाँ गर्भ धारण नहीं करती और सर्दी-गर्मी-वर्षा भी नहीं होती।^{५४} ये प्राकृतिक परिवर्तन ही नहीं मानव का विकास भी काल के अधीन है, जैसे-समय आने पर जन्म लेना, चलना और बोलना प्रारम्भ करना, किशोर-युवा-वृद्ध होना और अन्त में मरण को प्राप्त होना।^{५५}

प्राकृतिक परिवर्तन और मानव-विकास के अतिरिक्त मन्त्र, औषध और शिल्पकलाएँ उचित काल के बिना निष्फल हो जाते हैं-

“नाभूतिकालेषु फलं ददन्ति*, शिल्पानि मन्त्राश्च तथौषधानि।

तान्येव कालेन समाहितानि, सिद्ध्यन्ति वर्धन्ति च भूतिकाले।।”^{५६}

महाभारत में काल का स्वरूप बताते हुए कहा गया है- ‘निश्चितं कालनानात्वमनादिनिधनं च यत्’^{५७} अर्थात् निश्चय ही काल के अनेक रूप हैं और उसका न आदि है न अन्त। काल अनेक रूप वाला होने से एक समय में भी विभिन्न कार्यों में कारण हो सकता है। आदि अन्त रहित होने से वह भूत-वर्तमान-भविष्य में घटित सभी कार्यों में कारण होता है। ये दोनों तथ्य उपर्युक्त श्लोकांश से स्वतः प्रमाणित होते हैं। एक स्थान पर ऋषियों ने धर्मशास्त्र, अर्थशास्त्र और मोक्षशास्त्र में काल की कारणता को प्रतिपादित करते हुए कार्य सिद्धि का प्रधान उपाय ‘काल और देश’ को कहा है।^{५८}

महाभारत में कालवाद के प्रतिपादन के साथ खण्डन भी प्राप्त होता है। काल ही सभी क्रियाओं का कारण होने से जीवन में आने वाली खुशियों एवं मुश्किलों का हेतु है। किन्तु लोक में विभिन्न प्रसंगों पर कालवाद का अस्तित्व खण्डित होता है जिसका दर्शन निम्न श्लोकों में होता है-

‘यदि कालः प्रमाणं ते न वैरं कस्यचिद् भवेत्।

कस्मात् त्वपचितिं यान्ति बान्धवा बान्धवैर्हतैः॥

भिषजो भैषजं कर्तुं कस्मादिच्छन्ति रोगिणः।

यदि कालेन पच्यन्ते भेषजैः किं प्रयोजनम्॥

प्रलापः सुमहान् कस्मात् क्रियते शोकमूर्च्छितैः।

यदि कालः प्रमाणं ते कस्माद् धर्मोऽस्ति कर्तुषु॥”^{५९}

* यह प्रयोग पाणिनि सम्मत नहीं है, किन्तु महाभारत में यही प्रयोग है। ऐसे प्रयोग अन्यत्र भी महाभारत में मिलते हैं।

यदि काल को ही सब क्रियाओं का कारण मानते हो तब तो किसी का किसी के साथ वैर नहीं होना चाहिए; फिर अपने भाई-बन्धुओं के मारे जाने पर उसके सगे-संबंधी बदला क्यों लेते हैं? वैद्य लोग रोगियों की दवा करने की अभिलाषा क्यों करते हैं? यदि काल ही सबको पका रहा है तो दवाओं का क्या प्रयोजन है। यदि आप काल को ही प्रमाण मानते हैं तो शोक से मूर्च्छित हुए प्राणी क्यों महान् प्रलाप एवं हाहाकार करते हैं? फिर कर्म करने वालों के लिए विधि-निषेध रूपी धर्म के पालन का नियम क्यों रखा गया है?

श्रीमद्भगवद् गीता में काल का परमात्म स्वरूप

श्रीमद्भगवद् गीता में भगवान् श्री कृष्ण ने स्वयं को काल कहा है, जैसा कि एकादश अध्याय में वे अर्जुन से कहते हैं कि मैं काल हूँ। मैं सम्पूर्ण जगत् का सर्जन, पालन और संहार करने वाला साक्षात् परमेश्वर हूँ। इस समय मुझको तुम इन सबका संहार करने वाला साक्षात् काल समझो।^{५०} इसी प्रकार दशम अध्याय में श्रीकृष्ण ने स्वयं को गणना करने वाला काल कहा है।^{५१}

ज्योतिर्विद्या में कालवाद

ज्योतिश्शास्त्र पूर्णतः काल पर आधारित है। ज्योतिर्विद प्रत्येक घटना में काल को कारण मानते हैं। व्यक्ति के जीवन में भूत, भविष्य और वर्तमान की घटनाओं का आकलन वे उस व्यक्ति की जन्म कुण्डली से करते हैं और जन्म कुण्डली जन्म काल के आधार पर बनती है। इसी प्रकार मूल रूप से काल को कारण मानते हुए विभिन्न कार्यों का सम्पादन स्वीकार करते हैं।

सभी ज्योतिषाचार्य जातकशास्त्रीय विशिष्ट मान्यताओं को एकमत होकर अंगीकार करते हैं। 'कालपुरुष' पर मेषादि द्वादश राशियों का स्थान निर्धारण' इन्हीं मान्यताओं में से एक है। इसके अन्तर्गत काल को एक पुरुष के रूप में माना गया है। पुरुष का शरीर सिर, कण्ठ, वक्ष, हस्त, पेट और पैर आदि प्रमुख अंगों से बना होता है, उसी प्रकार कालपुरुष का भी शरीर मेषादि द्वादश राशियों से बना है। कालचक्र को ज्योतिष कर्मज्ञों ने वैज्ञानिकता पूर्वक विभाजित किया है और मानव के लिए यह हर क्षण किस प्रकार उपयोगी है, इसका भी निरूपण किया है। आचार्य पराशर ने सबसे पहले काल को विष्णु रूप में स्वीकार किया है।^{५२} इतना ही नहीं पराशर ने विष्णु रूपी काल के अंगों का उल्लेख करते हुए उनमें मेषादि राशियों की स्थापना की।^{५३} 'जातकपारिजात' में कालपुरुष के अंगों पर मेषादि राशियों की स्थापना इस प्रकार प्राप्त होती है-

“कालात्मकस्य च शिरोमुखदेशवक्षो,

हृत्कुक्षिभागकटिवस्तिरहस्यदेशाः।

उरु च जानुयुगलं परतस्तु जङ्घे,

पादद्वयं क्रियामुखावयवाः क्रमेण।।^{५२}

अर्थात् उस काल पुरुष के शिर में मेष, मुख में वृष, वक्ष में मिथुन, हृदय में कर्क, पेट में सिंह, कमर में कन्या, नाभि के नीचे तुला, लिंग में वृश्चिक, उरु में धनु, दोनों घुटनों में मकर, दोनों जांघों में कुम्भ और दोनों पैरों में मीन नामक राशियाँ स्थापित होती हैं।

इस प्रकार सभी ज्योतिर्विदों ने एकमत होकर काल को पुरुष का रूपक दिया है और उस कालपुरुष के अंगों पर मेषादि राशियों का क्रम से विन्यास किया है। मनुष्य के जन्मकाल में जो राशि बलवती होती है उससे संबंधित अंग अवश्य ही बलवान होता है और जो राशि जन्म समय से निर्बल होती है उससे संबंधित अंग अवश्य निर्बल होगा। इसकी पुष्टि में 'कल्याण वर्मा' ने लिखा है-

कालनरस्यावयवान् पुरुषाणां कल्पयेत् प्रसवकाले।

सदसद्रहसंयोगात् पुष्टान्सोपद्रवांश्चापि।।^{५३}

भर्तृहरि विरचित वाक्यपदीयं के काल समुद्देश में दक्षिणायन और उत्तरायण का विभाग, नक्षत्रों की नियत गति तथा महाभूतों के सर्ग और प्रलय में काल को कारण बताते हुए कहा है- 'अथनप्रविभागश्च गतिश्च ज्योतिषां ध्रुवां, निवृत्ति-प्रभवाश्चैव भूतानां तन्निबन्धाः।'^{५४} अश्विनी आदि तारामण्डल के उदय आदि से उस काल विशेष को अश्विनी आदि नक्षत्रों (तारामण्डल) का नाम दिया जाता है। इन नक्षत्रों से नियत काल विशेष का बोध होता है।

अतः ज्योतिर्विद्या में काल एक प्रधान कारण के रूप में प्रकट हुआ है। इसे कालवाद का ही एक विकसित एवं परिष्कृत रूप कहा जा सकता है।

विभिन्न भारतीय दर्शनों में काल का स्वरूप एवं उसकी कारणता

प्रायः सभी दर्शन काल को कार्य में साधारण कारण स्वीकार करते हैं, किन्तु कालवाद की मान्यता में वह असाधारण कारण है। यहाँ विभिन्न दर्शनों में निरूपित काल के स्वरूप पर विचार किया जा रहा है-

वैशेषिक दर्शन में काल का स्वरूप एवं उसकी कारणता

वैशेषिक दर्शन के प्रणेता कणाद ऋषि ने वैशेषिक सूत्र में 'काल' को द्रव्य के रूप में स्थापित किया है।^{५५} ऋषि ने वायु के समान काल को नित्य बताया है।^{५६}

काल सदैव विद्यमान रहता है, अतः इसके अभाव का अभाव नित्य है। काल संख्या में एक ही है।^{६१} भूत, भविष्य और वर्तमान से इसे विभक्त किया जा सकता है, किन्तु मूल रूप से एक है। अतः वैशेषिक मतानुसार 'काल' एक द्रव्य है, नित्य है तथा संख्या में एक है।

प्रशस्तपाद अपने भाष्य में संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग और विभाग इन पाँच गुणों से काल को युक्त मानते हैं।^{६०} काल की ज्ञापकयौगपद्यादिविषयक प्रतीतियाँ सभी कालों में समान रूप से हैं, अतः संख्या में काल एक ही है।^{६१} यौगपद्यादि की प्रतीतियाँ सभी स्थानों में होती हैं, अतः काल व्यापक परिमाण वाला है।^{६२} एकत्व के साथ पृथक्त्व का अनुविधान अर्थात् नियत साहचर्य है। इससे काल में एकत्व के साथ पृथक्त्व की सिद्धि भी होती है।^{६३} काल और पिण्ड (अवयवी द्रव्य) का संयोग होने से काल में संयोग रूप गुण की सिद्धि होती है।^{६४} विभाग चूँकि संयोग का विनाशक है, अतः विभाग भी काल में अवश्य है।^{६५}

काल की सिद्धि में कणाद ने अनेक हेतु दिए हैं, यथा—

'अपरिस्मन्नपरं युगपच्चिरं क्षिप्रमिति काललिङ्गानि'^{६६}

अपर-पर का ज्ञान, एककालिकत्व और विभिन्नकालिकत्व तथा विलम्ब-शीघ्रता रूप विशिष्ट हेतुओं से काल को पहचाना जाता है। अर्थात् ये काल के लक्षण हैं।

स्थान विशेष से समीप-दूर, वय से छोटा-बड़ा, ऊँचाई से नाटा-लम्बा आदि अपर-पर हैं। अनेक वस्तुओं का एक काल में उत्पन्न होना एककालिकत्व और विभिन्न कालों में उत्पन्न होना विभिन्न कालिकत्व है। काल की न्यूनता व अधिकता ही शीघ्र एवं विलम्ब है। ये सभी प्रतीतियाँ काल के अभाव में नहीं होती हैं। इस प्रकार ये काल की कारणता को प्रकट करती हैं।

वैशेषिक दर्शन के अनुसार काल सभी क्रियाओं का सामान्य कारण है, ऐसा 'कारणेन कालः'^{६७} सूत्र से सिद्ध होता है। काल किसी क्रिया को उत्पन्न नहीं करता इसलिए समवायी कारण नहीं है, अतः सामान्य रूप से सभी क्रियाओं का उसे आधार या निमित्त मान सकते हैं। जैसे— वस्त्र बुनने में धागा समवायी कारण है, परन्तु वेमा उसका समवायी कारण नहीं हो सकता, वैसे ही काल किसी कर्म का समवायी कारण नहीं, निमित्त कारण हो सकता है। काल अमूर्त अर्थात् बिना रूप वाला है और क्रिया मूर्त पदार्थों में ही होती है, अमूर्त पदार्थों में नहीं। इससे सिद्ध होता है कि काल आधार या निमित्त ही है, समवायी कारण नहीं है।

न्याय दर्शन में काल

न्यायदर्शन के सूत्रकार गौतमऋषि ने कणाद की भांति काल तत्त्व को सिद्ध करने के लिए स्वतन्त्र सूत्रों की रचना नहीं की, किन्तु वे काल को स्वीकार करके चलते हैं। उदाहरणार्थ मन की सिद्धि करते हुए वे कहते हैं- 'युगपज्ज्ञानानुत्पत्तिर्मनसो लिङ्गम्'। यहाँ युगपद् शब्द काल का बोध कराता है। एक साथ या एक काल में अनेक ज्ञानों की उत्पत्ति न होना मन का साधक हेतु होता है। अक्षपाद गौतम ने प्रमेय पदार्थों में भले ही काल को पृथक् रूप से प्रतिपादित न किया हो, किन्तु वे काल को स्वीकार करते हैं। प्रसंगवश एक स्थल पर दिशा, देश, काल और आकाश की कारणता के संबंध में काल शब्द का प्रयोग भी किया है।^{६८} काल की न्याय दर्शन में वही अवधारणा है जो वैशेषिक दर्शन में है। इसलिए वैशेषिक दर्शन में जो काल के स्वरूप का वर्णन किया गया है वही न्याय दर्शन का भी समझना चाहिए।

सांख्यदर्शन में काल एवं उसकी कारणता

सांख्य दर्शन में प्रकृति और पुरुष ये दो मूल तत्त्व हैं। विस्तार से कहें तो प्रकृति के प्रधान (मूल प्रकृति), बुद्धि, अहंकार, पंचतन्मात्राएँ, पंचज्ञानेन्द्रियाँ, पंचकर्मेन्द्रियाँ, मन और पंच महाभूत ये चौबीस तत्त्व होते हैं। २५ वाँ तत्त्व पुरुष माना जाता है। इन पच्चीस तत्त्वों में कहीं भी काल का उल्लेख नहीं आया है तथापि सांख्य प्रवचन के द्वितीय अध्याय में काल का उल्लेख प्राप्त होता है- 'दिक्कालावाकाशादिभ्यः'^{६९} अर्थात् दिशा और काल आकाश प्रकृति के स्वरूप ही हैं। ये प्रकृति के गुण विशेष हैं। दिक् और काल को नित्य स्वीकार किया गया है। आकाश के विभु होने के कारण दिक् और काल भी विभु हैं। 'आकाशवत् सर्वगतश्च नित्यः' ऐसी श्रुति भी है। जो खण्ड दिक्, काल आदि के प्राप्त होते हैं, वे उपाधि संयोग आदि से आकाश से उत्पन्न होते हैं।^{७०} इस प्रकार सांख्य दर्शन में प्रकारान्तर से काल को अंगीकार किया गया है तथा उसके विभु और खण्ड दोनों स्वरूप स्वीकार किए गए हैं।

सांख्य दर्शन में तुष्टि के रूप में काल का स्वरूप प्रतिपादित किया गया है। चार प्रकार की आध्यात्मिक तुष्टियों के अन्तर्गत 'काल' को तृतीय तुष्टि माना है।^{७१} सांख्यकारिका की तत्त्वप्रभा टीका में कालतुष्टि के संबंध में कहा गया है कि साक्षात् प्रव्रज्या भी मोक्षदायिनी नहीं होती है, किन्तु काल की अपेक्षा रखकर ही विवेक ख्याति सिद्ध होती है।^{७२} युक्तिदीपिकाकार ने उपादान का सामर्थ्य होने पर भी काल की अपेक्षा को अंगीकार किया है। काल के अनुरूप ही प्राणियों में स्वाभाविक

आहार-विहार की व्यवस्था देखी जाती है। काल तुष्टि को ओघ तुष्टि भी कहा गया है। योगी काल की अपेक्षा रखकर ही कैवल्य की प्राप्ति करता है।^{१३}

योगदर्शन में काल एवं उसकी कारणता

योग दर्शन के प्रणेता महर्षि पतंजलि ने काल के संबंध में कुछ भी निरूपण नहीं किया है, किन्तु उनके द्वारा रचित योगसूत्र के तृतीय पाद के ५२वें सूत्र (क्षणतत्क्रमयोः संयमाद्विवेकजं ज्ञानम्) पर उपलब्ध व्यास भाष्य में काल का किंचित् विवेचन प्राप्त होता है। वे क्षण एवं क्रम की व्याख्या करते हुए कहते हैं कि एक परमाणु पूर्व देश (स्थान) को छोड़कर उत्तर देश को जितने समय में प्राप्त होता है, वह काल क्षण कहलाता है। इस क्षण के प्रवाह का विच्छेद न होना ही क्रम कहलाता है। क्षण वास्तविक है तथा क्रम का आधार है। क्रम अवास्तविक है क्योंकि दो क्षण कभी भी साथ नहीं रहते हैं। दो साथ में रहने वाले क्षणों का क्रम नहीं होता है। पहले वाले क्षण के अनन्तर दूसरे क्षण का होना ही क्रम कहलाता है, इसलिए वर्तमान एक क्षण ही वास्तविक है, पूर्वोत्तर क्षण नहीं। अनेक क्षणों का समाहार नहीं हो सकता। मुहूर्त, अहोरात्र आदि जो क्षण समाहार रूप व्यवहार है, वह बुद्धि कल्पित है, वास्तविक नहीं। व्यास भाष्य पर योगवार्तिककार विज्ञानभिक्षु योगमत को स्पष्ट करते हुए कहते हैं—*इदानीं क्षणातिरिक्तः कालो नास्ति मुहूर्त्तादिरूपो महाकालपर्यन्त इति...*। *क्षणेषु तत्क्रमेषु चाव्यवहितानन्तर्यरूपेषु वस्तुभूतः समाहारो मिलनं नास्ति; अतो मुहूर्त्ताहोरात्रादयो बुद्धिकल्पितसमाहार एवेत्यर्थः।* तात्पर्य यह है कि मुहूर्त से लेकर महाकाल पर्यन्त जो काल है वह बुद्धि कल्पित समाहार है, क्षण के अतिरिक्त कोई वास्तविक काल नहीं है। विभिन्न क्षणों में अव्यवहित आनन्तर्य रूप जो क्रम है, उनका वास्तविक समाहार या मिलन नहीं होता है। काल और दिक् को सांख्यदर्शन की भाँति विज्ञानभिक्षु ने आकाश से ही उपपन्न स्वीकार किया है।^{१४}

पूर्व मीमांसा में काल

यद्यपि जैमिनि ने मीमांसा सूत्र में काल तत्त्व के संबंध में कोई उल्लेख नहीं किया है।^{१५} किन्तु पार्थसारथि मिश्र की शास्त्रदीपिका पर टीका करते हुए पं. रामकृष्ण ने युक्तिस्नेहप्रपूर्णी सिद्धान्तचन्द्रिका में काल के संबंध में मीमांसक मत का प्रतिपादन करते हुए वैशेषिक दर्शन की मान्यताओं को ही स्वीकार किया है। वैशेषिक दर्शन के द्वारा मान्य काल तत्त्व के संबंध में मीमांसक मत का इतना ही भेद है कि वैशेषिकों ने जहाँ काल को परोक्ष माना है वहाँ मीमांसक मत में उसे प्रत्यक्ष माना गया है।^{१६}

वेदान्त दर्शन में काल

वेदान्त दर्शन के प्रणेता बादरायण ने काल तत्त्व के संबंध में स्पष्ट रूप से कोई उल्लेख नहीं किया है। किन्तु उस दर्शन के प्रमुख व्याख्याकार शंकराचार्य मात्र ब्रह्म को ही मूल एवं स्वतन्त्र तत्त्व स्वीकार करते हैं, अन्य स्थूल एवं जड़ जगत् को मायिक अथवा अविद्या जनित सिद्ध करते हैं। शंकराचार्य का मत अद्वैत वेदान्त के नाम से प्रसिद्ध है। इसमें एक मात्र ब्रह्म को सत् मानते हुए भी आकाश आदि पंचभूतों, सूक्ष्म शरीर, स्थूल शरीर, विज्ञानमय-मनोमय-प्राणमय कोष आदि को अज्ञान से उत्पन्न माना गया है उसी प्रकार काल को भी अज्ञान जनित मानने में कोई बाधा नहीं है, क्योंकि व्यावहारिक या प्रातिभासिक जगत् में काल का व्यवहार होता हुआ देखा गया है।

प्रलय का वर्णन करते हुए वेदान्त परिभाषा में नैमित्तिक प्रलय में काल को निमित्त बताया है-

“कार्यब्रह्मणो दिवसावसाननिमित्तकस्त्रैलोक्यमात्रप्रलयो नैमित्तिकप्रलयः
ब्रह्मदिवसश्चतुर्युगसहस्रपरिमित कालः। “चतुर्युगसहस्राणि ब्रह्मणो दिनमुच्यते।”

कार्य ब्रह्म के दिवस का अवसान होने के निमित्त से जो तीनों लोकों का प्रलय होता है, उसे वेदान्त में नैमित्तिक प्रलय माना गया है। ब्रह्म के दिवस का समय चार हजार युग परिमित माना गया है।

शुद्धाद्वैत दर्शन के ग्रन्थ प्रस्थानरत्नाकर में प्रमेय स्वरूप ब्रह्म की स्वरूप कोटि, कारण कोटि और कार्य कोटि का निरूपण करते हुए स्वरूप कोटि के अन्तर्गत काल की भी चर्चा की है। स्वरूप कोटि में अक्षर के स्वरूपान्तर में काल, कर्म और स्वभाव का निरूपण किया है। कर्म और स्वभाव को कथंचित् काल का अंशभूत बताया है। अन्तः सच्चिदानन्द को काल का वास्तविक स्वरूप एवं व्यवहार में किंचित् सत्त्व अंश से काल को प्रकट बताया है। यही काल का स्वरूप लक्षण है-
“अन्तःसच्चिदानन्दो व्यवहारो ईषत् सत्त्वांशेन प्रकटः कालः इति कालस्य स्वरूप लक्षणम्।”^{७७}

यह काल अतीन्द्रिय है एवं कार्य से अनुमित होता है।^{७८} काल का लक्षण नित्यग, सकलाश्रय और सकलोद्भव के रूप में निरूपित है।^{७९} इस काल से ही चिर-क्षिप्र आदि का व्यवहार तथा अतीत, अनागत आदि का व्यवहार उत्पन्न होता है।^{८०} इसका प्रथम कार्य सत्त्व, रजस एवं तमस गुणों में क्षोभ उत्पन्न करना है।^{८१} सूर्य आदि काल के आधिभौतिक रूप हैं, परमाणु (परमाणु उस काल को कहते हैं जितने समय

में सूर्य का रथचक्र परमाणु मात्र प्रदेश को व्याप्त करे) से लेकर द्विपरार्ध पर्यन्त काल का आध्यात्मिक रूप है तथा 'कालोऽस्मि' वाक्य से भगवान् स्वयं ही काल के आधिदैविक रूप हैं।^{८३}

व्याकरण दर्शन में काल एवं उसकी कारणाता

प्रमुख वैयाकरण भर्तृहरि ने वाक्यपदीय के तृतीय काण्ड में काल समुद्देश के अन्तर्गत काल के स्वरूप एवं भेदों पर विस्तार से विचार करते हुए कार्य में काल की निमित्त कारणाता स्वीकार की है। काल को उन्होंने अमूर्त क्रिया के परिच्छेद का हेतु प्रतिपादित किया है। जिस प्रकार मूर्त पदार्थों के परिच्छेद (मापन) के लिए द्रिष्टि (आयाम मान विशेष), प्रस्थ, सुवर्ण आदि स्वीकृत हैं उसी प्रकार काल अमूर्त क्रिया के परिच्छेद (मापन) के लिए हेतु होता है- *कालोऽमूर्तक्रियापरिच्छेदहेतुः।*^{८३} उत्पत्ति, स्थिति और विनाश क्रियाओं में तथा इन क्रियाओं से युक्त पदार्थों की उत्पत्ति आदि में काल निमित्त कारण होता है।

उपात्तौ च स्थितौ चैव विनाशो चापि तद्वताम् ।

निमित्तं कालमेवाहुर्विभक्तेनात्मना स्थितम्॥^{८४}

उत्पत्ति, स्थिति और विनाश क्रियाओं से पदार्थों की समस्त क्रियाएँ गृहीत हो जाती हैं। बसंत आदि कालों में उस ऋतु के पुष्प, कोकिलरव आदि साधन शक्तियों की प्रवृत्ति दिखाई पड़ने से उनका प्रयोजक निमित्त काल अनुमित होता है। काल से प्रेरित होकर के ही शक्तियाँ पदार्थों में जन्मादि की क्रियाएँ करती हैं।

भर्तृहरि ने परब्रह्मवाची विश्वात्मा को ही काल के रूप में निरूपित करते हुए उसे विभु या स्वतन्त्र बतलाया है।

जलयन्त्रभ्रमावेशसदृशीभिः प्रवृत्तिभिः ।

स कलाः कलयन् सर्वाः कालाख्याँ लभते विभुः॥^{८५}

जिस प्रकार कुँए से जल निकालने के लिए अरहट को घुमाया जाता है, उसी प्रकार यह विश्वात्मा काल विभिन्न प्रकार की प्रवृत्तियों (आवृत्तियों) से विभिन्न पदार्थों की अवस्थाओं को निर्मित करता है।

उत्पन्न पदार्थों की समस्त अवस्थाओं में काल का व्यापार व्यवस्थित है- *'प्रत्यवस्थं तु कालस्य व्यापारोऽत्र व्यवस्थितः।'*^{८६} काल के अनुमान में अन्य हेतु प्रस्तुत करते हुए कहा है कि घड़ा देर से बनाया गया, घड़ा शीघ्र बनाया गया, वस्त्र देर से बनाया गया, वस्त्र शीघ्र बनाया गया, इनमें सर्वत्र काल अनुगत है। जिस प्रकार

८८ जैनदर्शन में कारण-कार्य व्यवस्था : एक समन्वयात्मक दृष्टिकोण

एक तुलादंड रस्सियों से बंधे दो तुला-पात्रों में रखी वस्तु के गुरुत्व या भार का ज्ञान करा देता है उसी प्रकार काल से विभिन्न क्रियाओं का ज्ञान होता है। घट या पट के क्षिप्र या विलम्ब से निर्मित होने की एकाधिक क्रियाओं को काल विषय कर लेता है। परमात्म रूप काल अपनी माया शक्ति से विश्वरूपता को ग्रहण कर निमेषादि क्रिया के भेद से युक्त मानव क्रियाओं को चिर-अचिर आदि भावों से जानता है या ज्ञान कराता है।

वाक्यपदीय में भविष्यत्, वर्तमान और भूतकाल के अवान्तरभेदों का निरूपण करते हुए भूतकाल के पाँच, भविष्यत् के चार तथा वर्तमान के दो प्रकार बताए गए हैं।^{१७} भूतकाल के पाँच प्रकार हैं- १. भूत सामान्य २. अद्यतन भूत ३. अनद्यतन भूत ४. अद्यतन-अनद्यतन समुदाय भूत ५. भविष्यत् अद्यारोपित भूत। भविष्यत्काल के चार प्रकार हैं- १. सामान्य २. अद्यतन ३. अनद्यतन ४. अद्यतन-अनद्यतन समुदाय। वर्तमान काल दो प्रकार का है- १. मुख्य वर्तमान २. अमुख्य वर्तमान।

जैन ग्रन्थों में कालवाद की चर्चा

आगम एवं उनकी टीकाओं में कालवाद के तत्त्व-

जैनागमों में कालवाद का स्पष्ट उल्लेख नहीं है, किन्तु सूत्रकृतांग में 'जगत्-कर्तृत्ववाद' का कथन करते हुए उस समय प्रचलित मान्यताओं का संकेत किया गया है, जिसमें व्याख्याकारों ने कालवाद का समावेश स्वीकार किया है-

“ईसरेण कडे लोए, पहाणाति तहावरे।

जीवाऽजीवसमाउत्ते, सुह-दुखसमन्नि॥”

अर्थात् जीव-अजीव से व्याप्त और सुख-दुःख से युक्त यह लोक ईश्वर का बनाया हुआ है तथा दूसरे कहते हैं कि यह लोक प्रधान आदि के द्वारा कृत है।

उपर्युक्त गाथा के 'पहाणाति' शब्द में निहित भावों को शतावधानी पं. पुनि श्री रतनचन्द्र जी महाराज ने अपनी पुस्तक 'सृष्टिवाद और ईश्वर' में इस प्रकार व्यक्त किया है-

“‘पहाणाति’ में आदि शब्द से काल, स्वभाव, यदृच्छा और नियति इन चारों को ग्रहण किया गया है। क्योंकि उस समय ईश्वरवाद के साथ कालवाद, स्वभाववाद, यदृच्छावाद और नियतिवाद भी प्रचलन में थे और जनता में ये अपना प्रभुत्व स्थापित कर चुके थे।”^{१८}

सूत्रकृतांग में ही विभिन्न परमतावलम्बियों को क्रियावाद, अक्रियावाद, विनयवाद और अज्ञानवाद के रूप में विभक्त किया गया है-

चत्तारि समोसरणाणीमाणि, पावदुया जाइं पुढो वयंति।

किरियं अकिरियं विणायं ति तइयं, अण्णाणमाहंसु चउत्थमेव।।^{१०}

सूत्रकृतांग की निर्युक्ति में इन मतवादों के भेदों का उल्लेख करते हुए कहा है-

असिइसयं किरियाणं अकिरियवाईण होइ चुलसीई।

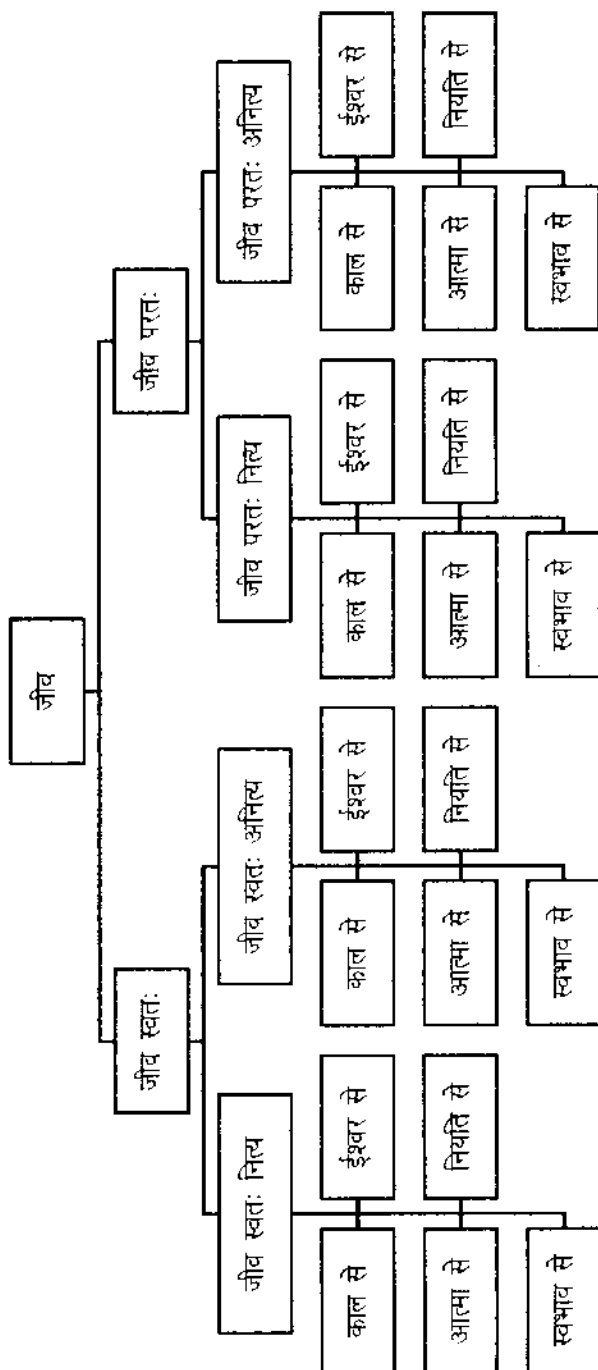
अन्नाणि अ सतट्ठी वेणइयाणं च नत्तीसं।।^{११}

अर्थात् क्रियावादियों के १८०, अक्रियावादियों के ८४, अज्ञानवादियों के ६७ और विनयवादी के ३२ प्रकार होते हैं। आगम-टीकाकारों ने इन मतावलम्बियों के भेदों का विस्तार से कथन किया है, जिनमें क्रियावादियों के १८० भेदों में कालवाद, ईश्वरवाद, आत्मतत्त्ववाद, नियतिवाद एवं स्वभाववाद का तथा अक्रियावादियों के ८४ भेदों में कालवाद आदि पाँचवादों के अतिरिक्त यदृच्छावाद का भी समावेश हुआ है। अज्ञानवादियों एवं विनयवादियों के भेदों में काल आदि का उल्लेख नहीं है। यहाँ पर इन विभिन्न मतवादियों के भेदों का संक्षेप में उल्लेख किया जा रहा है-

क्रियावाद आदि चार मत

क्रियावादी- जो क्रिया अर्थात् जीवादि पदार्थों के अस्तित्व को स्वीकार करते हैं वे क्रियावादी हैं। मरीचि कुमार, कपिल, उलूक, माठर आदि ऐसे क्रियावादी हैं।^{१२} सूत्रकृतांग की टीका में शीलाकाचार्य ने जीवादि पदार्थों के सद्भाव को निश्चित रूप से स्वीकार करने वाले को क्रियावादी कहा है।^{१३} अभयदेव सूरि ने स्थानांग वृत्ति में क्रियावादियों के लिए 'आस्तिक' शब्द का भी प्रयोग किया है।^{१४} भगवती सूत्र की वृत्ति में अभयदेव सूरि ने क्रियावादी के दो अन्य लक्षण देते हुए कहा है- १. कर्ता के बिना क्रिया नहीं होती है तथा क्रिया आत्मा में समवाय संबंध से रहती है, ऐसा कहने वाले क्रियावादी हैं। २. क्रियावादी क्रिया को प्रधान मानते हैं तथा ज्ञान की उपेक्षा करते हैं।^{१५}

क्रियावादियों ने जीव-अजीव आदि ९ तत्त्वों को स्वतः-परतः और नित्य-अनित्य के आधार से कालवाद, ईश्वरवाद, आत्मवाद, नियतिवाद और स्वभाववाद में विभक्त कर १८० भेद निरूपित किए हैं।^{१६} वे इस प्रकार हैं-



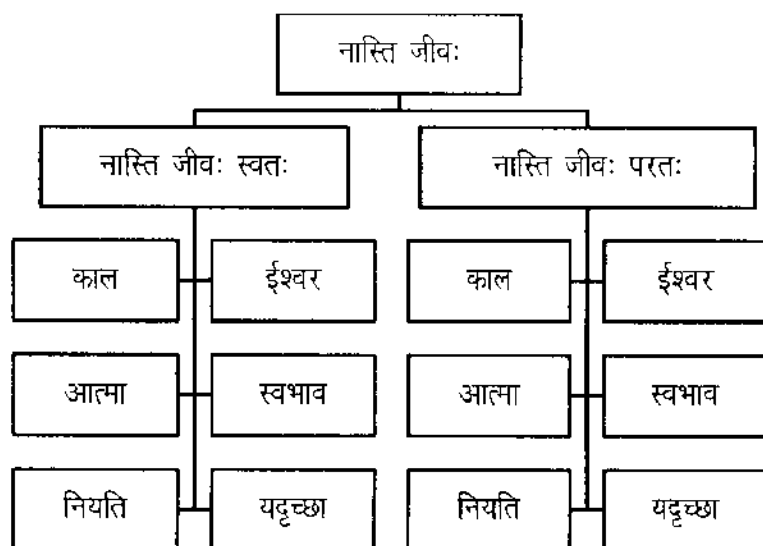
जीव के २० भेद-

१. जीव स्वतः नित्य काल से	२. जीव परतः नित्य काल से
३. जीव स्वतः नित्य ईश्वर से	४. जीव परतः नित्य ईश्वर से
५. जीव स्वतः नित्य आत्मा से	६. जीव परतः नित्य आत्मा से
७. जीव स्वतः नित्य नियति से	८. जीव परतः नित्य नियति से
९. जीव स्वतः नित्य स्वभाव से	१०. जीव परतः नित्य स्वभाव से
११. जीव स्वतः अनित्य काल से	१२. जीव परतः अनित्य काल से
१३. जीव स्वतः अनित्य ईश्वर से	१४. जीव परतः अनित्य ईश्वर से
१५. जीव स्वतः अनित्य आत्मा से	१६. जीव परतः अनित्य आत्मा से
१७. जीव स्वतः अनित्य नियति से	१८. जीव परतः अनित्य नियति से
१९. जीव स्वतः अनित्य स्वभाव से	२०. जीव परतः अनित्य स्वभाव से

इस प्रकार जीव के २० भेद हुए। इसी प्रकार अजीव, आस्रव, बंध, संवर, निर्जर, पुण्य, पाप तथा मोक्ष के भी २० भेद होकर क्रियावादी के कुल $20 \times 9 = 180$ भेद होते हैं।

अक्रियावादी- जीवादि पदार्थ नहीं हैं ऐसा कहने वाले अक्रियावादी हैं।^{१७} किसी भी एक क्षण रहने वाले पदार्थ में क्रिया संभव नहीं है, क्योंकि उत्पत्ति के अनन्तर ही उसका विनाश हो जाता है। इस प्रकार निरूपण करने वाले अक्रियावादी हैं। ये आत्मा आदि का अस्तित्व स्वीकार नहीं करते। अक्रियावादियों में क्रोकुल, काण्ठेविद्धि, रोमक, सुगत आदि प्रमुख हैं।^{१८} स्थानांग सूत्र की वृत्ति में अभयदेवसूरि ने अक्रियावादियों को नास्तिक कहा है।^{१९} भगवती सूत्र की वृत्ति में अभयदेव सूरि ने बौद्धों को अक्रियावादी बताते हुए स्पष्ट किया है कि उनके मत में क्रिया का कोई महत्त्व नहीं है, चित्त शुद्धि ही प्रमुख है।^{२०}

अक्रियावादी पुण्य-पाप को छोड़कर जीवादि सात पदार्थों को स्व-पर के आधार से काल, ईश्वर, आत्मा, नियति, स्वभाव और यदृच्छा इन छह से गुणित कर चौरासी भेद करते हैं।^{२१} जो निम्न हैं-



नास्ति जीव के १२ भेद-

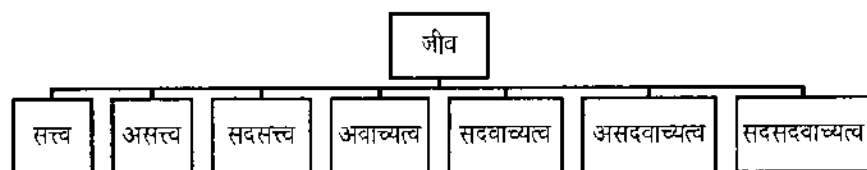
१. नास्ति जीव स्वतः काल से	२. नास्ति जीव परतः काल से
३. नास्ति जीव स्वतः ईश्वर से	४. नास्ति जीव परतः ईश्वर से
५. नास्ति जीव स्वतः आत्मा से	६. नास्ति जीव परतः आत्मा से
७. नास्ति जीव स्वतः स्वभाव से	८. नास्ति जीव परतः स्वभाव से
९. नास्ति जीव स्वतः नियति से	१०. नास्ति जीव परतः नियति से
११. नास्ति जीव स्वतः यदृच्छा से	१२. नास्ति जीव परतः यदृच्छा से

ये जीव के १२ भेद हुए। इसी प्रकार अजीव, आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा तथा मोक्ष के भी १२ भेद मिलाकर $७ \times १२ = ८४$ भेद होते हैं।

अज्ञानवादी- कुत्सित ज्ञान को अज्ञान कहते हैं। अज्ञान को भी श्रेयस्कर समझने वाले अज्ञानिक व अज्ञानवादी कहलाते हैं अथवा अज्ञानपूर्वक जिनका आचरण होता है, वे अज्ञानी कहलाते हैं। इनका मन्तव्य है कि अज्ञानपूर्वक किया गया कर्मबंध विफल हो जाता है। जबकि ज्ञानपूर्वक किये गए कर्मबंध का विपाक दारुण होता है एवं अवश्य वेदन करने योग्य होता है। अज्ञानवादियों में शाकल्य, सात्यमुनि, मौद, पिप्पलाद, बादरायण, जैमिनि, वसु आदि की गणना की गई है।^{१०२} पूज्यपाद देवनन्दि ने हिताहित की परीक्षा में असमर्थ होने को अज्ञानिकता कहा है।^{१०३}

अज्ञानवादियों का मन्तव्य है कि ज्ञान श्रेयस्कर नहीं है, क्योंकि ज्ञान ही विरुद्ध प्ररूपणा एवं विवाद आदि को उत्पन्न करके चित्त को कलुषित करता है जिससे संसार में अधिक समय तक परिभ्रमण करना पड़ता है जबकि अज्ञान का आश्रय लेने पर अहंकार की उत्पत्ति नहीं होती और न ही दूसरों के प्रति कलुषित भाव उत्पन्न होता है।^{१०४}

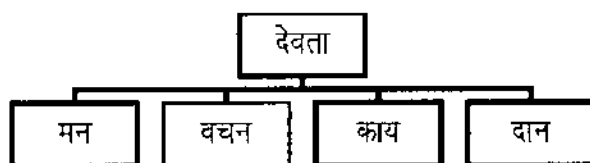
अज्ञानवादी जीवादि नवतत्त्वों के सत्त्व-असत्त्वादि सात भेद तथा उत्पत्ति के चार भेद मानते हुए कुल ६७ भेद स्वीकार करते हैं।^{१०५}



जीव के इन ७ भेदों के समान ही अजीव, आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा, पुण्य, पाप तथा मोक्ष के भी ७-७ भेद होने से $7 \times 7 = 49$ भेद होते हैं। उत्पत्ति के सत्, असत्, सदसत्त्व, अवाच्यत्व इन चार भेदों को मिलाकर ६७ भेद बनते हैं।

विनयवादी- जो मात्र विनय से ही स्वर्ग या मोक्ष की अभिलाषा रखते हैं, वे मिथ्यादृष्टि विनयवादी हैं।^{१०६} इनका वेध, आचार तथा शास्त्र निश्चित नहीं है।^{१०७} पूज्यपाद देवनन्दि ने सभी देवों और सभी सिद्धान्तों के प्रति समदृष्टि रखने वालों (समान समझने वालों) को वैनयिक कहा है।^{१०८} शीलाकाचार्य ने विनय से मोक्ष मानने वाले गोशालक मत के अनुयायियों को वैनयिक कहा है।^{१०९} जबकि षड्दर्शनसमुच्चय की टीका में गुणरत्नसूरि ने वशिष्ठ, पराशर, वाल्मिकि, व्यास, इलापुत्र, सत्यदत्त आदि को वैनयिक बताया है।^{११०} सबके प्रति विनय करने के कारण ये सत्-असत् में या श्रेय-अश्रेय भेद नहीं करते।

विनयवादी ने देवता, राजा, साधु आदि आठों के मन, वचन, काय और देश- कालानुसार दान रूपी चार भेद करते हुए कुल बत्तीस भेद माने हैं।^{१११}



देवता के समान ही राजा, साधु, ज्ञाति, वृद्ध, अधम, माता तथा पिता इन आठों के भेद होने से कुल $८ \times ४ = ३२$ भेद होते हैं।

परवादियों के इन ३६३ भेदों में से कालवाद की मान्यता को प्रतिपादित करने वाले निम्न भेद उभरकर आते हैं-

क्रियावादियों और अक्रियावादियों में कालवाद के भेद

क्रियावादियों में

१. जीव स्वतः नित्य काल से

३. जीव परतः नित्य काल से

५. अजीव स्वतः नित्य काल से

७. अजीव परतः नित्य काल से

९. आस्रव स्वतः नित्य काल से

११. आस्रव परतः नित्य काल से

१३. बन्ध स्वतः नित्य काल से

१५. बन्ध परतः नित्य काल से

१७. संवर स्वतः नित्य काल से

१९. संवर परतः नित्य काल से

२१. निर्जरा स्वतः नित्य काल से

२३. निर्जरा परतः नित्य काल से

२५. पुण्य स्वतः नित्य काल से

२७. पुण्य परतः नित्य काल से

२९. पाप स्वतः नित्य काल से

३१. पाप परतः नित्य काल से

३३. मोक्ष स्वतः नित्य काल से

३५. मोक्ष परतः नित्य काल से

२. जीव स्वतः अनित्य काल से

४. जीव परतः अनित्य काल से

६. अजीव स्वतः अनित्य काल से

८. अजीव परतः अनित्य काल से

१०. आस्रव स्वतः अनित्य काल से

१२. आस्रव परतः अनित्य काल से

१४. बन्ध स्वतः अनित्य काल से

१६. बंध परतः अनित्य काल से

१८. संवर स्वतः अनित्य काल से

२०. संवर परतः अनित्य काल से

२२. निर्जरा स्वतः अनित्य काल से

२४. निर्जरा परतः अनित्य काल से

२६. पुण्य स्वतः अनित्य काल से

२८. पुण्य परतः अनित्य काल से

३०. पाप स्वतः अनित्य काल से

३२. पाप परतः अनित्य काल से

३४. मोक्ष स्वतः अनित्य काल से

३६. मोक्ष परतः अनित्य काल से

अक्रियावादी में

१. नास्ति जीव स्वतः काल से	२. नास्ति जीव परतः काल से
३. नास्ति अजीव स्वतः काल से	४. नास्ति अजीव परतः काल से
५. नास्ति आस्रव स्वतः काल से	६. नास्ति आस्रव परतः काल से
७. नास्ति बंध स्वतः काल से	८. नास्ति बंध परतः काल से
९. नास्ति संवर स्वतः काल से	१०. नास्ति संवर परतः काल से
११. नास्ति निर्जरा स्वतः काल से	१२. नास्ति निर्जरा परतः काल से
१३. नास्ति मोक्ष स्वतः काल से	१४. नास्ति मोक्ष परतः काल से

क्रियावादियों में कालवाद के उपर्युक्त ३६ प्रकारों तथा अक्रियावादियों में १४ प्रकारों से यह स्पष्ट होता है कि काल को आधार बनाकर चिन्तन की परम्परा प्राचीन रही है। नन्दीसूत्र पर मलयगिरि की अवचूरि, स्थानांगसूत्र पर अभयदेवसूरि की टीका एवं हरिभद्रसूरि के षड्दर्शनसमुच्चय पर गुणरत्नसूरि की टीका के आधार पर प्रदत्त कालवाद के उपर्युक्त भेद 'कालवाद' की भारतीय परम्परा में गहरी जड़े होने के संकेत करते हैं।

आगम-टीकाओं में कालवाद का स्वरूप

आगम-टीकाओं में प्रकाशित कालवाद के स्वरूप पर विचार किया जा रहा है। शीलांकाचार्य आचारांग सूत्र की टीका में कहते हैं-

“कालात् इति काल एव विश्वस्य स्थित्युत्पत्तिप्रलयकारणम्। उक्तं च- 'कालः पचति भूतानि कालः संहरते प्रजाः। कालः सुप्तेषु जागर्ति कालो हि दुरतिक्रमः।' स चातीन्द्रियः युगपच्चिरक्षिप्रक्रियाभिव्यङ्ग्यो हिमोष्णवर्षाव्यवस्थाहेतुः क्षणलवमुहूर्तयामाहोरात्रमासर्तु-अयन- संवत्सर- युगकल्पपल्योपमसागरोपमोत्सर्पिण्य- वसर्पिणीपुद्गलपरावर्ततीतानागत- वर्तमानसर्वाद्वादिष्ववहाररूपः।”^{१११}

काल ही विश्व की स्थिति-उत्पत्ति-प्रलय में कारण है। कहा गया है- काल भूतों को पकाता है, काल प्रजा का संहार करता है। सभी के सोने पर भी काल जागता है, क्योंकि काल अतिक्रमणीय नहीं है। वह (काल) अतीन्द्रिय है, युगपत्-चिर-क्षिप्र क्रियाओं से अभिव्यंजित होता है। सर्दी, गर्मी और वर्षा की व्यवस्था का हेतु है। क्षण, लव, मुहूर्त, याम, अहोरात्र, मास, ऋतु, अयन (६ मास), वर्ष, युग, कल्प, पल्योपम,

सागरोपम, उत्सर्पिणी, अवसर्पिणी, पुद्गल-परावर्तन, अतीत, अनागत, वर्तमान, सर्व अद्वादि काल व्यवहार रूप हैं।

नन्दीसूत्र के टीकाकार मलयगिरि ने कालवाद को इस प्रकार स्पष्ट किया है-

“कालवादिनश्च नाम ते मन्तव्या ये कालकृतमेव सर्वं जगत् मन्यन्ते। तथा च ते आहुः- न कालमन्तरेण चम्पकाशोकसहकारादिवनस्पति-कुसुमोद्गमफलबन्धादयो हिमकणानुषक्तशीतप्रपातनक्षत्रगर्भाधानवर्षादयो वा ऋतुविभागसंपादिता बालकुमारयौवनवलिपलितगमादयो वाऽवस्थाविशेषा घटन्ते, प्रतिनियतकालविभाग एव तेषामुपलभ्यमानत्वात्, अन्यथा सर्वमव्यवस्था भवेत् न चैतद् दृष्टमिष्टं वा। अपि च मुद्रपक्तिरपि न कालमन्तरेण लोके भवन्ती दृश्यते। किंतु कालक्रमेण अन्यथा स्थाली-धनादिसामग्रीसंपर्कसंभवे प्रथमसमयेऽपि तस्याभावप्रसंगो न च भवति, तस्मात् यत्कृतकं तत्सर्वं कालकृतं इति।”^{११३}

कालवादी वे हैं- जो समस्त जगत् को कालकृत ही मानते हैं। वे कहते हैं कि चंपक, अशोक, सहकार आदि वनस्पति, फूलों का लगना, फलों का पकना, हिमकण संयुक्त शीत का पड़ना, नक्षत्रों का घूमना, गर्भ का धारण करना, वर्षा का होना- यह सब काल के बिना नहीं होते हैं। षट् ऋतुओं में होने वाली अवस्थाएँ तथा बाल, युवा एवं वृद्ध आदि की अवस्थाएँ भी बिना काल के संभव नहीं होती हैं। प्रतिनियत काल में ही उन-उन घटनाओं या अवस्थाओं की प्राप्ति होती है, इन सबका काल ही नियंता है। काल को नियंता नहीं मानेंगे तो किसी भी वस्तु की ठीक व्यवस्था नहीं हो सकेगी, जो कि दृष्ट एवं इष्ट नहीं है। यदि कोई पुरुष मूंग रांधता है तो वे भी बिना काल के नहीं रांधे जाते हैं, अन्यथा हांडी, ईंधनादि सामग्री के संयोग से प्रथम समय में ही मूंग रांध जाते। इसलिए जो कुछ होता है, वह कालकृत ही है।

सिद्धसेनसूरि, हरिभद्रसूरि आदि के ग्रन्थों में कालवाद

आगम के अतिरिक्त अन्य जैन दार्शनिक ग्रन्थों में भी कालवादियों के संबंध में उल्लेख प्राप्त होता है। पाँचवीं शती के आचार्य सिद्धसेन ने ‘सम्प्रतिर्तक प्रकरण’ में विभिन्न वादों का जो एकान्त मान्यता के पोषक थे, उपस्थापन किया है तथा भगवान् महावीर द्वारा स्थापित तत्त्वदर्शनों के समन्वयक अनेकान्त सिद्धान्त के माध्यम से इन विभिन्न मतों को एकता के सूत्र में पिरोने का सफल प्रयास किया है। अनेकांत दृष्टि से इन ऐकान्तिक वादों का समन्वय होकर नया रूप पाठकों के समक्ष प्रस्तुत हुआ है। इसी शृंखला में उन्होंने कार्य-कारण की भेदाभेदात्मकता की चर्चा करते हुए ‘कारणपंचक’ का प्रतिपादन किया है-

कालो सहाव णियई पुव्वकयं पुरिसे कारणेगंता।

मिच्छन्तं ते चेव उ समासओ हुंति सम्मत्तं॥

इसमें काल, स्वभाव, नियति, पूर्वकृत कर्म एवं पुरुषार्थ का एकान्त रूप मिथ्या तथा समवाय रूप सम्यक् कहा है।^{११४} इस काल रूपी कारण की एकान्त मान्यता ही कालवाद है। इस ग्रन्थ पर टीका करते हुए अभयदेवसूरि ने कालवाद आदि की मान्यताओं का विस्तार से निरूपण कर उसका विभिन्न तर्कों से खण्डन किया है।

शास्त्रवार्ता समुच्चय में दार्शनिक हरिभद्र सूरि (आठवीं शती) ने अन्य मतों की चर्चा का प्रारम्भ करते हुए कहा है- “कालादीनां च कर्तृत्वं मन्यन्तेऽन्ये प्रवादिनः”^{११५} कालवादी, स्वभाववादी आदि अन्य मतावलम्बी काल, स्वभाव आदि को असाधारण रूप से कार्य का हेतु या कारण स्वीकार करते हैं। कालवाद को पुष्ट करने वाले विभिन्न श्लोक यहाँ प्रस्तुत हैं^{११६} -

न कालव्यतिरेकेण गर्भकालशुभादिकम्।

यत्किञ्चिज्जायते लोके तदसौ कारणं किला॥५३॥

किञ्च कालाद्वते नैव मुद्रपक्वितरपीक्ष्यते।

स्थाल्यादिसंनिधानेऽपि ततः कालादसौ मता॥५५॥

कालाभावे च गर्भादि सर्वं स्यादव्यवस्थया।

परेष्टहेतुसद्भावमात्रादेव तदुद्भवात्॥५६॥

गर्भ का प्रसव और शुभ-अशुभ आदि अर्थात् स्वर्ग नरकादि सभी काल की अपेक्षा रखते हैं। लोक में घटादि जो कुछ भी होता है वह काल से अतिरिक्त नहीं होता यानी यह काल ही निश्चित रूप से कारण है॥५३॥ स्थाली (तपेली) और अग्नि का संयोग होने पर भी मूंग की दाल का परिपाक उचित काल आने तक नहीं होता। अतः मूंग-पाक किसी अन्य हेतु से उत्पन्न न होकर केवल काल से ही उत्पन्न होता है॥५५॥ कालविरोधी परमतावलम्बी सन्तानोत्पत्ति में माता-पिता के संयोग मात्र को ही कारण स्वीकार करेंगे तो तत्काल सन्तान के जन्म का प्रसंग उत्पन्न हो जायेगा। अतः काल के कार्य का असाधारण कारण मानना उचित है।

कालवाद को पद्य के रूप में आधुनिक कालीन आचार्य तिलोकऋषि ने इस प्रकार प्रस्तुत किया है-

कालवादी कहे कालवश है सकल द्रव्य,
 काल ही तें नहीं होत पूत मात तात को।
 नारी गर्भ धरे पुनि कालतें प्रसवें पुत्र,
 काल ही तें बोले चाले काल करे बात को।
 कालथी जवान बय काल ही तें बुद्ध होय,
 कालही ते मरजात नाश होय गात को।
 काल ही ते नरक तिर्यच नर सुरगत,
 काल ही ते मरकर भ्रमे जात जात को।
 काल ही ते सरपिणी उतसरपिणी काल,
 काल ही ते आराही को भाव भांत-भांत को।
 काले जिन चक्रवर्ती वासुदेव बलदेव,
 बेहु रीत काल चक्र भिन्न दिन रात को।^{११७}

जैन दार्शनिकों द्वारा कालवाद का उपस्थापन एवं निरसन

मल्लवादी क्षमाश्रमण द्वारा उपस्थापन एवं निरसन

मल्लवादी क्षमाश्रमण (५वीं शती) ने द्वादशारनयचक्र के द्वितीय अर में कालवाद की चर्चा की है। उन्होंने 'विधिविधि' नामक इस अर में मीमांसक मत वेद के अप्रामाण्य असत्कार्यवाद आदि का प्रतिपादन करने के अनन्तर नियतिवाद, कालवाद, स्वभाववाद आदि का निरूपण किया है। नियतिवाद का खण्डन करते हुए उन्होंने कालवाद को उपस्थापित किया है।

कालवाद का उपस्थापन- चेतन, अचेतन, पृथ्वी, उदक, अग्नि, पवन, वनस्पति आदि पदार्थ अनादि अनन्त रूप से वर्तन करते हैं। उनका कलनात्मक स्वरूप भूयः भूयः परिवर्तित होता है। अतीत-अनागत और वर्तमान स्वरूप वाला एक कूटस्थ नित्य लक्षण युक्त कलनात्मक कारण काल है। इसे ध्रुवादि सर्व नित्य लक्षण भी कहा है। यह कलन दो प्रकार का है- एक तो हमारे जैसे असर्वज्ञों के लिए है, जो अनुमान मात्र से गम्य है एवं पर्याय मात्र से अविविक्त रूप में जाना जाता है। जिस प्रकार बिना नाप के कोष्ठागार में भरे हुए धान्य के संबंध में कहा जाय कि यह धान्य एक लाख घड़े जितना होगा, इसी प्रकार हमारे द्वारा वह काल अतीत, अनागत और वर्तमान के

वर्तन से जाना जाता है। कलन का दूसरा स्वरूप सर्वज्ञों के लिए है जो प्रत्येक समय में होने वाली वर्तना को जानता है।^{११८}

वह काल वर्तना स्वरूप समानाधिकरण से युक्त होता हुआ, वर्तना स्वरूप सामान्य को नहीं त्यागता हुआ भूत-वर्तमान और भविष्य नामक व्यपदेश को प्राप्त करता है।^{११९}

वर्तना के अबाधित होने से एवं व्यापक होने से अन्य कारण की अपेक्षा नहीं है। बिना दूसरे कारण के स्वयं काल ही कार्य-कारण वृत्ति से परिवर्तन करने में समर्थ है। यह काल वृत्ति अनादि है। अनादि वर्तना के कारण यौगपद्य एवं क्रम दोनों घटित होते हैं। पृथ्वी, अम्बु, वायु, आकाश, पुरुष आदि युगपत् (एक साथ) मिलकर लोक कहलाते हैं एवं ये अनादि हैं। इस प्रकार इनमें युगपद् भाव है। इनकी प्रतिसमय होने वाली पर्याय क्रम से होती है। इसलिए इनमें क्रमभाव भी है।

एकान्त कालवाद को प्रस्तुत करते हुए मल्लवादी क्षमाश्रमण ने कहा है-

काल एव हि भूतानि, कालः संहारसम्भवौ।

स्वप्नपि स जागर्ति कालो हि दुरतिक्रमः।।^{१२०}

काल ही भूतों के रूप में वर्तन करता है, उत्पत्ति और संहार की क्रियाएँ भी काल में होती हैं। वह काल सोता हुआ जागता है, काल का अतिक्रमण नहीं किया जा सकता।

कालवाद का निरसन- त्रिकाल कूटस्थ काल में परमार्थतः कारण-कार्य का विभाग नहीं हो सकता। कारण-कार्य का विभाग नहीं होने से सामान्य एवं विशेष व्यवहार का अभाव रहता है। व्यवहार का प्रत्याख्यान होने पर अर्थात् काल से सामान्य-विशेष का व्यवहार न होने पर काल के अस्तित्व का अनुमान नहीं हो सकता। जिस प्रकार पूर्व-पर आदि कारण-कार्य के व्यवहार का अभाव होने से नियति संभव नहीं होती, इसी प्रकार व्यवहार का अभाव होने से काल को भी कारण नहीं माना जा सकता।^{१२१}

हरिभद्रसूरि द्वारा उपस्थापन एवं खण्डन

शास्त्रवार्ता समुच्चय में हरिभद्रसूरि (८वीं शती) ने प्रसंगवश अन्यमतों की चर्चा करते हुए एकान्त कालवाद आदि मान्यताओं का उपस्थापन कर उसका खण्डन किया है। यहाँ कालवाद का मण्डन एवं खण्डन अभिप्रेत है-

कालवाद का उपस्थापन- गर्भ का जन्म उचित काल के अभाव में नहीं होता है। जो यह कहते हैं कि गर्भ के जन्म में गर्भ की परिणत अवस्था ही कारण है तो यह ठीक नहीं है, क्योंकि अपरिणत गर्भ का जन्म भी देखा जाता है। शीत, उष्ण, वर्षा आदि उपाधिभूत काल भी उचित काल में ही होते हैं क्योंकि इन उपाधिभूत कालों के प्रति भी काल ही कारण है। अतः शीतसमय में ग्रीष्म एवं वर्षाकाल या ग्रीष्मकाल में शीत एवं वर्षाकाल नहीं होता है।^{१२२}

स्वर्ग या नरक भी समय आने पर ही प्राप्त होता है। यह आदि कर्म सम्पन्न हो जाने पर भी स्वर्ग उसी समय नहीं होता, किन्तु योग्यकाल उपस्थित होने पर ही होता है। इसी प्रकार घट आदि कार्य भी दण्ड आदि कारण के रहते हुए भी योग्यकाल के उपस्थित हुए बिना नहीं उत्पन्न होते। इसलिए यह सत्य है कि काल ही सबका कारण है, 'काल से भिन्न पदार्थ भी कार्य का कारण होता है' यह असत्य है क्योंकि काल से अन्य पदार्थ अन्यथासिद्ध हो जाते हैं।^{१२३} जैसे स्थाली और अग्नि का विलक्षण संयोग आदि का सन्निधान होने पर भी मूंग की दाल का परिपाक उस समय तक नहीं होता जब तक उसका कारणभूत काल उपस्थित नहीं हो जाता।^{१२४} अतः काल कार्य के प्रति अवश्यक्लृप्त नियत पूर्ववर्ती है, इसलिए एकमात्र वही कार्य का कारण है। कारण कहे जाने वाले अन्य पदार्थ अवश्यक्लृप्त-नियतपूर्ववर्ती काल से भिन्न होने से अन्यथासिद्ध है।^{१२५}

काल को कार्य का यदि असाधारण कारण न माना जाएगा तो गर्भ आदि सभी कार्यों की उत्पत्ति अव्यवस्थित हो जाएगी, क्योंकि अन्यहेतुवादी की दृष्टि में गर्भ के हेतु माता-पिता आदि हैं। अतः उनका सन्निधान होने पर तत्काल ही गर्भ के जन्म की आपत्ति होगी।^{१२६}

कोई शंका करता है कि केवल काल ही यदि सब कार्यों का कारण हो तो एक कार्य की उत्पत्ति के समय सभी कार्यों की उत्पत्ति होगी। क्योंकि एक कार्य को उत्पन्न करने के लिए जो काल सन्निहित होगा वही सब कार्यों का कारण है। अतः उसके सन्निधान से जब एक कार्य उत्पन्न होगा तो अन्य कार्यों के प्रति उस काल से भिन्न किसी कारण के अपेक्षणीय न होने से उसी समय सभी कार्यों की उत्पत्ति अनिवार्य हो जाएगी।^{१२७}

इस आपत्ति के परिहारार्थ नव्य कालवादी तार्किक तत्तत् कार्य के प्रति तत्तत् उपाधिविशिष्ट काल को कारण मानते हैं। वे कालवाद की रक्षा करते हुए कहते हैं कि क्षण स्वयं अतिरिक्त काल है। क्षण को स्वतंत्र काल मान लेने पर कार्य-कारण भाव मानना संभव हो जाता है। वर्तमान क्षण में रहने वाले कार्य में पूर्व क्षण कारण

होता है इसी प्रकार वर्तमान क्षण के कार्य में पूर्व क्षण को कारण माना जाता है। इदानीम् क्षणः इस प्रतीति से कालिक आधार-आधेय भाव की सिद्धि होती है। अतः इस कार्य-कारण भाव के अनुसार तत्क्षण (वर्तमान क्षण) का पूर्वक्षण तत्क्षण का भी कारण हो जाता है।^{१२८}

खाण्डन- यदि अन्य कारणों से निरपेक्ष केवल काल से कार्योत्पत्ति स्वीकार की जाएगी तो अमुक कार्य की उत्पत्ति के समय में अन्य सभी कार्यों की भी उत्पत्ति की आपत्ति होगी। साधक कारण के सद्भाव तथा बाधक कारण के अभाव होने पर कार्योत्पत्ति सर्वत्र दृष्टिगोचर होती है। काल मात्र ही सभी कार्यों का साधक कारण है, ऐसा कालवादी मानते हैं। काल की एकान्त कारणता स्वीकार करने के कारण किसी विशिष्ट कार्योत्पत्ति के साथ अन्य कार्योत्पत्ति का प्रसंग भी उपस्थित हो जाता है। बाधक कारणों की रिक्तता से अन्य कार्यों की अनुत्पत्ति में कोई युक्ति प्रतीत नहीं होती है।^{१२९}

इसके निवारणार्थ 'तत्क्षणवृत्तिकार्ये तत्पूर्वक्षणहेतुत्वाभिधानाद्' हेतु दिया जाता है। जिसका तात्पर्य है कि तत्क्षणवृत्तिकार्य के प्रति तत्क्षण का पूर्वक्षण कारण है। यह हेतु भी उचित नहीं है क्योंकि जब कालमात्र ही कारण माना जाएगा तब सभी कार्यों में तत्क्षणवृत्तित्व की आपत्ति होगी। इस प्रकार एक ही कारण से विभिन्न प्रकार के कार्यों का विभिन्न समयों में उत्पन्न होना संभव नहीं है।^{१३०}

एकमात्र काल को कारण मानना उचित नहीं है, क्योंकि काल के समान होने पर भी कार्य समान नहीं देखा जाता। इसलिए विचक्षण पुरुषों के द्वारा अन्य हेतु को अपेक्षित माना जाता है।^{१३१} काल को ही कारण मानने पर जहाँ मिट्टी नहीं है, वहाँ भी घड़े की उत्पत्ति होगी अर्थात् तन्तु आदि से भी घट की उत्पत्ति होने लगेगी। इसलिए काल के साथ देश आदि की भी नियामकता माननी चाहिए। किन्तु देश आदि को कारण मानने पर कालवाद का सिद्धान्त खण्डित हो जाता है। घट यदि काल मात्र से जन्य माना जाएगा तो मृद् से अजन्य होने के कारण मिट्टी में भी उसकी अवृत्ति हो जाएगी क्योंकि यह व्याप्ति है- जो जिससे जन्य नहीं होता वह उसमें अवृत्ति होता है।^{१३२} घट में मृद् अवृत्तित्व का आपादक मृद् अजन्यत्व है इसका तात्पर्य है कि घट मृद् से नहीं बना है जबकि घड़ा मिट्टी से बनता हुआ देखा जाता है। इस प्रकार काल अन्य कारणों से निरपेक्ष होकर कार्य का जनक नहीं होता।

शीलांकाचार्य द्वारा उपस्थापित पूर्वपक्ष एवं उसका खाण्डन

शीलांकाचार्य (९-१०वीं शती) ने सूत्रकृतांग की टीका में कालवाद की मान्यता को स्थापित कर उसका निराकरण किया गया है-

कालवाद का पूर्वपक्ष- काल के बिना चम्पक, अशोक, सहकार आदि वनस्पतियों में कुसुमोद्गम, फलबन्ध आदि नहीं होते। ऋतु-विभाग से ही हिम-कणों से युक्त शीत का प्रपात होता है, नक्षत्रों का परिवर्तन होता है, वर्षा गर्भाधान आदि कार्य सम्पन्न होते हैं। प्रतिनियत काल विभाग में ही बाल्य, कौमार्य, यौवन और वृद्धावस्थाओं का आगमन होता है। इस प्रकार काल से ही समस्त व्यवस्था संभव होती है, यही नहीं संसार में मृगों का पकना भी काल के बिना नहीं होता है किन्तु काल क्रम से ही यह संभव होता है। अन्यथा स्थाली, ईधन आदि सामग्री का सम्पर्क होने के प्रथम समय में ही मृग पक जाने चाहिए। इसलिए जो भी कार्य है, वह सब कालकृत है। यदि काल को कारण न माना जाए तो अन्य इष्ट हेतुओं के सद्भाव मात्र से कार्य सम्पन्न हो जाना चाहिए, जबकि ऐसा होता नहीं है। वनिता एवं पुरुष के संयोग मात्र से गर्भ आदि की उत्पत्ति नहीं होती है अपितु उसमें काल की अपेक्षा रहती है। इसलिए कहा है-

कालः पचति भूतानि, कालः संहरते प्रजाः।

कालः सुप्तेषु जागर्ति, कालो हि दुरतिक्रमः॥

अर्थात् काल ही पृथ्वी आदि भूतों का परिपाक या परिणमन करता है। काल ही जीवों को पूर्व पर्याय से प्रच्यवित कर अन्य पर्याय में स्थापित करता है। काल ही लोगों के सो जाने पर आपत्ति से रक्षा करता है। इसलिए काल का अपाकरण करना संभव नहीं है।^{१३३}

कालवाद का खण्डन

जैन- जो कालवादी सब कुछ कालकृत मानते हैं, उनसे प्रश्न है कि काल क्या एक स्वभावी, नित्य और व्यापक है? अथवा समयादि रूप से परिणमन करता है? उनमें यदि प्रथम पक्ष स्वीकार किया जाए तो वह अनुचित है, क्योंकि एकस्वभावी नित्य एवं व्यापक काल का ग्राहक कोई प्रमाण नहीं है। प्रत्यक्ष प्रमाण से ऐसा काल नहीं जाना जाता है। अनुमान प्रमाण से भी अविनाभावी लिंग के अभाव में ऐसे काल का बोध नहीं होता।^{१३४}

कालवादी- काल के अविनाभावी लिंग का अभाव नहीं है, क्योंकि भरत चक्रवर्ती रामादि में पूर्वापर व्यवहार देखा जाता है। यह पूर्वापर व्यवहार वस्तु के स्वरूपमात्र से नहीं होता क्योंकि वर्तमान काल में वस्तु का स्वरूप तो विद्यमान है, किन्तु पूर्वापर का व्यवहार नहीं होता है। इसलिए जिस निमित्त से भरत, राम आदि में पूर्वापर का व्यवहार होता है, वह काल है। पूर्व काल में होने के कारण भरत चक्रवर्ती में पूर्व का व्यवहार होता है तथा रामादि के अपर काल में होने के कारण रामादि में अपर व्यवहार होता है।^{१३५}

जैन- भरत, रामादि में पूर्वापर का व्यवहार पूर्व एवं अपर काल के योग से होता है तो स्वयं काल में पूर्वापर व्यवहार कैसे होता है? यदि अन्य काल के योग से उस काल में पूर्वापर व्यवहार होता है तो ऐसा मानना उचित नहीं, क्योंकि फिर उस काल के पूर्वापर व्यवहार के लिए अन्य काल को कारण मानना होगा। पुनः उस अन्य काल के पूर्वापर व्यवहार के लिए दूसरा काल कारण मानना होगा। इस प्रकार अनवस्था दोष की स्थिति उत्पन्न हो जाएगी।^{१३६}

कालवादी- काल में स्वयं ही पूर्वत्व और अपरत्व स्वीकार किए जाए तो यह दोष उत्पन्न नहीं होगा, जैसा कि कहा है-

पूर्वकालादियोगी यः पूर्वादिव्यपदेशभाक्।

पूर्वापरत्वं तस्यापि स्वरूपादेव नान्यतः।।

अर्थात् जिसका पूर्वकाल से संबंध होता है, उसका पूर्व से व्यपदेश होता है तथा जिसका अपर काल से संबंध होता है उसका अपर से व्यपदेश होता है। काल का पूर्वापरत्व स्वरूप से ही माना गया है, अन्य किसी हेतु से नहीं।^{१३७}

जैन- कालवादियों का यह कथन आकण्ठ पीत मदिरा के पश्चात् होने वाले प्रलाप की भाँति है, क्योंकि एकान्त से एक, व्यापी, नित्य, काल को स्वीकार करने पर उसमें पूर्वत्व-अपरत्व व्यवहार कैसे संभव है।^{१३८}

कालवादी- सहचारी के सम्पर्क के कारण से एक काल में भी पूर्व-अपर आदि के व्यपदेश को स्वीकार किया जा सकता है। उदाहरण के लिए सहचारी भरत आदि पूर्व हैं और राम आदि अपर हैं। इसलिए उनके सम्पर्क के कारण काल में भी पूर्वापर का व्यपदेश हो जाता है। जैसे कि मंचस्थ पुरुषों के सम्पर्क से 'मंचाः क्रोशन्ति' प्रयोग हो जाता है।^{१३९}

जैन- कालवादियों का यह कथन भी मुखौं का प्रलापमात्र है क्योंकि इससे इतरेतराश्रय दोष का प्रसंग आता है। सहचारी भरत आदि का पूर्वत्व कालगत-पूर्वत्व आदि के योग से होता है तथा काल का पूर्वत्व सहचारी भरत आदि में विद्यमान पूर्वत्व आदि के योग से होता है तो एक की सिद्धि दूसरे की सिद्धि पर निर्भर करने के कारण इतरेतराश्रय दोष स्पष्ट है।

इस प्रकार काल को एक स्वभावी, नित्य और व्यापी मानने का पक्ष श्रेयान् नहीं है।^{१४०}

द्वितीय पक्ष भी अनुचित है। क्योंकि समय आदि के रूप में परिणमनशील काल विशेष में भी फल की भिन्नता देखी जाती है। उदाहरण के लिए समान काल में कोई मूँग पकता है और कोई नहीं पकता है। इसी प्रकार एक ही काल में एक ही राजा की सेवा किए जाने पर एक सेवक को तत्काल फल मिल जाता है तथा दूसरे को कालान्तर में मिलता है। इसी प्रकार एक ही समय में किए गए कृषि आदि कर्म में एक कृषक के परिपूर्ण धान्य सम्पदा उत्पन्न होती है, दूसरे के न्यून होती है और किसी के नहीं होती है। इसलिए यदि काल ही मात्र कारण हो तो सबके एक काल में समान रूप से मूँगों के पकने आदि फल की प्राप्ति होनी चाहिए, किन्तु ऐसा नहीं होता है। इसलिए विश्व की विचित्रता कालमात्र कृत नहीं है। किन्तु कालादि सामग्री सापेक्ष एवं जीवादि के कर्म-निबन्धन आदि से विश्व की विचित्रता बनती है।^{१४१}

यहाँ यह ध्यातव्य है कि अनेकान्त सिद्धान्त को मानने के कारण स्याद्वादी जैनाचार्यों को भी काल की कारणता अभीष्ट है, किन्तु उसकी एकान्त कारणता मान्य नहीं है। जैनों के द्वारा एकमात्र काल को कारण नहीं स्वीकार किया गया, अपितु जगत् की विचित्रता में कर्म को भी कारण माना गया है।^{१४२}

अभयदेवसूरि द्वारा कालवाद का निरूपण एवं निरसन

जैनाचार्य अभयदेवसूरि (१०वीं शती) ने सिद्धसेनसूरि (५वीं शती) विरचित सन्मतितर्क पर तत्त्वबोधविधायिनी टीका करते हुए कालवाद का संक्षिप्त उपस्थापन करके जैनमत से उसका युक्तियुक्त खण्डन किया है।

कालवाद का निरूपण

काल ही एकान्त रूप से जगत् का कारण है, ऐसा कालवादी कहते हैं। क्योंकि सर्दी, गर्मी, वर्षा, वनस्पति, पुरुष, जगत् आदि सभी की उत्पत्ति, स्थिति और विनाश में, दो ग्रहों के योग में, युद्ध के उदय होने में, युद्ध के अस्त होने में, गमन में, आगमन आदि सभी कार्यों में काल ही कारण है। क्योंकि अन्य सभी अभिमत कारणों के होने पर भी काल के बिना कार्य का अभाव रहता है तथा उसके सद्भाव में ही कार्य होता है। जैसा कि महाभारत में कहा गया है- “काल भूतों को पैदा करता है, काल प्रजा का संहार करता है, सबके सोने पर काल जागता है अर्थात् सबके नष्ट होने पर भी काल रहता है। काल को कोई नहीं लांघता।”^{१४३}

अभयदेवसूरि ने अपनी टीका में कालवाद का खण्डन करते समय कालवाद के पूर्वपक्ष को स्पष्ट करते हुए कहा है कि काल नित्य है एवं एकरूप है। ‘काल’ कारण की सभी कार्यों के साथ अन्वय-व्यतिरेक व्याप्ति होती है। अतः जहाँ-जहाँ

काल कारण है, वहाँ-वहाँ कार्य घटित होते हैं तथा काल के अभाव में कोई कार्य घटित नहीं होता है।

निरसन-

अभयदेवसूरि ने काल को ही जगत् का एकमात्र कारण मानने वाले कालवाद के निरसन में अनेक तर्क दिए हैं, यथा-

१- तत्कालसद्भावेऽपि वृष्ट्यादेः कदाचिददर्शनात्- कभी-कभी 'काल' कारण के उपस्थित होने पर भी कार्य नहीं होता है। जैसे कि कभी वर्षाकाल में वर्षा नहीं देखी जाती। अभयदेवसूरि के इस तर्क को विस्तार से समझने के लिए कहा जा सकता है कि श्रावण और भाद्रपद के माह वर्षाकाल कहलाते हैं। चूंकि कालमात्र ही कार्य का कारण है तो जैसे ही वर्षाकाल उपस्थित हो वर्षा प्रारम्भ होनी चाहिए, किन्तु ऐसा नहीं देखा जाता। श्रावण भाद्रपद माह लगभग ६० दिन-रात तक चलते हैं। अतः पूरे दिन-रात वर्षा होनी चाहिए, क्योंकि कारण उपस्थित है। इन महीनों में कुछ समय वर्षा होती है तथा कुछ समय नहीं होती है और कभी-कभी वर्षाकाल से अतिरिक्त काल (असमय) में भी वर्षा देखी जाती है। अतः काल को ही एकमात्र कारण मानना अनुचित है।

२- न च तदभवनमपि तद्विशेषकृतमेव, नित्यैकरूपतया तस्य विशेषाभावात्। विशेषे वा तज्जननाऽजननस्वभावतया तस्य नित्यत्वव्यतिक्रमात् स्वभावभेदाद् भेदसिद्धेः - जब वर्षाकाल में वर्षा नहीं होती है तब कालवादी कहते हैं कि काल विशेष होने पर ही वर्षा होती है, किन्तु उनका यह कहना असंगत है कारण कि ऐसा मानने पर उनके द्वारा मान्य काल की नित्यता और एकरूपता बाधित हो जाती है। काल का कभी विशेष हो जाना और कभी अविशेष रह जाना उसकी परिवर्तनशीलता को प्रकट करता है। इस परिवर्तनशीलता से काल की नित्यता तो खण्डित होती ही है, एकरूपता भी खण्डित हो जाती है। काल विशेष को स्वीकार करने पर काल को विभिन्न स्वभावों से युक्त मानना होगा। किसी काल का ऐसा स्वभाव होगा कि वह वर्षा को उत्पन्न करेगा और किसी काल का ऐसा स्वभाव होगा कि वह वर्षा उत्पन्न नहीं करेगा। स्वभाव-भिन्नता काल को अनित्य सिद्ध करती है क्योंकि नित्यत्व स्वभाव त्रैकालिक होता है। त्रैकालिक सामान्य होता है और विशेष काल को स्वीकार करने से काल में सामान्य विशेष का भेद उत्पन्न हो जाता है।

- ३- न च ग्रहमण्डलादिकृतो वर्षादिर्विशेषः तस्यापि अहेतुकतयाऽभावात्। न च काल एव तस्य हेतुः इतरेतराश्रयदोषप्रसक्तेः-सति कालभेदे वर्षादिभेदहेतोर्ग्रहमण्डलादेर्भेदः तद्भेदाच्च कालभेद इति परिस्फुटमितरेतराश्रयत्वम् - 'काल विशेष' का हेतु असिद्ध होने पर कालवादी वर्षा को ग्रहमण्डलादिकृत कहते हैं। ग्रहमण्डल आदि से युक्त काल विशेष से वर्षा आदि का योग बनता है तो यह मानना भी उचित नहीं है, क्योंकि कालवाद में ग्रहमण्डल आदि अहेतु हैं। ग्रहमण्डल को हेतु स्वीकार करने पर इतरेतर आश्रय दोष प्रसक्त हो जाता है। कारण कि ग्रहमण्डल काल से जन्य है और यहाँ वर्षाकाल ग्रहमण्डल से जन्य बताया जा रहा है। इस प्रकार ग्रहमण्डल काल से और काल ग्रहमण्डल से जन्य होकर एक-दूसरे पर स्वयं की उत्पत्ति के लिए आश्रित हो जाते हैं। अतः स्पष्ट रूप से इतरेतर आश्रय दोष का प्रसंग आता है।
- ४- अन्धतः कारणाद् वर्षादिभेदे न 'काल एव एकः कारणं भवेत्' इत्यभ्युपगमविरोधः। कालस्य च कुतश्चिद् भेदाभ्युपगमे अनित्यत्वमित्युक्ताम्- 'काल विशेष' और 'ग्रहमण्डलादि' दोनों हेतु असिद्ध होने पर कालवादी दो प्रकार से अपने मत को पुष्ट कर सकते हैं। प्रथम तो वे काल के साथ किसी अन्य को भी कारण माने, द्वितीय में काल में भेद स्वीकार करे। किन्तु वे ऐसा भी नहीं कर सकते। वर्षा आदि के होने में काल के अतिरिक्त अन्य कारण मानेंगे तो स्वयं की मान्यता में विरोध उत्पन्न होगा। काल को कार्य विशेष में विभाजित करेंगे तो काल की अनित्यता का प्रसंग उत्पन्न होगा।
- ५- तत्र च प्रभव-स्थिति-विनाशेषु यद्यपरः कालः कारणम्। तदा तत्रापि स एव पर्यनुयोगो इत्यनवस्थानान्न वर्षादिकार्योत्पत्तिः स्यात्। न चैकस्य कारणत्वं युक्तम् क्रमचौगपद्याभ्यां तद्विरोधात् - इन सबके निराकरण के पश्चात् कालवादियों ने प्रत्येक कार्य के लिए पृथक्-पृथक् काल की कारणता स्वीकार की। प्रभव-स्थिति-विनाश इन तीनों कार्यों के लिए भिन्न-भिन्न काल को कारण माना। अतः वर्षा आदि कार्यों में भी ऐसी व्यवस्था मान लेने पर अर्थात् वर्षा के होने में अलग काल कारण है व वर्षा के न होने में अलग काल कारण है, भी पूर्ववत् अनित्यता आदि दोष आर्येंगे और कालवाद का सिद्धान्त स्थिर नहीं हो सकेगा। एक काल को कारण मानना भी उचित नहीं है, क्योंकि ऐसा मानने पर क्रम से एवं युगपद् रूप से

कार्य में विरोध आता है। काल के द्वारा कार्य की क्रमिक उत्पत्ति होती है तो प्रत्येक कार्य के लिए काल क्रम से कारण बनेगा, जिससे काल की नित्यता एवं एकरूपता सुरक्षित नहीं रह सकेगी। यदि काल युगपद् रूप से कार्यो की उत्पत्ति में कारण बनता है तो सभी कार्य एक साथ उत्पन्न हो जायेंगे एवं दूसरे क्षण में काल अकिंचित्कर हो जाएगा। यही नहीं प्रभव, स्थिति एवं प्रलय भी भिन्न काल में न होकर एक काल में होने लगेंगे, जिससे जगत् की व्यवस्था ही गड़बड़ा जाएगी। इस प्रकार काल अपने कार्यो को उत्पन्न करने में क्रम से एवं युगपद् दोनों प्रकार से ही असमर्थ है।

उपर्युक्त हेतुओं से यह सिद्ध होता है कि जगत् का कारण एकमात्र काल नहीं है।

जैनदर्शन में काल का स्वरूप

इस चराचर जगत् के स्वरूप पर विचार करते हुए आगमकार ने उत्तराध्ययन में लोक को षड्रव्यात्मक कहा है।^{१४४} षड्रव्य में धर्म, अधर्म, आकाश, जीव और पुद्गल के साथ 'काल' का भी समावेश किया गया है। अतः काल जैनदर्शन में द्रव्य के रूप में मान्य है। इसके विपरीत भगवती सूत्र^{१४५} में लोक को पंचास्तिकाय कहा है और पंचास्तिकाय में काल के अतिरिक्त पाँचों द्रव्य परिगणित हैं।

कालविषयक दो मत

काल को स्वतन्त्र द्रव्य मानने के संबंध में जैन दार्शनिक एकमत नहीं हैं। तत्त्वार्थसूत्रकार उमास्वाति ने भी 'कालश्चेत्येके' सूत्र के द्वारा इसका संकेत किया है। दिगम्बर परम्परा काल को स्वतंत्र द्रव्य मानती है। आचार्य कुन्दकुन्द ने प्रवचनसार^{१४६} में, पूज्यपाद ने सर्वार्थसिद्धि^{१४७} में, भट्ट अकलंक ने राजवार्तिक^{१४८} में और विद्यानन्द स्वामी ने तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक^{१४९} में काल को पृथक् द्रव्य कहा है।

श्वेताम्बर परम्परा में दोनों प्रकार की मान्यताएँ प्रचलित हैं। कुछ जैन विचारकों ने जीव और अजीव द्रव्यों की पर्यायों से पृथक् काल द्रव्य का स्वतंत्र अस्तित्व स्वीकार नहीं किया है। किन्तु इस मान्यता में दोष देखते हुए श्वेताम्बराचार्यों ने काल के स्वतंत्र द्रव्य की भी सिद्धि की है। उपाध्याय विनयविजय ने निम्नांकित आधार पर काल की स्वतंत्र द्रव्य के रूप में सिद्धि की है- १. सूर्य आदि की गति के आधार पर २. 'काल' शब्द के शुद्ध प्रयोग से ३. समयादि विशेष के प्रयोग से ४. काल सामान्य के होने से ५. पत्र-पुष्प-फल की समान काल में उत्पत्ति न होने से ६. विविध ऋतु भेद आदि की विवक्षा से ७. वर्तमान-भूत-भविष्य के पृथक् अनुभव

से ८. क्षिप्र, चिर, युगपद् आदि शब्दों के प्रयोग से तथा ९. आगम प्रमाण से काल की स्वतंत्र द्रव्य के रूप में सिद्धि की है।^{१५०} आगम में पाँच द्रव्यों का नहीं षड् द्रव्यों का उल्लेख मिलता है जिसमें धर्म-अधर्म-आकाश-पुद्गल और जीव के साथ काल की भी गणना की गई है।^{१५१}

काल के संबंध में ये मान्यताएँ विरोधी नहीं, किन्तु सापेक्ष हैं। निश्चय दृष्टि से काल जीव-अजीव की पर्याय है और व्यवहार दृष्टि से वह द्रव्य है। निश्चय दृष्टि में काल को स्वतंत्र द्रव्य मानने की आवश्यकता नहीं है क्योंकि उसे जीव और अजीव के पर्याय रूप मानने से ही सभी कार्य व सभी व्यवहार संपन्न हो सकते हैं। समय, अवलिका, मुहूर्त आदि रूप काल जीव-अजीव से पृथक् नहीं हैं, उन्हीं की पर्याय हैं। काल द्रव्य की उपयोगिता के कारण व्यवहार दृष्टि में उसे स्वतंत्र द्रव्य प्रतिपादित किया गया है। वर्तना, परिणाम, क्रिया, परत्व-अपरत्व आदि कार्यों के कारण 'काल' की पृथक् द्रव्यता सिद्ध होती है।

काल के भेद

काल का विभाजन विभिन्न अपेक्षाओं से प्राप्त होता है। सर्वार्थसिद्धि^{१५२} आदि दिगम्बर ग्रन्थों में निश्चय-व्यवहार के रूप से दो भेद, स्थानांग सूत्र^{१५३} में प्रमाणादि चार भेद तथा विशेषावश्यक भाष्य^{१५४} में नाम स्थापना आदि ग्यारह भेद प्राप्त होते हैं। इनका वर्णन लोकप्रकाश^{१५५} में भी प्राप्त होता है।

वर्तना लक्षण वाला निश्चय काल है तथा द्रव्यों के परिवर्तन में सहायक व परिणामादि लक्षण वाला व्यवहार काल है। समय, अवलिका यावत् सागरोपम का विभाग रूप काल प्रमाणकाल; आयुष्य के अनुसार नरकादि में रहने का काल यथायुनिवृत्तिकाल; मृत्यु का समय मरणकाल और सूर्य के परिभ्रमण से ज्ञात होने वाला काल अद्धाकाल है। विशेषावश्यक भाष्य में नाम-स्थापना-द्रव्य-अद्धा-यथायुष्क-उपक्रम-देश-काल-प्रमाण-वर्ण-भाव इन ग्यारह काल-भेदों में से नाम व स्थापना काल का उल्लेख मात्र है तथा शेष नौ काल-भेद का विस्तार से वर्णन है।

काल का अनस्तिकायत्व एवं अप्रदेशात्मकत्व

एकप्रदेशी द्रव्य होने से काल अनस्तिकाय है। जैन दार्शनिकों ने केवल उन्हीं द्रव्यों को अस्तिकाय कहा है, जिनका तिर्यक् प्रचय या बहुआयामी विस्तार है। काल में ऊर्ध्व-प्रचय या एक आयामी विस्तार है, अतः उसे अस्तिकाय नहीं माना गया है। लोकाकाश के प्रत्येक प्रदेश पर कालाणु स्थित है, किन्तु प्रत्येक कालाणु अपने आप में

एक स्वतंत्र द्रव्य है, वे परस्पर निरपेक्ष हैं। स्निग्ध एवं रूक्ष गुण के अभाव के कारण उनमें बंध नहीं होता है अर्थात् उनके स्कन्ध नहीं बनते हैं। स्कन्ध के अभाव में उनमें प्रदेश प्रचयत्व की कल्पना संभव नहीं है, अतः वह अस्तिकाय द्रव्य नहीं है। काल में अनस्तिकायत्व के साथ अप्रदेशात्मकत्व भी होता है। अतः प्रवचनसार में कुन्दकुन्दाचार्य कहते हैं-‘*णस्थि पदेस ति कालस्स*’^{१५६} काल के प्रदेश नहीं है अर्थात् काल एक प्रदेशी होने से अप्रदेशी है।

काल द्रव्य से ही नहीं अपितु पर्याय से भी अप्रदेशी है और पर्याय रूप में भी पुद्गल की भाँति अनेकप्रदेशीयता नहीं है क्योंकि असंख्यात कालद्रव्य परस्पर अन्तर के बिना समस्त लोकाकाश में फैला हुआ है। इसका फैलाव प्रत्येक आकाश प्रदेश में एक-एक कालाणु के रूप में है। ये कालाणु स्निग्ध-रूक्ष गुण के अभाव के कारण रत्नों की राशि की भाँति पृथक्-पृथक् ही रहते हैं, पुद्गल परमाणुओं की भाँति परस्पर मिलते नहीं हैं। जब पुद्गलपरमाणु आकाश के एक प्रदेश को मन्द गति से उल्लंघन करता है तब उस प्रदेश में रहने वाला कालाणु उसमें निमित्तभूत रूप से रहता है। इस प्रकार प्रत्येक कालाणु पुद्गलपरमाणु के एक प्रदेश तक के गमन पर्यंत ही सहकारी रूप से रहता है, अधिक नहीं। इससे स्पष्ट होता है कि काल पर्याय से भी अनेक प्रदेशी नहीं है।

काल की अनन्तसमयरूपता

काल अनन्त समयों का समूह है, इस संबंध में सभाष्यतत्त्वार्थाधिगम सूत्र में कहा है- ‘‘*कालोऽनन्तसमयः। तत्रैक एव वर्तमानसमयः। अतीतानागत-योस्त्वानन्त्याम्*।’^{१५७} यहाँ अनन्त शब्द संख्यावाची है और समय शब्द परिणमन को प्रकट करता है। अतएव काल द्रव्य अनन्त परिणामी है। वर्तमान परिणमन या समय एक है और अतीत-अनागत समय अनन्त है। काल अनन्त पर्यायों की वर्तना का हेतु होने से अनन्त समय वाला कहा गया है। एक-एक कालाणु शक्ति भेद से अनन्त पर्यायों का परिणमन कराता है। व्यवहार से भी अनन्त शक्ति वाले काल द्रव्य को अनन्त समय वाला कहा जा सकता है। द्रव्य से वह लोकाकाश के प्रदेशों के बराबर होने के कारण असंख्येय होता है। लोकाकाश के बाहर कालाणुओं का अभाव होता है।

जैनदर्शन में काल की कारणता

सम्पूर्ण जगत् की पर्यायों का कारण काल है। जैनागमों में जगत् षड्द्रव्यात्मक माना गया है तथा षड्द्रव्यों के परिवर्तन का आधार काल है। इसका प्रतिपादन गोम्मटसार की निम्नलिखित गाथा से होता है-

११० जैनदर्शन में कारण-कार्य व्यवस्था : एक समन्वयात्मक दृष्टिकोण

वत्तणहेदू कालो वत्तणगुणमविय दव्वणिचयेसु।

कालाधारेणोव य वट्ठंति हु सव्वदव्वणि।।”^{१५८}

वर्तना हेतु वाला काल है। द्रव्यों में परिवर्तन गुण होते हुए भी काल के आधार से सर्व द्रव्य वर्तते हैं।

“यथाकाशद्रव्यम् अशेषद्रव्याणामाधारः स्वस्यापि, तथा कालद्रव्यं परेषां द्रव्याणां परिणतिपर्यायत्वेन सहकारिकारणं स्वस्यापि”^{१५९}

आकाश सभी द्रव्यों का आधार होने के साथ स्वयं का भी आधार है, उसी प्रकार काल सभी द्रव्यों के परिणमन में सहकारी कारण होने से सदृश स्वयं के भी परिणमन में सहायक है। जैसे-दीपक घट-पट आदि अन्य पदार्थों का प्रकाशक होने पर भी स्वयं अपने आपका प्रकाशक होता है।

सभी द्रव्यों में उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य रूप में पर्याय-परिणमन प्रतिसमय होता रहता है। यह पर्याय दो प्रकार की होती है- १. स्वभाव पर्याय २. विभाव पर्याय। स्वभाव पर्याय धर्म, अधर्म, आकाश, काल, जीव एवं पुद्गल इन सभी द्रव्यों में होती है, किन्तु विभाव पर्याय जीव और पुद्गल द्रव्य में ही होती है।

“जीवानां स्वभावपर्यायं अनन्तचतुष्टयात्मकं ज्ञानदर्शनसुखवीर्यात्मकं विभाव पर्यायं क्रोधमानमायालोभरागद्वेषादिकं नरनारकतिर्यग्देवादि रूपं च, पुद्गलानां स्वभावपर्यायं रूपरसगन्धादिपर्यायं विभावपर्यायं द्व्यणुकत्र्यणुकादिस्कन्ध-पर्यन्तपर्यायं करेदि कारयति उत्पादयतीत्यर्थः। स च निश्चयकालः।।”^{१६०}

जीवों की ज्ञान-दर्शन-सुख-वीर्य रूप अनन्तचतुष्टय आदि स्वभाव पर्यायें हैं तथा क्रोध-मान-माया-लोभ-राग-द्वेष और नर-नारक-तिर्यक्-देव आदि विभाव पर्यायें हैं। पुद्गलों की रूप-रस-गंध आदि स्वभाव पर्यायें हैं तथा द्व्यणुक, त्र्यणुक आदि विभाव पर्यायें हैं।

विभाव पर्याय जीव और पुद्गल द्रव्य में ही होती है क्योंकि निमित्त मिलने पर इन दोनों द्रव्यों में विभाव रूप परिणमन होता है। यह काल आदि निमित्त से ही संभव है।

स्वभाव रूप परिणमन सभी द्रव्यों में होता है। जीव-पुद्गल के अतिरिक्त द्रव्य धर्म-अधर्म-आकाश-काल में स्वाभाविक परिणमन किस प्रकार होता है, इसको बताते हुए स्वामीकार्तिकेय लिखते हैं-

“धम्माधम्मादीणां अगुरुलघुगं तु छहिं विवड्डीहिं। हाणीहिं विवड्ढंतो हायंतो वट्टदे जम्हा। यतः धर्माधर्मादीनामगुरुलघुगुणाविभागप्रतिच्छेदाः स्वद्रव्यत्वस्य निमित्तभूतशक्तिविशेषाः षड्वृद्धिभिर्वर्धमानाः षड्हानिभिश्च हीयमानाः परिणमन्ति। ततः कारणात् तत्रापि मुख्यकालस्यैव कारणत्वात् इति।”

धर्म-अधर्म आदि अमूर्त द्रव्यों में अगुरुलघु गुण पाए जाते हैं। इन गुणों के अविभागी प्रतिच्छेदों में छः प्रकार की हानि और छः प्रकार की वृद्धि होती रहती है। यहाँ भी निश्चयकाल ही कारण है। अतः सब द्रव्यों में होने वाले परिणमन में काल सहायक है।

जगत् में घटित होने वाले इन विभिन्न कार्यों से भी काल की कारणता का बोध होता है। जैसे-काल द्रव्य के निमित्त से कहीं कोई रोगी हो रहा है, उसी समय कोई नीरोग हो रहा है। कहीं पर रोग को बढ़ाने वाले कारण बन रहे हैं, अन्यत्र वन में रोग को नष्ट करने वाली औषधियाँ हो रही हैं। कहीं ज्वार के अंकुर ही निकले हैं, दूसरे देश में ज्वार पक चुकी है। किसी स्थान पर ज्येष्ठ मास में उग्र संताप हो रहा है, अन्यत्र शीत प्रदेशों में शीत पड़ रही है। संसारी जीव के कर्मबंध में भी काल कारण है और उसी समय मुक्तगामी जीव के कर्मक्षय में भी कारणकाल है। वनस्पति रूप औषधियों को पुरानी कर काल द्रव्य उनकी शक्ति का नाशक हो जाता है और मकरध्वज, चन्द्रोदय आदि रस स्वरूप औषधियों के पुराने पड़ने पर उनकी शक्ति का वर्धक हो रहा है। जीवन-मरण, पण्डित-मूर्ख, युवा-वृद्ध, यश-अपयश आदि अनेक प्रकार के विरुद्ध कार्य एक समय में होते हुए दिख रहे हैं।^{१६१} मनुष्यों में बल, बुद्धि, देहमान, आयु प्रमाण आदि की तथा पुद्गलों में उत्तम वर्ण, गंध आदि की क्रमशः हानि होने में अवसर्पिणी काल कारण होता है, तो वहीं उत्सर्पिणी काल की कारणता से पुनः इसमें वृद्धि होने लगती है। लोक प्रकाश में छः ऋतुओं के परिवर्तन में काल की कारणता निरूपित की है।^{१६२}

अतः जगत् में संपादित होने वाले सभी कार्यों में काल सामान्य रूप से कारण है। यह उपर्युक्त सभी कार्यों में दृष्टिगोचर हो रहा है। किन्तु कुछ ऐसे कार्य हैं, जिनमें काल विशिष्ट कारण होता है। जैसे-वर्तना, परिणाम, क्रिया, परत्व-अपरत्व। विशेष कारणत्व से ये कार्य 'काल के कार्य' के नाम से जगत् में प्रसिद्ध हैं।

जैनदर्शन में मान्य काल के कार्य

जगत् में कालकृत विभिन्न उपकार या कार्य हैं। इन्हीं को सूत्रबद्ध करते हुए तत्त्वार्थसूत्रकार ने लिखा है- “वर्तना परिणामः क्रिया परत्वापरत्वे च कालस्य”^{१६३}

१. वर्तना- 'वृत्त वर्तने' से णि प्रत्यय लगकर तच्छील अर्थ में युच् प्रत्यय के योग से वर्तन शब्द बना है। वर्तनशील ही वर्तना है। प्रत्येक पदार्थ उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य के रूप में जो निरन्तर परिवर्तनशील होता रहता है, वह वर्तना है। वर्तना के संबंध में लोकप्रकाश में कहा है-

“द्रव्यस्य परमाण्वादेर्या तद्रूपतया स्थितिः।

नवजीर्णतया वा सा वर्तना परिकीर्तिता।।”^{१६४}

द्रव्य की और परमाणु आदि की जो अपने स्वरूप में स्थिति है अथवा नवीनता और जीर्णता से उनकी स्थिति है, उसे वर्तना कहा गया है।

जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म और आकाश द्रव्यों की वर्तना बहिरंग कारण की अपेक्षा रखती है और उनका बहिरंग कारण काल है। जिस प्रकार चाबलों के पकने में बहिरंग कारण अग्नि है, उसी प्रकार जीव आदि द्रव्यों की वर्तना में और उनकी सत्ता में बहिरंग कारण कालद्रव्य है। यही नहीं सूर्य आदि गमन, ऋतु-परिवर्तन आदि में भी कोई काल कारण बनता है।^{१६५}

प्रत्येक कार्य के दो कारण होते हैं- उपादान कारण एवं निमित्त कारण। उपादान कारण में द्रव्य विशेष स्वयं अपने कार्य का कारण होता है, जबकि निमित्त कारण अन्य द्रव्य या पदार्थ हुआ करता है। यहाँ वर्तना स्वरूप कार्य के उपादान कारण तो धर्म, अधर्म, आकाश, जीव एवं पुद्गल स्वयं हैं, किन्तु निमित्त या बहिरंग कारण काल है। काल के वर्तन का अन्य कोई निमित्त कारण नहीं है। यदि उसकी वर्तना का अन्य कोई निमित्त कारण माना जाय तो अनवस्था दोष का प्रसंग उपस्थित होगा। वर्तना स्वरूप कार्य को यदि धर्म, अधर्म, आकाश, पुद्गल एवं जीव का ही कार्य माना जाए तो उपादान कारणों की भिन्नता होने से एक प्रकार का कार्य होना संभव प्रतीत नहीं होता है। भिन्न-भिन्न उपादान कारण भिन्न-भिन्न प्रकार के कार्यों को जन्म देते हैं, एक प्रकार के कार्य को नहीं। इनके वर्तना स्वरूप एक कार्य के होने में काल को निमित्त कारण स्वीकार करने पर ही इस समस्या का समाधान हो सकता है। अतः सभी द्रव्यों की वर्तना में काल द्रव्य कारण है और वर्तना काल के कार्य के रूप में लोक प्रसिद्ध है।

२. परिणाम- *“द्रव्यस्य स्वजात्यपरित्यागेन प्रयोगविस्मसालक्षणो विकारः परिणामः विस्मसापरिणामोनादिरदिमांश्च।।”*^{१६६} स्वकीय जाति का परित्याग किए बिना द्रव्य में प्रयोग और विस्मसा से विकार आ जाना परिणाम है। द्रव्य

का जीव के प्रयत्न से हुआ विकार प्रयोगस्वरूप परिणाम है और जीव-प्रयत्नों से निरपेक्ष अन्य अन्तरंग-बहिरंग कारणों से विस्त्रसा स्वरूप परिणाम होता है। विस्त्रसा नामक परिणाम दो प्रकार का है- अनादि तथा आदि। धर्म, अधर्म और आकाश का सहज, स्वाभाविक रूप में सदा से होने वाला परिणाम अनादि है, तथा इनमें आदि परिणाम नहीं होता है। जीव और पुद्गल में आदि और अनादि दोनों वैस्त्रसिक परिणाम होते हैं। यथा- जीव में द्रव्यत्व, प्रमेयत्व, जीवत्व इत्यादि अनादि तथा औपशमिक, क्षायिक इत्यादि आदि-परिणाम हैं। पुद्गल में लोक की रचना, सुदर्शन मेरु की रचना, सूर्य चन्द्रमाओं की रचना अनादि परिणाम हैं और इन्द्रधनुष, बादल आदि परिणाम आदिमान् हैं। इनमें पुरुषप्रयत्न की अपेक्षा नहीं है, इस कारण ये अचेतन पुद्गल द्रव्य के वैस्त्रसिक परिणाम कहे जाते हैं। प्रयोगज परिणाम में पदार्थों की विभिन्न प्रकार की परिणतियाँ दृष्टिगोचर होती हैं, जैसे-मिट्टी की कुम्भ के रूप में परिणति, सुवर्ण की मुकुट-कलश में परिणति, दूध की दही के रूप में परिणति इत्यादि। इन सभी परिणामों में काल की कारणता व्याप्त है।^{१६७}

३. क्रिया- परिस्पन्दात्मको द्रव्यपर्यायः संप्रतीयते।

क्रिया देशांतरप्राप्तिहेतुर्गत्यादिभेदभृत्॥^{१६८}

द्रव्य की हलन, चलन आदि परिस्पन्दात्मक पर्यायें ही क्रिया हैं। यह क्रिया पदार्थों के प्रकृत देश से अन्य देशों की प्राप्ति में कारण है तथा गमन, भ्रमण, आकुंचन आदि भेदों को धारण करती है। लोकप्रकाशकार क्रिया को परिभाषित करते हुए लिखते हैं-

भूतत्ववर्तमानत्व - भविष्यत्वविशेषणा।

यानस्थानादिकार्यानां या चेष्टा सा क्रियोदिता॥^{१६९}

भूतत्व, भविष्यत्व और वर्तमानत्व विशेषण वाली, पदार्थों की गति, स्थिति आदि चेष्टाएँ क्रिया कहलाती हैं। इनके होने में काल कारण है। ये तीन प्रकार की हैं- १. प्रयोग गति २. विस्त्रसा गति ३. मिश्र गति। जीव के प्रयत्न से होने वाली क्रिया प्रयोगज है, जैसे शरीर, आहार, संस्थान आदि। अजीव मात्र की स्वतः क्रियान्विति विस्त्रसा गति है, जैसे- बिजली का गिरना, तूफान आना आदि। जीव और अजीव के संयोग से होने वाली क्रिया मिश्र कहलाती है। जैसे-वस्त्र का बुनना, खेती करना आदि।

४. परत्व-अपरत्व- पूर्वभावि परं पश्चाद्भावि चापरमिष्यते।

द्रव्यं यदाश्रयादुक्ते ते परत्वापरत्वके॥^{१७०}

जो द्रव्य पूर्वभावी होता है वह 'पर' और जो पश्चाद्भावी होता है वह 'अपर'। पर-अपर तीन प्रकार का होता है- १. प्रशंसाकृत २. क्षेत्रकृत ३. कालकृत। इसमें तृतीय भेद 'कालकृत' ही काल का कार्य है। काल के कारण ज्येष्ठत्व और कनिष्ठत्व होता है। जैसे-बलराम १० वर्ष का है और कृष्ण ८ वर्ष का। अतः बलराम कृष्ण से ज्येष्ठ है और कृष्ण बलराम से कनिष्ठ है।

निष्कर्ष

भारतीय चिन्तन में विभिन्न कार्यों में काल की कारणता स्वीकार की गई है। चिर, क्षिप्र, परत्व-अपरत्व आदि में ही नहीं काल को समस्त कार्यों का कारण भी स्वीकार किया गया। वेद एवं पुराण में इसे एक परम तत्त्व के रूप में स्वीकार किया गया, जो सृष्टि का भी कलयिता है। अथर्ववेद में इसे प्रजापति स्वयंभू कश्यप आदि की भी उत्पत्ति का कारण प्रतिपादित किया गया है। शिवपुराण में वह ईश्वर रूप में प्रतिपादित है।

कालवाद के अनुसार एकमात्र काल ही समस्त कार्यों का कारण है। कालवाद के संबंध में कोई स्वतंत्र ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है। इस सिद्धान्त को लेकर किसी ग्रन्थ की रचना की गई हो ऐसा भी उल्लेख नहीं मिलता और न ही इस सिद्धान्त के प्रवर्तक का नामोल्लेख मिलता है। कालवाद किसी एक व्यक्ति की मान्यता न होकर सामूहिक मान्यता बन गई थी, ऐसा प्रतीत होता है। कालवाद की मान्यता के संबंध में निम्नांकित श्लोक महाभारत, अभयदेव की सन्मतिर्क टीका, सूत्रकृतांग पर शीलाकाचार्य की टीका हरिभद्र सूरि विरचित शास्त्रवार्ता समुच्चय आदि ग्रन्थों में मिलता है-

कालः पचति भूतानि, कालः संहरते प्रजाः।

कालः सुप्तेषु जागर्ति, कालो हि दुरतिक्रमः॥

अर्थात् काल ही पृथ्वी आदि भूतों का परिणमन करता है। काल ही प्रजा का संहार करता है। काल ही लोगों के सो जाने पर जागता है इसलिए काल की कारणता अनुल्लंघनीय है।

कालवाद की प्राचीनता का अनुमान करना कठिन है। अथर्ववेद के उन्नीसवें काण्ड के ५३-५४ वें सूक्त 'कालसूक्त' नाम से प्रसिद्ध है।

ये काल सूक्त ही कालवाद के उद्गम के स्रोत प्रतीत होते हैं। इनमें निहित काल तत्त्व का ही विकास उपनिषद्, पुराण, महाभारत, ज्योतिर्विद्या आदि में हुआ है।

नारायण उपनिषद् में काल को किसी अपेक्षा से नारायण कहा है- कालश्च नारायणः।^{१७१} कालवादियों के संबंध में उल्लेख गौड पाद कारिका में प्राप्त होता है, वहाँ कहा है- कालात् प्रसूतिं भूतानां मन्यन्ते कालचिन्तकः।^{१७२} श्वेताश्वतरोपनिषद् में भी जगत् के कारणों की चर्चा में काल का भी कथन हुआ है। शिव पुराण में कालवाद का सिद्धान्त सम्पूर्ण रूप में अभिव्यक्त हुआ है-

कालादुत्पद्यते सर्वं, कालादेव विपद्यते।

न कालनिरपेक्ष हि क्वचित्किञ्चिद्भि विद्यते।।^{१७३}

महाभारत में काल को सामान्य कारण तथा विशेष कारण के रूप में प्रतिपादित किया गया है। कालवाद की मान्यताओं का महाभारत में यत्र-तत्र पर्याप्त उल्लेख सम्प्राप्त होता है। यही नहीं कालवाद पर महाभारत में ओक्षप भी किया गया है। इसका अर्थ है कि उस समय मात्र काल की कारणता के सिद्धान्त पर प्रश्न चिह्न खड़ा होने लगा था।

कालवाद का यदि व्यवस्थित एवं विकसित रूप देखना हो तो ज्योतिर्विद्या के ग्रन्थ इसके निदर्शन हैं। क्योंकि ज्योतिर्विद्या कालगणना पर आधारित विद्या है। जिसमें ग्रह, नक्षत्रों के साथ काल ही प्रमुख कारण के रूप में अंगीकार किया गया है।

भारतीय दर्शन की विभिन्न परम्पराओं में काल के स्वरूप एवं उसकी कारणता पर विचार हुआ है। वैशेषिक दर्शन में काल को द्रव्य के रूप में स्थापित किया गया है। उसे एक एवं नित्य मानते हुए भी भूत-भविष्य और वर्तमान का व्यवहार स्वीकार किया गया है। काल को वैशेषिक दर्शन में सामान्य कारण स्वीकार किया गया है। चिर, क्षिप्र, परत्व-अपरत्व आदि में उसे विशेष कारण अंगीकार किया गया है। सांख्य दर्शन चार प्रकार की आध्यात्मिक तुष्टियों में काल को तृतीय तुष्टी के रूप में अंगीकार करते हुए कहा गया है कि काल की अपेक्षा रखकर ही विवेकख्याति सिद्ध होती है। वेदान्त दर्शन में नैमित्तिक प्रलय में काल को निमित्त बताया गया है। व्याकरण दर्शन में इसे अमूर्त क्रिया के परिच्छेद (मापन) का हेतु स्वीकार किया गया है। योग दर्शन में यह क्षण और क्रम के रूप में विवेचित है। वहाँ क्षण को वास्तविक एवं क्रम का आधार बताया गया है।

जैन वाङ्मय में भी कालवाद की पर्याप्त चर्चा हुई है। जैन दार्शनिकों ने कालवाद के स्वरूप का निरूपण करने के साथ उसका निरसन भी किया है। जैनागमों में काल को एक द्रव्य तो प्रतिपादित किया गया है किन्तु कालवाद का पृथक् रूप से स्पष्ट उल्लेख नहीं मिलता है। सूत्रकृतांग में कथित 'ईसरेण कडे लोए पहाणाति

११६ जैनदर्शन में कारण-कार्य व्यवस्था : एक समन्वयात्मक दृष्टिकोण

तहावरे^{११७} पंक्ति के 'पहाणाति' शब्द से व्याख्याकारों ने काल का भी ग्रहण किया है। सूत्रकृतांग में निरूपित, क्रियावाद, अक्रियावाद, विन्यवाद और अज्ञानवाद की व्याख्या करते हुए क्रियावाद और अक्रियावाद के अन्तर्गत कालवाद के क्रमशः ३६ एवं १४ भेद निरूपित किये गये हैं। शीलांकाचार्य ने आचारांग सूत्र की टीका में कालवाद का स्वरूप निरूपित करते हुए कहा है कि काल ही विश्व की स्थिति-उत्पत्ति और प्रलय में कारण है। वह काल अतीन्द्रिय है तथा युगपत्, चिर, क्षिप्र क्रियाओं से अभिव्यंजित होता है।

नन्दीसूत्र के टीकाकार मलयगिरि ने कालवादी शब्द का स्पष्ट प्रयोग करते हुए कहा है- *कालवादिनश्च नाम ते मन्तव्या ये कालकृतमेव सर्वं जगत् मन्यन्ते*।^{११८} कालवाद के अनुसार काल ही सब कार्यों का कारण है, उसी से व्यवस्था बनती है। यदि कोई पुरुष मूँग रंधता है तो वे भी बिना काल के नहीं रंधे जाते हैं। अन्यथा हांडी, ईंधन आदि सामग्री के संयोग से प्रथम समय में ही मूँग रंध जाते। इसलिए जो कुछ होता है वह कालकृत ही है। सिद्धसेन सूरि ने कारणपंचक के अन्तर्गत काल को प्रथम स्थान दिया है। हरिभद्रसूरि, अभयदेवसूरि आदि जैनाचार्यों ने भी कालवादी की विशद विवेचना की है।

मल्लवादी क्षमाश्रमण, हरिभद्रसूरि, शीलांकाचार्य और अभयदेवसूरि ने अपनी कृतियों में कालवाद का प्रस्थापन कर उसका युक्तियुक्त निरसन किया है। जैन दार्शनिकों की यह मान्यता है कि काल ही एकमात्र कारण नहीं है, स्वभाव, नियति, पूर्वकृत कर्म एवं पुरुषार्थ की भी कारणता मानना अपेक्षित है। जैनाचार्यों द्वारा उपस्थापित पूर्वपक्ष में 'कालवाद' सिद्धान्त विषयक नवीन जानकारीयाँ भी अभिव्यक्त हुई हैं-

- १- काल कार्य के प्रति अवश्यक्लृप्त नियत पूर्ववर्ती है, इसलिए एकमात्र वही कार्य का कारण है। कारण कहे जाने वाले अन्य पदार्थ अवश्यक्लृप्त-नियतपूर्ववर्ती काल से भिन्न होने से अन्यथासिद्ध हैं।
- २- काल को कार्य का यदि असाधारण कारण न माना जायेगा तो गर्भादि सभी कार्यों की उत्पत्ति अव्यवस्थित हो जाएगी।
- ३- काल नित्य है एवं एक रूप है। काल कारण की सभी कार्यों के साथ अन्वय-व्यतिरेक व्याप्ति होती है। अतः जहाँ-जहाँ कारण है वहाँ-वहाँ घटित होते हैं तथा काल के अभाव में कोई कार्य घटित नहीं होता है।

जैनाचार्यों ने कालवाद के निरसन में अनेक प्रबल तर्क दिए हैं-

- १- मल्लवादी क्षमाश्रमण कहते हैं कि त्रिकाल कूटस्थ काल में परमार्थतः कारण-कार्य का विभाग नहीं हो सकता। कारण-कार्य का विभाग नहीं होने से व्यवहार की व्यवस्था भी नहीं बन सकती।
- २- हरिभद्रसूरि का तर्क है यदि अन्य कारणों से निरपेक्ष केवल काल से कार्योत्पत्ति स्वीकार की जायेगी तो अमुक कार्य की उत्पत्ति के समय में अन्य सभी कार्यों की भी उत्पत्ति की आपत्ति होगी।
- ३- हरिभद्रसूरि अन्य तर्क देते हैं कि एकमात्र काल को कारण नहीं माना जा सकता क्योंकि काल के समान होने पर भी कार्य समान नहीं देखा जाता, इसलिए अन्य हेतु भी अपेक्षित हैं। काल को ही कारण मानने पर जहाँ मिट्टी नहीं है वहाँ भी घड़े की उत्पत्ति होगी।
- ४- शीलांकाचार्य का तर्क है कि एक स्वभावी, नित्य एवं व्यापक काल का ग्राहक कोई प्रमाण नहीं है। वे अन्य तर्क में कहते हैं कि यदि काल ही एकमात्र कारण हो तो समान काल में सभी किसानों के खेतों में मूँगों के पकने आदि की समान फल प्राप्ति होनी चाहिए, किन्तु ऐसा नहीं होता है।
- ५- अभयदेव सूरि के तर्क महत्त्वपूर्ण हैं। उनका तर्क है कि वर्षाकाल आदि काल कारण के होने पर भी वर्षा का होना रूप कार्य निरन्तर नहीं चलता। इससे काल की नित्यता एवं एकरूपता भी खण्डित होती है। साथ ही काल का स्वभाव भेद भी प्रकट होता है।

जैन दार्शनिकों ने 'पंच समवाय' सिद्धान्त में पाँच कारणों के अन्तर्गत काल की भी कारणता स्वीकार की है, किन्तु वे काल की एकान्त कारणता को अंगीकार नहीं करके अन्य कारणों की भी अपेक्षा स्वीकार करते हैं।

संदर्भ

१. (i) महाभारत में उपर्युक्त श्लोक दो भिन्न श्लोकों के अंश का सम्मिलित रूप है; वे श्लोक निम्न हैं-
 कालः सृजति भूतानि कालः संहरते प्रजाः।
 संहरन्तं प्रजाः कालं, कालः शमयते पुनः॥
 कालः सुप्तेषु जागर्ति कालो हि दुरतिक्रमः।
 कालः सर्वेषु भूतेषु, चरत्यविधृतः समः॥-आदिपर्व, प्रथम अध्याय, श्लोक २४८, २५०

- (ii) सन्मति तर्क प्रकरण ३.५२ पर अभयदेव की टीका पृ. ७११
- (iii) आचारांग की शीलांक टीका, १.१.१.३
- (iv) शास्त्रवार्ता समुच्चय, स्तबक २, श्लोक ५४
२. (i) अथर्ववेद, काण्ड १९, अध्याय ६, सूक्त ५३, मंत्र १०
- (ii) अथर्ववेद, काण्ड १९, अध्याय ६, सूक्त ५४, मंत्र १
३. नारायणोपनिषद्, २
४. शिवपुराण, वायु संहिता (पूर्वभाग), श्लोक १६
५. श्री विष्णु महापुराण, भाग-प्रथम, प्रथम अंश, सृष्टि प्रक्रिया, पृ. ९
६. भगवद् गीता, ११.३२
७. श्वेताश्वतरोपनिषद्, प्रथम अध्याय, श्लोक २
८. अथर्ववेद काण्ड १९, अध्याय ६, सूक्त ५३ और ५४
९. कलाकाष्ठानिमेषादिकलाकलित विग्रहम्।
कालात्मेति सभाख्यातं तेजो माहेश्वरं परम्॥ -शिवपुराण (वायुसंहिता-पूर्वभाग)
१०. विष्णोः स्वरूपात् परतो हि ते द्वे, रूपे प्रधानं पुरुषस्य विप्र।
तस्यैव ते येन धृते विद्युक्ते, रूपान्तरं तद् द्विज कालसंज्ञम्॥
-विष्णुपुराण १/२/२४
११. कालो अश्वो वहति सप्तरश्मिः सहस्राक्षो अजरो भूरिरेताः।
तं रोहन्ति कवयो विपश्चितस्तस्य चक्रा भुवनानि विश्वा॥
-अथर्ववेद काण्ड १९, अध्याय ६, सूक्त ५३ मंत्र १
१२. कालोऽमृं दिवमजनयत् काल इमाः पृथिवीरुत।
काले ह भूत भव्यं क्षेपित ह वि तिष्ठते॥ -अथर्ववेद १९.६.५३.५
१३. काले तपः काले ज्येष्ठ काले ब्रह्म समाहितम्।
कालो ह सर्वस्येश्वरो यः पितासीत् प्रजापतेः॥ - अथर्ववेद १९.६.५३.८
१४. काल प्रजा असृजत कालो अग्रे प्रजापतिम्।
स्वयम्भूः कश्यपः कालात् तपः कालादजायत॥ -अथर्ववेद १९.६.५३.१०
१५. कालो ह भूत भव्यय च पुत्रो अजनयत् पुरा।
कालादृचः समभवन् यजुः कालादजायत॥ -अथर्ववेद १९.६.५४.३

१६. कालो यज्ञं समैरयह्वेभ्यो भागामक्षितम्।
काले गन्धर्वाप्सरसः काले लोकाः प्रतिष्ठिताः। -अथर्ववेद १९.६.५४.४
१७. अक्षुपनिषद् २४ उद्धृत ईशाद्यष्टोत्तरशतोपनिषद्
१८. नारायणोपनिषद् २ उद्धृत ईशाद्यष्टोत्तरशतोपनिषद्
१९. कालकलानिमेषमारभ्य घटिकाष्टयामदिवस (वार) रात्रिभेदेन पक्षमास-
त्वथनसंवत्सर भेदेन मनुष्याणां शतायुः कल्पनया प्रकाशमाना चिरक्षिप्तव्यपदेशेन
निमेषमारभ्य परार्धपर्यन्तं कालचक्रं जगच्चक्रमित्यादिप्रकारेण
चक्रवत्परिवर्तमाना। -सीतोपनिषद्
२०. माण्डूक्यकारिका, प्रथम प्रकरण, श्लोक ८
२१. माण्डूक्यकारिका, द्वितीय प्रकरण, श्लोक २४
२२. श्वेताश्वतरोपनिषद् प्रथम अध्याय, श्लोक २
२३. श्वेताश्वतरोपनिषद् षष्ठ अध्याय, श्लोक १
२४. कालादुत्पद्यते सर्वं कालादेव विपद्यते।
न कालनिरपेक्ष हि क्वचित्किंचिद्धि विद्यते॥१॥
२५. कला काष्ठानिमेषादिकलाकलितविग्रहम्।
कालात्मेति समाख्यातं तेजो माहेश्वरं परम्॥६॥
२६. यस्यांशमयी शक्तिः कालात्मनि महात्मनि।
ततो निष्क्रम्य संक्राता विसृष्टाग्नेरिवायसी॥८॥
-शिवपुराण, वायु संहिता (पूर्व भाग) शिव से कालस्वरूप-शक्ति का कथन,
श्लोक १,६,८
प्रकाशक- संस्कृति संस्थान, ख्वाजाकुतुब (वेदनगर), बरेली (उ.प्र.) १९७५
२७. अप्रियैश्च प्रियैश्चैव ह्यचिंतितसमागमैः।
सयोजयति भूतानि वियोजयति चेश्वरः॥१६॥
२८. यो युवा स भवेद्बुद्धो यो बलीयान्स दुर्बलः।
यः श्रीमान्सोऽपि निःश्रीक कालश्चित्रगतिर्द्विजाः॥१८॥
२९. नाकालतोऽयं म्रियते जायते वा नाकालत पुष्टिमरयामुपैति।
नाकालतः सुखितं दुःखितं वा नाकालिक वस्तुसमस्तिकिंचित्॥२२॥

१२० जैनदर्शन में कारण-कार्य व्यवस्था : एक समन्वयात्मक दृष्टिकोण

-शिवपुराण, वायु संहिता (पूर्व भाग) शिव से कालस्वरूप-शक्ति का कथन,
श्लोक १६, १८, २२

प्रकाशक- संस्कृति संस्थान, ख्याजाकुतुब (वेदनगर), बरेली (उ.प्र.) १९७५

३०. शिवपुराण, वायु संहिता (पूर्व भाग), शिव से काल स्वरूप शक्ति का कथन

३१. परस्य ब्रह्मणो रूपं पुरुषः प्रथमं द्विज। व्यक्ताव्यक्ते तथैवान्ये रूपे कालस्तथा
परम्॥ विष्णोः स्वरूपात् परतो हि तेऽन्ये, रूपे प्रधानं पुरुषश्च विप्र। तस्यैव
तेऽन्येन धृते वियुक्ते, रूपान्तरं यत् तद् द्विज कालसंज्ञम्॥ अनादिर्भगवान् कालो
नान्तोऽस्य द्विज विघ्नते। अव्युच्छिन्नास्ततस्त्वेते सर्गस्थित्यन्तसंयमाः॥ गुणसाम्ये
ततस्तस्मिन् पृथक् पुंसि व्यवस्थिते। कालस्वरूपरूपं तद् विष्णोर्मैत्रेय वर्तते।
कालस्वरूपं तद्विष्णोर्मैत्रेय परिवर्तते। -श्री विष्णु महापुराण, भाग-एक, प्रथम
अंश, सृष्टि प्रक्रिया पृ. ९-११, लेखिका- डॉ. श्रद्धा शुक्ला, नाग प्रकाशक,
११-ए.यू.ए., जवाहर नगर, दिल्ली-११०००३

३२. श्रीमद् भागवत-तृतीय स्कन्ध, अध्याय १०, श्लोक १०-११

३३. श्रीमद् भागवत-की वंशीधरी टीका, तृतीय स्कन्ध, अध्याय १०, श्लोक ११ की
टीका

३४. (क) महाभारत-शांतिपर्व, पंचविंशोऽध्याय, श्लोक ६ का अंश

(ख) महाभारत- आदि पर्व, प्रथमोऽध्याय, श्लोक २५० का अंश

३५. (क) महाभारत- अनुशासन पर्व, प्रथमोऽध्याय, श्लोक ५३

(ख) महाभारत- आदि पर्व, प्रथमोऽध्याय, श्लोक २४९

३६. महाभारत- शांति पर्व, एकादशाधिकद्विशततमोऽध्यायः, श्लोक ११

३७. प्रवृत्तयश्च लोकेऽस्मिंस्तथैव च निवृत्तयः। तासां विकृतयो याश्च सर्वे कालात्मकं
स्मृतम्॥-महाभारत, अनुशासन पर्व, प्रथमोऽध्याय, श्लोक ५४

३८. आदित्यश्चन्द्रमा विष्णुरापो वायुः शतक्रतुः। अग्निः खं पृथिवी मित्रः पर्जन्यो
वसवोऽदितिः।

सरितः सागराश्चैव भावाभावौ च पन्नगा। सर्वे कालेन सृज्यन्ते ह्रियन्ते च पुनः
पुनः॥ -महाभारत, अनुशासन पर्व, प्रथमोऽध्याय, श्लो. ५५-५६

३९. अतीतानागत भावा ये च वर्तन्ति साम्प्रतम्, तान् कालनिर्मितान् बुद्ध्वा न संज्ञा
हातुमर्हसि॥-महाभारत, आदि पर्व, प्रथमोऽध्याय, श्लो. २५१

४०. 'कालः सृजति भूतानि कालः संहरते प्रजाः'

- महाभारत, आदि पर्व, प्रथमोऽध्याय, श्लोक २४८

४१. 'अहमेवाक्षयः कालो धाताहं विश्वतोमुखः' - महाभारत, उद्योग पर्व
४२. सात्त्विका राजसाश्चैव तामसा ये च केचन। भावाः कालात्मकाः सर्वे प्रवर्तन्ते ह जन्तुषु॥ - महाभारत, अनुशासन पर्व, प्रथमोऽध्याय, श्लोक ५२
४३. कालेन शीघ्राः प्रवहन्ति वाताः कालेन वृष्टिर्जलदानुपैति। कालेन पद्मोत्पलवज्जलं च, काल्येन पुष्पान्ति वनेषु वृक्षाः॥ कालेन कृष्णाश्च सिताश्च रात्र्यः, कालेन चन्द्रः परिपूर्णबिम्बः। नाकालतः पुष्पफलं द्रुमाणां, नाकालवेगाः सरितो वहन्ति॥ - महाभारत, शांति पर्व, पंचविंशोऽध्याय, श्लोक ८, ९
४४. नाकालमत्ताः खगपन्नगाश्च, मृगद्विपाः शैलमृगाश्च लोके।
नाकालतः स्त्रीषु भवन्ति गर्भा, नायान्त्यकाले शिशिरोष्णवर्षाः॥
- महाभारत, शांति पर्व, पंचविंशोऽध्याय, श्लोक १०
४५. नाकालतो म्रियते जायते वा, नाकालतो व्याहरते च बालः।
नाकालतो यौवनमभ्युपैति, नाकालतो रोहति बीजमुत्तमम्॥
- महाभारत, शांति पर्व, पंचविंशोऽध्याय, श्लोक ११
४६. महाभारत, शांतिपर्व, पंचविंशोऽध्याय, श्लोक ७
४७. महाभारत, शांतिपर्व, अष्टात्रिंशदधिकद्विंशततमोऽध्याय, श्लोक १९
४८. एतौ धर्मार्थशास्त्रेषु मोक्षशास्त्रेषु चर्षिभिः
- महाभारत, षट्त्रिंशदधिकशततमोऽध्याय, श्लोक २३
४९. महाभारत, शांतिपर्व, एकोनचत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः, ५४, ५६, ५७
५०. कालोऽस्मि लोकक्षयकृतप्रवृद्धो, लोकान् समाहर्तुमिह प्रवृत्तः। - भगवद् गीता ११.३२
५१. प्रह्लादश्चास्मि दैत्यानां कालः कलयतामहम्। - भगवद् गीता १०.३०
५२. बृहत्पाराशरहोराशास्त्र, राशिभेदाध्याय, १ उद्धृत नारदीय ज्योतिष पृ. ९९
५३. बृहत्पाराशरहोराशास्त्र, राशिभेदाध्याय, ४, ५ उद्धृत नारदीय ज्योतिष, पृष्ठ ९९
५४. जातकपरिजात, राशिशीलाध्याय, ८, उद्धृत नारदीय ज्योतिष, पृ. १००
५५. सारावली, तृतीय अध्याय ६, उद्धृत नारदीय ज्योतिष, पृ. १०१
५६. वाक्यपदीय, कालसमुद्देश का श्लोक ४३

१२२ जैनदर्शन में कारण-कार्य व्यवस्था : एक समन्वयात्मक दृष्टिकोण

५७. पृथिव्यापस्तेजो वायुराकाशं कालो दिगात्मा मन इति द्रव्याणि।

-वैशेषिक सूत्र, अ. १, प्रथम अह्निक, सूत्र ५

५८. द्रव्यत्वनित्यत्वे वायुना व्याख्याते- वैशेषिक सूत्र अ. २, आ. २, सू. ७

५९. तत्त्वं भावेन- वैशेषिक सूत्र अ. २, आ. २, सू. ८

६०. तस्या गुणाः सङ्ख्यापरिमाणपृथक्त्वसंयोगविभागाः । -प्रशस्तपाद भाष्य पृ. १५५

६१. काल लिंगाविशेषादेकत्वं सिद्धम् - प्रशस्तपादभाष्य

६२. कारणे काल इति वचनात् परममहत्परिमाणम्- प्रशस्तपाद भाष्य

६३. तदनुविधानात् पृथक्त्वम् -प्रशस्तपाद भाष्य

६४. कारणपरत्वादिति वचनात् संयोगः -प्रशस्तपाद भाष्य

६५. तद्विनाशकत्वाद् विभाग इति -प्रशस्तपाद भाष्य

६६. वैशेषिक सूत्र, अ. २, आ. २, सूत्र ६

६७. वैशेषिक सूत्र, अ. ५, आ. २, सूत्र २६

६८. दिग्देशकालाकाशेष्वप्येवं प्रसंगः -न्याय सूत्र अ.२, आ. १, सूत्र २३

६९. सांख्यप्रवचनभाष्य, द्वितीय अध्याय, सूत्र १२

७०. नित्यौ यौ दिक्कालौ तावाकाशप्रकृतिभूतौ प्रकृतेर्गुणविशेषावेव। अतो दिक्काल-योर्विभुत्वोपपत्तिः 'आकाशवत् सर्वगतश्च नित्यः' इत्यादिश्रुत्युक्तं विभुत्वं चाकाशस्योपपन्नम्। यौ तु खण्डदिक्कालौ तौ तु तत्तदुपाधिसंयोगादाकाशादुत्पद्येते इत्यर्थः। -सांख्यप्रवचनभाष्य, द्वितीय अध्याय, सूत्र १२ का भाष्य

७१. सांख्यकारिका में कुल ९ तुष्टियों का उल्लेख है, जिनमें चार आध्यात्मिक तुष्टियाँ हैं- १. प्रकृति २. उपादान ३. काल ४. भाग्य। इनके अतिरिक्त पाँच तुष्टियाँ शब्द आदि पाँच बाह्य विषयों से विरत होने पर प्राप्त होती हैं-

‘आध्यात्मिक्यश्चतस्रः प्रकृत्युपादानकालभाग्याख्याः।

बाह्या विषयोपरमात् पंच नव तुष्टयोऽभिसमताः॥

७२. तृतीयां तुष्टिमाह कालेति-प्रब्रज्याऽपि साक्षात् मुक्तिदा न भवति। किन्तु कालमपेक्ष्येवेति कालादेव विवकेख्यातिरूपा सिद्धिः॥

-सांख्यकारिका, कारिका ५० पर तत्त्वप्रभा टीका, पृ. १९६

७३. दृश्यन्ते च प्राणिनां कालानुरूपाः स्वभावाहारविहारव्यवस्थाः। तस्मादसावेव कारणम् स खल्वयं योगी कालमवजित्य पदार्थान्तराभावं मन्यमानस्तामेव भूमिं कैवल्यमिति मन्यते। -सांख्यकारिका, कारिका ५० पर युक्तिदीपिका टीका, पृ. १९९
७४. 'सामान्यतःकालदिव्यवहारसत्त्वेऽप्याकाशादेव तदुपपत्तेश्च।'
-पातंजल योग सूत्र३.५२ पर योगवार्तिक पृ.३८६
७५. दर्शन अने चिन्तन -पं. सुखलाल संघवी, पृ. १०२७
७६. "नास्माकं वैशेषिकादिवदप्रत्यक्षः कालः, किन्तु प्रत्यक्ष एव, अस्मिन्क्षणे मयोपलब्ध इत्यनुभवात्। अरूपस्याऽप्याकाशवत् प्रत्यक्षत्वं भविष्यति।"
-शास्त्रदीपिका(युक्ति स्नेह प्रपूर्णी सिद्धान्त चन्द्रिका टीका)
अ. ५, पा. १, अधि. ५, सू. ५, -दर्शन अने चिन्तन पृ. १०२७
७७. प्रस्थान रत्नाकर, श्री वल्लभ विद्यापीठ, कोल्हापुर, संवत् २०५६, पृ. २०२
७८. अतीन्द्रियत्वेन कार्यानुमेयत्वेन च -प्रस्थान रत्नाकर, पृ. २०२
७९. नित्यगत्वे सति सकलाश्रयः सकलोद्भवो वा कालः -प्रस्थान रत्नाकर पृ. २०२
८०. एतेनैव चिरक्षिप्रादिव्यवहारस्य अतीतानागतादिव्यवहारस्य च उपपत्तिः
-प्रस्थान रत्नाकर पृ. २०२
८१. एतस्य प्रथमं कार्यं गुणक्षोभः -प्रस्थान रत्नाकर पृ. २०२
८२. एतस्य च सूर्योदयः आधिभौतिकं रूपं, परमाण्वादि-द्विपरार्धान्तम् आध्यात्मिकम्, आधिदैविकं, 'कालोऽस्मि...(भगवद् गीता ११.३२) इति वाक्याद् भगवानेव
-प्रस्थान रत्नाकर पृ. २०२
८३. वाक्यपदीय, काल समुद्देश, कारिका २ की हेलाराजकृत प्रकाश व्याख्या
८४. वाक्यपदीय, काल समुद्देश, कारिका ३
८५. वाक्यपदीय, काल समुद्देश, कारिका १४
८६. वाक्यपदीय, काल समुद्देश, कारिका १२ व कारिका २६ की टीका में भी उल्लेख
८७. भूतः पंचविधस्तत्र, भविष्यंश्च चतुर्विधः। वर्तमानो द्विधाख्यात, इत्येकादश कल्पनाः॥
-वाक्यपदीय, कालसमुद्देश, कारिका ३८
८८. सूत्रकृतांग, प्रथम श्रुतस्कन्ध, प्रथम अध्ययन, तृतीय उद्देशक, गाथा ६

८९. सृष्टिवाद और ईश्वर, पृ. ४४

९०. सूत्रकृतांग, प्रथम भाग, द्वादश अध्ययन गाथा १

९१. सूत्रकृतांग, निर्युक्ति, गाथा ११९

९२. क्रियां जीवाद्यस्तित्वं वदन्तीत्येवंशीलाः क्रियावादिनः मरीचिकुमारकपिलोलूक-
माठरप्रभृतयः। -षड्दर्शन समुच्चय, पृष्ठ १३

९३. जीवादिपदार्थसद्भावोऽस्त्येवेत्येवं सावधारणक्रियाभ्युपगमो येषां ते
अस्तीति क्रियावादिनः। -सूत्रकृतांग सूत्र शोलांकटीका १/१२

९४. क्रियावादिनः आस्तिका इत्यर्थः -स्थानांग, अभयदेववृत्ति ४/४/३८५

९५. क्रिया कर्त्रा बिना न संभवति, सा चात्मसमवायिनीति वदन्ति तच्छीलाश्च ये ते
क्रियावादिनः। अन्ये त्वाहुः क्रियावादिनो ये ब्रुवते क्रियाप्रधानं किं ज्ञानेन।

-भगवती सूत्र, अभयदेववृत्ति, ३०.१

९६. "जीवाजीवास्रवबन्धसंवरनिर्जरापुण्यापुण्यमोक्षरूपान्नवपदार्थान् परिपाद्या
पट्टिकादौ विरचय्य जीवपदार्थस्याधः स्वपरभेदावुपन्यसनीयौ तयोरधो
नित्यानित्यभेदौ तयोरप्यधः कालेश्वरात्मनियतिस्वभावभेदाः पंच न्यसनीयाः।
ततश्चैवं विकल्पाः कर्तव्याः"

-षड्दर्शन समुच्चय, पृ. १४, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन

-स्थानांग, अभयदेव की टीका- ४.४.३४५

-नन्दी सूत्र, मलयगिरि अवचूरि पृ. १७७

९७. "तथा नास्त्येव जीवादिकः पदार्थ इत्येवं वादिनः अक्रियावादिनः"

-सूत्र. शी. १/१२, आचा. शी. १/१/१४

९८. "तथा न कस्यचित्प्रतिक्षणमवस्थितस्य पदार्थस्य क्रिया संभवति उत्पत्त्यनन्तरमेव
विनाशादित्येवं ये वदन्ति ते अक्रियावादिनः....। ते च कोक्कुल
काण्ठेविद्धिरोमकसुगतप्रमुखाः। -षड्दर्शनसमुच्चय पृ. २१

९९. अक्रियावादिनो नास्तिका इत्यर्थः -स्थानांग, अभयदेव की टीका ४/४/३४५

१००. अन्ये त्वाहुः- अक्रियावादिनो ये ब्रुवते किं क्रियया,

चित्रशुद्धिरेव कार्या, ते च बौद्धा इति॥ -भगवती, अभयदेव की टीका ३०/१

१०१. 'पुण्यापुण्यवर्जितशेषजीवाजीवादिपदार्थसप्तकन्यासः, तस्य चाधः प्रत्येकं
स्वपरविकल्पोपादानम्, असत्त्वादात्मनो नित्यानित्यविकल्पौ न स्तः कालादीनां
पंचानामधस्तात्षष्ठी यदृच्छा न्यस्यते।'

-षड्दर्शनसमुच्चय, पृ. २२/ नन्दीसूत्र अवचूरि पृ. १८०/

स्थानांग अभयदेव की टीका, ४-४-३४५, पृ. २५५

१०२. (अ) तथा कुत्सितं ज्ञानमज्ञानं तदेषामस्तौत्यज्ञानिकाः, असंचिन्त्यकृतकर्मबंधवै-
फल्यादिप्रतिपत्तिलक्षणाः

शाकल्यसात्यमुनिमौदपिप्पलादबादरायणजैमिनिवसुप्रभृतयः।

-षड्दर्शनसमुच्चय, पृ. २४

(ब) “तथा न ज्ञानमज्ञानं तद्विद्यते येषां तेऽज्ञानिनः, ते ह्यज्ञानमेव श्रेय इत्येव
वदन्ति।” -सूत्र. शी. १/१२ तथा स्था. अभ. ४.४.३४५

१०३. हिताहितपरीक्षाविरहोऽज्ञानिकत्वम् -सर्वार्थसिद्धि ८.१

१०४. न ज्ञानं श्रेयः, तस्मिन् सति विरुद्धप्ररूपणायां विवादयोगताश्चित्तकालुष्यादिभावतो
दीर्घतरसंसारप्रवृत्तेः। यदा पुनरज्ञानमाश्रीयते तदा नार्हकारसंभवो नापि परस्योपरि
चित्तकालुष्यभावः, ततो न बंधसंभवः। -षड्दर्शनसमुच्चय पृ. २५

१०५. जीवाजीवादीन् नवपदार्थान् क्वचित् पट्टकादौ व्यवस्थाप्य पर्यन्त उत्पत्तिः
स्थाप्यते। तेषां च जीवादीनां नवानां प्रत्येकमधः सप्त सत्त्वादयो न्यस्यन्ते।
तद्यथा- सत्त्वम्, असत्त्वम्, सदसत्त्वम्, अवाच्यत्वम्, सद्वाच्यत्वम्,
असद्वाच्यत्वम्, सदसद्वाच्यत्वम् येति।

-षड्दर्शन समुच्चय पृ. २७

-स्थानांग, अभयदेव टीका, ४.४.३४५, पृ. २५५

(स्थानांग में किंचिद् पाठ भेद है, किन्तु तात्पर्य समान है)

१०६. (अ) “तथा वैनयिका विनयादेव केवलात् स्वर्गमोक्षावाप्तिमभिलषन्तः
मिथ्यादृष्टयः।

-सूत्रकृतांग शीलांक १/१२

(ब) विनयेन चरन्तीति वैनयिकाः -षड्दर्शन समुच्चय पृ. २९

१०७. ‘एते चानवधृतलिंगाचारशास्त्रा विनयप्रतिपत्तिलक्षणा वेदितव्याः’

-षड्दर्शनसमुच्चय पृ. २९

१०८. ‘सर्वदेवतानां सर्वसमयानां च समदर्शनं वैनयिकम्’ -सर्वार्थसिद्धि ८१

१०९. “तथा विनयादेव मोक्ष इत्येवं गोशालकमतानुसारिणो विनयेन चरन्तीति वैनयिका
व्यवस्थिताः” -सूत्रकृतांग शीलांक टीका, १-६-२१७

११०. “वसिष्ठपराशरवाल्मीकिव्यासेलापुत्रसत्यदत्तप्रभृतयः”

-षड्दर्शन समुच्चय पृ. २९

१२६ जैनदर्शन में कारण-कार्य व्यवस्था : एक समन्वयात्मक दृष्टिकोण

१११. “सुरनृपतियतिज्ञातिस्थविराधममातृपितृरूपेष्वष्टसु स्थानेषु कायेन मनसा वाचा दानेन च देशकालोपपन्नेन विनयः कार्य इति चत्वारः कायादयः स्थाप्यन्ते।”

—षड्दर्शन समुच्चय, पृ. २९/

—स्थानांग, अभयदेव टीका, ४.४.३४५, पृ. २५५-२५६

११२. आचारांग, शीलांक टीका, १/१/१/३

११३. (अ) नन्दीसूत्र, मलयगिरि अवचूरि पृ. १७७-१७८

(ब) षड्दर्शन समुच्चय, पृ. १५-१६ पर भी उपर्युक्त अंश उद्धृत

११४. कालः स्वभाव नियतिः पूर्वकृतं पुरुषः कारणैकान्ताः मिथ्यात्वं ते एवं तु समासतो भवन्ति सम्यक्तत्त्वम्॥ —सन्मतितर्कप्रकरण, तृतीय काण्ड, गा. ५३ पर ‘वादमहार्णव’ टीका

११५. शास्त्रवार्ता समुच्चय, स्तबक २, गाथा ५२

११६. शास्त्रवार्ता समुच्चय, स्तबक २, गाथा ५३, ५५, ५६

११७. श्री तिलोक काव्य कल्पतरू

११८. अनियतचेतनाचेतनत्वपृथिव्यादित्वेन अनाद्यनन्तवर्तनात्मस्वतत्त्वानां वृत्तेः कलनात्मकं रूपं भूयो भूयो विपरिवर्तते ध्रुवादिसर्वनित्यलक्षणम्। तस्माद्विरव-विकल्पविवर्तवर्तनायाः कलनमस्मदाद्यसर्वज्ञं प्रति अनुमानमात्रगम्यमविविक्त-ममितपूर्णकोष्ठागारधान्यवत् सर्वज्ञं च प्रति विविक्ताया वर्तनायाः कलनं कालः

—द्वादशारनयचक्र, भाग १, पृ. २११-२१२

११९. स तथाभूतेन कलनार्थेन वर्तनामेव सामान्यमत्यजन् भूतो भवति भविष्यंश्चेति विशेषव्यपदेशं लभते। —द्वादशारनयचक्र, भाग १, पृ. २१२-२१३

१२०. द्वादशारनयचक्र, प्रथम भाग, पृ. २१९

१२१. कालस्यैव तत्त्वात् कारणकार्यविभागाभावात् सामान्यविशेषव्यवहाराभाव एवेति चेत्, एवमपि स एव स्वभावः। पूर्वादिव्यवहारलब्धकालाभावश्चैवम्, अपूर्वादित्वात् नियतित्वम्। —द्वादशार नयचक्र, भाग १, पृ. २२१-२२२

१२२. न हि तज्जन्मनि गर्भपरिणतिर्हेतुः, अपरिणतस्यापि कदाचिज्जन्मदर्शनात्। तथा कालोऽपि शीतोष्ण- वर्षाद्युपाधि, तद्व्यतिरेकेण न भवति।

—शास्त्रवार्ता समुच्चय, स्त. २, श्लोक ५३ की टीका

१२३. यत्किञ्चिद् लोके घटादि, तदपि कालव्यतिरेकेण न भवति, कर्मदण्डादिसत्त्वेपि कालान्तर एव स्वर्गघटाद्युत्पत्तेः। तस्मात् कारणात् कालः 'किल' इति सत्ये अन्यस्यत्वन्यथासिद्धत्वादसत्यत्वमिति भावः।

-शास्त्रवार्ता समुच्चय, स्त. २, श्लोक ५३ की टीका

१२४. किञ्च कालादृते नैव मुद्रपक्तिरपीक्ष्यते।

स्थाल्यादिसंनिधानेऽपि ततः कालादसौ मता॥

-शास्त्रवार्ता समुच्चय, स्त. २, श्लोक ५५

१२५. तत्रापि हेत्वन्तरापेक्षावैयग्रयात्, आवश्यकत्वेन कालस्यैव तद्वेतुत्वौचित्या-
दित्याशयः।

-शास्त्रवार्ता समुच्चय, स्त. २, श्लोक ५५ की टीका

१२६. कालाभावे च गर्भादि सर्वं स्यादव्यवस्थया। परेष्टहेतुसद्भावमात्रादेव
तदुद्भवात्॥

-शास्त्रवार्ता समुच्चय, स्त. २, श्लोक ५६

१२७. ननु कालोऽपि यद्येक एव सर्वकार्यहेतुः तदा युगपदेव सर्वकार्योत्पत्तिः।

-शास्त्रवार्ता समुच्चय, स्त. २, श्लो. ५६ की टीका।

१२८. तस्य च तत्क्षणवृत्तिकार्ये तत्पूर्वक्षणत्वेन हेतुत्वम्, तत्क्षणवृत्तित्वं च
तत्क्षणास्यापि, अभेदेऽपि 'इदानीं क्षण' इति व्यवहारात् कालिकाधाराऽऽधेय-
भावसिद्धेः।

-शास्त्रवार्ता समुच्चय, स्तबक. २, श्लोक ५६

की टीका।

१२९. अन्यानपेक्षः कालोऽपि कारणं नोपपद्यते विवक्षितसमये कार्यान्तरस्याऽप्युत्पत्ति-
प्रसंगात्। -शास्त्रवार्ता समुच्चय, स्तबक २, श्लोक ७७ की टीका

१३०. न च तत्क्षणवृत्तिकार्ये तत्पूर्वक्षणहेतुत्वाभिधानाद् न दोष इत्युक्तमेवेति वाच्यं
अग्रे भाविनस्तत्क्षणवृत्तित्वस्यैव फलत आपाद्यत्वात्।

- शास्त्रवार्ता समुच्चय, स्तबक. २, श्लोक ७७ की टीका

१३१. यतश्च काले तुल्येऽपि सर्वत्रैव न तत्फलम्।

अतो हेत्वन्तरापेक्षं विज्ञेयं तद् विचक्षणैः॥

-शास्त्रवार्ता समुच्चय, स्त. २, श्लोक ७८

१३२. हेत्वन्तरापेक्षं कालातिरिक्तदेशादिहेतुजन्यं विज्ञेयम्। न च मृदोऽन्यत्र
घटस्याऽनापत्तिरेव, काले हेतुसत्त्वेऽपि देशे कार्यानापत्तेरिति वाच्यम्,
मृदजन्यत्वेन मृदवृत्तित्वस्याऽऽपाद्यत्वात्। - शास्त्रवार्ता समुच्चय, स्तबक २,
श्लोक ७८ की टीका

१३३. न कालमन्तरेण चम्पकाशोकसहकारादिवनस्पतिकुसुमोद्गमफलबन्धादयो हिमकणानुषक्तशीतप्रपातनक्षत्रगर्भाधानवर्षादयो वा ऋतुविभागसंपादिता बालकुमारयौवनवलिपलितागमादयोवाऽवस्थाविशेषाः घटन्ते प्रतिनियतकाल-विभाग एव तेषामुपलभ्यमानत्वात्। अन्यथा सर्वमव्यवस्थया भवेत्। न चैतत् दृष्टमिष्टं वा। अपि च मुद्गपंक्तिरपि न कालमन्तरेण लोके भवन्ति दृश्यते, किं तु कालक्रमेण, अन्यथा स्थालीन्धनादिसामग्रीसंपर्कसंभवे प्रथमसमयेऽपि तस्याभावप्रसंगो न च भवति, तस्माद्यत्कृतकं तत्सर्वं कालकृतमिति। अत्र परेष्टहेतुसद्भावमात्रादिति पराभिमतवनितापुरुषसंयोगादिमात्ररूपहेतुसद्भाव-मात्रादेव, तदुद्भावदिति गर्भाद्युद्भवप्रसंगात्। तथा कालः पचति परिपाकं नयति परिणतिं नयति भूतानि पृथिव्यादीनि, तथा कालः संहरते प्रजाः पूर्वपर्यायात् प्रच्याव्य पर्यायान्तरेण प्रजाः लोकान् स्थापयति। तथाकालः सुप्तेषु जनेषु जागर्ति काल एव तं तं सुप्तं जन्तं आपदो रक्षति भावः तस्माद्भिः स्फुटं दुरतिक्रमोऽपाक-र्तुमशक्यः। -अभिधान राजेन्द्र कोश, भाग ३, पृ. ४९२

१३४. तत्र ये कालवादिनः सर्वं कालकृतं मन्यन्ते। तान् प्रति ब्रूमः -कालो नाम किमेकस्वभावो नित्यो व्यापी, किं वा समयादिरूपतया परिणमतीति? तत्र यद्याद्यः पक्षः। तदयुक्तम्। तथाभूतकालग्राहकप्रमाणाभावान्न खलु तथाभूतं कालं प्रत्यक्षेणोपलभामहे। नाप्यनुमानेन, तदविनाभावविलिङ्गाभावत्।

-अभिधान राजेन्द्र कोश, भाग ३, पृ. ४९२

१३५. अथ कथं तदविनाभावविलिङ्गाभावो यावता दृश्यते भरतरामादिषु पूर्वापरव्यवहारः, स च न वस्तुस्वरूपमात्रनिमित्तो, वर्तमाने च काले वस्तुस्वरूपस्य विद्यमानतया तथा व्यवहारप्रवृत्तिप्रशक्तेः, ततो यन्निमित्तोऽयं भरतरामादिषु पूर्वापरव्यवहारः स काल इति। तथाहि- पूर्वकालयागा पूर्वे भरतचक्रवर्ती, अपरकालयोगी चापरो रामादिरिति। -अभिधान राजेन्द्र कोश, भाग ३, पृ. ४९२

१३६. ननु यदि भरत रामादिपूर्वापरकालयोगतः पूर्वापरव्यवहारस्तर्हि कालस्यैव कथं स्वयं पूर्वापरव्यवहारः? तदन्यकालयोगादिति चेत् न। तत्राऽपि स एव प्रसंग इत्यनवस्था।

-अभिधान राजेन्द्र कोश, भाग ३, पृ. ४९२-४९३

१३७. अथ मा भूदेष दोष इति, तस्य स्वयमेव पूर्वत्वमपरत्वं चेष्ट्यते, नान्यकालयोगादिति। तथाचोक्तम्- "पूर्वकालादियोगी यः पूर्वादिव्यपदेशभाक्। पूर्वापरत्वं तस्यापि स्वरूपादेव नान्यतः। -अभिधान राजेन्द्र कोश, भाग ३, पृ. ४९३

१३८. तदप्याकण्ठपीताऽऽसवप्रलापदेशीयम्। यत एकान्तेनैको व्यापी नित्यः कालोऽभ्युपगम्यते ततः कथं तस्य पूर्वादित्वसंभवः।

- अभिधान राजेन्द्र कोश, भाग ३, पृ. ४९३

१३९. अथ सहचारिसंपर्कवशादेकस्यापि तथात्वकल्पना। तथाहि-सहचारिणो भरतादयः पूर्वा अपरे च रामादयोऽपराः, ततस्तत्संपर्कवशात्कालस्यापि पूर्वापरव्यपदेशो भवति। सहचारिणो व्यपदेशो यथा- 'मंचाः क्रोशन्ति इति

-अभिधान राजेन्द्र कोश, भाग ३, पृ. ४९३

१४०. तदेतदपि बालिशजल्पितम्। इतरेतराश्रयदोषप्रसंगात्। तथाहि-सहचारिणां भरतादीनां पूर्वोदित्वं कालगतपूर्वोदित्वयोगात्, कालस्य च पूर्वोदित्वं सहचारिभरतादिगतपूर्वोदित्वयोगतः, तत एकाऽसिद्धावन्यतरस्याप्यसिद्धिः। प्रागसिद्धावेकस्य कथमन्यस्य सिद्धिरिति तत्राद्यः पक्षः श्रेयान्।

-अभिधान राजेन्द्र कोश, भाग ३, पृ. ४९३

१४१. अथ द्वितीय पक्षः, सोऽप्ययुक्तः, यतः समयादिरूपे परिणामिनि काले विशिष्टेऽपि फलवैचित्र्यमुपलभ्यते। तथाहि-समकालमाश्रयभाणायामपि मुद्रपक्तिरविकला कस्याचिद् दृश्यते, अपरस्य तु स्थाल्यादिसंगतावेव विकला। तथा समयकालमेकस्मिन्नेव तु कालान्तरेऽपि; तथा समानेऽपि समकालमपि क्रियमाणे कृष्यादिकर्मण्येकस्य परिपूर्णा धान्यसंपदुपजायते, अपरस्य तु खणमस्फुटिता वा न किंचिदपि। ततो यदि काल एव केवलः कारणं भवेत्तर्हि सर्वेषामपि सममेव मुद्रपक्त्वादिकं फलं भवेत्, न च भवति, तस्मान्न कालमात्रकृतं विश्ववैचित्र्यम्, किं तु कालादि सामग्रीसापेक्षं तत्कर्मनिबन्धनमिति स्थितम्"-अभिधान राजेन्द्र कोश, भाग ३, पृ. ४९३

१४२. अनेकान्तेन स्याद्वादिनामपि कालस्य कारणत्वं सम्मतमेव, यतोऽस्माभिर्न काल एवैकः कर्तृत्वेनाभ्युपगम्यते, अपि तु कर्मापि, ततो जगद्वैचित्र्य-मित्यदोषः। एकान्तवादसमाश्रयणे तु दोषः। -अभिधान राजेन्द्र कोश, भाग ३, पृ. ४९३

१४३. तत्र काल एव एकान्तेन जगतः कारणमिति कालवादिनः प्राहुः। तथाहि- सर्वस्य शीतोष्ण-वर्ष-वनस्पति-पुरुषादेर्जगतः प्रभव-स्थिति-विनाशेषु ग्रहोपरागयुतियुद्धोदयास्तमयगतिगमनागमनादौ च कालः कारणम् तमन्तरेण सर्वस्यास्याऽन्यकारणत्वाभिमतभावसद्भावेऽप्यभावात् तत्सद्भावे च भावात्। तदुक्तम् - "कालः पचति भूतानि कालः संहरति प्रजाः।

कालः सुप्तेषु जागर्ति कालो हि दुरतिक्रमः॥"

-सन्मति तर्क, काण्ड ३, गा. ५३ पर अभयदेव की टीका

१४४. धम्मो अधम्मो आगासं कालो पुगल जन्तवो। एस लोगो ति पन्नत्तो जिणेहिं वरदंसिंहिं। -उत्तराध्ययन २८.७

१४५. 'किमियं भंते! लोएत्ति पवुच्चइ? गोयमा, पंचत्थिकाया'।-भगवती सूत्र ३/४/४८१

१३० जैनदर्शन में कारण-कार्य व्यवस्था : एक समन्वयात्मक दृष्टिकोण

१४६. प्रवचनसार, अ. २, गाथा ४६-४७

१४७. सर्वार्थसिद्धि अ. ५, सूत्र ३८-३९

१४८. राजवार्तिक अ. ५, सूत्र ३८-३९

१४९. तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक अ. ५, सूत्र ३८-३९

१५०. लोक प्रकाश, सर्ग २८, श्लोक ५-५५

१५१. धम्मो अहम्मो आगासं कालो पुग्गस-जंतवो।

एस लोगो ति पन्नत्तो जिणेहिं वरदंसोहि।। -उत्तराध्ययन सूत्र २८.७

१५२. सर्वार्थसिद्धि ५/२२/२९३

१५३. स्थानांग सूत्र, स्थान ४, उद्देशक १, सूत्र १३४

१५४. विशेषावश्यक भाष्य, गाथा २०३०-२०७५

१५५. लोकप्रकाश, सर्ग २८, श्लोक ९३, ९४

१५६. प्रवचनसार, गाथा १३५ का श्लोकांश

१५७. सभाष्यतत्त्वार्थाधिगम सूत्र, अध्याय ५, सूत्र ३९ का भाष्य

१५८. गोम्मटसार, जीवकाण्ड, गाथा ५६८

१५९. कार्तिकेयानुप्रेक्षा, गाथा २१८ की टीका

१६०. कार्तिकेयानुप्रेक्षा, गाथा २१६ की टीका

१६१. तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक, कुंथुसागर प्रकाशन, द्वितीय भाग, पृ. १४८

१६२. ऋतूनामपि षण्णां यः परिणामोऽस्त्यनेकधा। न संभवेत्सोऽपि कालं
विनातिविदितः क्षितौ। -लोकप्रकाश, सर्ग २८, श्लोक २५

१६३. तत्त्वार्थ सूत्र, अ. ५, सूत्र २२

१६४. लोकप्रकाश, सर्ग २८, श्लोक ५८

१६५. वर्तना हि जीवपुद्गलधर्माधर्माकाशानां तत्सत्तायाश्च साधारण्याः सूर्यगम्यादीनां च
स्वकार्यविशेषानुमितस्वभावानां बहिरंगकारणापेक्षा कार्यत्वात्तदुलपाकवत्
यत्तावद्बहिरंगं कारणं स कालः।-तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकालंकार, षष्ठ भाग पृ. १६५

१६६. तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकालंकारः षष्ठ खण्ड, पृ. १६९

१६७. समर्थोऽपि बहिरंगकारणापेक्षः परिणामत्वे सति कार्यत्वात् ब्रीह्यादिवदिति
यत्तत्कारणं बाह्यं स कालः -तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकालंकारः, षष्ठ खण्ड, पृ. १७०
१६८. तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकालंकार, षष्ठ खण्ड, पृ. १९५
१६९. लोकप्रकाश, सर्ग २८, गाथा ९
१७०. लोकप्रकाश, सर्ग २८, गाथा १०
१७१. नारायण उपनिषद्, २
१७२. माण्डूक्यकारिका, प्रथम प्रकरण, श्लोक ८
१७३. शिवपुराण, वायु संहिता (पूर्व भाग), शिव से कालस्वरूप शक्ति का
कथन, श्लोक १
१७४. सूत्रकृतांग, श्रुतस्कन्ध, प्रथम अध्ययन, तृतीय उद्देशक, गाथा ६
१७५. नन्दीसूत्र, मलयगिरि अवचूरि, पृ. १७७



तृतीय अध्याय

स्वभाववाद

उपस्थापन

स्वभाव ही जगत् का आधार है, इस मन्तव्य को जगत् में 'स्वभाववाद' के नाम से प्रसिद्धि प्राप्त हुई। स्वभाववादी स्वभाव को व्यापक मानते हुए क्षेत्र और काल से परे बतलाते हैं तथा सभी कार्यों को स्वभावजन्य स्वीकार करते हैं। स्वभाववाद के संदर्भ में बुद्धचरित का प्रसिद्ध श्लोक है-

कः कण्टकस्य प्रकरोति तैक्ष्ण्यं, विचित्रभावं मृगपक्षिणां च।

स्वभावतः सर्वमिदं प्रवृत्तं, न कामचारोऽस्ति कुतः प्रयत्नः॥^१

अर्थात् कांटों को तीक्ष्ण कौन बनाता है? मृगों और पक्षियों के विचित्र स्वरूप का कारण क्या है? तब कहा जाता है कि स्वभाव की ही सबमें प्रवृत्ति है, यहाँ स्वेच्छाचार या प्रयत्न क्रियान्वित नहीं होता। उक्त श्लोक को स्वभाववाद की प्रस्तुति का आधार कहा जाए तो अतिशयोक्ति नहीं होगी, क्योंकि जहाँ भी स्वभाववाद की चर्चा हुई है वहाँ यह श्लोक निश्चित रूप से उद्धृत हुआ है। उदाहरण के रूप में अभयदेवसूरि की सन्मति-तर्क की तत्त्वबोधविधायिनी टीका^२, शास्त्रवार्ता समुच्चय^३ आदि संस्कृत ग्रन्थों में भी इसका उल्लेख सम्प्राप्त है।

स्वभाववाद के विशेष ग्रन्थ के अभाव में सम्प्रति समुपलब्ध विभिन्न स्रोतों से स्वभाव एवं स्वभाववाद की चर्चा करने का प्रयास इस अध्याय में किया जा रहा है। वेद, उपनिषद्-साहित्य, पुराण-वाङ्मय, भगवद्-गीता, रामायण-महाभारत आदि के साथ विभिन्न दार्शनिक ग्रन्थों एवं जैनागमों के आधार पर इस अध्याय में 'स्वभाववाद' के स्वरूप को प्रस्तुत करने का प्रयास किया जाएगा।

स्वभाववादियों की एकांगी अवधारणा का प्रायः सभी दार्शनिकों ने खण्डन किया है। तत्त्वसंग्रह, माठरवृत्ति, न्यायकुसुमाञ्जलि आदि जैनेतर ग्रन्थों में स्वभाववाद का निराकरण देखा जाता है। विशेषावश्यकभाष्य, सन्मतितर्क-प्रकरण एवं उस पर अभयदेवसूरि विरचित टीका, हरिभद्रसूरिकृत शास्त्रवार्ता समुच्चय, धर्मसंग्रहणि आदि में स्वभाववाद का पूर्वपक्ष के रूप में उपस्थापन कर स्वभाव को एकान्त कारण मानने का खण्डन किया है।

ऋग्वेद में अपरवाद के रूप में स्वभाववाद

स्वभाववाद का स्पष्ट रूप से उल्लेख वेद में नहीं मिलता है,^९ किन्तु सृष्टि के संबंध में ऋग्वेद का नासदीय सूक्त महत्वपूर्ण है। इस सूक्त के प्रारम्भ में ही सृष्टि विषयक विभिन्न प्रकार के मत समुपलब्ध होते हैं-

नासदासीन्नो सदासीत्तदानीं नासीद्गो नो व्योमापरो यत्।
किमवरीवः कुह कस्य शर्मन्ममः किमासीद् गहनं गभीरम्।^{१०}
न मृत्युरासीदमृतं न तर्हि न रात्र्या अह न आसीत् प्रकेतः।^{११}
अवाग् देवा अस्य विसजनेनाथा को वेद यत आबभूव।।^{१२}

पं. मधुसूदन ओझा ने नासदीय सूक्त के उपर्युक्त अंश को आधार बनाकर सृष्टि के विषय में दश वादों का उत्थापन किया है।^{१३} १. सदसद्वाद २. रजोवाद ३. व्योमवाद ४. अपरवाद ५. आवरणवाद ६. अम्भोवाद ७. अमृत-मृत्युवाद ८. अहोरात्रवाद ९. दैववाद १०. संशयवाद। इन दश वादों में अपरवाद के अन्तर्गत पं. मधुसूदन ओझा ने स्वभाववाद का ही वर्णन किया है। वे अ-पर का अर्थ 'स्व' करते हुए अपरवाद को स्वभाववाद कहते हैं। उन्होंने स्वतन्त्र रूप से अपरवाद नामक पुस्तक में स्वभाववाद को चार रूपों में प्रस्तुत किया है- १. परिणामवाद २. यदृच्छावाद ३. नियतिवाद ४. पौरुषी प्रकृतिवाद।^{१४}

इन चारों का संक्षिप्त परिचय प्रासंगिक होने से यहाँ प्रस्तुत है-

१. परिणामवाद- स्वभाव स्वतः परिणाम गतिवाला होता है। स्वभाव अर्थात् पदार्थ स्वभाव से होते हैं। उदाहरण के लिए अग्नि की ज्वाला से ताप और प्रकाश स्वतः होते हैं। जल में शीतता तथा अन्न-जल से तृप्ति स्वभाव से होती है। जैसा कि पं. मधुसूदन ओझा ने कहा है-

'स्वतः परिणामगतिः स्वभावो भावाः स्वभावात् प्रभवन्ति सर्वे।
तापप्रकाशौ ज्वलनार्चिषः स्तः शैत्यं जले चान्नजलेन तृप्तिः।।'^{१५}

काँटों में तीखापन पशु-पक्षियों के विचित्र वर्ण आदि स्वभाव से ही प्रवृत्त होते हैं। इसमें न स्वेच्छाचार कारण बनता है और न ही प्रयत्न।^{१६} इस परिणामवाद रूप स्वभाववाद का विवेचन करते हुए पं. ओझा ने कहा है-

द्वौ स्तो बदर्या इह तीक्ष्णकण्ठकौ ऋजुः स एकोस्ति परस्तु कुंचितः।
फलं पुनर्वतुलमत्र च कृमिः स्वभावतः सर्वमिदं प्रजायते।।^{१७}

बेर में दो तीखे काँटे हैं, उनमें एक बिल्कुल सीधा है तथा दूसरा मुड़ा हुआ है, उसका फल गोल है, उस फल में कृमि (कीड़ा) भी होता है। यह सब कुछ स्वभाव से ही होता है।

इसी प्रकार ओझा जी ने स्वभाववाद को प्रस्तुत करते हुए कहा है कि हंसों को सफेद, तोतों को हरा और मयूरों को विचित्र वर्णों का कौन बनाता है। यह तो सब स्वभाव से ही उत्पन्न होता है।^{१३} पं. ओझा ने पराशर आदि मनीषियों को इस परिणामवाद रूप स्वभाववाद की स्थापना करने वाला तथा पौरुषवाद का खण्डन करने वाला बताया है।^{१४}

२. यदृच्छावाद- यद्यपि यदृच्छावाद का कई दार्शनिकों ने कार्य-कारण सिद्धान्त की दृष्टि से स्वतन्त्रवाद के रूप में विवेचन किया है, किन्तु पं. मधुसूदन ओझा ने इसे स्वभाववाद का ही एक रूप स्वीकार किया है। इसे दूसरे शब्दों में 'आकस्मिकवाद' नाम भी दिया गया है। फलविशेष की प्राप्ति के उद्देश्य से की जाने वाली प्रवृत्ति के बिना ही फल-प्राप्ति का स्वतः हो जाना यदृच्छावाद है- 'अथो यदृच्छाऽनभिसंधि- पूर्वार्थप्राप्तिः।'^{१५} इस यदृच्छावाद को स्पष्ट करते हुए पं. ओझा ने कुछ उदाहरण दिए हैं-

अतर्कितोपनतमस्ति सर्वं चित्रं जनानां सुखदुःखाजातम्।
काकस्य तालेन यथाभिघातो न बुद्धिपूर्वोऽस्ति वृथाभिमानः॥
व्योम्नि प्रसन्ने प्रभवन्ति मेघा मेघे प्रसन्ने तडितोऽप्यकस्मात्।
अस्त्यद्य निर्वर्तमथ प्रवातं लौहाश्मसर्पा अपि खात् पतन्ति॥
न कारणं कार्यमिहास्ति तस्मादिदं कुतो नेति न शङ्कनीयम्।
अतर्कितं भावय यद्यथेदं यदृच्छयैवेदमुदेति सर्वम्॥^{१६}

अर्थात् लोगों के सभी सुख-दुःख अतर्कित रूप से आते हैं। जैसे कौए का ताल (ताड़) से संबंध विचारपूर्वक नहीं होता है। वैसे ही सब कुछ काकतालीय न्याय के समान यादृच्छिक है। स्वच्छ आकाश में अकस्मात् बादलों का धिर आना, प्रसन्न मेघ में बिजलियों का चमकना, वायु का एकदम चलना या आँधी आना, आकाश से कभी लौह आदि धातु, पत्थर और सर्प का बरसना, यह सब यादृच्छिक है। कारण के नहीं होने पर भी कार्य का होना यदृच्छावादियों को अतर्कित रूप से स्वीकृत है।

३. नियतिवाद- नियतिवाद भी भारतीय दार्शनिक धरातल पर एक पृथक्वाद के रूप में चर्चित है। किन्तु पं. मधुसूदन ओझा इसे भी स्वभाववाद का ही एक रूप मानते हैं। नियति के स्वरूप का प्रतिपादन करते हुए वे कहते हैं-

यदैव यद्वावदथो यतो वा तदैव तत्तावदथो ततो वा।

प्रजायतेऽस्मिन्नियतं नियत्याक्रान्तं हि पश्याम इदं समस्तम्।^{१७}

जब भी, जो, जितना, जिससे, जैसे हुआ है, तब ही, वह, उतना, उससे, वैसे ही होता है। इस प्रकार इस संसार में सब कुछ नियत रूप से उत्पन्न होता है और नियति से आक्रान्त ही सब कुछ प्राप्त होता है। उदाहरण से स्पष्ट करते हुए पं. ओझा ने कहा है-

पुरा तिलात् तैलमजायतैव तज्जायतेऽद्यापि जनिष्यते च।

अत्रापि जातं बहुदूरदेशान्तरेऽपि तत् तद्बुधैति जन्म।^{१८}

प्राचीन काल में भी तिलों से तेल होता था, आज भी होता है और भविष्य में भी होता रहेगा। यहाँ भी तिलों से तेल होता है तथा दूर देशान्तरों में भी होता रहेगा। नियति के इस नियम से ही सर्वत्र पदार्थ की उत्पत्ति होती है। तात्पर्य यह है कि तिलों से तेल का होना एक नियत सार्वभौम तथ्य है, जिसके साथ काल विशेष और देश विशेष का प्रतिबन्धक संबंध नहीं है।

नियतिवादियों के अनुसार सभी भाव नियत रूप से होते हैं। ईश्वर हो, अणु हो अथवा अन्य कोई भी हो सब नियति के वश में है।^{१९} प्राचीनकाल में पूरण, कश्यप आदि कतिपय विचारकों ने नियति को विश्व का मूल बताया है और यदृच्छावादियों के मत का उन्मूलन किया है।^{२०}

४. प्रकृतिवाद- पं. मधुसूदन ओझा ने अपरवाद अर्थात् स्वभाववाद के अन्तर्गत प्रकृतिवाद का भी समावेश किया है। उनका यह मन्तव्य है कि त्रिगुणात्मिका प्रकृति में ही स्वभाव, काल और कर्म होते हैं। त्रिगुणों का परिणमन स्वभाव से होता है। 'स्वभावतस्तत्परिणामवृत्तयः'^{२१} निर्गुण पुरुष में स्वभाव, काल और कर्म कुछ भी नहीं होते। तात्पर्य यह है कि स्वभाववाद का संबंध प्रकृतिवाद से है। पुरुष को उन्होंने स्वभावातीत, कालातीत और कर्मातीत माना है- गुणेऽनुभक्तं पुरुषे तु निर्गुणे न स स्वभावो न च कालकर्मणा^{२२}

यहाँ विचारणीय बिन्दु यह है कि ओझा जी ने अपरवाद के अन्तर्गत स्वभाववाद को परिणामवाद, यदृच्छावाद, नियतिवाद एवं पौरुषी-प्रकृतिवाद के रूप में प्रस्तुत कर सबको स्वभाववाद माना है, वह कहाँ तक उचित है? स्वभाववाद का जो स्वरूप बुद्धचरित आदि अन्य ग्रन्थों में प्राप्त होता है, जिसके अन्तर्गत कण्टकों की तीक्ष्णता, मयूरों के चन्द्रक की विचित्रता आदि में स्वभाव की कारणता स्वीकार की है;

१३६ जैनदर्शन में कारण-कार्य व्यवस्था : एक समन्वयात्मक दृष्टिकोण

वैसा स्वरूप पं. ओझा ने परिणामवाद के अन्तर्गत निरूपित किया है। 'परिणामः स्वभावतः'^{२३} वाक्य से भी पं. ओझा द्वारा स्वभाववाद को परिणामवाद कहना युक्तिसंगत प्रतीत होता है, किन्तु स्वभाववाद को यदृच्छावाद, नियतिवाद एवं पौरुषी प्रकृतिवाद मानना युक्तिसंगत प्रतीत नहीं होता है। इस संबंध में यह भी चिन्तन का विषय है कि जब भारतीय दर्शन में यदृच्छावाद, नियतिवाद एवं प्रकृतिवाद की स्वतन्त्र सिद्धान्तों के रूप में स्थापना हो चुकी थी तथा उनकी अनेक ग्रन्थों में चर्चा भी प्राप्त होती है तब ऐसी स्थिति में कम से कम यदृच्छावाद एवं नियतिवाद को तो स्वभाववाद में सम्मिलित करना कथमपि उचित नहीं कहा जा सकता है। पं. ओझा की अपने मन्तव्य में संभव है व्यापक दृष्टि रही हो तथापि उनके इस मन्तव्य से प्राचीन साहित्य में चर्चित एवं एक दूसरे का खण्डन करने वाले स्वभाववादी, नियतिवादी एवं यदृच्छावादी की पृथक् मान्यताओं को सुरक्षित रखना भी आवश्यक है। जिसके लिए इन्हें पृथक् मानना उचित है।

उपनिषद् में स्वभाववाद की चर्चा

श्वेताश्वतरोपनिषद् में जगदुत्पत्ति के संबंध में वेदविहित अनेक कारणों की चर्चा प्राप्त होती है, यथा-

'कालः स्वभावो नियतिर्यदृच्छा भूतानि योनिः पुरुष इति चिन्त्या'^{२४}

काल, स्वभाव, नियति, यदृच्छा, भूत और पुरुष इन कारणों पर विचार करके जगत् के संबंध में इनकी कारणता अस्वीकार करते हुए ब्रह्म को कारण माना है। इन कारणों के संबंध में किया गया यह चिन्तन वैदिक काल में इन सभी वादों के विकसित रूप प्राप्त होने का संकेत करता है। यहाँ स्वभाववाद का प्रसंग होने से स्वभाव की कारणता के संबंध में विस्तार से चिन्तन किया जा रहा है। इस मंत्र के शांकर भाष्य में स्वभाव को इस प्रकार परिभाषित किया है- 'स्वभावो नाम पदार्थानां प्रतिनियता शक्तिः, अग्नेरौष्ण्यमिव' अर्थात् पदार्थों की नियत शक्ति का नाम स्वभाव है, जैसे- अग्नि का स्वभाव उष्णता। यह प्रतिनियत शक्ति ही जगदुत्पत्ति में कारण है।

उपर्युक्त भावों के सदृश इस उपनिषद् में एक श्लोक और प्राप्त होता है-

स्वभावमेके कवयो वदन्ति, कालं तथान्ये परिमुह्यमानाः।

देवस्यैष महिमा तु लोके, येनेदं भ्राम्यते ब्रह्मचक्रम्।'^{२५}

अर्थात् कितने ही बुद्धिमान लोग स्वभाव को जगत् का कारण बताते हैं, उसी प्रकार कुछ दूसरे लोग काल को जगत् का कारण बतलाते हैं। ये लोग मोहग्रस्त हैं, ये

वास्तविक कारण को नहीं जानते। यह परमदेव परमेश्वर की समस्त जगत् में फैली हुई महिमा है, जिसके द्वारा यह ब्रह्मचक्र घुमाया जाता है।

पुराण में स्वभावविषयक मत

श्रीमद्भागवत महापुराण में द्रव्य, कर्म, काल एवं जीव की भाँति स्वभाव को भी भगवत्स्वरूप वासुदेव से अभिन्न बताया गया है।^{२६}

हरिवंश पुराण में जगत् को स्वभावकृत माना है। वहाँ कहा है कि ब्रह्मा ने स्वभाव से सर्वप्रथम जल को उत्पन्न किया और जल से ही समस्त सृष्टि उत्पन्न हुई है, जैसा कि कहा गया है-

स्वभावाज्जायते सर्वं स्वभावाच्च ते तथाऽभवत्।

अहंकारः स्वभावाच्च तथा सर्वमिदं जगत्॥

अथ मूर्ति समाधाय स्वभावाद् ब्रह्मचोदितः।

ससर्ज सलिलं ब्रह्मा येन सर्वमिदं ततम्॥^{२७}

अर्थात् स्वभाव से ही सबकी उत्पत्ति होती है, स्वभाव से ही परमात्मा पूर्वोक्त रूप में प्रकट हुआ और स्वभाव से ही अहंकार तथा यह सारा जगत् प्रकट हुआ है। ब्रह्म से प्रेरित ब्रह्मा ने मूर्ति (मूर्त रूप) का ध्यान कर स्वभाव से सर्वप्रथम जल को उत्पन्न किया और जल से यह समस्त सृष्टि उत्पन्न हुई।

सृष्टि-निर्माण जैसे वृहत् कार्यों में ही नहीं, अपितु प्रत्येक जीव के लघु प्रसंगों में भी स्वभाव ही कारण है, यथा-

स्वभावात्क्षयमायाति स्वभावाद्भयमेति च।

स्वभावाद्धिन्दते शान्तिं स्वभावाच्च न विन्दति॥^{२८}

स्वभाव से ही (जीव) क्षय को प्राप्त होता है। स्वभाव से ही भय को प्राप्त होता है। स्वभाव से ही शान्ति को प्राप्त करता है तथा स्वभाव से ही उसे (शान्ति को) प्राप्त नहीं करता है।

देवी भागवत पुराण में सांख्य मत के प्रसंग में विश्व के सर्जन में स्वभाव की कारणता स्पष्ट हुई है-

सदैवेदमनीशं च स्वभावोत्थं सदेदृशम्।

अकर्ताऽसौ पुमान्प्रोक्तः प्रकृतिस्तु तथा च सा॥^{२९}

१२८ जैनदर्शन में कारण-कार्य व्यवस्था : एक समन्वयात्मक दृष्टिकोण

अर्थात् सांख्यवादी कहते हैं कि यह संसार ईश्वर से रहित एवं स्वभाव से ही उत्पन्न है। पुरुष अकर्ता और प्रकृति सब कार्यों को सम्पन्न करने वाली है।

सभी वस्तुएँ स्वभाव में ही रहती हैं, विभाव दशा को प्राप्त नहीं होती- ऐसा माण्डूक्यकारिका में स्पष्ट किया गया है।

द्वैत पारमार्थिक सत् नहीं है, किन्तु अद्वैत का विवर्त है। इसका हेतु देते हुए आचार्य शंकर कहते हैं- यथाग्निः शीतताम्, तच्छानिष्टं स्वभाववैपरीत्यगमनम्। सर्वप्रमाणविरोधात्। अर्थात् जैसे अग्नि शीतलता को प्राप्त नहीं करती, क्योंकि उसका स्वभाव उष्णता है। शीतलता उसके स्वभाव के विपरीत है। अपने स्वभाव से विपरीत दशा को प्राप्त हो जाना सभी प्रमाणों से विरुद्ध होने के कारण इष्ट नहीं है। इस प्रकार अद्वैत के द्वैत नहीं बनने में स्वभाव ही कारण है। अतः स्वभाव से विपरीत कोई कार्य नहीं हो सकता-

न भवत्यमृतं मर्त्यं न मर्त्यममृतं तथा।

प्रकृतेरन्यथाभावो न कथंचिदभविष्यति।।^{३०}

अर्थात् लोक में अमर वस्तु कभी भी मरणशील नहीं होती और न मरणशील कभी अमर होती है, क्योंकि कोई भी वस्तु अपने स्वभाव के विपरीत नहीं हो सकती है।

गीता में स्वभाव का प्रतिपादन

गीता में मानव-स्वभाव के आधार पर वर्ण-भेद प्रतिपादित हुआ है-

ब्राह्मणक्षत्रियविशां शूद्राणां च परंतप।

कर्माणि प्रविभक्तानि स्वभावप्रभवैर्गुणैः।।^{३१}

अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रों के कर्तव्य व कर्म उनके स्वाभाविक गुणों के आधार पर विभक्त किए गए हैं। रामानुजभाष्य में इनकी स्वाभाविक प्रवृत्तियों का स्पष्ट वर्णन समुपलब्ध है। वहाँ पर उन्होंने स्वकीय भाव को स्वभाव कहा है।^{३२}

‘ब्राह्मणस्य स्वभावप्रभवो रजस्तमोऽभिभवेन उद्भूतः सत्त्वगुणः’^{३३}

सत्त्व की प्रधानता ब्राह्मण में स्वभाव से है। इस सत्त्व गुण की अधिकता से ही ब्राह्मण इन्द्रियों व अन्तःकरण का नियामक, तपस्वी, क्षमाशील, सरल, विद्वान् तथा आस्तिक बनता है।^{३४} ‘क्षत्रियस्य स्वभावप्रभवः सत्त्वतमसो अभिभवेन उद्भूतो रजोगुणः’^{३५} क्षत्रिय में सत्त्व व तमो गुण गौण और रजोगुण मुख्य होता है। रजोगुण की मुख्यता से क्षत्रिय स्वाभाविक रूप से शौर्ययुक्त, तेजशील, धैर्यशाली, निपुण,

वीरयोद्धा, दानी और ईश्वरभक्त होता है।^{३६} अतः गीता में मधुसूदन अर्जुन को उपदेश देते हुए कहते हैं-

स्वभावजेन कौन्तेय निबद्धः स्वेन कर्मणा।

कर्तुं नेच्छसि धनमोहात्करिष्यस्यवशोऽपि तत्।^{३७}

हे कुन्तीपुत्र अर्जुन! अपने स्वभावज कर्म से बंधा हुआ तू यदि मोह से युद्ध करना नहीं चाहेगा तो भी विवश हुआ उसे करेगा।

‘वैश्यस्य स्वभावप्रभवः सत्त्वरजोऽभिभवेन अत्युद्विक्तः तमोगुणः, शूद्रस्य स्वभावप्रभवः तु रजः सत्त्वाभिभवेन अत्युद्विक्तः तमोगुणः’^{३८} अर्थात् सत्त्व और रजोगुण को दबाकर अल्पतमो गुण उत्पन्न होने से वैश्य तथा अधिक तमो गुण उत्पन्न होने से शूद्र वर्ण होता है। कृषि, गोरक्षा और व्यापार- ये वैश्य के स्वभावज कर्म हैं तथा शूद्र का स्वभावज कर्म सेवा है।^{३९}

इस प्रकार वर्ण भेद में स्वभाव की कारणता स्पष्ट रूपेण स्वीकृत है। गीता में अन्यत्र भी स्वभाव का महत्त्व स्थापित है, यथा-

न कर्तृत्वं न कर्माणि लोकस्य सृजति प्रभुः।

न कर्मफलसंयोगं स्वभावस्तु प्रवर्तते।^{४०}

लोक (भूत-प्राणियों) के कर्तृत्व, कर्म और कर्मफल संयोग की प्रभु ने रचना नहीं की है, अपितु स्वभाव इन सबमें प्रवृत्त हुआ है। अर्थात् स्वभाव से ही समस्त जगत् एवं कार्य संचालित हैं।

रामायण में स्वभाव की कारणता

आदिकाव्य ‘रामायण’ में भगवान् रामचन्द्र बाली की मृत्यु के अवसर पर सुग्रीव को मनुष्य और जगत् की परवशता को समझाते हुए कहते हैं- ‘न कर्ता कस्यचित् कश्चिन्नियोगे नापि चेश्वरः स्वभावे वर्तते लोकः’^{४१} अर्थात् कोई भी पुरुष न तो स्वतन्त्रतापूर्वक किसी काम को कर सकता है और न किसी दूसरे को उसमें लगाने की शक्ति रखता है। यह सारा जगत् स्वभाव के अधीन है।

इस प्रकार यहाँ भी सर्वत्र स्वभाव की कारणता के माध्यम से ‘स्वभाववाद’ प्रतिष्ठित हुआ है।

महाभारत में स्वभाववाद का निरूपण एवं निरसन

महाभारत में कौरव-पाण्डव की कथा के साथ-साथ प्रसंगानुसार उस समय की दार्शनिक भ्रान्तताओं का भी प्रतिपादन हुआ है। तदनुसार कुछ लोग कार्य की

१४० जैनदर्शन में कारण-कार्य व्यवस्था : एक समन्वयात्मक दृष्टिकोण

सिद्धि में पुरुषार्थ को प्रधान कारण मानते हैं तो दूसरे दैव को प्रधानता देते हैं। 'स्वभावं भूतचिन्ताकाः' द्वारा स्वभाव को कार्य-सिद्धि का हेतु स्वीकार करने वाले भूतचिन्ताकों का मत भी प्रकाश में आया है।^{४२} ये भूत-चिन्तक अर्थात् स्वभाववादी पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश के योग से जगत् एवं जगत् के पदार्थों की रचना मानते हैं। जगत् का सर्जन और विनाश दोनों पंचभूतों के मिलने और बिछुड़ने से होता है। पंचभूतों का एक और अनेक होना स्वभाव से ही होता है, अतः कहा है-

धातवः पंच भूतेषु, खं वायुर्ज्योतिषो धरा।

ते स्वभावेन तिष्ठन्ति, विद्युज्यन्ते स्वभावतः॥^{४३}

सभी भाव और अभाव स्वभावकृत हैं तथा स्वभाव से ही प्रेरित होकर शुभ, अशुभ आदि सभी गुण मनुष्य में प्रवेश करते हैं। प्रज्ञा और शांति भी स्वभाव से प्राप्त होती है तथा दृष्टि पथ में आने वाली सभी वस्तुएँ भी स्वभाव से बनती हैं। इन सबमें पुरुषार्थ की कोई आवश्यकता नहीं है, अतः 'मैंने यह किया' इस प्रकार का अभिमान वृथा है।^{४४}

कई बार अनिष्ट की निष्पत्ति और इष्ट की निवृत्ति बिना प्रयत्न के स्वाभाविक रूप से देखने में आती है, किन्तु कुछ साधु-असाधु मनुष्य अनिष्ट और इष्ट के प्रति आत्मा को कर्ता स्वीकार करते हैं। तात्पर्य यह है कि बिना स्वभाव के पुरुषार्थ से ही सब कुछ मानने वालों की प्रज्ञा दोषयुक्त है।^{४५}

यदि आत्मश्रेय के लिए मनुष्य स्वयं निश्चय से कर्ता हो तो मनुष्य की हर एक प्रवृत्ति सफल होनी चाहिए, कहीं भी निष्फलता नहीं होनी चाहिए, पर ऐसा नहीं होता। अतः स्वभाव की प्रधानता माननी चाहिए।^{४६}

स्वभावादेव तत्सर्वमिति मे निश्चिता मतिः।

आत्मप्रतिष्ठा प्रज्ञा वा, मम नास्ति ततोऽन्यथा॥^{४७}

सुख-दुःख आदि सभी विषय स्वभाव से ही बनते हैं। आत्मप्रतिष्ठा और प्रज्ञा स्वभाव के सिवाय अन्य प्रकार से नहीं बन सकती।

प्राणियों के जन्म और मरण स्वभाव से नियत हैं। अमुक ने अमुक का वध किया और अमुक ने अमुक का वध नहीं किया, ये दोनों ही मान्यताएँ असत्य हैं।^{४८}

महाभारत में जहाँ एक स्थान पर स्वभाववाद का निरूपण प्राप्त होता है, वहीं दूसरे स्थान पर निरसन भी समुपलब्ध है, यथा-

यस्तु पश्यन् स्वभावेन विनाभावमचेतनः।

पुष्यते च पुनः सर्वान् प्रज्ञया मुक्तहेतुकान्।^{४९}

जो यह समझता है कि यह जगत् स्वभाव से ही उत्पन्न है, इसका कोई चेतन मूल कारण नहीं है। वह अज्ञानी मनुष्य व्यर्थ तर्कयुक्त बुद्धि द्वारा हेतुरहित वचनों का बार-बार पोषण करता रहता है।

इन्द्रियों द्वारा उपलब्ध न होने से ईश्वर जैसा कोई जगत् का कारण नहीं है, वस्तुगत स्वभाव ही जगत् का कारण है। इस प्रकार की कारणता स्वीकार करने वाले स्वभाववादी ईश्वर के अस्तित्व को उसी प्रकार नकारते हैं जिस प्रकार मूँज के भीतर रही हुई सींक की सत्ता को। कहने का तात्पर्य यह है कि मूँज के भीतर स्थित दिखायी न देने वाली सींक मूँज के चीर डालने पर अवश्य उपलब्ध होती है, इसी तरह समस्त जगत् में व्याप्त परमात्मा इन्द्रियों द्वारा दिखाई नहीं देने पर भी दिव्य ज्ञान के द्वारा अवश्य प्रत्यक्ष होते हैं।^{५०} अतः स्वभाववादियों का मन्तव्य उचित नहीं है।

स्वभाववादी को नास्तिक कहते हुए उनके मार्ग को अकल्याणकारी माना है। जिसे महाभारत के निम्न श्लोक प्रमाणित करते हैं-

ये चैनं पक्षमाश्रित्य निवर्तन्त्यल्पमेधसः।

स्वभावं कारणं ज्ञात्वा न श्रेयः प्राप्नुवन्ति ते॥

स्वभावो हि विनाशाय मोहकर्म मनोभवः।

निरुक्तामेतयोरेतत् स्वभावपरिभावयोः॥^{५१}

अर्थात् जो मन्दबुद्धि मानव इस नास्तिक मत का अवलम्बन करके स्वभाव ही को कारण जानकर परमेश्वर की उपासना से निवृत्त हो जाते हैं, वे कल्याण के भागी नहीं होते हैं। नास्तिक लोग जो स्वभाववाद का आश्रय लेकर ईश्वर और अदृष्ट की सत्ता को स्वीकार नहीं करते हैं, यह उनका मोह जनित कार्य है, स्वभाववाद मूढ़ों की कल्पना मात्र है। यह मानवों को परमार्थ से वंचित करके उनका विनाश करने के लिए ही उपस्थित किया गया है।

यदि सभी कार्य स्वभाव से सम्पन्न हो जाते तो कोई भी भूमि को जोतने में, अनाज के बीजों का संग्रह करने में तथा यान, आसन और गृह-निर्माण आदि कार्यों में प्रवृत्त ही न होता। क्रीड़ा के लिए स्थान और रहने के लिए घर बनाना, रोगों का उपचार करना आदि कार्य चेतन प्राणी स्वभाव से न करके पुरुषार्थ से करते हैं।^{५२} इस

१४२ जैनदर्शन में कारण-कार्य व्यवस्था : एक समन्वयात्मक दृष्टिकोण

तरह स्वभाव मात्र को कारण मानने पर हमारे सभी दैनिक कार्य अवरुद्ध हो जाएंगे और हमारा जीवन स्थावर के समान हो जाएगा। अतः स्वभाववादियों का मत अव्यावहारिक है।

संस्कृत साहित्य में स्वभाववाद का स्वरूप

संस्कृत साहित्यिक ग्रन्थों में भी दार्शनिक मतों का उल्लेख यत्र-तत्र प्राप्त होता है। बृहत्संहिता, बुद्धचरित, पंचतंत्र, हितोपदेश आदि में 'स्वभाव' विषयक विभिन्न श्लोक मिलते हैं। स्वभाववाद के प्रसंग में इन सबका विवरण नीचे दिया जा रहा है।

बुद्धचरित में-

जीव के जन्म में, गर्भ में आने पर उसके शारीरिक विकास में, जीवन भर के शुभ-अशुभ कार्यों में, उसकी ऐन्द्रियक प्रवृत्ति में, रुग्णता व वृद्धावस्था में, अन्त में उसके मोक्ष-गमन में तथा प्रकृति की विचित्रता में स्वभाव ही कारण है, कहीं भी प्रयत्न की आवश्यकता नहीं है। ऐसा मन्तव्य बुद्धचरित में प्रतिपादित हुआ है-

केचित्स्वभावादिति वर्णयन्ति शुभाशुभं चैव भवाभवौ च।

स्वाभाविकं सर्वमिदं च यस्मादतोऽपि मोघो भवति प्रयत्नः॥

यदिन्द्रियाणां नियतः प्रचारः प्रियाप्रियात्वं विषयेषु चैव।

संयुज्यते यज्जरयार्तिभिश्च कस्तत्र यत्नो ननु स स्वभावः॥^{५३}

शुभ, अशुभ, जन्म एवं मृत्यु स्वभाव से होते हैं। इन्द्रियों की प्रिय एवं अप्रिय विषयों में प्रवृत्ति स्वाभाविक रूप से होती है। जरा आदि रोग भी स्वतः ही होते हैं। इस प्रकार इन सबमें प्रयत्न करना व्यर्थ है।

जल से अग्नि का बुझना और अग्नि से जल का सूखना, विभिन्न प्रकार के पंचभूतों का एक होकर जगत् बनना, गर्भस्थ शिशु के हाथ-पैर, उदर आदि विभिन्न शारीरिक अंगों का निर्माण होना व आत्मा से उनका संयोग होना- इन सभी को रहस्यज्ञाता स्वाभाविक मानते हैं।^{५४}

प्राकृतिक विचित्रता में भी स्वभाव ही कारण है, यथा-

कः कण्टकस्य प्रकरोति तैक्ष्ण्यं विचित्रभावं मृगपक्षिणां वा।

स्वभावतः सर्वमिदं प्रवृत्तं न कामचारोऽस्ति कुतः प्रयत्नः॥^{५५}

काँटों में तीक्ष्णता-नुकीलापन किसने पैदा किया, किसने उन काँटों को घिसकर पैना किया होगा? हरिण तथा पक्षियों के विचित्र स्वभाव किसने किए। पक्षियों के अनेक रंग के पर, उनकी मधुर कूँजन, हिरण की सुन्दर आँखें, उसका छलाँग भरकर कूदना-फाँदना ये सब स्वभाव से ही हैं।

बृहत्संहिता में-

बृहत्संहिता में जगदुत्पत्ति के प्रसंग में अनेक विकल्पों का उल्लेख करते हुए वराहमिहिर ने स्वभाववाद का भी उल्लेख किया है-

कपिलः प्रधानमाह द्रव्यादीन् कणाभुगस्य विश्वस्य।

कालं कारणमेके स्वभावमपरे जगुः कर्म॥^{५६}

सांख्यशास्त्र के आचार्य कपिल इस जगत् का कारण प्रधान अर्थात् प्रकृति को कहते हैं। कणाद मुनि द्रव्यादि पदार्थों को जगत् का कारण बताते हैं। कोई पौराणिक 'काल' को जगत् का कारण मानते हैं। दूसरे विद्वान् स्वभाव को जगत् का कारण समझते हैं और मीमांसक कर्म को कारण जानते हैं।

पंचतन्त्र में-

वस्तु का स्व-गत भाव ही स्वभाव है। स्वभाव कभी परिवर्तित नहीं होता। लाखों प्रयत्न करने के बावजूद भी काले कौए को उजला नहीं बनाया जा सकता। विशेष बाहरी निमित्त के संयोग में रखने पर भी वस्तु अपना मूल स्वभाव नहीं छोड़ती। इन भावों को विष्णु शर्मा ने पंचतन्त्र में निम्न रूप में व्यक्त किया है।

स्वभावो नोपदेशेन शक्यते कर्तुमन्यथा।

सुतप्तमपि पानीयं पुनर्गच्छति शीतताम्॥

यदि स्वाच्छीतलो वह्निः शीतांशुर्दहनात्मकः।

न स्वभावोऽत्र मर्त्यानां शक्यते कर्तुमन्यथा॥^{५७}

उपदेश से किसी के स्वभाव का परिवर्तन नहीं किया जा सकता। जैसे अत्यधिक गरम हुआ पानी भी कुछ समय बाद पुनः अपने स्वभाव को अर्थात् शीतलता को प्राप्त हो जाता है। चाहे अग्नि शीतल हो जाए और चन्द्रमा आग उगलने लगे, किन्तु मनुष्य का स्वभाव परिवर्तन कर देना संभव नहीं है।

हितोपदेश में-

स्वभाव को सभी गुणों में सर्वोपरि बताते हुए हितोपदेश में कहा गया है-

सर्वस्य हि परीक्ष्यन्ते स्वभावा नेतरे गुणाः।

अतीत्य हि गुणान् सर्वान् स्वभावो मूर्ध्नि वर्तते।

न धर्मशास्त्रं पठतीति कारणं न चाऽपि वेदाध्ययनं दुरात्मनः।

स्वभाव एवाऽत्र तथाऽतिरिच्यते यथा प्रकृत्या मधुरं गवां पयः।।^{५८}

सभी गुणों में स्वभाव मूर्धन्य होता है। अतः सभी के स्वभाव की ही परीक्षा की जाती है न कि अन्य गुणों की। जैसे- गौ का दूध स्वभाव से ही मधुर होता है, वैसे ही जो व्यक्ति स्वभाव से ही सत्त्वगुणी सत्पुरुष हो, उसकी ही धर्म में प्रवृत्ति होती है। जो स्वभाव से ही दुष्ट हो उसने चाहे कई धर्मशास्त्र और वेद का अध्ययन भले ही कर लिया हो तो भी उसकी दुष्टता तथा अधर्माचरण दूर नहीं होते।

हितोपदेश में 'मित्रलाभ' प्रकरण में माता-पिता, मित्र, पशु आदि के स्वभाव को अपरिवर्तनशील बताया है-

माता मित्रं पिता चेति स्वभावात् त्रितयं हितम्।

कार्यकारणतश्चाऽन्यो भवन्ति हितबुद्ध्यः।।

तिरश्चामपि विश्वासो दृष्टः पुण्यैककर्मणाम्।

सतां हि साधुशीलत्वात् स्वभावो न निवर्तते।।^{५९}

माता, मित्र और पिता ये तीनों स्वभाव से ही हित करने वाले होते हैं और दूसरे तो कार्य-कारण रूपी स्वार्थ के लिए हितकारी बन जाते हैं। इंसानों के साथ केवल पुण्यशील कार्यों को करने वाले पशुओं का भी विश्वास करना चाहिए। क्योंकि जो साधु स्वभाव वाले होते हैं, उनका सत्स्वभाव कभी नहीं बदलता है।

अन्त में पंडित नारायण ने स्वभाव को नित्य एवं दुरतिक्रम्य स्वीकार करते हुए कहा है- 'यः स्वभावो हि यस्यास्ति स नित्यं दुरतिक्रमः'^{६०} अर्थात् जिसका जो स्वभाव है वह सर्वदा रहने वाला तथा अमिट होता है।

दार्शनिक कृतियों में स्वभाववाद की चर्चा

सांख्यकारिका और उसकी वृत्ति में स्वभाववाद

सांख्यकारिका में जरा-मरणादि दुःखों में स्वभाव की कारणता स्वीकार की है-

तत्र जरामरणकृतं दुःखं प्राप्नोति चेतनः पुरुषः।

लिंगस्याविनिवृत्तेस्तस्माद् दुःखं स्वभावेन।^{६१}

अर्थात् लिंग शरीर और पुरुष का भेदज्ञान न रहने के कारण चेतन पुरुष शरीरादि में उत्पन्न जरा-मरण हेतुक दुःख भोगता है। यह दुःख स्वभाव से ही होता है।

ज्योतिषमती व्याख्या^{६२} में और अधिक स्पष्ट करते हुए कहा है- “लिंग की विनिवृत्ति जब तक न हो तब तक दुःख प्राप्ति चलती रहेगी। लिंग जब तक व्यक्त रहेगा तब तक यह वैषयिक चांचल्य द्वारा चंचल होता रहेगा- यह चांचल्य ही दुःख का मौलिक स्वरूप है। इस प्रकार लिंग शरीर की विनिवृत्ति तक दुःख स्वभाव से प्राप्त होता रहता है।

सांख्यकारिका की माटरवृत्ति में ईश्वर, स्वभाव, काल की जगत्-कारणता का अन्य मत के रूप में कथन कर स्वमत (सांख्यमत) का प्रतिपादन किया है। अतः अंत में प्रकृति को जगदुत्पत्ति का मूल कहा है। स्वभाव की कारणता को माटरवृत्ति में इस प्रकार स्पष्ट किया गया है-

‘अपरे स्वभावमाहुः। स्वभावः कारणमिति।’ तथाहि-

‘केन शुक्लीकृता हंसाः शुकाश्च हरितीकृताः।

स्वभावव्यातिरेकेण विद्यते नात्र कारणम्।।^{६३}

कुछ स्वभाव को जगत् का कारण मानते हुए कहते हैं कि हंसों के सफेद और तोतों के हरित होने में स्वभाव के अतिरिक्त अन्य कोई कारण नहीं है।

आचार्य माटर इस मत का निराकरण करते हुए कहते हैं- “स्वभावो नाम न कश्चिद् पदार्थोऽस्ति। यतः प्रजानामुत्पत्तिसंगतिः स्यात्। तस्मात् ब्रूते स्वभावः कारणमिति तन्मिथ्या।”^{६४}

स्वभाव कोई अतिरिक्त पदार्थ नहीं है। जिससे कि जगत् की उत्पत्ति मानी जाए। अतः जो कोई स्वभाव को जगत् का कारण मानते हैं, वह ठीक नहीं है।

न्यायसूत्र (१५० ई.) एवं न्यायभाष्य (चौथी शती) में स्वभाववाद का विमर्श

अक्षपाद गौतम के न्यायसूत्र एवं वात्स्यायन के न्यायभाष्य में स्वभाववाद को चार्वाकमत स्वीकार करते हुए उसका उपस्थापन एवं खण्डन किया है, जिसका सारांश इस प्रकार है-

स्वभाववाद का उपस्थापन- 'अनिमित्ततो भावोत्पत्तिः कण्टकतैक्ष्ण्या-दिदर्शनात्'^{६५} अर्थात् काँटे आदि में बिना कारण (स्वाभाविक) तीक्ष्णता दिखाई पड़ती है, इसी प्रकार संसार के समस्त भावरूप कार्यों की उत्पत्ति बिना कारण (स्वाभाविक) ही होती है। इस मत को और स्पष्ट करते हुए वात्स्यायन भाष्य में कहा गया है- "कण्टकतैक्ष्ण्यादिदर्शनात् कण्टकस्य तैक्ष्ण्यम्, पर्वतधातूनां चित्रता, ग्राव्यां श्लक्ष्णता, निर्निमित्तं चोपादानं दृष्टं तथा शरीरादिसर्गोऽपीति।" जिस प्रकार कांटों में तीक्ष्णता, पर्वत के गेरु आदि धातु द्रव्यों में विचित्रता, ग्रावा (पत्थरों) में श्लक्ष्णता (चिकनाहट) यह सब बिना निमित्त के दिखाई पड़ते हैं, उसी प्रकार शरीरादि की रचना भी बिना निमित्त कारण के ही होती है, यह सिद्ध होता है।

खण्डन -

(i) अनिमित्तनिमित्तत्वान्निमित्ततः^{६६}- चार्वाक भावरूप कार्यों की उत्पत्ति में सभी कारणों को अस्वीकार करते हुए उसकी स्वाभाविक आकस्मिक उत्पत्ति ही मानते हैं। वे जिस अनिमित्त (स्वभाव) के सद्भाव से कार्य को निष्पन्न मानते हैं, वही अनिमित्त उस कार्य का निमित्त कारण है। अतः अनिमित्त ही निमित्त होने से चार्वाक मत का स्वतः खण्डन हो जाता है।

(ii) निमित्तानिमित्तयोरर्थान्तरभावादप्रतिषेधः^{६७}- निमित्त और निमित्त का निषेध रूप अनिमित्त भिन्न (अर्थान्तर) है। इस कार्य में यह कारण है या नहीं है, ऐसी प्रतीति होने से निमित्त तथा अनिमित्त दोनों का भेद स्पष्ट है। इसलिए कार्य की कारणता का निषेध नहीं हो सकता है। जिस प्रकार कमण्डल में जल नहीं है, यह कहने से जल का कमण्डल में निषेध भले ही हो, किन्तु जलमात्र का निषेध नहीं होता उसी प्रकार तीक्ष्णता की अनिमित्तता निमित्त या कारणमात्र का निषेध नहीं कर सकती।

इस प्रकार कारणवाद का निषेध करना शक्य नहीं है।

वाक्यपदीय में स्वभाव की कारणता

कारण-कार्य के संबंध में वाक्यपदीय में भर्तृहरि ने कारण में कार्य को उत्पन्न करने का स्वभाव या सामर्थ्य अंगीकार किया है।^{६८} यदि कार्य का प्रतिनियत कारण न माना जाए तो कारण का अन्य कारण एवं उसका भी अन्य कारण मानना होगा, जिससे अनवस्था दोष उपस्थित होगा। अन्त में कोई न कोई मूल कारण स्वीकार करना होगा। सांख्यदर्शन में मूल कारण प्रधान प्रकृति है, उससे ही व्यक्त प्रकृति उत्पन्न होती है। मूल या प्रधान प्रकृति का यह स्वभाव है कि उससे व्यक्त प्रकृति

प्रकट होती है, किन्तु उसका यह स्वभाव क्यों है, इसका उत्तर अव्यपदेश्य है। अतः इस स्थिति में हेतु संबंधी प्रश्न की परम्परा निवृत्त हो जाती है। जिनके मत में कारण अनित्य है उनके अनुसार हेतु की शक्ति या सामर्थ्य ही स्वभाव माना जाता है। हेतु में वह सामर्थ्य क्यों है, इसका उत्तर अव्यपदेश्य है।^{१९}

वाक्यपदीय के द्वितीय वाक्य काण्ड में स्वाभाविकी प्रतिभा का विवेचन करते हुए कहा है कि कई प्राणियों में जन्मान्तर के अभ्यास से यह प्रतिभा उपलब्ध होती है। उदाहरण के लिए—

स्वरवृत्तिं विकुरुते मधौ पुंस्कोकिलस्य कः।

जन्त्वादयः कुलायादिकरणे केन शिक्षिताः॥^{२०}

बसंत ऋतु में पुरुष-कोकिल स्वभाव से ही पंचम स्वर में गान करता है। उसको किसी प्रकार की शिक्षा की आवश्यकता नहीं होती। विभिन्न प्रकार के प्राणी स्वभाव से ही अपना घोंसला या घर बनाते हैं, उन्हें किसी प्रकार की शिक्षा नहीं दी जाती। मकड़ी के द्वारा जाला बनाना, बया के द्वारा घोंसला बनाना उनकी स्वाभाविकी प्रतिभा का निदर्शन है। इसी तथ्य को स्पष्ट करते हुए आगे कहा है—

आहारप्रीत्यापद्वेषप्लवनादिक्रियाषु कः।

जात्यान्वयप्रसिद्धासु प्रयोक्ता मृगपक्षिणाम्॥^{२१}

आहार, प्रीति, अपद्वेष, प्लवन आदि क्रियाएँ अनेक पशुओं और पक्षियों में जाति कुल आदि के आधार पर स्वाभाविक रूप से पायी जाती हैं। इसे स्पष्ट करते हुए व्याख्याकार ने कहा है— मार्जार का आहार मूषक होता है, यह शिक्षा मार्जार को किसी ने नहीं दी वह स्वाभाविक रूप से अपने आहार को जानता है। कुत्ते का अपने स्वामी के प्रति प्रेम स्वाभाविक रूप से होता है। इसी प्रकार विभिन्न प्राणियों में द्वेष भी स्वाभाविक माना जाता है। जैसे— मूषक और मार्जार में, गौ और व्याघ्र में, सर्प और नेवले में, अश्व और महिष में पारस्परिक द्वेष स्वाभाविक रूप से होता है। भैंस, गाय आदि की जल में प्लवन क्रिया भी स्वाभाविक होती है।^{२२}

बौद्ध ग्रन्थ तत्त्वसंग्रह में स्वभाववाद की चर्चा

स्वभाववाद के अनुसार पदार्थ या कार्य की उत्पत्ति स्वतः होती है, उसमें किसी अन्य कारण की अपेक्षा नहीं होती। उनका मन्तव्य है पदार्थ स्वतः ही उत्पन्न होते हैं— 'स्वत एव भावा जायन्ते इति।'^{२३}

बौद्ध दार्शनिक शान्तरक्षित (७०५ ईस्वी) द्वारा रचित तत्त्वसंग्रह में स्वभाववाद को प्रस्तुत करते हुए कहा गया है कि स्वभाववादियों के अनुसार पदार्थों

१४८ जैनदर्शन में कारण-कार्य व्यवस्था : एक समन्वयात्मक दृष्टिकोण

की उत्पत्ति समस्त स्व-पर कारणों से निरपेक्ष होती है।^{१८} वे उसकी उत्पत्ति में पर को ही नहीं 'स्व' को भी कारण नहीं मानते हैं। तत्त्वसंग्रहकार ने स्वभाववाद को स्पष्ट करते हुए निम्नांकित दो श्लोक दिए हैं-

राजीवकेसरादीनां वैचित्र्यं कः करोति हि।

मयूरचन्द्रकादिर्वा विचित्रः केन निर्मितः॥

यथैव कण्टकादीनां तैक्षण्यादिकमहेतुकम्।

कादाचित्कतया तद्बहुःखादीनामहेतुता॥^{१९}

कमल के पराग, नाल, दल(पंखुड़ियाँ), कर्णिका आदि के आकार, वर्ण इत्यादि विभिन्नता को कौन उत्पन्न करता है अर्थात् कोई नहीं। स्वभाव ही इसमें एकमात्र कारण है। मयूर का चन्दोवा (चन्द्रक) आदि का भी निर्माण किसी के द्वारा नहीं किया गया। स्वभाव से ही उसकी उपलब्धि होती है। यही नहीं काँटे आदि की तीक्ष्णता निर्हेतुक अर्थात् स्वाभाविक है। इसी प्रकार दुःख-सुख आदि भी अहेतुक हैं। स्वभाव से ही इनका जन्म होता है।

जिसके होने पर ही नियम से किसी का होना तथा न होने पर न होना ही कारण-कार्य सिद्धान्त का आधार माना जाता है, किन्तु स्वभाववादियों का कथन है कि इस कारण-कार्य सिद्धान्त में दोष पाया जाता है। उदाहरण के लिए स्पर्श के होने पर ही रूप का चक्षुर्विज्ञान होता है, नहीं होने पर नहीं होता, (रूपी पदार्थ में रूप के साथ रस, गन्ध एवं स्पर्श सदैव रहते हैं) किन्तु स्पर्श को चक्षुर्विज्ञान का कारण नहीं माना जा सकता। इसलिए कार्य-कारण भाव का उपर्युक्त लक्षण (यस्य भावाभावयोर्यस्य- भावाभावौ नियमेन भवतः, तत्तस्य कारणम्)^{२०} व्यभिचारी है। अतः यह बात सिद्ध है कि पदार्थों की उत्पत्ति अन्य समस्त हेतुओं से निरपेक्ष है- 'सर्वहेतु-निराशंसं भावानां जन्मेति'^{२१}

बौद्ध दर्शन द्वारा प्रतिपादित कार्य-कारण सिद्धान्त 'प्रतीत्यसमुत्पाद' के अन्तर्गत पूर्व घट का सम्पूर्ण विनाश एवं उत्तरघट की उत्पत्ति में स्वभाव की हेतुता को स्वीकार किया गया है। अमुक कारण से अमुक कार्य की उत्पत्ति होती है, इसमें हेतु का स्वभाव ही मुख्य होता है- 'तस्माहव्वं किंकय-मह हेतुसहावक्तमेव'^{२२} अर्थात् प्रतिपक्षी द्वारा प्रश्न पूछने पर कि विवक्षित कारण में उसी कार्य को उत्पन्न करने वाला कौन है तो उत्तर में बौद्ध हेतु के स्वभाव को इसका कर्ता बतलाते हैं। जैसे मिट्टी ही घड़ा उत्पन्न करने के स्वभाव से युक्त है न कि पट और तंतु ही पट को उत्पन्न करने के स्वभाव वाला है न कि घट। इस वस्तु-व्यवस्था के नियम में सभी प्रकार से वस्तु का स्वभाव ही प्रमाणित होता है।^{२३}

न्यायकुसुमांजलि में आकस्मिकवाद के अन्तर्गत स्वभाववाद

उदयनाचार्य ने न्यायकुसुमांजलि ग्रन्थ में कारण-कार्य के संदर्भ में 'आकस्मिकवाद' के अन्तर्गत स्वभाववाद की चर्चा की है। आचार्य उदयन ने 'अकस्मात्' शब्द के पाँच अर्थों का निरूपण करते हुए उनकी समालोचना की है तथा कार्य की उत्पत्ति के लिए नियत देशवृत्ति वाले कारण की स्थापना की है।^{१०}

'अकस्मात्' के पाँच अर्थ इस प्रकार किए गए हैं- १. कार्यों का कोई भी कारण नहीं है। २. कार्यों की उत्पत्ति ही नहीं होती। ३. कार्य स्वयं अपने द्वारा ही उत्पन्न होते हैं। ४. गगनकुसुमादि की तरह किसी भी अनुपाख्य पदार्थ से सभी कार्यों की उत्पत्ति होती है। ५. स्वभाव से ही सभी कार्य उत्पन्न होते हैं।

'अकस्मात्' शब्द के इन पाँचों अर्थों का आचार्य उदयन ने कारण-कार्य सिद्धान्त की दृष्टि से खण्डन किया है। खण्डन संबंधी तर्क-वितर्क यहाँ प्रस्तुत है-

पूर्वपक्ष- सभी कार्य अकारण यानी बिना कारण अकस्मात् भी हो जाते हैं। अतः कार्यों का कोई भी कारण नहीं है।

उत्तर पक्ष- नैयायिक के अनुसार यह मत असंगत है। क्योंकि ऐसा मानने पर कारण से निरपेक्ष कार्योत्पत्ति माननी होगी। कारण से निरपेक्ष का तात्पर्य है कार्य कारण की अपेक्षा नहीं रखता है और वह बिना किसी कारण के उत्पन्न हो जाता है। इससे प्रत्येक समय में सभी कार्यों की उत्पत्ति होती रहेगी क्योंकि 'कारणों का अभाव' जो कि कार्योत्पत्ति का हेतु है, वह हर समय उपलब्ध है। कार्योत्पत्ति और कार्य की अनुत्पत्ति दोनों में कारण की सत्ता नहीं मानना अनुभव विरुद्ध है।

पूर्वपक्ष- 'अकस्मात्' से तात्पर्य कार्यों का उत्पन्न नहीं होना है।

उत्तरपक्ष- 'अकस्मादेव भवति' वाक्य से कार्यों की उत्पत्ति को अस्वीकार करने वाला पक्ष हम नैयायिकों को स्वीकार्य नहीं है। कारण कि यह मान लेने पर एकत्रित कारणों के पूर्व तथा पश्चात् दोनों ही काल में कार्य संभव नहीं हो पाएगा। ऐसी स्थिति में कारणों के विद्यमान होने पर भी कार्य नहीं होगा और अविद्यमान होने पर भी कार्य नहीं होगा। उक्त दोनों परिस्थितियों में अन्तर नहीं होने से 'अकस्मात्' का यह अर्थ उपयुक्त नहीं है।

पूर्वपक्ष- कार्य अन्य कारणों की अपेक्षा न रखते हुए 'स्व' से ही उत्पन्न होता है।

उत्तरपक्ष- कार्य की उत्पत्ति में 'स्वयं कार्य' ही कारण है। इस मत से भी सिद्धान्तपक्षी नैयायिक असहमत हैं। घट की उत्पत्ति में स्वयं घट ही कारण है, यह मानना कैसे उचित हो सकता है, जबकि व्यवहार में हमेशा मिट्टी से घट बनता हुआ देखा जाता है। उत्पत्ति से पहले 'स्व' रूप उस वस्तु (कार्य) की सत्ता संभव नहीं होने से स्वयं कार्य ही अपनी उत्पत्ति में कारण नहीं हो सकता है, क्योंकि जिस समय जिस वस्तु की अपनी ही सत्ता नहीं है, उस वस्तु में आगे के क्षणों में 'स्व' रूप उसी कार्य के उत्पादन की क्षमता नहीं होती। दो भिन्न वस्तुओं में रहने वाला पौर्वापर्य का संबंध कारण-कार्य में नियम से होता है। चूंकि यहाँ कारण और कार्य दोनों एक ही वस्तु हैं इसलिए पौर्वापर्य संबंध घटित नहीं होता है। इस प्रकार यहाँ कारण-कार्य सिद्धान्त ही दोषपूर्ण हो जाता है।

पूर्वपक्ष- अनुपाख्य यानी अप्रसिद्ध किसी पदार्थ से सभी कार्यों की उत्पत्ति होना, अकस्मात् का अर्थ है। अप्रसिद्ध अर्थात् कार्य के प्रति किसी नियत कारण का न होना, यह अकस्मात् रूप से कार्योंत्पत्ति कहलाती है। जैसे- पट के प्रति तन्तु, घट के प्रति मिट्टी, धुएँ के प्रति अग्नि आदि प्रसिद्ध या नियत कारण हैं। इन नियत कारणों से कार्योंत्पत्ति न होना आकस्मिक उत्पत्ति है।

उत्तरपक्ष- किसी भी वस्तु से किसी का उत्पन्न हो जाना मानेंगे तो एक ही वस्तु से सभी कार्य या सभी वस्तुओं से एक ही कार्य होने लगेगा। जैसे मिट्टी से वस्त्र, घट, पशु-पक्षी, मिट्टी, जल, आकाश, अग्नि, वायु आदि सभी का उत्पन्न होना या वस्त्र, पशु-पक्षी, मिट्टी, जल, आकाश, अग्नि, वायु आदि सभी से घट का ही उत्पन्न होना। किसी निश्चित कारण के उपस्थित होने पर नियमित रूप से उसी कार्य का होना उस वस्तु का 'उत्पत्ति काल' है। किन्तु किसी भी वस्तु को सभी कार्यों का कारण मान लेने पर पूर्वोक्त उत्पत्ति काल से पूर्व ही कार्य सम्पन्न हो जाएगा। जिससे कार्यों में नित्यत्व की आपत्ति होगी और कादाचित्कत्व (अकस्मात्) अनुपपन्न हो जाएगा।

उपर्युक्त चारों अर्थों को पूर्णरूप से नैयायिक अस्वीकार करते हैं, किन्तु पाँचवें अर्थ स्वभाव के विशिष्ट स्वरूप को मानते हैं। उसकी चर्चा नीचे की गई है-

पूर्वपक्षी के अनुसार नैयायिक नियत देश-काल रूप में स्वभाव को मानते हैं। पट के प्रति तन्तु, तुरी, वेमा आदि सभी साधन कारण हैं, फिर भी पट की उत्पत्ति तन्तुओं में ही होती है या घट की उत्पत्ति कपालों में ही होती है। इसके पीछे नियत देश वृत्तित्व कारण है। जिसका नियामक 'स्वभाव' को छोड़कर कोई अन्य कारण नहीं

हो सकता है। उसी प्रकार सभी कार्यों का नियत काल में उत्पन्न होना भी स्वभाव है। जिसे नैयायिक 'कादाचित्कत्व' कहते हैं। अतः नियत देश-काल रूप में नैयायिक भी स्वभाव को अंगीकार करते हैं।^{६१}

पूर्वपक्ष- स्वभाव से ही सभी कार्य अकस्मात् होते हैं। स्वभाव ही वस्तु का उत्पत्तिकारक है। अतः पूर्वपक्षी कहते हैं- 'सन्तु ये केचिदवध्यो न तु तेऽपेक्ष्यन्त इति स्वभावार्थः',^{६२} इस वाक्य का इतना ही तात्पर्य है कि घट आदि कार्यों के उत्पत्ति के पूर्व दण्ड आदि अवधि या कारण विद्यमान भी रहते हैं, फिर भी कार्य की उत्पत्ति में उन अवधियों (कारणों) की अपेक्षा नहीं होती। अर्थात् घटादि कार्य अपने स्वभाव से ही उत्पन्न होते हैं।

उत्तरपक्ष- कार्य की उत्पत्ति के लिए दण्डादि कारणों की अपेक्षा नहीं होने का क्या तात्पर्य है? इसके दो अर्थ संभावित हैं- १. दण्ड आदि पदार्थ रूप कारण घट आदि कार्यों से अव्यवहित पूर्व क्षण में नियत रूप से नहीं रहते। २. नियत रूप से रहने पर भी घट आदि कार्यों की उत्पत्ति में उपकार नहीं करते।

उपर्युक्त दोनों पक्षों में से प्रथम पक्ष उपयुक्त नहीं है, क्योंकि कार्य यदि अपने अव्यवहित पूर्व क्षण में नियत रूप से न रहने वाले पदार्थों से भी उत्पन्न हो सकते हैं तो फिर जिस प्रकार धूम रूप कार्य की अवधि अग्नि होती है। उसी प्रकार रासभ भी धूम की अवधि हो सकता है। यदि दूसरा पक्ष स्वीकार किया जाए तो उपकार की आवश्यकता ही कहाँ है। कार्य की उत्पत्ति से अव्यवहित पूर्व क्षण में नियत रूप से रहने रूप कारण की ही अपेक्षा होती है। वह अलग से कोई उपकार नहीं करता, उसकी नियत पूर्वक्षण वृत्ति ही कारण बनती है। यथा- अवधि-कपाल आदि घटकार्य के नियत पूर्ववर्ती होते हैं, फिर उनसे घट आदि में कोई उपकार नहीं होता। इस प्रकार का स्वभाववाद तो हम नैयायिकों को भी इष्ट है।^{६३}

नैयायिकों को अनियतपूर्ववृत्ति में स्वभाव को कार्य की उत्पत्ति में कारण मानना इष्ट नहीं है। जबकि स्वभाववादी कारण-कार्य की व्याख्या में स्वभाव के अतिरिक्त किसी अन्य पदार्थ को कार्य की उत्पत्ति में कारण नहीं मानते हैं। नैयायिकों को स्वभाववादियों का यह मन्तव्य इष्ट नहीं है।

चार्वाक दर्शन में स्वभाववाद

चार्वाक दर्शन में जगत् की विचित्रता को स्वभाव से ही उत्पन्न माना जाता है। उनका कथन है कि अग्नि स्वभाव से ही उष्ण, जल शीतल और वायु समस्पर्श

१५२ जैनदर्शन में कारण-कार्य व्यवस्था : एक समन्वयात्मक दृष्टिकोण

होती है। इसलिए समस्त जगत् की स्थिति स्वाभाविक है।^{६६} सम्प्रति चार्वाक दर्शन को स्वभाववाद का अग्रणी दर्शन माना जाता है।

जैन ग्रन्थों में स्वभाववाद का निरूपण

प्रश्नव्याकरण सूत्र एवं उसकी टीकाओं में

एक व्यक्तिगत विचार या मत इतना विराट् रूप नहीं ग्रहण करता जितना कि एक दार्शनिक मत। दार्शनिक अपने मत की पुष्टि में विभिन्न तर्क, हेतु एवं प्रमाण प्रस्तुत कर जनमानस में अपना स्थान बना लेता है। इसलिए उसका मत दीर्घकाल पर्यन्त प्रचलित रहता है और असंख्य-असंख्य लोगों को प्रभावित करता है। ऐसे विभिन्न मतों का नामस्मरण प्रश्नव्याकरण सूत्र में हुआ है, यथा-

‘जं वि इह किंचि जीवलोए दीसइ सुकयं वा दुकयं वा एयं जदिच्छाए वा सहावेण वावि दइवतप्पभावओ वावि भवइ। पात्थेत्थ किंचि कयगं तत्तं लक्खणाविहाणणियत्तीए कारियं एवं केइ जंपंति।’^{६७}

इस जीवलोक में जो कुछ भी सुकृत या दुष्कृत दृष्टिगोचर होता है, वह सब यदृच्छा से, स्वभाव से अथवा दैवप्रभाव अर्थात् विधि के प्रभाव से ही होता है। इस लोक में कुछ भी ऐसा नहीं है जो कृतक (पुरुषार्थ से किया गया) तत्त्व हो। लक्षण (वस्तु स्वरूप) विधान की कर्त्री नियति ही है, ऐसा कोई कहते हैं।

प्रस्तुत सूत्र में यदृच्छावादी, स्वभाववादी, दैववादी, पुरुषार्थवादी एवं नियतिवादी के मन्तव्यों का उल्लेख सम्प्राप्त है। इनका विस्तार पूर्वक विवेचन इसकी वृत्ति में समुपलब्ध है। अभयदेव (ग्यारहवीं शती) की वृत्ति में ‘नापि चास्ति प्राणवधालीकवचनम-शुभफलसाधनतयेति गम्यं, न चैव नैव च चौर्यकरणं परदारसेवनं चास्त्यशुभफलसाधनतयैव, सह परिग्रहेण यद्वर्तते तत्सपरिग्रहं तच्च तत्पापकर्मकरणं च पातकक्रियासेवनं तदपि नास्ति किंचित्, क्रोधमानाद्यासेवनरूपं नरकादिको च जगतो विचित्रता स्वभावादेव न कर्मजनिता, तदुक्तं- ‘कण्टकस्य प्रतीक्षणात्वं, मयूरस्य विचित्रता। वर्णाश्च ताम्रचूडानां, स्वभावेन भवन्ति हि।।’ ति, मृषावादिता चैवमेतेषां स्वभावो हि जीवाद्यर्थान्तरभूतस्तदाप्राणातिपातादिजनितं कर्मैवासौ अथानर्थान्तरभूतस्ततो जीव एवासौ तदव्यतिरेकात् तत्स्वरूपवत्, ततो निर्हेतुका नारकादिविचित्रता स्यात्, न च निर्हेतुकं किमपि भवत्यतिप्रसंगादिति, तथा न नैरधिकतिर्यग्मनुजानां योनिः-उत्पत्तिस्थानं पुण्यपापकर्मफलभूताऽस्तीति

प्रकृतं, न देवलोको वाऽस्ति पुण्यकर्मफलभूतः, नैवास्ति सिद्धिगमनं, सिद्धेः सिद्धस्य चाभावात् अम्बापितरावपि न स्तः, उत्पत्तिमात्रनिबन्धनत्वान्माता-पितृत्वस्य न चोत्पत्तिमात्रनिबन्धनस्य मातापितृतया विशेषे युक्तः, यतः कुतोऽपि किञ्चिदुत्पद्यत एव, यथा सचेतनात् सचेतनं यूकामत्कूणादि अचेतनं मूत्रपुरीषादि, अचेतनाच्च सचेतनं यथा काष्ठाद् घृणकीटादि अचेतनं चूर्णादि, तस्मात् जन्यजनकभावमात्रमर्थानामस्ति नान्योमातापितृपुत्रादिविशेष इति, तद्भावात्तद्भोगविनाशापमानादिषु न दोष इति भावो।^{६६} द्वारा स्वभाव की कारणता प्रस्तुत हुई है। इसमें स्वभाववादियों की मान्यता को प्रकट करते हुए कहा है कि समस्त प्राणियों का व्यवहार पूर्वकृत कर्मों से नहीं अपितु स्वभाव से संचालित होता है। वे अपने स्वभाव से ही शुभ या अशुभ कार्य करते हैं। नारक, तिर्यक् और मनुष्यों की योनियों में उत्पन्न होने रूप जो जगत् की विचित्रता है, वह भी स्वभावजनित ही है, कर्मजनित नहीं। काँटे का तीक्ष्ण होना, मयूर का विभिन्न वर्णों वाला होना, मुर्गे के विभिन्न रंगों का होना, यह सब स्वभाव से ही होता है।

जीवादि पदार्थों से स्वभाव भिन्न है। प्राणातिपात आदि से उत्पन्न कर्म जीव से भिन्न नहीं है। कर्म को जीव स्वरूप मानने पर नारक आदि जीवों की विचित्रता निर्हेतुक हो जाएगी, किन्तु संसार में कुछ भी निर्हेतुक नहीं है। नैरयिक, तिर्यच और मनुष्यों की उत्पत्ति पुण्य-पाप कर्मफल से नहीं होती। पुण्य कर्मफल से मिलने वाला देवलोक नहीं है। सिद्धि में गमन भी नहीं है, क्योंकि सिद्धि और सिद्ध का अभाव है। उत्पत्तिमात्र में कारण होने से माता-पिता का कोई वैशिष्ट्य नहीं है, क्योंकि किसी से कुछ भी उत्पन्न हो जाता है। जैसे-सचेतन से चेतन और अचेतन दोनों की उत्पत्ति देखी जाती है। जूँ, लीक आदि की उत्पत्ति चेतन से चेतन और मल-मूत्र आदि चेतन से अचेतन की उत्पत्ति। अचेतन से चेतन की भी उत्पत्ति देखी जाती है, जैसे- लकड़ी से दीमक, कीट आदि। अचेतन से अचेतन की उत्पत्ति का उदाहरण- लकड़ी से बुरादा। माता-पिता, पुत्र आदि का कोई वैशिष्ट्य नहीं है। इसलिए कार्य की उत्पत्ति में स्वभाव को पृथक् कारण मानना चाहिए।

इसके अतिरिक्त प्रश्नव्याकरण सूत्र पर ज्ञानविमलसूरिविरचित वृत्ति में भी स्वभाववाद पर चिन्तन हुआ है- 'केचित् स्वभावभावितं जगत् मन्यन्ते, स्वभावेनैव सर्वः संपद्यते शुद्धिहरीतक्यादीनां तिक्तविरेकादयो गुणा स्वभावेनैव। रविरुष्णाः शशी शीतः स्थिरोऽग्निः पवनश्चलः। न श्मश्रुः स्त्रीमुखे हस्ततलेषु न कचोद्गमः॥ भव्याऽभव्यादयो भावाः स्वभावेनैव जृम्भते, इति।'^{६७} अर्थात् स्वभाववादी (कुछ) का मन्तव्य है कि स्वभाव से ही जगत् और सारे कार्य

१५४ जैनदर्शन में कारण-कार्य व्यवस्था : एक समन्वयात्मक दृष्टिकोण

सम्पन्न होते हैं। सूर्य में तिक्तता और हरितकी में विरेचनशीलता का गुण स्वभाव से होता है। सूर्य का उष्ण होना, चन्द्रमा का शीतल, पर्वत का स्थिर होना और वायु का चंचल होना, स्त्री मुख पर श्मश्रु का न होना और हथेलियों में बालों का न उगना, यह सब स्वभाव से होता है। इसके अतिरिक्त भव्य-अभव्य भाव भी स्वभाव से होते हैं।

नन्दीसूत्र की अवचूरि में

नन्दीसूत्र की अवचूरि में स्वभाववाद इस प्रकार प्रस्तुत हुआ है- 'ते हि स्वभाववादिन एवं आहुः - इह सर्वे भावाः स्वभाववशात् उपजायन्ते। तथाहि- मृदः कुम्भो भवति न पटादि, तन्तुभ्योऽपि पट उपजायते न कुम्भादि, एतच्च प्रतिनियतं न तथा स्वभावतामन्तरेण घटकोटीसंदं कमाटीकते, तस्मात्सकलं इदं स्वभावकृतं अवसेयं। अपि चास्तामन्यत्कार्यजातं इह मुद्रपक्तिः अपि न स्वभावमन्तरेण भवितुं अर्हति, तथाहि- स्थालीधनकालादिसामग्रीभावेऽपि न कांकटुकमुद्गानां पक्तिः उपलभ्यते। तस्मात् यद्वात् भावे भवति (यद्भावे च न भवति) तत्तदन्वयव्यतिरेकानुविधायि तत् कृतं इति स्वभावकृता मुद्रपक्तिः अप्येष्टव्याः ततः सकलं एवं इदं वस्तुजातं स्वभावहेतुकं अवसेयं इति।'^{१८} अर्थात् स्वभाववादी कहते हैं- सभी पदार्थ स्वभाव से उत्पन्न होते हैं। क्योंकि मिट्टी से कुंभ होता है पटादि नहीं, तन्तु से पट उत्पन्न होता है, कुंभादि नहीं। करोड़ों प्रयत्न करने पर भी स्वभाव के बिना यह प्रतिनियत व्यवस्था नहीं बनती, ये सभी स्वभावकृत ही जानने चाहिए। अन्य कार्य ही नहीं, मूंग का पकना भी स्वभाव के बिना संभव नहीं है। क्योंकि स्थाली, ईधन, काल आदि सभी सामग्री होने पर भी कडु मूंग का पकना प्राप्त नहीं होता है। जिसके होने पर होना तथा जिसके न होने पर नहीं होना, यह अन्वयव्यतिरेक अनुविधान भी स्वभावकृत है। इस प्रकार सभी वस्तुओं को स्वभावहेतुक जानना चाहिए।

हरिभद्रसूरि विरचित लोक तत्त्व निर्णय में

आचार्य हरिभद्रसूरि (७०० से ७७० ईस्वी शती) ने पूर्वकालिक मतों का निरूपण करते हुए 'लोकतत्त्व निर्णय' में जगत् की स्वाभाविकता द्वारा 'स्वभाववाद' को उपस्थापित किया है-

यदसत्तस्योत्पत्तिस्त्रिष्वपि कालेषु निश्चितं नास्ति।

खरशृंगमुदाहरणं तस्मात्स्वाभाविको लोकः।।^{१९}

जो असत् है उसकी उत्पत्ति तीनों कालों में भी संभव नहीं है, ऐसा निश्चित रूप से कहा जा सकता है। उदाहरण के रूप में गधे के सींग। असत् जगत् की उत्पत्ति तीनों काल में नहीं होने से जगत् स्वाभाविक रूप से सत् या उत्पन्न है। ऐसा सिद्धान्त स्थापित होता है।

इस सिद्धान्त का प्रतिफल हुआ कि जगत् में जो-जो सत् पदार्थ हैं, वे सभी स्वाभाविक हैं। जगत् में असत् का अस्तित्व नहीं है, अतः सभी पदार्थ स्वभाव जन्य हैं।

इस ग्रन्थ का एक अन्य श्लोक भी स्वभाववाद का समर्थन करता है-

बदर्याः कंटकस्तीक्ष्ण ऋजुरेकश्च कुंचितः।

फलं च वर्तुलं तस्या, वद केन विनिर्मितं।।^{१०}

बेर के वृक्ष का एक काँटा तीक्ष्ण व सीधा तो दूसरा वक्र होता है और उसका फल गोल होता है। ये विभिन्नताएँ कौन रचता है अर्थात् स्वभावज है।

शास्त्रवार्तासमुच्चय में स्वभाववाद का विस्तृत विवेचन

शास्त्रवार्ता समुच्चय में स्वभाववाद के अनेक पहलुओं पर विस्तार से सूक्ष्म चिन्तन सम्प्राप्त होता है। स्वभाववाद के पक्ष को प्रस्तुत करते हुए अनेक तर्क दिए गए हैं, यथा-

१. जीव के गर्भ से लेकर स्वर्गगमन तक के सभी कार्य स्वभाव से सम्पन्न होते हैं और स्वभाव के नियमन से ही कार्य का कभी होना व न होना रूप कादाचित्कत्व संभव होता है। जिसे आचार्य हरिभद्रसूरि ने निम्न प्रकार से श्लोकबद्ध किया है-

न स्वभावातिरेकेण गर्भबालशुभादिकम्।

यत्किञ्चिज्जायते लोके तदसौ कारणं किल।।^{११}

२. आकाश के एक स्थान में होने और एक स्थान में नहीं होने के प्रति स्वभाव की नियामकता है। इसके समान ही घटादि कार्यों के कादाचित्कत्व के प्रति भी स्वभाव के अतिरिक्त कोई अन्य कारण नहीं है।^{१२}
३. शंका- 'उत्पन्न होना' घट का स्वभाव है। स्वभाव वस्तु में सदैव रहता है, इस नियम से घट के सदैव उत्पन्न होने की आपत्ति होगी।^{१३}

समाधान- स्वभाववादी इस शंका को अनुचित बताते हुए कहते हैं- “न, तदहरेव भवनस्वभावत्वात्”^{१४} अर्थात् जिस समय जिसकी उत्पत्ति होती है, उस समय ही उत्पन्न होना उस वस्तु का स्वभाव है। अतः स्वभाव से संबंधित आपत्ति निर्मूल है।

४. उपादान अर्थात् कारण के स्वभाव से कार्य यानी उपादेय के स्वभाव का सर्जन होता है, उपादेय के स्वभाव रूप उपकार का जनक होने से।^{१५} उपादान में निहित स्वभाव के कारण ही कार्य निश्चित आकार प्रकार को प्राप्त करता है और अपने-अपने स्वभाव में अवस्थित होता है। अतः कहा है- ‘सर्वे भावाः स्वभावेन स्वस्वभावे तथा तथा।’^{१६} उदाहरणार्थ- एक विशेष प्रजाति का आम का बीज अपनी प्रजाति के आकार-प्रकार, रंग-रूप, स्वाद वाला आम उत्पन्न करता है, ऐसा करने में वह क्यों समर्थ है? तब उत्तर होगा स्वभाव के कारण। यह स्वभाव उस पेड़ के सभी आम फल में अभिव्याप्त होता है। इस उदाहरण में कार्योत्पत्ति में स्वभाव की कारणता अभिव्यंजित हो रही है।
५. उत्पत्ति के साथ भावों का नाश भी उनके स्वभाव से नियत देश-काल में ही होता है, क्योंकि वे उत्पत्ति और विनाश दोनों कार्यों में स्वतंत्र न होकर अपने स्वभाव के प्रति परतन्त्र होते हैं।^{१७}
६. जो स्वभाव को कारण नहीं मानते हैं, उनका विरोध करते हुए स्वभाववादी कहते हैं-

न विनेह स्वभावेन मुद्रपक्वितरपीष्यते।

तथाकालादिभावेऽपि नाश्वमाषस्य सा यतः।।^{१८}

इस संसार में मूंग, अश्वमाष आदि का पाक भी स्वभाव के बिना नहीं होता, क्योंकि जिस वस्तु में पकने का स्वभाव नहीं है वह काल तथा अन्य कारणों के व्यापार आदि के होने पर भी परिपक्व नहीं होती। अतः स्वभाव से भिन्न अन्य हेतु से जन्य कार्य मानने पर स्वेच्छाचार की आपत्ति होगी।

कड़ुक, अश्वमाष-पथरीले उड़द आदि को दीर्घकाल तक अग्नि, ईधनादि का विलक्षण संयोग मिल जाए तब भी वे पाक-स्वभाव के अभाव के कारण पकने में असमर्थ होते हैं। इसलिए जो स्वभाव की कारणता को अस्वीकार कर अदृष्ट को कारण मानते हैं, वह दोषपूर्ण है।

कडु आदि का अपाक अदृष्ट के वैषम्य से है, यह कहना उचित नहीं हो सकता, क्योंकि दृष्ट सभी कारणों का सन्निधान रहने पर भी अदृष्ट के अभाव में कार्य की अनुत्पत्ति नहीं देखी जाती। जैसे- दण्ड से बल के साथ चक्र को चलाने पर भी अदृष्टवश उसमें चलन का प्रतिबंध हो जाना चाहिए, पर ऐसा नहीं देखा जाता है। इस प्रकार मूंग के पाक तथा कडुक अश्वमाष आदि के अपाक में और चक्र के गति तथा ठहरने में स्वभाव कारण न हो तो वह कामाचार के अतिरिक्त कुछ नहीं है। अतः कार्य के जन्म में कामाचार के निवारणार्थ उन्हें स्वभावजन्य मानना ही न्यायसंगत है।^{१९}

७. जो पदार्थ तत्स्वभाव से अर्थात् उस कार्य को पैदा करने के अनुकूल स्वभाव से रहित हो, उससे कार्योत्पत्ति मानी जाए तो अतिप्रसंग दोष उत्पन्न हो जाता है।^{१००} प्रत्येक वस्तु का अपना स्वभाव होता है। उसके स्वभावानुसार ही वह कार्य को उत्पन्न करने में समर्थ होती है। यदि सभी वस्तुओं की कार्योत्पत्ति में समान कारणता मानी जाए तो मिट्टी से घट का उत्पन्न होना एवं पटादि का न होना अयुक्तियुक्त ठहरेगा- 'तुल्ये तत्र मृदः कुम्भो न पटादीत्य-युक्तिमत्'^{१०१}

८. शंका- यह दोष वहाँ उपस्थित होता है जहाँ तदुत्पत्ति का नियामक स्वभाव हो हमारे मतानुसार 'ननु नातत्स्वभावत्वं'^{१०२} उस पदार्थ में उस कार्य के जननानुकूल स्वभाव मानने की आवश्यकता नहीं है।

समाधान- 'तज्जननप्रयोजकमुच्यते येनेधमापत्तिः संगच्छते'^{१०३} अर्थात् तब कार्य की उत्पत्ति का प्रयोजक या नियामक क्या है? जिससे इस आपत्ति का निवारण हो जाए।

९. शंका- उस कार्य के सभी कारणों का सन्निधान ही उस कार्य का प्रयोजक या जनक है। अश्वमाष नहीं सीझता (पकता) है, इसमें अश्वमाष की स्वरूप योग्यता ही नहीं है, ऐसा मानने में क्या आपत्ति है? अतः स्वभाव को स्वीकार न करने पर भी कार्य होने में कोई आपत्ति या दोष नहीं है।^{१०४}

समाधान- 'अन्तरंगत्वात् स्वभाव एव कार्य हेतुः, न तु बाह्यकारणम्' स्वभाव अंतरंग होता है और कारणान्तर का सहयोग बहिरंग होता है। अतः मिट्टी को अपने स्वभाव से ही घट का उत्पादक मानना उचित है, बहिरंग की सहायता से नहीं।^{१०५}

१०. शंका- मिट्टी से घट, सकोरा, गमला, मूर्ति, शराब आदि विविध पात्र एवं खिलौने आदि अनेक प्रकार के कार्य होते हैं। इन सभी कार्यों के लिए मिट्टी का सामान्य स्वभाव कारण है या मिट्टी का विशेष स्वभाव? चूंकि स्वभाव विशेष स्वीकार करने पर ही कार्य विशेष उत्पन्न होंगे, अतः स्वभाव में विलक्षण्य मानना आवश्यक है।^{१०६}

समाधान- यह शंका उचित नहीं है, क्योंकि स्वभाव का अर्थ है- 'स्वस्य भावः कार्यजननपरिणतिः'^{१०७} अर्थात् स्व का कार्य के अनुकूल परिणत होना। स्वभावजन्य कार्योत्पत्ति से तात्पर्य है प्रत्येक वस्तु तत्तत् कार्य के अनुकूल परिणाम ग्रहण करके तत्तत् कार्य को उत्पन्न करती है और वस्तु का यह परिणाम ग्रहण उस वस्तु के अधीन ही होता है। अतः मिट्टी से जितने कार्य उत्पन्न होते हैं उन सभी की उत्पादनानुकूल अलग-अलग परिणति उसमें होती है, उन परिणतियों में विलक्षण्य होने से उसके कार्यों में भी विलक्षणता होती है।^{१०८}

अतः स्वभाव से वस्तु को कार्योत्पादक मानने पर उस वस्तु से होने वाले कार्यों में विलक्षण्य की अनुपपत्ति का आपादन नहीं किया जा सकता। किस वस्तु में किस कार्य के अनुकूल परिणति होती है, इसका निश्चय तो उस वस्तु से होने वाले कार्यों से ही हो सकता है।

स्वभाववादी द्वारा स्वयं आपत्ति कर उसका निवारण करते हुए हरिभद्रसूरि (७००-७७० ईस्वी शती) कहते हैं- 'बीज का बीजत्व स्वभाव ही अंकुरित होने में कारण है' यह बीज का लोक सिद्ध रूप है। इस लोक सिद्ध स्वरूप से ही कार्योत्पत्ति मानी जाएगी तो बीज से नियत समय के पूर्व भी अंकुर की उत्पत्ति की आपत्ति होगी। बीज अंकुर का उत्पादन तभी कर सकता है जब अंकुर के अन्य सभी कारणों का भी उसे सन्निधान प्राप्त हो, किन्तु बीजत्व से ही अंकुरोत्पत्ति मानेंगे तो कारणों के सन्निधान से पूर्व ही बीज का अंकुरित होना संभव बन जाएगा।^{१०९}

इस आपत्ति निवारणार्थ 'सहकारिचक्रान्तर्भावेन विलक्षणबीजत्वे- नैवाङ्कुर- हेतुत्वौचित्यात्'^{११०} से यही मानना उचित है कि बीज बीजत्व रूप से अंकुर का जनक नहीं होता, अपितु विलक्षण बीजत्व रूप से अर्थात् अंकुरानुकूल अपनी परिणतिरूप स्वभाव से जनक होता है।

शंका (समग्रकारणवादी)- पूर्वोक्त बीज की विलक्षणता में सहकारिचक्र को आधायक मानना होगा, अन्यथा अतिशयहीन बीज (लोक सिद्ध स्वरूप) को

अंकुर का जनक मानने पर सहाकारिचक्र के सन्निधान से पूर्व भी अंकुर की आपत्ति होगी। अतः स्वभाववाद को भी सहकारिचक्र मानना आवश्यक है। सहाकारि चक्र को मानने पर विलक्षण बीजत्व रूप से कारणत्व की कल्पना अनावश्यक हो जाएगी।^{११९} क्योंकि लोकप्रसिद्ध बीज (सामान्य) के स्वरूप से अंकुरोत्पत्ति मानने में कोई बाधा नहीं होगी।

समाधान- उपर्युक्त समाधान उचित नहीं है। कारण कि जो जिस कार्य का उपादान माना जाता है, उसमें प्रतिक्षण नये-नये परिणाम होते रहते हैं और उन परिणामों से नये-नये उपादेय परिणामों की उत्पत्ति भी होती रहती है। अतः पूर्व-पूर्व उपादान परिणामों को उत्तरोत्तर होने वाले तत्तत् उपादेय परिणामों के प्रति कारण मान लेने से स्वभाववाद में सहकारिचक्र की कल्पना अनावश्यक हो जाती है।

शंका- उपादान को लोकप्रसिद्ध सामान्य रूप से उपादेय (कार्य) का कारण मानने पर पूर्वोक्त आपत्ति (सहकारिचक्र के सन्निधान से पूर्व अंकुरोत्पत्ति) का परिहार चक्र की कल्पना के बिना नहीं हो सकता। अतः स्वभाववादी को सहकारिचक्र की कल्पना कार्योंत्पत्ति में मानना ही उचित है।^{१२०}

समाधान-पूर्व-पूर्वोपादानपरिणामानामेवोत्तरोत्तरोपादेयपरिणामहेतुत्वात्^{१२१}
अर्थात् पूर्व-पूर्व उपादान परिणामों को उत्तरोत्तर होने वाले तत्तत् उपादेय परिणामों में हेतुहेतुमद्भाव मानने से कालवाद के प्रवेश की आशंका भी समाप्त हो जाती है। यथा- सामान्य बीज से वृक्षोत्पत्ति कार्य में कतिपय वर्ष की अवधि की कारणता के बिना आम्र-वृक्ष नहीं होता है। इसमें काल की कारणता प्रविष्ट है, किन्तु पूर्व क्षण के बीज के स्वरूप को उत्तर क्षण के वृक्ष के स्वरूप में कारण मानने पर काल रूप कारण का हस्तक्षेप कार्य में नहीं होता।

शंका- (i) स्वभाववादी के अनुसार बीज का जो चरम क्षणात्मक परिणाम होता है उससे अंकुर का प्रथम क्षणात्मक परिणाम उत्पन्न होता है। द्वितीय, तृतीय आदि क्षण परिणामों की उत्पत्ति चरम क्षणात्मक परिणाम से न होकर अंकुर के प्रथम क्षण से द्वितीय और द्वितीय क्षण से तृतीय क्षण की उत्पत्ति हुई है। अतः उपादान के क्षण परिणामों को उपादेय के क्षण परिणामों के प्रति तत्तद्व्यक्तित्व रूप से ही कारण मानना होगा। किन्तु यहाँ प्रश्न उपस्थित होता है कि यदि अनुगत रूप (बीज के चरम क्षण की अंकुर के प्रथम, द्वितीय, तृतीय आदि क्षणों में अनुवृत्ति) से उनमें हेतुहेतुमद्भाव की कल्पना की जाएगी तो अत्तद्व्यावृत्ति से (प्रथम, द्वितीय, तृतीय क्षणों को पृथक् किए बिना) उन क्षणों का कार्योंत्पत्ति में अनुगमन होगा तथा उन क्षणों के परस्पर-अप्रवेश से प्रवेश विनिगमना विरह रूप महान् गौरव उत्पन्न होगा।^{१२४}

१६० जैनदर्शन में कारण-कार्य व्यवस्था : एक समन्वयात्मक दृष्टिकोण

(ii) तत्त व्यक्ति रूप से हेतुहेतुमद्भाव मानने का एक दुष्फल यह होगा कि तज्जातीय कार्य से तज्जातीय कारण के अनुमान का भंग हो जाएगा, क्योंकि अनुगत रूप से हेतुहेतुमद्भाव न होने के कारण तज्जातीय कार्य में तज्जातीय कारण की अनुमापकता में कोई प्रयोजक न होगा।^{११६}

समाधान- 'सादृश्यतिरोहितवैसादृश्येनाऽऽङ्कुरादिना तादृशबीजादीना-
मनुमानसंभवात्'^{११७} अर्थात् उत्पादक बीज क्षणों में तथा उत्पाद्य अङ्कुरक्षणों में परस्पर में अत्यन्त सादृश्य होता है, जिससे उनका वैसादृश्य तिरोहित रहता है, अतः सदृश अङ्कुर क्षणात्मक कार्य से सदृशबीजक्षणात्मक कारण का अनुमान होने में कोई बाधा नहीं होती।

शंका- पूर्वोक्त क्षणों में अनुगत कार्यकारणभाव न होने पर उन बीजक्षणों में व्याप्यव्यापक भाव धटित न होगा।

समाधान- हम उन क्षणों में अनुगत कार्यकारणभाव स्वीकार न करके अनुगत प्रयोज्य-प्रयोजकभाव स्वीकार करते हैं। उस प्रयोज्य-प्रयोजकभाव रूप प्रयोजक के बल पर अङ्कुर क्षणों और बीज क्षणों में व्याप्य-व्यापक भाव बन जाता है।

शंका- उक्त क्षणों में जैसे अनुगत कार्यकारणभाव नहीं होता, उसी प्रकार अनुगत प्रयोज्यप्रयोजकभाव भी नहीं हो सकता।

समाधान- यह शंका उचित नहीं है, क्योंकि अनुगत कार्यकारणभाव मानने में नियत समय से पूर्व बीज से अङ्कुरोत्पत्ति की आपत्ति बाधक है, किन्तु अनुगत प्रयोज्य-प्रयोजक भाव मानने में ऐसी कोई बाधा नहीं है। कारण कि जो जिसका प्रयोजक होता है उससे उसकी उत्पत्ति चिर-क्षिप्र कभी भी हो सकती है। अतः अङ्कुरोत्पत्ति से चिरपूर्व भी अङ्कुर प्रयोजक की सत्ता मानने में कोई दोष नहीं होता।^{११७}

इस प्रकार शास्त्रवार्तासमुच्चय में प्रश्न-प्रतिप्रश्न, शंका-समाधान के रूप में हुई गहन चर्चा के माध्यम से स्वभाववाद का गूढ़ स्वरूप प्रकट हुआ है। यहाँ पर स्वभाव की कारण रूप में व्याख्या विभिन्न आयामों से हुई है, जिससे यह स्पष्ट है कि जीव के जीवनकाल में संभवित सभी कार्य स्वभाव के नियमन से होते हैं। अजीव पदार्थों में धटित कार्य भी स्वभाव की अपेक्षा रखते हैं। उपादानकारणगत स्वभाव ही कार्य के आकार-प्रकार तथा स्वभाव को निर्मित करता है। स्वभाववादी पदार्थों की उत्पत्ति और विनाश दोनों में स्वभाव की कारणता स्वीकार करते हैं। प्रत्येक वस्तु का अपना स्वभाव होता है, स्वभावानुसार ही वह कार्य को उत्पन्न करने में समर्थ होती है। अपने स्वभाव का उल्लंघन कर किसी अन्य कार्य को करना वस्तु के कार्य-क्षेत्र में

नहीं है। स्वभाव उस कारण की वह क्षमता (सामर्थ्य) है जो कार्य रूप में प्रकट होती है। यही कारण है कि पकने की क्षमता (स्वभाव) से रहित कड़ु अश्वमाष आदि का पाक लाख प्रयत्न के बावजूद भी संभव नहीं बन पाता। कभी एक ही कारण से अनेक कार्य भी होते हुए देखे जाते हैं। उन सभी कार्यों में तत्कार्यजननपरिणति कारण है। परिणतियों में वैलक्षण्य होने से उसके कार्यों में विलक्षणता आती है। स्वभाववादी ने प्रतिपक्षी की शंकाओं का परिहार करते हुए स्वभाव की कारणता को इस तरह प्रस्तुत किया है कि सहकारी कारणों को पृथक् से मानने की आवश्यकता ही नहीं रह जाती है। शास्त्रवार्तासमुच्चयकार हरिभद्रसूरि महान् दार्शनिक थे। उनके ग्रन्थ में स्वभाववाद का अतीव सूक्ष्म विवेचन प्राप्त होता है। वे स्वभाववाद का पक्ष रखते हुए कहते हैं— पूर्व-पूर्व उपादान परिणाम उत्तरोत्तर होने वाले तत्तत् उपादेय परिणामों के प्रति कारण है। जैसे— बीज का जो चरम क्षणात्मक परिणाम होता है, उससे अंकुर का प्रथम क्षणात्मक परिणाम उत्पन्न होता है। फिर अंकुर के प्रथम क्षण से द्वितीय और द्वितीय क्षण से तृतीय क्षण की उत्पत्ति होती है। अतः उपादान के क्षण परिणाम उपादेय के क्षण परिणामों के प्रति तत्तद्व्यक्तित्व रूप से कारण बनते हैं।

आचारांग सूत्र की शीलांक टीका में

आचारांग सूत्र की शीलांक (९-१०वीं शती) टीका में क्रियावादियों के भेद करते हुए कालस्वभावादि की चर्चा की गई है। आचार्य स्वभाववाद के मन्तव्य को स्पष्ट करते हुए कहते हैं— 'अपरे पुनः स्वभावादेव संसार-व्यवस्थामभ्युपयन्ति, कः पुनरयं स्वभावः? वस्तुनः स्वत एव तथापरिणतिभावः स्वभावः'^{११८} अर्थात् कुछ अन्य दार्शनिक स्वभाव से ही संसार-व्यवस्था को स्वीकार करते हैं। स्वभाव से तात्पर्य वस्तु का स्वतः तथा परिणत रूप होना है। सभी भूत स्वभाव से ही प्रवृत्त और निवृत्त होते हैं।^{११९} किसके द्वारा मृगनयन आंजे गए हैं और कौन मयूर को अलंकृत करता है। कौन कमल में पत्तों के दल को सन्निचय करता है और कौन श्रेष्ठ कुल के पुरुष में विनय पैदा करता है।^{१२०} यहाँ कौन का उत्तर स्वभाव के अतिरिक्त कोई नहीं है। अतः स्वभाव इन विचित्रताओं में कारण है।

सूत्रकृतांग की शीलांक टीका में

सूत्रकृतांग में सृष्टि के संबंध में विभिन्न मान्यताओं का उल्लेख प्राप्त होता है—

'देवउत्ते अयं लोए, बंभउत्तेति आवरे'^{१२१}

'ईसरेण कडे लोए, पहाणाइ तहावरे

जीवाजीवसमायुक्तः सुखदुःखसमन्वितः'^{१२२}

कोई कहते हैं कि 'यह लोक किसी देवता द्वारा बनाया गया है' और दूसरे कहते हैं कि 'ब्रह्मा ने लोक बनाया है' ईश्वरवादी कहते हैं कि जीव-अजीव, सुख तथा दुःख से युक्त यह लोक ईश्वरकृत है तथा कुछ इसे प्रधानादिकृत मानते हैं।

'प्रधानादि' शब्द पर टीका करते हुए आचार्य शीलांक (९-१०वीं शती) लिखते हैं- 'आदि ग्रहणात्स्वभावादिकं गृह्यते, ततश्चायमर्थः स्वभावेन कृतो लोकः कण्टकादितैक्ष्ण्यवत्। तथाऽन्ये नियतिकृतो लोको।'^{१२३} यहाँ 'आदि' शब्द से स्वभाववाद, नियतिवाद आदि का ग्रहण है। स्वभाववाद के अनुसार यह लोक स्वभावकृत है तथा नियतिवाद के अनुसार यह लोक नियतिकृत है। स्वभाववाद की सिद्धि में कहा है कि जैसे कण्टक की तीक्ष्णता स्वभावकृत है उसी तरह यह समस्त जगत् स्वभावकृत है किसी कर्ता द्वारा किया हुआ नहीं है।

सूत्रकृतांग टीका में तज्जीवतच्छरीरवादी, बौद्ध, सांख्य-मत में अनुमोदित स्वभाववाद को प्रस्तुत कर स्वमत में गृहीत स्वभाव के स्वरूप को कहा गया है।

तज्जीवतच्छरीरवादी मत- कोई धनवान, कोई दरिद्र, कोई सुन्दर, कोई कुरूप, कोई सुखी, कोई दुःखी, कोई सुरुप, कोई मन्दरूप, कोई रोगी, कोई नीरोग, इस प्रकार की जगत् में विचित्रता क्यों होती है।^{१२४}

तज्जीवतच्छरीरवादी समाधान करते हुए कहते हैं कि यह सब स्वभाव से होता है। क्योंकि किसी शिलाखण्ड की देव प्रतिमा बनाई जाती है और वह प्रतिमा कुंकुम, अगरु, चन्दन आदि विलेपनों को भोगती है और धूप आदि के सुगंध को भी अनुभव करती है तथा दूसरे शिलाखण्ड पर पैर धोना आदि कार्य किए जाते हैं। इन दोनों शिलाखण्डों की इस प्रकार की अवस्था में शुभाशुभ कर्मोदय कारण नहीं है, अपितु स्वभाव से ही है। अतः सिद्ध होता है कि स्वभाव से ही जगत् की विचित्रता होती है। कहा भी है- कण्टक की तीक्ष्णता, मोर की विचित्रता और मुर्गे का रंग, यह सब स्वभाव से ही होते हैं।^{१२५}

बौद्ध मत- बौद्ध दर्शन में वस्तु का प्रतिक्षण निर्हेतुक विनाश स्वीकार किया गया है। यह निर्हेतुता वस्तु के स्वभाव को ही व्यक्त करती है अर्थात् वस्तु स्वभाव से ही क्षणिक है अथवा विनाश को प्राप्त होती है। जैसा कि कहा है 'निर्हेतुत्वाद्धिनाशस्य स्वभावादनुबन्धिता'^{१२६}

सांख्य मत- सांख्यदर्शन में प्रधान प्रकृति से महत् अहंकारादि की उत्पत्ति स्वीकृत है। किन्तु अचेतन प्रकृति पुरुषार्थ के प्रति प्रवृत्ति नहीं कर सकती। यदि इसे प्रकृति का स्वभाव ही समझा जाए तो स्वभाव को ही बलवान मानना होगा, क्योंकि स्वभाव प्रधानादि प्रकृति को भी नियन्त्रित करता है।^{१२७}

जैन मत में मान्य स्वभाव का स्वरूप- स्वभाव को कारण मानने में जैन दर्शन को कोई क्षति नहीं है। क्योंकि 'स्वो भावः स्वभावः' के अनुसार अपने भाव को यानी स्वकीय उत्पत्ति को ही स्वभाव कहा है और वह पदार्थों की उत्पत्ति में आर्हतों को इष्ट ही है।^{१२८}

स्वभाव भी समस्त जगत् का कारण है- 'स्वो भावः स्वभावः' व्युत्पत्ति के अनुसार जीव-अजीव, भव्यत्व-अभव्यत्व, मूर्तत्व-अमूर्तत्व अपने स्वरूप में ही होते हैं तथा धर्म, अधर्म, आकाश एवं काल का भी अपना स्वभाव है। धर्म का गति, अधर्म का स्थिति, आकाश का अवगाहन और काल का परत्व-अपरत्व आदि स्वरूप भी स्वाभाविक हैं।^{१२९}

क्रियावाद और अक्रियावाद में स्वभाववाद के भेद

सूत्रकृतांग में सूत्रकार ने 'जगत्कर्तृत्ववाद' के प्रसंग में तत्कालीन मान्यताओं का उल्लेख करते हुए, उनको क्रियावाद, अक्रियावाद, विनयवाद और अज्ञानवाद के रूप में विभक्त किया है। इनके भेद और उपभेद का विस्तार से विवेचन 'कालवाद' नामक अध्याय में किया गया है।^{१३०} अतः यहाँ संक्षेप में 'स्वभाववाद' को प्रस्तुत किया जा रहा है-

क्रियावादियों के १८०, अक्रियावादियों के ८४, अज्ञानवादियों के ६७ और विनयवादी के ३२ भेद हैं। क्रियावाद में कालवाद, आत्मवाद, नियतिवाद और स्वभाववाद का तथा अक्रियावाद में कालवाद आदि पाँच के अतिरिक्त यदृच्छावाद का भी समावेश हुआ है। अज्ञानवादी और विनयवादी के भेदों में काल आदि का उल्लेख नहीं है।

क्रियावादी और अक्रियावादी के अन्तर्गत 'स्वभाववाद' का निम्न स्वरूप व्यक्त हुआ है-

क्रियावादी में स्वभाववाद के भेद

१. जीव स्वतः नित्य स्वभाव से	२. जीव स्वतः अनित्य स्वभाव से
३. जीव परतः नित्य स्वभाव से	४. जीव परतः अनित्य स्वभाव से
५. अजीव स्वतः नित्य स्वभाव से	६. अजीव स्वतः अनित्य स्वभाव से
७. अजीव परतः नित्य स्वभाव से	८. अजीव परतः अनित्य स्वभाव से
९. आस्रव स्वतः नित्य स्वभाव से	१०. आस्रव स्वतः अनित्य स्वभाव से
११. आस्रव परतः नित्य स्वभाव से	१२. आस्रव परतः अनित्य स्वभाव से

१६४ जैनदर्शन में कारण-कार्य व्यवस्था : एक समन्वयात्मक दृष्टिकोण

१३. बंध स्वतः नित्य स्वभाव से	१४. बंध स्वतः अनित्य स्वभाव से
१५. बंध परतः नित्य स्वभाव से	१६. बंध परतः अनित्य स्वभाव से
१७. संवर स्वतः नित्य स्वभाव से	१८. संवर स्वतः अनित्य स्वभाव से
१९. संवर परतः नित्य स्वभाव से	२०. संवर परतः अनित्य स्वभाव से
२१. निर्जरा स्वतः नित्य स्वभाव से	२२. निर्जरा स्वतः अनित्य स्वभाव से
२३. निर्जरा परतः नित्य स्वभाव से	२४. निर्जरा परतः अनित्य स्वभाव से
२५. पुण्य स्वतः नित्य स्वभाव से	२६. पुण्य स्वतः अनित्य स्वभाव से
२७. पुण्य परतः नित्य स्वभाव से	२८. पुण्य परतः अनित्य स्वभाव से
२९. पाप स्वतः नित्य स्वभाव से	३०. पाप स्वतः अनित्य स्वभाव से
३१. पाप परतः नित्य स्वभाव से	३२. पाप परतः अनित्य स्वभाव से
३३. मोक्ष स्वतः नित्य स्वभाव से	३४. मोक्ष स्वतः अनित्य स्वभाव से
३५. मोक्ष परतः नित्य स्वभाव से	३६. मोक्ष परतः अनित्य स्वभाव से

अक्रियावादी में स्वभाववाद के भेद-

१. नास्ति जीव स्वतः स्वभाव से	२. नास्ति जीव परतः स्वभाव से
३. नास्ति अजीव स्वतः स्वभाव से	४. नास्ति अजीव परतः स्वभाव से
५. नास्ति आस्रव स्वतः स्वभाव से	६. नास्ति आस्रव परतः स्वभाव से
७. नास्ति बंध स्वतः स्वभाव से	८. नास्ति बंध परतः स्वभाव से
९. नास्ति संवर स्वतः स्वभाव से	१०. नास्ति संवर परतः स्वभाव से
११. नास्ति निर्जरा स्वतः स्वभाव से	१२. नास्ति निर्जरा परतः स्वभाव से
१३. नास्ति मोक्ष स्वतः स्वभाव से	१४. नास्ति मोक्ष परतः स्वभाव से

तिलोक काव्य कल्पतरु में स्वभाववाद का पद्यबद्ध रूप

आधुनिक युग के संत तिलोकऋषि जी (१९३० ईस्वी शती) ने 'स्वभाववाद' को इस प्रकार पद्य बद्ध किया है^{१३१}-

कहत स्वभाववादी कहा कर सके काल।

बिना ही स्वभाव कोई वस्तु नहीं जग में।।

महिला के मूँछ नहीं, बांझ न जणत बाल।

रोम नहीं करतल हाड़ नहीं रग में॥

जात-जात दरखत, पान फूल भाँत-भाँत।

जलचर थलचर पंखी उड़े खग में॥

काँटा बोर बबूल का कौन करे तीक्ष्णता।

हंस को सरल भाव कपटाई बग में॥

बिन ही स्वभाव मोर पंख कुण चितरत।

कोकिला को कंठवर स्वरभंग कग में॥

विषधर सिर मणि जहर हरे तत्काल।

विष को स्वभाव निज कहीजे उरग में॥

पृथ्वी कठिन कुण शीतलता जल माँही।

पवन को चल भाव उष्णता है अग में॥

सूँटे उपशमे बाय हरड़े विरेच करे।

साहसिक सिंह अति हीणता एलग में॥

अमल कटुक इक्षुरस में मधुरपण।

लेष्ट बूड़े जल मच्छ तिरत अथग में॥

शब्द को सुनत कान घ्राण वास जिह्वा स्वाद।

काया स्पर्श वेदे अष्ट देखन को दृग में॥

मन को स्वभाव वेग मुखा सेती बोलवा को।

काम करे हस्त युग भ्रमणता पग में॥

रवि तपे शशी सीत सिद्ध में अरूप लील।

देवता अतुल सुख, दुःख है नरग में॥

धर्मास्तिकाय-चलण अधर्मास्तिकाय स्थिर पण।

१६६ जैनदर्शन में कारण-कार्य व्यवस्था : एक समन्वयात्मक दृष्टिकोण

विकास स्वभाव सो तो प्रत्यक्ष है खाग में॥

वर्तना लक्षण काल उपयोग जीव माही।

पूरण-गलण गुण पुद्रल वरग में॥

नव तत्त्व छहों काय भव्यादि-अभव्य सब।

बिन ही स्वभाव कोई वस्तु नहीं जग में॥

अर्थात् स्वभाववादी कहते हैं कि काल क्या कर सकता है? स्वभाव के बिना दुनिया में कोई वस्तु नहीं है। स्वभाव के कारण ही स्त्री के मूँछ नहीं होती, बंध्या नारियों को संतान नहीं होती। करतल अर्थात् हाथ के तले में रोम नहीं आते और नस में हड्डी नहीं होती है। स्वभाव के कारण ही वृक्ष के पत्ते अलग-अलग होते हैं। फूल अलग होते हैं। स्वभाव से ही जलचर जीव पानी में ही तैरते हैं एवं स्थलचर अर्थात् भूमि पर चलने वाले जीव भूमि पर ही चलते हैं। स्वभाव के कारण ही तरह-तरह के पक्षी आकाश में गमन करते हैं।

बेर एवं बबूल के काँटे की तीक्ष्णता कौन देता है? हंस की सरलता कौन सिखाता है, बगुले में कपट भाव कौन लाता है, मोर के पंख को विचित्र कौन करता है, कोकिला पक्षी का कण्ठ मधुर एवं कौवे का कण्ठ कठोर कौन बनाता है? ये सब स्वभाव के ही कारण होता है। जहर को धारण करने वाले सर्प के सिर में मणि रहती है, जो तुरन्त जहर को नष्ट कर देती है। साँप का स्वभाव विष करने का है, दूध पीकर भी वह जहर बनाता है अर्थात् साँप के मुँह में जहर एवं मस्तक में विषहर मणि, यह विचित्रता स्वभाव से ही है।

पृथ्वी का स्वभाव कठिन है, पानी का स्वभाव शीतल है। पवन का स्वभाव चंचल है तथा अग्नि का स्वभाव गरम है। सूँठ का स्वभाव वायु विकार को शांत करना है तथा हरड़ का स्वभाव विरेचन करना है। सिंह का स्वभाव साहसिक है तो बकरे का स्वभाव निर्बलता का है। आंवले का स्वभाव कड़ुवा है एवं गन्ने के रस का स्वभाव मधुर मीठा है। पत्थर का स्वभाव डूबने का है तथा मच्छ का स्वभाव अथाह पानी में तैरने का है।

कान का स्वभाव सुनना है, आँख का स्वभाव देखना है, नाक का स्वभाव सुगन्ध लेना है, जिह्वा का स्वभाव स्वाद लेना है, शरीर का स्वभाव आठ प्रकार के स्पर्श को समझने का है। मन का स्वभाव चंचल है, मुख का स्वभाव बोलना है। दोनों हाथों का स्वभाव काम करने का है, पैरों का स्वभाव घूमने का है। सूर्य का स्वभाव

तपने का है, शशि का स्वभाव शीतलता का है। सिद्ध भगवान का स्वभाव अरूपी है, देवता का स्वभाव अतुल सुख भोगने का है तथा नारकीय जीवों का स्वभाव दस प्रकार की क्षेत्र वेदना सहने का है।

धर्मास्तिकाय का स्वभाव चलना है, अधर्मास्तिकाय का स्वभाव ठहरने का है, आकाशास्तिकाय का स्वभाव विकास करने का है, काल द्रव्य का स्वभाव वर्तना करना है, जीवास्तिकाय का स्वभाव उपयोग करना है, पुद्गलास्तिकाय पूरण-गलन स्वभाव वाला है। नव तत्त्वों एवं छः कार्यों का स्वभाव भिन्न-भिन्न है। भवी-अभवी का स्वभाव भिन्न-भिन्न है। बिना स्वभाव की दुनियाँ में कोई वस्तु नहीं है अर्थात् स्वभाव के कारण ही सम्पूर्ण सृष्टि का विकास हुआ है।

स्वभाववाद का निरूपण एवं निरसन : विभिन्न ग्रन्थों में

मल्लवादी क्षमाश्रमण के द्वादशारनयचक्र में स्वभाववाद का उपस्थापन एवं खण्डन

मल्लवादी क्षमाश्रमण (५वीं शती) ने द्वादशारनयचक्र नामक विशाल कृति में स्वभाववाद का उपस्थापन एवं खण्डन किया है, जो अपने आपमें अतीव महत्त्वपूर्ण है। इसमें स्वभाववाद का प्राचीन स्वरूप अभिव्यक्त हुआ है। मल्लवादी कहते हैं कि स्वभाववाद के अनुसार सभी वस्तुएँ स्वतः होती हैं। जो पुरुष आदि होते हैं, वे स्वतः होते हैं। पाणिनि व्याकरण पर कात्यायन रचित वार्तिक में भी कहा गया है- 'यथा सर्वभावा स्वेन भावेन भवन्ति स तेषां भावः'^{१३२} इस आधार पर जो जिस भाव से होता है वह उसका आत्मीय भाव या स्वभाव कहलाता है। समस्त पदार्थों की प्रकृति या बीज स्वभाव है। स्वभाव को स्वीकार किए बिना पुरुष आदि का स्वत्व में सत्त्व नहीं हो सकता। यदि व्रीहि आदि के पाक में काल को कारण माना जाता है तब भी स्वभाव का ही ग्रहण होता है। युगपद् या क्रम से घट रूप आदि या व्रीहि, अंकुर आदि की उस-उस रूप में उत्पत्ति होने से स्वभाव को ही स्वीकार करना होता है- 'युगपदद्युगपद् घटरूपादीनां व्रीह्यांकुरादीनां च तथा तथा भवनादेव तु स्वभावोऽभ्युपगतः'^{१३३} जैसा कि तुल्य भूमि, जल आदि के होने पर कण्टकादि भिन्न स्वरूप की वस्तुएँ प्रत्यक्षतः देखी जाती हैं। काँटे आदि ही तीक्ष्ण होते हैं, पुष्पादि में वैसा गुण नहीं होता। जैसा कि अन्यत्र भी कहा है-

कः कण्टकानां प्रकरोति तैक्ष्ण्यं विचित्रभावं मृगपक्षिणां च।

स्वभावतः सर्वमिदं प्रवृत्तं न कामचारोऽस्ति कुतः प्रयत्नः॥

केनाञ्जितानि नयनानि मृगाङ्गनानां को वा करोति रुचिराङ्गरुहान् मयूरान्।

कश्चोत्पलेषु दलसन्निचयं करोति को वा करोति विनयं कुलजेषु पुंसु।।^{१३४}

काँटों में तीक्ष्णता, मृगों और पक्षियों में विचित्रता स्वभावतः होती है, इसमें कोई इच्छा या प्रयत्न कारगर नहीं होता। मृगियों के नयनों में कोई काजल नहीं लगाता तब भी उनके नयन सुन्दर होते हैं। मयूर के पंख स्वभावतः सुन्दर होते हैं, कमल के फूल की पंखुड़ियाँ भी स्वभाव से सुन्दर होती हैं और सत्कुल में उत्पन्न पुरुषों में स्वभाव से विनय देखा जाता है।

यदि स्वभाव ही कारण है तो भूमि आदि द्रव्यों के बिना स्वभावमात्र से ही कण्टकादि की उत्पत्ति क्यों नहीं हो जाती? अन्यथा भी उसकी उत्पत्ति क्यों नहीं होती? कण्टक क्यों बीधता है, क्यों वह कदाचित् ही बीधता है? किसलिए कुछ को ही बीधता है कुछ को नहीं?^{१३५}

तब स्वभाववादी कहते हैं भूमि, अम्बु आदि द्रव्यों की अपेक्षा रखकर कण्टकादि की उत्पत्ति होती है, यह भी स्वभाव ही है, क्योंकि भूमि आदि से ही कण्टक उत्पन्न होता है, मृत्पिण्ड आदि से नहीं।^{१३६} भूमि आदि निमित्तों की निमित्तता भी स्वाभाविक है।^{१३७} प्रत्येक वस्तु में उसी प्रकार स्वभाव कार्य करता है जिस प्रकार वय के अनुसार बाल, कुमार, यौवन आदि अवस्थाएँ प्रकट होती हैं। दूध से दही, मक्खन, घृत आदि अवस्थाएँ भी स्वभाव से होती हैं। यदि ये स्वभाव से नहीं हों तो बाद में कभी भी नहीं हो सकती। जैसे कि बन्ध्या का पुत्र कभी नहीं हुआ, अतः बाद में भी होता हुआ नहीं देखा जाता है। इसी प्रकार मृद आदि में विद्यमान घट आदि की अपने निमित्तों की सहायता से स्वाभाविक उत्पत्ति होती है, आकाश आदि में नहीं होती। अर्थात् जिसमें जो स्वभाव है उससे वही वस्तु प्रकट होती है।^{१३८}

स्वभाव से ही अत्यधिक निकटवर्ती अंजन और दूरवर्ती पर्वत का चक्षु आदि के द्वारा ग्रहण नहीं होता। इसी प्रकार कोई वस्तु अत्यन्त अनुपलब्धि स्वभाववाली होती है, जैसे कि आत्मा आदि। इसलिए पुरुष के कामाचार या प्रयत्न आदि से कुछ भी नया उत्पन्न नहीं किया जा सकता है। चरक संहिता में कहा है— कटुक रस वाला चित्रक पकाने पर उष्णवीर्य युक्त हो जाता है तथा उससे युक्त दन्ती अपने स्वभाव से विरेचन करती है।^{१३९}

मिट्टी से घटादि की अभिव्यक्ति या अनभिव्यक्ति स्वभाव वाला घट भी वस्तुतः पृथ्वी आदि का ही स्वभाव है, जैसे कि जल स्वभाव से द्रव होता है, पृथ्वी स्थिर होती है, वायु चंचल होती है, आकाश अमूर्त होता है, अग्नि उष्ण होती है।^{१४०}

वस्तुओं के फल-स्वभाव के अनुरूप ही जीवों की प्रवृत्ति देखी जाती है और उससे व्यवस्था भी बनी रहती है- 'फलस्वभावानुरूपाः प्रवृत्तयोऽस्त एव व्यवस्थिता'^{१४९} मृत्पिण्ड और दण्ड आदि से घट उत्पन्न होता है इस बात को जानकर ही कुलाल चाक पर मृत्पिण्ड रखकर चाक को घुमाने आदि का व्यापार करता है।

इस प्रकार एक ही स्वभाव स्वशक्तिभेद से कारकभेद को प्राप्त होता है। वही कर्ता, कर्म, करण आदि स्वरूपों को प्राप्त होता है। वह ही अनुभव करता है तथा वह ही अनुभव किया जाता है। आत्मा ही कर्म स्वभाव वाले द्रव्यों से संयुक्त होता है तथा वियुक्त होता है इस प्रकार स्वभाव से ही बन्ध और मोक्ष हुआ करता है।^{१५०} उदाहरणार्थ जिस प्रकार धातुवाद के बिना भी कनक का आविर्भाव होता है उसी प्रकार कर्म से पृथक् होने के स्वभाव के कारण भव्य जीवों में निर्मल आत्मा का आविर्भाव होता है। सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान पूर्वक की गई क्रिया की प्रबलता से कैवल्य की प्राप्ति उसी प्रकार होती है जिस प्रकार धातुवाद क्रिया से शुद्ध स्वर्ण की उत्पत्ति होती है। किन्हीं जीवों में कर्मों से पृथक् न होने के स्वभाव के कारण कैवल्य प्रकट नहीं होता है।^{१५१} अभव्य जीवों की मुक्ति न होना और भव्य जीवों की मुक्ति होना स्वभाव के ही कारण होता है। स्वभावनय के कारण ही जीव दो प्रकार के कहे गए हैं- भवसिद्धिक और अभवसिद्धिक। भवसिद्धिक जीवों में ही विशुद्धि द्वारा कर्मसंतति का व्यवच्छेद होता है। अनादि काल से जीव और कर्म परस्पर संयुक्त हैं। इनका व्यवच्छेद और अव्यवच्छेद स्वभाव से ही होता है। भव्य जीवों के कर्मसंतान की सांतता और अभव्य जीवों के कर्मसंतान की अनन्तता में स्वभाव से अन्य कोई हेतु नहीं कहा जा सकता।^{१५२} यदि इसमें किसी हेतु का अन्वेषण किया जाए तो भव्य जीवों के कर्म संतान के अनादि होने से अनादि आकाश की भाँति अनन्तता भी माननी होगी। यदि कर्मसंतान के अनादि होने पर भी उसे अंतयुक्त माना जाए तो आकाश भी भव्य जीवों के कर्म की भाँति अनादि होने से सांत माना जाना चाहिए। यदि कर्म के अनादि होने पर भी बिना हेतु के ही उनका अंत होता है तो सिद्धों के कर्मसंतान की भी बिना हेतु के आदि क्यों नहीं होती है। इस प्रकार स्वभाव ही शरणभूत है। भव्य, अभव्य, संसार उच्छिन्ति-अनुच्छिन्ति आदि में स्वभाव के अतिरिक्त और कोई कारण नहीं है।^{१५३}

स्वभाव को स्वीकार नहीं करने पर न तो कोई साधन साधन बन सकता है और न कोई दूषण दूषण हो सकता है और इसके अभाव में वाद (शास्त्रार्थ) ही प्रवृत्त नहीं हो सकता है।^{१५४} पक्ष, हेतु, दृष्टान्त आदि अपने स्वभाव से सम्पन्न होकर ही साधन बनते हैं। उसके विपर्यय में वे आभास (दूषण) कहलाते हैं। इसलिए स्वभाव ही प्रभु और विभु रूप से जगत् का कारण है।^{१५५}

खाण्डन-

यह स्वभाव व्यापक है या प्रत्येक वस्तु में परिसमाप्त होता है? यदि व्यापक है तो एकरूप होने के कारण पररूप का अभाव होने से स्व या पर विशेषण निरर्थक है। यदि वह स्वभाव प्रत्येक वस्तु में परिसमाप्त होता है अर्थात् प्रत्येक वस्तु में भिन्न-भिन्न है तो लोक में प्रचलित घट के घटत्व स्वभाव, पट के पटत्व स्वभाव आदि से भिन्न यह स्वभाव नहीं हो सकेगा। इस तरह स्वभाववादियों के द्वारा वर्णित स्वभाव की सिद्धि नहीं होती है। यही नहीं स्वभाव के अभाव की भी प्रसक्ति होती है। क्योंकि वस्तु मात्र में स्वभाव को स्वीकार करने पर घट ही घट है, पट ही पट है, पट में घट नहीं है और घट में पट नहीं है- इस प्रकार इतरेतर अभाव के कारण परस्पर एक दूसरे का अस्वभावन (स्वभाव न होना) ही परिगृहीत होता है। इस प्रकार कैसे और कहाँ पर यह स्वभाव रहता है?^{१४८}

इस प्रकार मल्लवादी क्षमाश्रमण ने द्वादशारनयचक्र में स्वभाववाद का विस्तार से व्यवस्थित उपस्थापन किया है तथा उसका सबल तर्कों से मूलोत्पाटन भी कर दिया है।

जिनभद्रगणि (६-७वीं शती) द्वारा विशेषावरयक भाष्य में स्वभाववाद का निरूपण एवं निरसन

विशेषावरयकभाष्य में स्वभाववाद का उपस्थापन एवं अपाकरण सम्प्राप्त होता है। यह निराकरण एक स्थान पर नहीं दो तीन स्थलों पर मिलता है,^{१४९} किन्तु भेद न होने से यहाँ एक ही स्थल का विवेचन किया जा रहा है।

स्वभाववाद- "विज्ञानघन एवैतेभ्यो भूतेभ्यः" इत्यादि वेदवचनश्रवणात् स्वभावं देहादीनां कर्तारं मन्यसे, यतः केचिदाहुः-

“सर्वहेतुनिराशंसं भावानां जन्म वर्ण्यते।

स्वभाववादिभिस्ते हि नाहुः स्वमपि कारणम्”॥

राजीव कण्टकादीनां वेचित्र्यं कः करोति हि ?

मयूरचन्द्रिकादिर्वा विचित्रः केन निर्मितः॥

कादाचित्कं यदत्रास्ति निःशेषं तदहेतुकम्।

यथा कण्टकतैक्षण्यादि तथा चैते सुखादयः॥^{१५०}

‘विज्ञानधन एवैतेभ्यो भूतेभ्यः’ इत्यादि वेद वचनों के द्वारा स्वभाव देहादि का कर्ता माना जाता है, क्योंकि कुछ लोग कहते हैं कि सभी हेतुओं के निराकरण से अर्थात् अहेतु से पदार्थों का जन्म होता है और उसमें ‘स्व’ भी कारण नहीं होता है। जैसे- कमल, कण्टक, मयूरचन्द्रक आदि में पायी जाने वाली विचित्रता। जो कादाचित्क होता है वह निहेतुक होता है, अतः बाह्य पदार्थ कण्टकतीक्ष्णता आदि ही नहीं, आत्मिक या भीतर के सुख-दुःखादि कार्य भी कादाचित्क होने से निहेतुक होते हैं।

निरसन- गौतम द्वारा ‘स्वभाववाद’ के विषय में इस प्रकार कहे जाने पर भगवान महावीर फरमाते हैं- ‘अहव सहावं मन्नसि विण्णाणाघणाइवेयवुत्ताओ। तह बहुदोसं गोयम! ताणं च पयाणमयमत्थो।’ अर्थात् हे गौतम! जैसे तुम स्वभाव की कारणता मानते हो, वैसा स्वीकार करने पर बहुत दोष आता है। क्योंकि जो देहादि का कर्ता ‘स्वभाव’ स्वीकार किया गया है, वास्तव में उसका क्या अर्थ है -

१. क्या वस्तु विशेष स्वभाव है?
२. क्या अकारणता या निष्कारणता स्वभाव है?
३. क्या वस्तु का धर्म स्वभाव है?

१. वस्तु विशेष रूप स्वभाव अनुपलब्ध- वस्तु विशेष रूप स्वभाव आकाश-कुसुम की भाँति अनुपलब्ध है। इसके अलावा वस्तु विशेष रूप स्वभाव का साधक कोई प्रमाण ही उपलब्ध नहीं होता। यदि ग्राहक प्रमाण के द्वारा स्वभाव का अस्तित्व माना जाए, तो उसी न्याय से कर्म आदि के अस्तित्व को स्वीकार किया जा सकता है। इसी तरह स्वभाववाद के सन्दर्भ में एक प्रश्न यह भी उपस्थित होता है कि स्वभाव मूर्त है या अमूर्त? यदि स्वभाव को मूर्त माना जाए, तो नामान्तर से कर्म की ही स्वीकृति होगी। यदि अमूर्त माना जाए तो वह किसी का कर्ता नहीं होगा, क्योंकि वह आकाशादि के समान उपकरण रहित है।^{१५१}

२. निष्कारणता भी स्वभाव नहीं- निष्कारणता को स्वभाव मानने का अर्थ होगा- शरीर आदि सभी बाह्य पदार्थों का अकारण उत्पन्न होना। कारण कि अभाव की सर्वत्र समानता होने से सभी वस्तुओं के युगपद् उत्पत्ति का प्रसंग उपस्थित हो जाता है। यदि शरीर आदि को अहेतुक माना जाए, तो उन्हें आकस्मिक मानना होगा। जो आकस्मिक होता है, वह अन्न (बादल) आदि के विकार के समान सादि व प्रतिनियत संस्थान वाला नहीं होता। जबकि शरीर सादि नियताकार होता है। आकस्मिक नहीं होने पर उसमें कर्म हेतु है। शरीर घटादि के समान नियत आकार वाला और उपकरण युक्त कर्ता से निर्वृत्त (निर्मित) है।^{१५२} यदि भवोत्पत्ति आदि

१७२ जैनदर्शन में कारण-कार्य व्यवस्था : एक समन्वयात्मक दृष्टिकोण

अकारण होती है तो परभव में जीव की सदृशता कैसी हो जाती है? यदि वह सदृशता अकारण होती है तो विसदृशता भी अकारण ही हो जाएगी। इस प्रकार अकारण ही आकस्मिक रूप से भवविच्छित्ति होने का प्रसंग आ जाएगा।^{१५३} अतः गर्भादि अवस्था में कर्म की कारणता घटित होने से अकारणता को स्वभाव नहीं माना जा सकता।

३. स्वभाव वस्तु का धर्म भी नहीं - स्वभाव को वस्तु का धर्म मानना भी ठीक नहीं है, क्योंकि वस्तु का धर्म उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मक होने से सदा एकरूप नहीं रहता। वस्तु की नीलादि पर्यायों की परिणमनधर्मिता प्रत्यक्षसिद्ध है।^{१५४} यदि स्वभाव को वस्तु का धर्म माना जाए तो प्रश्न होगा कि वह आत्मा का धर्म है या वस्तु का? यदि वह ज्ञानादि के समान आत्मा का धर्म बन जाएगा तो वह आकाशादि के समान अमूर्त होने के कारण शरीर का हेतु नहीं बन सकता। यदि उसे (स्वभाव को) पुद्गल का धर्म मानें तो प्रकारान्तर से कर्म को ही स्वीकार करना होगा।^{१५५}

हरिभद्रसूरि विरचित धर्मसंग्रहणि में स्वभावहेतुवाद का निरसन

महान् जैव नैयायिक एवं आगम टीकाकार आचार्य हरिभद्रसूरि (७००-७७० ई.) ने 'धर्मसंग्रहणि' ग्रन्थ में जगत् की विचित्रता एवं सुख-दुःख के अनुभव में स्वभाव को हेतु मानने वाले स्वभावहेतुवादियों^{१५६} का निरसन करते हुए स्वभाव के स्वरूप पर अनेक वैकल्पिक प्रश्नचिह्न खड़े किए हैं।

१. स्वभाव भाव रूप है या अभाव रूप है?
२. स्वभाव भाव रूप में एक रूप है या अनेक रूप?
३. स्वभाव के अनेक रूप होने पर वह मूर्त है या अमूर्त?
४. स्वभाव के एक रूप होने पर नित्य है या अनित्य?
५. स्वभाव के अभाव रूप होने पर वह अनेक रूप है या एक रूप?

स्वभाववादियों से हरिभद्रसूरि ने प्रश्न किया है कि स्वभाव भाव रूप है या अभाव रूप? वे यदि इसे भाव रूप मानते हैं तो उनसे पुनः प्रश्न है कि वह अनेक रूप है या एक रूप?^{१५७} स्वभाववादी के दोनों मत को खण्डित करते हुए हरिभद्र कहते हैं-

जइ ताव एगरुवो निच्चोऽनिच्चो य होज्ज?

जइ निच्चो, कह हेतु सो भावो?

अह उ अणिच्चो ण एगो ति।

अह चित्तो किं मुत्तो किं वाऽमुत्तो? जइ भवे मुत्तो।

ता कम्मा अविसिद्धो योग्गलरूपं जतो तं पि,
अहं तु अमुत्तो ण तओ सुहदुक्ख-निबन्धण जहाऽऽगासं।^{१५८}

अर्थात् स्वभाव भाव रूप में एकरूप है तो वह नित्य है या अनित्य। यदि नित्य है तो वह भाव का हेतु कैसे बन सकता है अर्थात् नहीं बन सकता। क्योंकि हेतु में परिवर्तन से ही कार्य होता है जबकि नित्य पदार्थ अपरिवर्तनशील होता है। स्वभाव एकरूप होकर अनित्य नहीं बन सकता, क्योंकि अनित्य कभी एक रूप नहीं होता, वह विभिन्न रूपों वाला होता है।

स्वभाव को भाव-एक रूप न मानकर भाव-अनेक रूप अर्थात् विचित्र मानें तब पुनः प्रश्न होता है कि वह मूर्त है या अमूर्त?

यदि वह मूर्त रूप है तो जैनदर्शन में मान्य कर्म से अविशिष्ट (अभिन्न) यानी पुद्गल रूप होगा। यदि अमूर्त है तो वह अनुग्रह और उपघात न करने से सुख-दुःख का कारण नहीं हो सकता, जैसे कि आकाश अनुग्रह के अभाव में किसी के सुख-दुःख का कारण नहीं होता है।

यदि स्वभाववादी कहें कि सुख-दुःख का कारण जीव को मानने पर भी व्यभिचार आता है क्योंकि जीव भी आकाश की भाँति अमूर्त है। किन्तु स्वभाववादियों की ऐसी आशंका निर्मूल है। क्योंकि जीव एकान्त रूप से अमूर्त नहीं है। अनादि कर्म संतति के परिणाम स्वरूप वह मूर्त है, मूर्त कर्म से युक्त होने के कारण वह उसी प्रकार सुख-दुःख का कारण बनता है जिस प्रकार कि अंकुर का हेतु बीज होता है।^{१५९} अर्थात् जीव जब कर्म पुद्गलों से संयुक्त रहता है तभी तक उसे कर्म फल रूप सुख-दुःख की प्राप्ति होती है। कर्मों से रहित होने पर शुद्ध सिद्ध जीव को निरुपम अव्याबाध दुःखरहित शाश्वत सुख की प्राप्ति होती है। सातावेदनीय आदि कर्मों से मिलने वाला सुख विनश्वर होता है।

कर्म का संयोग होने से जीव को एकान्ततः मूर्त नहीं माना जा सकता और चेतनास्वरूप निरुपम सुख सम्पन्न होने से वह अमूर्त जीव दुःखादि का निमित्त भी नहीं माना जा सकता। किन्तु कर्म से युक्त होने से वह मूर्त और परिणाम-रूप बनकर सुख-दुःख का कारण हो सकता है। इस प्रकार जीव का अमूर्त स्वरूप दुःख का कारण नहीं बनता, अपितु उसका कर्म रूप मूर्तत्व कारण बनता है।^{१६०}

यदि स्वभाव अभाव रूप है तो वह एक रूप है या अनेक रूप (विचित्र)? तुच्छ (असत्) एक अभावस्वरूप स्वभाव से कार्यसिद्धि कैसे होगी? क्योंकि खरविषाण स्वरूप अभाव हेतु से किसी की उत्पत्ति नहीं होती। इस तरह अभाव से उत्पत्ति स्वीकार करना आकाशकुसुम के अस्तित्व को स्वीकार करना है।^{१६१}

स्वभाववादी अभाव से घटोत्पत्ति बताते हुए कहते हैं कि घट सम्बन्धी अभाव मिट्टी का पिंड रूप है। मिट्टी के पिंड रूप अभाव से ही घट उत्पन्न होता है। इसलिए 'अभाव से वस्तु उत्पन्न नहीं होती' यह बात असिद्ध है।^{१६२}

आचार्य कहते हैं-एकान्त रूप से कोई वस्तु तुच्छ(असत्) स्वरूप वाली नहीं होती, क्योंकि उसका स्वरूप से तो भाव होता ही है। इसलिए पूर्वोक्त दोष को कोई अवकाश नहीं है। चूंकि भाव रूप से अभाव रूप की उत्पत्ति नहीं होती और अभाव से भाव की उत्पत्ति नहीं होती, अतः मिट्टी रूप भाव जो घटस्वरूप अभाव से युक्त है उससे घट की उत्पत्ति संभव नहीं बनती।

स्वभाववादी शंका करते हैं कि इस भाव और अभाव के बीच में कोई विरोध दोष नहीं है क्योंकि मिट्टी में स्वरूप की अपेक्षा से भावरूपता है और पररूप की अपेक्षा से अभावरूपता है। पुनः उत्तर देते हैं कि यदि आप मृत्पिण्ड में स्वरूप से भाव-स्वभाव और पररूप से अभाव-स्वभाव दोनों को एक साथ विलक्षण रूप में स्वीकार करते हो तो मृत्पिण्ड रूप अभाव में विचित्रता संभव है।^{१६३}

स्वभाव को अभाव अनेक रूप भी नहीं माना जा सकता है, क्योंकि जो अनेक रूप होता है, उसका लोक में अभाव नहीं देखा जाता। भाव में ही घट, पट, कट, शकट आदि के रूप में विचित्रता दिखाई देती है। यदि अभाव में विचित्रता स्वीकार करते हैं तो वास्तव में अभाव के रूप में नामान्तर से उसे भाव रूप स्वीकार करते हैं।

अर्थक्रिया के सामर्थ्यरूप स्वभावभेद के बिना वस्तु में विचित्रता संगत नहीं उहरती क्योंकि सभी वस्तुओं की अर्थक्रिया भिन्न भिन्न होती है, जैसे घट और पट की अर्थक्रिया में भिन्नता। यदि अभाव में अर्थक्रिया मानते हो तो वह ठीक नहीं है क्योंकि अर्थक्रियाकारिता भाव मात्र का लक्षण है। अतः भाव को स्वीकार करने पर ही विभेदता सम्भव है। इस प्रकार स्वभाव को अभावात्मक नहीं माना जा सकता।^{१६४}

स्वभाव को भावरूप मानने पर उसकी जैनदर्शन में मान्य कर्म से कोई भिन्नता नहीं रह जाती है। अर्थात् आपने स्वभाव को मूर्त, विचित्र भाव रूप स्वीकार किया है तो वह कर्म रूप ही है।^{१६५} अब प्रश्न यह होता है कि यह भाव रूप स्वभाव कारणगत है या कार्यगत? यह स्वभाव कार्यगत नहीं हो सकता, क्योंकि तब स्वभाव की हेतुता ही निवृत्त हो जाएगी। उत्पन्न अवस्था में वस्तु कार्य कहलाती है, अनुत्पन्न अवस्था में नहीं। जो वस्तु जिस अप्राप्त सत्ता को प्राप्त कराती है, वह वस्तु उसका हेतु कहलाती है। जो कार्य सत्ता को प्राप्त नहीं होता है अर्थात् असत् अवस्था में होता

है तो वह स्वभाव कार्यगत स्वभाव नहीं हो सकता, क्योंकि अभावभूत वस्तु का स्वभाव नहीं होता है। इस प्रकार कार्यगत स्वभाव कार्य का हेतु नहीं बन सकता।^{१६६}

यदि वह स्वभाव कारणगत है तो वह किसको इष्ट नहीं है, अर्थात् सभी को इष्ट है। तात्पर्य यह है कि हेतुता कारण में ही हो सकती है, कार्य में नहीं। कारणगत स्वभाव कारण से भिन्न नहीं अपितु अभिन्न है। अतः जगत् की सभी वस्तुएँ सकारण होती हैं, ऐसा निश्चय होता है।^{१६७}

अतः कहा जा सकता है- लोक में अनुभव होने वाले सुख-दुःख की विचित्रता यदि निर्हेतुक है तो वह सदैव ही होनी चाहिए या सदैव ही नहीं होनी चाहिए। क्योंकि निर्हेतुक वस्तु अन्य की अपेक्षा नहीं रखती है। अतः सुख-दुःख को नित्य सत् या नित्य असत् होना चाहिए।^{१६८} आचार्य कहते हैं- 'निच्छ भावाभावप्यसंगतो सकडमो हेतु'^{१६९} अर्थात् सुख-दुःख की नित्य भाव-अभाव की प्रसंगता से और कादाचित्कता से आपका मत खण्डित होता है। अतः सुख-दुःख सहेतुक है। हेतु के रूप में स्वकृत कर्म को छोड़कर किसी कारण की संभावना नहीं बनती।

शास्त्रवार्ता-समुच्चय में स्वभाववाद का खण्डन

महान् दार्शनिक जैनाचार्य हरिभद्रसूरि (७००-७७० ईस्वी शती) ने कालवाद, नियतिवाद आदि एकान्तवादों के निरसन की भाँति अनेक युक्तियों से 'स्वभाववाद' का भी खण्डन प्रस्तुत किया है-

बौद्ध दार्शनिक शान्तरक्षित के 'तत्त्वसंग्रह' और सिद्धसेनसूरि के 'सन्मतितर्क' पर अभयदेव की टीका में स्वभाववाद के सम्बन्ध में दो मत प्रतिपादित हुए हैं- प्रथम स्वभावहेतुवादी और द्वितीय निर्हेतुक स्वभाववादी। स्वभावहेतुवादी स्वभाव को कार्योत्पत्ति में हेतु मानते हैं, जबकि निर्हेतुकवादियों के अनुसार सम्पत्त भाव बिना हेतु के उत्पन्न होते हैं। इन दोनों मतों का खण्डन 'शास्त्रवार्ता समुच्चय' में एवं उसकी टीका 'स्याद्वादकल्पलता' में समुपलब्ध होता है।

१. हरिभद्रसूरि द्वारा स्वभावहेतुवाद का निरसन

- i. स्वभाव को ही कार्य की उत्पत्ति में हेतु मानना उचित नहीं है। 'स्वभाव' का अर्थ है- 'स्वो भावः' अर्थात् स्व से अभिन्न भाव। यह भाव प्रत्यक्षतः स्वसत्ता रूप ही होता है। स्वसत्ता रूप होने से उसमें भेदक तत्त्व का अभाव है। भेदक का अभाव होने से जगत् में विचित्रता सम्भव नहीं हो सकेगी।^{१७०}

१७६ जैनदर्शन में कारण-कार्य व्यवस्था : एक समन्वयात्मक दृष्टिकोण

- ii. इस तरह एकरूप स्वभाव मानने से वैचित्र्य अनुपपत्ति दोष तो आता ही है साथ में समूचे जगत् की उत्पत्ति युगपद् होने की आपत्ति भी आती है-

ततस्तस्याविशिष्टत्वाद् युगपद्विश्वसंभवः ।

न चासाविति सद्युक्त्या तद्वादोपि न संगतः ॥^{१७१}

अर्थात् स्वभाव के अविशिष्ट होने के कारण उसे किसी अन्य कारण की अपेक्षा न होने से, एक कार्य की उत्पत्ति के समय ही उसे सम्पूर्ण विश्व को उत्पन्न करना चाहिए, किन्तु प्रत्यक्षतः ऐसा दृग्गोचर नहीं होता। अतः इस अबाधित तर्क से स्वभाववाद असंगत सिद्ध होता है।

- iii. इस तर्क के उत्तर में स्वभाववादी युक्ति प्रस्तुत करते हैं कि 'ननु स्वभावस्य क्रमवत्कार्यजनकत्वमपि स्वभावादेवेति नानुपपत्तिरिति चेत्'^{१७२} स्वभाव का केवल कार्यजनकत्व ही स्वभाव नहीं है, अपितु क्रमवत्कार्यजनकत्व स्वभाव है। इस स्वभाव के अनुसार 'स्वभाव' क्रम से ही कार्य को उत्पन्न करेगा, जिससे एक साथ जगदुत्पत्ति की संभावना नहीं होगी। किन्तु उनकी यह युक्ति भी उचित नहीं है, क्योंकि स्वभाव अपने जिस स्वभाव से क्रमयुक्त कार्य को उत्पन्न करेगा, उसी स्वभाव से वह पूर्व और उत्तर काल को भी उत्पन्न करेगा। किन्तु पूर्वक्षण का पहले उत्तरक्षण का बाद में उत्पन्न होना काल द्वारा नियन्त्रित होता है, उसके नियमन के अभाव में पूर्वकाल बाद में और उत्तरकाल पहले भी हो सकता है। इस प्रकार काल की क्रमहीनता से स्वभाववादियों की युक्ति बाधित होती है।^{१७३}

- iv. वैचित्र्य की अनुपपन्नता, विश्व की युगपत् उत्पत्ति, काल की क्रमहीनता के अतिरिक्त एक दोष यह भी है कि जब स्वभाव ही सभी जातियों का नियामक है तो भिन्न-भिन्न कार्यों में भिन्न-भिन्न जाति न रहकर सब कार्यों में सभी जातियों का समावेश हो जाना चाहिए या सभी कार्यों की एक ही जाति हो जानी चाहिए।^{१७४}

- v. स्वभाववादी पुनः युक्ति देते हैं- 'तत्तत्कालादिसापेक्षो विश्वहेतुः'^{१७५} अर्थात् स्वभाव तत्तत्क्षणात्मक काल के योग से तत्तत् कार्य का कारण होता है। अतः तत्तत् क्षण के क्रमिक होने से वह क्रम से ही कार्य को उत्पन्न करता है। परन्तु यह तर्क भी स्वभाववाद को जीवित रखने में समर्थ नहीं है। क्योंकि इसमें स्वभाव के अतिरिक्त कारण 'काल' भी सम्मिलित है। स्वभाव मात्र की कारणता प्रतिपादित न होने से स्वभाववाद सिद्धान्त सत्ताहीन हो जाता है- 'मुक्तः स्वभाववादः स्यात्कालवादपरिग्रहात्'।^{१७६}

२. टीकाकार यशोविजय द्वारा खण्डन में प्रस्तुत तर्क

हरिभद्रभूरि विरचित शास्त्रवार्तासमुच्चय के टीकाकार यशोविजय (१७वीं शती) ने स्वभावहेतुवाद के खण्डन में कुछ नये तर्क भी प्रस्तुत किए हैं। उन्होंने स्वभाववादियों की ओर से तर्क उपस्थापित कर उनका विधिवत् खण्डन किया है, यथा-

- i. काल को कारण मानने के दोष का निवारण करने के लिए यदि स्वभाववादी कहें कि 'स्वभाव क्षणिक होता है, क्षणिक होने से स्वभाव का क्रमिकत्व अनिवार्य है। अतः क्रमिक स्वभाव से क्रमिक कार्यों की उत्पत्ति मानने पर स्वभाव से भिन्न कारण की सिद्धि न होने से स्वभाववाद का भंग नहीं हो सकता,^{१७९} तो स्वभाववादियों की यह युक्ति भी उचित नहीं है। 'परं न युक्तम् एकजातीयहेतुं विना कार्यैकजात्याऽसंभवात्'^{१८०} क्योंकि युक्तिहीन होने से आप (स्वभाववादियों) का कथन वचनमात्र है, कारण कि आपने प्रत्येक कार्य के प्रति भिन्न-भिन्न स्वभाव को कारण माना है, जैसे दस घट के प्रति दस प्रकार के स्वभाव कारण हैं। इस स्थिति में एकजातीय कारण की सिद्धि न होने से कार्य में एकजातीयता नहीं बन पाएगी। जबकि घट-पट आदि जैसे एक जाति के सहस्रों कार्य जगत् में देखे जाते हैं।
- ii. अपने मत को स्थापित करने हेतु स्वभाववादी पुनः समाधान करते हैं कि घटोत्पादक समस्त स्वभावों में 'घटकुर्वद्रूपत्व' नाम की एक जाति मान ली जाए तो उस जातिगत स्वभाव से होने वाले घटों में एकजातीयता की उपपत्ति हो जाएगी। किन्तु यह समाधान भी उचित नहीं है, क्योंकि कुर्वद्रूपत्व जाति प्रामाणिक नहीं है। यह जाति प्रामाणिक तब हो सकती है जब एक ही कारण से कार्य की उत्पत्ति मानी जाए, किन्तु एक ही कारण से कार्य का होना असिद्ध है। कार्य की उत्पत्ति तो कारण समूहात्मक सामग्री से ही होती है। सामग्री-कारणसमूह मानने पर गौरव अवश्य है, किन्तु प्रमाणानुमत होने से वह गौरव सद्ग है। प्रमाण शून्य होने से 'कुर्वद्रूपत्व को स्वीकार किया जाना कठिन है। इसके अतिरिक्त एक दोष यह भी है कि कुर्वद्रूपत्व भावपदार्थ के क्षणिकत्व पर निर्भर करता है और क्षणिकत्व पूर्वोत्तर घटादि में 'स एवायं घटः' इस प्रकार की प्रत्यभिज्ञा से बाधित है।^{१८१}
- iii. एक स्थान पर 'घटकुर्वद्रूपत्व' से घट की उत्पत्ति होने पर अन्यत्र भी उसी घट की उत्पत्ति की आपत्ति होती है। इस आपत्ति के परिहारार्थ यदि देशनियामक हेतु की कल्पना की जाए तो स्वभाव से भिन्न हेतु के सिद्ध हो जाने से स्वभाववाद का भंग हो जाता है।^{१८२}

- iv. यदि स्वभाव ही सब कार्यों का जनक होगा तो घट के प्रति दण्ड आदि की कारणता यथार्थज्ञान से युक्त व्यक्ति दण्डादि के संग्रह में प्रवृत्त नहीं हो सकेगा।^{१८९} क्योंकि दण्ड आदि से घट आदि के होने की निश्चितता के अभाव में निष्क्रम्य प्रवृत्ति का समर्थन नहीं किया जा सकता।

३. यशोविजय द्वारा निर्हेतुक स्वभाववाद का निरसन

हरिभद्र सूरि ने 'निर्हेतुक स्वभाववाद' की चर्चा नहीं की है, किन्तु उनके टीकाकार यशोविजय ने निर्हेतुकस्वभाववाद का संक्षेप में स्वरूप प्रस्तुत कर खण्डन किया है। निर्हेतुक स्वभाववाद के अनुसार समस्त पदार्थ निर्हेतुक होते हैं- 'निर्हेतुका भावाः।' इस मान्यता के अनुसार किसी भी कारण को स्वीकार न करना स्वभाववाद है। इसके खण्डन में यशोविजय तर्क देते हैं-

समस्त भाव निर्हेतुक हैं, यह स्वीकार करने पर भी स्वभाववाद का साम्राज्य नहीं टिक पाता है, क्योंकि उसकी पुष्टि में हेतु देने पर 'वदतो व्याघातः' दोष आता है।^{१८९} जैसा कि कहा है-

न हेतुरस्तीति वदन् सहेतुकं, ननु प्रतिज्ञां स्वयमेव बाधते ।

अथापि हेतुप्रलयादसौ भवेत्, प्रतिज्ञया केवलयाऽस्य किं भवेत्?^{१९०}

निर्हेतुक भाव को हेतु के साथ प्रस्तुत करने पर वादी स्वयं ही प्रतिज्ञा का भंग कर देता है और हेतुहीन प्रतिज्ञा को प्रस्तुत करने पर प्रतिज्ञा निरर्थक हो जाती है।

यदि स्वभाववादी हेतु में कारकता न मानकर ज्ञापकता को अंगीकार करते हुए कहते हैं कि हेतु को ज्ञापक मानने से न तो प्रतिज्ञा का भंग होता है और न प्रतिज्ञा की निरर्थकता का प्रसंग आता है^{१९०} तो उनका यह समाधान उचित नहीं है, कारण कि ज्ञापक हेतु भी ज्ञान का जनक होने से कारक हेतु ही सिद्ध होता है। दूसरी बात यह भी है कि ज्ञापकहेतुता को किसी विशेष देशकाल में स्वीकार नहीं किया जाएगा तो स्वभाववादियों को मान्य 'कादाचित्कत्व' में व्याघात होगा और यदि नियत देश-कालादि को स्वीकार करते हैं तो वह कारक हेतु सिद्ध होगा, क्योंकि नियतावधि (नियत देशकाल में रहने वाला) ही कारक होता है। यदि ऐसा नहीं माना जाएगा तो 'गर्दम से धूम' की उत्पत्ति मानने का प्रसंग आ जाएगा।

इस प्रकार स्वभावहेतुवाद और निर्हेतुक स्वभाववाद विभिन्न युक्तियों से बाधित होते हैं। वैचित्र्य की अनुपपत्ति और जगत् की युगपद् उत्पत्ति दोष प्रत्यक्षतः स्वभाव की कारणता को खण्डित करते हैं। स्वभाव द्वारा क्रमिक उत्पत्ति मानने पर भी

निर्दोषता नहीं आती, क्योंकि पूर्वक्षण और उत्तरक्षण काल-नियमन के अभाव में क्रमहीनता को प्राप्त होते हैं। यदि काल का नियमन स्वीकार कर लिया जाए तो कहते हैं- 'मुक्तः स्वभाववादः स्यात्कालवादपरिग्रहात्' अर्थात् अन्य कालवाद कारण की सापेक्षता के निमित्त से स्वभाववाद अप्रमाणित हो जाता है। अनेक जातियों वाले कार्यों का नियामक स्वभावमात्र होने पर सभी कार्यों में एक जाति का अथवा सब कार्यों में सभी जातियों का प्रसंग उपस्थित हो जाता है। इसे अधिक स्पष्ट करते हुए टीकाकार यशोविजय ने कहा- 'एकजातीयहेतुं विना कार्यैकजात्याऽसंभवात्' एकजातीय कारण की सिद्धि न होने से कार्य में एकजातीयता संभव नहीं होती। जिससे विभिन्न काल में बने हुए अनेक घटों में घटत्त्व रूप एक जाति असंभव हो जाती है। इसके समाधान हेतु स्वभाववादी 'घटकुर्वद्रूपत्व' नाम की एक अन्य जाति स्वीकार करते हैं, किन्तु वह भी अप्रामाणिक होने से और प्रत्यभिज्ञा द्वारा बाधित होने से असिद्ध है। इसके अतिरिक्त देशनियामक हेतु की कल्पना और दण्डादि के संग्रह में अप्रवृत्ति जैसे दोष भी कुर्वद्रूपत्व जाति को निराधार बताते हैं। उपर्युक्त सभी युक्तियाँ सहेतुक स्वभाववाद को दूषित करती हैं।

निर्हेतुक स्वभाववाद तो हेतु के मानने और न मानने दोनों ही स्थितियों में अपने अस्तित्व को खो देता है। ज्ञापक हेतु के द्वारा अपने आपको स्थापित करने का उसका प्रयास भी निष्फल हो जाता है। कारण कि ज्ञापक हेतु भी ज्ञान का जनक होने से कारक हेतु ही सिद्ध होता है। अतः स्वभाववाद के ये दोनों मत असत् हैं।

अज्ञात कृतिकार द्वारा निरूपण एवं निरसन

अभिधान राजेन्द्र कोश में स्वभाववाद विषयक चर्चा समुपलब्ध है, किन्तु वह किस कृति से उद्धृत है, इसका कोई संकेत नहीं दिया गया है। इसमें स्वभाव मात्र की कारणता को अनुचित बताते हुए उसका खण्डन किया गया है। स्वभाववादी कहते हैं- 'इह सर्वे भावाः स्वभाववशादुपजायन्ते' अर्थात् सभी भाव स्वभाव से उत्पन्न होते हैं।

खण्डन- स्वभाव भाव रूप होता है या अभाव रूप? यदि भाव रूप है तो एक रूप है या अनेक रूप। ये सभी अवस्थाएँ एक दूषण-जाल को उत्पन्न करती हैं।^{१८}

जो स्व का भाव है या वस्तु का अपना भाव है, वह स्वभाव है। यह स्वभाव कार्यगत हेतु है या कारणगत हेतु? यह कार्यगत नहीं हो सकता क्योंकि कार्य के निष्पन्न होने के बाद ही कार्यगत स्वभाव होगा और अनिष्पन्न होने पर नहीं। निष्पन्न होने के बाद 'स्वभाव' कार्य का हेतु कैसे हो सकता है? क्योंकि वस्तु या कार्य का स्वरूप लाभ

१८० जैनदर्शन में कारण-कार्य व्यवस्था : एक समन्वयात्मक दृष्टिकोण

जिससे होता है वह उसका हेतु होता है। इसके विपरीत यहाँ कार्य की निष्पन्नता से हेतु रूप स्वभाव को आत्मलाभ प्राप्त होता है। कार्य की निष्पन्नता से पूर्व स्वभाव के अभाव का प्रसंग होने से, यह किस प्रकार कार्यगत हेतु बन सकता है।^{१८६}

कारणगत स्वभाव कार्य का हेतु है, इस बात से हम जैन भी सहमत हैं। कारणों में विभिन्नता होने से स्वभाव भी भिन्न-भिन्न प्रकार के होते हैं और अपने कारण के प्रति नियत होते हैं। यथा-मिट्टी से कुम्भ होता है पटादि नहीं, क्योंकि मिट्टी में पटादिकरण के स्वभाव का अभाव है। तन्तु से भी पट ही उत्पन्न होता है घट आदि नहीं, क्योंकि तन्तुओं में घटकरण आदि के स्वभाव का अभाव है। अतः कहा गया है- 'मिट्टी से कुम्भ होता है, पटादि नहीं,' यह सभी कारणगत स्वभाव स्वीकार करने पर होता है।^{१८७}

इसी प्रकार अन्य कार्य भी स्वभाव से होते हैं। यह स्वभाव को कारणगत अंगीकार करने से ही संभव हो पाता है। जैसे-कड़ुक मूंग स्वकारण अर्थात् स्वभाव से उस रूप होते हैं कि स्थाली, ईन्धन, काल आदि सामग्री का सम्पर्क होने पर भी पाक को प्राप्त नहीं होते। स्वभाव कारण से अभिन्न है, अतः सभी पदार्थ सकारण ही हैं।^{१८८}

और कहा गया है-

'कारणगओ उ हेऊ केण व निद्वोति निययकज्जस्स?

न य सो तओ वि भिन्नो, सकारण सव्वमेव तओ।।'

अर्थात् हेतु (स्वभाव) कारणगत रहता है। उसे अपने कार्य में किसके द्वारा स्थापित किया गया? अर्थात् किसी के भी द्वारा नहीं। वह स्वभाव कार्य से भी भिन्न नहीं है क्योंकि सभी पदार्थ कारण से ही उत्पन्न हैं।

अभयदेवसूरिकृत (१०वीं शती) 'तत्त्वबोधविधायनी' टीका में स्वभाववाद का उपस्थापन एवं खण्डन

स्वभाववाद के सम्बन्ध में दो प्रकार की मान्यताएँ प्राप्त होती हैं। एक मान्यता के अनुसार स्वभाव को पदार्थ की उत्पत्ति में कारण माना जाता है। इस मान्यता का उल्लेख अभयदेवसूरि ने 'स्वभावत एव भावा जायन्ते' (स्वभाव से ही पदार्थ उत्पन्न होते हैं) एवं 'स्वभावकारणा भावाः' (पदार्थों की उत्पत्ति में स्वभाव कारण होता है) वाक्यों द्वारा किया है। दूसरी मान्यता के अनुसार स्वभाववाद में प्रत्येक पदार्थ को निर्हेतुक माना जाता है। इसका उल्लेख अभयदेवसूरि ने 'सर्वहेतुनिराशंसस्वभावा भावाः' शब्दों से किया है। स्वभाववाद के इस द्वितीय स्वरूप को स्वीकार करने वाले स्वभाववादियों ने प्रथम स्वरूप (स्वभावकारणाः

भावाः) का खण्डन किया है। अभयदेवसूरि ने निर्हेतुक स्वभाववादियों के द्वारा स्वभावकारणतावादियों का खण्डन प्रस्तुत किया है। तदनन्तर निर्हेतुक स्वरूप वाले स्वभाववाद के पक्ष को उपस्थापित कर उसका भी खण्डन किया है। इसे यहाँ क्रमशः संक्षेप में प्रस्तुत किया जा रहा है -

स्वभाव कारण नहीं : निर्हेतुक स्वभाववादी-

अन्य मतावलम्बी जो 'स्वभावत एव भावा जायन्ते'^{१८८} कथन द्वारा पदार्थों की उत्पत्ति स्वभाव से बतलाते हैं, उनका मत दोषपूर्ण है -

१. कारण कि इसमें 'स्वात्मनि क्रियाविरोध' दोष आता है। अपने में (पदार्थ में) क्रिया का सम्भव नहीं हो पाना ही 'स्वात्मनिक्रियाविरोध' कहलाता है। यथा - अग्नि द्वारा स्वयं को जलाना, पानी द्वारा स्वयं को भिगोना आदि।^{१८९} चूँकि लोक में देखा जाता है कि अग्नि कभी स्वयं को नहीं जलाती अपितु पर-पदार्थ को जलाती है और पानी दूसरों को भिगोता है, स्वयं को नहीं। अतः स्वभाव से पदार्थ का उत्पन्न होना बाधित होता है।
२. अनुत्पन्न पदार्थ की स्थिति में - जो पदार्थ अनुत्पन्न हैं, उनका उत्पन्न होने का स्वभाव नहीं माना जा सकता। उत्पन्न पदार्थ की स्थिति में- जो पदार्थ उत्पन्न हैं उनमें वर्तमान काल में स्वभाव की उपस्थिति होने पर भी उत्पत्ति के पूर्व स्वभाव का अभाव होता है। यह पूर्वकालिक स्वभाव का अभाव पदार्थ के उत्पन्न होने के स्वभाव की निवृत्ति कर देता है।^{१९०}

निर्हेतुक स्वभाववाद का उपस्थापन

निर्हेतुक स्वभाववादियों के अनुसार बिना किसी कारण के कार्य उत्पन्न होता है। अभयदेवसूरि ने निर्हेतुक स्वभाववाद का उपस्थापन सुन्दर रीति से व्यवस्थित रूप में किया है, जो यहाँ प्रस्तुत है।

१. अनुपलभ्यमानसत्ताकं कारणम्- स्वभाववादियों का यह मत कारण के बिना ही कार्योत्पत्ति को स्वीकार करता है। कारण के बिना कार्योत्पत्ति से तात्पर्य स्व और पर कारणों से निरपेक्ष^{१९१} पदार्थों का जन्म होना है, जिसे स्वभाववादियों द्वारा 'सर्वहेतुनिराशंसस्वभावा भावाः- कहा गया है।^{१९२} इस प्रसंग में स्वभाववादी युक्ति देते हैं - 'यद् अनुपलभ्यमानसत्ताकं तत् प्रेक्षावतामसद्व्यवहारविषयः यथा - शशशृङ्गम्, अनुपलभ्यमानसत्ताकं च भावानां कारणमिति स्वभावानुपलब्धिः'^{१९३} अर्थात् जो अनुपलब्ध सत्ता वाला (अनुपलभ्यमानसत्ताकं) है

१८२ जैनदर्शन में कारण-कार्य व्यवस्था : एक समन्वयात्मक दृष्टिकोण

वह प्रेक्षावान के लिए असत् व्यवहार का विषय है यथा- खरगोश के सींग। इसी प्रकार पदार्थों के कारण की भी सत्ता उपलब्ध नहीं होने से वह व्यवहार का विषय नहीं है। यह तथ्य स्वभावानुपलब्धि हेतु से सिद्ध है। इस प्रकार कारण का 'अनुपलभ्यमानसत्ताक' विशेषण कार्यों का निर्हेतुजन्य होना सिद्ध करता है।

२. प्रत्यक्ष से कारणता की असिद्धि - काँटों की तीक्ष्णता आदि में किसी निमित्त का प्रत्यक्ष आदि से अनुभव नहीं किया जाता है।^{१९५} इसलिए कहा गया है -

कः कण्टकानां प्रकरोति तैक्ष्ण्यं विचित्रभावं भृगपक्षिणां वा ।

स्वभावतः सर्वमिदं प्रवृत्तं न कामचारोऽस्ति कुतः प्रयत्नः ॥

कौन काँटों को तीक्ष्ण करता है, कौन पशु-पक्षियों में विचित्र भाव को उत्पन्न करता है। ये सभी स्वभाव से होते हैं। इनमें किसी का स्वेच्छाचार या प्रयत्न नहीं है।

३. कादाचित्क हेतु से दुःखादि आध्यात्मिक कार्यों की निर्हेतुकता प्रमाणित- यदि यह कहा जाए कि बाह्य पदार्थों के कारणों की अनुपलब्धि होने से उनकी अहेतुकता भले ही सिद्ध हो, किन्तु दुःखादि आध्यात्मिक कार्यों के प्रति निर्हेतुकता कैसे सिद्ध होगी? तो कहना होगा कि दुःखादि की प्रत्यक्ष प्रमाण से निर्हेतुकता भले ही असिद्ध हो, किन्तु अनुमान प्रमाण से सिद्ध है, यथा- “जो कादाचित्क होता है वह निर्हेतुक होता है, जैसे- कण्टकादि की तीक्ष्णता” इसी प्रकार कादाचित्क दुःखादि स्वभाव हेतु से निर्हेतुक है।^{१९६}

४. कार्य-कारण सिद्धान्त ही दोषपूर्ण- दूसरी बात यह है कि कारण-कार्य सिद्धान्त भी अपने आप में दोषपूर्ण है। इस सिद्धान्त के अनुसार जिसके होने पर जिसका होना तथा न होने पर जिसका न होना पाया जाए अर्थात् जिसके साथ जिसकी अन्वय-व्यतिरेक व्याप्ति होती है, वह उसका कारण होता है। किन्तु कारण-कार्य का यह मन्तव्य उचित नहीं है, क्योंकि यह व्यभिचार से युक्त है। उदाहरणार्थ- स्पर्श का सद्भाव होने पर चक्षुर्विज्ञान होता है तथा इसके अभाव में नहीं होता है। स्पर्श और चक्षुर्विज्ञान के मध्य व्याप्ति सम्बन्ध होने के बावजूद भी स्पर्श चक्षुर्विज्ञान के प्रति कारण नहीं होता है। इस व्यभिचार से कारणत्व का लक्षण खण्डित होता है। अतः सभी हेतुओं से निरपेक्ष कार्योत्पत्ति होती है, ऐसा सिद्ध होता है।^{१९७}

यहाँ निर्हेतुक स्वभाववादी द्वारा अपने मत का उपस्थापन करने से पूर्व 'स्वभाव हेतुवादी' के मत का निराकरण किया गया है। स्वात्मनिक्रियाविरोध से एवं

अनुत्पन्न- उत्पन्न पदार्थों में स्वभाव की कारणता न बनने से स्वभावहेतुवादी द्वारा मान्य स्वभाव का स्वरूप विघटन को प्राप्त होता है। स्वभावानुपलब्धि हेतु से कारण सत्ता की अनुपलब्धि, प्रत्यक्ष से कारणता की असिद्धि, कादाचित्क हेतु से दुःखादि आध्यात्मिक कार्यों की निर्हेतुकता के प्रमाणों से स्वभाव को निर्हेतुक माना है। मूल सिद्धान्त अर्थात् कार्य-कारण सिद्धान्त को ही दोषपूर्ण बताकर स्वभाववादियों ने 'निर्हेतुक स्वभाववाद' को स्थापित किया है।

अभयदेवसूरि द्वारा निर्हेतुक स्वभाववाद का निरसन

जैन दर्शन के महान् नैयायिक अभयदेवसूरि 'तर्क पञ्चानन' विरुद्ध से विश्रुत रहे हैं। इन्होंने अनेकान्तवाद के प्रतिष्ठापक आचार्य सिद्धसेन सूरि द्वारा रचित 'सन्मतितर्क प्रकरण' पर 'तत्त्वबोधविधायनी' नामक विशाल टीका का निर्माण किया है। अभयदेवसूरि कृत टीका में 'स्वभाववाद' का जो खण्डन किया गया है, उसे यहाँ संक्षेप में प्रस्तुत किया जा रहा है-

(१) कण्टकादि की तीक्ष्णता निर्हेतुक नहीं- 'असदेतत्', कण्टकादितैक्ष्ण्यादेरपि निर्हेतुकत्वासिद्धेः' कण्टकादि की तीक्ष्णता की निर्हेतुकता सिद्ध न होने से आपका वचन असत् है, क्योंकि प्रत्यक्ष-अनुपलम्भ रूप अन्वय-व्यतिरेक से बीज आदि की कारणता निश्चित होती है।^{१९८} जिसके होने पर जिसका होना तथा जिसके विकृत होने पर जिसका विकृत होना पाया जाए, वह उसका कारण कहलाता है। फूली हुई विशिष्ट अवस्था अंकुरण को प्राप्त बीज कण्टकादि तीक्ष्णता में कारण है, क्योंकि इनमें अन्वय व्यतिरेक सम्बन्ध है। प्रत्यक्ष और अनुपलम्भ से बीजादि के होने पर कण्टकोत्पत्ति दृष्टिगत होती है, इसके अभाव में नहीं। अतः बीजादि कारण की उपलब्धि से 'अनुपलभ्यमानसत्ताकं च कारणम्' हेतु असिद्ध होता है।^{१९९}

(२) कादाचित्क हेतु असिद्ध- 'कादाचित्कत्वात् इति साधनम् तदपि विरुद्धम्, साध्यविपर्ययसाधनाद्' अर्थात् आपने कादाचित्क हेतु दिया है, वह भी आपके सिद्धान्त के विरुद्ध है। क्योंकि यह हेतु साध्य 'निर्हेतुक' से विपरीत 'सहेतुक' में जाता है इसलिए अहेतु का कादाचित्क होना अनुपपन्न है। आपके द्वारा प्रदत्त कण्टकीक्ष्णता और दुःखसुखादि दृष्टान्त अहेतुकता के अभाव से आपके साध्य को सिद्ध नहीं करते हैं अर्थात् ये दृष्टान्त साध्यविकल हैं।^{२००} यह साध्य विकलता आपके मत को विकृत करती है।

(३) कार्य-कारण सिद्धान्त दोषपूर्ण नहीं- आपके द्वारा कार्यकारण सिद्धान्त व्यभिचारी बताया गया है, वह असिद्ध है। रूप के साथ स्पर्श भी चक्षुर्विज्ञान

में निमित्त बनता है, क्योंकि स्पर्श के बिना रूप की विशिष्ट अवस्था असंभव है। विशिष्ट अवस्था से तात्पर्य किसी भी पदार्थ में रूप, रस, गंध, स्पर्श भाव एक साथ रहते हैं। एक का अभाव होने पर तीनों का अभाव हो जाता है। पदार्थ में एक भाव का होना व अन्य भाव का न होना विशिष्ट अवस्था है। इस विशिष्ट अवस्था के असंभव होने से स्पर्श के साथ चक्षुर्विज्ञान की कारणता अन्वय-व्यतिरेक पूर्वक सिद्ध हो जाती है।^{१०१} इस विशेष परिस्थिति या अपवाद की स्थिति के आधार पर कार्य-कारण भाव को असिद्ध नहीं मानना चाहिए।^{१०२}

इसी प्रसंग में कहा गया है कि केवल व्यतिरेक व्याप्ति को सामान्य अवस्था में कार्य-कारण भाव के रूप में स्वीकार नहीं किया जाता है किन्तु विशेष अवस्था में स्वीकार किया जाता है। क्योंकि सभी समर्थ कारणों के उपलब्ध होने पर भी उनके मध्य एक कारण के अभाव से भी जब कार्य नहीं होता है तब वह उसका (कार्य का) कारण व्यवस्थापित होता है। इस विशेष परिस्थिति में व्यतिरेक व्याप्ति से कारणता मानी गई है, अन्यथा 'फारस देश में माता का विवाह होने पर पिण्डखजूर होता है और उसके अभाव में नहीं होता है' यह व्याप्ति भी अव्यभिचारी अर्थात् दोष रहित होने लगेगी। इसी प्रकार व्यतिरेक व्याप्ति वाले स्पर्श से चक्षुर्विज्ञान होने में दोष नहीं होता, क्योंकि रूपादि की उपस्थिति दिखाकर स्पर्श के अभाव में चक्षुर्विज्ञान प्रदर्शित करना संभव नहीं है। अतः कार्यकारण सिद्धान्त दोषपूर्ण नहीं है।^{१०३}

(४) देश, काल आदि की कारणता- पूर्वोक्त बीजादि ही काँटों की तीक्ष्णता के प्रति कारण नहीं हैं, अपितु देशकालादि भी कारण हैं। यदि ऐसा न होता तो कण्टकादि की तीक्ष्णता उस नियत देश काल में उपलब्ध न होकर अन्य देश काल में भी उपलब्ध होती।^{१०४} देश, काल आदि कारण से निरपेक्ष होने पर यह संभावना बनती। किन्तु ऐसा जगत् में नहीं देखा जाता। अतः यह कहा जा सकता है कि सभी कार्य देश काल की अपेक्षा रखते हैं। प्रत्यक्षतः सिद्धि होने से कालादि की कार्यता की अवगति होती है।^{१०५}

(५) ज्ञापक हेतु के निरसन से- यदि हेतु को कारक नहीं ज्ञापक मानते हैं तो यह भी उचित नहीं। क्योंकि कारक हेतु का प्रतिक्षेप करने वाले स्वभाववादी द्वारा ज्ञापक हेतु को स्वीकार करने पर भी स्वपक्ष में बाधा आती है। क्योंकि हेतु या ज्ञापक हेतु का प्रतिपादक वचन स्वपक्ष सिद्धि का उत्पादक होता है। उसके अभाव में उसकी ज्ञापक हेतुता नहीं बनेगी।^{१०६} स्वपक्षसिद्धि के बिना भी उसकी ज्ञापक हेतुता स्वीकार कर ली जाए तो सबके प्रति ज्ञापकता सिद्ध हो जायेगी। इस प्रकार ज्ञापक हेतु भी स्वपक्षसिद्धि का उत्पादक होने से कारक हेतु के समान हो जायेगा। दोनों में कोई

भेद नहीं रहेगा। यदि ज्ञापक हेतु साध्य का अनुत्पादक होता है और कारक हेतु साध्य का उत्पादक होता है तो इससे आपकी प्रतिज्ञा स्पष्ट रूप से बाधित होती है। क्योंकि नियत भाव की उपस्थिति होने पर ही प्रतिनियत वस्तु का जन्म होता है, अतः सहेतुक होती है। जैसे आपके द्वारा प्रयुक्त साधन (ज्ञापक हेतु) नियत भाव की उपस्थिति होने पर ही साध्यार्थ का ज्ञान कराते हैं वैसे ही मयूरचन्द्रकादि भाव भी सहेतुक हैं यह स्वभाव हेतु से सिद्ध है। अतः स्वभाववाद को स्वीकार करना युक्ति संगत नहीं है।^{१०७}

(६) 'अनुपलभ्यमान सत्ताकं' हेतु दोषपूर्ण- इस प्रकार कण्टकादि की तीक्ष्णता में बीजादि की कारणता, अन्यतम कारण का अभाव होने पर कार्य की असिद्धि, प्रतिनियत देश-काल आदि की अपेक्षा होने से उनकी कारणता, कादाचित्कत्व हेतु की अनुपपन्नता आदि से यह सिद्ध है कि पदार्थों के कारण की सत्ता अनुपलब्ध नहीं है- 'एवमनुपलभ्यमानसत्ताकं भावानां कारणमिति हेतोरसिद्धता, प्रतिज्ञायाश्च प्रत्यक्षविरोधो व्यवस्थितः।'^{१०८} अर्थात् पदार्थों का कारण अनुपलभ्यमानसत्ता वाला है, यह हेतु असिद्ध है तथा आपकी (स्वभाववादियों की) प्रतिज्ञा में प्रत्यक्ष विरोध आता है।

यदि आपका हेतु 'अनुपलभ्यमानसत्ताकं कारणं' सिद्ध माना जाए तो उसमें अनैकान्तिकता का दोष आता है। क्योंकि प्रदत्त हेतु 'कारणता' को स्थापित करते हुए उनकी 'निर्हेतुकता' की प्रतिज्ञा को ही बाधित कर देता है। पहली बात तो यह है कि अनुपलम्भ मात्र को हेतु मानने में कोई प्रमाण नहीं है और यदि हेतु मान भी लिया जाए तो स्वभाववादियों के द्वारा कारणता की स्वीकृति हो जाती है जिससे निर्हेतुक स्वभाववाद की प्रतिज्ञा ही भंग हो जाती है।

(७) अनुपलब्धि हेतु की असिद्धि- अनुपलब्धि हेतु को आपने स्वोपलम्भनिवृत्ति रूप माना है या सर्वपुरुषोपलम्भनिवृत्ति रूप?^{१०९} प्रथम पक्ष ठीक नहीं है, क्योंकि तमाल, वेतस आदि वृक्षों के अन्तर्गत होने वाले बीज स्वयं को दृष्ट (स्वोपलम्भ) नहीं होते हैं तो भी उनकी सत्ता निवृत्त नहीं होती है अर्थात् सत्ता से होते हैं। सर्वपुरुषोपलम्भनिवृत्तिरूप द्वितीय पक्ष भी युक्त नहीं है, हेतु के असिद्ध होने से। सभी पुरुषों के द्वारा अदृष्ट (सर्वपुरुषोपलम्भनिवृत्ति) होने पर मयूरचन्द्रकादि की कारणता की अनुपलब्धता निश्चयपूर्वक नहीं कही जा सकती है।^{११०}

(८) हेतु का प्रयोग करने पर प्रतिज्ञा का भंग- 'निर्हेतुका भावाः' की प्रतिज्ञा में आपके द्वारा हेतु स्वीकार किया गया है, या नहीं?^{१११} यदि हेतु का उपादान नहीं किया गया है तो स्वपक्ष की सिद्धि नहीं होगी, क्योंकि प्रमाण के बिना प्रतिज्ञा सिद्ध नहीं होती। हेतु के ग्रहण करने पर प्रमाणजन्य पक्ष की सिद्धि को स्वीकार करने

१८६ जैनदर्शन में कारण-कार्य व्यवस्था : एक समन्वयात्मक दृष्टिकोण

वाले आप अपने मत को स्वयं ही खण्डित कर देंगे।^{२१२} अतः कहा गया है-

न हेतुरस्तीति वदन् सहेतुकं ननु प्रतिज्ञां स्वयमेव बाधते।

अथापि हेतुप्रणयालसो भवेत् प्रतिज्ञया केवलयाऽस्य किं भवेत्?^{२१३}

संक्षेप में कहा जा सकता है कि स्वभाववादियों के सभी हेतु दोषयुक्त होने के कारण अपने मत को स्थापित करने में समर्थ नहीं हैं। कादाचित्क हेतु साध्य के अभाव में भी रहता है, अतः वह साध्यविकल है। स्वभाववादियों ने आपवादिक स्थिति को बतलाकर कार्य-कारण सिद्धान्त दोषपूर्ण ठहराया है, जो कि उचित नहीं है। काँटों की तीक्ष्णता में मान्य 'अनुपलभ्यमानसत्ताकं कारणम्' हेतु भी बीजादि की उपलब्धि से असिद्ध होता है। इस संदर्भ में कहते हैं- 'न केवलं बीजादिः कारणत्वेन भावानां निश्चितः', किन्तु देश-कालादिरपि- मात्र बीजादि ही काँटों की तीक्ष्णता के प्रति कारण नहीं है, अपितु देश कालादि भी कारण हैं। बीज, देश कालादि कारणों की उपस्थिति की प्रासंगिकता के साथ स्वभाववादी की प्रतिज्ञा में प्रत्यक्ष विरोध भी इस हेतु से उत्पन्न होता है। अतः कहा गया है- 'एवमनुपलभ्यमानसत्ताकं भावानां कारणमिति हेतोरसिद्धता, प्रतिज्ञायाश्च प्रत्यक्षविरोधो व्यवस्थितः'। स्व और सर्व दोनों दृष्टियों से स्वीकार्य अनुपलब्धि हेतु भी खण्डित होता है। स्वभाववादियों द्वारा हेतु को कारक न मानकर ज्ञापक माना गया है, जो भी असंगत है। कारण कि ज्ञापक हेतु भी स्वपक्षसिद्धि का उत्पादक होने से कारक हेतु हो जाता है। इस प्रकार हेतु के स्वीकार करने पर प्रतिज्ञा-विरोध और अस्वीकार करने पर अप्रामाणिकता का भय स्वभाववाद को निर्मूल करता है।

बौद्ध दार्शनिक शान्तरक्षित द्वारा तत्त्वसंग्रह में स्वभाववाद का उपस्थापन एवं निरसन

बौद्ध दार्शनिक शान्तरक्षित (८वीं शती) विरचित 'तत्त्वसंग्रह' एवं उस पर कमलशील (८वीं शती) की पंजिका में भी स्वभाववाद की चर्चा समुपलब्ध है। यहाँ उसके अनुसार स्वभाव का निरूपण एवं निरसन प्रस्तुत है-

स्वभाववाद का निरूपण

(१) सभी पदार्थों का जन्म 'सर्वहेतुनिराशंसं' अर्थात् सर्व हेतु अभाव से यानी स्वभाव से होता है। स्वभाववादी पदार्थोत्पत्ति में 'नाहुः स्वमपि कारणम्' कथन से 'स्व' और अपि से 'पर' इन दोनों को कारण अस्वीकार करते हुए कहते हैं-

सर्वहेतुनिराशंसं भावानां जन्म वर्ण्यते ।

स्वभाववादिभिस्ते हि नाहुः स्वमपि कारणम् ॥^{२१४}

स्वभाववादियों की भाँति कुछ दार्शनिकों की मान्यता रही है कि पदार्थ स्व कारण से ही उत्पन्न होते हैं- 'स्वत एव भावा जायन्ते इति' किन्तु इस मन्तव्य का स्वभाववादी निराकरण करते हुए कहते हैं- 'स्वक्रियाया विरोधात् इत्यादिना निरस्ताः'। स्वयं पदार्थ में क्रिया का सम्भव नहीं हो पाना 'स्वक्रियाविरोध' कहलाता है। जैसे- चाकू द्वारा स्वयं को नहीं काटना। यह स्वक्रियाविरोध ही पदार्थ की स्व कारणता खण्डित करता है। पूर्वोक्त मान्यता में परभाव (पदार्थ) त्याग कर स्वभाव (पदार्थ) की कारणता इष्ट है जबकि स्वभाववादी को पर के साथ स्व कारण भी इष्ट नहीं है। इसी भेद को स्थापित करते हुए स्वभाववादी पूर्व मान्यता का निरसन करते हैं।^{२१५}

(२) प्राकृतिक विचित्रताओं में कारण को खोजते हुए स्वभाववादियों का मन्तव्य है-

'राजीवकेसरादीनां वैचित्र्यं कः करोति हि ।

मयूरचन्द्रकादिर्वा विचित्रः केन निर्मितः ।।'^{२१६}

कमल, केसर आदि में विचित्रता कौन करता है और मयूरचन्द्रक के विभिन्न रंगों को कौन चित्रित करता है।

कमलशील ने तत्त्वसंग्रह पंजिका में इन प्रश्नों को और विस्तृत रूप देकर इस प्रकार निरूपित किया है- नाल, दल, कर्णिका, काँटों का तीक्ष्ण किसके द्वारा सम्पादित होता है। हमारे मतानुसार तो ईश्वर भी अनुपलब्ध है। ऐसी स्थिति में स्वभाव के अतिरिक्त अन्य कोई कारण नहीं हो सकता।

(३) स्वभाववादी से शंका की जाती है- बाह्य पदार्थों के कारणों की अनुपलब्धि होने से अहेतुत्व सिद्ध होता है, किन्तु आध्यात्मिक (आत्मिक) सुख-दुःख आदि में अहेतुता कैसे होगी?

इसके प्रत्युत्तर में स्वभाववादी का निम्न श्लोक है -

'यथैव कण्टकादीनां तीक्ष्णयादिकमहेतुकम् ।

कादाचित्कतया तद्वदुःखादीनामहेतुता ।।'^{२१७}

अर्थात् जैसे काँटों की तीक्ष्णता अहेतुक है, उसी के समान कादाचित्क होने से दुःखादि अहेतुक हैं।

दुःखादि आध्यात्मिक कार्य की प्रत्यक्षतः निर्हेतुकता सिद्ध नहीं होती है, किन्तु अनुमान से उसकी निर्हेतुकता सिद्ध होती है। जैसे- जो जो कादाचित्क होता है,

वह वह निर्हेतुक होता है। यथा- कण्टकादि का तैक्षण्य, इसी प्रकार दुःखादि भी कादाचित्क है। यह स्वभाव हेतु से सिद्ध है।

स्वभाववादियों का कथन है कि 'जिसके होने पर जिसका होना पाया जाए तथा जिसके नहीं होने पर जिसका नहीं होना पाया जाए, वह कारण है' यह मन्तव्य समीचीन नहीं है क्योंकि इसमें व्यभिचार देखा जाता है। उदाहरण के लिए स्पर्श के होने पर चक्षु से ज्ञान होना तथा उसके अभाव में नहीं होना, ऐसी अन्वयव्यतिरेक व्याप्ति होने पर भी स्पर्श चक्षुर्विज्ञान में कारण नहीं होता है। अतः यह कारण का लक्षण नहीं है, व्यभिचार होने से। अतः पदार्थों की उत्पत्ति में कोई भी कारण मानना उचित नहीं है। स्वभाववादी इसीलिए पदार्थ की उत्पत्ति सर्वहेतुओं से रहित प्रतिपादित करते हैं।

खाण्डन- कारण के होने पर ही कार्य होता है। इस तथ्य की सिद्धि बौद्ध दार्शनिक शान्तरक्षित ने तत्त्वसंग्रह में करते हुए कहा है कि सरोज, केसर आदि की विचित्रता का भी कारण है, वे बीज, पंक जल आदि की कारणता से उत्पन्न कार्य है, जो बीज आदि की अवस्था को छोड़कर सरोज केसर आदि की अवस्था को प्राप्त कर लेते हैं। प्रत्यक्ष और अनुपलम्भ इन दोनों से सरोज केसरादि की कारणता सिद्ध है क्योंकि बीज, जल, पंक आदि के होने पर ही सरोज केसर आदि की उत्पत्ति देखी जाती है, इनके अभाव में नहीं।^{११८}

स्वभाववादियों ने जो कार्य-कारण भाव लक्षण में व्यभिचार बताया है, वह भी असिद्ध है। रूप हेतु वाले चक्षुर्विज्ञान में स्पर्श भी निमित्त कारण है, क्योंकि स्पर्श की रूप के प्रति हेतुता है। इसलिए चक्षुर्विज्ञान के प्रति स्पर्श का निमित्त भाव है। रूप और स्पर्श में साक्षात् और परम्परा का भेद है अर्थात् रूप चक्षुर्विज्ञान में साक्षत् कारण है जबकि स्पर्श परम्परागत कारण है।^{११९}

दूसरा तर्क यह भी है कि कार्य-कारण सम्बन्ध में सामान्य रूप से व्यतिरेक अवस्था को स्वीकार नहीं किया गया है अपितु विशेष अवस्था में स्वीकृत है। क्योंकि सभी समर्थ कारणों के उपलब्ध होने पर भी उनके मध्य एक कारण के अभाव से कार्य नहीं होता है तो वह उसका (कार्य का) कारण व्यवस्थापित होता है। यह वह विशेष अवस्था है जिसमें व्यतिरेक द्वारा कारणता निरूपित हुई है। इस विशेष परिस्थिति के कारण यदि व्यतिरेक व्याप्ति मात्र को ही स्वीकार कर लिया जाए तो यह भी व्याप्ति बन जाएगी- इस देश में माता के विवाह होने पर पिण्डखजूर होता है और उसके अभाव में नहीं होता। इस प्रकार की सदोष व्याप्ति भी तब व्यभिचार रहित मानी जाएगी। किन्तु स्पर्श से चक्षुर्विज्ञान के अनुमान में ऐसी सदोष व्याप्ति नहीं है,

क्योंकि रूपादि की उपस्थिति दिखाकर स्पर्श के अभाव में चक्षुर्विज्ञान प्रदर्शित कर दिया जाए तब हमारी बात में व्यभिचार होगा, अन्यथा नहीं। परम्परागत कारण के रूप में स्पर्श की चक्षुर्विज्ञान के प्रति कारणता सिद्ध ही होती है। अतः कार्य-कारण सिद्धान्त में व्यभिचार नहीं है।^{२२०}

कण्टकादि तैक्ष्ण्य में केवल बीज आदि ही कारण नहीं होते, किन्तु देश, काल आदि भी प्रतिनियत कारण हैं-

नियतौ देशकालौ च भावानां भवतः कथम् ।

यदि तद्धेतुता नैषां स्युस्ते सर्वत्र सर्वदा ॥^{२२१}

यदि राजीवादि के प्रति नियत देश काल हेतुता नहीं है तब प्रश्न उपस्थित होता है कि पर्वतादि स्थान को छोड़कर सलिल आदि नियत देश में और शिशिर आदि समय (काल) का परिहार कर ग्रीष्मकाल में ही कमल क्यों उत्पन्न होता है, अन्यत्र क्यों प्राप्त नहीं होता। देश काल से निरपेक्ष होने पर तो राजीवादि को सभी देश और काल में होना चाहिए। अन्य देश काल का परिहार कर नियम से प्रतिनियत देश काल में राजीवादि का होना इन कारणों की सापेक्षता का निश्चय करता है।^{२२२}

अपेक्षा से कार्यता संभव होती है अर्थात् जिसकी उत्पत्ति में जिसका होना अनिवार्य हो वह उसका कारण होता है। अतः कहा है-

'तदपेक्षा तथावृत्तिरपेक्षा कार्यतोच्यते'^{२२३}

अन्य देशादि को छोड़कर नियत देशादि में होना ही अपेक्षा कहलाती है। 'तथा वृत्ति' अर्थात् कार्य को उत्पन्न करने के लक्षण वाली अपेक्षा से कार्य होता है। यह तथावृत्ति प्रत्यक्ष से सिद्ध होती है।^{२२४}

स्वभाववाद प्रत्यक्ष प्रमाण से तथा प्रत्यक्ष-अनुपलम्भ हेतु से बाधित होता है-

तत्स्वाभाविकवादोऽयं प्रत्यक्षेण प्रबाध्यते।

प्रत्यक्षानुपलम्भाभ्यां हेतुरूपस्य निश्चयात्।^{२२५}

स्वभाववादी ने जो सुखादि की सिद्धि के लिए कादाचित्क को हेतु बताया है, वह साध्य विपरीत होने से विरुद्ध है। अहेतु होने से तथा दृष्टान्त की विकलता से कादाचित्कत्व उत्पन्न नहीं रहता।^{२२६}

यदि स्वभाववाद की सिद्धि में अनुपलम्भमात्र को हेतु स्वीकार किया जाता है तो अनैकान्तिकता-दोष आता है। क्योंकि प्रमाणाभाव हेतु से अर्थ की सत्ता के अभाव का निश्चय नहीं हो सकता।^{२२७}

इसी तर्क को आगे बढ़ाते हुए कहा है कि स्वभाव व्यापक होता है। व्यापक के निवृत्त हो जाने पर व्याप्य निवृत्त हो जाता है अर्थात् कारण के निवृत्त होने पर कार्य भी निवृत्त हो जाता है। बौद्ध मत में तादात्म्य और तदुत्पत्ति द्वारा कारण व कार्य प्रतिबद्ध (व्याप्ति) स्वभाव वाले होते हैं। प्रमाण और अर्थ की सत्ता में अभेद नहीं होता है, क्योंकि उनमें भिन्नता का बोध होता है। प्रमाण अर्थ की उत्पत्ति का कारण नहीं होता। प्रमाण से उत्पत्ति मानने पर व्यभिचार आता है कि प्रमाण के बिना भी पदार्थ की सत्ता रहती है। देश, काल आदि की दृष्टि से विप्रकृष्ट पदार्थ प्रमाण का विषय नहीं बनते तथापि उनकी सत्ता रहती है। प्रत्यक्ष प्रमाण का विषय न बनने एवं पदार्थ की सत्ता होने में कोई विरोध नहीं है। जो जिसके बिना भी होता है वह उसका कारण नहीं होता है। इस प्रकार पदार्थ की सत्ता में कोई कारण नहीं होता है। यदि उसकी सत्ता में कारण स्वीकार किया जाता है तो 'सर्वहेतुनिराशंस' रूप आपकी प्रतिज्ञा का परित्याग हो जाता है। यदि पदार्थ को उत्पन्न होना स्वीकार किया जाता है तो पदार्थ की सत्ता में प्रमाण को कारण नहीं माना जा सकता, क्योंकि विषयभूत अर्थ से प्रमाण तो उत्पन्न होता है, किन्तु प्रमाण से प्रमेय अर्थात् पदार्थ उत्पन्न नहीं होते हैं।^{१९८}

स्वभाववादियों ने जो निर्हेतुकता कही है वह सर्वदृष्टि से है या स्वदृष्टि से? दोनों ही दृष्टियों से निर्हेतुकता खण्डित होती है—

सर्वादृष्टिश्च सन्दिग्धा स्वादृष्टिर्व्यभिचारिणी ।

विन्ध्यादिरन्ध्रदूवादिरदृष्टावपि सत्त्वतः ॥^{१९९}

अर्थात् विन्ध्यादि पर्वत पर वर्तमान गुफा में घास आदि नहीं दिखने पर भी वे स्वरूप से विद्यमान होते हैं। अतः सभी को अदृष्ट होने से और स्वदृष्टि की व्यभिचारिता से पदार्थ की सत्ता में संदेह करना उचित नहीं है।

आप स्वभाववादी अनुपलब्ध हेतु से सभी पुरुषों के द्वारा होने वाली उपलब्धि (ज्ञान) की निवृत्ति मानते हैं या स्व-उपलब्धि की? मयूरचन्द्रकादि का कारण दृष्ट नहीं होने पर सभी अर्वाग्दर्शी कारण को अनुपलब्ध मान लेते हैं। उनका यह तर्क प्रामाणिक नहीं है। स्वदृष्टि से अदृष्ट होने पर वस्तु की सत्ता में व्यभिचार कैसे बताया जा सकता है? क्योंकि पर्वत की कन्दरा के भीतर होने वाली घास, किसलय, शिला-खण्ड आदि स्वयं द्वारा द्रष्टव्य नहीं होने पर भी सत्त्वतः होते हैं। इस प्रकार पदार्थ की सत्ता होती है, सन्देह के कारण उन्हें सत्तारहित नहीं कह सकते।^{१९०} अतः मयूरचन्द्रकादि के कारण अदृष्टव्य होने से नहीं हैं, ऐसा नहीं माना जा सकता।

‘सभी भाव निर्हेतुक हैं’ इस स्वपक्ष की सिद्धि में आपके द्वारा हेतु का ग्रहण किया जाता है अथवा नहीं। यदि हेतु का ग्रहण नहीं करते हैं तो आपका पक्ष सिद्ध नहीं होता है और आपका मत अप्रामाणिक हो जाता है। हेतु के स्वीकार कर लेने पर आपकी प्रतिज्ञा खण्डित हो जाती है। हेतु के बिना केवल प्रतिज्ञा से आपका मत प्रतिपादित नहीं होता है। इस प्रकार स्वभाववादियों का मन्तव्य हेतु के देने तथा नहीं देने, इन दोनों स्थितियों में सिद्ध नहीं होता है।^{२२१}

उपर्युक्त तर्क का उत्तर देते हुए स्वभाववादी कहते हैं कि हम स्वभाववाद की सिद्धि में जो हेतु देते हैं वह कारक हेतु नहीं, ज्ञापक हेतु है। ज्ञापक हेतु किसी का कारक नहीं होता है, इसलिए हमारी प्रतिज्ञा स्थापित हो जाती है—

तथाहि ज्ञापको हेतुर्वचो वा तत्प्रकाशकम्।

सिद्धेर्निमित्तातां गच्छन्साध्यज्ञापकमुच्यते।।^{२२२}

हमारे द्वारा दिया गया हेतु स्वार्थानुमान काल में साध्य का ज्ञापक होता है तथा परार्थानुमानकाल में उस ज्ञापक हेतु का प्रकाशक वचन प्रमेयार्थ (साध्य) का निश्चय कराता है। इस प्रकार साध्य की सिद्धि में निमित्त बनता हुआ यह हेतु साध्य का ज्ञापक कहलाता है, कारक नहीं।

बौद्धाचार्य इस युक्ति को भी खण्डित करते हुए ज्ञापक हेतु की कारणता बतलाते हैं। ज्ञापक हेतु भी ‘ज्ञान’ के प्रति कारक होता है, क्योंकि वह ज्ञान का हेतु होता है। इससे स्वभाववादियों के स्ववचन में विरोध आता है।^{२२३}

जैन दर्शन में स्वभाव का स्वरूप एवं उसकी कारणता

जिस प्रकार जैन दर्शन में एकान्त कालवाद स्वीकृत न होते हुए भी ‘काल’ का विवेचन प्राप्त होता है, इसी प्रकार एकान्त ‘स्वभाववाद’ स्वीकृत न होते हुए भी स्वभावविषयक वर्णन सम्प्राप्त होता है। जैनदर्शन में पुद्गल, जीव एवं अन्य द्रव्यों का अपना स्वभाव स्वीकृत है। ‘काल’ का वर्णन तो विस्तार से प्राप्त होता है, क्योंकि ‘काल’ को तो जैनदर्शन में पृथक् एक द्रव्य माना गया है, किन्तु ‘स्वभाव’ कोई द्रव्य या पदार्थ नहीं है। इसलिए स्वभाव की चर्चा उतनी व्यापक नहीं मिलती है। यह अवश्य है कि प्रत्येक द्रव्य या पदार्थ का अपना स्वभाव होता है, उस स्वभाव को आधार बनाकर यत्र-तत्र फुटकर रूप में स्वभावविषयक निरूपण मिलता है, जिसे यहाँ एकत्र करने का प्रयास किया जा रहा है।

पदार्थ का स्वगत भाव ही स्वभाव है। प्रत्येक पदार्थ की सत्ता अलग-अलग होने से स्वभाव में अनेकता और विविधता है। स्वभाव के सामान्य स्वरूप को विद्वानों द्वारा परिभाषित किया गया है। जैन दार्शनिकों ने कहीं वस्तु के परिणाम को तो कहीं उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मकता को स्वभाव कहा है। कुछ ग्रन्थों में स्वभाव अन्तरंग कारण के रूप में सामान्य अस्तित्व और गुण-पर्याय स्वरूप में प्रस्तुत हुआ है। किसी ने वस्तु के स्वभाव को ही धर्म के रूप में परिभाषित किया है।

आगम में स्वभाव निरूपण

भगवती सूत्र और उसकी वृत्ति में-भगवती सूत्र में तीन प्रकार के पुद्गल परिणाम कहे गए हैं- 'तिविहा पोग्गला घण्णत्ता तंजहा-पयोगपरिणता, मीससा परिणता, वीससा परिणता।'^{३३४} आचार्य महाप्रज्ञ ने इन तीन परिणामों के आधार पर सृष्टि के तीन भेद किए हैं - १. प्रयोगजा सृष्टि २. स्वभावजा सृष्टि ३. मिश्रजा सृष्टि।^{३३५} इन तीनों सृष्टियों में प्रयोग-परिणाम, मिश्र-परिणाम और स्वभाव-परिणाम आधारभूत तत्त्व माने गए हैं। प्रथम दो परिणामों का सम्बन्ध जीवकृत सृष्टि से है, जबकि स्वभाव परिणाम का अजीवकृत सृष्टि से है। वर्ण आदि का परिणामन पुद्गल के स्वभाव से ही होता है, इसमें जीव का कोई योग नहीं है।

अभयदेवसूरि ने भगवती सूत्र की वृत्ति में शरीर निर्माण में जीव का प्रयोग और स्वभाव दोनों का योग बतलाया है- 'प्रयोगपरिणाममत्यजन्तो विम्रसया स्वभावान्तरमापादिताः मुक्तकडेवरादिरूपाः। अथवोदारिकादिवर्ग रूपा विम्रसया निष्पादिताः संतः जीवप्रयोगेणैकेन्द्रियादिशरीरप्रभृति-परिणाममापादितास्जीवप्रयोगेणैकेन्द्रियादिशरीरप्रभृति-परिणाममापादितास्तै मिश्रपरिणताः।'^{३३६}

अर्थात् शरीर का निर्माण जीव ने किया है, इसलिए वह जीव के प्रयोग से परिणत द्रव्य है। स्वभाव से उसका रूपान्तरण होता है इसलिए वह मिश्र परिणत द्रव्य है। औदारिक आदि वर्गणा स्वभाव से निष्पन्न है। जीव के प्रयोग से वे शरीर रूप में परिणत होती हैं। इसमें भी जीव के प्रयोग और स्वभाव दोनों का योग है।

स्थानांग सूत्र एवं उसकी वृत्ति में- स्थानांग सूत्र के द्वितीय स्थान में 'पुद्गल पद' के अन्तर्गत पुद्गल संबंधी क्रियाओं में स्व तथा पर को कारण माना गया है। यथा- 'दोहिं ठाणेहिं पोग्गला साहण्णंति, तंजहा- सइं वा पोग्गला साहण्णंति, परेण वा पोग्गला साहण्णंति। दोहिं ठाणेहिं पोग्गला भिज्जंति, तंजहा- सइं वा पोग्गला भिज्जंति परेण वा पोग्गला भिज्जंति।'^{३३७} अर्थात् दो

कारणों से पुद्गल संहत होते हैं- स्व से और पर से। दो कारणों से पुद्गल भेद होता है- स्व से तथा पर से।

उपर्युक्त 'सङ्ग' पद का अर्थ अभयदेव अपनी वृत्ति में 'स्वयं वेति स्वभावेन वा' करते हैं। मेघादि के समान स्वयं अपने स्वभाव से पुद्गल संहत होते हैं और पुरुष के प्रयत्न आदि दूसरे निमित्तों से भी पुद्गल संहत होते हैं। इसी प्रकार स्वयं अपने स्वभाव से पुद्गल भेद को प्राप्त होते हैं- बिछुड़ते हैं और दूसरे निमित्तों से भी पुद्गल भेद को प्राप्त होते हैं।^{२१८} अतः पुद्गल के संहत और भेद होने में स्वभाव और पर निमित्त या पुरुष प्रयत्न कारण हुए।

सूत्रकृतांग टीका के मत में- स्वभाव के सम्बन्ध में कहा है - 'सर्वे भावाः स्वभावेन स्वस्वभावव्यावस्थिताः'^{२१९} स्वभाव ही सभी पदार्थों का नियामक होता है। वह स्वतन्त्र होता है। उदाहरणार्थ शीतलता जल का स्वभाव है। जल में उष्णता अग्नि के संयोग से पैदा होती है, इसलिए जैसे ही जल अग्नि की परतन्त्रता से मुक्त होता है, पुनः शीतल हो जाता है।

दिगम्बर परम्परा में स्वभाव की चर्चा

पूज्यपादाचार्य ने समाधितन्त्र में 'तत्तत्त्वं परमात्मनः'^{२२०} से तत्त्व का अर्थ 'स्वरूप' व परमार्थ का अर्थ 'यथार्थ स्वरूप' किया है। स्वरूप का अभिप्राय स्वभाव से है। पर-अपर ध्येय को भी द्रव्यस्वभाव वाचक माना है, क्योंकि ध्यान परमात्मा का भी किया जाता है और स्वयं अपने में भी तन्मय हुआ जाता है, इन दोनों में ध्येय 'पर' और 'स्व' का स्वरूप ही है। द्रव्य स्वभाव तो शुद्ध होता ही है इसलिए इसे शुद्ध शब्द से भी कहा है। इस तरह उक्त सभी शब्द द्रव्य स्वभाव के वाचक हैं। समन्तभद्राचार्य ने स्वयंभूस्तोत्र में उल्लेख किया है कि असत् पदार्थ कभी उत्पन्न नहीं होता है और सत् पदार्थ का कभी नाश नहीं होता है। दीपक के जलने पर प्रकाश और बुझने पर अंधकार पुद्गल द्रव्य की ही भिन्न पर्यायें हैं, जो प्रतीति में आती हैं।^{२२१} राजवार्तिककार ने 'स्वेनात्मना असाधारणेन धर्मेण भवनं स्वभाव इत्युच्यते'^{२२२} पंक्ति द्वारा असाधारण धर्म को स्वभाव बतलाया है। कसायपाहुड^{२२३} में 'को सहावो' प्रश्न के उत्तर में अन्तरंग कारण को स्वभाव कहा गया है।

कुन्दकुन्दाचार्य ने उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यता को स्वभाव मानते हुए कहा है- 'द्वस्स जो हि परिणामो अत्थेसु सो सहावो ठिदिसंभवणाससंबद्धो।'^{२२४} सभी पदार्थ द्रव्य-गुण पर्याय में रहने वाले और उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यमय अस्तित्व के बने हुए हैं।^{२२५} इनका यह स्वरूप अबाधित और नित्य है। चूंकि स्वभाव त्रिकालाबाधित

१९४ जैनदर्शन में कारण-कार्य व्यवस्था : एक समन्वयात्मक दृष्टिकोण

और नित्य रहने वाला है, इसलिए पूर्वोक्त वस्तु के स्वरूप को स्वभाव माना जाता है।^{२४६} 'इस स्वभाव से अतिरिक्त द्रव्य नहीं हो सकता' इन शब्दों से कुन्दकुन्दाचार्य^{२४७} प्रवचनसार में स्वभाव के स्वरूप को स्थापित करते हैं। जिनेन्द्र भगवान ने यथार्थतः द्रव्य को स्वभाव से सिद्ध और सत् कहा है।^{२४८}

अमृतचन्द्राचार्य ने प्रवचनसार की तत्त्वप्रदीपिका टीका में 'परिणाम स्वभावमेव'^{२४९} से स्वभाव को परिभाषित किया है। उन्होंने स्वभाव की कारणता का एक विशेष स्वरूप स्थापित करते हुए कहा है- 'न खलु द्रव्यैर्द्रव्यान्तराणामारम्भः सर्वद्रव्याणां स्वभावसिद्धत्वात्'^{२५०} द्रव्यों से द्रव्यान्तरों की उत्पत्ति नहीं होती क्योंकि सर्वद्रव्य स्वभावसिद्ध है। तात्पर्य यह है कि स्वभाव ही द्रव्योत्पत्ति में कारण है तथा अन्य द्रव्य कारणों की उसमें अपेक्षा नहीं होती। क्योंकि षड्द्रव्य अनादिनिधन है और अनादिनिधन साधनान्तर की अपेक्षा नहीं रखता।^{२५१}

'जगत् के प्राणियों को दुःख स्वाभाविक है' ऐसा मन्तव्य आचार्य ईश्वरकृष्ण ने सांख्यकारिका में अभिव्यक्त किया है। इन्हीं भावों का प्रतिबिम्ब प्रवचनसार का निम्न श्लोक है-

‘जेसिं विसएसु रदी तेसिं दुक्खं वियाणा सम्भावं ।

जई तं ण हि सम्भावं वावारो णत्थि विसयत्थं ॥'^{२५२}

जिन्हें विषयों में रति है, उन्हें दुःख स्वाभाविक जानना चाहिए क्योंकि यदि वह दुःख स्वभाव से न होता तो विषयार्थ में व्यापार नहीं होता। जिनकी इन्द्रियाँ जीवित हैं, उन्हें उपाधि के कारण दुःख नहीं है, किन्तु स्वाभाविक ही है, क्योंकि उनकी विषयों में रति होती है। जैसे - हाथी हथिनी रूपी कुट्टनी के शरीर-स्पर्श की ओर, मछली बंसी में फँसे हुए मांस के स्वाद की ओर, भ्रमर बन्द हो जाने वाले कमल-गंध की ओर, पतंगा दीपक की ज्योति के रूप की ओर और हिरण शिकारी के संगीत के स्वर की ओर दौड़ते हुए दिखाई देते हैं। इन सभी कार्यों में इन्द्रियों के विषयों के प्रति स्वाभाविक रुचि ही कारण है। यदि इनका दुःख स्वाभाविक न होता तो जिसका शीतज्वर उपशांत हो गया है, वह पसीना आने के लिए उपचार करता, जिसका दाह ज्वर उतर गया है वह काँजी से शरीर के ताप को उतारता तथा जिसकी आँखों का दुःख दूर हो गया है वह वटाचूर्ण आंजता, जिसका कर्णशूल नष्ट हो गया हो वह कान में फिर बकरे का मूत्र डालता दिखाई देता और जिसका घाव भर जाता वह फिर लेप करता दिखाई देता। अतः जिनकी इन्द्रियाँ जीवित हैं ऐसे परोक्षज्ञानियों के दुःख स्वाभाविक ही है।^{२५३}

दुःख के प्रति स्वाभाविक ऐन्द्रियक प्रवृत्ति कारण है, तो सुख के प्रति आत्मा का अशुद्ध स्वभाव कारण है। अतः प्रवचनसार में कहा है- 'यस्या इदं विसये फासेहिं समस्सिदे सहावेण, परिणममाणो अप्या सयमेव।'^{२५४}

इन्द्रिय सुख का कारण आत्मा का अशुद्ध स्वभाव है, क्योंकि अशुद्ध स्वभाव में परिणमित आत्मा ही स्वयमेव इन्द्रिय सुख रूप होता है। उसमें शरीर कारण नहीं है, क्योंकि सुखरूप परिणति और शरीर सर्वथा भिन्न होने के कारण सुख और शरीर में निश्चय से किञ्चित्मात्र भी कार्यकारणता नहीं है।

माइल्लधवल (१२वीं शती) ने स्वभाव के पर्याय शब्दों को श्लोक में आबद्ध किया है -

'तच्च तह परमद्वं दव्वसहावं तहेव परमपरं ।

धेयं सुद्धं परमं एयद्धा हुंति अभिहाणा ।।'^{२५५}

अर्थात् तत्त्व, परमार्थ, द्रव्य स्वभाव, पर-अपर ध्येय, शुद्ध, परम ये शब्द एकार्थवाची हैं। ग्रन्थकार ने अन्यत्र स्वभाव प्रसंग में प्रयुक्त इन शब्दों को द्रव्य स्वभाव का वाचक कहा है।

स्वभाव-विभाव पर्याय के आधार पर स्वभाव का स्वरूप

स्वभाव और विभाव के भेद से पर्यायें दो प्रकार की होती हैं। धर्म, अधर्म, आकाश और काल द्रव्य की केवल स्वभाव पर्यायें होती हैं। जीव और पुद्गल की दोनों प्रकार की पर्यायें होती हैं। विभाव से तात्पर्य ऐसे बाह्य निमित्तों से है, जिनमें विकल्प द्वारा परकर्तृत्व, प्रयोजकता या प्रेरकता स्वीकार की जाती है। धर्म, अधर्म, आकाश और काल द्रव्यों की जितनी भी पर्यायें अनादि काल से होती आ रही हैं, हो रही हैं और होंगी, इन सब पर विकल्प द्वारा परकर्तृत्व का व्यवहार लागू नहीं होता तथा उनके ऐसे बाह्य निमित्त नहीं हैं जिनसे विकल्प द्वारा प्रयोजकता स्वीकार की जावे। अतः इन चारों द्रव्यों की सब पर्यायों को स्वभाव पर्याय रूप से स्वीकार किया गया है।

मुक्त जीवों की निश्चय सम्यग्दर्शन आदि रूप पर्यायें तथा पुद्गल द्रव्य के प्रत्येक परमाणु की परमाणु रूप में जो पर्यायें हैं, उन सभी पर परकृत का व्यवहार लागू नहीं होता, इसलिए वे भी स्वभाव पर्यायें हैं, ऐसा आगम में स्वीकार किया गया है। इसके अतिरिक्त जीवों और पुद्गलों की जितनी भी पर्यायें हैं, वे सभी विभाव पर्यायें हैं।'^{२५६}

पर्यायों का उत्पाद-व्यय ही नहीं गुणों का उत्पाद-व्यय भी स्वभाव से होता है। यथा- 'स्वनिमित्तस्तावादनन्तानामगुरुलघुगुणानामागमप्रामा व्यादध्युपगम्यमानानां षट्स्थानपतितया वृद्ध्या हान्या च प्रवर्तमानानां स्वभावादेव तेषामुत्पादो व्याघश्च'^{१५३} अर्थात् आगम प्रमाण द्वारा स्वीकृत तथा षट्स्थानपतित वृद्धि और हानि के द्वारा प्रवर्तमान अनन्त अगुरुलघु गुणों का स्वभाव से उत्पाद और व्यय होता है। इसके अतिरिक्त स्वभाव को धर्म के रूप में भी प्रस्तुत किया गया है-
वत्थुसहावो धम्मो।^{१५४}

आधुनिक जैन चिन्तकों ने भी पदार्थ के स्वभाव पर विचार किया है। क्षुल्लक श्री जिनेन्द्रवर्णी ने वस्तु में स्वाभाविक रूप से होने वाले परिवर्तन को रूप परिवर्तन एवं स्थान परिवर्तन के आधार पर स्पष्ट किया है। उनका कथन है-
"स्वतन्त्र रूप से प्रवृत्ति करने के साथ वस्तु का जो रूप परिवर्तन और स्थान परिवर्तन होता है, वह स्वभाव है।"^{१५५} वस्तु का परिवर्तनशील स्वभाव रूप एवं स्थान के माध्यम से प्रकट होता है। अतः स्वतन्त्र रूप से प्रवृत्ति करने के साथ वस्तु का जो रूप परिवर्तन और स्थान परिवर्तन होता है, वह स्वभाव है। यथा - जल का अग्नि संयोग से गरम होकर पुनः शीतल होना, (वाष्प) गैस- बर्फ (जल) के माध्यम से रूप परिवर्तन, बर्फ की अवस्था में जल का हिमालय पर रहना, पिघलकर मैदानों में तथा समुद्र में जाना, वाष्प बनकर आकाश में जाना आदि क्रियाओं से हिमालय, मैदान, समुद्र, आकाश रूप में स्थान परिवर्तन, पानी का ऊपर से नीचे की ओर बहना, नीचे से ऊपर की ओर न बहना आदि स्वतन्त्र वृत्ति। जल की ये विभिन्न अवस्थाएँ स्वभाव रूप हैं। यह स्वभाव ही अन्य पदार्थों से जल को व्यावृत्त करता है। जहाँ अग्नि के संयोग से जल गरम हो जाता है वहीं अभ्रक पर उस संयोग का कोई प्रभाव नहीं पड़ता। अग्नि संयोग होने पर जलना(गरम होना) जल का परिवर्तनशील स्वभाव है जबकि अग्नि संयोग होने पर भी अभ्रक का नहीं जलना अपरिवर्तनशील स्वभाव है। स्वभाव की ये विभिन्न संसार-विचित्रता का रहस्य है।

रूप परिवर्तन व स्थान परिवर्तन वस्तु का स्वभाव है, इसलिए जल का गरम-ठण्डा होना, भाप-बर्फ बनना, पर्वतों से महासागरों में जाना आदि सभी जल के स्वभाव हैं। जल का शीतल स्वभाव तो लोक प्रसिद्ध है किन्तु उक्त अन्य स्वभाव वस्तु की परिवर्तनशीलता से स्वतः प्रमाणित है।

प्रत्येक पदार्थ में अपने स्वभावानुसार परिवर्तन चलता रहता है। यह परिवर्तन अहेतुक है। ऐसा परिवर्तन वस्तु में नित्य दिखाई देता है। पदार्थ में एक क्षण भी परिवर्तन रुका हुआ नहीं दिखाई देता है। यदि वस्तु में स्वयं ऐसा परिवर्तन करने

का स्वभाव न हुआ होता तो लोक की कोई भी शक्ति उसे परिवर्तन कराने में समर्थ न हुई होती। जलने योग्य पदार्थ को ही जलाया जा सकता है, अभ्रक को नहीं, मरणधर्मा जीव की ही मृत्यु हो सकती है, अचेतन की नहीं।

विश्व में दीखने वाली क्रियाएँ, विभिन्नताएँ, भाग-दौड़, वस्तुगत परिवर्तनशील स्वभाव से ही संभव है, अन्यथा लोक में कोई भी कार्य देखने में नहीं आता और लोक कूटस्थ हो जाता। अतः कहा जा सकता है कि जगत् में परिवर्तन या कार्य वस्तुगत परिणामन (स्वभाव) के कारण होते हैं।

स्वभाव के भेद

मुख्य रूप से द्रव्य और पर्याय के आधार पर स्वभाव के विभिन्न भेदों की चर्चा यहाँ की गई है। इसमें द्रव्यों के सामान्य और विशेष स्वभाव को लेकर भी विषय प्रतिपादित हुआ है।

द्रव्य के आधार पर

षड्द्रव्यों के आधार पर स्वभाव को सामान्य तथा विशेष रूप में दो प्रकार का कहा जा सकता है। जो स्वभाव सभी द्रव्यों का है, वह सामान्य स्वभाव है और जो प्रत्येक द्रव्य का स्वभाव है वह विशेष स्वभाव है। द्रव्यों के सामान्य स्वभाव ११ प्रकार के और विशेष १० प्रकार के कहे गये हैं।

(i) सामान्य स्वभाव - सभी द्रव्यों में स्थित सामान्य स्वभाव के एकादश भेद नयचक्र के निम्न श्लोक में प्रस्तुत है -

'अस्ति ति णस्ति णिच्चं अणिच्चमेगं अणेग भेदिदरं ।

भव्वाभवं परमं सामण्यं सव्वदव्वाणं ॥^{२६०}

अस्ति-नास्ति, नित्य-अनित्य, एक-अनेक, भेद-अभेद, भव्य-अभव्य, और परमभाव ये ग्यारह सामान्य स्वभाव हैं, जो सब द्रव्यों में पाए जाते हैं।

- अस्ति स्वभाव- 'स्वभावलाभात् अच्युतत्वात् अस्तिस्वभावः'^{२६१}
अर्थात् जिस द्रव्य का जो अपना स्वतः सिद्ध स्वभाव प्राप्त है, उससे कदापि च्युत न होना सदा सत् स्वरूप रहना, इसी का नाम अस्तित्व स्वभाव है। सब द्रव्य अपने स्वद्रव्य-स्वक्षेत्र-स्वकाल-स्वभाव चतुष्टय से सदा सर्वकाल अस्ति स्वभाव अर्थात् अस्ति रूप है।

- नास्ति स्वभाव - 'परस्वरूपेण अभावात् नास्ति स्वभावः'^{२६२} प्रत्येक द्रव्य परद्रव्य-परक्षेत्र-परकाल-परभाव रूप से सदा सर्वकाल नास्ति स्वरूप है। अर्थात् द्रव्य परचतुष्टयरूप कदापि नहीं होता। वस्तु में परद्रव्यादि चतुष्टय का सदा सर्वकाल अभाव है, नास्ति रूप है।
- नित्य स्वभाव- 'निज निज नाना पर्यायेषु तदेव इदं इति द्रव्यस्य नित्यस्वभावः'^{२६३} अपनी-अपनी अनन्त पर्यायों में सदा सर्वकाल अचलरूप रहना ध्रुव स्वभाव या नित्य स्वभाव है। द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा द्रव्य नित्य है।
- अनित्य स्वभाव - 'तस्यापि अनेक पर्यायपरिणामितत्वात् अनित्यः स्वभावः'^{२६४} उसी द्रव्य का अपनी अनन्त पर्यायों में नियतक्रमबद्ध रूप से प्रतिसमय परिणमन होने के कारण द्रव्य अनित्य स्वभाव है।
- एक स्वभाव - 'स्वभावानां एकाधारत्वात् एकस्वभावः'^{२६५} द्रव्य के अनेक स्वभाव धर्मों का आधारभूत एक द्रव्य होने के कारण द्रव्य एक स्वभाव है। द्रव्यार्थिक नय से द्रव्य एक है।
- अनेक स्वभाव - 'एकस्य अनेकस्वभावोपलंभात् अनेक स्वभावः'^{२६६} एक ही द्रव्य का अन्वय सम्बन्ध रखने वाले अनेक गुण-पर्याय स्वभाव होने के कारण द्रव्य अनेक स्वभाव है।
- भेद स्वभाव- 'गुण-गुणी आदि संज्ञादिभेदात् भेदस्वभावः'^{२६७} अर्थात् गुण-गुणी में संज्ञा-लक्षण-प्रयोजन आदि भेद अपेक्षा से द्रव्य भेद स्वभाव है।
- अभेद स्वभाव - 'गुण-गुणी आदि अभेदस्वभावत्वात् अभेदस्वभावः'^{२६८} गुणों के समुदाय का नाम ही द्रव्य है। गुण और गुणी इनमें यद्यपि संज्ञाभेद है, तथापि वस्तुभेद नहीं है। इसलिए वस्तु अखंड एक अभेद स्वभाव है।
- भव्य स्वभाव- 'भाविकाले स्वस्वभावभवनात् भव्यस्वभावः'^{२६९} प्रत्येक द्रव्य भाविकाल में होने योग्य होने से भव्य है। भवितुं योग्यं भयत्वं तेनविशिष्टत्वात् भव्यः, भाविकाल में होने योग्य है। इसलिए भव्य है।

- अभव्य स्वभाव - 'कालत्रयेऽपि परस्वरूपाकाराऽभवनात् अभव्यस्वभावः'^{R१०} तीनों कालों में कदापि पर द्रव्यस्वरूपाकार न होने के कारण अभव्य स्वभाव है।
- परम स्वभाव - 'पारिणामिकस्वभावत्वेन परमस्वभावः'^{R११} प्रत्येक द्रव्य अपने-अपने स्वतः सिद्ध पारिणामिक स्वभाव में रहते हैं, इसलिए परम स्वभाव है।

(ii) विशेष स्वभाव - नयचक्र के निम्न श्लोक में सभी विशेष स्वभावों को गिनाया गया है-

‘चेदणमचेदणं पि हु मुत्तममुत्तं च एगबहुदेसं ।

सुद्धासुद्धविभावं उवयरियं होइ कस्सेव ॥’^{R१२}

चेतन, अचेतन, मूर्त, अमूर्त, एकप्रदेशी, बहुप्रदेशी, शुद्ध, अशुद्ध, विभाव और उपचरित ये दस विशेष स्वभाव हैं, क्योंकि ये सभी द्रव्यों में नहीं पाये जाते, किसी किसी में ही पाए जाते हैं।

- चेतन स्वभाव - ‘अणुहवभावो चेयणम्’^{R१३} अनुभवन रूप भाव को चेतन कहते हैं। जो जानता देखता है, वह सचेतन है। अतः जानने, देखने या अनुभवन करने रूप भाव को चेतन स्वभाव कहते हैं।
- अचेतन स्वभाव - ‘अचेयणं होइ तस्स विवरीयं’^{R१४} चेतन से विपरीत भाव को अचेतन कहते हैं। जिसमें जानने, देखने या अनुभव करने की शक्ति नहीं होती वह अचेतन है। इस प्रकार चेतन के विपरीत भाव को अचेतन स्वभाव कहते हैं।
- मूर्त स्वभाव - ‘रूवाइपिंडमुत्तं’^{R१५} रूप, रस आदि गुणों के पिण्ड को मूर्त कहते हैं। जिसमें रूप, रस, गन्ध और स्पर्श गुण पाए जाते हैं, वह मूर्तिक है और इन भावों से युक्त मूर्त स्वभाव है।
- अमूर्त स्वभाव - ‘विवरीए ताण विवरीयं’^{R१६} (अमुत्तं) मूर्त से विपरीत को अमूर्त कहते हैं। जिसमें रूप, रस, गंध और स्पर्श गुण नहीं पाए जाते हैं, वह अमूर्तिक है।
- एक प्रदेश स्वभाव - ‘खेत्तं पएसणाणं एक्कं’^{R१७} क्षेत्र को प्रदेश कहते हैं। द्रव्य का एकप्रदेशित्व भाव एकप्रदेश स्वभाव है। पुद्गल का

एक परमाणु जितने क्षेत्र को रोकता है, वह प्रदेश है। इस माप के अनुसार जिस द्रव्य की एक प्रदेश जैसी अवगाहना होती है तो वह एक प्रदेशित्व स्वभाव वाला होता है।

- अनेक प्रदेश स्वभाव - 'अणोक्कं च दव्वदो णेयं'^{१७८} द्रव्य का अनेक प्रदेशित्व भाव बहुप्रदेशित्व स्वभाव है। जिस द्रव्य की अवगाहना बहुप्रदेशी हो, वह अनेक प्रदेश स्वभाव वाला होता है।
- विभाव स्वभाव - 'जहजादो रुवंतरगहणं जो सो हु विब्भावो'^{१७९} यथाजात स्वाभाविक रूप से रूपान्तर होने को विभाव कहते हैं। एक द्रव्य का दूसरे द्रव्य के संयोग से अन्य भाव रूप परिणमन करने का नाम विभाव है। इस प्रकार के स्वभाव को विभाव स्वभाव कहते हैं।
- शुद्ध स्वभाव - 'कम्मक्खयदो सुद्धो'^{१८०} कर्मों के क्षय से प्रकट हुए स्वभाव को शुद्ध स्वभाव कहते हैं।
- अशुद्ध स्वभाव - 'मिस्सो पुण होइ इयरजो भावो'^{१८१} कर्मों के संयोग से उत्पन्न हुए भाव को अशुद्ध स्वभाव कहते हैं।
- उपचरित स्वभाव - 'जं विद्यदव्वसहावं उवयारं तं पि ववहारं'^{१८२} व्यवहार नय से जो द्रव्य का स्वभाव होता है, उसे उपचरित स्वभाव कहा जाता है। इसके अन्तर्गत एक द्रव्य के स्वभाव का अन्य द्रव्य में उपचार होता है।

स्वभाव-विभाव पर्याय के आधार पर जैन दर्शन में मान्य स्वभाव का स्वरूप प्रस्तुत किया जा रहा है।

पर्याय के आधार पर स्वभाव के भेद

द्रव्य तथा गुणों के परिणमन को पर्याय कहते हैं।^{१८३} जैसे - जीव के ज्ञान गुण का परिणमन घटज्ञान, पटज्ञान आदि रूप से होता है या मन्द्र-तीव्र होता है। यह पर्याय अर्थ तथा व्यंजन के भेद से दो प्रकार की है। स्वभाव और विभाव रूप से अर्थ तथा व्यंजन पर्याय के दो भेद किए गए हैं।^{१८४} अर्थपर्याय तो छह द्रव्यों में होती है। वह सूक्ष्म और क्षण-क्षण में उत्पन्न होती और नष्ट होती है तथा व्यंजन पर्याय स्थूल होती है, वचन के द्वारा उसका कथन किया जा सकता है, वह नरवर होते हुए भी स्थिर होती है। जो पर्याय पर-निरपेक्ष होती है, वे स्वभाव पर्याय हैं। स्वभाव का प्रसंग होने से यहाँ स्वभाव अर्थ- पर्याय और स्वभाव व्यंजन-पर्याय का वर्णन किया जा रहा है।

(i) अर्थ पर्याय- प्रत्येक द्रव्य में एक अगुरुलघुनामक गुण है, उसी गुण के कारण प्रत्येक द्रव्य में षड्हाणि-वृद्धियाँ सदैव होती रहती हैं। इन छः द्रव्यों में अपने-अपने स्वभाव के अनुरूप घटित होने वाली ये स्वाभाविक अर्थ पर्याय हैं, ये अत्यन्त सूक्ष्म होती हैं। वाणी और मन के अविषयभूत होती हैं, आगम प्रमाण से ही इन्हें स्वीकार किया जाता है।

(ii) व्यंजन पर्याय - जिस शरीर से मुक्ति प्राप्त होती है उस अन्तिम शरीर से कुछ कम सिद्ध जीव का आकार होता है, वह स्वभाव द्रव्यव्यंजन पर्याय है। जीव के अनन्तचतुष्टय- अनन्तदर्शन, अनन्तज्ञान, अनन्तसुख, अनन्तवीर्य स्वभावगुण व्यंजन पर्याय है। पुद्गल की एक शुद्ध परमाणु रूप अवस्था स्वभावद्रव्यव्यंजन पर्याय है। उस शुद्ध परमाणु में एक वर्ण, एक रस, एक गन्ध और परस्पर में अविरुद्ध दो स्पर्श यथा स्निग्ध रुक्ष में से एक और शीत-उष्ण में से एक ये पुद्गल की स्वभावगुण व्यंजन पर्याय है।

वस्तु-देश-जाति-कालगत स्वभाव

श्री धरणेन्द्रसागर जी ने हरिभद्र विरचित योगशास्त्र पर व्याख्या करते हुए स्वभाव को चार भागों में विभक्त किया है - १. वस्तु स्वभाव २. देश स्वभाव ३. जाति स्वभाव और ४. काल स्वभाव।^{२८५}

- वस्तु स्वभाव- वस्तु की स्वतंत्र प्रवृत्ति, उसका स्वभाव है। स्वभाव के विरुद्ध वस्तु का निर्माण करना अशक्य है। जैसे- प्याज को सैकड़ों वर्ष तक खेत में रोपा जाय तो भी प्याज से जामफल उत्पन्न करना शक्य नहीं है, क्योंकि स्वभाव अपरिवर्तनीय है। मछली वर्षों तक पानी में रहती है किन्तु मनुष्य उतने समय तक पानी में नहीं रह सकता क्योंकि उसका ऐसा स्वभाव नहीं है।
- देश स्वभाव- भिन्न-भिन्न देश के जलवायु आदि का जो प्रभाव शरीर पर होता है, वह देश स्वभाव है। जैसे - यूरोप निवासियों की चमड़ी गोरी होती है। अफ्रीका निवासी हबशियों की चमड़ी काली होती है। भारतीयों की चमड़ी गेहूँ रंग की होती है। केशर सिर्फ कश्मीर में पैदा होती है और आम भी भारतीय मिट्टी में ही पैदा होते हैं, अन्यत्र नहीं। यह सब देश का प्रभाव है।

- **जाति स्वभाव** - पादप, पशु, पक्षी की विभिन्न जातियों में जातिगत विशेषताएँ होती हैं, वे जाति स्वभाव कहलाती हैं। काँटों में तीक्ष्णता, फूलों में कोमलता, मोर के पंखों में सुन्दरता, कोकिल के गान में मधुरता, बया की घोंसला बनाने में दक्षता आदि विश्व की विचित्रता जातिगत स्वभाव के कारण हैं। यही कारण है कि तोतों को पढ़ाना संभव है, गधों को नहीं।
- **काल स्वभाव** - काल भेद के कारण स्वभाव में भी भेद संभव हो जाता है। सूर्योदय के समय कमल का खिलना और सूर्यास्त के समय बन्द होना, कालगत स्वभाव है। पहले आरे के समय पृथ्वी जैसी सुन्दर थी वैसे सुन्दर दूसरे आरे में नहीं रहती। मानव की लम्बाई भी काल के प्रभाव से कम होती है। तीसरे और चौथे आरे में जन्मा व्यक्ति मोक्ष जा सकता है, किन्तु पाँचवें आरे में जन्मा व्यक्ति मोक्ष नहीं जा सकता। यह सब कालगत स्वभाव के नियमन से ही होता है।

इस प्रकार दिगम्बर एवं श्वेताम्बर दोनों जैन परम्पराओं में स्वभाव का निरूपण हुआ है। षड्द्रव्यों का अपना स्वभाव है यह सब अंगीकार करते हैं, वह सभी पदार्थों और कार्यों का नियामक भी है। द्रव्य और पर्याय के आधार पर वे सामान्य और विशेष स्वभावों का निरूपण भी करते हैं। पर्याय को स्वभाव और विभाव पर्याय के रूप में विभक्त करते हैं तथा वस्तु, देश, जाति एवं कालगत स्वभाव का प्रतिपादन करते हैं।

निष्कर्ष -

कारण- कार्य सिद्धान्त की व्याख्या में स्वभाववाद का भी अपना स्थान रहा। स्वभाववाद एक प्राचीन सिद्धान्त है। जिसके अनुसार समस्त कार्यों का कारण स्वभाव है। स्वभाववादी कहते हैं कि संसार में स्वभाव के अतिरिक्त कोई भी कारण नहीं है, जिससे कार्य निष्पन्न होता हो। काँटों की तीक्ष्णता, मृगों और पक्षियों का विचित्र वर्ण आदि कार्य स्वभावजन्य हैं। सभी कार्य स्वभाव से जन्य होते हैं।

स्वभाववाद भी कालवाद की भाँति प्राचीन है। वेद में स्वभाववाद का स्पष्ट उल्लेख प्राप्त नहीं होता किन्तु नासदीय सूक्त के अन्तर्गत सृष्टि विषयक जिन विभिन्न मतों का उल्लेख हुआ है, उनके आधार पर पं. मधुसूदन ओझा ने दश वादों का उत्थापन किया है। इनमें एक अपरवाद है। अपर का अर्थ पं. ओझा ने अ-पर अर्थात् स्व करते हुए अपरवाद को स्वभाववाद के रूप में प्रतिष्ठित किया है। उन्होंने

स्वभाववाद के चार रूप प्रस्तुत किये हैं- १. परिणामवाद २. यदृच्छावाद ३. नियतिवाद ४. पौरुषी-प्रकृतिवाद। पंडित ओझा के इस वर्गीकरण में स्वभाववाद को परिणामवाद कहना तो युक्तिसंगत प्रतीत होता है किन्तु इसे यदृच्छावाद, नियतिवाद एवं पौरुषी प्रकृतिवाद मानना युक्तिसंगत प्रतीत नहीं होता है। क्योंकि भारतीय दर्शन में यदृच्छावाद, नियतिवाद एवं प्रकृतिवाद पृथक् मान्यताओं के रूप में प्रसिद्ध रहे हैं।

श्वेताश्वतरोपनिषद् में जगदुत्पत्ति के संबंध में विभिन्न कारणों की चर्चा के प्रसंग से स्वभाव को भी कारण के रूप में प्रतिपादित किया गया है। आचार्य शंकर ने अपने भाष्य में स्वभाव को पदार्थ की प्रतिनियत शक्ति के रूप में परिभाषित किया है।

हरिवंश पुराण में जगत् को स्वभावकृत प्रतिपादित करते हुए कहा है-

स्वभावाज्जायते सर्व स्वभावाच्च ते तथाऽभवत्॥

अहंकारः स्वभावाच्च तथा सर्वमिदं जगत्॥^{२८६}

भगवत् गीता में मानव स्वभाव के आधार पर वर्ण भेद का प्रतिपादन भी स्वभाव की कारणता को स्पष्ट करता है। वहाँ सभी कार्यों में स्वभाव की प्रवृत्ति स्वीकार की गई है-

न कर्तृत्वं न कर्माणि लोकस्यसृजति प्रभुः।

न कर्मफलसंयोगं स्वभावस्तु प्रवर्तते॥^{२८७}

महाभारत में पंच भूतों का एक और अनेक होना स्वभाव से अंगीकार किया गया है। स्वभावं भूतचिन्तकाः^{२८८} कहकर महाभारत में भूत चिन्तकों को स्वभाववादी के रूप में प्रकाशित किया गया है। स्वभाववाद का महाभारत में पोषण भी है और निरसन भी। 'स्वभावादेव तत्सर्वं इति में निश्चिता मतिः'^{२८९} सदृश पंक्तियाँ स्वभाववाद को पुष्ट करती हैं। वहाँ निम्नांकित श्लोक स्वभाववाद का निरसन करता है-

ये चैनं पक्षमाश्रित्य निवर्तन्त्यत्यमेधसः।

स्वभावं कारणं ज्ञात्वा न श्रेयः प्राप्नुवन्ति ते॥^{२९०}

स्वभाववाद का विकास संस्कृत साहित्य की बुद्धचरित, बृहत्संहिता, पंचतन्त्र, हितोपदेश आदि कृतियों में भी दृष्टिगोचर होता है।

२०४ जैनदर्शन में कारण-कार्य व्यवस्था : एक समन्वयात्मक दृष्टिकोण

बुद्धचरित में स्वभाववाद का स्पष्ट उल्लेख करते हुए कहा गया है
“केचित्स्वभावादिति वर्णयन्ति शुभाशुभं चैव भवाभावौ च।”^{२९१} इसी बुद्धचरित में अश्वघोष ने स्वभाववाद से सम्बद्ध एक श्लोक लिखा है जो स्वभाववाद का वर्णन करते समय लगभग सभी दार्शनिक कृतियों में उद्धृत हुआ है, वह श्लोक है-

कः कण्टकस्य प्रकरोति तैक्ष्ण्यं विचित्रभावं भृगपक्षिणां वा।

स्वभावतः सर्वमिदं प्रवृत्तं न कामचारोऽस्ति कुतः प्रयत्नः।।^{२९२}

स्वभाववाद के बीज वेद, उपनिषद्, पुराण आदि में भले ही उपलब्ध रहे हों और स्वभाववाद का स्पष्ट रूप भी पुराण में मिलता हो तथापि बुद्धचरित का उपर्युक्त श्लोक ही सभी दार्शनिक कृतियों में स्वभाववाद के निरूपण के समय उद्धृत होने से अपनी महत्ता एवं प्राचीनता प्रकट करता है। पाँचवीं शती ई. में बृहत्संहिता में स्वभाव को कारण मानने का उल्लेख वराहमिहिर ने स्पष्ट रूप से किया है-

कालं कारणमेके स्वभावमपरे जगुः कर्मा।।^{२९३}

सांख्यकारिका में दुःख को स्वभावजन्य प्रतिपादित किया गया है- तस्माद् दुःखं स्वभावेन।^{२९४} माठरवृत्ति में स्वभाव की कारणता का स्पष्ट उल्लेख हुआ है-

केन शुक्लीकृता हंसाः शुकाश्च हरितीकृताः।

स्वभावव्यातिरेकेण विद्यते नात्र कारणम्।।^{२९५}

अक्षपाद गौतम के न्याय सूत्र में भी स्वभाववाद का उल्लेख हुआ है-
अनिमित्ततो भावोत्पत्तिः कण्टकतैक्ष्ण्यादिदर्शनात्।^{२९६} वाक्यपदीय में भर्तृहरि ने स्वभाव की व्याख्या करते हुए कहा है-

स्वरवृत्तिं विकुरुते मधौ पुंस्कोकिलस्य कः।

जन्त्वादयः कुलायादिकरणे केन शिक्षिताः।।^{२९७}

बौद्ध दार्शनिक शान्तरक्षित (७०५ई.) ने तत्त्वसंग्रह में स्वभाववाद का विधिवत् उपस्थापन एवं प्रत्यवस्थान किया है। उन्होंने स्वभाववाद की प्रस्तुति में एक नया श्लोक दिया है-

राजीवकेसरादीनां वैचित्र्यं कः करोति हि।

मयूरचन्द्रकादिर्वा विचित्रः केन निर्मितः।।^{२९८}

उदयनाचार्य ने न्यायकुसुमांजलि में आकस्मिकवाद के अन्तर्गत स्वभाववाद के पूर्वपक्ष को प्रस्तुत कर उसका उत्तर पक्ष भी दिया है तथा उसे नियतपूर्ववृत्तित्व रूप में अंगीकार किया है।

चार्वाक दर्शन में जगत् की विचित्रता को स्वभाव से ही उत्पन्न माना जाता है। जैनागमं सूत्रकृतांग की टीका में तज्जीव-तच्छरीरवादी के मत में स्वभाववाद की चर्चा की गई है, जो संभवतः चार्वाक दर्शन की ओर संकेत करती है।

जैन दर्शन के प्रश्नव्याकरण सूत्र एवं उसकी टीकाओं, स्थानांग सूत्र, नन्दीसूत्र की अवचूरि, हरिभद्रसूरि के लोकतत्त्व निर्णय एवं शास्त्रवार्ता समुच्चय, आचारांग एवं सूत्रकृतांग की शीलांकाचार्य विरचित टीकाओं आदि में स्वभाववाद का विशद निरूपण हुआ है।

कतिपय जैन दार्शनिकों ने स्वभाववाद का निरूपण करने के साथ युक्तियुक्त निरसन भी किया है। मल्लवादी क्षमाश्रमण विरचित द्वादशारनयचक्र, जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण विरचित विशेषावश्यक भाष्य, हरिभद्रविरचित धर्मसंग्रहणि एवं शास्त्रवार्ता समुच्चय, अभयदेवसूरि रचित तत्त्वबोधविधायिनी टीका आदि इसके निदर्शन हैं।

जैनाचार्यों ने प्रामाणिकता के साथ स्वभाववाद के पूर्वपक्ष को उपस्थापित किया है तथा स्वभाववाद की विभिन्न विशेषताओं को अपने ग्रन्थों में समायोजित किया है। जैन ग्रन्थों में चर्चित स्वभाववाद से संबंधित कतिपय बिन्दु इस प्रकार हैं-

१. प्रश्नव्याकरण सूत्र में 'सहावेण' शब्द का प्रयोग हुआ है, जो स्वभाववाद की ओर संकेत करता है। अभयदेवसूरि ने इस शब्द की प्रश्नव्याकरण की टीका में विस्तार से विवेचना करते हुए स्वभाववाद का प्रतिपादन किया है। स्वभाववाद के अनुसार समस्त प्राणियों का व्यवहार पूर्वकृत कर्मों से नहीं अपितु स्वभाव से संचालित होता है। वे प्राणी अपने स्वभाव से ही शुभ या अशुभ कार्य करते हैं। जगत् की विचित्रता भी स्वभाव जनित ही है। अभयदेवसूरि ने स्वभाववाद के संबंध में निम्नांकित श्लोक उद्धृत किया है-

कण्टकस्य प्रतिक्षणत्वं, मयूरस्य विचित्रता।

वर्णाश्च ताम्रचूडानां, स्वभावेन भवन्ति हि।^{२९९}

२. नन्दीसूत्र की अवचूरि में स्वभाववाद के संबंध में स्पष्ट किया गया है कि जिसके होने पर होना तथा जिसके नहीं होने पर नहीं होना- यह अन्वय-व्यतिरेक का अनुविधान भी स्वभावकृत है। करोड़ों प्रयत्न करने पर भी स्वभाव को स्वीकृत किये बिना प्रतिनियत व्यवस्था नहीं है।

३. लोकतत्त्व निर्णय में हरिभद्रसूरि का कथन है कि जगत् में जो सत् पदार्थ हैं, वे सभी स्वभावजन्य हैं। शास्त्रवार्ता समुच्चय में उन्होंने स्पष्ट किया है कि जीव के गर्भ से लेकर स्वर्गगमन तक के सभी कार्य स्वभाव से सम्पन्न होते हैं। स्वभाव के नियमन से ही कार्य का कभी होना तथा न होना रूप कादाचित्कत्व संभव होता है। घटादि कार्यों के कादाचित्कत्व के प्रति भी स्वभाव के अतिरिक्त अन्य कोई कारण नहीं है। उपादान में निहित स्वभाव के कारण ही कार्य निश्चित आकार-प्रकार को प्राप्त करता है और अपने-अपने स्वभाव में अवस्थित होता है। कहा भी है- 'सर्वे भावाः स्वभावेन स्वस्वभावे तथा तथा'^{४००}
४. पदार्थों की उत्पत्ति के साथ उनका विनाश भी उनके स्वभाव से ही नियत देश-काल में होता है। इस संसार में मृग, अश्व, माष आदि का पाक भी स्वभाव के बिना नहीं होता क्योंकि जिस वस्तु में पकने का स्वभाव नहीं है वह काल तथा अन्य कारणों के होने पर भी परिपक्व नहीं होती।
५. स्वभाववाद पर यदि यह आपत्ति की जाय कि अन्य सभी सहकारी कारणों का सन्निधान प्राप्त होता है तब स्वभाव से कार्य की सिद्धि होती है। हरिभद्रसूरि ने स्वभाववादियों की ओर से समाधान करते हुए कहा है कि पूर्व-पूर्व उपादान परिणामों को उत्तरोत्तर होने वाले तत्-तत् उपादेय परिणामों के प्रति कारण मान लेने से स्वभाववाद में सहकारिचक्र की कल्पना अनावश्यक हो जाती है।
६. स्वभाववाद के अनुसार बीज का जो चरम क्षणात्मक परिणाम होता है, उससे अंकुर का प्रथम क्षणात्मक परिणाम उत्पन्न होता है। द्वितीय, तृतीय क्षण परिणामों की उत्पत्ति चरम क्षणात्मक परिणाम से न होकर अंकुर के प्रथम क्षण से द्वितीय की और द्वितीय क्षण से तृतीय क्षण की उत्पत्ति होती है। उत्पादक बीज क्षणों में तथा उत्पाद्य अंकुर क्षणों में अत्यन्त सादृश्य होता है जिससे उनका वैसादृश्य तिरोहित रहता है। अतः सदृश अंकुर क्षणात्मक कार्य से सदृश बीज क्षणात्मक कार्य का अनुमान होने में कोई बाधा नहीं होती।
७. आचारांग सूत्र की शीलांक टीका में क्रियावादियों के भेद करते हुए स्वभाववाद को उसमें स्थान दिया है। स्वभाव को परिभाषित करते हुए उन्होंने कहा है- 'वस्तुनः स्वत एव तथा परिणतिभावः स्वभावः'^{४०१} अर्थात् वस्तु का स्वतः तथा परिणत रूप होना स्वभाव है। सभी भूत स्वभाव से ही प्रवृत्त और निवृत्त होते हैं। सूत्रकृतांग सूत्र की टीका में शीलांकाचार्य

ने तज्जीवतच्छरीरवादी के मत में स्वभाव से ही जगत् की विचित्रता को उत्पन्न बताया है। कोई धनवान, कोई दरिद्र, कोई सुन्दर, कोई कुरूप, कोई सुखी, कोई रोगी, कोई नीरोग स्वभाव से ही होते हैं। स्वभाव से ही कोई शिलाखण्ड देव प्रतिमा बनता है तो कोई पैरों की टक्कर खाता है।

८. द्वादशारनयचक्र में स्वभाववाद का प्राचीन स्वरूप अभिव्यक्त हुआ है। वहाँ कहा गया है- 'युगपदयुगपद् घटरूपादीनां ब्रीहांकुरादीनां च तथा तथा भवनादेव तु स्वभावोऽभ्युपगतः।'^{१०२} तुल्य भूमि, जल आदि के होने पर भी कण्टकादि भिन्न-भिन्न स्वरूप की वस्तुएँ प्रत्यक्ष होती हैं, जिससे स्वभाव की कारणता सिद्ध होती है। द्वादशारनयचक्र में स्वभाव के अतिरिक्त द्रव्यों की अपेक्षा रखने पर स्वभाववादियों को आपत्ति नहीं है किन्तु वे उसे भी स्वभाव के अन्तर्गत ही सम्मिलित करते हैं। वे कहते हैं कि भूमि, अम्बु आदि द्रव्यों की अपेक्षा रखकर कण्टकादि की उत्पत्ति होती है, यह भी स्वभाव ही है क्योंकि भूमि आदि निमित्तों की निमित्तता भी स्वाभाविक है। जिसमें जो स्वभाव है उससे वही वस्तु प्रकट होती है। मृदादि में विद्यमान घटादि की अपने निमित्तों की सहायता से स्वाभाविक उत्पत्ति होती है, आकाश आदि में नहीं होती है। दूध से दही, मक्खन, घृत आदि अवस्थाएँ भी स्वभावजन्य हैं। वक्त्या के पुत्र नहीं होता इसमें भी स्वभाव कारण है।

९. एक ही स्वभाव व शक्ति भेद से कारक भेद को प्राप्त होता है। वही कर्ता, कर्म, कारण आदि स्वरूपों को प्राप्त होता है।

१०. जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण स्वभाववाद को प्रस्तुत करते हुए इसे वेद वाक्य से संबद्ध करते हैं, यथा- "विज्ञानघन एवैतेभ्योभूतेभ्यः" इत्यादिवेद-वचनश्रवणात् स्वभावं देहादीनां कर्तारं मन्यसे'^{१०३} इससे ज्ञात होता है कि स्वभाव ही स्वभाववादियों के अनुसार देहादि का कर्ता है। स्वभाववादियों के अनुसार बाह्य पदार्थ कण्टकतीक्ष्णता आदि ही नहीं आत्मिक या भीतर के सुख-दुःखादि कार्य भी कादाचित्क होने से निर्हेतुक होते हैं।

जैनाचार्य मल्लवादी क्षमाश्रमण, जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण, हरिभद्रसूरि, उनके टीकाकार यशोविजय, तत्त्वबोधविधायिनी के टीकाकार अभयदेवसूरि और अज्ञात कृतिकार के द्वारा स्वभाववाद का प्रबल निरसन किया गया है, जिनके कतिपय तर्कों का संक्षेप यहाँ प्रस्तुत है-

१. मल्लवादी क्षमाश्रमण ने द्वादशारनयचक्र में स्वभाववाद का निरसन करते हुए प्रश्न उठाया है कि यह स्वभाव व्यापक है या प्रत्येक वस्तु में परिसमाप्त होता है। यदि व्यापक है तो एकरूप होने के कारण पररूप का अभाव होने से स्व या पर विशेषण निरर्थक है। यदि वह स्वभाव प्रत्येक वस्तु में परिसमाप्त होता है तो घट के घटत्व स्वभाव, पट के पटत्व स्वभाव आदि से भिन्न स्वभाव की सिद्धि नहीं हो सकेगी। वस्तु मात्र में स्वभाव को स्वीकार करने पर इतरेतर अभाव के कारण स्वभाव की स्थिति कहाँ बनेगी?
२. विशेषावश्यक भाष्य में जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण ने ग्यारह गणधरों के साथ भगवान महावीर का संवाद उपस्थित किया है, जिसे गणधरवाद के नाम से जाना जाता है। प्रथम गणधर गौतम स्वामी के प्रश्न का उत्तर देते हुए भगवान कहते हैं कि स्वभाव कोई वस्तु विशेष नहीं है, निष्कारणता या अकारणता को भी स्वभाव नहीं कहा जा सकता। वस्तु के धर्म को स्वभाव माना जाय तो यह भी उचित नहीं है क्योंकि वस्तु का धर्म उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मक होने से सदा एकरूप नहीं रहता। उसे वस्तु का धर्म मानने पर प्रश्न होता है कि वह आत्मा का धर्म है या अन्य पुद्गलादि वस्तुओं का। यदि वह आत्मा का धर्म बन जाएगा तो वह आकाशादि के समान अमूर्त होने के कारण शरीर का हेतु नहीं बन सकता। यदि उसे पुद्गल का धर्म मानें तो प्रकारान्तर से कर्म को ही स्वीकार करना होगा जो हमें (जैनों को) भी मान्य है।
३. हरिभद्रसूरि ने धर्म-संग्रहणि ग्रन्थ में जगत् की विचित्रता एवं सुख-दुःख के अनुभव में एकमात्र स्वभाव को हेतु मानने वाले स्वभाववादियों का निरसन करते हुए स्वभाव के स्वरूप पर अनेक वैकल्पिक प्रश्न खड़े किये हैं- स्वभाव भाव रूप है या अभाव रूप? यदि वह भाव रूप है तो वह अनेक रूप है या एक रूप? यदि भाव रूप में एक रूप है तो वह नित्य है या अनित्य? यदि वह नित्य है तो भाव का हेतु नहीं बन सकता क्योंकि हेतु में परिवर्तन से ही कार्य होता है। स्वभाव एक रूप होकर अनित्य है तो यह भी उचित नहीं क्योंकि अनित्य कभी एक रूप नहीं होता। स्वभाव को अनेक रूप माना जाए तो प्रश्न उपस्थित होता है कि वह मूर्त है या अमूर्त? यदि वह मूर्त है तो वह जैन दर्शन में मान्य पौद्गलिक कर्म से भिन्न सिद्ध नहीं होता। यदि वह अमूर्त है तो आकाश की भाँति सुख-दुःख का कारण नहीं हो सकता।

४. हरिभद्रसूरि ने निर्हेतुक स्वभाववाद के खण्डन में कहा है कि सुख-दुःख की विचित्रता यदि निर्हेतुक है तो वह सदैव ही होनी चाहिए या सदैव ही नहीं होनी चाहिए क्योंकि निर्हेतुक वस्तु अन्य की अपेक्षा नहीं रखती है। अतः सुख-दुःख सहेतुक हैं और हेतु के रूप में स्वकृत कर्म को छोड़कर किसी कारण की संभावना नहीं बनती।
५. हरिभद्रसूरि ने स्वभाव हेतुवाद का निरसन करते हुए कहा है कि स्वभाव जब क्रम से कार्य उत्पन्न करता है तब काल की भी अपेक्षा रखता है। काल की अपेक्षा रखने के कारण स्वभाववाद का सिद्धान्त सिद्ध नहीं हो पाता- 'मुक्तः स्वभाववादः स्यात्कालवादपरिग्रहात्'^{३०४}
६. शास्त्रवार्ता समुच्चय के टीकाकार यशोविजय ने स्वभाववादियों के तर्क ही क्रमिक स्वभाव से क्रमिक कार्यों की उत्पत्ति होने में स्वभाव का भंग नहीं होता, का निरसन करते हुए कहा है कि प्रत्येक कार्य के प्रति भिन्न-भिन्न स्वभाव को कारण मानने से घट आदि की एक जातीयता नहीं बन पाएगी। जबकि घट-पट आदि जैसे एक जाति के सहस्रों कार्य जगत् में देखे जाते हैं। स्वभाववादी यदि घटकूर्वदरूपत्वजाति मानकर इसका समाधान करते हैं तो यह भी उचित नहीं है क्योंकि कुर्वदरूपत्व जाति प्रामाणिक नहीं है। यह जाति प्रामाणिक तभी हो सकती है जब एक ही कारण से कार्य की उत्पत्ति मानी जाए। दूसरी बात यह है कि घट कुर्वदरूपत्व से घट की उत्पत्ति मानने पर अन्यत्र भी उसी घट की उत्पत्ति की आपत्ति होती है। इस आपत्ति के परिहारार्थ यदि देश नियामक की कल्पना की जाय तो स्वभाव से भिन्न हेतु के सिद्ध हो जाने से स्वभाववाद का भंग हो जाता है। एक महत्त्वपूर्ण तर्क यशोविजय देते हैं कि स्वभाव ही यदि सब कार्यों का जनक होगा तो घट के प्रति दण्ड आदि कारणों के संग्रह में व्यक्ति प्रवृत्त नहीं हो सकेगा।
७. यशोविजय ने निर्हेतुक स्वभाववाद का भी निरसन किया है। वे कहते हैं कि निर्हेतुक स्वभाववाद तो उसे हेतु के रूप में मानने अथवा न मानने दोनों ही स्थितियों में अपने अस्तित्व को खो देता है।
८. अभिधान राजेन्द्र कोश में अज्ञात कृतिकार ने भी स्वभाववाद का निरसन किया है। ये कृतिकार संभवतः हरिभद्रसूरि विरचित धर्मसंग्रहण के

टीकाकार हैं जो मलयगिरि सूरि से भिन्न ज्ञात होते हैं। उन्होंने तर्क दिया है स्वभाव कार्यगत हेतु है या कारणगत? यह कार्यगत नहीं हो सकता क्योंकि कार्य के निष्पन्न होने के बाद ही उसकी संभावना हो सकती है। जो कार्य का हेतु नहीं हो सकता। कारणगत स्वभाव को कार्य का हेतु मानने पर अज्ञात टीकाकार ने अपनी सहमति प्रकट की है। स्वभाव कारण से अभिन्न है तथा सभी पदार्थ सकारण ही होते हैं।

९. अभयदेवसूरि ने स्वभाववाद के दो रूप प्रस्तुत किये हैं- १. स्वभाव को ही कार्य की उत्पत्ति में हेतु मानने वाला स्वभावहेतुवाद। २. बिना किसी हेतु के कार्य की उत्पत्ति प्रतिपादित करने वाला निर्हेतुक स्वभाववाद। 'स्वभावतः एव भावा जायन्ते।'^{१०५} कथन में स्वात्मनि क्रियाविरोध दोष आता है। दूसरा दोष यह है कि जो पदार्थ अनुत्पन्न है उनका उत्पन्न होने का स्वभाव नहीं माना जा सकता। उत्पन्न पदार्थ में भी उत्पन्न होने के स्वभाव की निवृत्ति माननी होगी जिससे स्वभाव की नित्य कारणता का खण्डन हो जाता है।

१०. अभयदेवसूरि ने 'सन्मतितर्क' पर तत्त्वबोधविधायिनी टीका ने निर्हेतुक स्वभाववाद का उपस्थापन करते हुए चार हेतु दिए हैं- १. 'अनुपलभ्य-मानसत्ताकं कारणम्- पदार्थों के कारण की सत्ता उपलब्ध नहीं होती इसलिए वे निर्हेतुक हैं। २. प्रत्यक्ष से काँटों की तीक्ष्णता आदि में कोई कारण ज्ञात नहीं होता इसलिए भी कार्य निर्हेतुक हैं। ३. कादाचित्क होने से दुःखादि आध्यात्मिक कार्य निर्हेतुक हैं। ४. कार्य-कारण सिद्धान्त ही दोषपूर्ण है, क्योंकि उसमें अन्वय-व्यतिरेक की व्याप्ति व्यभिचार युक्त है। उदाहरणार्थ स्पर्श और चक्षुर्विज्ञान के मध्य व्याप्ति संबंध होने के बावजूद भी चक्षुर्विज्ञान के प्रति कारण नहीं होता है।

अभयदेवसूरि ने इस निर्हेतुक स्वभाववाद पर युक्तियुक्त निरसन किया है-

- i. कण्टकादि की तीक्ष्णता निर्हेतुक नहीं है क्योंकि उसमें बीज आदि की कारणता सिद्ध है।
- ii. कादाचित्क हेतु निर्हेतुक स्वभाववादियों के विरुद्ध है क्योंकि यह हेतु साध्य निर्हेतुक से विपरीत सहेतुक को सिद्ध करता है।
- iii. कार्य-कारण सिद्धान्त दोषपूर्ण नहीं है।

- iv. बीज आदि काँटों की तीक्ष्णता के प्रति कारण नहीं है अपितु देश काल आदि भी कारण हैं।
- v. स्वभाववाद की सिद्धि में कारक हेतु की बजाय ज्ञापक हेतु मानना उचित नहीं है। ज्ञापक हेतु भी स्वपक्ष की सिद्धि का उत्पादक होने से कारक हेतु के समान होता है। कारक हेतु साध्य का उत्पादक होता है तो इससे स्वभाववाद की प्रतिज्ञा बाधित होती है।
- vi. पदार्थों के कारण की सत्ता उपलब्ध है। यह अनेक हेतुओं से सिद्ध है तथा अनुपलब्ध भी हेतु की असिद्धि है।
- vii. 'निर्हेतुकाः भावाः' की प्रतिज्ञा में हेतु दिए जाने पर निर्हेतुक स्वभाववाद वदतो व्याघात की भाँति खण्डित हो जाता है।

११. बौद्ध दार्शनिक शान्तरक्षित ने तत्त्वसंग्रह में स्वभाववाद का उपस्थापन एवं निरसन किया है। स्वभाववाद की मान्यता को उन्होंने 'सर्वहेतु निराशांसं' के रूप में प्रस्तुत किया है। ये स्वभाववादी संभवतः निर्हेतुक स्वभाववादी हैं जो स्व और पर दोनों को कारण नहीं मानते हैं। प्राकृतिक विचित्रताओं यथा कमल, केसर, मयूरचन्द्रक में कोई कारण दृष्टिगोचर नहीं होता। ऐसी स्थिति में स्वभाव के अतिरिक्त अन्य कोई कारण नहीं हो सकता। दुःखादि आध्यात्मिक कार्यों की प्रत्यक्षतः निर्हेतुकता सिद्ध नहीं होती है किन्तु अनुमान से उसकी निर्हेतुकता सिद्ध है।

शान्तरक्षित और उनके टीकाकार कमलशील ने विभिन्न तर्क देकर स्वभाववाद का निरसन किया है। जिसका प्रभाव जैनाचार्य अभयदेवसूरी पर भी दृष्टिगोचर होता है।

हरिभद्रसूरी ने शास्त्रवार्ता समुच्चय में स्वभावहेतुवादी का ही खण्डन किया है जबकि तत्त्वसंग्रह अभयदेवकृत तत्त्वबोधविधायिनी टीका में स्वभावहेतुवादी और निर्हेतुकवादी दोनों मतों का खण्डन प्राप्त है। इससे पता चलता है कि स्वभावहेतुवादी पूर्व में स्वभाववाद के रूप में स्थापित था, धीरे-धीरे यह विकास को प्राप्त हुआ और निर्हेतुक स्वभाववाद के रूप में स्थापित होने लगा।

जैन ग्रन्थों में स्वभाव का विभिन्न दृष्टियों से निरूपण हुआ है तथा उसे जैन दार्शनिक कथंचित् कारण के रूप में स्वीकार भी करते हैं किन्तु उसकी कारणैकान्तता का प्रबल प्रतिषेध करते हैं।

संदर्भ

१. बुद्धचरित, सर्ग-९, श्लोक ६२
२. कः कण्टकानां प्रकरोति तैक्ष्ण्यं विचित्रभावं मृगपक्षिणां वा।
स्वभावतः सर्वमिदं प्रवृत्तं न कामचारोऽस्ति कुतः प्रयत्नः॥ -सन्मति तर्क ३.५३ की टीका, पृ. ७१२
३. कः कण्टकानां प्रकरोति तैक्ष्ण्यं विचित्रभावं मृगपक्षिणां च?
स्वभावतः सर्वमिदं प्रवृत्तं न कामचारोऽस्ति कुतः प्रसंगः॥
-शास्त्रवार्ता समुच्चय स्तबक २, श्लोक ६० की टीका

४. वेदमनीषी डॉ. फतहसिंहजी से २० मार्च २००३ को हुई चर्चा के आधार पर
५. ऋग्वेद, १०.१२९.१
६. ऋग्वेद, १०.१२९. २ का पूर्वार्ध
७. ऋग्वेद, १०.१२९.६ का उत्तरार्ध
८. दश वादों पर ओझा जी द्वारा रचित 'दशवाद रहस्यम्' पुस्तक द्रष्टव्य है। इन दश वादों में सिद्धान्तवाद को मिलाकर एकादशवाद तथा उनमें इतिवृत्तवाद को मिलाकर द्वादशवाद भी माने गए हैं। -द्रष्टव्य अपरवाद, पूर्वपीठिका, १३, १४
९. स्वभावमेतं परिणाममेके प्रादुर्यदृच्छां नियतिं तथैके।
स्यात् पौरुषो प्रकृतिस्तदित्थं स्वभाववादस्य गतिश्चतुर्धा॥

-अपरवाद, विषयावताररूप लोकायतवाद-अधिकरण, श्लोक ६, पृ. २

१०. अपरवाद, परिणामवादाधिकरण, श्लोक १
११. कः कण्टकानां प्रकरोति तैक्ष्ण्यं विचित्रभावं मृगपक्षिणां वा।
स्वभावतः सर्वमिदं प्रवृत्तं न कामचारोऽस्ति कुतः प्रयत्नः॥

-अपरवाद, परिणामवादाधिकरण, श्लोक २।

यही श्लोक बुद्धचरित के सर्ग ९.६२ में भी प्राप्त होता है।

१२. अपरवाद, परिणामवादाधिकरण, श्लोक ३
१३. को वा अत्र हंसान् करोति शुक्लान् शुकाश्च को वा हरितःकरोति।
को वा मयूरान् प्रकरोति चित्रान् स्वभावतः सर्वमिदं प्रजायते॥

-अपरवाद, परिणामवादाधिकरण, श्लोक ४

१४. इत्थं पुरा केऽपि पराशराद्या निर्धारयन्तः परिणामवादम्।
प्रत्यब्रुवन् पौरुषवादमेघां मते स्वभावोऽनतिलङ्घनीयः॥

-अपरवाद, परिणामवादधिकरण, श्लोक ५

आधुनिक विज्ञान में हंसों के सफेद, तोतों के हरे और मयूरों के विचित्र वर्ण का कारण उनके गुणसूत्र को माना जाता है। इन गुणसूत्रों में विभिन्न वर्णों को उत्पन्न करने की शक्ति किस कारण से होती है, तो स्वभाव के अतिरिक्त कोई कारण प्रत्युत्तर के रूप में नहीं प्राप्त होता है। इस प्रकार अंतिम कारण के रूप में आधुनिक वैज्ञानिकों को भी स्वभाववाद के आगे नतमस्तक होना पड़ेगा।

१५. अपरवाद, यदृच्छावाद-अधिकरण, श्लोक १ का अंश
१६. अपरवाद, यदृच्छावाद-अधिकरण, श्लोक ३-५
१७. अपरवाद, नियतिवाद अधिकरण, श्लोक २
१८. अपरवाद, नियतिवाद अधिकरण, श्लोक १
१९. रूपेण सर्वे नियतेन भावा भवन्ति तस्मान्नियतिं पृथग्वत्।
मन्यामहे कारणमीश्वरो वाऽणुर्वेतरे वा नियतेर्वशे स्युः॥

-अपरवाद, नियतिवाद, अधिकरण, श्लोक ३

२०. इत्थं पुरा केचन पूरणाद्या विश्वस्य मूलं नियतिं वदन्तः।
उन्मूलयन्ति स्म मतं परोषां यादृच्छिकानां बहुयुक्तियौगैः॥

-अपरवाद, नियतिवाद अधिकरण, श्लोक ४

२१. अपरवाद, प्रकृतिवाद-अधिकरण, श्लोक ७
२२. अपरवाद, प्रकृतिवाद अधिकरण, श्लोक ८
२३. श्रीमद् भागवत् पुराण, द्वितीय स्कन्ध, अध्याय ५, श्लोक २२ का अंश उद्धृत
अपरवाद, परिणामवाद अधिकरण
२४. श्वेताश्वतरोपनिषद्, प्रथम अध्याय, मंत्र २
२५. श्वेताश्वतरोपनिषद्, षष्ठ अध्याय, मंत्र १
२६. द्रव्यं कर्म च कालश्च स्वभावो जीव एव च।
वासुदेवात्परो ब्रह्मन् चान्योऽर्थोऽस्ति तत्त्वतः॥

-श्रीमद् भागवत् महापुराण, द्वितीय स्कन्ध, अध्याय ५, श्लोक १४

२७. हरिवंश पुराण- द्वितीय खण्ड, संस्कृति संस्थान, ख्वाजा कुतुब, बरेली, पृ.
१८९, श्लोक १३, १६

२१४ जैनदर्शन में कारण-कार्य व्यवस्था : एक समन्वयात्मक दृष्टिकोण

२८. हरिवंश पुराण- द्वितीय खण्ड, पृ. १९२, श्लोक ३५
२९. देवी भागवत पुराण-प्रथम खण्ड, संस्कृति संस्थान, वेदनगर, बरेली, पृ. १६६, श्लोक ४३
३०. माण्डूक्यकारिका, अद्वैताख्यतृतीयप्रकरणम्, श्लोक २०
३१. श्रीमद् भगवद् गीता, गीता प्रेस, गोरखपुर, अध्याय १८, श्लोक ४१
३२. 'स्वकीयो भावः स्वभावः' -श्रीमद् भगवद् गीता १८.४१ का रामानुज भाष्य
३३. गीता, अध्याय १८, श्लोक ४१ पर रामानुजभाष्य
३४. शमो दमस्तपः शौचं क्षान्तिरार्जवमेव च। ज्ञानं विज्ञानमास्तिक्यं ब्रह्मकर्म स्वभावजम्।
-गीता अ. १८, श्लोक ४२
३५. गीता, अध्याय १८, श्लोक ४१ पर रामानुज भाष्य
३६. शौर्यं तेजो छृतिर्दाक्ष्यं युद्धे चाप्यपलायनम्। दानमौश्रवभावश्च क्षात्रं कर्म स्वभावजम्।
-गीता अ. १४, श्लोक ४३
३७. गीता, अध्याय १८, श्लोक ६०
३८. गीता, अध्याय १८, श्लोक ४१ का रामानुज भाष्य
३९. कृषिगोरक्ष्यवाणिज्यं वैश्यकर्म स्वभावजम्।
परिचर्यात्मकं कर्म शूद्रस्यापि स्वभावजम्॥ -गीता, अ. १८, श्लोक ४४
४०. गीता, अध्याय ५, श्लोक १४
४१. रामायण, किष्किन्धाकाण्ड, सर्ग २५, श्लोक ५
४२. केचित् पुरुषकारं तु प्राहुः कर्मसु मानवाः।
दैवमित्यपरे विप्राः स्वभावं भूतचिन्तकाः॥ -महाभारत, शांतिपर्व, अध्याय २३२, श्लोक १९
४३. महाभारत, शांति पर्व, अध्याय २१९, श्लोक ७
४४. स्वभावात्संप्रवर्तन्ते, निवर्तन्ते तथैव च। सर्वे भावास्तथाऽभावाः, पुरुषार्थो न विद्यते॥
स्वभावप्रेरिताः सर्वे, निविशन्ते गुणा सदा। शुभाशुभास्तदा तत्र, कस्य किं मानकारणम्॥
स्वभावाल्लभते प्रज्ञां, शान्तिमेति स्वभावतः। स्वभावादेव तत्सर्वं, यत् किञ्चिदनुपश्यति॥

-महाभारत, शांति पर्व, अध्याय २२२, श्लोक १५, २२, ३५

४५. अनिष्टस्याभिनिर्वृत्ति-मिष्टसंवृत्तिमेव च।
अप्रयत्नेन पश्यामः केषांचित्तत्स्वभावतः॥
यस्तु कर्तारमात्मानं, मन्यते साध्वसाधु वा।
तस्य दोषवती प्रज्ञा, अतत्त्वज्ञेति मे मतिः॥
-महाभारत, शांतिपर्व, अध्याय २२२, श्लोक २०.१७
४६. यदि स्यात् पुरुषः कर्ता, शक्रात्मश्रेयसे ध्रुवम्।
आरम्भास्तस्य सिद्ध्येयु न जातु पराभवेत्॥
-महाभारत, शांतिपर्व, अध्याय २२२, श्लोक १८
४७. महाभारत, शांति पर्व, अध्याय २२२, श्लोक २३
४८. हन्तीति मन्यते कश्चिन्न हन्तीत्यपि चापरः।
स्वभावतस्तु नियतौ भूतानां प्रभयात्ययौ॥
-महाभारत, शांतिपर्व, अध्याय २५, श्लोक १६
४९. महाभारत, शांति पर्व, अध्याय २३७, श्लोक ३
५०. येषां चैकान्तभावेन स्वभावात् कारणं मतम्।
पूत्वा तृणमिषीकां वा ते लभन्ते न किंचन।
-महाभारत, शांति पर्व, अध्याय २३७, श्लोक ४
५१. महाभारत, शांति पर्व, अध्याय २३७, श्लोक ५, ६
५२. कृष्यादीनीह कर्माणि सस्यसंहरणानि च।
प्रज्ञावद्भिः प्रकृष्टप्तानि यानासनगृहाणि च॥
आक्रीडानां गृहाणां च गदानामगदस्य च।
प्रज्ञावन्तः प्रयोक्तारो ज्ञानवद्भिरनुष्ठिताः॥
-महाभारत, शांतिपर्व, अध्याय २३७, श्लोक ७, ८
५३. बुद्धचरित, प्रथम भाग, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, संस्करण पंचम १९८३,
सर्ग-९, श्लोक ५८, ५९
५४. अदिभर्हुताशः शममभ्युपैति तेजांसि चापो गमयन्ति शोषम्।
भिन्नानि भूतानि शरीरसंस्थान्यैक्यं च गत्वा जगदुद्बहन्ति।
यत्पाणिपादोदरपृष्ठमूर्ध्ना निवर्तते गर्भगतस्य भावः।
यदात्मनस्तस्य च तेन योगः स्वाभाविकं तत्कथयन्ति तज्ज्ञाः॥
-बुद्धचरित, सर्ग-९, श्लोक ६०, ६१

५५. बुद्धचरित, सर्ग-९, श्लोक ६२
५६. बृहत्संहिता, मुंशी नवलकिशोर यन्त्रालय, लखनऊ, १८८४, अध्याय १, सूत्र ७
५७. पंचतंत्र, चौखम्बा विद्याभवन वाराणसी, तंत्र प्रथम, श्लोक २८०-२८१
५८. हितोपदेश, चौखम्बा संस्कृत सीरीज, वाराणसी, मित्रलाभ का श्लोक २०, १७
५९. हितोपदेश, मित्रलाभ, श्लोक ३८, ८६
६०. हितोपदेश, विग्रह, श्लोक ६०
६१. सांख्यकारिका, कारिका ५५
६२. सांख्य तत्त्वकौमुदी, मोतीलाल बनारसीदास, बंगलो रोड, जवाहर नगर, दिल्ली, कारिका ५५ की ज्योतिषमती व्याख्या, पृ. ३११-३१२
६३. सांख्यकारिका, कारिका ६१ की माठरवृत्ति से
६४. सांख्यकारिका, कारिका ६१ की माठरवृत्ति से
६५. न्यायदर्शन, अ. ४, आ. १, सूत्र २२
६६. न्यायदर्शन अ. ४, आ. १, सूत्र २३
६७. न्यायदर्शन अ. ४, आ. १, सूत्र २४
६८. स्वभावोऽव्यपदेश्यो वा सामर्थ्यं वावतिष्ठते।
सर्वस्यान्ते यतस्तस्माद् व्यवहारो न कल्पते॥

-वाक्यपदीयम् पदकाण्ड, जातिसमुद्देश गा. ९५

६९. इह कार्याणां प्रतिनियतकारणानभ्युपगमे कारणकारणादेव सिद्धावभ्युपगम्यमानायां तत्रापि तत्कारणादित्यनवस्थायामापादितायां सर्वान्ते मूलकारणेऽवस्थातव्यम्। तच्च मूलं कारणं सर्वस्य वादिनोऽन्ते पर्यनुयोगावसाने नित्यस्य प्रधानादेः कारणस्य 'स्वभावोऽव्यपदेश्यो'ऽयमस्य स्वभावोऽस्माद्धेतोरित्येवं व्यपदेश्यमशक्योऽवतिष्ठते। अत एवास्मिन्नवधौ हेतुप्रश्नपरम्परा निवर्तते। येषां त्वनित्यं कारणम्, तेषां सामर्थ्यं हेतुशक्तिः प्रश्नपरम्परावसानेऽवतिष्ठते। तदपि सामर्थ्यमव्यपदेश्यमेव वैलक्षण्येन 'इदं तत्' इति शब्देन व्यपदेश्यमशक्यत्वात्।
-वाक्यपदीयम्, पद-काण्ड, जाति समुद्देश, गा. ९५ की हेलाराज विरचित 'प्रकाश व्याख्या'

७०. वाक्यपदीयम्, वाक्य काण्ड, का. १४९

७१. वाक्यपदीयम्, वाक्य काण्ड, का. १५०

७२. मूषको मार्जारस्याहार इति मार्जारः केन शिक्षितः। शुनः स्वामिनि प्रीतिः केन शिक्षिता। मूषकमार्जारयोः, गोव्याघ्रयोः, अहिनकुलयोः, अश्वमहिषयोश्च परस्परमपद्वेषः केन प्रयुक्तः। गोमहिष्यादयो जले प्लवनक्रियायां केन शिक्षिताः।

—वाक्यपदीयम्, वाक्य काण्ड, कारिका १५० पर अम्बाकर्त्री व्याख्या

७३. तत्त्वसंग्रह, पंजिका, श्लोक ११०

७४. सर्वहेतुनिराशंस भावानां जन्म वर्ण्यते।

स्वभाववादिभिस्ते हि नाहुः स्वमपि कारणम्॥ —तत्त्व संग्रह, श्लोक ११०

७५. तत्त्वसंग्रह, श्लोक १११, ११२

७६. तत्त्वसंग्रह पंजिका, श्लोक ११२

७७. तत्त्वसंग्रह, पंजिका, श्लोक ११२

७८. धर्मसंग्रहणि-भाग प्रथम, श्लोक २८१

७९. मृदेव घटजननस्वभावा न तन्तवः, तन्तव एव च परजननस्वभावा न मृदिति वस्तुव्यवस्थानियमे वस्तुस्वभाव एव तथा तथा परिदृश्यमानः प्रमाणतया विजृम्भते न त्वन्यत् किञ्चित्। —धर्मसंग्रहणि, श्लोक २९१ पर मलयगिरि टीका

८०. हेतुभूतिनिषेधो न स्वानुपाख्यविधिर्न च।

स्वभाववर्णना नैवमवधेर्नियतत्वतः॥

—न्याय कुसुमांजलि, व्याख्याकार— श्री दुर्गाधर झा, वाराणसेय-संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी-२, प्रथम स्तबक, श्लोक ५

८१. 'कश्चिन्नियतदेशवन्नियतकालस्वभाव इति ब्रूमः' —न्यायकुसुमांजलि, प्रथम स्तबक श्लोक ५ की व्याख्या

८२. न्यायकुसुमांजलि, प्रथम स्तबक, श्लोक ५ की व्याख्या

८३. 'चेत् नाऽपेक्ष्यन्त इति कोऽर्थः? किं न नियताः? आहोस्विन्नियता अप्यनुपकारकाः? प्रथमे धूमो दहनवद्द्रव्यमप्यवधीकुर्यात्, न्यायभकाऽभावात्। द्वितीये तु किमुपकारान्तरेण, नियमस्यैवाऽपेक्षार्थत्वात्, तस्यैव च कारणात्मकत्वात्, ईदृशस्य च स्वभाववादस्येष्टत्वात्। नित्यस्वभावनियमवदेतत्।' —न्यायकुसुमांजलि, प्रथम स्तबक, श्लोक ५ की व्याख्या में

८४. जगद्वैचित्र्यमाकस्मिकं स्यादिति चेत् न तद्भद्रम्। स्वभावादेव तदुपपत्तेः। तदुक्तम्—

२१८ जैनदर्शन में कारण-कार्य व्यवस्था : एक समन्वयात्मक दृष्टिकोण

‘अग्निरुष्णो जलं शीतं समस्पर्शस्तथानिलः।

केनेदं चित्रितं तस्मात्स्वभावात्तद्व्यवस्थितिः॥

-सर्वदर्शन संग्रह, चौखम्बा विद्या भवन, वाराणसी, चार्वाक दर्शन, पेज १९

८५. प्रश्नव्याकरण सूत्र, श्रुतस्कन्ध १, अध्याय २, सूत्र ५०

८६. प्रश्नव्याकरण सूत्र पर अभयदेव की वृत्ति, श्री आगमोदय समिति, निर्णयसागर यन्त्रालय द्वारा मुद्रित, धर्मशाला, गोपीपुरा, सूरत, वि.सं. १९७५, अधर्मद्वारे, मृषावादिनः सूत्र ७

८७. प्रश्नव्याकरण, श्रीमद् ज्ञानविमलसूरिविरचित वृत्ति, शारदा मुद्रणालय, रतनपोल, अहमदाबाद, वि.सं. १९९३, अधर्मद्वारे, मृषावादिनः सूत्र ७

८८. (१) नन्दी सूत्र, मलयगिरि अवचूरि, पृ. १७९

(२) षड्दर्शनसमुच्चय, पृ. १९-२० पर भी उपर्युक्त अंश उद्धृत

८९. श्री लोक तत्त्व निर्णय, श्री जैन धर्म प्रसारक सभा, भावनगर, पृ. २८, श्लोक ३

९०. श्री लोक तत्त्व निर्णय, श्री जैन धर्म प्रसारक सभा, भावनगर, पृ. २३, श्लोक २०

९१. शास्त्रवार्ता समुच्चय, स्तबक २, श्लोक ५७

९२. आकाशत्वादीनां क्वाचित्कत्ववद् घटादीनां कादाचित्कत्वस्येतराऽनियम्यत्वात्।

-शास्त्रवार्ता समुच्चय, स्तबक २, श्लोक ५७ की टीका

९३. 'भवनस्वभावत्वे घटः सर्वदा भवेति ति चेत्'

-शास्त्रवार्ता समुच्चय, स्तबक २, श्लोक ५७ की टीका

९४. शास्त्रवार्ता समुच्चय, स्त. २, श्लोक ५७ की टीका

९५. उपादानस्वभावस्यैवोपादेयगतस्वभावरूपोपकारजनकस्योपादेउपादानस्वभाव-
स्यैवोपादेयगतस्वभावरूपोपकारजनकस्योपादे

- शास्त्रवार्ता समुच्चय, स्तबक २, श्लोक ५७ की टीका

९६. शास्त्रवार्ता समुच्चय, स्तबक २, श्लोक ५८ का अंश

९७. 'वर्तन्तेऽथ निवर्तन्ते कामचारपराङ्मुखाः'

-शास्त्रवार्ता समुच्चय, स्तबक २, श्लोक ५८ का अंश

९८. शास्त्रवार्ता समुच्चय, स्त. २, श्लोक ५९

१९. न ह्यश्वमाषे विलक्षणाग्निसंयोगादिकं नास्तीति वक्तुं शक्यते, एकैव क्रियया तत्तदन्यवह्निसंयोगात्। न चादृष्टवैषम्यात् तदपाकः, दृष्टसादगुण्ये तद्वैषम्याऽयोगात्, अन्यथा दृढदण्डनुन्नमपि चक्रं न भ्राम्येत्। तस्मात् स्वभाववैषम्यादेव तदपाकः इत्यन्यत्र कामचारात् स्वभाव एव कारणमिति पर्यवसन्नम्।
-शास्त्रवार्ता समुच्चय, स्तबक २, श्लोक ५९ की टीका

१००. 'अतत्स्वभावात् तद्भावेऽतिप्रसंगोऽनिवारितः'

-शास्त्रवार्ता समुच्चय, स्तबक २, श्लोक ६० का अंश

१०१. शास्त्रवार्ता समुच्चय, स्तबक २, श्लोक ६० का अंश

१०२. शास्त्रवार्ता समुच्चय, स्त. २, श्लोक ६० की टीका

१०३. शास्त्रवार्ता समुच्चय, स्त. २, श्लोक ६० की टीका

१०४. 'किन्तु सामग्रीमेव कार्यजनिकां ब्रूमः अश्वमाषस्य च पक्तिं प्रति स्वरूपयोग्यतैव न इति को दोषः।' -शास्त्रवार्ता समुच्चय, स्तबक २, श्लोक ६० की टीका

१०५. शास्त्रवार्ता समुच्चय, स्तबक २, श्लोक ६० की टीका

१०६. 'न च मृत्स्वभावाऽविशेषद् घटादिकार्याऽविशेषप्रसंगः।' -शास्त्रवार्ता समुच्चय, स्तबक २, श्लोक ६० की टीका

१०७. शास्त्रवार्ता समुच्चय, स्तबक २, श्लोक ६० की टीका

१०८. 'स्वभावार्थत्वात्, तस्याश्च कार्यैकव्यंग्यत्वात्।' -शास्त्रवार्ता समुच्चय, स्तबक २, श्लोक ६० की टीका

१०९. 'अङ्कुरजननस्वभावं बीजं प्रागेवाऽङ्कुरं जनयेत्।'

- शास्त्रवार्ता समुच्चय, स्तबक २, श्लोक ६० की टीका

११०. शास्त्रवार्ता समुच्चय, स्तबक २, गाथा ६० की टीका

१११. 'न च सहकारिचक्राऽतिशयाधायकत्वं त्वयाऽपि कल्पनीयम्।'

-शास्त्रवार्ता समुच्चय, स्तबक २, श्लोक ६० की टीका

११२. 'तस्य तत्कार्यजनकत्वकल्पनमेवोचितमिति वाच्यम्'

-शास्त्रवार्ता समुच्चय, स्तबक २, श्लोक ६० की टीका

११३. शास्त्रवार्ता समुच्चय, स्त. २, श्लोक ६० की टीका

११४. 'न च चरमक्षणपरिणामरूपबीजस्याऽपि द्वितीयादिकक्षणपरिणामरूपाङ्कुराजन-
कत्वाद् व्यक्तिविशेषमवलम्ब्यैव हेतु-हेतुमद्भावो वाच्यः, अन्यथा

२२० जैनदर्शन में कारण-कार्य व्यवस्था : एक समन्वयात्मक दृष्टिकोण

व्यावृत्तिविशेषनुगत-प्रथमादिचरमपर्यन्ताङ्कुरक्षणान् प्रति व्यावृत्तिविशेषनु-
गतानां चरमबीजक्षणा-दिकोपात्त्याङ्कुरक्षणानां हेतुत्वे कार्यकारणतावच्छेदक-
कोटावे कैकक्षणप्रवेशाऽप्रवेशाभ्यां विनिगमनाविरहप्रसंगात्।”

-शास्त्रवार्ता समुच्चय, स्तबक २, श्लोक ६० की टीका

११५. ‘तथा च तज्जातीयात् कार्यात् तज्जातीयकारणानुमानभंगप्रसंगः इति वाच्यम्।’

-शास्त्रवार्ता समुच्चय, स्तबक २, श्लोक ६० की टीका

११६. शास्त्रवार्ता समुच्चय, स्तबक २, श्लोक ६० की टीका

११७. प्रयोज्य-प्रयोजकभावस्यैव विपक्षबाधकर्तृकस्य जागरूकत्वादिति।

-शास्त्रवार्ता समुच्चय, स्तबक २, श्लोक ६० की टीका

११८. आचारांग सूत्र, शीलांक टीका, अध्ययन १, उद्देशक १, सूत्र ३

११९. स्वभावतः प्रवृत्तानां, निवृत्तानां स्वभावतः -आचारांग सूत्र, शीलांक टीका
१.१.३

१२०. केनाजितानि नयनानि मृगाङ्गनानां, कोऽलं करोति रुचिरांगरूहान्मयूरान्।
कक्षोत्पलेषु दलसन्निचयं करोति, को वा दधाति विनयं कुलजेषु पुंस्तु॥

- आचारांग सूत्र, शीलांक टीका १.१.३

१२१. सूत्रकृतांग, प्रथम श्रुतस्कंध, प्रथम अध्ययन, तृतीय उद्देशक, श्लोक ५ का अंश

१२२. सूत्रकृतांग, प्रथम श्रुतस्कंध, प्रथम अध्ययन, तृतीय उद्देशक, श्लोक ६

१२३. सूत्रकृतांग १.१.३ के श्लोक ६ पर शीलांक टीका

१२४. ‘तद्यथा कश्चिदीश्वरोऽपरो दरिद्रोऽन्यः सुभगोऽपरोदुर्भगः सुखी दुःखी सुरूपो
मन्दरूपो व्याधितो नीरोगीति एवं प्रकारा च विचित्रता किं निबन्धनेति।’ -
सूत्रकृतांग १.१.१ का श्लोक १२ की टीका

१२५. “अत्रोच्यते, स्वभावात्, तथाहि-कुत्रचिच्छिलाशकले प्रतिमारूपं निष्पाद्यते, तच्च
कुङ्कुमगारुचन्दनादिविलेपनानुभोगमनुभवति धूपाद्यामोदच, अन्यस्मिंस्तु
पाषाणखण्डे पादक्षालनादि क्रियते, न च तयोः पाषाणखण्डयोः शुभाशुभेऽस्तः
यदुदयात्स तादृग्विधावस्थाविशेष इत्येवं स्वभावाज्जगद्वैचित्र्यं तथा चोक्तम्-
“कण्टकस्य च तीक्ष्णत्वं मयूरस्य विचित्रता। वर्णाश्च ताम्रचूडानां स्वभावेन
भवन्ति हि” इति तज्जीवतच्छरीरवादिमतं गतम्।” -सूत्रकृतांग १.१.१ का श्लोक
१२ की टीका

१२६. सूत्रकृतांग १.१.१ के श्लोक १८ की टीका

१२७. 'येनाऽत्मनो भोगोपपत्त्या सृष्टिः स्यादिति, प्रकृतेरयं स्वभाव इति चेदेवं तर्हि स्वभाव एव बलीयान् यस्तामपि प्रकृतिं नियमयति।' -सूत्रकृतांग, १.१.३ का श्लोक ९ की टीका

१२८. 'न हि स्वभावोऽभ्युपगम्यमानो नः क्षति मातनोति। तथाहि स्वो भावः स्वभावः स्वकीयोत्पत्तिः सा च पदार्थानामिष्यत एवेति।'

-सूत्रकृतांग १.१.३ का श्लोक ९ की टीका

१२९. 'तथाऽस्ति स्वभावोऽपि कारणत्वेनाशेषस्य जगत्, स्वो भावः स्वभावः इतिकृत्वा, तेन हि जीवाजीवभव्यत्वाभव्यत्वमूर्तत्वामूर्तत्वानां स्वस्वरूपानु-विधानात् तथा धर्माधर्माकाशकालादीनां च गतिस्थित्यवगाहपरत्वापरत्वादि-स्वरूपापादानादिति'

-सूत्रकृतांग १.१.२ के प्रारम्भ की टीका में

१३०. द्रष्टव्य पृ.९३

१३१. तिलोक काव्य कल्पतरू : भाग ४, श्री रत्न जैन पुस्तकालय, अहमदनगर तत्त्व मुक्तावली: वाद स्वरूप, पृ. ८७

१३२. (क)द्वादशारनयचक्र, भाग-प्रथम,पृ.२१९ पर उद्धृत

(ख)पाणिनि व्याकरण पर वार्तिक ५.१.११९

१३३. द्वादशारनयचक्र भाग-प्रथम, पृ.२२२

१३४. (क) द्वादशारनयचक्र,भाग-प्रथम,पृ २२२ पर उद्धृत

(ख) बुद्धचरित,९.६२ (प्रथम श्लोक)

१३५. 'यदि स्वभाव एव कारणं किं न स्वभावमात्रादेव भूम्यादिद्रव्यविनिर्वृत्तिनिरपेक्षा कण्टकाद्युत्पत्तिर्भवेत्? किमन्यथापि न स्यात्? कण्टकः किमर्थं विध्यति? किमर्थं च कदाचिद् विध्यति? किमर्थं किञ्चिदेव विध्यति किञ्चिच्च न?'

- द्वादशारनयचक्र, प्रथम-भाग,पृ.२२२-२२३

१३६. 'भूम्यम्बुक्षेत्रबीजाकुंरादिभ्य एव कण्टको भवति न भृतिपण्डादिभ्य इत्येव तेषां स्वभाव इति स्वभावस्यैव समर्थनं तदपि तेषां तत्तत्स्वाभाव्यात्।'

-द्वादशारनयचक्र,प्रथम भाग,पृ.२२३

१३७. 'निमित्तानामपि निमित्तता स्वाभाविकी'-द्वादशारनयचक्र,प्रथम भाग,पृ.२२३-२२४

१३८. 'प्रतिवस्तु स्वभाव एवायं वयः क्षीरादिवत्। यदि चासौ न स्यात् तत उत्तरत्रापि न भवेदेव अभूतत्वाद् वन्ध्यापुत्रवत्। एवं मृदादिषु विद्यमानानां घटादीनां निमित्तापेक्षस्वभावैवोत्पत्तिः' नाकाशादिषु।' -द्वादशारनयचक्र,प्रथम भाग, पृ.२२४

२२२ जैनदर्शन में कारण-कार्य व्यवस्था : एक समन्वयात्मक दृष्टिकोण

१३९. कटुकः कटुकः पाके वीर्योष्णश्चित्रको मतः ।

तद्वद् दन्ती, प्रभावात्तु विरेचयति सा नरम् ॥

- द्वादशारनयचक्र, प्रथम भाग, पृ. २२५ पर उद्धृत चरक संहिता १.२६.६८

१४०. 'मृद्धघटाद्यभिव्यक्त्यनभिव्यक्तिस्वभावौ घटोऽपि पृथिव्यादिव्यभाव एव वस्तुत्वात् तदात्मत्वात्, यथा-आपो द्रवाः, स्थिरा पृथिवी, चलोऽनिलः, मूर्तिहीनमाकाशम्, उष्णोऽग्निरित्यादिषु स्वभाव एव' - द्वादशारनयचक्र, प्रथम भाग, पृ. २२५

१४१. द्वादशारनयचक्र, प्रथम भाग, पृ. २२६

१४२. 'स चैकोऽपि कारकभेदे स्वशक्तिभेदादेव लभते, स एवानुभवति सोऽनुभूयते। स्वद्रव्यसंयोगविभागस्वभाव्येन स एव भवतीति संसारमोक्षौ स्वभावतः॥'

- द्वादशारनयचक्र, प्रथम भाग, पृ. २२८

१४३. 'अन्तरेणापि धातुवादं कनकाविर्भावस्ताथा कर्मविवेकस्वाभाव्यादेव भव्यजीवाना-मात्माविर्भावः, सम्यग्दर्शनज्ञानपूर्विकया तु क्रियया प्राचुर्येण कैवल्यप्राप्तिर्धातुवादक्रिययेव कनकोत्पत्तिः केषाञ्चिदनाविर्भाव एव कर्माविवेकस्वाभाव्यात्'। - द्वादशारनयचक्र, प्रथम भाग, पृ. २२९

१४४. 'स्वभावनयबलेन आम्नाता जीवा द्विविधाः-भवसिद्धिकाश्च अभवसिद्धिकाश्चेति तदुभयस्वभाववर्णनात् अभव्यजीवकर्मणोरित्यादि भव्यस्य तु विशुद्धीत्यादि च गतार्थं वाक्यद्वयम् अनादेर्जीवकर्मसन्तानस्य व्यवच्छेदाव्यवच्छेदौ स्वभावादेवेति नात्र कश्चिद् भव्यकर्मसन्तानसान्तायामभव्यकर्मसन्तानानन्ततायां वा हेतुः शक्यो वक्तुमन्यः स्वभावात्'। - द्वादशारनयचक्र, प्रथम भाग, पृ. २२९

१४५. यदि हेतुरन्यो मृग्येत तेनानत्यमस्यापि स्यात्, अनादित्वात्, आकाशवत्। तदन्तवत्ये वाकाशमपि सान्तं स्यात्, अनादित्वात्, भव्यकर्मवत्। अथाप्यस्यादित्वेऽहेतुरन्तो भवति तथा आदिः सिद्धकर्मसन्तानस्य कस्मान्न भवति? इति स्वाभाव एव शरणं तदुपायस्वभावो मोक्ष इति। एवं सर्वचोद्येषु। - द्वादशारनयचक्र, भाग-प्रथम, पृ. २२९

१४६. स्वभावानभ्युपगमे तु न साधनं न दूषणं च स्वभावापेतावयवार्थवादित्वादिति वादहानं ते। - द्वादशारनयचक्र, भाग-प्रथम, पृ. २३०

१४७. 'तद्यथा-पक्षहेतुदृष्टान्तादयः स्वेन भावेन सम्यन्ताः साधनम्....तद्विपर्यये तदाभासा...तस्मात् स्वभाव एव प्रभुविभुत्वाभ्यां कारणं जगत् इति।

- द्वादशारनयचक्र, भाग-प्रथम, पृ. २३०

१४८. अयं च स्वभावः किं व्यापी प्रतिवस्तु परिसमाप्तो वा? व्यापित्वे त्यक्तस्वपरविशेषणः स्यात्। प्रतिवस्तुत्वे किं तेन कल्पितेनाभिन्नफलेन लोकवादात्। प्रत्येकमात्रवृत्ति च वस्तु घटाद्येव घटादीतीतरेतराभावात् परस्परमस्वभवनपरिग्रहात् कुतः क्व चासौ स्वभावः स्यात्।

-द्वादशारनयचक्र, प्रथम भाग पृ २३३

१४९. विशेषावश्यक भाष्य गाथा १९१३-१९२० और १७८६-१७९५

१५०. विशेषावश्यक भाष्य गाथा १६४३ की टीका से

१५१. 'तत्र न तावद् वस्तुविशेषः, तद्ग्राहकप्रमाणाभावात्। अप्रमाणकस्याभ्युपगमे कर्मापि किं नाभ्युपगम्यते, तस्यापि त्वदभिप्रायेणाप्रमाणकत्वात्? किंच वस्तुविशेषः स स्वभावो मूर्तो वा स्यात्। अमूर्तो वा? यदि मूर्तः तर्हि स्वभाव इति नामान्तरेण कर्मैवोक्तं स्यात्। अथामूर्तः, तर्हि नासौ कस्यापि कर्ता, अमूर्तत्वात् निरूपकरणत्वाच्च, व्योमवदिति।

-विशेषावश्यकभाष्य, गा. १६४३ की टीका

१५२. अथाकारणता स्वभाव इष्यते, तत्राप्यभिदध्महे- नन्वेवं सत्यऽकारणं शरीराद्युत्पद्यत इत्ययमर्थः स्यात्, तथा च सति कारणाभावस्य समानत्वाद् युगपदेवाशेषदेहोत्पाद- प्रसंगः। अपि च, इत्थमहेतुकमाकस्मिकं शरीराद्युत्पद्यत इत्यभ्युपगतं भवेत्। एतच्चायुक्तमेव, यतो यदहेतुकमाकस्मिकं न तदादिमत्प्रतिनियताकारम्, यथाऽभ्रादिविकारः, आदिमत्प्रतिनियताकारं च शरीरादि। तस्माद् नाकस्मिकम् किन्तु कर्महेतुकमेव। प्रतिनियताकारत्वादेव चोपकरणसहितकर्तुर्निर्वर्त्यमेव शरीरादिकं घटादिवदिति गम्यत एव। न च गर्भाद्यवस्थासु कर्मणोऽन्यदुपकरणं घटत इत्युक्तमेव।

-विशेषावश्यक भाष्य गा. १६४३ की टीका

१५३. 'अथ स्वभावत एव भवोत्पत्तिरित्यत्र' अकारणत एव' इत्ययमर्थाऽभिप्रेतः, 'तो वि ति' तथापि हन्त! परभवे सदृशता कुतः? कोऽभिप्रायः? इत्याह यथाऽकारणतः सदृशता भवति, तथा किमित्यकारणत एव विसदृशता न स्यात्? अकस्माच्चकारण तो भवविच्छित्तिः कस्माद् न स्यात्?' -विशेषावश्यक भाष्य गा. १७९१ की टीका

१५४. 'उपायेत्यादि यद् यस्मादुत्पाद-स्थिति-भंगादयश्चित्रा वस्तुपर्यायाः न च ते सदैवाऽवस्थितसादृश्याः, नीलादीनां वस्तुधर्माणां प्रत्यक्षतएवान्यान्यरूपतया परिणतिदर्शनात्। -विशेषावश्यक भाष्य गा. १७९२ की टीका

१५५. अथ वस्तुनो धर्मः स्वभावोऽभ्युपगम्यते। तथाप्यसौ यद्यात्मधर्मो विज्ञानादिवत्, तर्हि न शरीरादिकारणमसौ, अमूर्तत्वात्, आकाशावत् इत्यभिहितमेव। अथ मूर्तवस्तुधर्मोऽसौ, तर्हि सिद्धसाध्यता, कर्मणोऽपि पुद्गलास्तिकायपर्याय-विशेषत्वेनास्माभिरभ्युपगतत्वादितिद्गुलास्तिकायपर्यायविशेषत्वेनास्माभिरभ्यु-पगतत्वादिति। -विशेषावश्यक भाष्य, गा. १६४३ की टीका

१५६. 'सुहदुक्खाणुहवातो चित्ताओ ण य अहेतुगो एसो-' धर्मसंग्रहणि गाथा ५४८

१५७. किन्न सहावोति मई भावो वा होज्ज जं अभावो वा।

इ भावो किं चित्तो ? किं वा सो एगरूवोत्ति॥-धर्मसंग्रहणि, गाथा ५४९

१५८. धर्मसंग्रहणि, गाथा ५५०-५५२

१५९. जीवेणं बभिचारो ण हि सो एगंततोऽमुत्तो।

जमणादिकम्मसंतइपरिणामावन्न रूव एवायं,

बीयंकुरु णाएणं तं चेव य तस्स हेतुत्ति॥-धर्मसंग्रहणि गाथा ५५२, ५५३

१६०. मुत्तेणं बभिचारो ण सोवि जं चेतणासरूवोत्ति।

ठाय सो दुक्खनिमित्तं निरूवमसुहरूवतो तस्स॥ -धर्मसंग्रहणि गाथा ५५४

१६१. अह तु अभावो सो वि हु एगसहावो व होज्ज चित्तो वा?

तुच्छेगसहावत्ते कहं तओ कज्जसिद्धि ति?

णहि खरविसाणहेतूअभावतो जायती तंय तत्तो।

तुच्छेगसहावत्ता भेगजडाभारमादी वा॥ -धर्मसंग्रहणि, गाथा ५५६, ५५७

१६२. मिइपिंडो चेव तओ जायइ तत्तो घडो य तो जुत्तं।

तुच्छेगसहावत्ते कहं तओ कज्जसिद्धि ति॥ -धर्मसंग्रहणि ५५८

१६३. ण हि सो तुच्छसहावो एगंतेणं सरूवभावतो।

तद्धेतुभावरूवं पडुच्च तुच्छो मुणेयव्वो॥ ५५९॥

जो च्विय सरूवभावो ण तउ च्विय इयररूवभावो ति।

भावाभावविरोहा भिन्नसहावमि चित्तं॥ ५६०॥

टीका-अथोच्येत-स्वरूपापेक्षया भावरूपता पररूपापेक्षया चाभावरूपता ततो भावाभावयो- भिन्ननिमित्तत्वान्न कश्चिदिह विरोधदोष इति। अत्राह- 'भिन्नसहावमि चित्तं' भिन्नौ- परस्परविलक्षणौ स्वभावौ स्वपररूपापेक्षया भावाभावलक्षणौ यस्य स तथाभूतस्तद्रूपे मृत्पिण्डादावभ्युपगम्यमाने हन्त।

चित्रत्वम्-अनेकान्तात्मकत्वं स्वतन्त्रविरोधि प्राप्नोति। -धर्मसंग्रहणि गाथा ५६०
पर मलयगिरि टीका

१६४. अह चित्तो चेव ततो नाभावो चित्तया जतो लोए।

भावस्स हंदि दिट्ठा घडपडकडसगडभेदेण।।

टीका-ततो यदि तस्यापि चित्रतोष्यते तर्हि। नामान्तरेण भाव एव चित्रोऽभ्युपगतः स्यात्, न हि तत्तदर्थक्रियासामर्थ्यलक्षणस्वभावभेदातिरेकेण चित्रतोपपद्यते, तथाभूतभेदैकस्वभावाभ्युपगमे च भावरूपतैवोपपद्यत इति।

-धर्मसंग्रहणि गाथा ५६२ पर मलयगिरि टीका

१६५. भावस्स य हेतुत्ते नामविज्जासमेत्तमेवेदं।

हंदि सहावो हेतू जम्हा कम्मं पि भावो तु।।- धर्मसंग्रहणि गाथा ५६३

१६६. सो भावो त्ति सहावो कारणकज्जाण सो हवेज्जाहि।

कज्जगओ कह हेऊ निव्वित्तीओ उ कज्जस्स।।

टीका- 'निव्वित्तीओ उ कज्जस्स' कार्यस्य निवृत्तेः। यो हि यस्यालब्धात्मला-
भसंपादनाय प्रभवति स तस्य हेतुर्भवति, कार्यं च निष्पन्नतया न अलब्धात्मलाभं
कथमान्यथा तदभावे सोऽपि तदात्मस्वभावो भवेत्। तस्मान्नैवासो स्वभावः
कार्यगतः कार्यस्य हेतुरिति। -धर्मसंग्रहणि गाथा ५६४ और मलयगिरि टीका

१६७. कारणगओ उ हेऊ केण व णेट्ठोत्ति णिययकज्जस्स ।

ण य सो तओ विभिन्नो सकारण सत्त्वमेव तओ ।।

टीका- कारणगतः स्वभावस्ततः-तस्मात्कारणाद्विभिन्नः किंत्वभिन्नः, तस्मात् यत्
किंचिदिह जगति कार्यं तत्सर्वं सकारणमेवेति स्थितम्।

-धर्मसंग्रहणि गाथा ५६५ एवं मलयगिरि की टीका

१६८. 'नानारूपात् इह लोके यथासंभव सुखं दुखं वा चित्रमनुभूयते। ततः किमित्याह-
न च एष चित्रः सुखदुखानुभवो निर्हेतुको, नित्यं-सदा भावाभावप्रसङ्गात्। 'नित्यं
सत्त्वमसत्त्वं वाऽहेतोरन्यानपेक्षणादितिन्यायात्।'

-धर्मसंग्रहणि, गाथा ५४८ की मलयगिरि टीका

१६९. धर्मसंग्रहणि गाथा ५४८

१७०. 'स्वो भावश्च स्वभावोऽपि स्वसतैव हि भावतः।

तस्यापि भेदकाभावे वैचित्र्यं नोपपद्यते।।'

-शास्त्रवार्ता समुच्चय, स्तबक २ श्लोक ७४

२२६ जैनदर्शन में कारण-कार्य व्यवस्था : एक समन्वयात्मक दृष्टिकोण

१७१. शास्त्रवार्ता समुच्चय, स्तबक २, श्लोक ७५

१७२. शास्त्रवार्ता समुच्चय, स्तबक २, श्लोक ७५ की टीका

१७३. 'न, तस्यैव स्वभावस्य पूर्वोत्तरकार्यजनकत्वे पूर्वोत्तरकालयोरुत्तरपूर्वकार्यप्रसङ्गेन क्रमस्यैव व्याहृतेः' - शास्त्रवार्ता समुच्चय, स्तबक २, श्लोक ७५ की टीका

१७४. 'एकस्यैव स्वभावस्य नानाजातिनियामकत्वे सर्वस्य सर्वजातीयत्वस्य एकजातीयत्वस्य वा प्रसङ्गात्' - शास्त्रवार्ता समुच्चय, स्तबक २, श्लोक ७५ की टीका

१७५. शास्त्रवार्ता समुच्चय, स्तबक २, श्लोक ७६

१७६. शास्त्रवार्ता समुच्चय, स्तबक २, श्लोक ७६

१७७. 'क्षणिकस्वभावे नाऽयं दोष इत्युक्तमेवेति'

- शास्त्रवार्ता समुच्चय, स्तबक २, श्लोक ७६ की टीका

१७८. शास्त्रवार्ता समुच्चय, स्तबक २, श्लोक ७६ की टीका

१७९. कुर्वद्रूपत्वस्य च जातित्वाभावेन घटं प्रति घटकुर्वद्रूपत्वेन हेतुत्वस्य वक्तुमशक्यत्वात् सामग्रीत्वेन कार्यव्याप्यत्वस्य वास्तविकत्वेन गौरवस्याऽदोषत्वात्, प्रत्यभिज्ञादिबाधेन क्षणिकत्वस्य निषेत्स्यमानत्वाच्च।

- शास्त्रवार्ता समुच्चय, स्तबक २, श्लोक ७६ की टीका

१८०. किंच, एकत्र घटकुर्वद्रूपसत्त्वेऽन्यत्र घटानुत्पत्तेर्देशनियामकहेत्वाश्रयणे स्वभाववादत्यागः - शास्त्रवार्ता समुच्चय, स्तबक २, श्लोक ७६ की टीका

१८१. दण्डादौ घटादि हेतुत्वं प्रमाथैव प्रेक्षावत्प्रवृत्तेश्च

- शास्त्रवार्ता समुच्चय, स्तबक २, श्लोक ७६ की टीका

१८२. न च 'निर्हेतुका भावा' इत्यभ्युपगमेनाऽपि स्वभाववादसाम्राज्यम्,
तत्र हेतूपन्यासे वदतो व्याघातात् ।

- शास्त्रवार्ता समुच्चय, स्तबक २, श्लोक ७६ की टीका

१८३. शास्त्रवार्ता समुच्चय, स्तबक २, श्लोक ७६ की टीका

१८४. 'न च ज्ञापकहेतूपन्यासेऽपि कारकहेतुप्रतिक्षेपवादिनो न स्वपक्षबाधेति वाच्यम्।' - शास्त्रवार्ता समुच्चय, स्तबक २, श्लोक ७६ की टीका

१८५. तदपि प्रतिक्षिप्तमवगन्तव्यम्, उक्तरूपाणां प्रायस्तत्रापि समानत्वात्, तथाहि-

स्वभावो भावरूपो वा स्यादभाव रूपो वा ? भावरूपोऽप्येकरूपोऽनेकरूपो वेत्यादि सर्वं तदवस्थमेवात्रापि दूषणजालमुपपदौकते।- अभिधान राजेन्द्र कोश, भाग- ७, पृ. ६०४

१८६. यः स्वो भावः स्वभावः, आत्मीयो भाव इत्यर्थः, स च कार्यगतो वा हेतुर्भवेत् कारणगतो वा? न तावत्कार्यगतो, यतः कार्ये परिनिष्पन्ने सति स कार्यगतः स्वभावो भविष्यति, नानिष्पन्ने, निष्पन्ने च कार्ये कथं स तस्य हेतुः? यो हि यस्यालब्धलाभसम्पादनाय प्रभवति स तस्य हेतुः, कार्यं च परिनिष्पन्नतया लब्धात्मलाभम्, अन्यथा तस्यैव स्वभावस्याभावप्रसंगात्, ततः कथं स कार्यस्य हेतुर्भवति।
- अभिधान राजेन्द्र कोश, भाग- ७, पृ. ६०४

१८७. कारणगतस्तु स्वभावः कार्यस्य हेतुरस्माकमपि सम्मतः, स च प्रतिकारणं विभिन्नस्तेन मृदः कुम्भो भवति न पटादिः, मृदः पटादिकरणस्वभावाभावात्। तन्तुभ्योऽपि पट एव भवति न घटादिः, तन्तूनां घटादिकरण स्वभावाभावात्। ततो यदुच्यते- 'मृदः कुम्भो भवति न पटादि' रित्यादि तत्सर्वं कारणगतस्वभावाभ्युपगमे सिद्धसाध्यतामध्ययासीनमिति न नो बाधामादधाति।

- अभिधान राजेन्द्र कोश, भाग ७, पृ. ६०४-६०५

१८८. यदपि चोक्तम्- 'आस्तामन्यकार्यजातं' मित्यादि, तदपिकारणगतस्वभावाङ्गीकारेण समीचीनमेवावसेयम्। तथाहि- ते काङ्कटुकमुद्गाः स्वकारणवशतस्तत्थारूपा एव जाता ये स्थालीन्धनकालादिसामग्रीसम्पर्केऽपि न पाकमश्नुवते इति। स्वभावश्च कारणादभिन्न इति सर्वं सकारणमेवेति स्थितम्' - अभिधान राजेन्द्र कोश, भाग ७, पृ. ६०५

१८९. तत्त्वसंग्रह के स्वभाविकजगद्वाद परीक्षा नामक अध्याय में 'स्वत एव भावा जायन्ते' के रूप में इस मत को प्रस्तुत किया गया है।

१९०. अत्र यदि 'स्वभावकारणा भावाः' इति तेषामभ्युपगमस्तदा स्वात्मनि क्रियाविरोधो दोषः। -सन्मतितर्क, तृतीय काण्ड, गाथा ५३ की टीका, पृ. ७११

१९१. न हि अनुत्पन्नानां तेषां स्वभावः समस्ति उत्पन्नानां तु स्वभावसंगतावपि प्राक् स्वभावाभावेऽपि उत्पत्तेर्निर्वृत्तत्वात् न स्वभावस्तत्र कारणं भवेत्।

-सन्मतितर्क, ३.५३ की टीका, पृ. ७११

१९२. 'ते स्वभाववादिनः स्वमिति। स्वरूपम्। अपिशब्दात्पररूपमपि।' द्वारा कमलशील ने 'स्व' से स्वयं पदार्थ और 'पर' से अन्य पदार्थों को कारणता का निषेध किया है।

-तत्त्वसंग्रह कारिका ११० की टीका, पृ. ६२

१९३. 'अथ कारणमन्तरेण भावा भवन्ति स्व-परकारणनिमित्तजन्मनिरपेक्षतया सर्वहेतुनिराशंसस्वभावा भावाः। -सन्मतिर्तर्क, ३.५३ की टीका, पृ. ७११
१९४. सन्मतिर्तर्क, ३.५३ की टीका, पृ. ७११
१९५. 'न च अयमसिद्धो हेतुः कण्टकादितैक्षण्यादेर्निमित्तभूतस्य कस्यचिद् अध्यक्षादिना असंवेदनात्।' -सन्मतिर्तर्क, ३.५३ की टीका, पृ. ७११
१९६. 'अथापि स्यात् भवतु बाह्यानां भावानां कारणानुपलब्धेरहेतुकत्वम् आध्यात्मिकानां तु कुतो निर्हेतुकत्वसिद्धिः? असदेतत्, यतो यदि नाम दुःखादीनामध्यक्षतो निर्हेतुकत्वमसिद्धं तथापि अनुमानतस्तत् तेषां सिद्धमेव। तथाहि- यत् कादाचित्कं तद् निर्हेतुकम्, यथा- कण्टकादेस्तैक्षण्यम् कादाचित्कं च सुखादिकमिति स्वभावहेतुः।' -सन्मतिर्तर्क, ३.५३ की टीका, पृ. ७१२
१९७. न च यस्य भावाभावयोर्नियमेन यस्य भावाभावौ तत् तस्य कारणम्, व्यभिचारात्। तथाहि- स्पर्शसद्भाव एव चक्षुर्विज्ञानम् तदभावे न तत् कदाचित्, न च स्पर्शः तत्कारणम्। तन्नैतत् कारणभावलक्षणम् व्यभिचारित्वात्। अतः सर्वहेतुनिराशंसजन्म भावानामिति सिद्धम्।' -सन्मतिर्तर्क, ३.५३ की टीका पृ. ७१२
१९८. तत्त्वसंग्रह में 'बीजादि' को ओर स्पष्ट बताते हुए कहा है-
सरोजकेसरादीनामन्वयव्यतिरेकवत्।
अवस्थातिशयाक्रान्तं बीजपंकजलादिकम्।।
प्रत्यक्षानुपलम्भाभ्यां निश्चितं कारणं यदा।
किमित्यन्यस्तदा हेतुरमीषां परिपृच्छयते।। - तत्त्व संग्रह कारिका ११३, ११४
१९९. 'असदेतत्, कण्टकादितैष्यादेरपि निर्हेतुकत्वासिद्धेः। तथाहि अध्यक्षाऽनुपलम्भाभ्यामन्वयव्यतिरेकतो बीजादिकं तत्कारणत्वेन निश्चितमेव। यस्य हि यस्मिन् सत्येव यस्य भावः यस्य च विकाराद् यस्य विकारः तत् तस्य कारणमुच्यते। उत्सूनादिविशिष्टावस्थाप्राप्तं च बीजं कण्टकादितैक्षण्या-देरन्वय-व्यतिरेकवत् अध्यक्षाऽनुपलम्भाभ्यां कारणतया निश्चितमिति 'अनुपलम्भ्यमानसत्ताकं च कारणम्' च इति असिद्धो हेतुः'
- सन्मतिर्तर्क, ३.५३ की टीका, पृ. ७१२
२००. यदपि 'कादाचित्कत्वात्' इति साधनम्, तदपि विरुद्धम्, साध्यविपर्ययसाधनाद् अहेतोः कादाचित्कत्वानुपपत्तेः। साध्यविकलश्च दृष्टान्तः अहेतुकत्वस्य तत्राप्यभावात्।
- सन्मतिर्तर्क, ३.५३ की टीका, पृ. ७१३
२०१. तत्त्व संग्रह में स्पर्श को चक्षुर्विज्ञान का परम्परागत कारण तथा रूप को साक्षात् कारण बताते हुए कहा है- 'केवलं साक्षात्पारंपर्यकृतो विशेषः'।
-तत्त्व संग्रह, का. ११३-११४ की पञ्जिका पृ. ६३

२०२. यदपि 'कार्यकारणभावलक्षणं व्यभिचारी' इत्युक्तम्, तदपि असिद्धम्, स्पर्शस्यापि रूपहेतुतया चक्षुर्विज्ञाने निमित्ततया इष्टत्वात् तन्मन्तरेण रूपस्यैव विशिष्टावस्थस्यासंभवात्।
-सन्मति तर्क, ३.५३ की टीका, पृ ७१२

२०३. "न च व्यतिरेकमात्रं कार्यकारणभावनबन्धनत्वेन अभ्युपगम्यते तद्वादिभिः किन्तु तद्विशेष एव । तथाहि समर्थेषु सत्सु येषु कार्यं भवद् उपलब्धम् तेषां मध्ये अन्यतमस्यापि अभावे तद् अभवत् तत्कारणं तद् इति व्यवस्थाप्यते न तु यस्याभावे यन्न भवतीति व्यतिरेकमात्रतः, अन्यथा मातृविवाहोचितपारशीक-देशप्रभवस्य पिण्डरखजूरस्य तद्विवाहाभावे अव्यभिचारः स्यात्। न चैवंभूतस्य व्यतिरेकस्य स्पर्शेन व्यभिचारः न हि रूपादिसंनिधानमुपदर्श्य स्पर्शस्य एकस्याभावात् चक्षुर्विज्ञानं न भवतीति शक्यं दर्शयितुमिति कुतो व्यभिचारः कार्यकारणभावलक्षणस्य?"
-सन्मति तर्क, ३.५३ की टीका पृ ७१२

२०४. नियतौ देशकालौ च भावानां भवतः कथम्।

यदि तद्धेतुता नैषां स्युस्ते सर्वत्र सर्वदा॥

क्वचित्कदाचित्कस्मिंश्चिद्भवन्तो नियताः पुनः।

तत्सापेक्षा भवन्त्येते तदन्यपरिहरतः॥

-तत्त्व संग्रह कारिका ११५, ११६

२०५. न केवलं बीजादिः कारणत्वेन भावानां निश्चितः किन्तु देश-कालादिरपि। तथाहि यदि प्रतिनियतदेशकालहेतुता कण्टकादेस्तैश्चण्यादेर्न स्यात् तदा येयमतदेश-कालपरिहारेण प्रतिनियतदेश-कालता तेषामुपलम्भगोचरचारिणी सा न स्यात् तन्निरपेक्षत्वात् तद्द्वद् अन्यदेशकाला अपि ते भवेयुः न चैवम् अतः प्रतिनियतदेशादौ यर्तमानास्तदपेक्षास्त इति सिद्धम् तथा च तत्कार्या अपेक्षालक्षणत्वात् तत्कार्यत्वस्य नियतदेशतया च तेषां वृत्तिरध्यक्षत एव सिद्धेति कथं न तत्कार्यतावगतिः?
-सन्मति तर्क ३.५३ टीका पृ. ७१३

२०६. 'ज्ञापको हेतुरिति। त्रिरूपं लिङ्गं. स्वार्थानुमानकाले। वचो वेति। परार्थानुमानकाले। तत्प्रकाशकमिति। तस्य हेतोः प्रकाशकम्। सिद्धेरिति। प्रमेयार्थनिश्चयस्य। अन्यथा यदि सिद्धेरपि निमित्तभावं न यायात्तदा कथं न ज्ञापकं भवेत्। एवं हि सर्वं सर्वस्य ज्ञापकं प्रसज्यते'।

-तत्त्व संग्रह कारिका १२५ की पंजिका

२०७. न च ज्ञापकहेतूपन्यासेऽपि कारकहेतुप्रतिक्षेपवादिनो न स्वपक्षबाधा इति वक्तव्यम् यतो लिङ्गं तत्प्रतिपादकं वा वचो यदि पक्षसिद्धेरुत्पादकं न भवेत् कथं तस्य ज्ञापकहेतुता स्यात् अन्यथा सर्वस्य सर्वं प्रति ज्ञापकता प्रसज्येत। न चैवं कारक-ज्ञापकहेत्वोरविशेषः साध्यानुत्पादकस्य ज्ञापकहेत्वात् तदुत्पादकस्य तु कारकहेतुशब्दवाच्यत्वात् अनुमानबाधितत्वं च प्रतिज्ञायाः स्पष्टमेव। तथाहि-

प्रतिनियतभावसंनिधौ ये प्रतिनियतजन्मानस्ते सहेतुकाः यथा भवत्प्रयुक्तसाधनसंनिधिभावितत्साध्यार्थज्ञानम् तथा च मयूरचन्द्रकादयो भावाः इति स्वभावहेतुः। तन्न स्वभावैकान्तवादाभ्युपगमो युक्तिसंगतः।'

- सन्मति तर्क ३.५३ की टीका, पृ. ७१४

२०८. सन्मति तर्क ३.५३ की टीका, पृ. ७१३

२०९. सर्वादृष्टिश्च सन्दिग्धा स्वादृष्टिर्व्यभिचारिणी।

विन्ध्यादिरन्ध्रदूर्वारदृष्टावपि सत्त्वतः ॥

-तत्त्वसंग्रह, कारिका १२२

२१०. 'किञ्च, अनुपलब्धिहेतुत्वेन उपादीयमाना स्वोपलम्भनिवृत्तिरूपा वा उपादीयेत, सर्वपुरुषोपलम्भनिवृत्तिस्वभावा वा? तत्र न तावद् आद्यः पक्षः खल-बिलाघनर्गतस्य बीजादेः स्वोपलम्भनिवृत्तावपि सत्ताअनिवृत्तेर्हेतोरनैकान्तिकत्वात्। अथ द्वितीयपक्षः सोऽपि न युक्तः हेतोरसिद्धेः न हि मयूरचन्द्रकादेः सर्वपुरुषैरदृष्टं कारणं नोपलभ्यते इत्यर्वाङ्मूला निश्चेतुं शक्यम्।'

- सन्मति तर्क ३.५३ की टीका पृ. ७१३

२११. अहेतुकत्वसिद्ध्यर्थं न चेद्धेतुः प्रयुज्यते। न चाप्रमाणिकी सिद्धिरतः पक्षो न सिद्ध्यति॥

तत्सिद्ध्ये च हेतुश्चेत्प्रयुज्येत तथाऽपि न। सिद्धेस्तद्धेतुजन्यत्वात्पक्षस्ते संप्रसिद्ध्यति॥

- तत्त्वसंग्रह, कारिका १२३, १२४

२१२. किञ्च 'निर्हेतुका भावाः' इत्यत्र हेतुरुपादीयते, अहोस्वित् नेति ? यदि नोपादीयते तदा न स्वपक्षसिद्धिः प्रमाणमन्तरेण तस्या अयोगात्। अथ हेतुरुपादीयते तदा स्वाभ्युपगमविरोधः प्रमाणजन्यतया स्वपक्षसिद्धेरभ्युपगमात्।

-सन्मति तर्क, ३.५३ की टीका, पृ. ७१३

२१३. (क) सन्मति तर्क, ३.५३ की टीका पृ. ७१३-७१४

(ख) तत्त्वसंग्रह कारिका १२३-१२४ की टीका, पृ. ६६

(ग) शास्त्रवार्ता समुच्चय, स्तबक २, श्लोक ७६ की टीका पृ. ९२

२१४. तत्त्वसंग्रह, स्वाभाविक जगद्वाद परीक्षा, श्लोक ११०, पृ. ६२

२१५. 'ननु ये स्वत एव भावा भवन्तीति वर्णयन्ति, तेभ्य एषां को भेद इत्याह-ते हीत्यादि। ते स्वभाववादिनः स्वमिति। स्वरूपम्। अपिशब्दात्पररूपमपि। पूर्वकास्तु स्वभावं कारणमिच्छन्ति, एते तमपि नेच्छन्तीति भेदः' -तत्त्वसंग्रह, स्वाभाविक जगद्वाद परीक्षा, कारिका ११० की पंजिका टीका

२१६. तत्त्वसंग्रह, स्वाभाविक जगद्वाद परीक्षा, श्लोक १११

२१७. तत्त्वसंग्रह, स्वाभाविक जगद्वाद परीक्षा, श्लोक ११२

२१८. सरोजकेसरादीनामन्वयव्यतिरेकवत्।

अवस्थातिशयाक्रान्तं बीजपंकजलादिकम्॥

प्रत्यक्षानुपलम्भाभ्यां निश्चितं कारणं यदा।

किमित्यन्यस्तदा हेतुरभीषां परिपृच्छयते॥

—तत्त्वसंग्रह स्वाभाविक जगद्वाद, परीक्षा पृ. ६३, कारिका ११३, ११४

२१९. यच्चाप्युक्तं कार्यकारणलक्षणं व्यभिचारोति, तदसिद्धम्। स्पर्शस्यापि रूपहेतुतया चक्षुर्विज्ञानेऽपि निमित्तभावस्येष्टत्वात्। तथाहि—स्पर्श इति भूतान्युच्यन्ते। तानि चोपादायोपादाय रूपं वर्तते, ततश्चक्षुर्विज्ञानं प्रति स्पर्शस्य निमित्तभावोऽस्त्येव। केवलं साक्षात्पारंपर्यकृतो विशेषः।

—तत्त्वसंग्रह, स्वाभाविक जगद्वाद परीक्षा पृ. ६३

२२०. न चापि व्यतिरेकमात्रमस्माभिः कार्यकारणभावनिश्रयहेतुत्वेनाभ्युपगतम्। किं तर्हि? विशिष्टमेव। तथाहि येषु सत्सु समर्थेषु तदन्येषु हेतुषु यस्यैकस्याभावाद्यन्न भवति तत्तस्य कारणमिति वर्ण्यते। न तु यस्याभावे यन्न भवतीति व्यतिरेकमात्रम्। अन्यथा मातृविवाहोचितदेशजन्मनः पिण्डखर्जूरस्य मातृविवाहाभावे सत्यभावप्रसङ्गात्। न चैवंभूतस्य व्यतिरेकस्य स्पर्शनं व्यभिचारोऽस्ति। तथाहि यदि रूपादिसन्निधानं प्रदर्श्य स्पर्शस्यैकस्याभावाच्चक्षुर्विज्ञानं न भवतीत्येवं प्रदर्श्येत तदा स्याद्व्यभिचारो न चैतच्छक्यं प्रदर्शयितुम्। अतो नास्ति कार्यकारणभावलक्षणस्य व्याभिचारः।

— तत्त्वसंग्रह, स्वाभाविक जगद्वाद परीक्षा, श्लोक ११३, ११४ की पंजिका टीका

२२१. तत्त्वसंग्रह, स्वाभाविक जगद्वाद परीक्षा, श्लोक ११५

२२२. 'यदि हि राजीवादीनां तद्धेतुता-प्रतिनियतदेशकालहेतुता न स्यात्, तदा येयमुपलादिदेशपरिहारेण सलिलादावेव प्रतिनियतदेशे वृत्तिः, या च शिशिरादिसमयपरिहारेण निदाघादिसमये वृत्तिः, सा न प्राप्नोति। किं तु सर्वत्र देशे काले च ते राजीवादयो भावा भवेयुस्तन्निरपेक्षत्वात् तदन्यदेशकालपरिहारा-नियमेन प्रतिनियतदेशादौ वर्तमानास्तत्सापेक्षा भवन्तीति निश्चीयते'।

—तत्त्वसंग्रह, स्वाभाविक जगद्वाद परीक्षा, श्लोक ११५, ११६ की पंजिका

२२३. तत्त्वसंग्रह, स्वाभाविक जगद्वाद परीक्षा, श्लोक ११७

२२४. तदन्यदेशादिपरिहारेण नियते देशादौ या वृत्तिरियमेवापेक्षेत्युच्यते....येयं तथावृत्ति लक्षणाऽपेक्षा सैव तत्कार्यतोच्यते। सा च तथावृत्तिरेषां कथं सिद्धेति चेदाह—प्रत्यक्षेत्यादि। —तत्त्वसंग्रह, स्वाभाविकजगद्वाद परीक्षा, श्लोक ११७ की पंजिका

२३२ जैनदर्शन में कारण-कार्य व्यवस्था : एक समन्वयात्मक दृष्टिकोण

२२५. तत्त्वसंग्रह, स्वाभाविक जगद्वाद परीक्षा, श्लोक ११८

२२६. यत्पुनः सुखादीनामहेतुकत्वसाधनाय कादाचित्कत्वादिति साधनमुक्तं तत्साध्यविपरीत- साधनविरुद्धम्। अहेतोरनपेक्षस्य कादाचित्कत्वानुपपत्तेः। दृष्टान्तस्य च साध्यविकलतेति भावः।

- तत्त्व संग्रह, स्वाभाविक जगद्वाद परीक्षा, श्लोक ११८ की पंजिका

२२७. यद्यनुपलम्भमात्रं हेतुत्वेनोपादीयते तदाऽनैकान्तिकता। यतो मानाभावेन प्रमाणाभावमात्रेण हेतुना नैवार्थसत्ताया अभावनिश्चयः'

-तत्त्वसंग्रह, स्वाभाविक जगद्वाद परीक्षा श्लोक ११९ की पंजिका

२२८. व्यापको हि स्वभावो निवर्त्तमानः स्वं व्याप्यनिवर्त्तयति, कारणं वा कार्यम्। तत्र तादात्म्यतदुत्पत्तिभ्यां व्याप्यकार्ययोः प्रतिबद्धत्वात्। न च प्रमाणार्थसत्तयोरभेदो भिन्नाभासत्वात्। नापि प्रमाणार्थस्य कारणं व्यभिचारात्। प्रमाणमन्तरेणापि भावात्। तथाहि-देशकालस्वभावविप्रकृष्टानामर्थानां प्रमाणेनाविषयीकृतानामपि सत्त्वमविरुद्धमेव। न च येन विनाऽपि यद्भवति तत्तस्य कारणं युक्तमतिप्रसङ्गात्। कारणत्वाभ्युपगमे वा स्वपक्षपरित्यागः। तदुद्भववाच्च न प्रमाणमर्थसत्ताकारणम्। तथाहि-अर्थदेव विषयभूतात्प्रमाणमुद्भवति। न पुनः प्रमाणात्प्रेमेयोऽर्थः।

-तत्त्वसंग्रह, स्वाभाविक जगद्वाद परीक्षा, श्लोक १२० की पंजिका

२२९. तत्त्वसंग्रह, जगत्स्वाभाववाद परीक्षा, कारिका १२२

२३०. 'अपि चानुपलब्धेर्हेतुत्वेनोपादीयमाना सर्वपुरुषोपलम्भनिवृत्तिलक्षणा वोपादीयते? स्वोपलम्भनिवृत्तिलक्षणा वा? न तावदाद्या, तस्या अर्वागदर्शनेन निश्चेतुमशक्यतया संदिग्धत्वात्। न हि सर्वैः पुरुषैर्मयूरचन्द्रिकादीनामदृष्टं कारणं नोपलभ्यत इत्यत्रार्वागदर्शिनः किंचिदस्ति प्रमाणम्। याऽपि स्वेनादृष्टिः सा व्यभिचारिणी, कस्मात्? गिरिकुहरान्तर्गतस्य दूर्वाप्रवाल शिलाशकलादेरनुपलब्धस्यापि सत्त्वतः सत्त्वविरोधादित्यर्थः। तन्न निश्चितमेवासत्त्वं सन्देहात्।

-तत्त्वसंग्रह, स्वाभाविक जगद्वाद परीक्षा, श्लोक १२२ की पंजिका

२३१. अहेतुकत्वसिद्ध्यर्थं न चेद्धेतुः प्रयुज्यते। न चाप्रमाणिकी सिद्धिरतः पक्षो न सिद्ध्यति। तत्सिद्ध्ये च हेतुश्चेत्प्रयुज्येत तथाऽपि न। सिद्धेस्तद्धेतुजन्यत्वात्पक्षस्तो संप्रसिद्ध्यति। -तत्त्वसंग्रह, स्वाभाविक जगद्वाद परीक्षा श्लोक १२३, १२४

२३२. तत्त्वसंग्रह, स्वाभाविक जगद्वाद परीक्षा, श्लोक १२५

२३३. 'ज्ञापकोऽपि कारक एव ज्ञानहेतुत्वादिति। एतेन स्ववचनविरोध उद्भाव्यते।

-तत्त्वसंग्रह, स्वाभाविक जगद्वाद परीक्षा, श्लोक १२६ की पंजिका

२३४. भगवती सूत्र, शतक ८, उद्देशक १
२३५. 'शाश्वत' में आचार्य महाप्रज्ञ के लेख से
२३६. भगवती सूत्र, अभयदेववृत्ति, शतक १ में
२३७. स्थानांग सूत्र, द्वितीय स्थान, तृतीय उद्देशक, पुद्गल पद
२३८. अभ्रादिष्विव पुद्गलाः संहन्यन्ते- सम्बध्यन्ते, कर्मकर्तृप्रयोगोऽयं, परेण वा पुरुषादिना वा संहन्यन्ते- संहताः क्रियन्ते, कर्मप्रयोगोऽयं एवं भिद्यन्ते विधटन्ते।
-स्थानांग सूत्र, अभयदेव वृत्ति, द्वितीय स्थान, तृतीय उद्देश, पुद्गल पद
२३९. सूत्रकृतांग टीका, पृ. २५१
२४०. समाधितन्त्र, श्लोक ३०, उद्धृत नयचक्र के पृष्ठ ३ से
२४१. नैवासतो जन्म सतो न नाशो। दीपस्तमः पुद्गलभावतोऽस्ति॥ -स्वयंभूस्तोत्र
२४२. राजवार्तिक, ७/१२/२/५३९/८, उद्धृत जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश, भाग चतुर्थ, पृ. ५०६
२४३. कसायपाहुड, १/४, २२/६२३/३८७/३ उद्धृत जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश, भाग चतुर्थ, पृ. ५०६
२४४. प्रवचनसार, गाथा ९९
२४५. दव्वगुणपज्जयत्थो अत्थो अत्थित्तणिव्वत्तो- प्रवचनसार, श्लोक १०
२४६. सम्भावो हि सहावो गुणेहिं सगपज्जएहिं चित्तेहिं।
दव्वस्स सव्वकालं उप्पादव्वयधुवत्तेहिं॥ -प्रवचनसार, गाथा ९६
२४७. अपरिच्चत्तसहावेणुप्पादव्वयधुवत्तसंबद्धं।
गुणवं च सपज्जायं जं तं दव्वं ति वुच्चंति॥ -प्रवचनसार, गाथा, ९५
२४८. दव्व सहावसिद्धं सदिति जिणा तच्चदो समवरवादा। -प्रवचनसार, गाथा ९८
२४९. प्रवचनसार, गाथा १० पर तत्त्वप्रदीपिका टीका
२५०. प्रवचनसार, गाथा ९८ पर अमृतचन्द्राचार्य विरचित टीका
२५१. स्वभावसिद्धत्वं तु तेषामनादिनिधनत्वात्। अनादिनिधनं हि न साधनान्तरमपेक्षते।
-प्रवचनसार, गाथा ९८ की टीका
२५२. प्रवचनसार, गाथा ६४
२५३. "येषां जीवदवस्थानि हतकानीन्द्रियाणि, न नाम तेषामुपाधिप्रत्ययं दुःखम्, किन्तु स्वाभाविकमेव, विषयेषु रतेखलोकनात्। अवलोक्यते हि तेषां स्तम्बेरमस्य

करेणुकुट्टनीगात्रस्पर्शा इव, सफरस्य बडिशामिषस्वाद इव, इन्दिरस्य संकोचसंमुखारविन्दाभोद इव, पतंगस्य प्रदीपार्चौरूप इव, कुरंगस्य मृगयुगेयस्वर इव, दुर्निवारेन्द्रियवेदनावशीकृतानामासन्ननिपातेष्वपि विषयेष्वभिपातः। यदि पुनर्न तेषां दुःखं स्वाभाविकमभ्युपगम्येत तदोपशांतशीतज्वरस्य संस्वेदनमिव, प्रहीणदाहज्वरस्यारनालपरिषेक इव, निवृत्तनेत्रसंरम्भस्य वटाचूर्णावचूर्णमिव, विनष्टकर्णशूलस्य बस्तपूरणमिव, रूढव्रणस्यालेपनदानमिव, विषयव्यापारो न दृश्यते। दृश्यते चासौ। ततः स्वभावभूतदुःखयोगिन एव जीवदिन्द्रियाः परोक्षज्ञानिनः”।
-प्रवचनसार गाथा ६४ की टीका

२५४. प्रवचनसार, गाथा ६६

२५५. नयचक्र, भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली, श्लोक ४

२५६. ‘सिद्धान्ताचार्य पं. फूलचन्द्र शास्त्री अभिनन्दन ग्रन्थ’, चतुर्थ खण्ड, स्वभाव-परभावविचार, पृ. २९८

२५७. सर्वार्थसिद्धि, अध्याय ५, सूत्र ७ की टीका

२५८. कार्तिकेयानुप्रेक्षा, गाथा ४७८ का अंश

२५९. ‘शान्ति पथ प्रदर्शन’, दर्शन खण्ड, अध्याय ११, पृ. ६४

२६०. नयचक्र, गाथा ५८

२६१. आलाप पद्धति, स्वभाव व्युत्पत्ति अधिकार, सूत्र १०६

२६२. आलाप पद्धति, स्वभाव व्युत्पत्ति अधिकार, सूत्र १०७

२६३. आलाप पद्धति, स्वभाव व्युत्पत्ति अधिकार, सूत्र १०८

२६४. आलाप पद्धति, स्वभाव व्युत्पत्ति अधिकार, सूत्र १०९

२६५. आलाप पद्धति, स्वभाव व्युत्पत्ति अधिकार, सूत्र ११०

२६६. आलाप पद्धति, स्वभाव व्युत्पत्ति अधिकार, सूत्र १११

२६७. आलाप पद्धति, स्वभाव व्युत्पत्ति अधिकार, सूत्र ११२

२६८. आलाप पद्धति, स्वभाव व्युत्पत्ति अधिकार, सूत्र ११३

२६९. आलाप पद्धति, स्वभाव व्युत्पत्ति अधिकार, सूत्र ११४

२७०. आलाप पद्धति, स्वभाव व्युत्पत्ति अधिकार, सूत्र ११५

२७१. आलाप पद्धति, स्वभाव व्युत्पत्ति अधिकार, सूत्र ११६

२७२. नयचक्र, श्लोक ५९
२७३. नयचक्र, श्लोक ६३ का अंश
२७४. नयचक्र, श्लोक ६३ का अंश
२७५. नयचक्र, श्लोक ६३ का अंश
२७६. नयचक्र, श्लोक ६३ का अंश
२७७. नयचक्र, श्लोक ६४ का अंश
२७८. नयचक्र, श्लोक ६४
२७९. नयचक्र, श्लोक ६४
२८०. नयचक्र, श्लोक ६५
२८१. नयचक्र, श्लोक ६५
२८२. नयचक्र, श्लोक ६५
२८३. 'गुणाविकाराः पर्यायाः।' -आलाप पद्धति, पर्याय अधिकार, सूत्र १५
२८४. ते द्वेधा। अर्थ-व्यंजनपर्याय भेदात्। अर्थपर्यायाः द्विविधाः स्वभावविभावभेदात्।
-आलाप पद्धति, पर्याय अधिकार, सूत्र १५, १६
२८५. 'योगशास्त्र पर दैनिक प्रवचन' -संकलनकर्ता-मुनि जगत्चन्द्र विजय
(प्रवचन पन्थास श्री धरणेन्द्रसागर जी म.सा.) ८०६, चौपासनी रोड, जोधपुर,
अध्याय १७
२८६. हरिवंश पुराण, पृष्ठ १८९, श्लोक १३
२८७. गीता ५.१४
२८८. महाभारत, शांति पर्व, २३२.१९
२८९. महाभारत, शांति पर्व, २३२.२३
२९०. महाभारत, शांति पर्व, २३७.५
२९१. बुद्धचरित, सर्ग ९, श्लोक ५८
२९२. बुद्धचरित, सर्ग ९, श्लोक ६२
२९३. बृहत्संहिता, अध्याय १, सूत्र ७
२९४. सांख्यकारिका, ५५

२३६ जैनदर्शन में कारण-कार्य व्यवस्था : एक समन्वयात्मक दृष्टिकोण

२९५. सांख्यतत्त्व कौमुदी, कारिका ५५ की ज्योतिषमती व्याख्या

२९६. न्यायदर्शन, अध्ययन ४, अह्निक १, सूत्र २२

२९७. वाक्यपदीय, वाक्य काण्ड, कारिका १४९

२९८. तत्त्व संग्रह, श्लोक १११

२९९. प्रश्नव्याकरण सूत्र, अधर्म द्वार, मृषावादी, सूत्र ७ पर अभयदेव वृत्ति

३००. शास्त्रवार्ता समुच्चय, स्तबक २, श्लोक ५८ का अंश

३०१. आचारांग सूत्र १.१.१.३ की शीलांक टीका

३०२. द्वादशारनयचक्र, प्रथम भाग, पृष्ठ २२२

३०३. विशेषावश्यक भाष्य, गाथा १६४३ की टीका

३०४. शास्त्रवार्ता समुच्चय, स्तबक २, श्लोक ७६

३०५. सन्मति तर्क ३.५३ पर अभयदेव टीका



चतुर्थ अध्याय

नियतिवाद

उत्थापनिका

भारतीय दर्शन की परम्परा में कारण-कार्य पर गहन विचार हुआ है। मंखलिगोशालक की आजीवक सम्प्रदाय का मानना था कि सभी कार्य नियति से ही सम्पन्न होते हैं। प्राचीन वाङ्मय का अध्ययन करने पर विदित होता है कि नियतिवाद मंखलिपुत्र गोशालक की मान्यता के रूप में ही नहीं, अपितु भारतीय मनीषियों की बहुसम्मत मान्यता के रूप में प्रतिष्ठित रहा है। आगम, त्रिपिटक, उपनिषद्, पुराण, संस्कृत महाकाव्य एवं नाटकों में भी नियति के महत्त्व को स्पष्ट करने वाले उल्लेख उपलब्ध होते हैं।

सूर्य का उदय-अस्त होना और उसके साथ कमल का खिलना-मुझना, अग्नि का उष्ण होना और ऊर्ध्वगमन करना, जल का शीतल होना, क्रमशः दिन-रात का होना, मिट्टी से ही घड़ा बनना, बबूल के बीज से बबूल और आम के बीज से आम ही उगना, काँटों का तीखा होना, फूलों का कोमल होना, सर्दी के बाद गर्मी और गर्मी के बाद वर्षा ऋतु का आना, पतझड़ के मौसम में पत्ते गिरना, चैत्र में नवीन कोंपल फूटना, सावन में बरसात का होना, जन्म के साथ मृत्यु का निश्चित होना, मानव से मानव का पैदा होना, आँख से ही देखना, कान से ही सुनना, नाक से ही सूँघना, नक्षत्रों का एक क्रम से बदलना, सूरज का गरम होना और चाँद का शीतल होना, चन्द्रमा का क्रम से घटना-बढ़ना, प्रत्येक द्रव्य का पर्याय-परिणामन होना आदि दृश्यमान घटनाओं और कार्यों में नियमितता, क्रमिकता और निश्चितता को देखकर नियति के अतिरिक्त अन्य कारण को स्वीकार करना अशक्य प्रतीत होता है। इस प्रकार नियतिमात्र की कारणता का कथन करना नियतिवाद है। नियतिवाद की मान्यता है कि जगत् में नियति ही सबका कारण है और समस्त कर्मों का साधन है। आदिकाव्य रामायण में कहा गया है- 'नियतिः कारणं लोके, नियतिः कर्मसाधनम्'^१ अर्थात् संसार में नियति ही कारण है और नियति ही कर्म का साधन है।

सूत्रकृतांग और प्रश्नव्याकरण की टीका में तथा सन्मतितर्क, शास्त्रवार्ता समुच्चय, उपदेशपद महाग्रन्थ, लोकतत्त्व निर्णय आदि दार्शनिक ग्रन्थों में जहाँ कहीं नियतिवाद का मन्तव्य प्रस्तुत हुआ है, वहाँ निम्न श्लोक नियतिवाद के दर्पण के रूप में अंकित हुआ है-

प्राप्तव्यो नियतिबलाश्रयेण योऽर्थः, सोऽवश्यं भवति नृणां शुभोऽशुभो वा।

भूतानां महति कृतेऽपि हि प्रयत्ने, नाभाव्यं भवति न भाविनोऽस्ति नाशः।।^१

जो पदार्थ नियति के बल के आश्रय से प्राप्तव्य होता है वह शुभ या अशुभ पदार्थ मनुष्यों (जीव-मात्र) को अवश्य प्राप्त होता है। प्राणियों के द्वारा महान् प्रयत्न करने पर भी अभाव्य कभी नहीं होता है तथा भावी का नाश नहीं होता है। इन्हीं भावों का प्रतिरूप श्लोक महाभारत में भी उपलब्ध है-

यथा यथास्य प्राप्तव्यं प्राप्नोत्येव तथा तथा।

भवितव्यं यथा यच्च भवत्येव तथा तथा।।^२

पुरुष को जो वस्तु जिस प्रकार मिलने वाली होती है, वह उसी प्रकार मिल ही जाती है। जिसकी जैसी होनहार होती है, वह वैसी होती ही है। हितोपदेश में भी दैव का स्वरूप प्रतिपादित करते हुए इन्हीं भावों से संपृक्त श्लोक उपलब्ध होता है।^३

वेद में स्पष्ट रूप से नियतिवाद विषयक कोई भी सूक्त या मन्त्र समुपलब्ध नहीं है। किन्तु पं. मधुसूदन ओझा ने नासदीय सूक्त के आधार पर दश वादों का उत्थापन किया है, उसमें अपरवाद के अन्तर्गत नियतिवाद का निरूपण किया है। उपनिषद् वाङ्मय में नियतिवाद का स्पष्ट उल्लेख सम्प्राप्त होता है। श्वेताश्वतरोपनिषद् में वैदिक कालीन मत के रूप में तथा महोपनिषद् व भावोपनिषद् में नियामक तत्त्व के रूप में नियति का प्रतिपादन हुआ है।^४

‘दुर्वारा हि भवितव्यता’, ‘दुर्लङ्घ्यं भवितव्यता’ उक्तियों से हरिवंश पुराण में भी नियतिवाद की पुष्टि स्पष्ट दिखाई देती है। वर्तमान परिस्थिति में भवितव्य की प्रबलता कारण है-ऐसा मन्तव्य वामन पुराण में प्रस्तुत है। नारदीय पुराण में समस्त जगत् को दैव अर्थात् नियति के अधीन कहा है- ‘दैवाधीनमिदं सर्वं जगत्स्थावर जंगमम्’^५

उत्तम कुल में जन्म, पुरुषार्थ, आरोग्य, सौन्दर्य, सौभाग्य, उपभोग, अप्रिय वस्तुओं के साथ संयोग, अत्यन्त प्रिय वस्तुओं का वियोग, अर्थ, अनर्थ, सुख और दुःख इन सबकी प्राप्ति प्रारब्ध के विधान के अनुसार होती है। यहाँ तक कि प्राणियों की उत्पत्ति, देहावसान, लाभ और हानि में भी प्रारब्ध ही प्रवृत्त होता है- इन विचारों से कलित श्लोक महाभारत में प्राप्त होते हैं।^६

आचार्य मम्मट द्वारा रचित काव्यप्रकाश के टीकाकारों ने असाधारण धर्म के नियामक तत्त्व, कर्म के अपर पर्याय, अदृष्ट, नियामक शक्ति और दैव के रूप में

‘नियति’ शब्द की व्याख्या की है। ‘शक्तो न कोऽपि भवितव्याविलंघनायाम्’^१ अर्थात् भवितव्यता का उल्लंघन करने का सामर्थ्य किसी में नहीं है- ऐसा कल्हण का मानना है।

नियति के अभिप्राय में संस्कृत युग में भवितव्यता शब्द अधिक प्रचलन में था, ऐसा संस्कृत ग्रन्थों में बहुलता से प्रयुक्त भवितव्य शब्द प्रतीति कराता है। शाकुन्तलम् की कुछ सूक्तियाँ नियति के संबंध में अत्यधिक लोकप्रिय हैं- ‘भवितव्यानां द्वाराणि भवन्ति सर्वत्र’, ‘भवितव्यता खलु बलवती’।^२ पंचतन्त्र और हितोपदेश में भवितव्यता को अटल बताया गया है।^३ संस्कृत साहित्य में नियति के लिए दैव, भवितव्यता, भाग्य और विधि शब्दों के प्रयोग देखे जाते हैं।

दार्शनिक साहित्य के अन्तर्गत मुख्य रूप से जैन और बौद्ध ग्रन्थों में ही नियति की चर्चा समुपलब्ध है। शैव दर्शन में नियति को एक तत्त्व स्वीकार किया गया है। योगवासिष्ठ में नियति के पर्याय माने जाने वाले दैव और नियति का पृथक्-पृथक् स्वरूप प्रतिपादित हुआ है। इस ग्रन्थ में ‘नियति’ कार्य एवं पदार्थों के स्वभाव की निश्चितता या भवितव्यता के रूप में तथा ‘दैव’ पूर्वकृत कर्म के रूप में प्रतिष्ठित हुआ है। यहाँ नियति के साथ पुरुषार्थ का योग मानते हुए नियतिवाद का निरसन भी किया गया है। ‘नियतिसंगतिभावपरिणता छस्वेवाभिजातीसु सुखदुःखं पटिसंवेदेन्ति’^४ अर्थात् नियति के संग के भाव से परिणत होकर ६ प्रकार की अभिजातियों में सुख-दुःख का संवेदन करते हैं। इन भावों से संवलित बौद्ध त्रिपिटक में दीघनिकाय के प्रथम भाग में मंखलि गोशालक का मत प्रस्तुत हुआ है। भगवान् महावीर और बुद्ध के समय में आजीवक मत प्रचलित था और उसका प्रणेता मंखलि गोशालक था। चूँकि ये मतावलम्बी सभी कार्य नियतिजन्य स्वीकार करते थे, अतः नियतिवादी के नाम से पहचाने जाने लगे।

आगम युग और वैदिक काल में नियति के सदृश विभिन्न कारणता के सिद्धान्त प्रचलन में थे, जिनका उल्लेख प्रश्नव्याकरण सूत्र में ‘मृषावाद’^५ के अन्तर्गत तथा श्वेताश्वतरोपनिषद्^६ में प्राप्त होता है। जो सिद्धान्त अधिक विकसित हुए, उनके ही पृथक् ग्रन्थ रचे गए। किन्तु वर्तमान में वे प्राप्त नहीं होते हैं। साथ में इन ग्रन्थों के रचयिता के नाम भी लुप्त हो गए। जैसे नियति को कारण मानने वाले आजीवक मतावलम्बी थे, संभावना है कि वैसे ही कालवाद, स्वभाववाद सिद्धान्त के मतावलम्बी रहे होंगे। चूँकि इनकी परम्परा नष्ट हो गई तो ये सिद्धान्त ही उन मतावलम्बियों की पहचान बन गए। मत का रूपान्तरण सिद्धान्त में होने से आजीवक मत भी नियतिवाद के नाम से दार्शनिक जगत् में प्रसिद्ध हो गया।

मंखलि गोशालक के मान्य सिद्धान्तों का कोई लिखित व्याख्या ग्रन्थ नहीं है। इस स्थिति में जैन-बौद्ध आगमों में प्राप्त मंखलि गोशालक की चर्चा ही नियतिवाद को प्रकाशित करने का प्रमुख माध्यम है। सूत्रकृतांग, भगवती और उपासकदशांग जैसे प्रमुख जैनागमों में नियतिवाद का उपस्थापन हुआ है। क्रियावादी-अक्रियावादी को नियति के अधीन स्वीकार करते हुए सूत्रकृतांग में कहा है- 'जे य पुरिसे किरियमाइक्खइ, जे य पुरिसे णोकिरियमाइक्खइ, दो वि ते पुरिमा तुल्ला एगद्धा कारणमावन्ना।'^{१५} अर्थात् नियति की प्रेरणा से क्रियावादी क्रिया का समर्थन करता है और अक्रियावादी अक्रिया का प्रतिपादन करता है। नियति के अधीन होने के कारण ये दोनों ही समान हैं। भगवती सूत्र के १५वें शतक में नियतिवाद के निरूपक गोशालक का विस्तार से परिचय सम्प्राप्त होता है। उपासकदशांग सूत्र में आजीवक मत के उपासक सकडालपुत्र का भगवान महावीर के साथ संवाद समुपलब्ध है।^{१६}

आचारांग सूत्र और सूत्रकृतांग की शीलांक टीकाओं में भी विभिन्न कोणों से नियतिवाद का निरूपण मिलता है। नन्दीसूत्र की अवचूरि में लिखा है-

नियतेनैव रूपेण, सर्वे भावा भवन्ति यत्।

ततो नियतिजा ह्येते, तत्स्वरूपानुबेधतः।।^{१७}

नियत रूप से ही सब पदार्थ उत्पन्न होते हैं। इसलिए ये अपने स्वरूप से नियतिज हैं। अवचूरि में आए नियतिवाद के अंश को ही हरिभद्र सूरि ने षड्दर्शनसमुच्चय में उद्धृत किया है।^{१८}

सिद्धसेन दिवाकर ने द्वात्रिंशत्-द्वात्रिंशिका के अन्तर्गत सोलहवीं द्वात्रिंशिका नियति पर ही रची है, जिसका नाम 'नियति द्वात्रिंशिका' है। इस द्वात्रिंशिका में आचार्य सिद्धसेन ने नियतिवाद की सिद्धि में कर्तृत्ववाद का खण्डन और नियतिवाद का स्वरूप प्रस्तुत किया है। इसमें विशेष बात यह है कि नियति शब्द का एक बार के प्रयोग के बिना भी इसमें सम्पूर्ण नियतिवाद को प्रस्तुत कर लेखक ने अपनी लेखनी की अद्भुतता प्रकट की है। 'गागर में सागर' उक्ति को चरितार्थ करने वाले इस द्वात्रिंशिका के श्लोकों का सुन्दर एवं सटीक विवेचन आचार्य विजयलावण्य सूरि ने अपनी टीका में किया है।

आचार्य हरिभद्रसूरि (८वीं शती) ने भी यथाप्रसंग नियतिवाद का स्वरूप अपने ग्रन्थों में उद्घाटित किया है। शास्त्रवार्तासमुच्चय, धर्मसंग्रहणि, लोकतत्त्व निर्णय, षड्दर्शन समुच्चय आदि ग्रन्थों में नियतिवाद के निरूपण के साथ निरसन भी

प्राप्त होता है। इसके अतिरिक्त मल्लवादी क्षमाश्रमण (५वीं शती) ने द्वादशारनयचक्र में, शीलाकाचार्य (९-१०वीं शती) ने सूत्रकृतांग टीका में, अभयदेवसूरि (१०वीं शती) ने तत्त्वबोधविधायिनी में और नवांगी टीकाकार अभयदेवसूरि (११वीं शती) व ज्ञानविमलसूरि ने प्रश्नव्याकरण की टीका में सबल तर्कों द्वारा नियतिवाद को मिथ्या सिद्ध किया है।

बीसवीं शती में क्षुल्लक जिनेन्द्रवर्णी ने द्रव्य, क्षेत्र, काल व भाव रूप चतुष्टय से समुदित कार्यव्यवस्था को 'नियति' कहा है।^{१९} काल की अपेक्षा से नियति को काललब्धि भी कहा जा सकता है। काललब्धि जैन पारिभाषिक शब्द है जो नियति या काल की कथंचित् कारणता को मान्य करता हुआ पुरुषार्थ आदि के लिए मार्ग प्रशस्त करता है। अध्याय में कथंचित् नियति को जैन दर्शन में स्वीकार करते हुए काललब्धि, सर्वज्ञता और क्रमबद्धपर्याय को एकान्त नियतिवाद से पृथक् सिद्ध किया गया है, क्योंकि जैन दर्शन में नियति को कारण मानते हुए भी उसमें काल, स्वभावादि अन्य कारणों को भी स्थान दिया गया है। नियतिवाद के साथ पूर्वकृत कर्म और पुरुषार्थ पर भी चिन्तन किया गया है।

गोम्पटसार कर्मकाण्ड और स्वाभिकार्तिकयानुप्रेक्षा में द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव के चतुष्टय से नियति को व्याख्यायित किया गया है। स्वयम्भूस्तोत्र-तत्त्वप्रदीपिका में उपादान शक्ति को भवितव्यता का नाम दिया गया है और कहा गया है- 'अलङ्घ्याशक्तिर्भवितव्यतेयं हेतुद्वयाविष्कृतकार्यलिङ्गा'^{२०} अर्थात् उपादान और निमित्त इन दोनों हेतुओं द्वारा उत्पन्न होने वाले कार्य से जिसका ज्ञान होता है, ऐसी भवितव्यता दुर्निवार है। आचार्य महाप्रज्ञ ने नियति को जागतिक नियम, सार्वभौम नियम या यूनिवर्सल लॉ के रूप में समादृत किया है।

यहाँ नियतिवाद के प्ररूपक गोशालक का परिचय देने के अनन्तर वेद, उपनिषद्, पुराण, रामायण-महाभारत, संस्कृत काव्य, नाटक आदि विभिन्न ग्रन्थों के आधार पर नियतिवाद का प्रतिपादन करते हुए बौद्ध और जैनदर्शन में मान्य 'नियति' के स्वरूप की चर्चा की जाएगी। फिर जैन दर्शन के ग्रन्थों में चर्चित नियतिवाद का निरूपण कर उनका निरसन प्रस्तुत किया जाएगा।

नियतिवाद के प्ररूपक गोशालक- एक परिचय

जैनागम व्याख्याप्रज्ञप्ति सूत्र के पन्द्रहवें शतक में नियतिवाद के निरूपक गोशालक का विस्तार से परिचय सम्प्राप्त होता है। उसी के आधार पर यहाँ विवेचन किया जा रहा है-

माता-पिता का परिचय, जन्मस्थान एवं आजीविकोपार्जन

गोशालक के पिता मंखली और माता भद्रा थी। भिक्षावृत्ति द्वारा अपना जीवन यापन करते हुए मंखली व भद्रा क्रमशः ग्रामानुग्राम विचरण करते हुए शरवण नामक सन्निवेश के गोबहुल ब्राह्मण की गोशाला में आए। वर्षावास के अनन्तर भद्रा ने एक सुकुमार पुत्र को जन्म दिया। वह भी बड़ा होकर मंख वृत्ति (भिक्षा वृत्ति) से अपना जीवन व्यतीत करने लगा।

महावीर से प्रथम मिलन एवं उनका शिष्यत्व

वह ग्रामों में विचरण करता हुआ राजगृह नगर के नालंदा पाड़ा के बाहरी भाग में तन्तुवाय शाला में रुका। यहीं भगवान महावीर के साथ गोशालक का प्रथम समागम हुआ। फिर वह भगवान के साथ विचरण करने लगा। विजय गाथापति के घर में भगवत्पारणा और पंचदिव्य प्रादुर्भाव देखकर वह भगवान से अत्यधिक प्रभावित हुआ, तब उसने कहा— 'तुब्भे णं भंते! ममं धम्मायरिया, अहं णं तुब्भं धम्मंतेवासी'^{२१} अर्थात् भगवन्! आप मेरे धर्माचार्य हैं और मैं आपका धर्मशिष्य हूँ। उसके पुनः पुनः कहने पर भगवान ने उसे अपना शिष्य स्वीकार कर लिया।^{२२} ६ वर्ष तक गोशालक भगवान महावीर के साथ विचरण करता रहा।

भगवान द्वारा तेजोलेश्या से गोशालक का बचाव

एक बार भगवान विचरण करते हुए गोशालक के साथ कूर्मग्राम नगर में पधारे। वहाँ वेश्यायन नामक तपस्वी निरन्तर छठ-छठ (दो-दो उपवास) तप तथा कर्म करने के साथ-साथ दोनों भुजाएँ ऊँची रखकर सूर्य के सम्मुख खड़े होकर आतापन भूमि में आतापना ले रहे थे। अपने सिर से नीचे गिरती हुई जुओं को दयावश पुनः वे तपस्वी मस्तक पर रख रहे थे।

“क्या आप तत्त्वज्ञ या तपस्वी मुनि हैं या जुओं के शय्यातर हैं?” इस प्रकार दो-तीन बार कहकर गोशालक ने उनको छेड़ा तो क्रुपित होकर उन्होंने उस पर तेजोलेश्या छोड़ दी। अनुकम्पा के भाव से भगवान ने उस तेजोलेश्या के प्रतिसंहरण हेतु शीतल तेजोलेश्या छोड़ी। जिससे उष्ण तेजोलेश्या का प्रतिघात हुआ और गोशालक बच गया।

तेजोलेश्या-प्राप्ति की विधि पूछने पर भगवान बतलाते हैं— “गोशालक! नखसहित बन्द की हुई मुट्ठी में जितने उड़द के बाकुले आवें तथा एक चुल्लू भर पानी से निरन्तर बेले-बेले के तपश्चरण के साथ दोनों भुजाएँ ऊँची रखकर आतापना लेता रहता है, उस व्यक्ति को छह महीने के अन्त में संक्षिप्त और विपुल तेजोलेश्या प्राप्त होती है।”^{२३}

तिल के पादप की घटना और नियतिवाद

सिद्धार्थग्राम नगर से कूर्मग्राम नगर की ओर जाते समय तिल के एक पौधे को देखकर गोशालक ने भगवान से दो प्रश्न पूछे- १. क्या यह तिल का पौधा निष्पन्न होगा? २. इसके सात तिल पुष्पों से जीव मर कर कहाँ उत्पन्न होंगे?

भगवान ने उत्तर दिया- यह निष्पन्न होगा और ये सात तिल के फूल मर कर इसी तिल के पौधे की एक तिलफली में सात तिलों के रूप में उत्पन्न होंगे। गोशालक ने भगवान की वाणी को मिथ्या करने हेतु उस तिल के पौधे को मिट्टी सहित समूल उखाड़ एक ओर फेंक दिया। फिर वह भगवान के साथ आगे प्रस्थान कर गया। कुछ ही देर बाद आकाश में बादल आए और बरस गए। जिससे तिल का पौधा पुनः वहीं स्थापित हो गया और वे सात तिल के फूलों के जीव मरकर पुनः उसी तिल के पौधे की एक फली में सात तिल के रूप में उत्पन्न हुए।

कुछ दिनों पश्चात् कूर्मग्राम से पुनः सिद्धार्थग्राम की ओर जाते हुए उस स्थान के निकट आए, जहाँ वह तिल का पौधा था। उस स्थान पर तिल का पौधा न देखकर मंखलि ने भगवान से कहा कि आपकी बात मिथ्या सिद्ध हुई।

तब भगवान ने कुछ दूरी पर विकसित तिल के पौधे को दिखाकर बताया कि यह वही तिल का पौधा है जिसको उखाड़कर तूने यहाँ फेंका था और बरसात से वह पुनः पनप गया। इस प्रकार यह तिल का पौधा निष्पन्न हुआ तथा वे सात फूल के जीव इसी तिल के पौधे की एक तिलफली में सात तिल के रूप में उत्पन्न हुए। इस प्रकार हे गोशालक! वनस्पतिकायिक जीव मरकर उसी वनस्पतिकायिक के शरीर में पुनः उत्पन्न हो जाते हैं।

इस बात पर अश्रद्धा होने से वह गोशालक उस तिल के पौधे के पास पहुँचा और उसकी तिलफली को तोड़कर उसमें से तिल बाहर निकाले। उन्हें संख्या में सात देखकर उसे यह निश्चय हो गया कि जीव मरकर पुनः उसी शरीर में उत्पन्न हुए हैं। इसके बाद वह भगवान से अलग होकर अपना नया आजीवक मत का प्रचार करने लगा। पूर्वोक्त प्रकरण से अनुमान किया जा सकता है कि संभवतः इसी घटना प्रसंग को आधार मानकर गोशालक ने सभी वस्तुओं को नियतिकृत मान लिया तथा इसी मूल से आजीवक मतरूपी वृक्ष विकास को प्राप्त हुआ।

निमित्तज्ञ गोशालक की परम्परा का प्रवर्तन

अष्टांग महानिमित्तों का ज्ञाता मंखलिपुत्र गोशालक सभी प्राणों, सभी भूतों, सभी जीवों और सभी सत्त्वों के लिए छह अनतिक्रमणीय विषय बताता था। १. लाभ

२. अलाभ ३. सुख ४. दुःख ५. जीवन और ६. मरण। लोगों के जीवन की इन छह बातों का उत्तर वह अष्टांग महानिमित्त शास्त्र के माध्यम से देता था।^{३४} तेजोलेश्या प्राप्ति के बाद मंखलिपुत्र गोशालक के पास ६ दिशाचर शिष्यभाव से दीक्षित हुए- १. शोण २. कनन्द ३. कर्णिकर ४. अच्छिद्र ५. अग्निवैश्यायन ६. गौतम (गोमायु)-पुत्र अर्जुन। इन्होंने आजीवक मत का खूब प्रचार-प्रसार किया।^{३५}

गोशालक को 'जिन' होने का भ्रम तथा असत्प्ररूपण

गोशालक अहंकारवश प्रलाप करता है और स्वयं को 'जिन' कहता हुआ नगर में भ्रमण करता है। जब वह भगवान द्वारा अपने अजिनत्व का प्रकाशन सुनता है तो कुपित हो जाता है। एक बार कुपित होकर वह भगवान की सभा में गया और कहा- "जो मंखलिपुत्र गोशालक तुम्हारा शिष्य था, वह तो शुक्ल (पवित्र) और शुक्लाभिजात (पवित्र परिणाम वाला) होकर काल करके किसी देवलोक में देवरूप में उत्पन्न हो चुका है। मैं तो कौण्डिन्यायन गोत्रीय उदायी हूँ। मैंने गौतमपुत्र अर्जुन के शरीर का त्याग किया, फिर मंखलिपुत्र गोशालक के शरीर में प्रवेश किया। मंखलिपुत्र गोशालक के शरीर में प्रवेश करके मैंने यह सातवाँ परिवृत्त परिहार (शरीरान्तर प्रवेश) किया है।"

"हे आयुष्मन् काश्यप! हमारे सिद्धान्त के अनुसार जो भी सिद्ध हुए हैं, सिद्ध होते हैं अथवा सिद्ध होंगे, वे सब (पहले) चौरासी लाख महाकल्प (कालविशेष), सात दिव्य (देवभव), सात संयूथ-निकाय, सात संजीर्गर्भ (मनुष्य-गर्भावास), सात परिवृत्त-परिहार (उसी शरीर में पुनः-पुनः प्रवेश-उत्पत्ति) और पाँच लाख, साठ हजार छह सौ तीन कर्मों के भेदों को अनुक्रम से क्षय करके तत्पश्चात् सिद्ध होते हैं, बुद्ध होते हैं, मुक्त होते हैं, निर्वाण प्राप्त करते हैं और समस्त दुःखों का अन्त करते हैं। भूतकाल में ऐसा किया है, वर्तमान में करते हैं और भविष्य में ऐसा करेंगे।"^{३६} इस प्रकार मुक्ति प्रक्रिया बताते हुए मंखलिपुत्र गोशालक को स्वयं से भिन्न सिद्ध करता है।

भगवान महावीर और उनके शिष्यों पर गोशालक का कोप

भगवान महावीर उसकी बात अस्वीकार करते हुए कहते हैं- "तुम वही मंखलि गोशालक हो, अन्य नहीं।" तब वह अत्यंत क्रुद्ध होकर आक्रोशपूर्ण वचनों से भगवान की भर्त्सना, अपमान, तिरस्कार करता है। वहाँ उपस्थित सर्वानुभूति अणगार और सुनक्षत्र अणगार उसका प्रतिकार करते हैं तो मंखलि गोशालक उन पर तेजोलेश्या का प्रहार कर उनको भस्म कर देता है। उसके इस कृत्य पर भगवान उसको सदुपदेश देते हैं, किन्तु वह इस बात से अत्यधिक क्रुद्ध होकर तेजोलेश्या से भगवान पर प्रहार करता है। तेजोलेश्या का प्रभाव भगवान महावीर पर नहीं होता। तेजोलेश्या उनकी

प्रदक्षिणा कर ऊपर आकाश में चली जाती है तथा वहाँ से पुनः लौटकर उसी मंखलिपुत्र गोशालक के शरीर में प्रविष्ट हो जाती है।

श्रमणनिर्ग्रन्थों की गोशालक से धर्मचर्चा

गोशालक के तेज को लुप्त और विनष्ट देखकर भगवान ने श्रमणों को गोशालक से धर्मसंबंधी वाद-विवाद करने का आदेश दिया। श्रमण निर्ग्रन्थों ने गोशालक के साथ धर्मचर्चा की और विभिन्न युक्तियों, तर्कों और हेतुओं से उसे निरुत्तर कर दिया।^{२९} इससे प्रभावित होकर आजीवक स्थविर भगवान महावीर के आश्रय में रहने लगे। इस प्रकार श्रमण निर्ग्रन्थों ने लोगों के हृदय में जिनमत को स्थापित किया।

व्याख्याप्रज्ञप्ति के इस उल्लेख से ऐसा प्रतीत होता है कि भगवान महावीर के समय ही आजीवक-सम्प्रदाय के लोग निर्ग्रन्थ(जैन) परम्परा में सम्मिलित होने लगे थे।

गोशालक को सम्यक्त्व की प्राप्ति और स्वर्गगमन

मरणासन्न गोशालक को जब मनोगत संकल्प समुत्पन्न हुआ कि- “मैं वास्तव में जिन नहीं हूँ, तथापि मैं जिनप्रलापी यावत् जिन शब्द से स्वयं को प्रकट करता हुआ विचरता रहा हूँ। ऐसा चिन्तन करने पर सम्यक्त्व की प्राप्ति हुई। उसने अपने शिष्यों से कहा कि असत्कारपूर्वक मेरे मृत शरीर का निष्क्रमण करना। मरणोपरान्त उनके कहे अनुसार शिष्य तीन बार उनके मुख में थूककर, रस्सी से घसीटते हुए, धीमे स्वरों में उसकी निन्दा करते हुए श्रावस्ती नगरी के मार्ग से ले गए। फिर उनके मृत शरीर को सुगन्धित गन्धोदक से नहलाया और महान् ऋद्धिसत्कार-समुदाय के साथ मृत शरीर का निष्क्रमण किया।

भगवान महावीर से गणधर गौतम द्वारा प्रश्न किए जाने पर भगवान ने बताया कि गोशालक का जीव अच्युतकल्प देवलोक में उत्पन्न होगा तथा अनेक भव-भ्रमण कर अन्त में मोक्ष प्राप्त करेगा।

वैदिक वाङ्मय में नियति की चर्चा : पं. ओझा का मत

नियतिवाद के संबंध में किसी प्रकार का संकेत वेद में प्राप्त नहीं होता, किन्तु पं. मधुसूदन ओझा ने अपनी सूक्ष्मेक्षिका से नासदीय सूक्त के आधार पर जगदुत्पत्ति के संबंध में दश वाद प्रस्तुत किए हैं। उसमें अपरवाद के अन्तर्गत स्वभाववाद को चार रूपों में प्रस्तुत करते हुए नियतिवाद को उसका एक रूप बताया है तथा उसका स्वरूप निम्न प्रकार से प्रतिपादित किया है-

यदैव यद्यावदथो यतो वा तदैव तत्तावदथो ततो वा।

प्रजायतेऽस्मिन्नियतं नियत्याक्रान्तं हि पश्याम इदं समस्तम्।^{३८}

जब भी, जो, जितना, जिससे, जैसे हुआ है, तब ही, वह उतना, उससे, वैसे ही होता है। इस प्रकार इस संसार में सब कुछ नियत रूप से उत्पन्न होता है और नियति से आक्रान्त ही सब कुछ प्राप्त होता है। उदाहरण से स्पष्ट करते हुए पं. ओझा ने कहा है-

पुरा तिलात् तैलमजायतैव तज्जायतेऽद्यापि जनिष्यते च।

अत्रापि जातं बहुदूरदेशान्तरेऽपि तत् तद्वदुपैति जन्म।^{३९}

प्राचीन काल में भी तिलों से तेल होता था, आज भी होता है और भविष्य में भी होता रहेगा। यहाँ भी तिलों से तेल होता है तथा दूर-देशान्तरों में भी होता रहेगा। नियति के इस नियम से ही सर्वत्र पदार्थ की उत्पत्ति होती है। तात्पर्य यह है कि तिलों से तेल का होना एक नियत सार्वभौम तथ्य है, जिसके साथ काल विशेष और देश विशेष का प्रतिबंधक संबंध नहीं है।

नियतिवादियों के अनुसार सभी भाव नियत रूप से होते हैं। ईश्वर हो, अणु हो अथवा अन्य कोई भी हो सब नियति के वश में है।^{४०} प्राचीन काल में पूरणकश्यप आदि कतिपय विचारकों ने नियति को विश्व का मूल बताया है और यदृच्छावादियों के मत का उन्मूलन किया है।^{४१}

पं. मधुसूदन ओझा द्वारा विरचित ब्रह्मचतुष्पदी के 'विराट्' परिच्छेद में नियति को शक्ति के रूप में प्रतिपादित किया गया है। उन्होंने प्रत्येक वस्तु के धर्म को सत्य तथा उसकी शक्ति को नियति के रूप में स्थापित किया है-

स एष सत्यः प्रतिवस्तुधर्मः शक्तिश्च सैषा नियतिः प्रसिद्धा।

नोल्लङ्घ्य शक्तिं नियतिं च किञ्चित् करोति वा जीवति वा कथञ्चित्।^{४२}

प्रत्येक वस्तु का धर्म सत्य है और उसकी शक्ति नियति के रूप में प्रसिद्ध है। नियति शक्ति का उल्लंघन करके न कोई कुछ कर सकता है और न ही कोई जी सकता है।

उपनिषदों में नियतिवाद

वेदों के सार उपनिषदों में नियतिवाद का उल्लेख प्राप्त होता है। 'कालः स्वभावो नियतिर्यदृच्छा, भूतानि योनिः पुरुष इति चिन्त्या।'^{४३}

श्वेताश्वतरोपनिषद् का यह मंत्र प्रमाणित करता है कि वैदिक काल में नियतिवाद नामक एक सिद्धान्त अस्तित्व में था। यह नियतिवाद एकान्त रूप से नियति को ही कारण मानता था। नियति के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए शंकराचार्य ने शांकरभाष्य में कहा है- 'नियतिरविषमपुण्यपापलक्षणं कर्म तद्वा कारणम्।' अर्थात् पुण्य-पाप रूप जो अविषम कर्म हैं, वे नियति कहे जाते हैं। अविषम कर्म से तात्पर्य जिनका फल कभी विपरीत नहीं होता।

महोपनिषद् एवं भावोपनिषद् में भी नियति शब्द का प्रयोग उपलब्ध होता है-

'नियतिं न विमुञ्चन्ति महान्तो भास्करा इव' -महोपनिषद्^{३५}

'नियतिसहिताः शृंगारादयो नव रसाः' -भावोपनिषद्^{३६}

उपनिषद् के उपर्युक्त उद्धरणों से स्पष्ट होता है कि नियति एक नियामक तत्त्व है। जिसके अनुसार विभिन्न घटनाएँ घटित होती हैं। महोपनिषद् के वाक्य में कहा गया है कि जिस प्रकार सूर्य नियति को नहीं छोड़ता है, नियत समय पर उदय एवं अस्त को प्राप्त होता है। उसी प्रकार महान् पुरुष नियति के नियामकत्व को नहीं छोड़ते हैं। भावोपनिषद् के उद्धरण में कहा गया है कि शृंगार आदि नौ रस नियतियुक्त हैं। अर्थात् जिन भावों से जो रस प्रकट होना होता है वही प्रकट होता है।

पुराणसाहित्य में नियति एवं उसके पर्याय

हरिवंशपुराण में भवितव्यता की प्रामाणिकता अनेक श्लोकांशों में दृग्गोचर होती है। कंस ने अपने स्वजनों की हत्या करने के बाद पश्चात्ताप करते हुए देवकी से कहा- "मैं बड़ा निर्दय हूँ और मैंने अपने प्रियों का ही शमन किया, क्योंकि विधि ने जो भाग्य में लिख दिया उसे मैं किसी प्रकार भी परिवर्तित नहीं कर सका।"^{३७} कंस का यह कथन हरिवंश पुराण में अन्यत्र आई 'दुर्वारा हि भवितव्यता'^{३८} 'दुर्लङ्घ्यं भवितव्यता'^{३९} उक्तियों से पुष्ट होता है। इसलिए कहा गया है- 'दैवमेव परलोके धिक् पौरुषमकारणम्'^{४०} अर्थात् दैव और पुरुषार्थ में दैव ही परम बलवान है। संसार में इस अकारण पुरुषार्थ को धिक्कार है।

वामन पुराण में दानवपति प्रह्लाद विष्णु की निन्दा करने पर बलि को राज्य-नाश का अभिशाप देते हैं। बलि के क्षमा मांगने पर वे भाग्य की निश्चितता या अपरिवर्तनशीलता को बताते हुए कहते हैं-

नूनमेतेन भाव्या वै भवतो येन दानवा।

ममाविशन्महाबाहो

विवेकप्रतिषेधकः॥

तस्माद् राज्यं प्रति विभो न ज्वरं कर्तुमर्हसि।

अवश्यं भाविनो ह्यर्था न विनश्यन्ति कर्हिंचित्।।^{११}

अर्थात् हे दानव! निश्चय ही तुम्हारा ऐसा भविष्य था। इसी से विवेक का प्रतिबंधक महामोह मुझमें प्रविष्ट हुआ था। अतः हे विभो! राज्य के लिए दुःख मत करो। अवश्यम्भावी विषय कदापि विनष्ट नहीं होते।

इस प्रकार वामन पुराण में स्वीकार किया गया है कि भवितव्यता की प्रबलता के अनुसार ही वर्तमान में वैसे निमित्त प्राप्त होते हैं।

नारदीय पुराण में कहा है कि यह समस्त स्थावर और त्रस जगत् दैव के आधीन है। इसलिए दैव ही जन्म और मृत्यु को जानता है, दूसरा नहीं। जैसाकि कहा है—

दैवाधीनमिदं सर्वं जगत्स्थावरजंगमम्।

तस्माज्जन्म च मृत्युं च दैवं जानाति नापरः।।^{१२}

दैवाधीनं जगत्सर्वं सदेवासुरमानुषम्।।^{१३}

देव, असुर और मनुष्यों से युक्त समस्त जगत् दैव के आधीन है। इस दैव, नियति या भवितव्य को स्वीकार करने पर किसी प्रकार की चिन्ता नहीं रहती है—
यद्भावि तद्भवत्येव यद्भाव्यं न तद्भवेत्, इति निश्चितबुद्धीनां न चिन्ता बाधते क्वचित्।^{१४}

रामायण में नियति की कारणता

रामायण में भी नियति की कारणता दृष्टिगोचर होती है। बाली की मृत्यु के पश्चात् भगवान श्री राम, लक्ष्मण, सुग्रीव आदि को सात्वना प्रदान करते हुए कहते हैं—

नियतिः कारणं लोके, नियतिः कर्मसाधनम्।

नियतिः सर्वभूतानां नियोगेष्विह कारणम्।।^{१५}

जगत् में नियति ही सबका कारण है। नियति ही समस्त कर्मों का साधन है। नियति ही समस्त प्राणियों को विभिन्न कर्मों में नियुक्त करने में कारण है।

नियति की गति ऐसी है कि वह धन से, इच्छा से, पुरुषार्थ से अथवा आज्ञा से किसी के टाले नहीं टल सकती। इसके सामने सारे पुरुषार्थ निरर्थक हैं। इसलिए भाग्य ही सबसे उत्कृष्ट है और सब कुछ इसके अधीन है। भाग्य की गति परम है।^{१६}
सुख-दुःख, भय-क्रोध, लाभ-हानि, उत्पत्ति और विनाश तथा इस प्रकार के और भी

जितने परिणाम प्राप्त होते हैं, जिनका कोई कारण समझ में नहीं आता, वे सब दैव के ही कार्य हैं।^{४३}

महाभारत में नियति का स्वरूप

वेदव्यास ने नियति के स्वरूप को निम्न शब्दों में अभिव्यक्त किया है-

‘यथा यथास्य प्राप्तव्यं प्राप्नोत्येव तथा तथा।

भवितव्यं यथा यच्च भवत्येव तथा तथा।’^{४४}

अर्थात् पुरुष को जो वस्तु जिस प्रकार मिलने वाली होती है, वह उस प्रकार मिल ही जाती है। जिसकी जैसी होनहार होती है, वह वैसी होती ही है। यही नियति है। कुछ लोग तो इसे सभी कार्यों की सिद्धि में कारण मानते हुए कहते हैं- ‘दैवनेके वदन्त्युत’^{४५} नियतिवादी मानते हैं कि जगत् में जितने भी पुरुषकृत कार्य हैं उन सभी के पीछे दैव निमित्त है और दैववश ही देवलोक में बहुत से गुण उपलब्ध होते हैं।^{४६}

उत्तम कुल में जन्म, पुरुषार्थ, आरोग्य, सौन्दर्य, सौभाग्य, उपभोग, अप्रिय, वस्तुओं के साथ संयोग, अत्यन्त प्रिय वस्तुओं का वियोग, अर्थ, अनर्थ, सुख और दुःख- इन सबकी प्राप्ति प्रारब्ध के विधान के अनुसार होती है। यहाँ तक कि प्राणियों की उत्पत्ति, देहावसान, लाभ और हानि में भी प्रारब्ध ही प्रवृत्त होता है।^{४७} जीव की मृत्यु के कई निमित्त होते हैं, यथा- रोग, अग्नि, जल, शस्त्र, भूख, प्यास, विपत्ति, विष, ज्वर और ऊँचे स्थान से गिरना आदि। इन निमित्तों में से प्रत्येक जीव के लिए नियति द्वारा जन्म के समय ही नियत कर दिया जाता है और अन्त में वही उसकी मृत्यु का हेतु बनता है।^{४८}

दक्ष-पुरुषार्थी मनुष्यों के द्वारा सम्यक् प्रकार से किया गया प्रयत्न भी दैव रहित होने पर निष्फल हो जाता है तथा उस कार्य को अन्य प्रकार से किए जाने पर भी वह भाग्यवश और ही प्रकार का हो जाता है। अतः निश्चय ही दैव प्रबल और दुर्लघ्य है। दैव की इस प्रबलता को स्वीकार कर यह समझना चाहिए कि होनहार ही ऐसी थी, इसलिए शोक करने की आवश्यकता नहीं है। भला, इस सृष्टि में ऐसा कौनसा पुरुष है, जो अपनी बुद्धि की विशेषता से होनहार को मिटा सकता है अर्थात् कोई नहीं।^{४९}

संस्कृत साहित्य में नियति का विशेष रूप

अभिज्ञानशाकुन्तल में भवितव्यता के रूप में नियति

‘भवितव्यानां द्वाराणि भवन्ति सर्वत्र’^{५०} शाकुन्तल की यह सूक्ति भवितव्यता की सार्वकालिकता एवं सार्वभौमिकता को प्रकट करते हुए बताती है कि

जंगल हो या पर्वत, आश्रम हो या नगर सर्वत्र ही भवितव्यता के लिए द्वार खुले रहते हैं। सर्वत्र विद्यमान भवितव्यता या नियति ही राजा दुष्यन्त को शकुन्तला से संयोग करवाने हेतु कण्व ऋषि के आश्रम में ले गई थी। इसी नियति ने उसका शकुन्तला से वियोग कराकर पुनः योग कराया। अतः महाकवि कालिदास कहते हैं- 'भवितव्यता खलु बलवती'^{५५}

भर्तृहरिविरचित नीतिशतक में नियति

महाकवि भर्तृहरि मानते हैं कि मानव के भालपट्ट पर ब्रह्मा ने जो थोड़ा अथवा अधिक धन लिख दिया है, उसे मनुष्य रेगिस्तान में भी सरलता से प्राप्त कर लेता है। अधिक धन का भाग्य न होने पर वह चाहे सुमेरु पर्वत पर क्यों न चला जाए, उसे प्राप्त नहीं होगा। उदाहरण के रूप में घट की स्थिति को देखा जा सकता है। पानी लेने हेतु घट को कुएँ में डाला जाए अथवा अगाध जल राशि वाले समुद्र में डाला जाए, वह सदा ही अपनी क्षमता जितना ही जल ले पाएगा। इसी प्रकार जितना भाग्य में धन लिखा होगा उतना ही मनुष्य को प्राप्त होगा, अधिक नहीं।^{५६}

इस जगत् में मानवों की उन्नति और अवनति का कारण भाग्य ही होता है। जैसे कि इस प्रसंग से प्रतीत होता है- कोई सर्प अपने जीवन से अत्यन्त निराश हुआ किसी सपेरे की बाँस की पिटारी में सिकुड़े हुए शरीर वाला होकर भूख से छटपटा रहा था। सर्प की पुनः स्वतंत्र होने की सभी आशाएँ नष्ट हो गई थीं। तभी अचानक एक चूहा दाँतों से उस पिटारी में छेद करके स्वयं सर्प के मुख में आ गया। उस सर्प ने चूहे को खाकर भूख मिटाई और चूहे द्वारा बनाए गए मार्ग से शीघ्र बाहर निकल गया। अतः यह निश्चित होता है कि भाग्य के अतिरिक्त कोई भी मनुष्य की उन्नति तथा अवनति का कारण नहीं बन सकता है। इससे फलित होता है कि भाग्य के कारण ही परतन्त्र व्यक्ति मुक्ति पा सकता है तथा स्वतन्त्र व्यक्ति आपत्तियों में फँस सकता है।^{५७} मानव को प्रारब्धानुसार ही सब कुछ प्राप्त होता है। व्यक्ति प्रयत्नपूर्वक दुष्कर कार्यों को कर सकता है, परन्तु कार्यों का फल भाग्यानुसार ही मिलता है।^{५८}

हितोपदेश एवं पंचतन्त्र में भवितव्यता

हितोपदेश में कहा गया है- 'यदभावि न तदभावि भावि चेन्न तदन्यथा'^{५९} अर्थात् जो भवितव्य नहीं है वह किसी स्थिति में नहीं होगा और जो भवितव्य है वह अन्यथा नहीं होगा।

पंचतन्त्रकार कहते हैं कि जिसकी भवितव्यता नहीं होती वह कार्य कभी नहीं होता तथा जो भवितव्य है वह बिना यत्न किए ही हो जाता है। जिस वस्तु की भवितव्यता नहीं होती है वह हस्तगत होकर भी चली जाती है।^{६०} यह विधि की विडम्बना ही है कि ५० योजन दूर से पक्षी भोग्य वस्तु को तो देख लेता है किन्तु नजदीक के जाल को नहीं देख पाता।

राजतरंगिणी में नियति की महत्ता

राजतरंगिणी में कहा है- किसी पक्षी की पूँछ में लगी आग जिस प्रकार उसके भागने से शान्त नहीं होती, उसी प्रकार मनुष्य की भी भवितव्यता उसके पलायन करने से पीछा नहीं छोड़ती। जिस प्राणी को नियति द्वारा निर्धारित जो भोग भोगने हैं, वे प्रचण्ड अग्नि, विष, शस्त्र, बाण प्रयोग किसी गड्ढे में कूद जाने, अभिचार क्रिया करने तथा भोगाधीन प्राणियों के वध करने से भी टाले नहीं जा सकते हैं।^{६१}

अतः कवि कल्हण ने ठीक ही कहा है- 'शक्तो न कोऽपि भवितव्यविलंघनायाम्'^{६२} अर्थात् भवितव्यता का उल्लंघन करने का सामर्थ्य किसी में नहीं है।

काव्यप्रकाश में नियति

नियति शब्द का प्रयोग मम्मट ने अपने काव्यप्रकाश में करते हुए कहा है-

'नियतिकृतनियमरहितां ह्यादैकमयीमनन्यापरतन्त्राम्।

नवरसरुचिरां निर्मितिमादधती भारती कवेर्जयति।।'^{६३}

कवि की वाणी के वैशिष्ट्य का आख्यान करते हुए उसे मम्मट ने नियति द्वारा निर्मित नियमों से विलक्षण प्रतिपादित किया है। इसमें प्रयुक्त 'नियति' शब्द पर काव्यप्रकाश के विभिन्न टीकाकारों ने प्रकाश डाला है।^{६४} प्रमुख व्याख्याएँ इस प्रकार हैं-

१. नियम्यते कमलसौगन्ध्यादिकं अनयेति असाधारणो धर्मः कमलत्वादिर्नियतिः।। -बालचित्तानुरंजनी टीका
२. नियतिः कर्मापरपर्याया सर्वोत्पत्तिमन्निमित्तम्- विवेक टीका
३. नियम्यन्ते स्वस्वकार्योत्पत्तये प्रेर्यन्ते निरुध्यन्ते च भावा अनयेति नियतिरदृष्टं। -दीपिका टीका
४. नियतिर्नियामिका शक्तिः -सम्प्रदायप्रकाशिनी टीका

५. नियम्यन्ते सौरभादयो धर्मा अनेनेति नियतिरसाधारणः पद्मत्वादिरूपो धर्मः। वस्तुतस्तु नियतिरदृष्टम् - सुधासागर टीका

उपर्युक्त उद्धरणों से स्पष्ट होता है कि कमल में सुगन्ध आदि का असाधारण धर्म नियति के द्वारा ही निर्धारित होता है। विवेक-टीकाकार ने सबकी उत्पत्ति में निमित्तभूत इस नियति को कर्म का ही दूसरा पर्याय स्वीकार किया है। दीपिका- टीकाकार ने उत्पत्ति और निरोध दोनों में नियति को कारण मानकर उसे अदृष्ट कहा है, जिसका समर्थन सुधासागर ने अपनी टीका में भी किया है। सम्प्रदाय प्रकाशिनी टीका में इसे नियामिका शक्ति के रूप में प्रतिपादित किया गया है।

संकेत टीकाकार ने समस्त पदार्थों के अपने-अपने आकार वर्णादि की व्यवस्था का नियामक हेतु मानते हुए इसे दैव का पर्यायान्तर स्वीकार किया है तथा शैव शास्त्र में मान्य ३६ तत्त्वों में एक तत्त्व के रूप में मानने का उल्लेख किया है- 'नियतिः सर्वपदार्थानां निजनिजसंस्थानमानवर्णादिव्यवस्थानियमहेतुः दैवपर्यायान्तरम्। तच्च-पंचभूत- पंचकर्मैन्द्रिय- पंचबुद्धीन्द्रिय- पंचविषय- तत्त्वादिशिवतत्त्वपर्यन्तशैवशास्त्रोक्त- षट्त्रिंशत्तत्त्व मध्योक्तं तत्त्वान्तरम्।'^{६५}

इस प्रकार असाधारण धर्म के नियामक तत्त्व के रूप में, कर्म के अपर पर्याय के रूप में, अदृष्ट के रूप में, नियामक शक्ति के रूप में तथा दैव के रूप में काव्यप्रकाश के टीकाकारों ने 'नियति' शब्द की व्याख्या की है।

जैनदर्शन में मान्य पंचसमवाय में कर्म और नियति को पृथक्-पृथक् स्वीकार किया गया है जबकि काव्यप्रकाश के टीकाकार नियति और कर्म या अदृष्ट में एकता प्रतिपादित कर रहे हैं। यहाँ यह अवश्य मानना होगा कि नियति एक नियामक तत्त्व है, जिसके द्वारा जगत् एवं पदार्थों की एक व्यवस्था बनी हुई है।

दार्शनिक ग्रन्थों में नियति का स्वरूप

बौद्ध त्रिपिटक में नियतिवाद

बौद्ध त्रिपिटक में सुत्तपिटक के अन्तर्गत दीघनिकाय के प्रथम भाग में मंखलि गोशालक के नियतिवाद की चर्चा उपलब्ध होती है। गोशालक ने बुद्ध के प्रश्न का उत्तर देते हुए अपने मत को स्पष्ट किया है- "प्राणियों के दुःख का कोई हेतु या प्रत्यय (कारण) नहीं है। बिना हेतु और प्रत्यय के ही प्राणी दुःखी होते हैं। प्राणियों की

विशुद्धि का भी कोई हेतु या प्रत्यय नहीं है। बिना हेतु और प्रत्यय के ही प्राणी विशुद्धि को प्राप्त होते हैं। न आत्मा कुछ करती है और न पर कुछ करता है, न पुरुषकार है, न बल है, न वीर्य है, न पुरुषस्ताम है, न पुरुषपराक्रम है। सभी सत्त्व, सभी प्राण, सभी भूत और सभी जीव अवश हैं, अबल हैं, अवीर्य हैं। नियति के संग के भाव से परिणत होकर ६ प्रकार की अभिजातियों में सुख-दुःख का संवेदन करते हैं।^{६६}

नियतिवादी कहते हैं- “मैं इस शील, व्रत, तप या ब्रह्मचर्य के द्वारा अपरिपक्व कर्म का परिपाक करूँगा तथा परिपक्व कर्म का अन्त करूँगा। ऐसा मानना उचित नहीं है।”^{६७}

योगवासिष्ठ में नियति एवं पुरुषार्थ की सापेक्षता

प्रायः ‘दैव’ और ‘नियति’ एकार्थक माने गए हैं, किन्तु योगवासिष्ठ में इन दोनों का पृथक् स्वरूप प्रतिपादित हुआ है। ‘नियति’ कार्य एवं पदार्थों के स्वभाव की निश्चितता या भवितव्यता के रूप में तथा ‘दैव’ पूर्वकृत कर्म के रूप में प्रतिष्ठित हुआ है।

‘नियति’ को परिभाषित करते हुए योगवासिष्ठ में कहा गया है-

‘आदिसर्गे हि नियतिर्भाववैचित्र्यमक्षयम्।

अनेनेत्थं सदा भाव्यामिति संपद्यते परम्॥’^{६८}

अर्थात् सृष्टि के आदि में ही पदार्थ वैचित्र्य के रूप में नियति का सिद्धान्त आ जाता है। ऐसा होने पर ऐसा होना चाहिए- यह अक्षय नियम नियति है। कार्य-कारण रूपी इस नियति का चारों ओर साम्राज्य है। यही कारण है कि जगत् में सारे व्यवहार नियमित रूप से होते दिखाई पड़ते हैं और प्रत्येक वस्तु का स्वभाव निश्चित जान पड़ता है। इस जगत् के संचालन हेतु निमित्त वस्तुओं का स्वभाव निश्चित है, जिससे प्रत्येक वस्तु अपने निश्चित स्वभाव के अनुकूल कार्य करती रहती है।

नियति की अटलता और निश्चितता को कोई भी खण्डित करने में समर्थ नहीं है, वह अखण्ड है। जैसाकि कहा है-

अवश्यंभवितव्यैषात्विदमित्थमिति स्थितिः।

न शक्यते लङ्घयितुमपि रुदादिबुद्धिभिः॥

सर्वज्ञोऽपि बहुज्ञोऽपि माधवोऽपि हरोऽपि च।

अन्यथा नियतिं कर्तुं न शक्तः कश्चिदेव हि॥’^{६९}

अर्थात् “यह वस्तु इस प्रकार का व्यवहार करेगी” अथवा “यह ऐसी है”-यन् नियम अटल है और अवश्य होने वाला है। इसका उल्लंघन रुद्रादि देवता तक भी नहीं कर सकते। कोई भी चाहे वह शिव हो अथवा विष्णु, चाहे सर्वज्ञ हो अथवा बहुत बड़ा ज्ञानी हो- नियति को नहीं बदल सकता।

सृष्टि के आदि में जो रचना जिस नियम से होने लगती है वह सदा उसी नियम के अनुसार चलती है। महाशिव तक इस नियम से नियन्त्रित होते हैं। इसका नाम इसी कारण से नियति है कि तृण से लेकर ब्रह्मा तक का व्यवहार इसके द्वारा नियन्त्रित होता है।^{१०}

योगवासिष्ठकार पुरुषार्थ को भी नियति सापेक्ष बतलाते हैं-

पौरुषं न परित्याज्यमेतामाश्रित्य धीमता।

पौरुषेण रूपेण नियतिर्हि नियामिका।^{११}

बुद्धिमान आदमी को पुरुषार्थ का कभी त्याग नहीं करना चाहिए। नियति पुरुषार्थ के रूप से ही जगत् की नियंत्रणा करती है। अर्थात् पुरुषार्थ द्वारा ही नियति सफल होती है। पुरुषार्थ और नियति में कोई विरोध नहीं है, अपितु पुरुषार्थ द्वारा फल की प्राप्ति होती है, यह भी नियति का ही एक अंग है। यदि उचित कारण पुरुषार्थ द्वारा उपस्थित नहीं किये जायेंगे तो इच्छित फल प्राप्त नहीं हो सकेंगे।

कभी-कभी ऐसी स्थितियाँ बनती हैं कि प्रबल पुरुषार्थ द्वारा नियति नष्ट कर दी जाती है, क्योंकि कार्य का वास्तविक कर्ता जीव का संकल्प है, न कि नियति। नियति तो नियमित रूप से प्रकट होने का नाम है। नियति सृष्टि का नियम है, सृष्टि करने वाली नहीं है। इस अभिप्राय से नियतिवाद के संबंध में योगवासिष्ठकार लिखते हैं-

नियतिं यादृशीमेतत्संकल्पयति सा तथा।

नियतानियतान्कांश्चिदर्थानिनियतानपि।^{१२}

करोति चित्तं तेनैतच्चित्तं नियतियोजकम्।

नियत्यां नियतिं कुर्वन्कदाचित्स्वार्थनामिकाम्।^{१३}

जीवो हि पुरुषो जातः पौरुषेण स यद्यथा।^{१४}

संकल्पयति लोकेऽस्मिन्तत्तथा तस्य नान्यथा।^{१५}

अर्थात् यह मन जिस प्रकार की नियति की कल्पना करता है, वह नियति उसी प्रकार कभी नियत और कभी अनियत पदार्थों की कल्पना करती है। इस प्रकार से यह मन अपने संकल्पित पदार्थों की विभिन्न प्रकार की नियति की कल्पना करने वाला है। नियति को भी कभी अनियति बना देता है। यह जीव अपने पुरुषार्थ के कारण ही पुरुष कहलाता है। वह जैसा संकल्प करता है संसार में वैसा ही होता है अन्यथा प्रकार से नहीं।

शैवदर्शन के ग्रन्थ परमार्थसार में नियति

काश्मीर शैवदर्शन में जगत् को छत्तीस तत्त्वों से संघटित माना है। ये सभी तत्त्व शिव की आत्माभिव्यक्ति से अतिरिक्त कुछ नहीं हैं। इन छत्तीस तत्त्वों में नियति का भी स्थान है। प्रकृति से उत्पन्न सुखादिरूप का भोक्ता पुरुष का स्वरूप प्रतिपादन करते हुए परमार्थसार में बताया गया है कि यह पुरुष काल, कला, नियति, राग और अविद्या से बँधा हुआ है।^{१६} ये काल आदि सभी कंचुक कहलाते हैं। नियति कंचुक के कारण प्रत्येक प्राणी अपने पूर्व कर्मों के फल को भोगने के लिए बाध्य बना रहता है तथा इससे प्रमाता की कर्तृत्व और ज्ञातृत्व शक्ति और अधिक संकुचित हो जाती है। कार्यकारण भी इसी नियतितत्त्व का व्यापार है—

‘नियतिः ममेदं कर्तव्यं नेदं कर्तव्यम् इति नियमनहेतुः’^{१७}

इस प्रकार नियत कारण से नियत कार्य की संभावना बनती है, जैसे वह्नि से धूम की और अश्वमेधादि यज्ञ से स्वर्गादिफल की प्राप्ति। उसी प्रकार नियत संकल्प के अनुसार किये गए कर्मसमूह से उदित पुण्य-पाप से आत्मा नियमित होती है, वही इस (पुरुष) का नियति तत्त्व है।^{१८}

जैन ग्रन्थों में नियतिवाद का निरूपण

नियतिवाद का उल्लेख जैनागमों में भी प्राप्त होता है। इसका नामोल्लेख प्रश्नव्याकरण में तथा स्वरूप सूत्रकृतांग सूत्र में समुपलब्ध होता है।

आगम एवं टीकाओं में चर्चित नियतिवाद

सूत्रकृतांग में नियतिवाद का स्वरूप

सूत्रकृतांग के द्वितीय श्रुतस्कन्ध के ‘पौण्डरीक’ नामक अध्ययन में मुमुक्षु जीवों को विपरीत आचार-विचार से निवृत्त होकर मोक्षमार्ग में प्रवृत्त होने की प्रेरणा की गई है। एक पुष्करिणी के दृष्टान्त के माध्यम से तच्छरीरवादी, पंचभूतवादी, ईश्वरकारणवादी और नियतिवादी के मत का स्वरूप स्थापित किया गया है तथा यह

भी कहा गया है कि इन सावद्य आचार-विचार वाले मतों से निर्वाण प्राप्त नहीं होता, अपितु सत्य, अहिंसादि महाव्रतों के निष्ठापूर्वक पालन से होता है- ऐसा प्रतिपादन सूत्रकृतांग के इस अध्ययन में हुआ है। यहाँ नियतिवाद का प्रसंग होने से नियतिवाद को प्रस्तुत किया जा रहा है-

(i) क्रियावादी और अक्रियावादी नियति से प्रेरित- “इह खलु दुवे पुरिसा भवन्ति-एगे पुरिसे किरियमाइक्खति, एगे पुरिसे णोकिरियमाइक्खति। जे य पुरिसे किरियमाइक्खइ, जे ये पुरिसे णोकिरियमाइक्खइ, दो वि ते पुरिसा तुल्ला एगद्धा कारणमावन्ना।”^{११९}

इस जगत् में दो प्रकार के पुरुष पाए जाते हैं- एक क्रियावादी और दूसरा अक्रियावादी। ये दोनों ही नियति के आधीन हैं, स्वतंत्र नहीं हैं, अतः नियति की प्रेरणा से क्रियावादी क्रिया का समर्थन करता है और अक्रियावादी अक्रिया का प्रतिपादन करता है। नियति के अधीन होने के कारण ये दोनों ही समान हैं। ये दोनों वाद एक ही अर्थ वाले और एक ही कारण (नियतिवाद) को प्राप्त हैं।

(ii) सुखदुःखादि स्वनिमित्तक और परनिमित्तक नहीं- क्रियावादी और अक्रियावादी दोनों ही अज्ञानी हैं। ये अपने सुख और दुःख का कारण स्वयं को मानते हुए यह समझते हैं कि मैं जो कुछ भी दुःख पा रहा हूँ, शोक कर रहा हूँ, विलाप कर रहा हूँ, खिन्न हो रहा हूँ, पीड़ा पा रहा हूँ या संतप्त हो रहा हूँ, वह सब मेरे किए हुए कर्म का परिणाम है तथा दूसरा जो दुःख पाता है, शोक करता है, विलाप करता है, खिन्न होता है, पीड़ित होता है या संतप्त होता है, वह सब उसके द्वारा किये हुए कर्म का परिणाम है। इस कारण वह अज्ञजीव स्वनिमित्तक (स्वकृत) तथा परनिमित्तक (परकृत) सुखदुःखादि को अपने तथा दूसरे के द्वारा कृत कर्मफल समझता है, परन्तु एकमात्र नियति को ही समस्त पदार्थों का कारण मानने वाला मेधावी पुरुष तो यह समझता है कि मैं जो कुछ दुःख भोगता हूँ, शोकमग्न होता हूँ या संतप्त होता हूँ, वे सब मेरे किए हुए कर्म (कर्मफल) नहीं हैं तथा दूसरा पुरुष जो दुःख पाता है, शोक आदि से संतप्त-पीड़ित होता है, वह भी उसके द्वारा कृत कर्मों का फल नहीं है, (अपितु यह सब नियति का प्रभाव है)। इस प्रकार वह बुद्धिमान पुरुष अपने या दूसरे के निमित्त से प्राप्त हुए दुःख आदि को यों मानता है कि ये सब नियतिकृत हैं, किसी दूसरे के कारण से नहीं।^{१२०}

(iii) नियतिवादी द्वारा मान्य जगत् का स्वरूप- नियतिवादी जगत् का स्वरूप बताते हुए कहते हैं- “से बेमि- पाईणं वा जे तसथावरा पाणा ते एवं संघायमावज्जन्ति, ते एवं परियायमावज्जन्ति, ते एवं विवेगमावज्जन्ति, ते एवं

विहाणमागच्छन्ति, ते एवं संगड्यन्ति। उवेहाए णो इयं विप्पडिवेदन्ति, तंजहा-
किरिया ति वा जाव णिरए ति वा अणिरए ति वा।^{१८३} अर्थात् नियतिवादी कहते
हैं कि पूर्व आदि दिशाओं में रहने वाले जो त्रस एवं स्थावर प्राणी हैं, वे सब नियति के
प्रभाव से ही औदारिक आदि शरीर की रचना (संघात) को प्राप्त करते हैं। वे नियति
के कारण ही बाल्य, युवा और वृद्ध अवस्था (पर्याय) को प्राप्त करते हैं और शरीर से
पृथक् (मृत) होते हैं। वे नियतिवशात् काणा, कुबड़ा आदि नाना प्रकार की दशाओं
को प्राप्त करते हैं। नियति का आश्रय लेकर ही नाना प्रकार के सुख-दुःखों को प्राप्त
करते हैं।

सूत्रकृतांग की चूर्णि में 'इदाणि आयच्छद्वाऽफलवादि त्ति'^{१८४} से
अफलवाद सिद्धान्त का प्रतिपादन हुआ है। इनके मतानुसार आत्मा और लोक शाश्वत
है। इन दोनों की उत्पत्ति नहीं होती है अपितु ये नियत हैं। असत् की भी कभी उत्पत्ति
नहीं होती है। इन तथ्यों का प्रतिफल बताते हुए पं. दलसुख मालवणिआ कहते हैं कि
इस मत में नियति मात्र को स्वीकृति मिली है तथा पुरुषार्थ व कर्मवाद को अवकाश
नहीं है। इनके मतानुसार इस मत को सत्कार्यवादी मानना उचित है, क्योंकि नियतिवाद
के स्वीकार में ही असत् की उत्पत्ति का अस्वीकार संनिहित है। अतएव नियतिवादी
सत्कार्यवादी हो यह स्वाभाविक है।^{१८५}

भगवती, स्थानांग और सूत्रकृतांग की निर्युक्ति में नियतिवाद

भगवती और स्थानांग में नियतिवाद का सीधा स्वरूप तो नहीं मिलता किन्तु
आगम युग में प्रचलित मत एवं दर्शनों के अन्तर्गत इसका उल्लेख समुपलब्ध होता है।

चत्तारि वादिसमोसरणा पण्णत्ता, तंजहा- किरियावादी,
अकिरियावादी, अण्णणिआवादी वेणइयावादि।^{१८६} अर्थात् वादिसमवसरण चार
कहे गए हैं- क्रियावादी, अक्रियावादी, अज्ञानवादी और विनयवादी।

यहाँ समवसरण शब्द मतों या दर्शनों के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। सूत्रकृतांग
के समवसरण अध्ययन में इन मतों का संक्षिप्त वर्णन है। सूत्रकृतांग के निर्युक्तिकार
ने क्रियावादी के १८०, अक्रियावादी के ८४, अज्ञानवादी के ६७ और विनयवादी के
३२, कुल ३६३ भेदों की संख्या बताई है। वृत्तिकार ने इन चारों वादों के ३६३ भेदों
को नामोल्लेखपूर्वक पृथक्-पृथक् प्रस्तुत किया है। इस पुस्तक के 'कालवाद'^{१८७}
नामक अध्याय में इनका विस्तार से विवेचन हुआ है। अतः यहाँ संक्षेप में नियतिवाद
को प्रस्तुत किया जा रहा है-

क्रियावाद में कालवाद, आत्मवाद, नियतिवाद और स्वभाववाद का तथा अक्रियावाद में कालवाद आदि पाँच के अतिरिक्त यदृच्छावाद का भी समावेश हुआ है। अज्ञानवादी और विनयवादी के भेदों में काल आदि का उल्लेख नहीं है।

क्रियावादी और अक्रियावादी के अन्तर्गत प्राप्त 'नियतिवाद' का निम्नांकित स्वरूप व्यक्त हुआ है-

क्रियावादी में नियतिवाद के भेद

१. जीव स्वतः नित्य नियति से	२. जीव स्वतः अनित्य नियति से
३. जीव परतः नित्य नियति से	४. जीव परतः अनित्य नियति से
५. अजीव स्वतः नित्य नियति से	६. अजीव स्वतः अनित्य नियति से
७. अजीव परतः नित्य नियति से	८. अजीव परतः अनित्य नियति से
९. आस्रव स्वतः नित्य नियति से	१०. आस्रव स्वतः अनित्य नियति से
११. आस्रव परतः नित्य नियति से	१२. आस्रव परतः अनित्य नियति से
१३. बन्ध स्वतः नित्य नियति से	१४. बंध स्वतः अनित्य नियति से
१५. बंध परतः नित्य नियति से	१६. बंध परतः अनित्य नियति से
१७. संवर स्वतः नित्य नियति से	१८. संवर स्वतः अनित्य नियति से
१९. संवर परतः नित्य नियति से	२०. संवर परतः अनित्य नियति से
२१. निर्जरा स्वतः नित्य नियति से	२२. निर्जरा स्वतः अनित्य नियति से
२३. निर्जरा परतः नित्य नियति से	२४. निर्जरा परतः अनित्य नियति से
२५. पुण्य स्वतः नित्य नियति से	२६. पुण्य स्वतः अनित्य नियति से
२७. पुण्य परतः नित्य नियति से	२८. पुण्य परतः अनित्य नियति से
२९. पाप स्वतः नित्य नियति से	३०. पाप स्वतः अनित्य नियति से
३१. पाप परतः नित्य नियति से	३२. पाप परतः अनित्य नियति से
३३. मोक्ष स्वतः नित्य नियति से	३४. मोक्ष स्वतः अनित्य नियति से
३५. मोक्ष परतः नित्य नियति से	३६. मोक्ष परतः अनित्य नियति से

अक्रियावादी में नियतिवाद के भेद

१. नास्ति जीव स्वतः नियति से	२. नास्ति जीव परतः नियति से
३. नास्ति अजीव स्वतः नियति से	४. नास्ति अजीव परतः नियति से
५. नास्ति आस्रव स्वतः नियति से	६. नास्ति आस्रव परतः नियति से
७. नास्ति बंध स्वतः नियति से	८. नास्ति बंध परतः नियति से
९. नास्ति संवर स्वतः नियति से	१०. नास्ति संवर परतः नियति से
११. नास्ति निर्जरा स्वतः नियति से	१२. नास्ति निर्जरा परतः नियति से
१३. नास्ति मोक्ष स्वतः नियति से	१४. नास्ति मोक्ष परतः नियति से

प्रश्नव्याकरण और उसकी टीकाओं में नियतिवाद

प्रश्नव्याकरण के अनुसार जीव जगत् में जो भी सुकृत या दुष्कृत घटित होता है, वह दैवप्रभाव से होता है। इस लोक में कुछ भी ऐसा नहीं है जो कृतक तत्त्व हो। लक्षणविधान की कर्त्री नियति है। अतः कहा है- 'जं वि इहं किंचि जीवलोए दीसइ सुकयं वा दुकयं वा एयं जदिच्छाए वा सहावेण वावि दइवतप्पभावओ वावि भवइ। णत्थेत्थ किंचि कयगं तत्तं लक्खणविहाणणियत्तीए कारियं एवं केइ जंपंति'^{६६}

प्रश्नव्याकरण सूत्र के टीकाकार अभयदेवसूरि के अनुसार नियतिवादियों की मान्यता है कि पुरुषकार को कार्य की उत्पत्ति में कारण मानने की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि उसके बिना नियति से ही समस्त प्रयोजनों की सिद्धि हो जाती है।^{६७} कहा भी गया है-

प्राप्तव्यो नियतिबलाश्रयेण योऽर्थः, सोऽवश्यं भवति नृणां शुभोऽशुभो वा।

भूतानां महति कृतेऽपि हि प्रयत्ने, नाभाव्यं भवति न भाविनोऽस्ति नाशः।।^{६८}

जो पदार्थ नियति के बल के आश्रय से प्राप्तव्य होता है वह शुभ या अशुभ पदार्थ मनुष्यों (जीवमात्र) को अवश्य प्राप्त होता है। प्राणियों के द्वारा महान् प्रयत्न करने पर भी अभाव्य कभी नहीं होता है तथा भावी का नाश नहीं होता है।

टीकाकार ज्ञानविमलसूरि के अनुसार नियतिवादी नियति से ही जगत् की उत्पत्ति कहते हैं तथा भवितव्यता को सर्वत्र बलीयसी बतलाते हैं^{६९} -

प्राप्तव्यमर्थं लभते मनुष्यः किं कारणां? दैवमलङ्घनीयं।
तस्मान्न शोचामि न विस्मयामि यदस्मदीयं नहि तत्परेषाम्॥१॥
द्वीपादन्यस्मादपि मध्यादपि जलनिधेर्दिशोऽप्यन्तात्।
आनीय झटिति घटयति विधिरभिमतमभिमुखीभूतम्॥२॥
सा सा संप्रदाते बुद्धि-व्यवसायश्च तादृशः।
सहायास्तादृशा ज्ञेया यादृशी भवितव्यता॥३॥^{१०}

प्राप्तव्य अर्थ को मनुष्य प्राप्त करता है इसमें क्या कारण है। निश्चित रूप से दैव (नियति) ही इसमें कारण है। इसलिए न तो मैं शोक करता हूँ, न आश्चर्य करता हूँ। क्योंकि जो हमारा है वह दूसरों का नहीं। विधि (दैव/नियति) अन्य द्वीप से भी, जलनिधि के बीच से भी, अन्य दिशा के छोर से भी अभिमत वस्तु को लाकर सम्मुख कर देता है। बुद्धि वैसी ही हो जाती है, व्यवसाय भी वैसा हो जाता है और सहायक भी वैसे मिल जाते हैं, जैसी भवितव्यता होती है।

नन्दीसूत्र की अवचूरि में नियतिवाद

नन्दीसूत्र की अवचूरि में नियतिवाद का स्वरूप इस प्रकार प्रस्तुत है- “ते हि एवं आहुः -नियतिः नाम तत्त्वान्तरं अस्ति यद् वशादेते भावाः सर्वेऽपि नियतेन एव रूपेण प्रादुर्भावमश्नुवते, नान्यथा। तथाहि यत् यदा यदा यतो भवति तत्तदा तत एव नियतेन एव रूपेण भवदुपलभ्यते। अन्यथा कार्यकारणभावव्यवस्था प्रतिनियतरूपावस्था च न भवेत्, नियामकाभावात्। तत एवं कार्यनैयत्नतः प्रतीयमानामेनां नियतिं को नाम प्रमाणपथकुशलो बाधितुं क्षमते? मा प्रापदन्यत्रापि प्रमाणपथव्याघातप्रसंगः। तथा च उक्तं- “नियतेनैव रूपेण, सर्वे भावा भवन्ति यत्। ततो नियतिजा ह्येते, तत्स्वरूपानुबेधतः॥ यत् यदैव यतो यावत्तदैव ततस्तथा। नियतं जायते न्यायात्, क एनां बाधितुं क्षमः?”^{११} अर्थात् नियति नामक पृथक् तत्त्व है, जिसके वश में ये सभी भाव हैं और वे नियत रूप से ही उत्पन्न होते हैं, अन्यथा रूप से नहीं होते हैं। क्योंकि जो जब-जब जिससे होना होता है, वह तब तब उससे ही नियत रूप से होता हुआ प्राप्त होता है। ऐसा नहीं मानने पर कार्यकारणभावव्यवस्था और प्रतिनियत व्यवस्था (जिससे जो नियत रूप से होता है) संभव नहीं है, नियामक (नियन्ता) का अभाव होने से। इसलिए कार्य के नियत होने से प्रतीयमान नियति को

कौन प्रमाणमार्गी बाधित कर सकता है? अन्यत्र भी प्रमाण पथ के व्याघात का प्रसंग नहीं आता है। जैसा कि कहा गया है- नियत रूप से ही सब पदार्थ उत्पन्न होते हैं, इसलिए ये अपने स्वरूप से नियतिज हैं। जो जब, जिससे, जितना होना होता है; वह, तब, उससे और उतना नियत रूप से न्यायपूर्वक होता है, इस नियति को कौन बाधित कर सकता है? अर्थात् कोई नहीं।

आचारांग सूत्र की शीलांक टीका में नियतिवाद

आचारांग सूत्र पर आचार्य शीलांक द्वारा रचित टीका में भी नियतिवाद का उल्लेख सम्प्राप्त होता है। यथा- 'तथान्ये नियतितः एवात्मनः स्वरूपमवधारयन्ति, का पुनरियं नियतिरिति उच्यते, पदार्थानामवश्यंतया यद्यथाभवने प्रयोजककर्त्री नियतिः, उक्तं च- 'प्राप्तव्यो नियतिबलाश्रयेण योऽर्थः, सोऽवश्यं भवति नृणां शुभोऽशुभो वा। भूतानां महति कृतेऽपि हि प्रयत्ने, नाभाव्यं भवति न भाविनोऽस्ति नाशः।।'^{१२}

कुछ मतावलम्बी नियति से ही वस्तु के स्वरूप का निर्धारण करते हैं। 'यह नियति क्या है' तो उसके संबंध में कहा गया है कि पदार्थों का आवश्यक रूप से जिस प्रकार होना पाया जाए उसमें प्रयोजककर्त्री नियति होती है। जैसा कि कहा गया है- "नियतिबल के आश्रय से जो पदार्थ शुभ या अशुभ रूप में प्राप्तव्य होता है, वह अवश्य प्राप्त होता है। महान् प्रयत्न करने पर भी अभाव्य कभी नहीं होता और भाव्य का कभी नाश नहीं होता है।

आचार्य सिद्धसेन द्वारा उपस्थापित नियतिवाद

१. नियति-द्वात्रिंशिका में निरूपित नियतिवाद

सन्मतितर्क, न्यायावतार, द्वात्रिंशत्-द्वात्रिंशिका ये रचनाएँ सिद्धसेन दिवाकर (५वीं शती) की प्रसिद्ध कृतियाँ हैं। पाँच कारणों के समूह में नियति को परिगणित कर सिद्धसेन ने सन्मतितर्क में एक गाथा रची है।^{१३} बत्तीस द्वात्रिंशिकाओं में सोलहवीं द्वात्रिंशिका 'नियति' पर ही लिखी है। इस द्वात्रिंशिका में आचार्य सिद्धसेन ने नियतिवाद की सिद्धि में कर्तृत्ववाद का खण्डन और नियतिवाद का स्वरूप प्रस्तुत किया है।

(i) सर्वसत्त्वों के स्वभाव की नियतता- नियति के संबंध में सिद्धसेन दिवाकर कहते हैं कि सभी सत्त्व या जीव के नित्य, अनन्तर, अव्यक्ति, सुख-दुःख तथा अभिजाति जो स्वभाव हैं, ये सभी पय, क्षीर अंकुर आदि के समान नियति के बल से होते हैं।

नित्यानन्तरमव्यक्तिसुख-दुःखाभिजातयः।

स्वभावः सर्वसत्त्वानां पयः क्षीरांकुरादिवत्।^{१४}

इन नित्य आदि स्वभावों को आचार्य विजयलावण्यसूरि ने इस श्लोक पर टीका करते हुए विस्तार से निरूपित किया है। नित्य पद से सभी पदार्थों के नित्यत्व का ग्रहण किया गया है। यह नित्यता सर्वदा नियति के बल से होती है। एक के बाद होने वाला दूसरा कार्य या भाव अनन्तर है। यथा- वह्नि के अनन्तर धूम आदि। नियति के कारण ही सत्त्व को यह स्वभाव प्राप्त होता है। व्यक्त या व्यक्त से तात्पर्य अभिव्यक्ति, आविर्भाव या उत्पत्ति है। अव्यक्त यानी तिरोभाव या नाश है। अव्यक्त पद से उत्पत्ति और नाश को सत्त्वों का स्वभाव कहा है। ये दोनों स्वभाव नियति के माहात्म्य से होते हैं। नियति के बल से ही प्रतिनियत देश काल में जीवों को सुख और दुःख प्राप्त होता है। सुख साता का और दुःख असाता का अनुभव है। अभिजाति^{१५} से अभिप्राय उच्च कुल और नीच कुल दोनों से है। उच्च कुल और नीच कुल की प्राप्ति में भी नियति ही कारण बनती है।

इस प्रकार नित्य, अनन्तर, अव्यक्ति, सुख-दुःख, अभिजाति सभी नियतिकृत हैं। इससे धर्म, अधर्म, पुरुषकार, काल आदि अन्य किसी का प्रसंग नहीं है- *‘स्वभावः सर्वसत्त्वानाम् स्वभाव इत्यनेन स्वयमेव जीवो नियत्येदृशो भवति न तु धर्माधर्मादिवशान्न वा पुरुषकारबलान्नापि कालमाहात्म्यादि बोध्यते।’^{१६}*

उपर्युक्त विचार को पुष्ट करने के लिए पय, क्षीर, अंकुर का उदाहरण दिया गया है। पानी का स्वभाव शीतल है। पानी की बूँद स्वाति नक्षत्र में ही सीपी में गिरने पर मोती बनती है तथा मघा नक्षत्र में गिरने पर विष बनती है। क्षीर या दूध मधुर स्वभाव वाला होता है। यही दूध गाय, भैंस और बकरी का होने पर अलग-अलग स्वभाव का होता है। अंकुर भी अपने-अपने बीज के स्वभाव के अनुसार परिणमित होकर वटवृक्ष में बदल जाते हैं।

पृथ्वी, भूजल, तेज आदि का परिणमन पुरुषकार के बिना अर्थात् स्वभाव से होता है। यह विश्व प्रसिद्ध है।^{१७} इन स्वभावों की नियामिका नियति है।

इस तथ्य को प्रकाशित करते हुए टीकाकार कहते हैं-

‘ईदृशस्वभाव एव नाकस्मात् किन्तु अस्यानेन स्वभावेन भवितव्यमिति नियतिबलादेवेति स्वभावनियामिकाऽपि नियतिरेवेति नियतिवादव्यवस्थितिरिति।’^{१८}

(ii) बुद्धि के धर्मादि आठ अंग और नियति- सांख्य द्वारा मान्य बुद्धि के आठ अंग को आचार्य विजयलावण्यसूरि परिभाषित करते हुए कहते हैं- बुद्धि के आठ अंग हैं-धर्म, अधर्म, ज्ञान, अज्ञान, वैराग्य, अवैराग्य, ऐश्वर्य और अनैश्वर्य। जिन प्रतिमादि को देखकर या स्पर्श कर धर्म होता है। परस्त्री को देखकर अधर्म होता है। गुण (सत्त्व-रज-तम) से युक्त चक्षु आदि इन्द्रिय से ज्ञान उत्पन्न होता है। दोष युक्त चक्षु होने पर विपर्यय, संशय आदि अज्ञान उत्पन्न होते हैं। दुःखी एवं संसार में भटकते प्राणियों को देखकर वैराग्य उत्पन्न होता है। विषय-लोलुपता से युक्त चक्षु आदि इन्द्रिय से उत्पन्न दर्शन से अवैराग्य होता है। इसी प्रकार साधु-दर्शन और उनकी सेवा करने से अष्टविध ऐश्वर्य होता है। दुष्ट जनों के दर्शन- स्पर्श से अनैश्वर्य उत्पन्न होता है।^{१९}

इनमें धर्म का अधर्म के साथ, ज्ञान का अज्ञान के साथ, वैराग्य का अवैराग्य के साथ और ऐश्वर्य का अनैश्वर्य के साथ विरोध है। ये एक-दूसरे के विरोध से उत्पन्न नहीं होते हैं। इस बात को श्लोकाबद्ध करते हुए दिवाकर जी लिखते हैं- 'धर्माद्यष्टांगता बुद्धेर्न विरोधकृते च यैः।'^{१००} टीकाकार ने इस श्लोक पर टीका करते हुए धर्मादि अष्टांगता को सत्त्व-रज-तम गुणों द्वारा नियति से नियमित स्वीकार किया है- 'यैः सत्त्वरजस्तमोभिर्गुणैर्नियतिनियमितैः धर्माद्यष्टांगता।'^{१०१}

(iii) नियतिवाद में जीव का स्वरूप- नियतिवादी के मत में चैतन्य या जीव के स्वरूप का प्रतिपादन करते हुए सिद्धसेन लिखते हैं- 'चैतन्यमपि नः सत्त्वो मोहादिज्ञानलक्षणः'^{१०२} इस पर आचार्य विजयलावण्यसूरि टीका करते हुए कहते हैं- नियतिवादी नित्य चैतन्य स्वरूप के अतिरिक्त आत्मा को स्वीकार नहीं करते, किन्तु क्रोध-मोह-लोभ आदि ज्ञानलक्षण रूप स्वभाव जिसका है उसको चैतन्य मानते हैं। इस मोहादिज्ञानस्वरूप चैतन्य को सत्त्व कहा है। जिसका चैतन्य आदि कारण है, वह तत्-तत् चैतन्य पूर्व-पूर्व चैतन्य का कारण होता है, इस प्रकार सत् होता है। पूर्वापर के चैतन्य तत्सदृश और तत्जातीय होते हैं। चैतन्य सम्यक् रूप से पूर्व में अपर भाव की कल्पना करता है और उस संकल्प से अपर भाव की रचना होती है। मोहादि ज्ञान स्वरूप पूर्व-पूर्व चैतन्य उत्तर-उत्तर चैतन्य का कारण होता है। पूर्व और अपर का संकलन या शामिल रूप एक चैतन्य का स्वरूप बनता है।^{१०३}

'जीव के स्वरूप' के संबंध में मुनिश्री भुवनचन्द्र जी अपने मन्तव्य को इस प्रकार प्रस्तुत करते हैं- 'चैतन्य से तात्पर्य है भान, मोह, इच्छा, विचार आदि का संवेदन। चैतन्य एक सत्त्व है। सामान्य रीति से सत्त्व का अर्थ जीव है।'^{१०४}

(iv) इन्द्रिय और मन का स्वरूप- सिद्धसेन दिवाकर नियतिवाद में मान्य इन्द्रिय और मन के स्वरूप का प्रतिपादन इस प्रकार करते हैं-

स्पर्शनादिमनोऽन्तानि भूतसामान्यजातिमान्।

मनोऽहन्नियतं द्रव्यं परिणाम्यनुमूर्ति च।^{१०५}

आचार्य विजयलावण्यसूरि उपर्युक्त श्लोक का तात्पर्य समझाते हुए कहते हैं कि स्पर्श, चक्षु, रसन, घ्राण, श्रवण और मन- ये इन्द्रियाँ हैं तथा भूतसामान्य जाति से युक्त अर्थात् भूतत्वलक्षणजाति से युक्त पृथ्वी आदि विषय हैं। मन अहं के द्वारा नियत द्रव्य है। मैं सुखी हूँ या मैं दुःखी हूँ, इस प्रकार के अभिमान से मन परिणमनशील है तथा प्रत्येक शरीर में पृथक्-पृथक् रूप से रहता है।^{१०६} स्पर्शनादि इन्द्रियों के विषय क्रमशः स्पर्श, रूप, रस, गंध शब्द हैं। इनमें परस्पर विरुद्ध धर्म होने से वैलक्षण्य है।^{१०७}

मुनि भुवनचन्द्र जी का मत है कि नियतिवादी के अनुसार आत्मा का कार्य मन करता है।^{१०८}

(v) स्वर्ग-नरकादि नियति से- नरक, तिर्यच, मनुष्य और देव इन चारों गतियों की चर्चा करते हुए सिद्धसेन कहते हैं-

यथा दुःखादिनिरयस्तिर्यक्षु पुरुषोत्तमाः।

रक्तायामजनायां तु सुखजा न गुणोत्तराः।।^{१०९}

टीकाकार विजय लावण्यसूरि अपनी टीका में इसे स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि अतिशय यातना से युक्त, एक-दूसरे को मारने से उत्पन्न दुःख, अतिदुःख, काम-क्रोध-मोह से अतिरेक वाले नरक के स्थान नियति से ही उस प्रकार के होते हैं, उससे अन्यथाभूत नहीं होते। तिर्यक् योनि में भी दुःख नियति के कारण है। विशिष्ट अतिशयशाली पुरुष भी इस भूमि पर नियति से होते हैं। देवलोक सुखसम्पन्न है, यह भी नियति का ही माहात्म्य है।^{११०}

(vi) ज्ञान में भी नियति- ज्ञान नियति के बल से ही होता है, इस तथ्य को सिद्धसेन दिवाकर ने रवि-पंकज के उदाहरण से स्पष्ट किया है-

न चोपदेशो बुद्धेः स्याद् रवि-पंकजयोगवत्।

तत्त्वानि प्रतिबुद्ध्यन्ते तेभ्यः प्रत्यभिजातयः।।^{१११}

अर्थात् जैसे सूर्य के उदित होने पर पंकज स्वयं विकसित हो जाता है। वहाँ कौन कहता है कि हे सूर्य! तू इस कमल को विकसित कर। अथवा हे कमल! तू सूर्योदय होने से विकसित हो जा। जैसे यह प्राकृतिक व्यवस्था स्वभाव से नियत है वैसे ही ज्ञान स्वभाव से नियत है। विशिष्ट जाति के कुलीन लोग पूर्वागम आदि से 'इस वाक्य का यह अर्थ है' और 'इसका यह अभिप्राय है' किसी प्रकार के उपदेश के बिना ही स्वभाव से वस्तु तत्त्व को जान लेते हैं। इनका यह स्वभाव नियति के बल से होता है।^{११२} इस प्रकार का विवेचन टीकाकार आचार्य विजयलावण्यसूरि करते हैं।

(vii) उच्चकुलीनों का स्वभाव नियति से नियत- प्रथम श्लोक में 'अभिजाति स्वभाव' का नाम निर्देश किया है, जबकि इस श्लोक में सिद्धसेन ने उच्चकुलीन व्यक्ति के स्वभाव को विस्तार से प्रतिपादित किया है-

समानाभिजनेष्वेव गुरुगौरवमानिनः।

स्वभावमधिगच्छन्ति न ह्यग्निः सममिध्यति।।^{११३}

टीकाकार कहते हैं कि अग्नि में दाहक भाव समान रूप से है, फिर भी वह सबको समान रूप से नहीं जलाती। दाह्य और अदाह्य वस्तु के ढेर में अग्नि दाह्य ईंधन को ही जलाती है, अदाह्य को नहीं। इस स्वभाव में नियति कारण है।^{११४} उसी प्रकार उच्च कुल वंश में उत्पन्न होने वाले ही श्रेष्ठ धर्म का उपदेश करने वाले और महनीय चारित्र, पूज्यतत्त्व को मानने वाले होते हैं। ये समभाव ये समदृष्टि होकर व्यवहार करते हैं, विषमदृष्टि बनकर नहीं। उच्चकुलीन व्यक्तियों का यह स्वभाव नियति से होता है।^{११५}

(viii) नियतिवादी द्वारा मान्य सृष्टि का स्वरूप- सुर-असुर और मानव की उत्पत्ति के संबंध में नियतिवादी की क्या मान्यता है तथा उनके अनुसार सृष्टि का स्वरूप कैसा है आदि बातों की जानकारी देते हुए सिद्धसेन ने 'नियति द्वात्रिंशिका' के इस श्लोक में कहा है-

सुरादिक्रम एकेषां मानसा ह्युत्क्रमक्रमात्।

सुख-दुःखविकल्पाच्च खाण्डियानोऽभिजातयः।।^{११६}

टीकाकार इस श्लोक पर टीका करते हुए लिखते हैं- कुछ आचार्यों के मत में सुर के बाद असुर हुए और किसी के अनुसार असुर के बाद सुर हुए। मन से मानव उत्पन्न होते हैं। ब्रह्मा अपनी इच्छानुसार क्रम का उल्लंघन कर प्रजा (जीवों) को उत्पन्न करता है। देवताओं को सुख ही होता है, नारकों को दुःख ही होता है और

मनुष्यों को सुख-दुःख दोनों होते हैं। सुख-दुःख के विभाग से ये सुर हैं, ये नरक हैं और ये मनुष्य हैं, इस प्रकार का विभाजन होता है। ये सभी विभिन्न विमान में अलग-अलग स्थित हैं। सुख-दुःख का यह आधार भी नियति की व्याख्या करता है।^{११७}

(ix) नियतिवाद द्वारा मान्य तत्त्व- सिद्धसेन ने नियतिवाद में मान्य तत्त्वों का नामोल्लेख निम्न श्लोक में किया है-

व्योमावकाशो नान्येषां कालो द्रव्यं क्रियाविधिः।

सुखदुःखरजोधातु-जीवाजीव-नभांसि च।।^{११८}

आचार्य विजयलावण्यसूरि ने अपनी टीका में इनका अर्थ स्पष्ट किया है- 'व्योमावकाशः-व्योम आकाशस्यावकाशः स्वभावः अर्थात् अवकाश आकाश का स्वभाव है। काल-क्षण-लव-विपल-पल-दण्ड-मुहूर्तादिभेदैर्व्यवत्रियमाणः अर्थात् क्षण, लव, विपल, पल, दण्ड आदि भेद से व्यवहार किया जाता है, वह काल है। द्रव्य- 'न तु सूर्यपरिस्पन्दादिः तस्य कालोपाधित्वेन कालत्वोपचारात्' अर्थात् कालद्रव्य नहीं है, किन्तु सूर्य परिस्पन्दन आदि से (रात-दिन) काल की उपाधि को उपचार से द्रव्य कहा गया है। क्रिया-नोत्क्षेपणावक्षेपणादिरूपा अर्थात् उत्क्षेपण और अवक्षेपण- ये क्रियाएँ नहीं हैं। विधि-नापि धात्वर्थसामान्यं नापि प्रतिषेधः किन्तु यजेत् कुर्यादिव्यादिलिंगादिप्रतिपाद्यः प्रवर्तको विधिः अर्थात् धात्वर्थ सामान्य नहीं है, ऐसा निषेध नहीं किया जा रहा है किन्तु विधि रूप में यज्ञ करना आदि लिङ् आदि का प्रतिपादन प्रवर्तक विधि है। सुखदुःखरजःधातुः- सुख-दुःख-रजो-धातुः न तु कफ-पित्त-वारवात्मतया प्रसिद्धः अर्थात् सुख-दुःख रजो धातु कफ- पित्त-वायु से युक्त नहीं है। जीवाजीव नभांसि च-उपयोगो लक्षणो जीवः, उपयोगरहितोऽजीवः, नभः गगनम्। तस्याजीवत्वेऽपि पृथक्कथनं जीवाजीवोभयाधारत्वस्वभावप्रतिपत्त्यर्थम् अर्थात् जीव उपयोग लक्षण वाला है, उपयोगरहित अजीव है। नभ गगन है। इन तीनों का पृथक् कथन किया गया है। नभ यद्यपि अजीव के अन्तर्गत आ जाता है, फिर भी वह जीव एवं अजीव दोनों का आधार रूप स्वभाव वाला है, यह बोध कराने के लिए ही उसका पृथक् कथन किया गया है।

(x) अनुमान का स्वरूप नियतिवाद में- नियतिवादी कुल कितने प्रमाण मानते हैं, यह तो ज्ञात नहीं, किन्तु प्रत्यक्ष एवं अनुमान प्रमाण मानने का उल्लेख अवश्य प्राप्त होता है। आचार्य सिद्धसेन दिवाकर ने प्रत्यक्ष प्रमाण तो सभी को मान्य

होने से उसके स्वरूप की चर्चा नहीं की, किन्तु नियतिवाद के अनुसार अनुमान प्रमाण के स्वरूप का प्रतिपादन किया है-

अनुमानं मनोवृत्तिरन्वयनिश्चयात्मिका।

त्रैकाल्यांगादिवृत्तान्ता हेतुरव्यभिचारतः।।^{११९}

अर्थात् अन्वय-निश्चयात्मिका मनोवृत्ति ही अनुमान है। वह भूत-भविष्य-वर्तमान तीनों कालों का अंग बनती है तथा साध्य में भी लागू होती है। अव्यभिचार के कारण हेतु से साध्य का ज्ञान होता है। यह ही अनुमान है।

२. कर्तृत्ववाद (आत्मवाद) के खण्डन में नियतिवाद का प्रतिपादन

नियति द्वात्रिंशिका के गुजराती अनुवादक एवं विवरणकार मुनि श्री भुवनचन्द्र जी ने उल्लेख किया है कि आचार्य सिद्धसेन दिवाकर के समय नियतिवादी अनात्मवादी बन गए थे।^{१२०} यही कारण है कि आचार्य सिद्धसेन द्वारा नियति द्वात्रिंशिका में आत्मवाद का निरसन करते हुए नियतिवाद के स्वरूप का निरूपण किया गया। आत्मवाद के खण्डन के साथ जो नियतिवाद का स्वरूप अंकित है, उसे यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है-

(i) शरीर आदि का कर्ता आत्मा नहीं-

आत्मवाद का मत है- आत्मा ही सब कुछ करता है। आत्मा ही शरीर, इन्द्रिय वृत्ति से उत्पन्न सुख-दुःख आदि में स्वतन्त्र रूप से कारण है। इस हेतु का आचार्य सिद्धसेन खण्डन करते हुए कहते हैं-

शरीरेन्द्रियनिष्पत्तौ यो नाम स्वयमप्रभुः।

तस्य कः कर्तृवादोऽस्तु तदायत्तासु वृत्तिषु।।^{१२१}

अर्थात् शरीर और इन्द्रिय की निष्पत्ति में जो स्वयं असमर्थ है, वह आत्मा कर्ता कैसे हो सकता है? यानी नहीं हो सकता।

टीकाकार ने इस तर्क का विस्तारित रूप प्रस्तुत करते हुए कहा- अतिसन्निकट और अत्यन्त उपकारी शरीर का आत्मा कर्ता नहीं है और न ही इन्द्रियों के निर्माण का हेतु है। आत्मा के अतिरिक्त ईश्वर, काल, दृष्ट आदि भी शरीर के अंग-प्रत्यंग के स्वरूप की उत्पत्ति में सहायक नहीं बनते। अपितु नियति के माहात्म्य से ही भ्रूण वीर्य खून के संयोग से उत्पन्न बुद्बुद, कलल (भ्रूण की अवस्थाओं के नाम) आदि अवस्थाओं में परिणत होकर हस्त-पाद-मस्तक आदि से निष्पन्न होता है। नियति के कारण ही मनुज-देव पक्षी आदि विलक्षण जाति शरीर में उत्पन्न होती है।^{१२२}

(ii) जगद्वैचित्र्य और धर्म-अधर्म का अप्रत्यक्ष रूप कर्तृत्ववाद को सिद्ध करने में असमर्थ- कर्तृत्ववाद कर्ता प्रधान है तथा उसमें कर्ता की इच्छा या प्रयत्न ही मुख्य आधार है। कर्तृत्ववाद के इस पक्ष का खण्डन करते हुए आचार्य विजयलावण्यसूरि तर्क देते हैं कि कर्ता की इच्छानुसार जगत् में कार्य होता नहीं देखा जाता। जैसे-सभी जीव दुःख नहीं चाहते और न ही नीच कुल-गोत्र आदि की इच्छा करते हैं, अपितु वे तो अतिशय सुख और उच्च कुल की कामना करते हैं। किन्तु सभी जीवों को चाहने पर भी सुख व उच्च कुल नहीं मिलता। यदि पुरुष प्रयत्न या इच्छा ही सभी कार्यों का कारण मानी जाए तो सब सुखी हो जायेंगे, फिर सुख-दुःख रूप जगद्वैचित्र्य दृष्टिगोचर नहीं होगा। किन्तु वस्तुस्थिति ऐसी नहीं होने से आत्मवाद या कर्तृत्ववाद अनुचित सिद्ध होता है।^{१२३}

कर्तृत्ववाद के खण्डन में एक अन्य तर्क देते हुए सिद्धसेन कहते हैं-

धर्माधर्मौ तदाऽन्योन्यनिरोधातिशयक्रियौ।

देशाद्यापेक्षौ च तयोः कथं कः कर्तृसंभवः॥^{१२४}

टीकाकार ने तर्क को समझाते हुए कहा- एक के जीवन में धर्म का अतिशय होने से सुख में उत्कृष्टता और दूसरे जीव के धर्म की अतिशयता न होने से सुख में निकृष्टता देखी जाती है। इसी प्रकार अधर्म का अतिशय होने पर तथा कमी होने पर दुःख में भी क्रमशः उत्कृष्टता और कमी आती है। ये सभी देश, काल आदि की अपेक्षा रखते हैं। धर्म-अधर्म दोनों आत्मवाद को सिद्ध करने में समर्थ नहीं हैं; क्योंकि धर्म-अधर्म प्रत्यक्ष रूप से अनुभव नहीं किये जाते। अतः ये किसी कार्य के कर्ता नहीं हो सकते। इस प्रकार धर्म-अधर्म के स्वभाव का नियमन नियति से संभव है।^{१२५}

(iii) उपादान-निमित्त कारण से कर्तृप्राधान्यवाद का घात- उपादान और निमित्त कारणों के साथ आत्मा को कर्ता स्वीकार करने पर स्वमत (आत्मवाद) स्वतः निरसन को प्राप्त हो जाता है। इन भावों से कलित सिद्धसेन के शब्द-

यत्प्रवृत्त्योपमर्देन वृत्तं सदसदात्मकम्।

तद्वेतरनिमित्तं वेत्युभयं पक्षघातकम्॥^{१२६}

इन गूढ़ भावों को अपने विचारों में प्रतिबिम्बित करते हुए आचार्य विजयलावण्य सूरि कहते हैं- कार्य की निष्पत्ति के अनुकूल व्यापार ही कार्य का कारण है। ये एक-दूसरे से संवलित रहते हैं। परिदृश्यमान अर्थात् उपादान कारण और अन्य अतिरिक्त यानी निमित्त कारण, दोनों के होने पर कार्य होता है न कि कर्ता के व्यापार मात्र से। उपादान और निमित्त दोनों कारणों से कर्तृप्राधान्यवाद का घात होता

है, क्योंकि कारक व्यापार से निष्पादित कार्य से कर्ता अतिरिक्त होता है। उन निमित्त कारणों के होने से कर्ता ही कारण है, यह पक्ष सिद्ध नहीं होता है। नियति आदि से नियमित उपादान ही सत् कार्य में व्यापार करता है। यह नियति ही कार्य की निमित्त होती है। इस प्रकार आत्मवाद का निरसन होता है।^{१२७}

(iv) दृष्टान्तमात्र से आत्मवाद को सिद्ध करना असंभव- आत्मवादी एक दृष्टान्त से अपने मत का प्रतिपादन करते हुए कहते हैं- ग्रामाध्यक्ष, देशाध्यक्ष और प्रधान सेनापति आदि से युक्त राजा, राज्य प्रशासन आदि कार्य में स्वतन्त्र भी होता है और अन्यथा भी करने में समर्थ होता है तथा जीव भी दृष्ट, अदृष्ट कारणों से युक्त होकर सुखादि कार्य को करने में स्वतंत्र भी होता है, परतंत्र भी होता है और अन्यथा करने में भी समर्थ होता है।^{१२८}

राजा के दृष्टान्त से आत्मवाद का प्रतिपादन करना आकाश-कुसुम को सिद्ध करने के समान है। इस अभिप्राय से दिया गया सिद्धसेन का निम्न तर्क-

न दृष्टान्तीकृता शक्तेः स्वातन्त्र्यं प्रतिषिध्यते।

अनिमित्तं निमित्तानि निमित्तानीत्यवारितम्।^{१२९}

इस श्लोक के अन्तर्निहित भाव को प्रकाशित करते हुए टीकाकार कहते हैं- राजा आदि का दृष्टान्त युक्ति रहित है। वादी को कर्ता का स्वातन्त्र्य स्वीकृत है, दृष्टान्त मात्र से सिद्ध की गई बात को निराकृत करने का प्रयास करना व्यर्थ है। क्योंकि वाङ्मात्र से किसी वस्तु को स्वीकार करने वाला वक्ता का मुख टेढ़ा नहीं होता है, और न ही इस प्रकार से सिद्ध की गई वस्तु को सिद्धि की श्रेणि में लिया जा सकता है। अतः वास्तव में असिद्ध वस्तु का निषेध करना उपयुक्त नहीं है। वस्तुतः जीव के कर्ता के स्वातन्त्र्य का अभाव है। अनिमित्त का प्रतिषेध नहीं किया जाता, अपितु सनिमित्त का प्रतिषेध किया जाता है। सुख-दुःख की उत्पत्ति आत्मा की अपेक्षा से नहीं होती, अपितु दृष्ट-अदृष्ट (धर्म-अधर्म) के निमित्त से होती है। ये दृष्ट-अदृष्ट नियति से होते हैं।^{१३०}

इस प्रकार सिद्धसेनसूरि की नियतिद्वात्रिंशिका में नियतिवाद के संबंध में विभिन्न तथ्य प्रकट हुए हैं।

हरिभद्रसूरिकृत शास्त्रवार्ता समुच्चय में नियतिवाद

शास्त्रवार्ता समुच्चय में मूर्धन्य दार्शनिक हरिभद्रसूरि (८वीं शती) ने विभिन्न युक्तियों से नियतिवाद का उपस्थापन किया है। इनके टीकाकार यशोविजय ने अपनी तीक्ष्ण मति से उन सारगर्भित युक्तियों को सुगम बनाकर प्रस्तुत किया है-

१. वस्तु का साधारण धर्म : नियतिजन्यता-

सभी पदार्थ नियतरूप से ही उत्पन्न होते हैं। नियत रूप का अर्थ है- वस्तु का वह असाधारण धर्म जो उसके सजातीय और विजातीय वस्तुओं से व्यावृत्त होता है। यह रूप वस्तु के स्वभाव का अनुगामी होता है एवं सदृश पदार्थों में स्वभाव से ही अनुगत होता है। नियत रूप से पदार्थों की उत्पत्ति यह मानने को बाधित करती है कि सभी पदार्थ किसी ऐसे तत्त्व से उत्पन्न होते हैं, जिससे उत्पन्न होने वाले पदार्थों में नियतरूपता का नियमन होता है- पदार्थों के कारणभूत उस तत्त्व का ही नाम 'नियति' है। उत्पन्न होने वाले पदार्थों में नियतिमूलक घटनाओं का ही संबंध होता है इसलिए भी सभी को नियतिजन्य मानना आवश्यक है।^{१३१} जैसा कि कहा है-

नियतेनैव रूपेण सर्वे भावा भवन्ति यत्।

ततो नियतिजा ह्येते तत्स्वरूपानुवेधतः।।^{१३२}

टीकाकार कहते हैं- तीक्ष्ण शस्त्र का प्रहार होने पर भी सबकी मृत्यु नहीं होती, किन्तु कुछ लोग ही मरते हैं और कुछ लोग जीवित रह जाते हैं। इसकी उत्पत्ति के लिए यह मानना आवश्यक है कि प्राणी का जीवन और मरण नियति पर निर्भर है। जिसका मरण जब नियतिसम्मत होता है तब उसकी मृत्यु होती है और जिसका जीवन जब तक नियति असम्मत है तब तक मृत्यु का प्रसंग बार-बार आने पर भी वह जीवित ही रहता है, उसकी मृत्यु नहीं होती।^{१३३}

२. प्रमाणसिद्ध नियति

जो प्रमाणसिद्ध कारण है, उसका कोई भी विद्वान् किसी तर्क से खण्डन नहीं कर सकता, क्योंकि प्रमाणसिद्ध पदार्थ में बाधक तर्क का प्रवेश नहीं होता है। नियति के स्वरूप के अनुसार ही जगत् में घटादि कार्यों की उत्पत्ति देखी जाती है, इसलिए नियति प्रमाण से सिद्ध है। नियति का स्वरूप बताते हुए हरिभद्रसूरि कहते हैं-

यद्वादैव यतो यावत्तदैव ततस्तथा।

नियतं जायते, न्यायात्क एतां बाधितुं क्षमः?^{१३४}

जो कार्य जिस समय जिससे जिस रूप में उत्पन्न होना होता है, वह नियत रूप से उसी समय उसी कारण से उसी रूप में उत्पन्न होता है।

नियतिरूपविशिष्ट कार्य की उत्पत्ति ही नियति की सत्ता में प्रमाण है, क्योंकि यदि नियत रूप से कार्य की उत्पत्ति का कोई नियामक नहीं होगा तो कार्य की

नियतरूपता आकस्मिक हो जाएगी अर्थात् किसी वस्तु का कोई नियतरूप सिद्ध न हो सकेगा।^{१३५}

३. नियति के बिना मुद्र-पाक भी अशक्य

संसार में नियति के बिना मूंग का पाक भी नहीं देखा जाता, जैसा कि हरिभद्र सूरि कहते हैं-

न चर्ते नियतिं लोके मुद्रपक्तिरपीक्ष्यते।

तत्स्वभावादिभावेऽपि नासावनियता यतः।।^{१३६}

स्वभाव आदि भावों का व्यापार स्वीकार करने पर भी मूंगों का पकना अनियत होता है। नियति ही मूंग के पकने या न पकने में कारण होती है।

४. कार्य का सम्यक् निश्चय : नियति

दण्ड आदि सभी कारणों की उपलब्धि होने पर घट अवश्य होता है- ऐसा सम्यक् निश्चय नहीं हो सकता, क्योंकि दण्ड आदि सभी हेतुओं के होने पर भी अनेक बार प्रतिबन्धक कारणों से घटोत्पत्ति नहीं हो पाती। अतः दण्ड आदि के होने पर घटोत्पत्ति की केवल संभावना की जा सकती है, निश्चयात्मक रूप से नहीं कहा जा सकता है। इसलिए सम्यक् निश्चय के अभाव में कार्य के दृष्ट कारणों से कार्य की सिद्धि नहीं हो सकती, किन्तु 'जिसका होना नियत है वह होता ही है' यह सम्यक् निश्चय है, क्योंकि इसमें विपरीतता नहीं होती। अतः इस निश्चय से नियति में कार्य की जनकता की सिद्धि निर्बाध है।^{१३७}

कोई यह प्रश्न करता है कि 'कार्य की उत्पत्ति के पूर्व कार्यार्थी को नियति का निश्चय नहीं होता है तो फिर कार्य के उत्पादनार्थ उसकी प्रवृत्ति कैसे होगी? तब नियतिवादी उत्तर देते हैं कि कार्यार्थी की प्रवृत्ति नियति का ज्ञान हुए बिना ही होती है। वह 'कार्य की उत्पत्ति अवश्य होगी' इस बात के निश्चय से प्रवृत्त नहीं होता, वह तो यही सोचकर प्रवृत्त होता है कि यदि नियति होगी तो कार्य अवश्य ही होगा। अतः कार्य के लिए जो कुछ वह कर सकता है वह उसे करना चाहिए। अतः यह स्पष्ट है कि कार्यार्थी की प्रवृत्ति अविद्या से ही होती है, कार्य की सिद्धि तो नियतिवश सम्पन्न होती है।^{१३८}

५. नियति बिना कार्य में सर्वात्मकता की आपत्ति

नियति के पक्ष में एक अन्य हेतु देते हुए हरिभद्रसूरि कहते हैं-

अन्यथाऽनियतत्वेन सर्वभावः प्रसज्यते।

अन्योन्यात्मकतापत्तेः क्रियावैफल्यमेव च।।^{१३९}

तात्पर्य यह है कि यदि कार्य को नियतिजन्य नहीं मानेंगे तो कार्य में नियतरूपता का कोई नियामक नहीं बनेगा। नियामकता के अभाव में उत्पन्न होने वाले कार्यों में सर्वात्मकता की आपत्ति आ जाएगी। सर्वात्मकता से अभिप्राय एक ही कारण से सभी कार्यों का होना है। कार्य के सर्वात्मक होने पर घट-पट आदि कार्यों में कोई अन्तर नहीं रह जाएगा अर्थात् उनमें अन्योन्यात्मकता हो जाएगी। इस प्रकार एक कार्य के उत्पन्न होने पर अन्य कार्य भी सिद्ध हो जायेंगे। अन्योन्यात्मकता की प्रसक्ति होने से क्रिया करना निरर्थक हो जाएगा। नियति को स्वीकार करने पर सर्वात्मकता की आपत्ति नहीं हो सकती। क्योंकि भिन्न-भिन्न कार्यों या भिन्न-भिन्न व्यक्तियों का तत्ता (उनका वैसा होना) नियतिमूलक धर्म है। नियति तत्ता विशिष्ट ही व्यक्ति को उत्पन्न करती है। अतः इसमें सर्वात्मकता, अन्योन्यात्मकता आदि दोषों का अवकाश नहीं है।

लोक तत्त्व निर्णय में नियतिवाद

आचार्य हरिभद्रसूरि (८वीं शती) ने अपने ग्रन्थ 'लोक तत्त्व निर्णय' में नियतिवाद का स्वरूप प्रतिपादित करते हुए लिखा है-

स्वच्छन्दतो न हि धनं न गुणो न विद्या,

नाप्येव धर्माचरणं न सुखं न दुःखम्।

आरुह्य सारथिवशेन कृतांतयानं,

दैवं यतो नयति तेन यथा ब्रजामि।।^{१४०}

धन, गुण, विद्या, धर्माचरण, सुख और दुःख स्वच्छन्दता से प्राप्त नहीं होते हैं। जैसे कृतांत (यमराज) के यान में आरुढ़ होने पर व्यक्ति सारथि के वशीभूत हो जाता है उसी प्रकार दैव जिस ओर ले जाता है जीव उसी मार्ग से जाता है।

यशोविजयकृत नयोपदेश में नियतिवाद

सत्रहवीं शती में न्यायाचार्य यशोविजय ने नयोपदेश में नियतिवाद का नामोल्लेख मिथ्यात्व के ६ स्थान के अन्तर्गत किया है।^{१४१} वे ६ स्थान इस प्रकार हैं-

१. नास्ति आत्मा- चार्वाक मत

२. न नित्यः - क्षणिकवादी बौद्धमत

३. न कर्ता न भोक्ता/ न कर्ता- सांख्य मत
४. न भोक्ता- वेदान्त मत
५. नास्ति निर्वृति - मीमांसक मत
६. अस्ति मुक्ति : परं तदुपायो, नास्ति

सर्वभावानां नियतत्वेनाकस्मादेव भावादिति। -नियतिवादी

यहाँ नियतिवादी का मन्तव्य है कि मुक्ति तो है, किन्तु उसका उपाय नहीं है। सभी भावों (पदार्थों/ कार्यों) के नियत होने से सब कुछ अकस्मात् ही होता है।

तिलोकऋषि द्वारा निबद्ध काव्य में नियतिवाद

आधुनिक युग के सन्त श्री तिलोकऋषि (वि.सं.१९३०) ने 'नियतिवाद' को इस प्रकार पद्यबद्ध किया है^{१४३}-

भवितव्यवादी कहे सुणरे स्वभाव मूढ,
 भवितव्य बिना कोउ काज न सरत है।
 अंब मोर बसंत में लागत है केई लाख,
 केई खिरे-खोटो केई अंब के परत है।।
 उदधि तिरत फुनि भ्रमत जंगल बीच,
 करत जतन कोउ भावो न टरत है।
 होतब के वश बिनचिंतव्यो मिलत आप
 बिन ही नियत होणहार न टरत है।
 मन्दोदरी समझायो रावण को भाँत-भाँत,
 मानो नहीं बात स्वयं चक्र थी मरत है।
 मदिरा प्रसंग द्वारामति को दहण सुण,
 करत जतन हरि तोई भी जरत है।
 परशुराम फरसी से मारे क्षत्री केई लाख,
 सम्भु मार लियो ताकूँ, फरसी हरत है।

सेनापति देव की न मानी सभी बात कुछ
 नियति के बश हो उदधि में मरत है।
 ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती ताकूँ देवे सेबे कई,
 होतव थी सोले वर्ष अधिक फिरत है।
 वाट उड़ जाने किसो सीचाणो ने रोक लीवी,
 खलये पारथी तीर बाण ले धरत है।
 तिण समे अहेडीको डस्यो नाग अचानक
 छूटो हाथ सेती तीर सीचाणो मरत है।
 उड़ गयो पंखीयो सो आल नहीं आयो रंच,
 नियति के बशकर विघ्न टरत है।
 झट कालगत केई रण मांही बचे नर,
 नियति के बश सास धीर न धरत है।
 ऊँट अश्व ससादिक शृंग नहीं उगे कुछ
 अभवी न जाने मोक्ष लेष्टु न तरत है।
 जन्म मरण जरा व्याधि रोग सोग जोग
 दुःख सुख भूखादिक नियति करत है।।

अर्थात् भवितव्यतावादी अपने पक्ष को सुदृढ़ करते हुए कहते हैं कि भवितव्य के बिना कोई भी कार्य नहीं होता है। बसन्त ऋतु में वृक्षों पर आम बार-बार लगते हैं, परन्तु उनमें से कुछ आम खट्टी अवस्था (कच्चे) में तथा कुछ आम पकने के बाद गिरते हैं। कोई व्यक्ति भवितव्यता के वश समुद्र में गिरकर भी बच जाता है एवं होनहार के कारण ही वनों में भटकता है। करोड़ों प्रयत्न करने के बावजूद भी नियत होनहार टलती नहीं है। होनहार के कारण ही विचार किये बिना ही वस्तु मिल जाती है। जो होने वाली बात नहीं है, वह प्रयत्नशील रहने पर भी नहीं होती है। जिस प्रकार मन्दोदरी रानी ने अपने स्वामी रावण को अनेक प्रकार से समझाया, परन्तु उसने बात को सुनी अनसुनी कर दी। अन्त में अपने ही चक्र से होनहार के कारण खुद मर

गया। मदिरापान के कारण द्वारकापुरी का दहन होगा, ऐसा सुनकर श्री कृष्ण जी ने द्वारका को बचाने के अनेक प्रयत्न किये फिर भी होनहार के वश द्वारकापुरी जल ही गई, बची नहीं।

परशुराम ने अपने फरसे के द्वारा लाखों क्षत्रियों को मारा, परन्तु अन्त में संभु अर्थात् सुभूम चक्रवर्ती के द्वारा परशुराम मारा गया। यह सब नियति के माहात्म्य से ही संभव हो पाया। सुभूम चक्रवर्ती ने सातवाँ खण्ड साधने का निश्चय किया, उस समय सेनापति एवं सेवा में रहने वाले देवताओं ने प्रार्थना की कि छः खण्ड के ऊपर सातवें खण्ड को साधने की भर्यादा चक्रवर्ती की नहीं है, अर्थात् सातवें खण्ड को जीतने की इच्छा मत करो, परन्तु वह बात न मानी, जिससे होनहार के कारण उन्हें समुद्र में गिरकर मरना पड़ा। ब्रह्मदत्त नाम के चक्रवर्ती थे, उनकी भी सेवा में देवता रहते थे। किन्तु होनहार के कारण उन्हें भी सोलह वर्ष भटकना पड़ा।

यहाँ नियति का महत्त्व एक दृष्टान्त देकर दिखलाया गया है। एक पक्षी उड़कर आकाश मार्ग से जा रहा था, तभी पक्षियों को मारने वाले सीचानक पक्षी ने उसको देखा और आक्रमण कर दिया। उसी समय पक्षी को मारने के लिए शिकारी ने बाण छोड़ा, अकस्मात् साँप ने उस शिकारी को डस खाया। डसने के कारण निशाना चूक गया तथा सीचानक पक्षी मारा गया। अतः जिस पक्षी पर शिकारी ने निशाना लगाया था, वह तो उड़ गया, कुछ भी चोट नहीं आई, बदले में सीचानक पक्षी मारा गया। अर्थात् नियति के कारण विघ्न भी टल जाते हैं।

भवितव्यता के वश होकर रण संग्राम में जाकर कितने ही मरण को प्राप्त होते हैं एवं कितने ही बच जाते हैं। नियतिवश होकर ही धीर आदमी को साहस उत्पन्न नहीं होता। ऊँट, घोड़े, खरगोश इत्यादि के नियति के कारण ही शृंग नहीं आते एवं अभवी को मोक्ष प्राप्त नहीं होता। नियति के कारण पत्थर पानी पर नहीं तैरता है। जन्म, जरा, मरण, व्याधि, रोग, शोक, योग, दुःख, सुख एवं भूख आदि नियति के बल पर ही होते हैं।

दिगम्बर ग्रन्थों में नियति की चर्चा

स्वयम्भूस्तोत्र में नियति

नियति के संबंध में समन्तभद्र (छठी शती) का यह श्लोक प्रसिद्ध है—

“अलङ्घ्याशक्तिर्भवितव्यतेयं हेतुद्वयाविष्कृतकार्यलिङ्गा।

अनीश्वरो जन्तुरहंक्रियार्तः संहत्य कार्येष्विति साध्ववादीः।।”^{१४९}

अर्थात् उपादान और निमित्त इन दोनों हेतुओं (कारणों) द्वारा उत्पन्न होने वाले कार्य से जिसका ज्ञान होता है, ऐसी भवितव्यता दुर्निवार है। क्योंकि अहंकार से पीड़ित यह प्राणी तंत्र-मंत्रादि सहकारी कारणों को मिलाकर भी सुखादि कार्यों के उत्पन्न करने में अनीश्वर (असमर्थ) है।

अष्टशती में भवितव्यता

अकलंक देव (७२०-७८० ई.शती) ने भी 'अष्टशती' में भवितव्यता के संबंध में एक बहुत ही सुन्दर श्लोक उद्धृत किया है, जो इस प्रकार है-

तादृशी जायते बुद्धिर्व्यवसायश्च तादृशः।

सहायास्तादृशाः सन्ति यादृशी भवितव्यता।।

जैसी भवितव्यता होती है वैसी ही बुद्धि हो जाती है, व्यवसाय (प्रयत्न) भी वैसा ही होता है और सहायक भी वैसे ही मिल जाते हैं।

गोम्मतसार एवं स्वांभिकार्तिकेयानुप्रेक्षा में नियति

नियति को परिभाषित करते हुए गोम्मतसार कर्मकाण्ड में कहा है-

जत्तु जदा जेण जहा जस्स य णियमेण होदि तत्तु तदा।

तेण तहा तस्स हवे इदि वादो णियदिवादो दु।।^{१००}

अर्थात् जो, जब, जिसके द्वारा, जैसे, जिसका नियम से होने वाला है, वह उसी काल में, उसी के द्वारा, उसी रूप से नियम से उसका होता है, ऐसा नियति का स्वरूप मानना नियतिवाद है।

नियति कोई वस्तुभूत पदार्थ नहीं है। न वह कोई द्रव्य है, न किसी द्रव्य का कोई गुण है और न किसी की कोई पर्याय। नियति उस काल का नाम है जिसमें कोई विवक्षित कार्य सिद्ध होना होता है। इसी प्रकार भवितव्य भी उस कार्य का नाम है जो उस काल में सिद्ध होना होता है। 'नियति' शब्द कालसूचक है और 'भवितव्य' भावसूचक। 'नियति' का अर्थ है निश्चित समय पर किसी कार्य का होना 'भवितव्य' का अर्थ है वह कार्य जो कि उस निश्चित समय में होने योग्य है। 'नियति' या निश्चित समय द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव, निमित्त व पुरुषार्थ सब पर लागू होता है। तात्पर्य यह है कि जिस द्रव्य में कार्य या अवस्था उत्पन्न होनी होती है वह उस समय निश्चित समय निश्चित रूप से वही होता है, जिस स्थान पर वह कार्य होना होता है वह क्षेत्र भी उस समय निश्चित रूप से वही होता है, वह समय भी निश्चित रूप से वही होता है, जिस प्रकार का तथा जो कार्य होना होता है वह कार्य या भवितव्य भी उस समय वही होता

है, जिस निमित्त से होना होता है, वह निमित्त भी उस समय वही होता है और जिस प्रकार के पुरुषार्थ द्वारा होना होता है वह भी उस समय निश्चित रूप से वही होता है। इन भावों को 'स्वामिकार्तिकियानुप्रेक्षा' की निम्नांकित गाथाएँ प्रमाणित करती हैं—

जं जस्स जम्मि देसे जेण विहाणेण जम्मि कालम्मि।

णादं जिणेण णियदं जम्मं वा अहव मरणं वा।।

तं तस्स तम्मि देसे तेण विहाणेण तम्मि कालम्मि।

को सक्कदि वारेदुं इंदो वा तह जिणिंदो वा।।^{१५}

अर्थात् जिस जीव के जिस देश में, जिस काल में, जिस विधान से जो जन्म अथवा मरण जिनदेव ने नियत रूप से जाना है, उस जीव के उसी देश में, उसी काल में, उसी विधान से वह अवश्य होता है, उसे इन्द्र अथवा जिनेन्द्र भी टालने में समर्थ नहीं है।

पदार्थ की प्रत्येक पर्याय का द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव नियत है। प्रत्येक पदार्थ में प्रति समय पूर्व पर्याय नष्ट होती है और उत्तर पर्याय उत्पन्न होती है। पूर्व पर्याय उत्तर पर्याय का उपादान कारण है और उत्तर पर्याय पूर्व पर्याय का कार्य है। इसलिए पूर्व पर्याय से जो चाहे उत्तर पर्याय उत्पन्न नहीं हो सकती, किन्तु नियत उत्तर पर्याय ही उत्पन्न होती है। उत्तर पर्याय के नियत होने से सर्वज्ञ उसे अपने ज्ञान में उस रूप में जान लेते हैं।

नियत पर्याय नहीं मानने पर मिट्टी के पिण्ड में स्थास कोस पर्याय के बिना भी घट पर्याय बन जाएगी। अतः यह मानना होगा कि प्रत्येक पर्याय का द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव नियत है। किन्तु कुछ लोग प्रत्येक पर्याय का द्रव्य, क्षेत्र और भाव तो नियत मानते हैं, किन्तु काल को नियत नहीं स्वीकार करते। उनके अनुसार काल को नियत मानने से पौरुष व्यर्थ हो जाता है। किन्तु वास्तविकता यह नहीं है क्योंकि समय से पहले किसी काम को पूरा कर लेने से ही पौरुष की सार्थकता नहीं होती। उदाहरणार्थ— किसान योग्य समय पर गेहूँ बोता है और खूब श्रमपूर्वक खेती करता है। उसके बाद ही नियत काल में पककर गेहूँ तैयार होता है। नियत काल में गेहूँ के होने से क्या किसान का पौरुष व्यर्थ हो जाएगा? यदि वह पौरुष न करता तो समय पर उसकी खेती पककर तैयार न होती, अतः काल की नियतता में पौरुष के व्यर्थ होने की आशंका निर्मूल है।

इस प्रकार कहा जा सकता है कि द्रव्य, क्षेत्र और भाव नियत होते हुए काल अनियत नहीं हो सकता। यदि काल को अनियत माना जाएगा तो काललब्धि जैसी

कोई चीज ही नहीं रहेगी। संसार परिभ्रमण का काल अर्धपुद्गल परावर्तन से अधिक शेष रहने पर भी सम्यक्त्व प्राप्त हो जाएगा और बिना उस काल को पूरा किये ही मुक्ति हो जाएगी। अतः प्रत्येक पदार्थ की पर्याय द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव से नियत है।

जैनागम एवं दार्शनिक ग्रन्थों में नियतिवाद का निरूपण एवं निरसन

अब यहाँ जैनागमों एवं अन्य प्राचीन ग्रन्थों के आधार पर नियतिवाद को पूर्व में प्रस्तुत कर उसका खण्डन किया जाएगा। सूत्रकृतांग और उसकी टीका में, प्रश्नव्याकरण की टीकाओं में, सन्मति तर्क की टीका में, द्वादशारनयचक्र में, शास्त्रवार्ता समुच्चय में, धर्मसंग्रहण में, जैन तत्त्वादृश आदि ग्रन्थों में विभिन्न तर्कों के द्वारा नियतिवाद के ऐकान्तिक पक्ष को अनुपयुक्त या मिथ्या बतलाया गया है।

सूत्रकृतांग और उसकी शीलांक टीका में नियतिवाद का निरूपण एवं निरसन

सूत्रकृतांग के प्रथम अध्ययन में स्वसिद्धान्त तथा परसिद्धान्त की व्याख्या समुपलब्ध होती है। परसिद्धान्त के अन्तर्गत पंचभूतवादी, आत्म-अद्वैतवादी, नियतिवादी आदि कई सिद्धान्तों का प्रतिपादन इस आगम में मिलता है। नियतिवाद का निरूपण निम्नांकित गाथा में हुआ है-

सयं कडं न अण्णोहिं, वेदयंति पुढो जिया।

संगइअं तं तहा तेसिं, इहमेगेसिं आहिअं।^{१७६}

अर्थात् सुख और दुःख न तो स्वयं का किया हुआ है और न दूसरे के द्वारा किया हुआ है। यह तो सांगतिक है, ऐसा इस दार्शनिक जगत् में किन्हीं (नियतिवादियों) का कथन है।

जीवों द्वारा सुख-दुःख को भोगना संगइअं अर्थात् नियतिकृत है। गाथा में विद्यमान 'संगइअं' पद को व्याख्यायित करते हुए शीलांकाचार्य (९-१०वीं शती) कहते हैं- "नियतिवादी स्वाभिप्रायमाविष्करोति 'संगइअं' ति, सम्यक् परिणामेन गतिः- यस्य यदा यत्र यत्सुखदुःखानुभवनं सा संगतिर्नियतिस्तस्यां भवं सांगतिकं, यतश्चैवं न पुरुषकारादि कृतं सुखदुःखादि अतस्तत्तेषां प्राणिनां नियतिकृतं सांगतिकमित्युच्यते"^{१७७} तात्पर्य है कि नियतिवादी सम्यक् अर्थात् अपने परिणाम से जो गति है उसे 'संगति' कहते हैं। जिस जीव को जिस समय जहाँ जिस सुख-दुःख को अनुभव करना होता है, वह संगति कहलाती है। यह संगति ही नियति है और इस नियति से जो सुख-दुःख उत्पन्न होते हैं, उसे 'सांगतिक' कहते हैं। अतः

प्राणियों के सुख-दुःख आदि उनके उद्योग द्वारा किए हुए नहीं, किन्तु उनकी नियति द्वारा किए हुए हैं, इसलिए वे सांगतिक कहलाते हैं।

जो सुख-दुःखादि की प्राप्ति होती है वह पुरुषकारकृत कारण से जन्य नहीं है। यदि पुरुषकार कृत सुखादि का अनुभव हो तो सेवक, वणिक्, कर्षक आदि के द्वारा समान पुरुषार्थ करने पर फल-प्राप्ति में विसदृशता नहीं होनी चाहिए, किन्तु विसदृशता देखी जाती है तथा कभी-कभी फल की अप्राप्ति भी देखी जाती है। किसी के सेवा आदि व्यापार न करने पर भी विशिष्ट फल की प्राप्ति देखी जाती है। इसलिए पुरुषकार से कुछ भी प्राप्त नहीं होता। तो फिर किससे प्राप्त होता है? नियति से ही सब कुछ प्राप्त होता है। काल भी कार्य का कर्ता नहीं है, उसके एक रूप होने के कारण से जगत् में फल की विचित्रता उत्पन्न नहीं हो सकती। कारण का अभेद होने पर भी कार्य का भेद देखा जाता है। कारण का भेद नहीं होने से सुख-दुःख ईश्वरकर्तृक भी नहीं है।^{१४८} स्वभाव को भी कारण नहीं माना जा सकता, वह पुरुष से भिन्न है या अभिन्न? यदि भिन्न है तो पुरुष के आश्रित सुख-दुःख को करने में समर्थ नहीं हो सकता। यदि अभिन्न है तो वह पुरुष ही होगा और उसकी अकर्तृकता कह दी गई है। कर्म की भी सुख-दुःख के प्रति कर्तृता संभव नहीं है। क्योंकि उसके भी दो विकल्प होते हैं वह कर्म पुरुष से भिन्न है या अभिन्न। यदि अभिन्न है तो पुरुष मात्र होने की आपत्ति आती है। यदि भिन्न है तो वह सचेतन है या अचेतन? यदि सचेतन है तो एक ही शरीर में दो चैतन्य की आपत्ति आती है। यदि अचेतन है तो पाषाण खण्ड आदि की भाँति सुख-दुःख को उत्पन्न करने में उसका कर्तृत्व नहीं हो सकता।^{१४९}

सुख और दुःख दोनों ही सैद्धिक और असैद्धिक दोनों प्रकार के होते हैं। फूलमाला, चन्दन और सुन्दर स्त्री आदि के उपभोगरूप सिद्धि से उत्पन्न सुख 'सैद्धिक' है तथा चाबुक से मारना और गर्म लोहे से दागना आदि सिद्धि से उत्पन्न दुःख 'सैद्धिक' है। जिसका बाह्य कारण ज्ञात नहीं है ऐसा जो आनन्द रूप सुख मनुष्य के हृदय में अचानक उत्पन्न होता है वह असैद्धिक सुख है तथा ज्वर, शिरः पीड़ा और शूल आदि दुःख जो अपने अंग से उत्पन्न होते हैं वे असैद्धिक दुःख हैं। ये दोनों ही सुख और दुःख पुरुष के अपने उद्योग से उत्पन्न नहीं होते हैं तथा ये काल आदि किसी अन्य पदार्थ के द्वारा भी उत्पन्न नहीं किए जाते हैं। इन दोनों प्रकार के सुख-दुःखों को प्राणी अलग-अलग भोगते हैं। ये सुख-दुःख प्राणियों को क्यों होते हैं, इस विवादास्पद विषय में नियतिवादियों का यह मन्तव्य है- 'भाग्यबल से शुभ अथवा अशुभ जो भी मिलने वाला होता है वह मनुष्य को अवश्य प्राप्त होता है। महान् प्रयत्न करने पर भी जो होनहार नहीं है वह नहीं होता है और जो होने वाला है उसका नाश नहीं होता है।'^{१५०}

नियतिवाद का निरसन

(i) सुख-दुःख की नियतानियतता- आगमकार नियतिवाद के स्थापन के पश्चात् निरसन करते हुए कहते हैं-

एवमेयाणि जंपंता, बाला पंडिअमाणिणो।

निययानिययं संतं, अयाणंता अबुद्धिया।।^{१५१}

अर्थात् अज्ञानी और अपने आपको पण्डित मानने वाले नियतिवादी सुख-दुःख आदि को नियत तथा अनियत दोनों ही प्रकार का नहीं जानते हुए बुद्धिहीन हैं।

तात्पर्य यह है कि आर्हत मतानुसार कोई सुख-दुःख अवश्य होने वाले यानी नियत होते हैं, क्योंकि उन सुख-दुःखों के कारण स्वरूप कर्म का किसी अवसर विशेष में अवश्य उदय होता है। कोई सुख-दुःख नियतिकृत नहीं होते हैं, अपितु पुरुष के उद्योग, काल, ईश्वर, स्वभाव और कर्म आदि से किए हुए अनियत होते हैं। तथापि नियतिवादी सभी सुख-दुःखों को एकान्त रूप से नियतिकृत ही बतलाते हैं इसलिए सुख-दुःख के कारण को न जानने वाले नियतिवादी बुद्धिहीन हैं।^{१५२}

आर्हत मत अर्थात् जैनमतानुसार सुख-दुःख आदि कथंचित् नियति से होते हैं अर्थात् उनमें पूर्वकृत कर्म कारण होता है। कर्म का अवश्यम्भावी उदय होने पर सुख-दुःख आदि प्राप्त होते हैं। कथंचित् सुख-दुःख अनियतिकृत भी होते हैं। पुरुषकार, काल, ईश्वर, स्वभाव, कर्मादिकृत सुख-दुःखादि कथंचित् अनियतिकृत होते हैं। इस प्रकार सुख-दुःखादि उद्योग (पुरुषकार) साध्य हैं, क्योंकि क्रिया से फल की उत्पत्ति होती है और वह क्रिया उद्योग या पुरुषार्थ के अधीन है। अतएव कहा भी है-

“न दैवमिति सन्धित्य त्यजेदुद्यममात्मनः।

अनुद्यमेन कस्तैलं तिलेभ्यः प्राप्तुमर्हति।^{१५३}

अर्थात् “जो भाग्य में है वही होगा” यह सोचकर उद्योग नहीं छोड़ना चाहिए, क्योंकि उद्योग के बिना तिलों में से तेल कौन प्राप्त कर सकता है ? यानी कोई नहीं।

नियतिवादी प्रश्न करते हैं कि पुरुषकार समान होने पर भी फल में विचित्रता क्यों देखी जाती है ? समाधान करते हैं कि पुरुषकार की विचित्रता भी फल की विचित्रता का कारण होती है तथा समान परिश्रम करने पर भी जो किसी का फल नहीं मिलता है, उसमें अदृष्ट कारण है। यह अदृष्ट भी सुख-दुःख का हेतु है।^{१५४}

नियतिवाद में परलोक हेतु क्रिया व्यर्थ- सूत्रकार ने नियतिवाद के लिए "पासत्थ"^{१५५} शब्द का प्रयोग किया है। जिसका अभिप्राय समझाते हुए शीलांकाचार्य ने अपनी टीका में लिखा है- "युक्तिरदम्भाकाद् बहिस्तिष्ठन्तीति पार्श्वस्थाः परलोकक्रिया-पार्श्वस्था वा, नियतिपक्षसमाश्रयणात्परलोकक्रिया-वैयर्थ्य"^{१५६} अर्थात् जो युक्ति समूह से बाहर रहता है, उसे "पार्श्वस्थ" कहते हैं। नियतिवादी परलोक की क्रिया से बाहर रहते हैं, क्योंकि नियति को ही सबका कर्त्ता मानने पर उनकी परलोक की क्रिया व्यर्थ ठहरती है।

पुरुषार्थ को व्यर्थ मानने वाले नियतिवादी विप्रतिपन्न- 'सब कुछ नियति से ही होता है' इस सिद्धान्त को मानने वाले नियतिवादी परलोक साधक क्रिया रूपी विरोधी क्रिया में प्रवृत्त होते हैं, जो कि अनुचित है।^{१५७} इस प्रकार नियतिवादी विप्रतिपन्न हैं। क्योंकि वे सद् अनुष्ठान रूप क्रिया एवं असद् अनुष्ठान रूप क्रिया के पुरुषार्थ को व्यर्थ मानते हैं और इस प्रकार विरूप काम-भोगों में संलग्न हो जाते हैं। इस नीति से वे अनार्य नियतिवादी विरूप नियति मार्ग को स्वीकार करने के कारण विप्रतिपन्न हैं। उनका अनार्यत्व इसलिए है, क्योंकि वे बिना युक्ति के ही नियतिवाद का आश्रय लेते हैं।^{१५८}

नियति स्वतः नियत या अन्य नियति से नियन्त्रित- नियतिवादियों से प्रश्न है कि नियति स्वतः ही नियत स्वभाववाली है अथवा किसी अन्य नियति से नियन्त्रित या संचालित होती है? यदि नियति स्वतः ही नियति स्वभाव वाली है तो समस्त पदार्थों में नियति स्वभावता को क्यों नहीं स्वीकार कर लिया जाता। बहुत दोष वाली पृथक् नियति का समाश्रय करने से क्या लाभ ? यदि वह अन्य नियति से नियन्त्रित होती है तो फिर वह अन्य नियति भी किसी दूसरी नियति से संचालित होगी और यह क्रम चलते रहने पर अनवस्था दोष का प्रसंग उपस्थित होगा। इस प्रकार नियति को स्वभाव से नियत स्वभाव वाली मानना होगा, नाना स्वभाव वाली नहीं। एक नियत स्वभाव वाली होने के कारण कार्य भी एक ही आकार-प्रकार का उत्पन्न होगा और ऐसा होने पर जगद्वैचित्र्य संभव न हो सकेगा। जबकि ऐसा न तो देखा जाता है और न इष्ट ही है। इस प्रकार युक्तियों से विचार करने पर नियति किसी भी प्रकार घटित नहीं होती है।^{१५९}

नियति अप्रमाणिक : पूर्वकृत कर्म का भी प्रभाव- नियतिवादियों द्वारा जो यह कहा गया है कि क्रियावादी एवं अक्रियावादी दोनों पुरुष समान होते हैं, वस्तुतः यह भी प्रतीति से बाधित होता है। क्योंकि इनमें से एक क्रिया को मानने वाला

है तथा दूसरा अक्रिया को स्वीकार करने वाला है तो उनमें तुल्यता कैसे हो सकती है? यदि एक नियति से नियत होने के कारण उनमें तुल्यता मानी जाती है तो इसे निकटस्थ सुहृद् प्रतिकार कहेंगे, क्योंकि नियति अप्रामाणिक है। नियति की अप्रामाणता पहले संक्षेप में प्रदर्शित की गई है। जो यह कहा गया है कि जिस दुःखादि का मैं अनुभव करता हूँ, उसे मैंने उत्पन्न नहीं किया- यह कथन भी बालवचन की भाँति है, कारण कि अन्य जन्म में किए गए शुभ या अशुभ कर्म का भोग इस जन्म में किया जाता है। क्योंकि प्राणी स्वकृत कर्मफल के स्वामी होते हैं।^{१६०} जैसा कि कहा गया है-

यदिह क्रियते कर्म, तत्परगोपभुज्यते।

मूलसिक्तेषु वृक्षेषु, फलं शाखासु जायते॥

यदुपात्तमन्यजन्मनि शुभमशुभं वा स्वकर्म परिणत्या।

तच्छक्यमन्यथा नो कर्तुं देवासुरैरपि हि॥^{१६१}

जो कर्म यहाँ किया जाता है उसका फल भोग परलोक में किया जाता है, जैसे कि वृक्षों के मूल सिंचन करने पर शाखाओं पर फल प्राप्त होता है। जो अन्य जन्म में शुभ या अशुभ कर्म किया जाता है, उसका फल प्राप्त किया जाता है। वह असुरों के द्वारा भी परिवर्तनीय नहीं है।

इस प्रकार नियतिवादी अनार्य एवं अप्रतिपन्न हैं। वे युक्ति रहित नियतिवाद पर श्रद्धा करते हुए उसको स्वीकार करते हैं।^{१६२} 'अपने पैरों पर कुल्हाड़ी मारना' उक्ति को चरितार्थ करते हुए वे (नियतिवादी) स्वमत को स्वयं की विरोधी क्रियाओं से खण्डित करते हैं।

उपासकदशांग में नियतिवाद का प्रत्यवस्थान-

उपासकदशांग सूत्र में नियतिवादी आजीवक मत के उपासक सकडालपुत्र का भगवान महावीर के साथ संवाद समुपलब्ध है। भगवान महावीर ने 'नियतिवाद' सिद्धान्त को अव्यावहारिक एवं असत्य ठहराया है।

सकडालपुत्र एक कुम्भकार था। उसकी १ करोड़ स्वर्णमुद्राएँ सुरक्षित धन के रूप में, १ करोड़ स्वर्णमुद्राएँ व्यापार में और १ करोड़ स्वर्णमुद्राएँ घर के वैभव में लगी थीं। एक गोकुल था, जिसमें १०००० गाएँ थीं। नगर के बाहर पाँच सौ दुकानें और बर्तन बनाने की कर्मशालाएँ थीं।^{१६३} वह पोलासपुर नगर का प्रतिष्ठित एवं सम्पन्न व्यक्ति था।

एक दिन वह अशोक वाटिका में अपनी धर्म-क्रियाओं में रत था, उस समय उसके समक्ष एक देव प्रकट हुआ। उसने कहा- “कल प्रातः यहाँ महान् अहिंसक, अप्रतिहत ज्ञान-दर्शन के धारक, तीनों काल के ज्ञाता, परम पूज्य, राग-द्वेष विजेता जिन भगवान् पधारेंगे। यह सुनकर वह प्रातः सहस्राक्ष वन में गया और वहाँ भगवान् महावीर के दर्शन कर अभिभूत हुआ। उनके गुणों से प्रभावित होकर उसने भगवान् को अपनी कर्मशाला में शय्या-संस्कारक हेतु आमन्त्रित किया। भगवान् उसकी कर्मशाला में पधारे और वहाँ भगवान् व सकडालपुत्र के बीच ‘नियतिवाद’ पर विशेष चर्चा हुई।

सकडालपुत्र गोशालक नियतिवाद का उपासक था। नियतिवाद मतानुसार संसार के सभी पदार्थ एवं कार्य नियतिकृत हैं तथा प्रयत्न और पुरुषार्थ शून्य हैं। इस मान्यता को अनुचित सिद्ध करने हेतु भगवान् सकडालपुत्र से प्रश्न करते हैं कि ये मिट्टी के बर्तन तुम्हारे प्रयत्न, पुरुषार्थ या उद्यम द्वारा बनते हैं या प्रयत्न आदि के बिना? तब नियतिवादी सकडालपुत्र अपने गुरु गोशालक के मत को स्थापित करते हुए कहता है- ‘भन्ते! अणुद्वाणोणं जाव अपुरिसक्कार-परक्कमेणं। नत्थि उद्वाणो इ वा जाव परक्कमे इ वा, नियाया सव्वभावा^{१६४} अर्थात् भगवन्! प्रयत्न, पुरुषार्थ तथा उद्यम के बिना ही बर्तन बनते हैं। प्रयत्न, पुरुषार्थ एवं उद्यम का कोई अस्तित्व या स्थान नहीं है, सभी भाव होने वाले कार्य नियति निश्चित हैं।

कोई भी मत सैद्धान्तिक पक्ष से ही नहीं व्यावहारिक पक्ष से भी उतना ही ठोस एवं पुष्ट होना चाहिए। मात्र सैद्धान्तिक पक्ष से प्रतिष्ठित सिद्धान्त वचन विलास से अधिक कुछ नहीं है। यही दोष बताते हुए भगवान् महावीर सकडाल को प्रत्युत्तर देते हैं- “सद्दालपुत्ता! जइ णं तुभं केइ पुरिसे वायाहयं वा पक्केलयं वा कोलालभंडं अवहरेज्जा वा विक्खरेज्जा वा भिंदेज्जा वा अच्छिंदेज्जा वा परिद्वेज्जा वा, अग्गिमित्ताए वा भारियाए सद्धिं विउलाइं भोगभोगाइं भुंजमाणे विहरेज्जा, तस्स णं तुमं पुरिसस्स किं दंडं वत्तेज्जासि? भन्ते! अहं णं तं पुरिसं निब्भच्छेज्जा वा हणेज्जा वा बंधेज्जा वा महेज्जा वा तज्जेज्जा वा तालेज्जा वा निच्छोडेज्जा वा निब्भच्छेज्जा अकाले जेव जीवियाओ ववरोवेज्जा।^{१६५}

‘सकडाल पुत्र! यदि कोई पुरुष हवा लगे हुए या धूप में सुखाए हुए तुम्हारे मिट्टी के बर्तनों को चुरा ले या बिखेर दे या उनमें छेद कर दे या उन्हें फोड़ दे या उठाकर बाहर डाल दे अथवा तुम्हारी पत्नी के साथ विपुल भोग भोगे, तो उस पुरुष को तुम क्या दंड दोगे?’

सकडाल पुत्र बोला- “भन्ते! मैं उसे फटकारूँगा या पीटूँगा या बाँध दूँगा या रौंद डालूँगा या तर्जित करूँगा-धमकाऊँगा या थप्पड़-घूसे मारूँगा या उसका धन आदि छीन लूँगा या कठोर वचनों से उसकी भर्त्सना करूँगा या असमय में ही उसके प्राण ले लूँगा।”

भगवान सकडाल को समझाते हुए कहते हैं कि यदि सभी नियतिकृत हैं तो तुम्हें इन सब स्थितियों में शोक नहीं करना चाहिए। क्योंकि यह सभी स्थितियाँ नियत थी। इसके बावजूद भी तुम अपने सिद्धान्त को भुलाकर उस व्यक्ति को हटाने, मारने आदि का प्रयत्न करते हो तो स्वमत को स्वयं ही खण्डित करते हो। अतः “तो जं वदसि नत्थि उट्ठाणे इ वा जाव नियया सव्वभावा, तं ते मिच्छा” प्रयत्न, पुरुषार्थ आदि के न होने की तथा होने वाले सब कार्यों के नियत होने की तुम्हारी बात असत्य है।^{१६६}

प्रश्नव्याकरण की टीकाओं में नियतिवाद का खण्डन-

प्रश्नव्याकरण के टीकाकार अभयदेवसूरि (११वीं शती) ने “मृषावादिता चैवमेषां-सकललोक प्रतीतपुरुषकारापलापेन प्रमाणातीतनियमिताभ्यु-पगमादिति”^{१६७} शब्दों से नियतिवादी के मत को मृषा कहा है। क्योंकि समस्त लोक में प्रतीत होने वाले पुरुषकार का अपलाप करना उचित नहीं है तथा इस प्रकार प्रमाणों से अतीत नियतिमत को स्वीकार करना भी समीचीन नहीं है। प्रश्नव्याकरण के अन्य टीकाकार ज्ञानविमलसूरि ने भी नियतिवाद के विपक्ष में कहा है- “तदप्यलीकं, अचेतनस्य कर्तृत्वानुपलम्भात् नियतेरनाश्रितत्वानुपलम्भात्”^{१६८} अर्थात् नियतिवादियों का कथन अलीक (मिथ्या) है, क्योंकि अचेतन कर्ता उपलब्ध नहीं होता और नियति किसी के आश्रित ही उपलब्ध होती है, अनाश्रित नहीं।

द्वादशारनयचक्र में नियतिवाद का उपस्थापन एवं निरसन-

मल्लवादी क्षमाश्रमण (५वीं शती) ने द्वादशारनयचक्र नामक ग्रन्थ में नियतिवाद के स्वरूप का उपस्थापन कर निरसन किया है। सिंहसूरि ने न्यायागमानुसारिणी टीका में द्वादशारनयचक्र के प्रतिपाद्य को स्पष्ट किया है। यहाँ दोनों के आधार पर नियतिवाद के स्वरूप का उपस्थापन एवं खण्डन प्रस्तुत है।

नियतिवाद का उपस्थापन- पुरुष न स्वतन्त्र है और न ज्ञाता। क्योंकि निद्रा की अवस्था में उसमें स्वतन्त्रता नहीं रहती। जैसे- वेग से युक्त वस्तु या व्यक्ति तट पर न रुककर उससे आगे चले जाते हैं।^{१६९} उसी प्रकार पुरुष समस्त कार्यों को करने में स्वतन्त्र नहीं है। इसी प्रकार उसके ज्ञाता होने पर भी अनिष्ट अर्थ का

आपादान देखा जाता है। जैसे कोई विद्वान् राजा पराक्रमशाली होकर भी पराजित होता हुआ देखा जाता है, उसी प्रकार पुरुष अनिष्ट स्थितियों से युक्त देखा जाता है।^{१७०} इसका तात्पर्य है कि कोई अन्य अचेतन कर्ता है। ऐसा कोई नियमकारी कारण अवश्य होना चाहिए, जो उन-उन कार्यों के उस प्रकार होने में तथा अन्यथा न होने में कारण बनता है। नियति ही एक मात्र ऐसा कारण है और वही कार्य की कर्त्री है। नियति को कारण स्वीकार करने पर पदार्थों के सदृश या विसदृश कार्यों के घटित होने में कोई व्याघात नहीं आता है।^{१७१} इसलिए कहा भी है-

प्राप्तव्यो नियतिबलाश्रयेण योऽर्थः सोऽवश्यं भवति नृणां शुभोऽशुभो वा।

भूतानां महति कृतेऽपि हि प्रयत्ने नाभाव्यं भवति न भाविनोऽस्ति नाशः।।^{१७२}

नियति के बल से ही अर्थ की प्राप्ति होती है। मनुष्यों का जो शुभ-अशुभ होना होता है, वह अवश्य होता है। जीवों के महान् प्रयत्न के बावजूद भी भावी का नाश नहीं होता और अभावी नहीं होता है।

यहाँ यह शंका नहीं करनी चाहिए कि सभी पदार्थों के नियति से आबद्ध होने के कारण क्रिया और क्रियाफल में कोई नियम नहीं रह जाएगा, क्योंकि घटादि पदार्थों के मृत्पिण्ड, दण्ड, चक्र आदि साधनों से प्रयत्नपूर्वक निष्पत्ति होने में भी नियति ही कारण है।^{१७३}

यह नियति पदार्थों से भिन्न है या अभिन्न? इस प्रश्न के उत्तर में कहा गया है कि परमार्थतः यह जगत् का अभिन्न कारण है।^{१७४} यह उत्पद्यमान पदार्थों से भिन्न नहीं है, अपितु भेद बुद्धि से उत्पन्न होने वाले पदार्थों में भी नियति की अभिन्नता रहती है। जिस प्रकार पुरुष में होने वाली बाल्यावस्था, कुमारवस्था, यौवनावस्था आदि पुरुष से अभिन्न ही होती हैं, उसी प्रकार नियति भी क्रिया और क्रिया के फल से अभिन्न ही होती है।^{१७५} भेद में अभेद बुद्धि का आभास होने पर तो नियति का अभेद प्रतिपक्षी को भी स्वीकृत होता है। किन्तु भेदबुद्धि का आभास होने पर भी अभेद स्वीकार करना चाहिए, क्योंकि जिस प्रकार स्थाणु और पुरुष अलग-अलग होते हैं, फिर भी उनमें ऊर्ध्वता सामान्य की अपेक्षा अभेद रहता है।^{१७६} इसी प्रकार क्रिया और क्रिया-फल रूप सभी नियतियों में अभेद होता है।^{१७७} नियति को कथंचित् भेदाभेद रूप भी स्वीकार किया गया है। कार्यों की निकटता एवं दूरता के आधार पर उसे प्रत्यासन्न एवं अप्रत्यासन्न भी माना गया है।^{१७८} एक ही नियति से द्रव्य, क्षेत्र, काल एवं भाव की अपेक्षा से विभिन्न स्वरूप प्रकट होते हैं। जब वह नियति द्रव्य से घट रूप में होती है तब पट रूप में नहीं होती। इसी प्रकार क्षेत्र से जिस भू-प्रदेश पर या घट निर्माण में ग्रीवा आदि प्रदेश पर नियति की प्रत्यासत्ति होती है तब अन्य देश में

नहीं होती है। जितने काल में घट का निर्माण होता है वह काल नियति है। जिन वर्ण, आकृति आदि से घटादि का निर्माण होता है, वह भाव नियति है। इस प्रकार नियति के एक होने पर भी वस्तुओं की रचना सम्भव है।^{१५९} नियति का यह सूत्र है कि जो अभावी है वह नहीं होता और जो भावी है उसका नाश नहीं होता।^{१६०}

नियति एक होकर भी भिन्न-भिन्न कार्यों को करने में समर्थ होती है तथा उसके अनेक रूप होने पर भी कार्य और कारण से अभिन्न होती है। जिस प्रकार एक ही लोक नदी, पृथ्वी, पर्वत, ग्राम, उद्यान आदि आकारों से ग्रहण किया जाता हुआ भेद को प्राप्त होता है उसी प्रकार नियति एक होते हुए भी भेदों को प्राप्त करती है। यह बाह्य उदाहरण से सिद्ध हुआ। अब आन्तरिक उदाहरण देते हुए कहते हैं कि जिस प्रकार ज्ञान एक होने पर भी अनेक बोध्य आकारों को ग्रहण कर लेता है उसी प्रकार यह नियति भी विभिन्न आकारों को ग्रहण करती है। पृथ्वी, अम्बु, वायु आदि अनेक स्वरूप वाले अर्थों से एक ब्रीहि (चावल) उत्पन्न होता है। इसी प्रकार यह नियति अनेक होकर भी एक ही है।^{१६१}

यदि कहीं उत्पत्ति आदि में अनियम देखा जाता है तब भी वहाँ नियति को ही कारण मानना चाहिए। वस्तु के स्वभाव का व्यतिक्रम भी नियति के कारण होता है—
'वस्तुस्वभावव्यतिक्रमश्च नियतिवशादेव'^{१६२}

नियति से कार्य-कारण की अथवा साध्य-साधन की समस्त व्यवस्था बन जाती है। दण्ड आदि अनेक कारकों के द्वारा घट साध्य की सिद्धि में नियति के बल से ही कार्य सिद्ध होता है। अन्य समस्त कारक नियति के कारण नियत क्रिया के ही साधन बनते हैं। अनुद्भूत रूपादि की अभिव्यक्ति से ही कार्य की सिद्धि होती है तथा वह नियति से ही संभव होती है। पाक क्रिया में नियति ही कारण होती है, इसलिए कहा गया है— 'षष्टिका षष्टिरात्रेण पच्यन्ते' (६० दिनों में पकने वाली वस्तु ६० रात्रियों के बीतने पर ही पकती है) देश, काल, कर्त्ता, करण आदि की नियति से ही पाक आदि क्रिया दिखाई पड़ती है।^{१६३}

इस प्रकार अव्यक्त अर्थ की अभिव्यक्ति में सब कुछ नियत है। इसलिए किसी कार्य को मैंने किया यह अभिमान मिथ्या है। नियति को स्वीकार करने पर कोई अभिमान नहीं रह पाता।^{१६४} नियतिवाद को लेकर कतिपय दार्शनिकों की शंका इस प्रकार है— मात्र बीज की नियति से आम्रफल का पाक नहीं होता है, उसमें भूमि, अम्बु, काल, आतप, वायु आदि की भी हेतुता रहती है। भूमि का खनन करने पर भी फल आदि की प्राप्ति नहीं होती है, किन्तु काल आने पर पाक देखा जाता है। मात्र काल आने पर भी पाक नहीं होता, अपितु द्रव्यान्तर संयोग की उपस्थिति आवश्यक

होती है। पक्षी आदि का बैठना भी इनमें से एक संयोग है तथा ज्ञाता की इच्छा के अनुसार वस्तु की नियति का अतिक्रमण कर पुष्पों में वर्ण संस्थान की विपरीतता देखी जाती है। काल में अपाक और अकाल में पाक तथा पुरुष की इच्छा और प्रयत्न आदि के कारण नियम का अभाव देखा जाता है। नियम का अभाव होने से नियति का अभाव सिद्ध होता है।^{१८५} नियतिवादी इस शंका का उत्तर देते हुए कहते हैं कि इसमें भी नियति ही कारण है। क्योंकि बीजादि की नियति, उदक, काल, वायु, आतप, पुरुषेच्छा, प्रयत्न आदि के होने पर ही पूर्ण होती है।^{१८६}

पुरुष की व्यग्रता, अव्यग्रता आदि नियति से ही होती है।^{१८७} सर्वज्ञ भी उसी समस्त अनादि मध्यान्त स्वरूप से अप्रच्युत परिणाम वाली वस्तु नियति को एक एवं अनेक रूप वाली जानते हैं तथा बंधन एवं मोक्ष की प्रक्रिया को भी नियति से ही स्वीकार करते हैं।^{१८८}

नियतिवाद का निरसन-

१. नियति से प्रवृत्ति मानने पर पूर्व-पश्चात् एवं युगपद् का व्यवहार संभव नहीं- नियति के सर्वात्मक होने से सदैव सब वस्तुएँ सब आकार वाली हो जाएँगी।^{१८९} यदि पदार्थों की प्रवृत्ति नियतिकृत ही हो तो 'यह पहले' 'यह पश्चात्' इस प्रकार का व्यवहार नहीं होगा, क्योंकि सभी बीजादि में नियति सदैव सन्निहित है। यदि नियति से ही यह पूर्व-पश्चात् का बोध होता है तो ऐसा मन्तव्य उचित नहीं है, अनर्थक होने के कारण। इस प्रकार के विकल्प व्यवहार में काल ही कारण होता है, ऐसा सबके द्वारा स्वीकार किया गया है। क्रम व्यवहार के लिए पूर्व आदि शब्दों का आश्रय लेना होता है और पूर्व आदि के आश्रय में नियति का कोई प्रयोजन नहीं है।^{१९०}

२. नियति को स्वीकार करने पर उपदेश की निरर्थकता- नियति को स्वीकार करने पर तो हित की प्राप्ति और अहित के परिहार के लिए आचार का उपदेश निरर्थक हो जाएगा। क्योंकि चक्षु से जिस प्रकार रूप का ग्रहण नियत होता है उसी प्रकार बिना प्रयत्न के ही उनकी सिद्धि हो जाएगी। यदि ऐसा कहा जाय कि प्रयत्न भी नियति से ही होता है तब तो समस्त लोक शास्त्रों के आरम्भ के प्रयोजन का कथन करना निरर्थक हो जाएगा तथा लोक एवं आगम में विरोध उत्पन्न होगा।^{१९१}

शास्त्रवार्तासमुच्चय में नियतिवाद का खण्डन-

हरिभद्रसूरि (८वीं शती) विरचित शास्त्रवार्तासमुच्चय में नियतिवाद का निरसन समुपलब्ध होता है। वहाँ नियतिवाद के खण्डन में अनेक तर्क दिए गए हैं। प्रमुख तर्क इस प्रकार हैं-

१. नियति की एकरूपता असंभव-

कार्यों की अनेकरूपता दृष्टिगत होने से नियति को एक स्वरूप न मानकर विचित्र रूप ही मानना होगा। इस अभिप्राय से नियति की एकरूपता को असंभव बताते हुए जैनाचार्य हरिभद्रसूरि फरमाते हैं-

नियतेर्नियतात्मत्वान्नियतानां समानता।

तथानियतभावे च बलात् स्यात् तद्विचित्रता।^{१९२}

उपर्युक्त श्लोक पर टीका करते हुए यशोविजय दो तर्क देते हैं-

(१) “घटो यदि पटजनकाऽन्यूनाऽनतिरिक्तहेतुजन्यः स्यात्, पटः स्यात्” अर्थात् घट यदि पट के कारणों से अन्यून और अनतिरिक्त कारणों से उत्पन्न होगा तो घट भी पट हो जाएगा। तात्पर्य यह है कि जितने कारणों से पट उत्पन्न होता है उतने ही कारणों से घट उत्पन्न होगा। उन कारणों से एक भी कम नहीं (अन्यून) और एक भी अधिक नहीं (अनतिरिक्त)। इस प्रकार घट के कारणों में यदि पट के किसी कारण का अभाव अथवा पट के कारणों से अतिरिक्त किसी नये कारण का सन्निवेश नहीं होगा, तो घट भी पट ही हो जाएगा, पट से भिन्न नहीं हो सकेगा। कारणों में सर्वथा साम्य रहने पर कार्यों में वैषम्य नहीं हो सकता, अन्यथा समान कारणों से उत्पन्न होने वाले दो पटों में भी वैजात्य हो जाएगा।

(२) “घटजनकं यदि पटं न जनयेत् पटजनकाद् भिद्येत” अर्थात् घट का जो कारण पट के उत्पादन में अनपेक्षित होगा वह पट के जनक से भिन्न होगा। अभिप्राय यह है कि पटोत्पत्ति में जो कारण क्रियाशील नहीं होता है, तो वह पट से भिन्न घट को उत्पन्न करता है। क्योंकि दोनों के कारणों में भेद उत्पन्न हो जाने से ऐसा संभव हो पाता है।

इस प्रकार उपर्युक्त तर्कों से घट, पट आदि कार्यों में विचित्रकारणजन्यत्व सिद्ध होता है। अतः एकरूप नियति से दोनों की उत्पत्ति मानना अयुक्त है।

२. नियति से अन्य कोई भेदक अपेक्षित-

हरिभद्र कहते हैं कि नियति से अन्य यदि उसका कोई भेदक नहीं माना जाएगा तो नियति के सामान्य स्वरूप से अथवा उसके परिणाम से उसमें विचित्रता सिद्ध नहीं हो सकती। क्योंकि विचित्रता की सिद्धि सत् तर्क के अविरोध से ही सिद्ध हो सकती है। जिसे श्लोकाबद्ध रूप में आचार्य हरिभद्र ने इस प्रकार प्रकट किया है-

“न च तन्मात्रभावादेर्युज्यते अस्या विचित्रता।

तदन्यभेदकमुक्त्वा सम्यगन्यायाऽविरोधतः॥

न जलस्यैकरूपस्य वियत्पाताद् विचित्रता।

उभरादिधराभेदमन्तरेणोपजायते॥”^{१९३}

कारिका में स्पष्ट किया गया है कि अन्य भेदक के बिना नियति में भी वैचित्र्य नहीं हो सकता। आकाश से जो जल बरसता है वह सब जगह समान होता है, उसमें जो वैविध्य आता है वह ऊपर और उपजाऊ आदि विभिन्न भूमियों के सम्पर्क से ही होता है। जिस भूमि में जो जल गिरता है उसमें उस भूमि के रूप, रस, गन्ध और स्पर्श का सम्बन्ध होने से मेषस्थ जल तथा अन्यत्र गिरने वाले जल से वैलक्षण्य आ जाता है। इस सम्पर्क के बिना जल में वैलक्षण्य नहीं होता, यह तथ्य सर्वलोकमान्य है।

३. सर्वहेतुता का लोप-

नियति से भिन्न वस्तु को वैचित्र्य का सम्पादक या भेदक माना जाए तो उस भेदक को नियतिजन्य स्वीकार करना होगा, अन्यथा नियति में सर्वहेतुत्व का सिद्धान्त खण्डित हो जाएगा। सर्वहेतुत्व से आशय है सभी वस्तुओं का एक हेतु 'नियति'। यदि उस भेदक को नियतिजन्य मानेंगे तो एकरूप नियति से उत्पन्न होने के कारण उस भेदक में विचित्रता नहीं होगी। जब भेदक स्वयं विचित्र नहीं होगा तो उससे उत्पन्न नियति में विचित्रता असंभव है।^{१९४}

४. नियति से वैविध्य की कल्पना अशक्य-

नियति में स्वभावभेद की कल्पना कर उसके द्वारा नियति के कार्यों में भेद अर्थात् वैविध्य की कल्पना की जाएगी तो स्वभाव का आश्रय लेने के कारण नियतिवाद का ही परित्याग हो जाएगा।^{१९५}

यदि यह कहा जाय कि “नियति का परिपाक ही नियति का स्वभाव है, अतः वह नियतिस्वरूप ही है, इसलिए उसे कार्य-वैचित्र्य का प्रयोजक मानने पर भी कार्य में अन्य हेतुत्व की प्रसक्ति न होने से नियतिवाद का परित्याग नहीं होगा” तो यह मानना ठीक नहीं है। क्योंकि नियति के परिपाक को नियतिमात्र से जन्य मानने पर नियति का परिपाक भी नियति के समान वैचित्र्यहीन ही होगा। अतः उससे भी कार्य में वैचित्र्य न हो सकेगा। यदि उसे नियति से भिन्न हेतु से जन्य मानकर उसमें वैचित्र्य माना जाएगा तो नियति से अतिरिक्त कारण की सिद्धि हो जाने से नियतिवाद के परित्याग की आपत्ति अपरिहार्य हो जाएगी।^{१९६}

यदि यह कहा जाय कि नियति का उत्तर परिपाक नियति के पूर्व परिपाक से होता है और नियति का प्रथम परिपाक नियति के अन्तिम अपरिपाक से होता है, इस प्रकार नियति के परिपाक विशेष से ही नियति स्वरूप की सिद्धि हो जाएगी तो यह कथन भी उचित नहीं है। क्योंकि उक्त कल्पना करने पर जिस समय कहीं एकत्र घट जनक नियति का परिपाक होगा उस समय अन्यत्र भी घटोत्पत्ति होगी। यदि इस दोष के निवारणार्थ प्रतिसंतान में नियतिभेद की कल्पना की जाएगी तो नियति और परिपाक में द्रव्य और पर्याय से कोई अन्तर नहीं रहेगा, मात्र नाम में ही विवाद रह जाएगा, जिसका कोई महत्त्व नहीं है।^{११७}

५. शास्त्रोपदेश की व्यर्थता एवं शुभाशुभ क्रियाफल के नियम का अभाव-

टीकाकार यशोविजय कहते हैं कि नियतिवाद को स्वीकार करने पर शास्त्रोपदेश की व्यर्थता की प्रसक्ति होगी। तब तो उपदेश के बिना ही नियतिकृत बुद्धि से नियति के द्वारा ही अर्थ का ज्ञान हो जाएगा। दूसरी बात यह है कि नियतिवाद को स्वीकार करने पर दृष्ट-अदृष्ट के फल की एवं शास्त्र-प्रतिपादित शुभाशुभ क्रिया के फल के नियम व्यवस्था नहीं बन सकेगी।^{११८}

सन्मति तर्क टीका में नियतिवाद का स्वरूप एवं उसका निरसन

सन्मति तर्क के तृतीय काण्ड 'ज्ञेय मीमांसा' में आचार्य सिद्धसेन ने ज्ञेय पदार्थों की चर्चा करते हुए उनको अनेकान्त दृष्टि से स्थापित करने का सफल प्रयास किया है। इसी शृंखला में उन्होंने काल, स्वभाव, नियति, पूर्वकृत कर्म और पुरुषार्थ की एकान्तता को मिथ्यात्व और समवाय को सम्यक्त्व बताया है। सिद्धसेन दिवाकर के टीकाकार अभयदेवसूरि (१०वीं शती) विरचित तत्त्वबोधविधायिनी टीका में इन सभी एकान्तवादों का निरूपण एवं निरसन सम्प्राप्त होता है। उनमें से नियतिवाद का स्वरूप प्रतिपादन और खण्डन यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है-

नियतिवाद का स्वरूप-

नियतिवादी कहते हैं- "सर्वस्य वस्तुनस्तथातथानियतरूपेण भवनाद् नियतिरेव कारणमिति"^{११९} अर्थात् सभी वस्तुओं के तथा-तथा नियत रूप होने के कारण नियति ही एकमात्र कारण है। इस प्रतिज्ञावाक्य की सिद्धि में वे निम्न तर्क देते हैं-

"तीक्ष्णशस्त्राद्युपहता अपि तथामरणनियतताऽभावे जीवन्त एव दृश्यन्ते,
निधते च मरणकाले शस्त्रादिघातमन्तरेणापि मृत्युभाज उपलभ्यन्ते।"^{१२०}

तीक्ष्ण शस्त्रादि से उपहत होकर भी जीव उस प्रकार से मरण की नियतता के अभाव में जीवित ही दिखाई पड़ते हैं और मरणकाल के नियत होने पर शस्त्रादि के घात के बिना भी मृत्यु के भाजन बन जाते हैं।

“न च नियतिमन्तरेण स्वभावः कालो वा कश्चिद् हेतुः यतः कण्टकादयोऽपि नियत्यैव तीक्ष्णादितया नियताः समुपजायन्ते न कुण्ठादितया”^{२०१} नियति के अलावा स्वभाव तथा काल कोई हेतु नहीं होता, क्योंकि कण्टकादि भी नियति से ही तीक्ष्णता आदि के साथ नियत रूप से उत्पन्न होते हैं, कुण्ठ (भौटा) आदि रूप से नहीं।

“कालोऽपि शीतादेर्भावस्य तथानियततयैव तदा तत्र-तत्र तथा-तथा निर्वर्तकम्”^{२०२} काल भी शीतादि भाव को तथारूप नियतता के कारण ही उस-उस समय में उस-उस स्थान पर उस-उस प्रकार से सम्पादित करता है।

निरसन-

नियति को ही कारण मानना असत् है, इसके अनेक हेतु हैं, यथा-

१. नियति को मानने पर शास्त्र की व्यर्थता एवं शुभाशुभ क्रिया फल का अभाव- नियतिवादी के मत में शास्त्र के उपदेशादि की व्यर्थता का प्रसंग आता है। क्योंकि नियतिकृत बुद्धि वाले व्यक्ति के शास्त्रादि के उपदेश के बिना भी नियति से ही अर्थज्ञान हो जाएगा। नियति को ही कारण मानने पर दूसरा दोष यह होगा कि दृष्ट एवं अदृष्ट के फल और शास्त्र में प्रतिपादित शुभाशुभ क्रिया के फल के नियम का अभाव हो जाएगा।^{२०३}

२. नियति से ज्ञान-अज्ञान में अभेद एवं अनियमता असिद्ध - यदि फिर भी नियति को कारण माना जाता है, तो समीचीन नहीं है। नियति की एक स्वभावता स्वीकार करने पर विसंवाद यानी अज्ञान (मिथ्याज्ञान), अविसंवाद यानी ज्ञान आदि के भेद के अभाव का भी प्रसंग उपस्थित हो जाएगा।^{२०४} कारण कि ज्ञान को उत्पन्न करने वाली नियति ही अज्ञान को उत्पन्न करने में कैसे समर्थ हो सकती है अर्थात् नहीं हो सकती।

उक्त दोष-निवारण हेतु नियतिवादी कहते हैं- ‘अनियमेन नियतेः कारणात्वाद् अयमदोष इति’ अर्थात् अनियम से नियति को हेतु मानने के कारण यह दोष नहीं आता है। आचार्य कहते हैं- ‘न, अनियमे कारणाभावत्’- यह भी उचित नहीं है क्योंकि अनियम में कारण का अभाव है।

३. नियति का नित्य और अनित्य होना असंभव- “न नियतिरेव कारणम् नियतेर्नित्यत्वे कारकत्वायोगात् अनित्यत्वेऽपि तदयोग एव”^{१०५} नियति ही कारण नहीं है क्योंकि नियति को नित्य मानने पर उसमें कारकत्व का अयोग होगा। नियति को अनित्य मानने पर भी उसमें कारकत्व का अयोग होगा। नित्यत्व में परिवर्तनशीलता का अभाव होता है। परिवर्तन की रिक्तता में कारकत्व का अयोग सिद्ध होता है। दूसरी बात यह है कि नियति को अनित्य मानने पर उसमें कार्यता का प्रसंग होगा और कार्य किसी कारण से उत्पन्न होता है इसलिए नियति की उत्पत्ति में कारण का कथन करना होगा। उसमें नियति को ही कारण नहीं माना जा सकता, क्योंकि पुनः ऊपर उठाई हुई शंकाएँ लागू हो जायेंगी।^{१०६}

४. स्वात्मनिक्रियाविरोध, अन्य कारणों का अभाव और निहेतुकता का प्रसंग- स्व (पदार्थ) से स्व की उत्पत्ति स्वात्मनिक्रिया कहलाती है। स्व कारण से स्व कार्य की उत्पत्ति जगत् में दृष्टिगत नहीं है, अतः इसे ‘स्वात्मनिक्रियाविरोध’ कहते हैं। स्वात्मनि-क्रियाविरोध के कारण नियति स्वयं को उत्पन्न करने में समर्थ नहीं है। काल आदि को नियति का कारण नहीं माना जा सकता, क्योंकि नियतिवाद में उनकी कारणता निषिद्ध है। निहेतुक भी उसकी (नियति) उत्पत्ति मानना उचित नहीं है, क्योंकि तब नियतरूपता की अनुपपत्ति होगी और जो स्वतः अनियत है, वह अन्यभाव में नियतता की कारण नहीं हो सकती। यथा- शशशृंग आदि में वैसी नियतता उपलब्ध नहीं होती। अतः नियति भी प्रतिनियत भावों की उत्पत्ति में हेतु नहीं है।^{१०७}

धर्मसंग्रहणि टीका में मलयगिरि द्वारा नियतिवाद का निरसन-

हरिभद्रसूरि विरचित ‘धर्मसंग्रहणि’ एक विशिष्ट ग्रन्थ है, जिसमें कर्तृत्व, स्वभाव, अहिंसा आदि विविध विषयों का विशद निरूपण है। इस पर आचार्य मलयगिरि ने महत्त्वपूर्ण टीका की रचना की है। मलयगिरि ने नियतिवाद के निरसन में निम्नांकित तर्क दिए हैं-

१. नियति के अतिरिक्त कारण को अंगीकृत किए बिना विचित्रता सम्भव नहीं- नियतिवादी कहते हैं कि नियति ही एक मात्र कारण है तथा वह एकरूप है। इसका निरसन करते हुए मलयगिरि कहते हैं कि इस प्रकार एकरूप नियति से अन्य सभी कार्य एकरूप बन जायेंगे, क्योंकि कारणभेद से ही कार्यभेद उत्पन्न होता है। यदि जगत्-विचित्रता की सिद्धि के लिए कारणभूत नियति को विचित्र रूप मानते हैं तो अन्य की उपस्थिति के बिना ऐसा संभव नहीं है।^{१०८}

कहने का भाव यह है कि नियति से अन्य कारणों को स्वीकार किए बिना विचित्रता संभव नहीं है। जैसे आकाश से गिरते हुए पानी में अनेकरूपता धरती के संयोग (खारा-मीठापन) के बिना संभव नहीं है।^{२०९} इसलिए टीकाकार ने ठीक ही कहा है- “विशेषणं विना यस्मान्न तुल्यानां विशिष्टता” अर्थात् तुल्य वस्तुओं में विशेषण बिना विशिष्टता उत्पन्न नहीं होती है।

२. अन्योन्याश्रय दोष की आपत्ति-

नियति से भिन्न जो भेदक (कारण) है, उनमें विचित्रता का कारण यदि नियति है तो नियति का एकरूप स्वरूप कैसे सिद्ध हो पाएगा? यदि यह माना जाए कि “तदन्यभेदरूप कार्य की अन्यथानुपपत्ति होने से नियति विचित्र रूप है” तो इस कथन से अन्योन्याश्रय दोष उत्पन्न होकर अनवस्था आ जाएगी। कारण कि नियति की यह विचित्रता तदन्यभेदक के बिना नहीं होगी और तदन्यभेदक नियति के बिना नहीं होगा।^{२१०}

जैन तत्त्वादर्श में नियतिवाद का खण्डन-

बीसवीं शती के जैनाचार्य श्री आत्मारामजी महाराज (अपर नाम-श्री विजयानन्द सूरि जी) ने ‘जैनतत्त्वादर्श’ में नियति के सम्बन्ध में भाव-अभाव रूप, एक-अनेक रूप, नित्य-अनित्य रूप विकल्पों के माध्यम से नियतिवाद की मान्यता को खण्ड-खण्ड कर प्रस्तुत किया है-

(१) नियति की नित्यता का निरसन-

यदि नियति को नित्य माना जाए तो वह किसी का कारण नहीं बन सकती क्योंकि जो नित्य होता है वह सभी काल में एक रूप होता है। नित्य का लक्षण है- ‘अप्रच्युतानुत्पन्नस्थिरैकस्वभावतया नित्यत्वस्य व्यावर्णनात्’ अर्थात् जो नष्ट नहीं होवे, उत्पन्न भी न हो, स्थिर एक स्वभाव होकर रहे, वह नित्य है। इस नित्य रूप को धारण करने वाली नियति कार्य उत्पन्न करती है तो उसे सर्वदा एक रूप कार्य को ही पैदा करना चाहिए। क्योंकि विशेषता के अभाव में वह विशेष कार्य को उत्पन्न नहीं कर सकती। जगत् में विचित्रता के दर्शन से नित्य रूप नियति का निरसन हो जाता है।^{२११}

दूसरा तर्क देते हुए कहते हैं कि ऐसी नित्य नियति को सभी कार्य प्रथम समय में ही उत्पन्न कर लेने चाहिए, क्योंकि नियति का जो नित्यकरण स्वभाव द्वितीय क्षण में है वही स्वभाव प्रथम समय में भी विद्यमान है। यदि प्रथम क्षण में द्वितीयादि क्षणवर्ती कार्य करने की शक्ति नहीं है तो द्वितीयादि क्षण में भी कार्य नहीं होना चाहिए, क्योंकि प्रथम द्वितीयादि क्षण में कुछ भी विशेष नहीं है।^{२१२}

(२) नियतिवादियों की स्वमान्यता में दोष

“अतादवस्थमनित्यतां ब्रूमः इति वचनप्रामाण्यात्” जो जैसा है वह वैसा नहीं रहे तो वह अनित्य है। पूर्वोक्त दूषणों के भय से प्रथम-द्वितीय आदि क्षण में नियति के रूप में परस्पर विशेष भाव मानोगे तो बलात् नियति के रूप में अनित्यता आ जाएगी। नियति के प्रतिक्षण अन्य-अन्य रूप होने से नियतियाँ बहुत हो जायेंगी। नियतिवादी द्वारा मान्य नियति की एक रूप प्रतिज्ञा के दोषपूर्ण होने का प्रसंग उपस्थित हो जाएगा।^{२१३}

(३) नियति में व्यतिरेक असंभव

नियति के अनुसार कार्य में सहकारी कारण नियति से ही प्राप्त होते हैं-
कहा गया है-

हेतुनान्वयपूर्वेण, व्यतिरेकेण सिद्ध्यति।

नित्यस्याव्यतिरेकस्य, कुतो हेतुत्वसंभवः।।^{२१४}

अर्थात् कार्य के साथ जिसका अन्वय और व्यतिरेक संबंध दोनों हो, वही हेतु कारण हो सकता है। जो नित्य तथा अव्यतिरेकी हो, वह कारण नहीं बन सकता।

इस न्याय से सहकारी के होने पर कार्य होता है तथा नहीं होने पर नहीं होता है। इसलिए सहकारी कारण हो सकता है, किन्तु नियति नहीं। कारण कि नियति में व्यतिरेक असंभव है।

(४) नियति की एकरूपता असिद्ध

नियति के एक रूप होने पर उससे जन्य सभी कार्य एक रूप होने चाहिए, क्योंकि कारण का भेद हुए बिना कार्यभेद कदापि नहीं हो सकता है। इसके उपरान्त भी कार्यभेद होता है तो वह निर्हेतुक हो जाएगा।^{२१५}

प्रश्न किया जा सकता है कि यह भिन्नता नियति से है या अन्य से। नियति से है तो नानारूपता कैसे संभव है? इस नानारूपता के लिए बहुत विशेषण अंगीकार किये जाने चाहिए। तब फिर प्रश्न होता है कि ये विशेषण नियति से हैं अथवा किसी दूसरे से? यदि नियति से माना जाए तो अनवस्था दूषण होता है और अन्य से होता है तो स्वमत में भेद उत्पन्न हो जाता है।^{२१६}

(५) अनेक रूप नियति का खण्डन

अनेक रूप नियति मूर्त है या अमूर्त? मूर्त होने पर नामान्तर से कर्म को ही स्वीकार किया गया है क्योंकि कर्म पुद्गल रूप होने से मूर्त रूप भी है और अनेक रूप

भी है। इस प्रकार आर्हत मत और नियतिवाद एक हो गये क्योंकि नाम-भेद है, वस्तु का स्वरूप तो एक ही है।^{२१७}

अमूर्त मानते हो तो नियति आकाश के समान अमूर्त होने से सुख-दुःख का हेतु नहीं बन सकती। यदि देश भेद करके आकाश को सुख-दुःख का हेतु मानते हो, जैसे- मारवाड़ देश में आकाश दुःखदायी है, शेष सजल देशों में सुखदायी है। नियतिवादी का यह तर्क भी युक्तिसंगत नहीं है। क्योंकि मारवाड़ आदि देशों में भी आकाश में रहे हुए पुद्गल ही सुख-दुःख के हेतु है। जैसे कि मरुस्थली प्रदेश में जल का अभाव है और बालू बहुत है। चलते समय पैर घँस जाते हैं, पसीना बहुत आता है, सूर्य की किरणों से बालू तप जाती है, जिससे संताप भी बहुत होता है। पानी पीने को पूरा नहीं मिलता और खोदने पर भी बहुत प्रयत्न करने पर मिलता है। इसलिए इन देशों में बहुत दुःख है। परन्तु सजल देशों में ये कारण नहीं हैं अतः वहाँ दुःख भी नहीं है। इस उदाहरण या हेतु से पुद्गल ही सुख-दुःख का हेतु है, परन्तु आकाश नहीं।^{२१८}

(६) अभावरूप नियति का खाण्डन

नियतिवादी अभावरूप नियति का स्वीकार करते हैं तो यह पक्ष अयुक्त है, क्योंकि अभाव तुच्छरूप है, शक्ति रहित है और कार्य करने में समर्थ नहीं है। जैसे- कटक कुण्डल आदि का अभाव कटक-कुण्डल को उत्पन्न करने में समर्थ नहीं है। ऐसा हो जाए तो कोई दरिद्र ही न रहे।^{२१९}

नियतिवादी कहते हैं कि घटाभाव है वह मृत्पिंड है। उस घटाभाव रूप मृत्पिंड से घट उत्पन्न होता है। तब मिट्टी के पिण्ड को तुच्छरूप कैसे कहा जा सकता है? क्योंकि वह अपने स्वरूप से विद्यमान है। अतः अभाव पदार्थ की उत्पत्ति में हेतु क्यों नहीं हो सकता?

यह पक्ष भी असमीचीन है। भावाभाव का आपस में विरोध होने से मिट्टी का पिण्ड अभाव रूप नहीं हो सकता। यदि मिट्टी भाव रूप है तो अभाव रूप कैसे है और अभाव रूप है तो भावरूप कैसे है? नियतिवादी कहते हैं कि मिट्टी स्वरूप की अपेक्षा से भावरूप है और पररूप की अपेक्षा से अभाव रूप है। इसलिए भावाभाव दोनों के अलग निमित्त होने से कोई दूषण नहीं है।

ऐसा मानने पर मिट्टी का पिण्ड भावाभावरूप होने से अनेकान्तात्मक स्वरूप होगा। यह अनेकान्तात्मक स्वरूप जैनमतावलम्बी स्वपरभावादि से स्वीकार करते हैं। तब नियतिवादी उत्तर देते हैं कि मृत्पिण्ड में पररूप का अभाव कल्पित है और भावरूप तात्त्विक है। इसलिए अनेकान्तवाद हमारे तर्क में प्रविष्ट नहीं होता है।^{२२०}

फिर मृत्पिण्ड से घट कैसे होगा, क्योंकि मृत्पिण्ड में परमार्थ से घट के प्रागभाव का अभाव है। जिस प्रकार प्रागभाव के बिना भी मृत्पिण्ड से घट हो जाता है तो फिर सूत्रपिंडादि से घट क्यों नहीं हो जाता? क्योंकि जैसा मृत्पिण्ड में घट के प्रागभाव का अभाव है, वैसा ही सूत्रपिंडादि में भी घट के प्रागभाव का अभाव है। वैसे ही मृत्पिण्ड से खरशृंग क्यों उत्पन्न नहीं हो जाता?

इस प्रकार इन सभी तर्क और हेतुओं से नियतिवाद का मत स्थिर नहीं होता है।

काललब्धि और नियति

जैनदर्शन में मान्य काललब्धि से नियति का कथंचित् साम्य प्रतीत होता है। नियति को परिभाषित करते हुए जिनेन्द्रवर्णी कहते हैं- 'जो कार्य या पर्याय जिस निमित्त के द्वारा जिस द्रव्य में जिस क्षेत्र व काल में जिस प्रकार से होना होता है, वह कार्य उसी निमित्त के द्वारा उसी द्रव्य, क्षेत्र व काल में उसी प्रकार से होता है, ऐसी द्रव्य, क्षेत्र, काल व भाव रूप चतुष्टय से समुदित कार्यव्यवस्था को 'नियति' कहते हैं। काल की अपेक्षा से नियति को काललब्धि भी कहा जा सकता है।^{२२१} भाव यह है कि जिस कार्य के लिए जो समय नियत है, उसका उसी काल में होना, अन्य काल में न होना 'काललब्धि' या 'कालनियति' है। वह नियति का ही एक रूप है। काललब्धि एक बहिरंग कारण है- 'देशनाकाललब्ध्यादिबाह्यकारणसंपदि'^{२२२} सम्यक्त्व और मोक्ष सभी काललब्धि की अपेक्षा रखते हैं। यही नहीं स्वामिकार्तिकियानुप्रेक्षा में पदार्थ की सभी पर्यायों में भी काललब्धि को कारण स्वीकार किया गया है। काललब्धि के प्रभाव का संक्षेप में विवेचन प्रस्तुत है-

काललब्धि के अभाव में सम्यक्त्व का अभाव

अनादिकालीन मिथ्यादृष्टि जीव का काललब्धि के निमित्त से सम्यक्त्व को प्राप्त करता है।^{२२३} जीव की संसार-स्थिति, कर्म-स्थिति और भव-स्थिति के आधार पर काललब्धि को तीन भागों में विभाजित किया जा सकता है-

१. कर्मयुक्त कोई भी भव्य आत्मा अर्द्धपुद्गलपरावर्तन नामक काल के शेष रहने पर ही सम्यक्त्व प्राप्त करता है। यह संसार स्थिति संबंधी काललब्धि है।^{२२४}
२. जब जीव के बंधने वाले (बध्यमान) कर्मों की स्थिति (आयु के अतिरिक्त शेष सात कर्मों की स्थिति) अन्तः कोटाकोटि सागर होती है और विशुद्ध परिणामों द्वारा सत्ता में स्थित कर्मों की स्थिति संख्यात हजार सागर कम

अन्तः कोटाकोटि सागर हो जाती है तब वह जीव प्रथम सम्यक्त्व के योग्य होता है। यह कर्मस्थिति संबंधी काललब्धि है।^{२२५}

३. जो जीव भव्य है, संज्ञी है, पर्याप्तक है और सर्वविशुद्ध है, वह प्रथम सम्यक्त्व को प्राप्त करता है। यह भव की अपेक्षा से काललब्धि है।^{२२६}

महापुराण में कहा गया है- 'अनादि काल से चला आया कोई जीव काल आदि लब्धियों का निमित्त पाकर तीनों करण रूप परिणामों के द्वारा मिथ्यात्व आदि सात प्रकृतियों का उपशम करता है तथा संसार की परिपाटी का विच्छेद कर उपशम सम्यग्दर्शन प्राप्त करता है।'^{२२७} उदाहरणार्थ- प्रीतिकर और प्रीतिदेव नामक दो मुनि वज्रजंघ के पास आकर कहते हैं- हे आर्य! आज सम्यग्दर्शन ग्रहण करने का यह समय है'^{२२८} (ऐसा उन्होंने अवधिज्ञान से जान लिया), क्योंकि काललब्धि के बिना इस जीव को सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति नहीं होती।^{२२९}

मोक्ष में काललब्धि की हेतुता

मोक्षगामी जीव द्रव्य से वज्रऋषभनाराच संहनन शरीर, क्षेत्र से पन्द्रहकर्मभूमिज, काल से चतुर्थ आरा, भव से मनुष्य पर्याय तथा भाव से विशुद्ध परिणाम युक्त होता है तथा क्षयोपशमलब्धि, विशुद्धिलब्धि, देशनालब्धि, प्रायोग्य लब्धि रूप चार लब्धियों को प्राप्त करता है। इन चारों लब्धियों के होने पर भव्य जीव अधःकरण, अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण को करता है, इन तीनों करणों के होने का नाम करण लब्धि है। प्रत्येक करण का काल अन्तर्मुहूर्त है। सम्यग्दर्शन को प्राप्त करने के अनन्तर जीव योग्य समय आने पर अर्थात् काललब्धि प्राप्त होने पर कर्मों को नष्ट करके मुक्त हो जाता है।^{२३०}

कुन्दकुन्दाचार्य के ग्रन्थों पर जयसेनाचार्य रचित तात्पर्यवृत्ति टीका में इस बात का समर्थन निम्नांकित उद्धरणों से प्राप्त होता है-

१. 'अत्रातीतानन्तकाले ये केचन सिद्धसुखभाजनं जाता, भाविकाले...विशिष्ट-सिद्धसुखास्य भाजनं भविष्यन्ति ते सर्वेऽपि काललब्धिवशेनैव'^{२३१} अर्थात् अतीत अनन्त काल में जो कोई भी सिद्धसुख के भाजन हुए हैं या भाविकाल में होंगे, वे सब काललब्धि के वश से ही हुए हैं।
२. 'कालादिलब्धिवशाद् भेदाभेदरत्नत्रयात्मकं व्यवहारनिश्चयमोक्षमार्गं लभते'^{२३२} अर्थात् कालादि लब्धि के वश से भेदाभेदरत्नत्रयात्मक व्यवहार व निश्चय मोक्षमार्ग को प्राप्त करते हैं।

३. 'स एव चेतयितात्मा निश्चयनयेन स्वयमेव कालादिलब्धिवशात्सर्वज्ञो जातः सर्वदर्शी च जातः'^{२३३} अर्थात् वह चेतयिता आत्मा निश्चयनय से स्वयं ही कालादि लब्धि के वश से सर्वज्ञ व सर्वदर्शी हुआ है।

भदंत गुणभद्रसूरि ने भी आत्मानुशासन में सम्यग्दर्शन, व्रतदक्षता, कषाय-विनाश और योगनिरोध द्वारा मुक्ति इन सभी में काललब्धि की कारणता स्वीकार की है।^{२३४}

सभी पर्यायों में काललब्धि

द्रव्य अविनश्वर होने के कारण अनादिनिधन है। उस अनादि-निधन द्रव्य में द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव के मिलने पर अविद्यमान पर्याय की उत्पत्ति हो जाती है। जैसे-मिट्टी में घट के उत्पन्न होने का उचित काल आने पर कुम्हार आदि के सद्भाव में घट आदि पर्याय उत्पन्न होती है। इस प्रकार अनादि-निधन द्रव्य में काललब्धि से अविद्यमान पर्यायों की उत्पत्ति होती है, यह स्वामिकार्तिकियानुप्रेक्षा में स्पष्टतः कहा गया है-

सव्वाण पज्जयाणं अविज्जमाणाण होदि उप्पत्ती।

कालाई- लब्धीए अणाइ- णिहणम्मि दव्वम्मि।।^{२३५}

इस प्रकार कालादिलब्धि से युक्त एवं नाना शक्तियों से संयुक्त पदार्थ के पर्याय-परिणमन को कोई पदार्थ रोकने में समर्थ नहीं है।^{२३६}

काललब्धि की अवधारणा कालवाद से पृथक् है। कालवाद में जहाँ काल को ही कार्य की उत्पत्ति में एकमात्र कारण माना गया है, वहाँ काललब्धि में काल की कारणता के साथ पुरुषार्थ आदि की कारणता भी स्वीकार की गई है। कालवादी यह नहीं कह सकता कि किसी के पुरुषार्थ करने से फल की प्राप्ति होती है, जबकि काललब्धि जैन पारिभाषिक शब्द है जो नियति या काल की कथंचित् कारणता को मान्य करता हुआ पुरुषार्थ आदि के लिए ही मार्ग प्रशस्त करता है।

सर्वज्ञता और नियतिवाद

सर्वज्ञता की अवधारणा श्रमण और वैदिक दोनों परम्पराओं की प्राचीन धारणा है। जैन दर्शन में 'सर्वज्ञ' शब्द का प्रयोग केवलज्ञानी के लिए किया जाता है। केवलज्ञानी समस्त द्रव्यों और उनकी पर्यायों को साक्षात् जानता एवं देखता है। केवलज्ञान का लक्षण वादिदेवसूरि ने इस प्रकार दिया है-
निखिलद्रव्यपर्यायसाक्षात्कारिस्वरूपं ज्ञानं केवलज्ञानम्।^{२३७}

केवलज्ञानी अथवा सर्वज्ञ के लिए तीनों कालों के समस्त द्रव्यों और उनकी पर्यायों में से कुछ भी अज्ञात नहीं होता। इस प्रकार केवलज्ञानी ही सर्वज्ञ होता है।

सर्वज्ञतावाद में यह माना जाता है कि सर्वज्ञ देश और काल की सीमाओं से ऊपर उठकर कालातीत दृष्टि से सम्पन्न होता है और इस कारण उसे भूत के साथ-साथ भविष्य का भी पूर्वज्ञान होता है। लेकिन जो ज्ञात है उसमें संभावना, संयोग या अनियतता नहीं हो सकती। नियत घटनाओं का पूर्वज्ञान हो सकता है, अनियत घटनाओं का नहीं। यदि सर्वज्ञ को भविष्य का पूर्वज्ञान होता है और वह यथार्थ भविष्यवाणी कर सकता है, तो इसका अर्थ है कि भविष्य की समस्त घटनाएँ नियत हैं।^{२३८} भविष्य दर्शन और पूर्वज्ञान में पूर्वनिर्धारण गर्भित है। जैन दर्शन सर्वज्ञता को स्वीकार करता है। जैनागमों में अनेक ऐसे स्थल हैं जिनमें तीर्थंकरों एवं केवलज्ञानियों को त्रिकालज्ञ सर्वज्ञ कहा गया है। व्याख्याप्रज्ञप्तिसूत्र, अंतकृद्दशांग सूत्र एवं अन्य जैनागमों में इस त्रिकालज्ञ सर्वज्ञतावादी धारणा के अनुसार गोशालक, श्रेणिक, कृष्ण आदि के भावी जीवन के संबंध में भविष्यवाणी भी की गई है। यह भी माना गया है कि सर्वज्ञ जिस रूप में घटनाओं का घटित होना जानता है, वे उसी रूप में घटित होती हैं। उत्तरकालीन जैन ग्रन्थों में इस त्रैकालिक ज्ञान संबंधी सर्वज्ञत्व की धारणा का मात्र विकास ही नहीं हुआ, वरन् उसको तार्किक आधार पर सिद्ध करने का प्रयास भी किया गया है।

सर्वज्ञ समस्त द्रव्यों और उनकी समस्त पर्यायों को जानता है इसलिए उनके ज्ञान में जानी गई अवस्थाएँ, घटनाएँ या कार्य नियत होते हैं। यही नहीं उनके ज्ञान में विभिन्न जीवों के भावों या परिणामों के आधार पर भावी गतियों या जीवन की भावी घटनाओं को भी जान लिया जाता है। इस तरह से सर्वज्ञता की स्वीकृति में नियतिवाद का प्रवेश होने लगता है। भगवान महावीर ने उपासकदशांग सूत्र में गोशालक के नियतिवाद का खण्डन किया है तथा उत्थान, कर्म, बल, वीर्य, पराक्रम, पुरुषार्थ आदि की उपयोगिता प्रतिपादित की है। यहाँ पर यह प्रश्न उपस्थित होता है कि सर्वज्ञवाद को स्वीकार करने पर नियतिवाद का निषेध नहीं किया जा सकता, जबकि भगवान महावीर ने नियतिवाद का निषेध किया है।

सर्वज्ञता का जो अर्थ प्रचलित है उसमें नियतिवाद का प्रवेश हुए बिना नहीं रहता। अतः सर्वज्ञ का या केवलज्ञान का स्वरूप ऐसा होना चाहिए, जिसमें सर्वज्ञता भी सुरक्षित रहे और एकान्त नियतिवाद का प्रवेश भी न हो।

इसके संबंध में डॉ. सागरमल जैन के विचार महत्वपूर्ण हैं- “यद्यपि उपासकदशांग के आधार पर सम्पूर्ण घटनाक्रम को अनियत मानकर पुरुषार्थवाद की

स्थापना तो हो जाती है, लेकिन इस कथन की संगति जैन विचारणा की त्रिकालज्ञ-सर्वज्ञता की धारणा के साथ नहीं बैठती है। यदि सर्वज्ञ त्रिकालज्ञ है तो फिर वह भविष्य को भी जानेगा, लेकिन अनियत भविष्य नहीं जाना जा सकता। यहाँ पर दो ही मार्ग हैं या तो सर्वज्ञ की त्रिकालज्ञता की धारणा को छोड़कर उसका अर्थ आत्मज्ञान या दार्शनिक सिद्धान्तों का ज्ञान लिया जाए अथवा इस धारणा को छोड़ा जाए कि सब भाव अनियत है।^{१२३९}

सर्वज्ञ के जानने मात्र से दूसरे का पुरुषार्थ प्रभावित नहीं होता। जैसा होता है उसे वे वैसा जानते हैं। इसमें नियतिवाद नहीं आता। जीवों का पुरुषार्थ इसमें सुरक्षित रहता है, किन्तु उन्होंने जैसा जाना है वैसा ही होगा, इस पक्ष को मानने पर नियतिवाद की आशंका आती है। इस तथ्य को समझने के लिए आगम का एक उदाहरण यहाँ प्रस्तुत है-

प्रसन्नचन्द्र राजर्षि मुनि बनकर नगर के बाहर ध्यानस्थ थे। उस समय उस नगर पर अन्य राजा ने आक्रमण कर दिया। उनके कानों में जब इस आक्रमण के समाचार पहुँचे तो उनका राजत्व जाग उठा और वे प्रतिहिंसा और प्रतिकार की भावधारा में बहने लगे। उसी समय भगवान महावीर से राजा श्रेणिक ने प्रश्न किया कि प्रसन्नचन्द्र राजर्षि इस समय काल करें तो कहाँ उत्पन्न होंगे। भगवान ने उत्तर दिया कि वे इस समय काल करें तो सातवीं नरक में उत्पन्न होंगे। थोड़ी देर पश्चात् ही मुनि प्रसन्नचन्द्र ने अपना मुकुट संभालने के लिए सिर पर हाथ रखा तो उन्हें ज्ञात हुआ कि वे तो मुण्डित हैं और मुनि बन गए हैं। युद्ध की भावना उनके लिए अब उचित नहीं है। भावधारा एकदम बदली। संक्लेश के स्थान पर विशुद्धि के भावों का आरोहण हुआ। वे अब बाह्य शत्रुओं से नहीं अन्तर में विद्यमान कषाय रूपी शत्रुओं से युद्ध करने लगे। इधर प्रसन्नचन्द्र राजर्षि की निर्मलता बढ़ रही थी और उधर श्रेणिक राजा ने भगवान महावीर से प्रश्न किया कि मुनि प्रसन्नचन्द्र यदि इस समय काल करें तो कहाँ उत्पन्न होंगे। भगवान ने उत्तर दिया कि उन्हें केवलज्ञान हो गया है।

यह उदाहरण इस बात को सिद्ध करता है कि व्यक्ति अपना पुरुषार्थ करने में स्वतंत्र है तथा केवली 'जो होता है' उसे जानते हैं। सर्वज्ञता का यह स्वरूप स्वीकार किया जाए तो नियतिवाद का प्रवेश नहीं हो पाता।

अनियत भावों की संगति कर्म-सिद्धान्त से भी नहीं बैठती। यदि सभी भाव अनियत हैं तो फिर शुभाशुभ कृत्यों का शुभाशुभ फलों से अनिवार्य संबंध भी नहीं होगा। अनियतता का अर्थ कारणता या हेतु का अभाव भी नहीं होता। कारणता के प्रत्यय को अस्वीकार करने पर सारा कर्मसिद्धान्त ही ढह जाएगा। कर्मसिद्धान्त नैतिक

जगत् में स्वीकृत कारणता के सिद्धान्त का ही एक रूप है। जैन कर्मसिद्धान्त यह अवश्य मानता है कि व्यक्ति का प्रत्येक संकल्प एवं प्रत्येक क्रिया अकारण नहीं होती है, उसके पीछे कारण रूप में पूर्ववर्ती कर्म रहते हैं। हमारी सारी क्रियाएँ, समग्र विचार और मनोभाव पूर्वकर्म का परिणाम होते हैं, उनसे निर्धारित होते हैं।

जैन विचारणा में कर्म सिद्धान्त के साथ-साथ त्रिकालज्ञ सर्वज्ञ की धारणा स्वीकृत रही है। यही दो ऐसे प्रत्यय हैं जिनके द्वारा नियतिवाद का तत्त्व भी जैन विचारणा में प्रविष्ट हो जाता है।

‘नियति’ कारण-कार्य सिद्धान्त है, इसमें ‘नियति’ कारण से सभी कार्य नियत होते हैं। सर्वज्ञतावाद में कार्य-कारण किस प्रकार घटित होंगे, इसको पहले से जाना जा सकता है। नियतिवाद में सब कुछ नियत मानने पर भी सर्वज्ञता को मानना आवश्यक नहीं है। बिना सर्वज्ञता के भी नियतिवाद को स्वीकार किया जा सकता है। इसलिए यहाँ उल्लेखनीय है कि जहाँ भी गोशालक के नियतिवाद का स्वरूप प्राप्त होता है, वहाँ सर्वज्ञता की कोई चर्चा प्राप्त नहीं होती है।

सर्वज्ञत्व के इस अर्थ को लेकर कि सर्वज्ञ हस्तामलकवत् सभी जागतिक पदार्थों की त्रैकालिक पर्यायों को जानता है, जैन विद्वानों ने भी काफी ऊहापोह किया है। इस संबंध में आचार्य कुन्दकुन्द, याकिनी सुनू हरिभद्र, पं. सुखलाल जी, डॉ. इन्द्रचन्द शास्त्री, पं. कन्हैयालाल लोढा एवं डॉ. सागरमल जैन के विचार यहाँ प्रस्तुत किए जा रहे हैं-

- समयसार और प्रवचनसार में आचार्य कुन्दकुन्द ने सर्वज्ञता का अर्थ आत्मज्ञता किया है।^{३४०} केवलज्ञानी आत्मज्ञ होता है। आत्मज्ञ होने के साथ वह उपयोग लगाने पर अन्य वस्तुओं को भी जान लेता है।
- याकिनीसुनू हरिभद्रसूरि अपने अनेक तर्क ग्रन्थों में त्रैकालिक सर्वज्ञत्व का हेतुवाद से समर्थन कर चुके थे, पर जब उनको उस हेतुवाद में त्रुटि व विरोध दिखाई दिया तब उन्होंने सर्वज्ञत्व का सर्वसम्प्रदाय अविरोद्ध अर्थ किया व अपना योग सुलभ माध्यस्थ सूचित किया।^{३४१}
- पं. सुखलाल जी ने आचारांग एवं व्याख्याप्रज्ञप्ति के संदर्भों के आधार पर यह निष्कर्ष निकाला है कि आत्मा, जगत् एवं साधनामार्ग संबंधी दार्शनिक ज्ञान को ही उस युग में सर्वज्ञत्व माना जाता था, न कि त्रैकालिक ज्ञान को। आचारांग का यह वचन ‘जे एगं जाणइ से सव्वं जाणइ’ यही बताता है कि जो एक आत्मस्वरूप को यथार्थ रूप से

जानता है, वह उसकी सभी कषाय पर्यायों को भी यथार्थ रूप से जानता है। केवलज्ञानी के संबंध में भगवतीसूत्र का यह वचन कि 'सो जाणइ सो ण जाणइ' भी यही बताता है- केवलज्ञान त्रैकालिक सर्वज्ञता नहीं है, वरन् विशुद्ध आध्यात्मिक या दार्शनिक ज्ञान है।^{२८९}

- डॉ. इन्द्रचन्द्र शास्त्री के अनुसार सर्वज्ञता के स्थान पर प्रयुक्त होने वाला अनन्तज्ञान भी त्रैकालिक ज्ञान नहीं हो सकता। अनन्त का अर्थ सर्व नहीं माना जा सकता, क्योंकि वस्तुतः यह शब्द स्तुतिपरक है। डॉ. शास्त्री ने केवलज्ञान को आत्म-अनात्म के विवेक या आध्यात्मिक ज्ञान से संबंधित स्वीकार किया है।^{२९०}
- पं. कन्हैयालाल लोढा ने सर्वज्ञता का अर्थ अशेषज्ञता किया है। उनका कथन है कि केवलज्ञानी को कुछ भी जानना शेष नहीं रहता इसीलिए वे अशेषज्ञ या सर्वज्ञ हैं।^{२९१}
- डॉ. सागरमल जैन का मत है कि उपर्युक्त कथन के आधारों पर सर्वज्ञता का अर्थ मात्र पूर्ण दार्शनिक ज्ञान या आध्यात्मिक ज्ञान अथवा तत्त्वस्वरूप का यथार्थ ज्ञान करें तो जैनदर्शन में पुरुषार्थ का स्थान स्पष्ट हो जाता है। गोशालक के नियतिवाद के विरुद्ध प्रस्तुत पुरुषार्थवादी धारणा की रक्षा भी की जा सकती है।^{२९२}

क्रमबद्धपर्याय और नियतिवाद

'क्रमबद्धपर्याय' आज दिगम्बर जैन समाज का बहुचर्चित विषय है। पूज्य श्री कानजी स्वामी ने इस विषय को बड़ी ही गम्भीरता से प्रस्तुत कर अध्यात्म जगत् में एक क्रान्ति का शंखनाद किया है। नियतिवाद से संबंधित होने से यहाँ इस विषय पर चिन्तन अपेक्षित है।

क्रमबद्धपर्याय से आशय यह है कि इस परिणमनशील जगत् की परिणमन-व्यवस्था 'क्रमनियमित' है। जगत् में जो भी परिणमन निरन्तर हो रहा है, वह सब एक निश्चित क्रम में व्यवस्थित रूप से हो रहा है। स्थूलदृष्टि से देखने पर जो परिणमन अव्यवस्थित दिखाई देता है, गहराई से विचार करने पर उसमें भी एक सुव्यवस्थित व्यवस्था नजर आती है। जैसे कि नाटक के रंगमंच पर जो दृश्य व्यवस्थित दिखाये जाते हैं, वे तो पहिले से निश्चित और पूर्ण व्यवस्थित होते ही हैं, किन्तु जो दृश्य अव्यवस्थित दिखाये जाते हैं, वे भी पूर्व नियोजित एवं पूर्ण व्यवस्थित होते हैं। इसी प्रकार सम्पूर्ण द्रव्यों का अव्यवस्थित-सा दिखने वाला परिणमन भी पूर्ण निश्चित और व्यवस्थित होता है।

कोई भी द्रव्य किसी अन्य द्रव्य के परिणमन का कर्ता-हर्ता नहीं है। इसलिए जीव अपने ही परिणामों का कर्ता है और अजीव अपने परिणामों का। इस प्रकार जीव दूसरे के परिणामों का अकर्ता होता है। यह बात समयसार के कर्ता-कर्म अधिकार एवं सर्वविशुद्ध ज्ञान अधिकार में विस्तार से स्पष्ट की गई है। इसका अभिप्राय यह है कि प्रत्येक द्रव्य अपनी परिणति का कर्ता-भोक्ता तो है ही, पर इसका आशय यह नहीं कि सर्वज्ञ के ज्ञान में उसका जो भावी परिणमन झलकता है, उसमें कुछ फेर-फार कर सकता है। अतः यद्यपि द्रव्य अपनी पर्यायों का कर्ता है तथापि वह फेर-फार का कर्ता नहीं है।

क्रमबद्धपर्याय को स्वीकार करने पर नियति का प्रसंग आता है। इस बात को डॉ. हुकमचन्द भारिल्ल की निम्न पंक्तियाँ प्रमाणित करती हैं- “क्रमबद्धपर्याय अर्थात् सम्यक् नियति मानने में जगत् को पुरुषार्थ की अप्रासंगिकता दिखायी देती है, जबकि सम्यक्-नियति में अन्य कारणों की उपेक्षा न होने से इस प्रकार की कोई बात नहीं है।”^{१२४}

उपर्युक्त उद्धरण से ज्ञात होता है कि ‘क्रमबद्धपर्याय’ का स्वरूप एकान्त नियतिवाद के तुल्य नहीं है, अपितु अन्य कारणों (पुरुषार्थ, स्वभाव आदि) के सापेक्ष एक कारण है। डॉ. भारिल्ल ने पं. टोडरमल के आधार पर स्पष्ट किया है- “वस्तुतः पाँचों (काल, स्वभाव, नियति, पूर्वकृत कर्म, पुरुषार्थ) समवायों का समवाय ही कार्य का उत्पादक है। यह कहना कोरी कल्पना ही है कि पाँचों समवायों में से यदि एक भी नहीं मिला तो कार्य नहीं होगा, क्योंकि ऐसा संभव ही नहीं है कि कार्य होना हो और कोई समवाय न मिले; जब कार्य होना होता है तो सभी समवाय होते ही होते हैं। पुरुषार्थ को मुख्य करके यह बात पं. टोडरमल जी ने बहुत ही स्पष्ट लिखी है।”^{१२५}

यहाँ क्रमबद्धपर्याय में नियति तो निहित है, किन्तु उसमें अन्य कारणों की उपेक्षा नहीं है। अन्य कालादि कारणों के सापेक्ष होने से क्रमबद्धपर्याय रूप नियति सम्यक् नियति है।

पूर्वकृत कर्म और नियतिवाद

प्रायः भारतीय वाङ्मय में नियति एवं पूर्वकृत कर्म (भाग्य) की भेदक रेखा प्राप्त नहीं होती। पूर्वकृत कर्म के अनुसार भाग्य या दैव का निर्माण होता है तथा भारतीय चिन्तन में इन्हें नियति का पर्याय माना गया है। इस प्रकार नियति, भाग्य, दैव और पूर्वकृत कर्म एकार्थक प्रतीत होते हैं। यदि पूर्वकृत कर्मों से भाग्य या नियति का निर्माण होता है तो पूर्वकृत कर्म को कारण तथा नियति को कार्य मानना होगा। किन्तु यह भी पूर्णतः समीचीन प्रतीत नहीं होता है। कारण कि नियतिवाद एवं पूर्वकृत कर्मवाद दो भिन्न सिद्धान्त हैं। जो पृथक् रूप से कार्य की उत्पत्ति में कारण माने गये हैं।

पूर्वकृत कर्म की कारणता तो जीवों में ही संभव है, अजीवों में नहीं। क्योंकि कर्म सिद्धान्त का विवेचन सभी दर्शन जीव की शुभाशुभ प्रवृत्तियों से जोड़ कर करते हैं। नियतिवाद जीव और अजीव दोनों पर लागू होता है। नियतिवाद के द्वारा जीव-अजीव से सम्बद्ध प्रत्येक घटना की व्याख्या की जा सकती है। कर्मसिद्धान्त भी नियतिवाद का तब एक अंग बन सकता है। नियतिवाद के अन्तर्गत पुरुषार्थ, काल एवं स्वभाव का भी समावेश संभव है। पूर्वकृत कर्मवाद में भी कर्मों का फल नियत हो जाता है किन्तु पुरुषार्थ के द्वारा जैन दर्शनानुसार तप आदि के द्वारा कर्म की स्थिति का अपकर्षण, उत्कर्षण या संक्रमण करके फलभोग में परिवर्तन किया जा सकता है।

पुरुषार्थ और नियतिवाद

सामान्यतः नियतिवाद को पुरुषार्थवाद का विरोधी समझा जाता है। एकान्त नियतिवादी नियति से ही सब कार्यों का जन्म मानते हैं। जीव से संबंधित कार्यों को भी वे नियति से उत्पन्न ठहराते हैं तथा पुरुषार्थ की व्यर्थता का प्रतिपादन करते हैं। किन्तु नियतिवाद के व्यापक अध्ययन से ज्ञात होता है कि नियतिवादी पुरुषार्थ का समावेश भी नियति के अन्तर्गत कर लेते हैं। नियति से ही व्यक्ति पुरुषार्थ करता है। इसलिए पुरुषार्थ को नियतिवादी भिन्न कारण न मानकर नियति को ही कारण स्वीकार करते हैं।

आचार्य महाप्रज्ञ के मत में नियति का स्वरूप

नियति के संबंध में युवाचार्य महाप्रज्ञ (सम्प्रति आचार्य) का अपना मौलिक चिन्तन है। उन्हीं के शब्दों में-

“जो कुछ होता है, वह सब नियति के अधीन है। नियति का यह अर्थ ठीक से नहीं समझा गया। लोग इसका अर्थ भवितव्यता करते हैं। जो जैसा होना होता है, वह वैसा हो जाएगा- यह है भवितव्यता की धारणा, नियति की धारणा। नियति का यह अर्थ गलत है। इसी आधार पर कहा गया- ‘भवितव्यं भवत्येव गजमुक्तकपित्थवत्’- जैसा होना होता है वैसा ही घटित होता है। हाथी कपित्थ का फल खाता है और वह पूरा का पूरा फल मलद्वार से निकल जाता है, क्योंकि भवितव्यता ही ऐसी है। नारियल के वृक्ष की जड़ों में पानी सींचा जाता है और वह ऊपर नारियल के फल में चला जाता है। यह भवितव्यता है। यह नियतिवाद माना जाता है। पर ऐसा नहीं है। नियति का अर्थ ही दूसरा है। नियति का वास्तविक अर्थ है- जागतिक नियम, सार्वभौम नियम, यूनिवर्सल लॉ। इसमें कोई अपवाद नहीं होता। वह सब पर समान रूप से लागू होता है। वह चेतन और अचेतन- सब पर लागू होता है। उसमें अपवाद की कोई गुंजाइश नहीं होती।”^{१२४८}

“जिस नियम में कोई अपवाद नहीं होता, वह है नियति। जिसमें अपवाद होता है, वह नियति नहीं, सामान्य नियम होता है। नियति है सार्वभौम नियम, यूनिवर्सल लॉ। हमारे जीवन चक्र के हजारों शाश्वत नियम हैं। जगत् के भी हजारों शाश्वत नियम हैं। उनमें अपवाद नहीं होता। मृत्यु एक नियति है। क्या कोई इसका अपवाद बना है आज तक? कोई नहीं बना और न बन सकेगा। जो जन्मता है, वह मरता है। जिसने जन्म लिया है, वह आज या कल अवश्य मरेगा। जो जीवनधर्मा है वह मरणधर्मा है। यह नियति है, निश्चित है। जीवन के साथ मृत्यु जुड़ी हुई है। गीता में कहा है- ‘जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर्ध्रुवं जन्म मृतस्य च।’ जो जन्मा है उसकी मृत्यु निश्चित है और जो मरे है उनका जन्म भी निश्चित है। जन्म और मरण दोनों अनिवार्य नियति हैं। प्रत्येक प्राणी की यह नियति है। यदि हम ‘मरण’ शब्द को छोड़ दें तो अचेतन में भी नियति है। कोई भी अचेतन द्रव्य शाश्वत नहीं है। वह बदलता है, बदलता रहता है। एक परमाणु भी एक रूप में नहीं रहता। उसे बदलना ही पड़ता है। चेतन जगत् में जन्म और मृत्यु होती है और अचेतन जगत् में जन्म और मृत्यु न कहकर उत्पाद और व्यय कहा है। इसका अर्थ है उसका एक रूप बनता है, दूसरा नष्ट हो जाता है। एक रूप का उत्पाद कहा है और दूसरे का व्यय होता है, नाश होता है।

उत्पाद और व्यय का चक्र, जन्म और मृत्यु का चक्र, रूपान्तरण का चक्र नियति है। वे शाश्वत नियम, जो चेतन और अचेतन पर घटित होते हैं, उन सारे नियमों का अर्थ है नियति। नियतिवाद बहुत बड़ी बात है। नियतिवादी जो कहते हैं- जैसा नियति में है, वैसा होगा, यह त्रुटिपूर्ण प्ररूपणा है। इसमें अनेक बड़े-बड़े दार्शनिक चूके हैं। उन्होंने नियति सार्वभौम नियम को सामान्य नियम के रूप में स्वीकार कर लिया, इसीलिए नियति का सिद्धान्त भ्रामक बन गया।

नियति के वास्तविक अर्थ को समझने के लिए हमें यह मानना पड़ेगा कि नियम दो प्रकार के होते हैं-

१. मनुष्यों द्वारा कृत नियम

२. सार्वभौम नियम

मनुष्यों द्वारा कृत नियम नियति नहीं है। नियति वह है जो प्राकृतिक नियम है, स्वाभाविक और सार्वभौम नियम है। जो नियम जागतिक है, सब पर लागू होता है, वह है नियति। हम नियति के पंजे से नहीं छूट सकते। प्रत्येक व्यक्ति नियति से जुड़ा हुआ है, नियति के साथ चल रहा है। कोई भी उसका अपवाद नहीं है।^{२४१}

“नियति में कोई तर्क नहीं होता, वहाँ तर्क की पहुँच नहीं है। वह तर्क के द्वारा जानी नहीं जा सकती। वह तर्कातीत अवस्था है। मनुष्य के द्वारा निर्मित नियमों में तर्क का प्रवेश हो सकता है। यह नियम क्यों बना-ऐसा पूछा जा सकता है। मनुष्य नियम बनाता है तो उसके पीछे कुछ न कुछ प्रयोजन होता है। निष्प्रयोजन नियम नहीं बनाए जाते। न्यायशास्त्र कहता है- ‘यत् यत् कृतकं तत् तत् अनित्यं’ जो कृतक अर्थात् किया हुआ होता है, वह अनित्य होता है, शाश्वत नहीं होता। शाश्वत होता है अकृत, जो किया हुआ नहीं होता है। बस, यही उसकी मर्यादा है। मनुष्य का बनाया हुआ नियम शाश्वत नहीं होता, नियति नहीं होता। नियति शाश्वत है। उसके नियम स्वाभाविक और सार्वभौम होते हैं। वे अकृत हैं। बनाए हुए नहीं हैं, इसीलिए शाश्वत हैं।

नियतिवाद की प्राचीन व्याख्या से हटकर मैंने यह नई व्याख्या प्रस्तुत की है। मैं जानता हूँ कि यह नियतिवाद की वैज्ञानिक व्याख्या है। जैनदर्शन ने इसी व्याख्या को स्वीकारा है।^{२५०}

निष्कर्ष

नियतिवाद के अनुसार नियति ही सब कार्यों का कारण है। नियतिवाद का निरूपण मंखलि गोशालक ने किया था। उनकी मान्यता का उल्लेख व्याख्याप्रज्ञप्ति सूत्र और बौद्ध त्रिपिटक के दीघनिकाय में स्पष्टतः हुआ है। सूत्रकृतांग और उपासकदशांग सूत्र में भी नियतिवाद की चर्चा है। व्याख्याप्रज्ञप्ति सूत्र के १५वें शतक में नियतिवाद के प्ररूपक गोशालक का विस्तार से परिचय सम्प्राप्त होता है। गोशालक की सम्प्रदाय आजीवक सम्प्रदाय के नाम से प्रसिद्ध है, किन्तु वर्तमान में यह अस्तित्व में नहीं है। नियतिवाद का मन्तव्य है कि जो जब जैसा और जिससे होना होता है वह तब वैसा और उससे ही होता है। नियति के स्वरूप को प्रतिपादित करने वाला एक श्लोक सूत्रकृतांग और प्रश्नव्याकरण की टीका, सन्मति तर्क, शास्त्रवार्ता समुच्चय और लोक तत्त्व निर्णय आदि दार्शनिक ग्रन्थों में उद्धृत है, जो इस प्रकार है-

प्राप्तव्यो नियतिबलाश्रयेण योऽर्थः, सोऽवश्यं भवति नृणां शुभोऽशुभो वा।

भूतानां महति कृतेऽपि हि प्रयत्ने, नाभाव्यं भवति न भाविनोऽस्ति नाशः।।^{२५१}

अर्थात् जो पदार्थ नियति के बल के आश्रय से प्राप्तव्य होता है, वह शुभ या अशुभ पदार्थ मनुष्यों को अवश्य प्राप्त होता है। प्राणियों के द्वारा महान् प्रयत्न करने पर भी अभाव्य कभी नहीं होता और भावी का कभी नाश नहीं होता है।

नियतिवाद का कोई स्वतंत्र ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है किन्तु इस सिद्धान्त का प्रभाव भारतीय वाङ्मय के विभिन्न ग्रन्थों में दृग्गोचर होता है। आगम, त्रिपिटक, उपनिषद्,

पुराण, संस्कृत महाकाव्य एवं नाटकों में भी नियति के प्रतिपादक उल्लेख उपलब्ध होते हैं। वेद में नियतिवाद का साक्षात् उल्लेख नहीं है किन्तु पं. मधुसूदन ओझा ने नासदीय सूक्त के आधार पर जगदुत्पत्ति के दश वाद प्रस्तुत करते हुए अपरवाद के अन्तर्गत स्वभाववाद के चार रूपों में एक रूप नियतिवाद बताया है। उन्होंने नियतिवाद के स्वरूप को स्पष्ट भी किया है, यथा-

यदैव यद्यावदथो यतो वा तदैव तत्तावदथो ततो वा।

प्रजायतेऽस्मिन्नियतं नित्याक्रान्तं हि पश्याम इदं समस्तम्।^{२५२}

श्वेताश्वतरोपनिषद् में 'कालः स्वभावो नियतिर्यदुच्छा, भूतानियोनिः पुरुष इति चिन्त्या'^{२५३} पंक्ति में नियतिवाद का अस्तित्व ज्ञापित होता है। इस उपनिषद् के शांकरभाष्य में नियति का स्वरूप इस प्रकार प्रतिपादित है-
नियतिरविषमपुण्य- पापलक्षणं कर्म तद्वा कारणम्।^{२५४} अर्थात् पुण्य-पाप रूप जो अविषम कर्म हैं, वे नियति कहे जाते हैं। अविषम कर्म का फल कभी विपरीत नहीं होता। महोपनिषद् एवं भावोपनिषद् के उद्धरणों से ज्ञात होता है कि नियति एक नियामक तत्त्व है। हरिवंश पुराण, वामनपुराण, नारदीयपुराण में दैव अथवा भवितव्यता के रूप में नियति की चर्चा है। दुर्गारा हि भवितव्यता^{२५५}, दुर्लघ्यं भवितव्यता^{२५६} आदि वाक्य हरिवंश पुराण में तथा 'यद्भावि तद्भवत्येव यद्भाव्यं न तद्भवेत्'^{२५७} आदि वाक्य नारदीय पुराण में पुष्टि करते हैं। रामायण में 'नियतिः कारणं लोके नियतिः कर्मसाधनम्'^{२५८} सदृश वाक्य नियति की महत्ता को स्थापित करते हैं। महाभारत में वेदव्यास ने नियति के स्वरूप को अभिव्यक्त करते हुए कहा है-

यथा यथास्य प्राप्तव्यं प्राप्नोत्येव तथा तथा।

भवितव्यं यथा यच्च भव्यात्वे तथा तथा।।^{२५९}

संस्कृत साहित्य के विभिन्न ग्रन्थों में नियतिवाद या भवितव्यता का प्रभाव स्पष्ट परिलक्षित होता है। महाकवि कालिदास विरचित अभिज्ञान शाकुन्तल में 'भवितव्यानां द्वाराणि भवन्ति सर्वत्र'^{२६०}, 'भवितव्यता खलु बलवती'^{२६१} आदि वाक्य इसके साक्षी हैं। हितोपदेश, पंचतन्त्र आदि में भी नियति का महत्त्व स्थापित है। कल्हण की राजतरंगिणी में 'शक्तो न कोऽपि भवितव्यविलंघनायाम्'^{२६२} वाक्य नियति की महत्ता का प्रकाशक है।

साहित्यशास्त्री मम्मट विरचित काव्यप्रकाश में 'नियति' शब्द का प्रयोग महत्त्वपूर्ण है-

नियतिकृतनियमरहितां ह्लादैकमयीमनन्यपरतन्त्राम्।

नवरसरुचिरां निर्मितिमादधती भारती कवेर्जयति।।^{२६३}

काव्यप्रकाश की बालचिन्तानुरंजनी टीका, विवेक टीका, दीपिका टीका, सम्प्रदायप्रकाशिनी टीका, सुधासागर टीकाओं में नियति के स्वरूप का प्रकाशन किया गया है। उन्होंने असाधारण धर्म या नियामक तत्त्व के रूप में, कर्म की अपर पर्याय के रूप में, अदृष्ट के रूप में तथा दैव के रूप में नियति शब्द की व्याख्या की है।

बौद्ध त्रिपिटक में सूत्रपिटक के अन्तर्गत दीघनिकाय में गोशालक ने बुद्ध के प्रश्न का उत्तर देते हुए अपने मत को स्पष्ट किया है- “प्राणियों के दुःख का कोई हेतु या प्रत्यय नहीं है। बिना हेतु और प्रत्यय के ही प्राणी दुःखी होते हैं। प्राणियों की विशुद्धि का भी कोई हेतु या प्रत्यय नहीं है। बिना हेतु और प्रत्यय के ही प्राणी विशुद्धि को प्राप्त होते हैं। न आत्मा कुछ करती है और न पर कुछ करता है, न पुरुषकार है, न बल है, न वीर्य है, न पुरुषस्ताम है, न पुरुषपराक्रम है। सभी सत्त्व, सभी प्राण, सभी भूत और सभी जीव अवश हैं, अबल हैं, अवीर्य हैं। नियति के संग के भाव से परिणत होकर ६ प्रकार की अभिजातियों में सुख-दुःख का संवेदन करते हैं।”^{२६४}

योगवासिष्ठ में नियति के सिद्धान्त को सृष्टि के प्रारम्भ से ही स्वीकार किया गया है। यथा-

आदिसर्गे हि नियतिर्भाववैचित्र्यमक्षयम्।

अनेनेत्थं सदा भाव्यमिति संपद्यते परम्।।^{२६५}

योगवासिष्ठ में प्रतिपादित है कि नियति का चारों ओर साम्राज्य है, यही कारण है कि जगत् में सारे व्यापार नियमित रूप से होते हुए दिखाई पड़ते हैं और प्रत्येक वस्तु का स्वभाव निश्चित जान पड़ता है। नियति की अटलता और निश्चितता को कोई भी खण्डित करने में समर्थ नहीं है। यहां तक कि सर्वज्ञ और बहुज्ञ प्रभु भी नियति को अन्यथा नहीं कर सकते-

सर्वज्ञोऽपि बहुज्ञोऽपि माधवोऽपि हरोऽपि च।

अन्यथा नियतिं कर्तुं न शक्तः कश्चिदेव हि।।^{२६६}

योगवासिष्ठकार ने पुरुषार्थ को भी नियति सापेक्ष प्रतिपादित किया है। नियति पुरुषार्थ के रूप से ही जगत् की नियामिका है- ‘पौरुषेण रूपेण नियतिर्हि नियामिका।’^{२६७} काश्मीर शैव दर्शन में ३६ तत्त्वों के अन्तर्गत नियति की भी गणना

की गई है तथा कहा गया है कि नियति कंचुक के कारण प्रत्येक प्राणी अपने पूर्व कर्मों के फल को भोगने के लिए बाध्य बना रहता है।

जैन दर्शन के विभिन्न ग्रन्थों में नियतिवाद का निरूपण हुआ है। सूत्रकृतांग सूत्र में, प्रश्नव्याकरण सूत्र और उसकी टीकाओं में, नन्दीसूत्र की अवचूरि में नियतिवाद के संबंध में जो चर्चा हुई है, उसका संक्षेप निम्नानुसार है-

१. सूत्रकृतांग के द्वितीय श्रुतस्कन्ध के पौण्डरीक नामक अध्ययन में नियतिवादी के मत का स्वरूप स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि दुःख-सुख की प्राप्ति अपने या दूसरे के निमित्त से नहीं अपितु नियति के कारण से होती है। संसार में जो त्रस व स्थावर प्राणी है वे सब नियति के प्रभाव से ही औदारिक आदि शरीर की रचना को प्राप्त करते हैं। वे नियति के कारण ही बाल्य, युवा और वृद्धावस्था को प्राप्त करते हैं तथा शरीर से पृथक् होते हैं।
२. स्थानांग सूत्र एवं भगवती सूत्र में नियतिवाद का सीधा उल्लेख तो नहीं मिलता किन्तु चार प्रकार के वादी समवसरणों का कथन किया गया है- क्रियावादी, अक्रियावादी, अज्ञानवादी और विनयवादी। इनमें क्रियावादी और अक्रियावादी के अन्तर्गत नियतिवाद के क्रमशः ३६ एवं १४ भेद किए गए हैं।
३. नन्दीसूत्र की अवचूरि में नियतिवाद का स्वरूप स्पष्ट रूप से प्रतिपादित है। तदनुसार नियति एक पृथक् तत्त्व है जिसके वश में सभी भाव हैं और वे नियत रूप से ही उत्पन्न होते हैं। जो, जब, जिससे होना होता है वह तब, उससे ही नियत रूप से प्राप्त होता है। ऐसा नहीं मानने पर कार्य-कारण व्यवस्था और प्रतिनियत व्यवस्था संभव नहीं है।
४. प्रश्नव्याकरण सूत्र में नियतिवादियों के मत का उल्लेख हुआ है- *णत्थोत्थ किंचि कयगं तत्तं लक्खणविहाणणियतीए कारियं एवं केइ जंपन्ति।*^{१६८} टीकाकार अभयदेवसूरि ने नियतिवाद को प्रस्तुत करते हुए कहा है कि नियतिवादियों के अनुसार पुरुषकार को कार्य की उत्पत्ति में कारण मानने की आवश्यकता नहीं है क्योंकि उसके बिना नियति से ही समस्त प्रयोजनों की सिद्धि हो जाती है। टीकाकार ज्ञानविमलसूरि स्पष्ट करते हैं कि नियतिवादी नियति से ही जगत् की उत्पत्ति अंगीकार करते हैं तथा भवितव्यता को सर्वत्र बलीयसी बतलाते हैं।
५. आचारांग सूत्र की शीलांक टीका में नियति को स्पष्ट करते हुए कहा है- 'का पुनरियं नियतिरिति उच्यते, यदार्थानामवरयंतया यद्वाथाभवने

प्रयोजककर्त्री नियतिः।^{१६९} अर्थात् पदार्थों में आवश्यक रूप से जो जिस प्रकार होना होता है उसकी प्रयोजककर्त्री नियति होती है।

पंचम शती ई. में सिद्धसेन दिवाकर प्रमुख जैन दार्शनिक हुए हैं। उन्होंने नियति पर बत्तीस श्लोकों में द्वात्रिंशिका का निर्माण किया है। इस द्वात्रिंशिका में कर्तृत्ववाद का खण्डन करते हुए नियतिवाद को प्रस्तुत किया गया है। सिद्धसेन विरचित द्वात्रिंशिका एवं विजयलावण्यसूरिरचित टीका और मुनि भुवन चन्द्र रचित गुजराती व्याख्या के आधार पर नियतिवाद की निम्नांकित मान्यताएँ अभिव्यक्त हुई हैं-

१. सर्वसत्त्वों के स्वभाव की नियतता है।
२. बुद्धि के धर्म आदि आठ अंग नियति से नियमित हैं।
३. नियतिवाद के अनुसार जीव का स्वरूप चैतन्य है तथा क्रोध, मोह, लोभ आदि ज्ञान लक्षण रूप स्वभाव जिसका है वह चैतन्य है।
४. नियतिवाद में पाँच इन्द्रियाँ और मन मान्य हैं। मन अहं के द्वारा नियति है तथा प्रत्येक शरीर में पृथक्-पृथक् रूप से रहता है।
५. नरक, स्वर्ग आदि के दुःख-सुख नियत हैं।
६. ज्ञान भी नियत है तथा उच्चकुलीनों का स्वभाव भी नियत है।
७. नियतिवाद के अनुसार आकाश, काल, सुख-दुःख, जीव-अजीव आदि तत्त्व मान्य हैं।
८. नियतिवादियों को प्रत्यक्ष और अनुमान प्रमाण मान्य हैं।
९. शरीर आदि का कर्ता आत्मा नहीं है।
१०. जगद्वैचित्र्य की सिद्धि नियतिवाद के बिना नहीं हो सकती।
११. नियति आदि से नियमित उपादान ही सत्कार्य में व्यापार करता है। यह नियति ही कार्य की निमित्त होती है।

आठवीं शती में हरिभद्रसूरि ने शास्त्रवार्ता समुच्चय में नियतिवाद की चर्चा की है तथा उनके टीकाकार यशोविजय (१७वीं शती) ने अपनी तीक्ष्णमति से युक्तियों को व्यवस्थित किया है। इन दोनों दार्शनिकों द्वारा प्रस्तुत नियतिवाद में निम्नांकित विशेषताएँ प्रकट हुई हैं-

१. नियतिजन्यता प्रत्येक वस्तु का साधारण धर्म है। सभी पदार्थ नियति से उत्पन्न होते हैं-

नियतेनैव रूपेण सर्वे भावा भवन्ति यत्।

ततो नियतिजा ह्येते तत्स्वरूपानुबेधतः॥^{२७०}

२. नियति प्रमाण से सिद्ध है क्योंकि जगत् में नियति के स्वरूप के अनुसार ही घटादि कार्यों की उत्पत्ति देखी जाती है। नियति रूप विशिष्ट कार्य की उत्पत्ति ही नियति की सत्ता में प्रमाण है।
३. नियति के बिना मूंगों का पकना भी संभव नहीं है। हरिभद्रसूरि कहते हैं-

न चर्ते नियतिं लोके मुद्रपक्वितरपीक्ष्यते।

तत्स्वभावादिभावेऽपि नासावनियता यतः॥^{२७१}

४. कार्य को यदि नियतिजन्य नहीं मानेंगे तो कार्य में नियत रूपता का कोई नियामक नहीं बनेगा। नियामकता के अभाव में उत्पन्न होने वाले कार्यों में सर्वात्मकता की आपत्ति आ जाएगी।

न्यायाचार्य यशोविजय ने नयोपदेश में नियतिवाद का उल्लेख मिथ्यात्व के ६ स्थानों के अन्तर्गत किया है। नियतिवादी का मन्तव्य है कि मुक्ति तो होती है किन्तु उसका कोई उपाय नहीं है। वह अकस्मात् ही होती है। आधुनिक युग में तिलोकऋषि जी महाराज ने नियतिवाद को सबैया छन्द में निबद्ध किया है।

नियति के संबंध में स्वयंभूस्तोत्र, अष्टशती, गोम्मटसार, स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा आदि ग्रन्थों में भी विवेचन हुआ है। इन ग्रन्थों में नियति की कथंचित् स्वीकृति जैन दर्शन में स्वीकृत होती हुई प्रतीत होती है। समन्तभद्र ने भवितव्यता को दुर्निवार कहा है। अष्टशती में भट्ट अकलंक ने भवितव्यता के स्वरूप को प्रस्तुत करते हुए एक श्लोक उद्धृत किया है-

तादृशी जायते बुद्धिर्व्यवसायश्च तादृशः।

सहायास्तादृशाः सन्ति यादृशी भवितव्यता॥

गोम्मटसार और स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा में नियति का स्वरूप प्रकट हुआ है। जिसके अनुसार पदार्थ की प्रत्येक पर्याय का द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव नियत है। गोम्मटसार में कहा गया है कि जो जब जिसके द्वारा जैसे जिसका नियम से होने वाला है वह उसी काल में उसी के द्वारा उसी रूप से नियम से उसका होता है- ऐसा नियति का स्वरूप मानना नियतिवाद है।^{२७२}

जैनागम एवं जैन दार्शनिक कृतियों में नियतिवाद का निरूपण एवं निरसन प्राप्त होता है। जैन दार्शनिक पहले अपनी कृतियों में जैन दर्शन का उपस्थापन करते हैं तथा फिर उसका खण्डन करते हैं। सूत्रकृतांग में नियतिवाद का सांकेतिक निरूपण हुआ है। टीकाकार शीलांकाचार्य ने सूत्रकृतांग की गाथा में आए 'संगइअं' पद का अर्थ नियतिकृत स्वीकार किया है- *नियतिकृत सांगतिकमित्पुच्यते*।^{२९३} जिस जीव को जिस समय जहाँ जिस प्रकार के सुख-दुःख को अनुभव करना होता है, वह संगति कहलाती है। यह संगति ही नियति है। प्राणियों के सुख-दुःख आदि उनके उद्योग द्वारा किए हुए नहीं किन्तु उनकी नियति द्वारा किए हुए होते हैं इसलिए वे सांगतिक कहलाते हैं। नियतिवाद का निरसन करते हुए सूत्रकृतांग में नियतिवादी को बुद्धिहीन बताया है। आगम का मन्तव्य है कि पूर्वकृत कर्म एवं पुरुषार्थ भी व्यक्ति के सुख-दुःख में हेतु होते हैं। टीकाकार शीलांकाचार्य के मतानुसार सुख-दुःख आदि कथंचित् नियति से होते हैं अर्थात् उनमें पूर्वकृत कर्म कारण होता है। कथंचित् वे अनियतिकृत भी होते हैं क्योंकि उनमें काल, स्वभाव, पुरुषकार आदि की अपेक्षा होती है। यदि नियतिवाद को स्वीकार किया जाए तो परलोक के लिए की गई क्रियाएँ व्यर्थ हो जायेंगी। पुरुषार्थ को व्यर्थ नहीं माना जा सकता। नियति स्वतः नियत है या किसी अन्य से नियन्त्रित है। इस प्रकार का प्रश्न उठाकर भी नियतिवाद को अप्रामाणिक ठहराया गया है।

उपासकदशांग सूत्र में आजीवक मत के उपासक सकडाल पुत्र को भगवान् महावीर ने नियतिवाद को अव्यवहारिक एवं असत्य बताया है तथा उत्थान, कर्म, बल, वीर्य, पुरुषार्थ, पराक्रम आदि के महत्त्व का स्थापन किया है। सर्व भावों को नियत मानने का उन्होंने निरसन किया है। प्रश्नव्याकरण सूत्र के टीकाकार अभयदेवसूरि ने पुरुषकार का अपलाप करने वाले नियतिवाद को मूषा एवं प्रमाणातीत निरूपित किया है। प्रश्नव्याकरण सूत्र के ही अन्य टीकाकार ज्ञानविमलसूरि ने कहा है कि नियति अचेतन है और अचेतन कर्ता कहीं उपलब्ध नहीं होता है, वह किसी के आश्रित ही हो सकती है, अनाश्रित नहीं।

द्वादशारनयचक्र पाँचवीं शती की महत्त्वपूर्ण रचना है जिसमें मल्लवादी क्षमाश्रमण ने एवं उनके टीकाकार सिंहसूरि ने नियतिवाद को उपस्थापित करते हुए उसकी विभिन्न विशेषताओं को इंगित किया है। यथा-

१. नियतिवाद में पुरुष के कर्तृत्व को स्वीकार नहीं किया जाता। उनके अनुसार पुरुष न स्वतन्त्र है और न ज्ञाता।
२. नियति ही एक मात्र कारण है जिसको स्वीकार करने पर पदार्थों के सदृश या विसदृश कार्यों के घटित होने में कोई व्याघात नहीं आता है।

३. नियति उत्पद्यमान पदार्थों से भिन्न नहीं है। अपितु भेद बुद्धि से उत्पन्न होने वाले पदार्थों में भी नियति की अभिन्नता रहती है। क्रिया और क्रियाफल रूप सभी नियतियों में अभेद होता है।
४. एक ही नियति से द्रव्य, क्षेत्र, काल एवं भाव की अपेक्षा से विभिन्न स्वरूप प्रकट होते हैं। अपेक्षा से वह द्रव्य-नियति, क्षेत्र-नियति, काल-नियति और भाव-नियति से जानी जा सकती है।
५. नियति एक होकर भी भिन्न-भिन्न कार्यों को करने में समर्थ होती है तथा अनेक रूप होने पर कार्य और कारण से वह अभिन्न होती है।
६. नियति एक होकर भी अनेक है।
७. यदि कहीं उत्पत्ति आदि में अनियम देखा जाता है तब भी वहाँ नियति को ही कारण मानना चाहिए।
८. नियति से कार्य-कारण की अथवा साध्य-साधन की समस्त व्यवस्था बन जाती है।
९. नियति को स्वीकार करने पर कोई अभिमान शेष नहीं रह जाता।
१०. नियम का अभाव होने में भी नियति ही कारण है।
११. पुरुष की व्यग्रता, अव्यग्रता आदि नियति से ही होती है।
१२. सर्वज्ञ बंधन एवं मोक्ष की प्रक्रिया को भी नियति से ही स्वीकार करते हैं। द्वादशारण्यचक्र में नियतिवाद के निरसन में प्रमुख रूप से दो तर्क दिए गए हैं-
 - i) नियति के सर्वात्मक होने से सदैव सब वस्तुएँ सब आकार वाली हो जायेंगी तथा उनमें पूर्व, पश्चात् और युगपत् का व्यवहार संभव नहीं होगा।
 - ii) नियति को स्वीकार करने पर हित की प्राप्ति और अहित के परिहार के लिए आचार का उपदेश निरर्थक हो जाएगा।

हरिभद्रसूरि के शास्त्रवार्ता समुच्चय में नियतिवाद का प्रबल निरसन हुआ है। उनके टीकाकार यशोविजय ने भी यथाप्रसंग हरिभद्रसूरि के तर्कों को व्याख्यायित किया है। दोनों के प्रमुख तर्क इस प्रकार हैं-

१. नियति की एकरूपता असंभव है।

२. नियति को स्वीकार करने पर उसकी सर्वहेतुता का लोप उपस्थित होता है। सर्वहेतुता से आशय है सभी वस्तुओं का एक हेतु नियति।
३. अन्य भेदक के बिना नियति से वैचित्र्य की कल्पना अनुपयुक्त है।
४. नियति को स्वीकार करने पर शास्त्रोपदेश की व्यर्थता एवं शुभाशुभ क्रिया फल के नियम का अभाव सिद्ध होता है।

सन्मति तर्क के टीकाकार अभयदेवसूरि ने नियतिवाद के स्वरूप को प्रस्तुत करते हुए कहा है कि सभी वस्तुओं के तथा तथा नियत रूप होने के कारण नियतिवादियों के मत में नियति ही एकमात्र कारण है। तीक्ष्ण शस्त्रादि से उपहत होकर भी मरण को प्राप्त न होने और शस्त्रादि के घात के बिना भी मृत्यु का भाजन बनने में नियति ही कारण है। उन्होंने नियतिवाद के निरसन में अनेक हेतु दिए हैं-

१. नियति को मानने पर शास्त्र की व्यर्थता एवं शुभाशुभ क्रिया फल का अभाव सिद्ध होता है।
२. ज्ञान को उत्पन्न करने वाली नियति अज्ञान को उत्पन्न नहीं कर सकती।
३. नियतिवाद को स्वीकार करने पर अनियम में कारण का अभाव है।
४. नियति नित्य भी नहीं हो सकती और अनित्य भी।
५. स्वात्मनिक्रियाविरोध के कारण नियति स्वयं को उत्पन्न करने में समर्थ नहीं है। काल आदि अन्य कारणों का निषेध मानने पर निर्हेतुक नियति की उत्पत्ति मानना उचित नहीं है।

धर्मसंग्रहणि टीका में आचार्य मलयगिरि ने नियतिवाद के निरसन में दो हेतु दिए हैं-

१. नियति के अतिरिक्त कारण को अंगीकृत किये बिना जगत् की विचित्रता संभव नहीं है।
२. नियति से भिन्न भेदक कारणों को स्वीकार करने पर जगत् की विचित्रता में अन्योन्याश्रय दोष आता है।

आधुनिक युग में बीसवीं शती के जैनाचार्य श्री आत्माराम जी महाराज ने नियति के संबंध में भाव-अभाव रूप, एक-अनेक रूप, नित्य-अनित्य रूप विकल्पों के माध्यम से नियतिवाद का निरसन करते हुए कुछ नये तर्क भी उपस्थित किये हैं। उन्होंने नियति में व्यतिरेक को असंभव सिद्ध किया है तथा नियति की एकरूपता, अनेकरूपता के साथ अभावरूपता का भी खण्डन किया है।

इस अध्याय में नियतिवाद से जुड़े जैन दर्शन के कतिपय बिन्दुओं पर विशेष चर्चा की गई है, जिनमें काललब्धि और नियति, सर्वज्ञता और नियतिवाद, क्रमबद्धपर्याय और नियतिवाद तथा पूर्वकृत कर्म और नियतिवाद का समावेश है।

जैन दर्शन में भी कथंचित् नियति का प्रवेश है। इसकी पुष्टि काललब्धि, सर्वज्ञता और क्रमबद्धपर्याय के सिद्धान्तों से होती है। अध्याय में कथंचित् नियति को जैनदर्शन में स्वीकार करते हुए भी काललब्धि, सर्वज्ञता और क्रमबद्धपर्याय को एकान्त नियतिवाद से पृथक् सिद्ध किया गया है क्योंकि जैन दर्शन में नियति को कारण मानते हुए भी उसमें काल, स्वभावादि अन्य कारणों को भी स्थान दिया गया है।

आचार्य महाप्रज्ञ ने अपने वाङ्मय में नियति की व्याख्या सार्वभौम नियम के रूप में की है। जिसे स्वीकार करने में कोई बाधा नहीं है, किन्तु यह प्राचीन परम्परा में प्रतिपादित नियति के स्वरूप से भिन्न है।

संदर्भ

१. वाल्मीकि रामायण, किष्किन्धा काण्ड, सर्ग २५, श्लोक ४
२. (क) सूत्रकृतांग १.१.२.३ की शीलांक टीका में
(ख) प्रश्नव्याकरण सूत्र १.२.७ की अभयदेव वृत्ति
(ग) शास्त्रवार्तासमुच्चय-स्तबक २, श्लोक ६२ की यशोविजय टीका में
(घ) सन्मति तर्क ३.५३ की टीका में
(ङ) उपदेश पद महाग्रन्थ पृ. १४०
(च) लोक तत्त्व निर्णय, पृ. २५ पर श्लोक २७
३. महाभारत, शांतिपर्व, अध्याय २२६, श्लोक १०
४. यस्माच्च येन च यथा च यदा च यच्च
यावच्च यत्र च शुभाऽशुभात्मकम्।
तस्माच्च तेन च तथा च तदा च तच्च,
तावच्च तत्र च विधातृवशादुपैति।- हितोपदेश, मित्रलाभ, श्लोक ४०
५. (क) श्वेताश्वतरोपनिषद् १.२
(ख) ईशाद्यष्टोत्तरशतोपनिषदः के महोपनिषद् में पृष्ठ ३७५
(ग) ईशाद्यष्टोत्तरशतोपनिषदः के भावोपनिषद् में पृष्ठ ४७६

६. (क) हरिवंश पुराण ६१.७७
(ख) हरिवंश पुराण ६२.४४
७. नारदीय महापुराण, पूर्व खण्ड, अध्याय ३७, श्लोक ४८
८. कुले जन्म तथा धीर्यमारोग्यं रूपमेव च।
सौभाग्यमुपभोगश्च भवितव्येन लभ्यते॥ -महाभारत, शान्ति पर्व, २८.२३
अप्रियैः सह संयोगो विप्रयोगश्च सुप्रियैः।
अर्थानर्थौ सुखं दुःखं विधानमनुवर्तते॥ -महाभारत, शान्ति पर्व, २८.१८
प्रादुर्भावश्च भूतानां देहत्यागस्तथैव च।
प्राप्तिर्व्यायामयोगश्च सर्वमेतत् प्रतिष्ठितम्॥ -महाभारत, शान्ति पर्व, २८.१९
९. राजतरंगिणी, अष्टमतरंग, श्लोक २२८०
१०. (क) अभिज्ञान शाकुन्तलम्, प्रथम अंक, श्लोक १४
(ख) अभिज्ञान शाकुन्तलम्, षष्ठ अंक, श्लोक ९ से पूर्व में
११. (क) यद् भावि न तद्भावि भावि चेन्न तदन्यथा- हितोपदेश, सन्धि, श्लोक १०
(ख) न हि भवति यन्न भाव्यं भवति च भाव्यं विनापि यत्नेन।
-पंचतन्त्र २.१०/२.१२९
१२. सुत्तपिटक के दीघनिकाय के प्रथम भाग में, सामञ्जसफलसुत्तं, मक्खलिगोसालवाद
१३. प्रश्नव्याकरण, प्रथम श्रुतस्कन्ध, द्वितीय अध्ययन सूत्र ४
१४. श्वेताश्वतरोपनिषद् १.२
१५. सूत्रकृतांग २.१.६६४
१६. उपासकदशांग सूत्र, अध्ययन ७, सूत्र १८२-२००
१७. नन्दीसूत्र, मलयगिरि अवचूरि, पृ. १७९
१८. षड्दर्शन समुच्चय पृ. १८, १९
१९. जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश, भाग द्वितीय, पृ. ६१३
२०. स्वयंभूस्तोत्र, श्री सुपाशर्व जिन स्तवन, श्लोक ३
२१. व्याख्याप्रज्ञप्ति, शतक, १५, सूत्र २८
२२. 'गोसालस्स मंखलिपुत्तस्स एयमट्ठं पडिसुणेमि'

२३. "जे णं गोसाला! एगाए सणहाय कुम्मासपिंडियाए एगेण य वियडाएणं छट्ठंछट्ठेण अनिक्खित्तेणं तपोकम्मेणं उट्ठं बाहाओ पगिज्झिय पगिज्झिय जाव विहरइ से ण अंतो छण्हं मासाणं संखित्तविउलतेयलेस्से भवति।" -व्याख्याप्रज्ञप्ति, शतक १५, सूत्र ५४
२४. 'तए णं से गोसाले मंखलिपुत्ते तेणं अट्ठंगस्स महानिमित्तस्स केवइ उल्लोयमेतेण सव्वेसिं पाणाणं सव्वेसिं भूयाणं सव्वेसिं जीवाणं सव्वेसिं सत्ताणं इमाइं छ अणतिक्कमणिज्जाइं वागरणाइं वागरेति, तंजहा- लाभं अलाभं सुहं दुक्खं जीवितं मरणं तहा।' -व्याख्याप्रज्ञप्ति, शतक, १५, सूत्र ८
२५. तए ण छट्ठिसाचरा अट्ठविहं पुव्वगयं मग्गदसमं सएहिं सएहिं मतिदंसणेहिं निज्जूहंति, स. निज्जूहिता गोसालं मंखलिपुत्तं उवट्ठाइंसु। -व्याख्याप्रज्ञप्ति, शतक १५, सूत्र ७
२६. "जे णं से गोसाले मंखलिपुत्ते तव धम्मंतेवासी से णं सुक्के सुक्काभिजाइए भवित्ता कालमासे कालं किच्चा अन्नयरेसु देवलोएसु देवताए उववन्ने। अहं णं उदाई नामं कुंडियायणि। अज्जुणस्स गोयमपुत्तस्स सरीरगं विप्पजहामि, अज्जु. विप्प. २ गोसालस्स मंखलिपुत्तस्स शरीरगं अणुप्पविसामि, गो. अणु. २, इमं सत्तमं पट्टपरिहारं परिहरामि।
- "जे वि थाइं आउसो! कासवा! अहं समयंसि केयि सिज्झिंसु वा सिज्झंति वा सिज्झिस्संति वा सव्वे ते चउरासीति महाकप्पसयसहस्साइं सत्त दिव्वे सत्त संजहे सत्त सन्निगब्भे सत्त पट्टपरिहारे पंच कम्मुणि सयसहस्साइं सट्ठिं च सहस्साइं घच्च सए तिणिण य कम्मंसे अणुपुव्वेणं खवइत्ता तओ पच्छा सिज्झंति, बुज्झंति, मुच्चंति, परिनिव्वाइंति, सव्वदुक्खाणमंतं करेसु वा, करेति वा, करिस्संति वा।'
- व्याख्याप्रज्ञप्ति, शतक १५, सूत्र ६८
२७. 'तए णं ते आजीविया थेरा गोसालं मंखलिपुत्तं समणेहिं निगंथेहिं धम्मियाए पडिचोयणाए पडिचोइज्जमाणं, धम्मियाए पडिसारणाए पडिसारिज्जमाणं, धम्मिएणं पडोयारेणं पडोयारिज्जमाणं अट्ठेहि य हेऊहि' -व्याख्याप्रज्ञप्ति, शतक १५, सूत्र ८५
२८. अपरवाद, नियतिवाद अधिकरण, श्लोक २
२९. अपरवाद, नियतिवाद, अधिकरण, श्लोक १
३०. रूपेण सर्वे नियतेन भावा भवन्ति तस्मान्नियतिं पृथग्वत्।
मन्यामहे कारणमीश्वरो वाऽणुर्वेतरे वा नियतेर्वशे स्युः॥

३१. (क) इत्थं पुरा केचन पूरणाद्या विश्वस्य मूलं नियतिं वदन्तः।

उन्मूलयन्ति स्म मतं परेषां यादृच्छिकानां बहुयुक्तियोगैः॥

-अपरवाद, नियतिवाद अधिकरण, श्लोक ४

(ख) ओझा जी ने पूरणकश्यप को नियतिवादी के रूप में प्रस्तुत किया है, जबकि त्रिपिटक में पूरणकश्यप को अक्रियावादी बताया गया है। नियतिवाद का प्रचारक मंखलि गोशालक है, ऐसा बौद्ध और जैन ग्रन्थों से प्रमाणित होता है। वस्तुतः 'अक्रियावाद' और 'नियतिवाद' दोनों में सिद्धान्ततः विशेष भेद नहीं है। यही कारण है कि कुछ समय बाद पूरण कश्यप के अनुयायी गोशालक के अनुयायियों में मिल गए थे। - गणधरवाद, प्रस्तावना (पं. दलसुख मालवणिया) पृ. १२५

३२. ब्रह्मचतुष्पदी, विराट् परिच्छेद, सत्यान्तर्यामिरूपम्

३३. श्वेताश्वतरोपनिषद्, अध्याय १; श्लोक २

३४. श्वेताश्वतरोपनिषद्, १.२ पर शांकर भाष्य

३५. ईशाद्यष्टोत्तरशतोपनिषद्, पृ. ३७५

३६. ईशाद्यष्टोत्तरशतोपनिषद्, पृ. ४७६

३७. नैराश्येन कृतो यत्नः स्वजने प्रहृतं मया।

दैवं पुरुषकारेण न चातिक्रान्तवानहम्॥

-हरिवंश पुराण, प्रथम खण्ड, संस्कृति संस्थान,

ख्वाजा कुतुब (वेदनगर) बरेली (उ.प्र.) पृ. २५७, २५४, २५६

३८. हरिवंश पुराण ६१.७७

३९. हरिवंश पुराण ६२.४४

४०. हरिवंश पुराण ४३.६८

-विश्व संस्कृत सूक्ति कोश, भाग द्वितीय से उद्धृत क्रमशः पृ. २५४, २५४, २५६

४१. वामनपुराण, सर्वभारतीय काशिराजन्यास, दुर्ग रामनगर, वाराणसी, सन् १९६८, अध्याय ५१, श्लोक ४५, ४६

४२. नारदीय महापुराण, पूर्व खण्ड, अध्याय ३७, श्लोक ४८

४३. नारदीय महापुराण, उत्तर खण्ड, अध्याय २८, श्लोक ६५

४४. नारदीय महापुराण, पूर्व खण्ड, अध्याय ३७, श्लोक ४७

४५. श्रीमद् वाल्मीकि रामायण, किष्किन्धा काण्ड, पंचविंशः सर्गः, श्लोक ४, गीता प्रेस, गोरखपुर
४६. नैवार्थेन न कामेन विक्रमेण न चान्नया।
शक्या दैवगतिर्लोके निवर्तयितुमुद्यता॥ -वाल्मीकि रामायण, ६.११३.२५
दैवमेव परं मन्ये पौरुषं तु निरर्थकम्।
दैवेनाक्रम्यते सर्वं दैवं हि परमा गतिः॥ -वाल्मीकि रामायण १.५८.२२
४७. सुखदुःखे भयक्रोधौ लाभालाभौ भवाभवौ।
यस्य किञ्चित् तथाभूतं ननु दैवस्य कर्म तत्॥
-रामायण, अयोध्याकाण्ड, सर्ग २२, श्लोक २२
४८. महाभारत, शान्ति पर्व, अध्याय २२६, श्लोक १०
४९. महाभारत, वन पर्व, अध्याय ३२ श्लोक ३२
५०. कथं तस्य समुत्पत्तिर्यतो दैवं प्रवर्तते।
एवं त्रिदशलोकेऽपि प्राप्यन्ते बहवो गुणाः॥
-महाभारत अनुशासनपर्व, प्रथम अध्याय, श्लोक २६
५१. कुले जन्म तथा वीर्यमारोग्यं रूपमेव च। सौभाग्यमुपभोगश्च भवितव्येन लभ्यते॥
- महाभारत शान्ति पर्व, २८.२३
अप्रियैः सह संयोगो विप्रयोगश्च सुप्रियैः। अर्थान्मर्थौ सुखं दुःखं निधानमनुवर्तते॥
-महाभारत शान्ति पर्व २८.१८
प्रादुर्भावश्च भूतानां देहत्यागस्तथैव च। प्राप्तिर्व्यायामयोगश्च सर्वमेतत् प्रतिष्ठितम्।
- महाभारत शान्ति पर्व २८.१९
५२. व्याधिरग्निर्जलं शस्त्रं बुभुक्षाश्चापदो विषम्।
ज्वरश्च मरणं जन्तोरुच्चाच्च पतनं तथा॥
निर्माणे यस्य यद् दिष्टं तेन गच्छति सेतुना॥ - महाभारत शान्ति पर्व २८.२५
५३. उत्थानां च मनुष्याणां, दक्षाणां दैववर्जितम्।
अफलं दृश्यते लोके, सम्यगप्युपपादितम्॥ -महाभारत, सौप्तिक पर्व अ. २.११
अन्यथा चिन्तितं कार्यमन्यथा तत् तु जायते।
अहो नु बलवद् दैवं कालश्च दुरतिक्रमः॥ -महाभारत, कर्ण पर्व ९.२०
भवितव्यं तथा तच्च नानुशोचितुमर्हसि।
दैवं प्रज्ञाविशेषेण को निवर्तितुमर्हति॥ -महाभारत, आदि पर्व १.२४६

५४. अभिज्ञानशाकुन्तलम्, प्रथम अंक, श्लोक १४
५५. अभिज्ञान शाकुन्तलम्, षष्ठ अंक, श्लोक ९ से पूर्व में
५६. यद्धात्रा निजभालपट्टलिखितं स्तोकं महद् वा धनं,
तत्प्राप्नोति मरुस्थलेऽपि नितरां मेरौ ततो नाऽधिकम्।
तद्धीरो भव वित्तवत्सु कृपणां वृत्तिं वृथा मा कृथाः,
कूपे पश्य पयोनिघावपि घटो गृह्णाति तुल्यं जलम्॥ -नीतिशतकम्, श्लोक ५०
५७. भग्नाशस्य करण्डपिण्डिततनोम्लनिन्द्रियस्य क्षुधा,
कृत्वाऽखुर्विवरं स्वयं निपतितो नक्तं मुखे भोगिनः।
तृप्तस्तत्पिशितेन सत्वरमसौ तेनैव यातः पथा,
लोकाः! पश्यत दैवमेव हि नृणां वृद्धौ क्षये कारणम्॥ -नीतिशतकम्, श्लोक ८६
५८. मज्जत्वम्भसि यातु मेरुशिखरं शत्रूजयत्वाहवे,
वाणिज्यं कृषिसेवने च सकला विद्याः कलाः शिक्षताम्।
आकाशं विपुलं प्रयातु खगवत्कृत्वा प्रयत्नं परं,
नाभाव्यं भवतीह कर्मवशतो भाव्यस्य नाशः कुतः॥ -नीतिशतक, १०२
५९. हितोपदेश, सन्धि, श्लोक १०
६०. नहि भवति यन्न भाव्यं भवति च भाव्यं विनापि यत्नेन।
करतलगतमपि नश्यति यस्य हि भवितव्यता नास्ति॥ -पंचतन्त्र २.१०/२.१२९
६१. पलायनैर्नापयाति निश्चला भवितव्यता।
देहिनः पुच्छसंलीना, वह्निज्वालेष पक्षिणः॥
नाच्छिन्वह्निविषशस्त्रशरप्रयोगैर्न श्वभ्रपातरभसेन न चाभिचारैः।
शक्या निहन्तुमसवो विधुरैरकाण्डे भोक्तव्यभोगनियतोच्छ्वासितस्य जन्तोः॥
-राजतरंगिणी, अष्टम तरंग, श्लोक २२२, २२३
६२. राजतरंगिणी, अष्टम तरंग, श्लोक २२८०
६३. काव्यप्रकाश, प्रथम उल्लास, श्लोक १
६४. काव्यप्रकाश (सोलह टीकाओं सहित), प्रथम खण्ड, नागप्रकाशक ११ए/ यू.ए.,
जवाहर नगर, दिल्ली, में बालचिन्तानुरंजनी टीका पृ. ६, विवेक टीका पृ. ७,
दीपिका टीका पृ. ९, सम्प्रदायप्रकाशिनी टीका पृ. १४, सुधासागर टीका पृ. ३१
६५. काव्यप्रकाश, प्रथम उल्लास, श्लोक १ की संकेत टीका पृ. २

६६. "नत्थि महाराज हेतु नत्थि पच्चयो सत्तानं संकिलेसाय, अहेतु अपच्चया सत्ता संकिलिस्सन्ति। नत्थि हेतु, नत्थि पच्चयो सत्तानं विसुद्धिया, अहेतु अपच्चया सत्ता विसुज्झन्ति। नत्थि अत्तकारे, नत्थि परकारे, नत्थि पुरिसकारे, नत्थि बलं, नत्थि वीरियं, नत्थि पुरिसत्थामो, नत्थि पुरिसपरक्कमो। सब्बे सत्ता सब्बे पाणा सब्बे भूता सब्बे जीवा अवसा अबला अवोरिया नियति-संगतिभावपरिणता छस्वेवाभिजातीसु सुखदुक्खं षट्संवेदेन्ति।" -सुत्तपिटक के दीघनिकाय के प्रथम भाग में (विपश्यना विशोधन विन्यास, इगतपुरी १९९८) सामञ्जसफलसुत्तं मक्खलिगोसालवाद

६७. तत्थ नत्थि 'इमिनाहं सीलेन वा वतेन वा तपेन वा ब्रह्मचरियेन वा अपरिपक्कं वा कम्मं परिपाचेस्सामि परिपक्कं वा कम्मं फुस्स फुस्स ब्यन्तिं करिस्सामी ति हेवं नत्थि। -दीघनिकाय, सामञ्जसफलसुत्त, मक्खलिगोसालवाद

६८. योगवासिष्ठ २.६२.९

६९. योगवासिष्ठ ३.६२.२६, ५.८९.२६

७०. सर्गादौ या यथा रुद्धा संवित्कचनसंततिः।

साऽद्याप्यचलितन्यायेन स्थिता नियतिरुच्यते॥ ३.५४.२२

आमहारुद्रपर्यन्तमिदमित्थमितिस्थितेः।

आतृणापद्मजस्यन्दं नियमान्नियतिः स्मृता॥ ६/१. ३७.२२

- योगवासिष्ठ और उसके सिद्धान्त, पृ. २१७

७१. योगवासिष्ठ ३.६२.२७

७२. योगवासिष्ठ ५.२४.३१

७३. योगवासिष्ठ ५.२४.३२

७४. योगवासिष्ठ ५.२४.३५

७५. योगवासिष्ठ ५.२४.३६

७६. मायापरिग्रहवशाद् बोधो मलिनः पुमान् पशुर्भवति।

काल-कला-नियतिवशाद् रागाविद्यावशेन संबद्धः॥-परमार्थसार, कारिका १६

७७. पराप्रवेशिका, पृ. ९, उद्धृत-परमार्थसार की भूमिका पृ. १७

७८. नियतिर्नियोजयत्येनं स्वके कर्मणि पुद्गलम्-मालिनीविजयोत्तरतन्त्र, १.२९

नियतिर्नियोजनां धत्त विशिष्टे कार्यमण्डले- तन्त्रालोक भाग ६, पृ. १६०

नियच्छति भोगेषु अणूनि नियतिः -तन्त्रालोकटीका, भाग-६, पृ. १६०

-परमार्थसार, योगराजकृत विवृति का सट्टिप्पण सहित, मोतीलाल बनारसीदास,

वाराणसी, पृ. ३३ के फुटनोट से

७९. सूत्रकृतांग, द्वितीय श्रुतस्कन्ध, प्रथम अध्ययन, सूत्र ६६४
८०. 'बाले पुण एवं विप्पडिवेदेति कारणमावन्ने, तंजहा- जोऽहमंसी दुक्खामि वा सोयामि वा जूरामि वा तिप्पामि वा पिड्डामि वा परितप्पामि, वा अहं तमकासी, परो वा जं दुक्खति वा सोयइ वा जूरइ वा तिप्पइ वा पिड्डइ वा परितप्पइ वा परो एतमकासि, एवं से बाले सकारणं वा परकारणं वा विप्पडिवेदेति कारणमावन्ने।
मेधावी पुण एवं विप्पडिवेदेति कारणमावन्ने-अहमंसि दुक्खामि वा सोयामि वा जूरामि वा तिप्पामि वा पिड्डामिवा, परितप्पामि वा, अहमेतमकासि परो वा जं दुक्खति वा जाव परितप्पति वा नो परो एयमकासि। एवं से मेहावी सकारणं वा परकारणं वा एवं विप्पडिवेदेति कारणमावन्ने।' -सूत्रकृतांग, द्वितीय श्रुतस्कन्ध, प्रथम अध्ययन सूत्र ६६४
८१. सूत्रकृतांग २.१.६६५
८२. सूत्रकृतांग चूर्णि पृ. २८, उद्धृत जैनदर्शन का आदिकाल पृ. ३० से
८३. जैन दर्शन का आदिकाल, लेखक-दलसुख मालवणिया, लालभाई दलपतभाई, भारतीय संस्कृति विद्या मन्दिर, अहमदाबाद ९, १९८०, पृ. ३०
८४. (क) भगवती सूत्र ३०.१.१.
(ख) स्थानांग सूत्र ४.४.५३० (३४५)
८५. द्रष्टव्य, पृष्ठ ८९
८६. प्रश्नव्याकरण सूत्र, श्रुतस्कन्ध १, अध्ययन २, सूत्र ५०
८७. "नाप्यस्ति पुरुषकारः, तं विनैव नियतितः सर्वप्रयोजनानां सिद्धेः" -प्रश्नव्याकरण १.२.७ की अभयदेव वृत्ति
८८. प्रश्नव्याकरण १.२.७ सूत्र की अभयदेव वृत्ति
८९. 'केचिन्नियतिभाषितं जगदिति जल्पन्ति भवितव्यतैव सर्वत्र बलीयसीति' - प्रश्नव्याकरण १.२.७ की ज्ञानविमलसूरि टीका
९०. प्रश्नव्याकरण १.२.७ की ज्ञानविमल सूरि टीका में
९१. (क) नन्दीसूत्र, मलयगिरि अवचूरि, पृ. १७९
(ख) षट्दर्शनसमुच्चय पृ १८, १९ पर भी उपर्युक्त अंश उद्धृत
९२. आचारांग सूत्र, अध्ययन १, उद्देशक १, सूत्र ३ की शीलांक टीका
९३. कालो सहाव गियई, पुव्वकयं पुरिसे कारणेगंता।
मिच्छन्तं ते चेव, समासओ होति सम्मत्तं॥ -सन्मति तर्क ३.५३

९४. द्वात्रिंशत्-द्वात्रिंशिका, नियति द्वात्रिंशिका, श्लोक १
९५. 'अभिजाति' को भुवनविजयजी ने आजीवक संप्रदाय का पारिभाषिक शब्द मानते हुए अर्थ किया है- 'जीव का स्तर'। अभिजाति ६ प्रकार की होती है। जैनदर्शन की ६ लेख्याओं के तुल्य अभिजाति को माना गया है। ये अभिजातियाँ नियति द्वारा नियत हैं। -नियति द्वात्रिंशिका (गुजराती अनुवाद और विवरण सहित)
९६. द्वात्रिंशत्-द्वात्रिंशिका, नियतिद्वात्रिंशिका, श्लोक १ पर आचार्य विजयलावण्यसूरि विरचित टीका
९७. विश्वप्रायं पृथिव्यादिपरिणामोऽप्रयत्नतः। -नियति द्वात्रिंशिका, श्लोक ७
९८. द्वात्रिंशत्-द्वात्रिंशिका, नियति द्वात्रिंशिका, श्लोक १ की टीका
९९. 'धर्मादयोऽष्टौ अंगानि यस्याः सा धर्माद्यष्टांगा, जिनप्रतिमादिकं दृष्ट्वा स्पृष्ट्वा धर्मो भवति, परांगनादिकं दृष्ट्वाऽधर्मो भवति गुणसहकृत चक्षुरादीन्द्रियादितो ज्ञानमुपजायते दोषसहचक्षुरादितो विपर्यय-संशयादिस्वरूपमज्ञानमुपजायते, दुःखितान् संसृतिगतान् प्राणिनो दृष्ट्वा वैराग्यमुपजायते, विषयलोलुपतासव्यपेक्षचक्षुरादिजनितदर्शनतोऽवैराग्यं भवति, एवं साधुदर्शनतत्सेवादितोऽष्टविधैश्वर्यं भवति, दुष्टजनदर्शन-स्पर्शनादितोऽनैश्वर्यमुपजायत इत्येवमपि कारण वैचित्र्यतो धर्मादिविरोधपरिहारः संभवतीति।' -द्वात्रिंशत् द्वात्रिंशिका, नियति द्वात्रिंशिका, श्लोक १२ पर आचार्य विजयलावण्यसूरि विरचित टीका
१००. द्वात्रिंशत्-द्वात्रिंशिका, नियति द्वात्रिंशिका, श्लोक १२ का अंश
१०१. द्वात्रिंशत्-द्वात्रिंशिका, नियति द्वात्रिंशिका, श्लोक १२, आ.विजयलावण्यसूरि टीका
१०२. द्वात्रिंशत्-द्वात्रिंशिका, नियति द्वात्रिंशिका, श्लोक १९
१०३. 'नातिरिक्तनित्यचैतन्यस्वरूप आत्माऽस्माभिरुपेयते, किन्तु मोह-काम-क्रोध-लोभादिकं यज्जानं तल्लक्षणं स्वरूपं यस्य स मोहादिज्ञानस्वरूपः सत्त्वश्चैतन्यमेवेत्यर्थः, तदादि चैतन्यमादिकारणं यस्य तत्तदादिपूर्वपूर्वचैतन्यकारणकम्, एवंभूतं सत् तद्वत् तत्सदृशं तज्जातीयं, तस्य संकल्पः स समीचीनतया पूर्वापरभावेन कल्पना रचना यत्र स तदादितद्वत्संकल्पः मोहादिज्ञानस्वरूपं पूर्वपूर्वचैतन्यं तथाभूतोत्तरोत्तरचैतन्यकारणमिति कृत्वा पूर्वापरसंकलनास्वरूप एकचैतन्यस्वरूपः। -द्वात्रिंशत् द्वात्रिंशिका, नियति द्वात्रिंशिका, श्लोक १९ पर आचार्य विजयलावण्यसूरि विरचित टीका।
१०४. 'नियति द्वात्रिंशिका (गुजराती अनुवाद और विवरण सहित) श्लोक १९ का विवरण।

१०५. द्वात्रिंशत्-द्वात्रिंशिका, नियति द्वात्रिंशिका, श्लोक २१

१०६. “स्पर्शनादि - मनोऽन्तानि स्पर्श - नयन - रसन - घ्राण - श्रवण - मनांसि एतान्निन्द्रियाणि, भूतसामान्यजातिमान् भूतत्वलक्षणजातिमान् पृथिव्यादिविषयः, तत्र मनः अहन्नियतम् अहं सुख्यहं दुःखीत्याद्यहंकारापराभिधानाभिमाननियतं, द्रव्यं पूर्वापरपर्यायानुगामि, परिणामि परिणमनशीलम्, अनुमूर्तिं च मूर्तिः शरीरम्, मूर्तिमनुसरतीति अनुमूर्तिं, प्रतिशरीरनियतं यावन्ति शरीराणि तावन्ति मनांसोत्पत्त्यर्थः” - द्वात्रिंशत्-द्वात्रिंशिका, नियति द्वात्रिंशिका, श्लोक २१ की टीका

१०७. “स्पर्श-रूप-रस-गन्ध-शब्दानां मध्यात् स्पर्शैकविषयत्वलक्षणो धर्मः स्पर्शनेन्द्रियस्य रूपैकविषयत्वलक्षणो धर्मो नयनेन्द्रियस्य, रसैकविषयत्वलक्षणो धर्मो रसनेन्द्रियस्य, गन्धैकविषयत्वलक्षणो धर्मो घ्राणेन्द्रियस्य, शब्दैकविषयत्वलक्षणो धर्मः, श्रवणेन्द्रियस्येत्येवं परस्परविरुद्धधर्माध्यासात् तेषां वैलक्षण्यमित्यर्थः।” - द्वात्रिंशत् द्वात्रिंशिका, नियति द्वात्रिंशिका, श्लोक २२ पर आचार्य विजयलावण्यसूरि टीका

१०८. नियति द्वात्रिंशिका (गुजराती अनुवाद और विवरण सहित)-श्लोक २१ के विवरण में

१०९. द्वात्रिंशत्-द्वात्रिंशिका, नियति द्वात्रिंशिका, श्लोक २३

११०. ‘दुःखादिनिरयः अतिशयितासहायतनापरिकलितोऽन्योऽन्यभिभवकदर्शितो दुःखातिदुःखातिदुःखतमकाम-क्रोध-मोहातिरेकशालिनरदुःखातिदुःखातिदुःखतमकाम-क्रोध-मोहातिरेकशालिनर नियत्यैव तथाविधं नान्यथाभूतं, तिर्यक्षु तिर्यग्योनिषु, पुरुषोत्तमाः विशिष्टातिशयशालिनः पुरुषाः, रक्तायां भूमौ नियत्यैव तथाविधाः अजनायां तु अजनायां भूमौ पुनः, सुखजाः सुखसमुत्पन्नाः सुखैकभागिनः किन्तु न गुणोत्तराः एतदपि नियतिमाहात्म्यमिति भावः।’ - द्वात्रिंशत्-द्वात्रिंशिका, नियति द्वात्रिंशिका, श्लोक २३ पर आचार्य विजयलावण्यसूरि टीका

१११. द्वात्रिंशत्-द्वात्रिंशिका, नियति द्वात्रिंशिका, श्लोक २५

११२. यथा सूर्ये-कमलयोगः उदिते सूर्ये पंकजः प्रफुल्लितो भवति, न च तत्र कोऽपि हे सूर्य! त्वं कमलं विकाशय, कमल! त्वं सूर्योदयतो विकसितो भवत्येवमुपदिशति, तथा बुद्धेः ज्ञानस्य, उपदेशः तत्तद्विषयकथनलक्षणः न च स्यात् न च भवेत्, तर्हि ज्ञानं कथं प्रतिबुद्धस्य भवतीत्याकाङ्क्षायामाह तत्त्वं चेति प्रत्यभिजातयः विशिष्टजातिमन्तः, तेभ्यः पूर्वागमादिभ्यः अस्य वाक्यस्यायमर्थोऽयं चास्याभिप्राय इति कस्यचिदुपदेशमन्तरेणैव तत्त्वं वस्तु प्रतिबुध्यन्ते जानन्ति, अयं च स्वभावो नियति बलादेवेति भावः। - द्वात्रिंशत् द्वात्रिंशिका, नियति द्वात्रिंशिका, श्लोक २५ पर आ.विजयलावण्यसूरि टीका

११३. द्वात्रिंशत् द्वात्रिंशिका, नियति द्वात्रिंशिका, श्लोक २६

११४. 'अग्निः पावकः दाहकस्वभावः, समं तुल्यम्, न नैव, इध्यति। प्रज्वलितो भवति दाह्यादाह्यस्तुसमुदायैष्वेकत्रास्वभावस्यापर्यनुयोज्यत्वादित्यदाह्यादाह्यस्तुसमुदायैष्वेकत्रास्वभावस्यापर्यनुयोज्यत्वादित्य नियतिवादोपो- द्दलकमेवेत्याशयः।' -द्वात्रिंशत्-द्वात्रिंशिका, नियति द्वात्रिंशिका, श्लोक २६ की आचार्य विजयलावण्यसूरिकृत टीका
११५. "समानाभिजनेष्वेव समानकुल-वंशसमुद्भूतेष्वेव, एवकारेणासमानकुलवंशादीनां व्यवच्छेदः गुरुगौरवमानिनः गुरोर्धर्माभ्युपदेशकर्तुर्यद् गौरवं महनीयचरित्रत्व-पूज्यत्वादिकं तन्मानिनस्तदभ्युपगन्तारः, स्वभावमधिगच्छन्ति स्वभावं प्राप्नुवन्ति, अथवा समानाभिजनेष्वेव गुरुगौरवस्य महद्वीरवस्य मन्तुः स्वभावमधिगच्छन्ति, ननु समाना समानाभिजनेषु सत्सु स्वभावेन वर्तनमेव युक्तं तथैव समदृष्टिस्वभावः स्यादन्यथा विषमदृष्टित्वं स्यादिति।" -द्वात्रिंशत् द्वात्रिंशिका, नियति द्वात्रिंशिका, श्लोक २६ की टीका
११६. द्वात्रिंशत् द्वात्रिंशिका, नियति द्वात्रिंशिका, श्लोक २८
११७. 'सुरादिक्रमः पूर्वं सुरास्ततोऽसुरा इत्येवं सृष्टिक्रमः एकेषां केषांचिदाचार्याणाम्, मते इति शेषः, अस्य च पूर्वोक्तरेण चान्वयः, मानसा मनोद्भवाः पूर्वं मानस्यः प्रजाः ब्रह्मणो मनसा जाताः प्रजा इति, हि यतः उत्क्रमक्रमात् क्रममुल्लङ्घ्य क्रमाः ब्रह्मा यथेच्छति तथा प्रजा समुत्पद्यत इति मानस्यां सृष्टौ क्रमो नास्तीति भावः, सुराणां सुखमेव भवति नारकाणां दुःखमेव भवति मनुष्यादीनां च सुख-दुःखोभयं भवतीत्यतः सुख-दुःख विकल्पाच्चखण्डिः विभागः इमे सुरा इमे नारका इमे मनुष्या इत्यादि विभजनम्, यानः विभिन्नविमानयानस्थितिकः अभिजातयः उच्चकुलनीचकुलाद्युत्पत्तिका इत्यर्थः॥ -द्वात्रिंशत् द्वात्रिंशिका, नियति द्वात्रिंशिका श्लोक २८ की आचार्य विजयलावण्यसूरि टीका
११८. द्वात्रिंशत् द्वात्रिंशिका, नियति द्वात्रिंशिका, श्लोक २९
११९. द्वात्रिंशत् द्वात्रिंशिका, नियति द्वात्रिंशिका, श्लोक ३०
१२०. नियति द्वात्रिंशिका (गुजराती अनुवाद और विवरण सहित) श्लोक १४ के विवरण में
१२१. द्वात्रिंशत्-द्वात्रिंशिका, नियति द्वात्रिंशिका, श्लोक ३
१२२. स्वशरीरस्यातिसन्निहितस्यात्यन्तोपकारिणः इन्द्रियस्य च तथाभूतस्य चक्षुरादेः, निष्पत्तौ अविकलावयवाङ्मप्रत्यंगस्वरूपोत्पत्तौ, स्वयम् ईश्वरकालादृष्टादिनिरपेक्षः अप्रभुः असमर्थः किन्तु शुक्रशोणितसंयोगसमुद्भूतबुद्बुदकललाद्यवस्था-दिपरिणतहस्तपादमस्तकाद्यंगप्रत्यंग- निष्पत्तितोऽनेनेत्यमेव भवितव्यमिति नियतिबलादेव मनुज-देव-पशु- पक्ष्यादिविलक्षणजातीयस्वभावं शरीराद्युत्पद्यते। -नियति द्वात्रिंशिका, श्लोक ३ की आचार्य विजयलावण्यसूरि रचित टीका

१२३. 'कर्तृवादे प्राधान्येन कर्तुरेव कारणत्वं, कर्ता च न कोऽपि स्वस्य दुःखमिच्छति, न वा नीचकुलगोत्रादिकमिच्छति किन्त्वतिशयितसुखमेवेच्छति उच्चकुल-गोत्रादिकमेवेच्छति इति सुखमेवोच्चकुल-गोत्रादिकमेव स्यादिति जगद्वैचित्र्यं न स्यात्.....कर्तुः प्रावीण्याभावात् कथं कर्तृवादसम्भवा।'

-नियति द्वात्रिंशिका, श्लोक ४ की आचार्य विजयलावण्यसूरि रचित टीका

१२४. द्वात्रिंशत् द्वात्रिंशिका, नियति द्वात्रिंशिका, श्लोक ४

१२५. तथाऽतिशयक्रियौ एकस्य जीवस्य धर्ममतिशेतेऽपरस्य जीवस्य धर्मः यतस्तज्जन्यसुखापेक्षयोत्कृष्टतरं सुखादिकमपरस्य जीवस्यातिशयितधर्मनिबन्धनं भवति, एवमेकस्य जीवस्याधर्ममतिशेतेऽपरस्य जीवस्याधर्मः, यतस्तज्जन्यदुःखापेक्षयोत्कृष्टतरं दुःखादिकमपरस्य जीवस्यातिशयिता-धर्मनिबन्धनं भवतीत्येवमन्योऽन्यातिशयक्रियौ न चैतादृशौ तौ देश-कालादिमेदमन्तरेणेति, देशाद्यपेक्षौ चेति तयोरुक्तस्वभावयोर्धर्माधर्मयोः कथं केन प्रकारेण कः कीदृशः कर्तृसम्भवः कर्तृवादोपपत्तिः, धर्माधर्मौ न प्रत्यक्षेणानुभूयेते, तथा चेदृशौ तौ नान्यादृशाविति कर्तुं न कर्ता प्रभुः, नियतिवादाभ्युपगमे तु अस्य धर्मस्यानेन स्वभावेन भवितव्यमस्य धर्मस्यानेन स्वभावेन भवितव्यमिति नियत्या नियमनं सम्भवतीति भावः। -द्वात्रिंशत् द्वात्रिंशिका, नियति द्वात्रिंशिका, श्लोक ४ पर आचार्य विजयलावण्यसूरि रचित टीका।

१२६. द्वात्रिंशत्-द्वात्रिंशिका, नियति द्वात्रिंशिका, श्लोक ५

१२७. द्रष्टव्य द्वात्रिंशत्-द्वात्रिंशिका, नियति द्वात्रिंशिका, श्लोक ५ पर आचार्य विजयलावण्यसूरि रचित टीका।

१२८. 'यथा ग्रामध्यक्ष-देशाध्यक्ष-प्रधानसेनापत्यादिपरिकरोपेतो भूपतिः राज्यप्रशासनादिकार्यं स्वतन्त्रः कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तुं च समर्थस्तथा जीवोऽपि दृष्टादृष्टकारणचक्रोपेतः सन् सुखादिकार्यं करोतीति स्वतन्त्र एवेति कर्तृप्राधान्यवादो निर्वहति इति।' -द्वात्रिंशत् द्वात्रिंशिका, नियति द्वात्रिंशिका, श्लोक ६ पर आचार्य विजयलावण्यसूरि रचित टीका

१२९. नियति द्वात्रिंशिका (गाँधी धाम) श्लोक ६

१३०. 'राजादि दृष्टान्तेन नियुक्तिकं कर्तुः स्वातन्त्र्यं वाद्यभ्युपगतमित्यर्थः न प्रतिषिध्यते नियतिवादिना न निराक्रियते, न हि बाङ्मात्रेण किमपि वस्तुभ्युपगच्छतो वस्तुः वक्त्रं वक्त्रीभवति, न च तथा साधितं वस्तु सिद्धिकोटिमुपढौकते अतो वस्तुगत्याऽसिद्धस्य तस्य निषेधो न युज्यत इति जीवस्य कर्तुः स्वातन्त्र्याभावे....अनिमित्तं स्यात् तथा, न प्रतिषिध्यते किन्तु सनिमित्तमेव प्रतिषिध्यते तत्स्वातन्त्र्यप्रतिषेधे किं निमित्तमित्याकाङ्क्षायामाह-

निमित्तानीति धर्माधर्माद्यदृष्टापेक्षस्यैवात्मनः सुख-दुःखाद्युत्पत्तौ सामर्थ्यं न तन्निरपेक्षस्येत्यादीनि निमित्तानि यानि पूर्वमुपदर्शितानि नियतिवादोपोद्बलकानि, तानि निमित्तानि नियत्या नियमितानि कारणानि इत्यवारितम्।' -द्वात्रिंशत्-द्वात्रिंशिका, नियति द्वात्रिंशिका, श्लोक ६ पर आचार्य विजयलाबण्यसूरि टीका

१३१. सजातीय-विजातीयव्यावृत्तेन स्वभावानुगतेनैव रूपेण सर्वे भावा भवन्ति। यस्माद् हेतोः निश्चितम् भावाः नैयत्यनियामकतत्त्वान्तरोद्भवाः। हेत्वन्तरमाह नियतिकृतप्रतिनियतधर्मोपश्लेषात्।

-शास्त्रवार्ता समुच्चय, स्तबक २, श्लोक ६१ की टीका

१३२. शास्त्रवार्ता समुच्चय, स्तबक २, श्लोक ६१

१३३. "दृश्यते हि तीक्ष्णशस्त्राद्युपहतानामपि मरणनियतताभावेन मरणम्, जीवननियततया च जीवनमेवेति।"

-शास्त्रवार्ता समुच्चय, स्तबक २, श्लोक ६१ की टीका

१३४. शास्त्रवार्ता समुच्चय, स्तबक २, श्लोक ६२

१३५. "प्रमाणसिद्धेऽर्थे बाधानवतारात् नियतरूपावच्छिन्नं प्रति नियतेरेव हेतुत्वात्, अन्यथा नियतरूपस्याप्याकस्मिकताऽऽपत्तेः"

-शास्त्रवार्ता समुच्चय, स्तबक २, श्लोक ६२ की टीका

१३६. शास्त्रवार्ता समुच्चय, स्तबक २, श्लोक ६३

१३७. "किंच दण्डादिसत्त्वेऽवश्यं घटोत्पत्तिरिति न सम्यग् निश्चयः तत्सत्त्वेऽपि कदाचिद् घटानुत्पत्तेः, किन्तु संभावनैव, इति न दृष्टहेतुसिद्धिः, 'यद्भाव्यं तद्भवत्येव' इति तु सम्यग् निश्चयः" -शास्त्रवार्ता समुच्चय, स्तबक २, श्लोक ६३ की टीका

१३८. "न चैवं कार्योत्पत्तेः पूर्वं नियत्यनिश्चयात् प्रवृत्तिर्न स्यादिति वाच्यम्, अविद्ययैव प्रवृत्तेः, फललाभस्य तु यादृच्छिकत्वादिति दिग्।"

-शास्त्रवार्ता समुच्चय, स्तबक २, श्लोक ६३ की टीका

१३९. शास्त्रवार्ता समुच्चय, २.६४

१४०. लोक तत्त्व निर्णय, पृ. २२ पर श्लोक १५

१४१. "नास्ति" इत्यादि, नास्त्यात्मा इति चार्वाकमते, न नित्य इति क्षणिकवादिमते, न कर्ता न भोक्तेति सांख्यमते, यद्वा न कर्तेति सांख्यमते, न भोक्तेत्युपचरितभोक्तृत्वस्याप्यनभ्युपगमाद्वेदान्तिमते, नास्ति निवृत्तिः सर्वदुःखविमोक्षत्वलक्षणेति नास्तिकप्रायाणां सर्वज्ञानभ्युपगन्तुणां यज्वनां मते, अस्ति मुक्तिः परं तदुपायो नास्ति सर्वभावानां नियतत्वेनाकस्मादेव भावादिति

नियतिवादिमते, इत्येतानि षट् मिथ्यात्वस्थानकान्याहुः पूर्वसूरयः।” -नयोपदेश,
श्लोक १२३ की वृत्ति

१४२. तिलोक काव्य कल्पतरुः भाग ४, श्री रत्न जैन पुस्तकालय, अहमदनगर, तत्त्व मुक्तावली : वादस्वरूप, पृ. ९०
१४३. स्वयम्भूस्तोत्र, श्री सुपाशर्व जिन स्तवन, श्लोक ३
१४४. गोम्मटसार कर्मकाण्ड, भाग द्वितीय, श्लोक ८८२
१४५. स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा गाथा ३२१, ३२२
१४६. सूत्रकृतांग, प्रथम श्रुतस्कन्ध, प्रथम अध्ययन, द्वितीय उद्देशक, गाथा ३
१४७. सूत्रकृतांग १.१.२.३ की शीलांक टीका
१४८. “योऽयं सुखदुःखानुभवः स पुरुषकारकृतकारणजन्यो न भवतीति....यदि पुरुषकारकृतं सुखाद्यनुभूयेत ततः सेवकवणिक्कर्षकादीनां समाने पुरुषकारे सति फलप्राप्तिवैसादृश्यं फलाप्राप्तिश्च न भवेत् कस्यचित्तु सेवादिव्यापाराभावेऽपि विशिष्टफलावाप्तिर्दृश्यत इति, अतो न पुरुषकारात्किंचिदासाद्यते, किं तर्हि? नियतेरेवेति, एतच्च द्वितीय श्लोकान्तेऽभिघास्यते नापि कालः कर्ता, तस्यैकरूपत्वाज्जगति फलवैचित्र्यानुपपत्तेः, कारणभेदे हि कार्यभेदो भवति नाभेदे, तथाहि- अयमेव हि भेदो भेदहेतुर्वा घटते यदुत विरुद्धघर्माध्यासः कारणभेदश्च, तथेश्वरकर्तृकेऽपि सुखदुःखे न भवतः।” -सूत्रकृतांग १.१.२.३ की शीलांक टीका
१४९. “तथा स्वभावस्यापि सुखदुःखादिकर्तृत्वानुपपत्तिः यतोऽसौ स्वभावः पुरुषादिभिनोऽभिन्नो वा? यदि भिनो न पुरुषाश्रिते सुखदुःखे कर्तुमलं, तस्माद् भिन्नत्वादिति, नाप्यभिन्नः अभेदे पुरुष एव स्यात्, तस्य चाकर्तृत्वमुक्तमेव। नापि कर्मणः सुखदुःखं प्रति कर्तृत्वं घटते, यतस्तत्कर्म पुरुषादिभन्नमभिन्नं वा भवेत्? अभिन्नं चेत्पुरुषमात्रतापत्तिः कर्मणः, तत्र चोक्तो दोषः अथ भिन्नं तत्किं सचेतनमचेतनं वा? यदि सचेतनमेकस्मिन् काये चैतन्यद्वयापत्तिः, अथाचेतनं तथा सति कुतस्तस्य पाषाणखण्डस्येवास्वतन्त्रस्य सुखदुःखोत्पादनं प्रति कर्तृत्वमिति।” -सूत्रकृतांग १.१.२.३ की शीलांक टीका
१५०. ‘क्रियासिद्धौयदिवोभयमप्येतत्सुख-दुःखंवासकचन्दनांगनाद्युपभोग भवं तथा कशाताडनांकनादिसिद्धौ भवं सैद्धिकं, तथा असैद्धिकं सुखमान्तरमानन्द-रूपमाकस्मिकमनवधारितबाह्यनिमित्तम् एवं दुःखमपि ज्वरशिरोर्त्तिशूलादि-रूपमंगोत्थमसैद्धिकं तदेतदुभयमपि न स्वयं पुरुषकारेण कृतं नाऽप्यन्येन केनचित् कालादिना कृतं वेदयन्त्यनुभवन्ति पृथज्जीवाः प्राणिन इति।..... ‘इह’

अस्मिन् सुखं दुःखानुभववादे एकेषां चादिनामाख्यातं तेषामयमभ्युपगमः। तथा चोक्तम्- प्राप्तव्योनियतिबलाश्रयेण योऽर्थः, सोऽवश्यं भवति नृणां शुभोऽशुभो वा। भूतानां महतिकृतेऽपि हि प्रयत्ने, नाभाव्यं भवति न भाविनोऽस्ति नाशः।'

-सूत्रकृतांग सूत्र १.१.२.३ की शीलांक टीका

१५१. सूत्रकृतांग सूत्र १.१.२.४

१५२. 'निययानिययं संतमिति' सुखादिकं किञ्चिन्नियतिकृतम्-अवश्यंभाव्युदयप्रापितं तथा अनियतम्-आत्मपुरुषकारेश्वरादिप्रापितं सत् नियतिकृतमेवैकान्तेनाश्रयन्ति, अतोऽजानानाः सुखदुःखादिकारणमबुद्धिकाः बुद्धिरहिता भवन्तीति, तथाहि- आर्हतानां किञ्चित्सुखदुःखादि नियतित एव भवति, तत्कारणस्य कर्मणः कस्मिंश्चिदवसरेऽवश्यंभाव्युदयसद्भावान्नियतिकृतमित्युच्यकस्मिंश्चिदवसरेऽवश्यं भाव्युदयसद्भावान्नियतिकृतमित्युच्यते, तथा किञ्चिद- नियतिकृतंच- पुरुषकारकालेश्वरस्वभावकर्मादिकृतं'

-सूत्रकृतांग १.१.२.४ की शीलांक टीका।

१५३. सूत्रकृतांग १.१.२.४ की शीलांक टीका में

१५४. 'यत्तु समाने पुरुषव्यापारे फलवैचित्र्यं दूषणत्वेनोपन्यस्तं तददूषणमेव यतस्तत्राऽपि पुरुषकारवैचित्र्यमपि फलवैचित्र्ये कारणं भवति, समाने वा पुरुषकारे यः फलाभावः कस्यचिद् भवति सोऽदूष्टकृतः, तदपि चाऽस्माभिः कारणत्वेनाश्रितमेव।' -सूत्रकृतांग १.१.२.४ की शीलांक टीका

१५५. सूत्रकृतांग १.१.२.५ में

१५६. सूत्रकृतांग सूत्र १.१.२.५ की शीलांक टीका

१५७. 'ते पुनर्नियतिवादमाश्रित्याऽपि, भूयो विविधं विशेषेण वा प्रगल्भता घाष्टर्योपगताः परलोकसाधिकासु क्रियासु प्रवर्तन्ते। घाष्टर्याश्रयणं तु तेषां नियतिवादाश्रयणे सत्येव पुनरपि तत्प्रतिपत्तिनीषु क्रियासु प्रवर्तनादिति।'

-सूत्रकृतांग सूत्र १.१.२.५ की शीलांक टीका

१५८. 'एतद्वक्ष्यमाणं विप्रतिवेदयन्ति जानन्ति तद्यथा-क्रिया-सदनुष्ठानरूपा अक्रिया तु असदनुष्ठानरूपा इत्यादि यावदेवं ते नियतिवादिनस्तदुपरि सर्वं दोषजातं प्रक्षिप्य विरूपरूपैः कर्मसमारम्भैर्विरूपरूपान् कामभोगान् भोजनाय उपभोगार्थं समारभन्त इति। तदेवमेव-पूर्वोक्तया नीत्या तेऽनार्या विरूपं नियतिमार्गं प्रतिपन्ना विप्रतिपन्नाः, अनार्यत्वं पुनस्तेषां निर्युक्तकस्यैव नियतिवादस्य समाश्रयणात्'

-सूत्रकृतांग सूत्र, श्रुतस्कन्ध २, पुण्डरीक अध्ययन सूत्र १२ की शीलांक टीका

१५९. "तथाहि-असौ नियतिः किं स्वत एव नियतिस्वभावा उतान्यया नियत्या नियम्यते? किंचातः? तत्र यद्यसौ स्वयमेव तथास्वभावा सर्वपदार्थानामेव तथास्वभावत्वं किं न कल्प्यते? किं बहुदोषया नियत्या समाश्रिताया? अथान्यया नियत्या तथा नियम्यते, साऽप्यन्यया साऽप्यन्ययेत्येवमनवस्था। तथा नियतेः स्वभावत्वान्नियतस्वभावयाऽनया भवितव्यं न नानास्वभावयेति, एकत्वाच्च नियतस्तत्कायणाप्येकाकारेणैव भवितव्यं, तथा च सति जगद्वैचित्र्याभावः न चैतदृष्टमिष्टं वा। तदेवं युक्तिभिर्विचार्यमाणा नियतिर्न कथंचिद् घटते।"

-सूत्रकृतांग सूत्र, श्रुतस्कन्ध २, पुण्डरीक अध्ययन, सूत्र १२ की शीलांक टीका

१६०. "यदप्युक्तं द्वावपि तौ पुरुषौ क्रियाक्रियावादिनौ तुल्यौ, एतदपि प्रतीतिबाधितं, यतस्तयोरेकः क्रियावाद्यपरस्वक्रियावादीति कथमनयोस्तुल्यत्वम्, अथैकया नियत्या तथानियतत्वानुल्यता अनयोः एतच्च निरन्तराः सुहृदः प्रत्येष्यन्ति, नियतेरप्रमाणत्वात्, अप्रमाणत्वं च प्राग्लेशतः प्रदर्शितमेव, यदप्युक्तं न्यदुःखादिकमहमनुभवामि तन्नाहमकार्षमित्यादि, तदपि बालवचनप्राप्यं यतो (यत) जन्मान्तरकृतं शुभमशुभं वा तदिहोपभुज्यते, स्वकृतकर्मफलेश्वरत्वादसुमतां।"

-सूत्रकृतांग सूत्र, श्रुतस्कन्ध २, पुण्डरीक अध्ययन सूत्र १२ की शीलांकाचार्य टीका

१६१. सूत्रकृतांग सूत्र, श्रुतस्कन्ध २, पुण्डरीक अध्ययन सूत्र १२ की शीलांक टीका

१६२. "तदेवं ते नियतिवादिनोऽनार्या विप्रतिपन्नास्तमेव निर्युक्तिकं नियतिवादं श्रद्धधानास्तमेव च प्रतीयन्ते।" -सूत्रकृतांग सूत्र, श्रुतस्कन्ध २, पुण्डरीक अध्ययन, सूत्र १२ की शीलांक टीका

१६३. तस्स णं सद्दालपुत्तस्स आजीविओवासगस्स एक्का हिरण्ण-कोडी निहाण-पउत्ता, एक्का वुड्ढि-पउत्ता, एक्का पवित्थर-पउत्ता, एक्के वए, दस-गोसाहस्सिएणं वएणं। तस्स णं सद्दालपुत्तस्स आजीविओवासगस्स पोलासपुरस्स नगरस्स बहिया पंच कुंभकारावण-सया होत्था।- उपासकदशांग सूत्र, अध्ययन ७ सूत्र १८२, १८४

१६४. उपासकदशांग सूत्र, अध्ययन ७, सूत्र १९९

१६५. उपासकदशांग, अध्ययन ७, सूत्र २००

१६६. 'तो जं वदसि नत्थिं उट्ठाणे इ वा जाव नियया सव्वभावा, तं ते मिच्छा।'

-उपासकदशांग, अध्ययन ७, सूत्र २००

१६७. प्रश्नव्याकरण १.२.७ की अभयेदेव वृत्ति

१६८. प्रश्नव्याकरण १.२.७ की ज्ञानविमलसूरि टीका

१६९. “न, निद्रावदवस्थावृत्तेः पुरुषताया एवास्वातन्त्र्यात्, अहितवेगवितटपातवत्”

—द्वादशारनयचक्र, प्रथम विभाग, पृष्ठ १९३

१७०. “स यदि ज्ञः स्वतन्त्रश्च, नात्मनोऽनर्थमनिष्टमापादयेत् विद्वद्वाजवत्” —
द्वादशारनयचक्र, प्रथम विभाग, पृष्ठ १९३

१७१. “तन्नियमकारिणा कारणेनावश्यं भवितव्यं तेषां तथाभावान्यथाभावाभावादिति नियतिरेवैका कर्त्री। न हि तस्यां कदाचित् कथंचित् तदर्थान्यरूप्यमेकत्व-
व्याघाति। —द्वादशारनयचक्र, प्रथम विभाग, पृष्ठ १९४

१७२. द्वादशारनयचक्र, प्रथम विभाग, पृष्ठ १९४

१७३. “तद्विषयस्य घटादिविषयस्य मृत्पिण्डदण्डचक्रादिसाधनस्य प्रयत्नसाध्यस्य
घटात्मनिर्वृत्तिरूपस्य क्रियाफलस्य तेन प्रकारेण नियतेर्नियतिरेवात्र कारणमिति।”

—द्वादशारनयचक्र, प्रथम विभाग, पृष्ठ १९५ पर सिंहसूरि वृत्ति में

१७४. ‘परमार्थतोऽभेदासौ कारणं जगतः’ —द्वादशारनयचक्र, प्रथम विभाग, पृ. १९५ पर

१७५. “यथा बाल्यकौमारयौवनमध्यमावस्थाभेदबुद्ध्युत्पत्तावपि पुरुषत्वमभिन्नमेवं
नियतिरपि क्रियाक्रियानियतफलभेदबुद्ध्यदिभेदेष्वभिन्नेति।” —द्वादशारनयचक्र,
प्रथम विभाग, पृ. १९५ पर सिंहसूरि की टीका

१७६. “भेदबुद्ध्युत्पत्तावपि परमार्थतोऽभेदात्, बालादिभेदपुरुषत्ववत्, कथम्?
अभेदबुद्ध्यभासभावेऽप्यभेदाभ्यनुज्ञानाद् भेदबुद्ध्यभासभावेऽप्यभेदाभ्यनुज्ञानादेव
व्यवच्छिन्नस्याणुपुरुषत्ववत्।” —द्वादशारनयचक्र, प्रथम विभाग, पृ. १९५

१७७. “व्यवच्छिन्नस्थाणुपुरुषत्ववत्, परमार्थतः स्थाणुरेव वा पुरुष एव वेति
व्यवच्छिन्ने वस्तुनि यथोर्ध्वतासामान्यस्याभेदस्य दर्शनादभेद एवं सर्वनियतिषु
क्रिया-क्रियाफलरूपास्त्विति।”

—द्वादशारनयचक्र, प्रथम विभाग, पृष्ठ १९६ पर सिंहसूरि टीका

१७८. “सा पुनर्नियतिर्भेदाभेदरूपा, कस्मात्? इति सकारणं स्वरूपनिरूपणमस्या
उच्यते-सा चेत्यादि। सा च नियतिस्तदेव, सर्वनियतिषु तस्या एवाविशेषात्।
अतच्च, क्रियाऽक्रियानियत्यादिवैलक्षण्यात्। आसन्ना, प्रत्यक्षोपलभ्येष्वर्थेषु
प्रत्यासत्त्या नियतत्वात्। अनासन्ना, कार्यानुमानागमगम्येषु दूरत्वात्।”

—द्वादशारनयचक्र, प्रथम विभाग, पृष्ठ १९६ पर सिंहसूरि की टीका

१७९. द्वादशारनयचक्र, प्रथम विभाग, पृ. १९६ पर सिंहसूरि की टीका

१८०. ‘नामाविभावो न भावि नाशः’ —द्वादशारनयचक्र, प्रथम विभाग, पृ. १९६

१८१. "तस्या एव नियतेरेकत्वानेकत्वविरोधपरिहारार्थं दृष्टान्तमाह- 'यथा लोक इत्येकत्व एव पर्वताद्याकारावग्रहः। एक एव लोकः सरित्समुद्रमहीमहीध्रगामा-
रामादिभिराकारैरवगृह्यमाणो भिद्यते (तथा) भेदाभेदरूपेण नियतिः, एतद् बाह्यं
निदर्शनम्। आन्तरं तु यथा ज्ञानमेकत्वेऽप्यनेकबोध्याकारं भवति।"

-द्वादशारनयचक्र प्रथम विभाग, पृ. १९७ पर सिंहसूरि टीका

१८२. द्वादशारनयचक्र, प्रथम विभाग, पृ. १९८

१८३. द्वादशारनयचक्र, प्रथम विभाग, पृ. १९९-२००

१८४. "एवं च व्यवस्थित एवार्थेऽव्यक्तस्यैवार्थस्य व्यक्तेः सर्वं नियतमेव। तस्य
स्वव्यक्तेः सर्वकालं व्यवस्थितादर्थादन्यो मथा कृत इति मिथ्याभिमान एषः। न
तु नियतौ किञ्चिन्नास्ति।" -द्वादशारनयचक्र, प्रथम विभाग, पृ. २०१

१८५. द्वादशारनयचक्र, प्रथम विभाग, पृ. २०२

१८६. "न तथानियतित्वात्। बीजादिनियतिरेव हि उदकादिषु वर्तते, तन्नियमानुरोधेन हि
तेषां सर्वेषां नियता प्रवृत्तिः।" -द्वादशारनयचक्र, प्रथम विभाग, पृ. २०२-२०३

१८७. "पुरुषो व्यग्रोऽव्यग्र इत्यादि नियतेरेव" -द्वादशारनयचक्र, प्रथम विभाग, पृ. २०३

१८८. "सर्वज्ञोऽपि च तामेवाखिलामनादिमध्यान्तां स्वरूपेणाविपरिणामां
वस्तुनियतिमेकामनेकरूपां बन्धमोक्षप्रक्रियानियतिसूक्ष्मां पश्यन् नियतेरेव
भवतीति।" -द्वादशारनयचक्र, प्रथम विभाग, पृ. २०४

१८९. "नियतेस्तु सर्वात्मकत्वात् सर्वाकारता स्यात् सदा सर्वस्य।" -द्वादशारनयचक्र,
प्रथम विभाग पृ. २०६

१९०. "यदि नियतिकृतैवार्थानां प्रवृत्तिः इदं पूर्वमिदं पश्चादिदमिदानीमिदं युगपदिति न
युज्यते सर्वेषां बीजादौ नियतेः सन्निहितत्वात्" नियतेरेवेति, चेत् न आनर्थक्यात्।
किमिह पूर्वादिभिः? एवमादिविकल्पव्यवहारेषु काल एव भवतीति भावितं
सर्वसंग्रहेणैव वा। क्रमव्यवहारसिद्ध्यर्थं पूर्वादय आश्रयणीया एव
नियतेरेवासिद्धेर्व्यवहारसिद्धिरन्यथा, पूर्वादिषु तु समाश्रितेषु नियत्या किं
क्रियते?"
-द्वादशारनयचक्र, प्रथम विभाग, पृ. २०७-२०८

१९१. "त्वन्यायेन तु विदुषां हिताहितप्राप्तिपरिहारार्थावाचारोपदेशावन्र्थकौ स्यातां
चक्षुरूपग्रहणनियतिवत् अयत्नत एव तथासिद्धेः। यत्नोऽपि नियतित एवेति चेत्,

ततः सर्वलोकशास्त्रारम्भप्रयोजनाभिधानानर्थक्याल्लोकागमविसर्वलोक-
शास्त्रारम्भप्रयोजनाभिधानानर्थक्याल्लोकागमवि भावस्यान्यथाभावाभावात्
क्रियायाएवौदनतृत्यादिफलप्रसूतेः प्रत्यक्षविरोधः।”

—द्वादशारनयचक्र, प्रथम विभाग, पृ. २०८-२०९

१९२. शास्त्रवार्ता समुच्चय, स्तबक २, श्लोक ६९

१९३. शास्त्रवार्ता समुच्चय, स्तबक २, श्लोक ७०, ७१

१९४. “तदिभन्नभेदकत्वे च तत्र तस्या न कर्तृता।

तत्कर्तृत्वे च चित्रत्वं तद्वत्तस्याप्यसंगतम्।।” —शास्त्रवार्ता समुच्चय, श्लोक ७२

१९५. “तस्या एव तथाभूतः स्वभावो यदि चेष्टते।

व्यक्तो नियतिवादः स्यात्स्वभावाश्रयणाननु।।

—शास्त्रवार्ता समुच्चय, स्तबक २, श्लोक ७३

१९६. “अथ तत्स्वभावस्तत्परिपाक एवेति नान्यहेतुत्वाभ्युपगम इति चेत्? न
परिपाकेऽप्यन्यहेत्वाश्रयणावश्यकत्वात्।”

—शास्त्रवार्ता समुच्चय, स्तबक २, श्लोक ७३ की टीका

१९७. ‘उत्तरपरिपाके पूर्वपरिपाक एव हेतुः, आद्यपरिपाके चान्तिमापरिपाक एव
इत्यादिरीत्या विशिष्य-हेतुहेतुमद्भावाद् न दोष’ इति चेत्? तर्ह्येकदैकात्र
घटनियतिपरिपाकेऽन्यत्रापि घटोत्पत्तिः, प्रतिसंतानं नियतिभेदाभ्युपगमे च
नियतिपरिपाकयोर्द्रव्यपर्यायनामान्तरत्वं एव विवादः।’

—शास्त्रवार्ता समुच्चय, स्तबक २, श्लोक ७३ की टीका

१९८. “किंच एवं शास्त्रोपदेशवैयर्थ्यप्रसक्तिः तदुपदेशमन्तरेणाऽप्यर्थेषु
नियतिकृतत्वबुद्धेः।” —शास्त्रवार्ता समुच्चय, स्तबक २, श्लोक ७३ की टीका

१९९. सन्मति तर्क ३.५३ की अभयदेव टीका

२००. सन्मति तर्क ३.५३ की अभयदेव टीका

२०१. सन्मति तर्क ३.५३ की अभयदेव टीका

२०२. सन्मति तर्क ३.५३ की अभयदेव टीका

२०३. (क) “शास्त्रोपदेशवैयर्थ्यप्रसक्तोः तदुपदेशमन्तरेणापि अर्थेषु
नियतिकृतत्वबुद्धेर्नियत्यैव भावाद् दृष्टादृष्टशास्त्रप्रतिपादितशुभा-
शुभक्रियाफलनियमाभावश्च।” —सन्मति तर्क ३.५३ की अभयदेव टीका

(ख) उपर्युक्त अंश 'उपदेश पद महाग्रन्थ' प्रथम विभाग, श्लोक १६४ की मुनिचन्द्रविरचित टीका में पृ. १४० पर

२०४. "अथ तथैव नियतिः कारणमिति नायं दोषः, न, नियतेरेकस्वभावत्वाभ्युपगमे विसंवादाऽविसंवादादिभेदाभावप्रसक्तेः।" -सन्मति तर्क ३.५३ की अभयदेव टीका

२०५. सन्मति तर्क ३.५३ की अभयदेव टीका

२०६. "नियतेर्नित्यत्वे कारकत्वायोगात् अनित्यत्वेऽपि तदयोग एव। किंच नियतेरनित्यत्वे कार्यत्वम् कार्यं च कारणादुत्पत्तिमदिति तदुत्पत्तौ कारणं वाच्यम्। न च नियतिरेव कारणम् तत्रापि पूर्ववत् पर्यनुयोगानिवृत्तेः।"

-सन्मति तर्क, ३.५३ की अभयदेव टीका

२०७. "न च नियतिरात्मानमुत्पादयितुं समर्था स्वात्मनि क्रियाविरोधात्। न च कालादिकं नियतेः कारणम् तस्य निषिद्धत्वात्। न च अहेतुका सा युक्ता नियतरूपताऽनुपपत्तेः। न च स्वतोऽनियता अन्यभावनियतत्वकारणम् शशशुंगादेस्तद्रूपतानुपलम्भात्। तन्न नियतिरपि प्रतिनियतभावोत्पत्तिहेतुः।"

-सन्मति तर्क, ३.५३ की अभयदेव टीका

२०८. "नियतेरेकरूपत्वाभ्युपगमादखिलानामपि तन्निबन्धनकार्याणामेकरूपता प्राप्नोति। नहि कारणभेदमन्तरेण कार्यस्य भेदो युज्यते, निर्हेतुकत्वप्रसंगात्। अथ कार्यविचित्रतान्यथाऽनुपपत्त्या नियतिरपि विचित्ररूपाऽभ्युपगम्यते।"

-धर्मसंग्रहणि, श्लोक ५६६ पर मलयगिरि टीका

२०९. "ननु तस्या अपि विचित्रता न तदन्यविचित्रभेदकमन्तरेणोपपद्यते, न खल्विहोषरेतरादिधराभेदमन्तरेण विहायसः पततामम्भसामनेकरूपता भवति।"

-धर्मसंग्रहणि, श्लोक ५६६ पर मलयगिरि टीका

२१०. तेषां च तदन्येषां भेदकानां चित्रता किं तत एव नियतेः स्यात् तदन्यतो वा? तत्र यदि नियतेस्तर्हि तस्याः स्वत एकरूपत्वात् कथं तन्निबन्धना तदन्यभेदकानां चित्ररूपता? अथ विचित्रतदन्यभेदरूपकार्यान्यथानुपपत्त्या तस्या अपि विचित्ररूपताऽभ्युपगम्यते, ननु तर्हि सा तस्या विचित्ररूपता न तदन्यभेदकमन्तरेणोपपद्यत इत्यादि तदेवावर्तत इत्यनवस्था।"

-धर्मसंग्रहणि, श्लोक ५६६ पर मलयगिरि टीका

२११. जैन तत्त्वादृश (पूर्वाङ्क), श्री आत्मानन्द जैन महासभा पंजाब, हैड ऑफिस अंबाला शहर, १९३६, चतुर्थ परिच्छेद, पृ. २५२-२५३

२१२. जैन तत्त्वादर्थ (पूर्वाद्ध), चतुर्थ परिच्छेद, पृष्ठ २५३
२१३. जैन तत्त्वादर्थ (पूर्वाद्ध), चतुर्थ परिच्छेद, पृष्ठ २५३
२१४. जैन तत्त्वादर्थ (पूर्वाद्ध), चतुर्थ परिच्छेद, पृष्ठ २५४
२१५. जैन तत्त्वादर्थ (पूर्वाद्ध), चतुर्थ परिच्छेद, पृष्ठ २५५
२१६. जैन तत्त्वादर्थ (पूर्वाद्ध), चतुर्थ परिच्छेद, पृष्ठ २५५, २५६
२१७. जैन तत्त्वादर्थ (पूर्वाद्ध), चतुर्थ परिच्छेद, पृष्ठ २५६
२१८. जैन तत्त्वादर्थ (पूर्वाद्ध), चतुर्थ परिच्छेद, पृष्ठ २५६, २५७
२१९. जैन तत्त्वादर्थ (पूर्वाद्ध), चतुर्थ परिच्छेद, पृष्ठ २५७
२२०. जैन तत्त्वादर्थ (पूर्वाद्ध), चतुर्थ परिच्छेद, पृष्ठ २५८
२२१. जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश, भाग द्वितीय पृ. ६१३
२२२. महापुराण ९.११६, उद्धृत जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश द्वितीय पृ. ६१९
२२३. 'अनादिमिथ्यादृष्टेर्भव्यस्य कर्मोदयापादितकालुष्ये सति कुतस्तदुपशमः। काललब्ध्यादिनिमित्तत्वात्'। -सर्वार्थसिद्धि, अध्याय २, सूत्र ३ की टीका
२२४. 'कर्माविष्ट आत्मा भव्यः कालेऽर्द्धपुद्गलपरिवर्त्तनाख्येऽवशिष्टे प्रथमसम्यक्त्व-ग्रहणस्य योग्यो भवति नाधिके इति।' -सर्वार्थसिद्धि २.३ की टीका
२२५. 'अपरा कर्मस्थितिका काललब्धिः। उत्कृष्टस्थितिकेषु कर्मसु जघन्यस्थितिकेषु च प्रथमसम्यक्त्वलाभो न भवति। क्व तर्हि भवति। अन्तःकोटाकोटि-सागरोपमस्थितिकेषु कर्मसु बन्धमापद्यमानेषु विशुद्धपरिणामवशात्कर्मसु च ततः संख्येयसागरोपमसहस्रोनायामन्तः कोटाकोटीसागरोपमस्थितौ स्थापितेषु प्रथमसम्यक्त्वयोग्यो भवति।' -सर्वार्थसिद्धि २.३ की टीका
२२६. 'अपरा काललब्धिर्भावापेक्षया। भव्यः पंचेन्द्रियः संज्ञीपर्याप्तकः सर्वविशुद्धः प्रथमसम्यक्त्वमुत्पादयति।' -सर्वार्थसिद्धि २.३ की टीका
२२७. अतीतानादिकालेऽत्र कश्चित्कालादिलब्धितः॥ ३१४॥
करणत्रयसंशान्तसप्ताप्रकृतिसंचयः।
प्राप्तविच्छिन्नसंसारः रागसंभूतदर्शनः॥३१५॥ -महापुराण, ६२/३१४-३१५
उद्धृत जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश द्वितीय पृ. ६१५
२२८. तद्गहाणाद्य सम्यक्त्वं तल्लाभे काल एष ते।
काललब्ध्या विना नार्यं तदुत्पत्तिरिहांगिनाम्॥ -महापुराण ९.११५

३३६ जैनदर्शन में कारण-कार्य व्यवस्था : एक समन्वयात्मक दृष्टिकोण

२२९. 'भव्यस्यापि भवोऽभवद् भवगतः कालादिलब्धेर्विना।' -महापुराण ४७.३८६

२३०. 'द्रव्यं वज्रवृषभनाराचलक्षणम्, क्षेत्रं पंचदशकर्मभूमिलक्षणम्, भवः मनुष्यादिलक्षणः, भावः विशुद्धपरिणामः, लब्धयः, क्षायोपशमनविशुद्धिदेशना-प्रायोग्याधः- करणापूर्वकरणानिवृत्तकरण- लक्षणाः तामिर्युक्तः जीवः मोक्ष संसारविमुक्तिलक्षणं कर्मणां मोचनं मोक्षस्तं कर्मक्षयं च करोति विदधाति।'

-स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा, गाथा १८८ की टीका

२३१. प्रवचनसार, गाथा १४४ की तात्पर्यवृत्ति टीका

२३२. पंचास्तिकाय, गाथा २० की तात्पर्यवृत्ति टीका

२३३. पंचास्तिकाय, गाथा २९ की तात्पर्यवृत्ति टीका

२३४. मिथ्यात्वोपचितात्स एव समलः कालादिलब्धौ।

क्वचित् सम्यक्त्वव्रतदक्षताकलुषतायोगैः क्रमान्च्युते॥

-आत्मानुशासन, गाथा २४१

२३५. कार्तिकेयानुप्रेक्षा, गाथा २४४

२३६. कालाइलद्विजुक्ता णाणासत्तीहि संजुदा अत्था।

परिणममाणो हि सयं ण सक्कदे को वि वारेदुं॥ -कार्तिकेयानुप्रेक्षा, गाथा २१९

२३७. प्रमाणनयतत्त्वालोक- २.२३

२३८. जैन, बौद्ध तथा गीता के आचारदर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन, पृष्ठ २७०

२३९. जैन, बौद्ध, गीता के आचार दर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन, पृ. २७७

२४०. 'परिणमदो खलु णाणं पच्चक्खा सब्बद्वपज्जया।

सो णेव ते विजाणदि उग्गहपुव्वाहिं किरियाहिं।।

णत्थि परोक्खं किंचि वि समंत सब्बक्खगुणसमिद्धस्स।

अक्खातीदस्स सदा सयमेव हि णाणजादस्स॥-प्रवचनसार, १.२१, २२

२४१. दर्शन और चिन्तन खण्ड १ व २, पं. सुखलाल जी सन्मान समिति, गुजरात विद्यासभा, भद्र, अहमदाबाद-१, ई.सं. १९५७, पृष्ठ ५५३

२४२. जैन बौद्ध तथा गीता के आचार दर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन, पृष्ठ २७९

२४३. वही पृ. २७९

२४४. 'जीत अभिनन्दन ग्रन्थ' में प्रकाशित लेख 'सर्वज्ञ की सर्वज्ञता' पृ. १५४, जयध्वज प्रकाशन समिति, मद्रास।

२४५. जैन बौद्ध गीता के आचार दर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन, पृष्ठ २८०
२४६. क्रमबद्धपर्याय, पृ. ६७
२४७. क्रमबद्धपर्याय, पृ. ६९
२४८. कर्मवाद, पृ. ११६
२४९. कर्मवाद, पृ. ११७, ११८
२५०. कर्मवाद, पृ. ११९. १२०
२५१. (क) सूत्रकृतांग १.१.२.३ की शीलांक टीका में
 (ख) प्रश्नव्याकरण सूत्र १.२.७ की अभयदेव वृत्ति में
 (ग) शास्त्रवार्ता समुच्चय, स्तबक २, श्लोक ६२ की यशोविजय की टीका में
 (घ) सन्मति तर्क ३.५३ की टीका में
 (ङ) लोक तत्त्व निर्णय, पृ. २५ पर श्लोक २७ में
२५२. अपरवाद, नियतिवाद अधिकरण, श्लोक २
२५३. श्वेताश्वतरोपनिषद् १.२
२५४. श्वेताश्वतरोपनिषद् १.२ पर शांकरभाष्य
२५५. हरिवंश पुराण ६२.४४
२५६. हरिवंश पुराण ४३.६८
२५७. नारदीय महापुराण, पूर्व खण्ड, अध्याय ३७, श्लोक ४७
२५८. रामायण, किष्किन्धा काण्ड, सर्ग २५, श्लोक ४
२५९. महाभारत शांति पर्व, अध्याय २२६, श्लोक १०
२६०. अभिज्ञान शाकुन्तल, १.१४
२६१. अभिज्ञान शाकुन्तल, ६.९ के पूर्व
२६२. राजतरंगिणी, अष्टम तरंग, श्लोक २२८०
२६३. काव्यप्रकाश, प्रथम उल्लास, श्लोक १
२६४. सुत्तपिटक के दीघनिकाय के प्रथम भाग में
२६५. योगवासिष्ठ २.६२.९

३३८ जैनदर्शन में कारण-कार्य व्यवस्था : एक समन्वयात्मक दृष्टिकोण

२६६. योगवासिष्ठ ५.८९.२६

२६७. योगवासिष्ठ ३.६२.२७

२६८. प्रश्नव्याकरण सूत्र, श्रुतस्कन्ध १, अध्ययन २, सूत्र ५०

२६९. आचारांग सूत्र, अध्याय १, उद्देशक १, सूत्र ५ की शीलांक टीका

२७०. शास्त्रवार्ता समुच्चय २.६१

२७१. शास्त्रवार्ता समुच्चय २.६३

२७२. स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा, गाथा ३२१

२७३. सूत्रकृतांग १.१.२.३ की शीलांक टीका



पंचम अध्याय

पूर्वकृत कर्मवाद

उत्थापनिका

जीव के पूर्वकृत कर्म ही उसके वर्तमान फल के प्रति कारण होते हैं। जीव के समस्त कार्यों के प्रति पूर्वकृत कर्म ही कारण हैं, अन्य नहीं- यह मान्यता पूर्वकृत कर्मवाद है। ऐकान्तिक रूप से कर्म को कारण कहने वाले कर्मवादी मानते हैं कि जीव कर्म-फल को परिवर्तित करने में समर्थ नहीं होते हैं तथा जैसे कर्म करते हैं वैसा ही फल भोगते हैं।

कालवाद, स्वभाववाद एवं नियतिवाद के समान कर्मवाद भी भारतीय चिन्तन में रचा-पचा रहा, किन्तु एकान्त पूर्वकृत कर्म को ही कारण मानने वाले वाद के स्वतंत्र सम्प्रदाय एवं ग्रन्थों का कहीं भी कोई उल्लेख प्राप्त नहीं होता है। अतः कर्मवाद की चर्चा उपलब्ध भारतीय वाङ्मय के प्रमुख ग्रन्थों एवं विशेषतः जैन ग्रन्थों के आधार पर प्रस्तुत की जा रही है। कर्म के स्वरूप एवं उसके फल की चर्चा अनेक ग्रन्थों में प्राप्त होती है। ईश्वर को न मानने वाले तो कर्म की महत्ता अंगीकार करते ही हैं किन्तु उसे मानने वाले भी कर्म का महत्त्व स्वीकार करते हैं। कर्म को ही एकमात्र कारण मानने वाले 'एकान्त पूर्वकृत कर्मवाद' की चर्चा जैन ग्रन्थों में अवश्य प्राप्त होती है, किन्तु अनेकान्तवादी जैनाचार्यों ने उसकी एकान्त कारणता का निरसन कर अन्य कारणों को भी महत्त्व दिया है। यहाँ पर वैदिक एवं अवैदिक वाङ्मय में प्राप्त कर्म-सिद्धान्त का स्थूल आलोडन करने का प्रयास किया गया है।

प्राचीन वैदिक साहित्य में दैव, यज्ञ-धर्म एवं ऋत आदि की कल्पना से ही कर्म-सिद्धान्त का प्रादुर्भाव हुआ। श्वेताश्वतरोपनिषद्, छान्दोग्योपनिषद्, कठोपनिषद्, बृहदारण्यकोपनिषद्, ब्रह्मविन्दूपनिषद् आदि उपनिषदों में कर्म के सूक्ष्म, गहन एवं सारगर्भित विवेचन के साथ कर्मबंधन, मोक्ष, पुनर्जन्म आदि कर्मविषयक अनेक तत्त्वों की चर्चा है। उपनिषद् का यह वाक्य 'यः फलकर्मकर्ता कृतस्य तस्यैव सा घोषभोक्ता'^१ अर्थात् जो कर्मों का कर्ता है वही भोक्ता है- कर्मवाद को निरूपित करता है। पुराणों में पूर्वकृत कर्मवाद के लिए 'दैव' शब्द का प्रयोग प्राप्त होता है। 'दैव' शब्द के औचित्य को नारदीय महापुराण में सिद्ध करते हुए कहा है- 'दैवं तत्पूर्वजन्मनि संचिता; कर्मवासना;'^२

कर्म-मीमांसा का सामान्य स्वरूप आदिमहाकाव्य में प्रस्तुत हुआ है- 'यादृशं कुरुते कर्म तादृशं फलमश्नुते'^४ जो जैसा कर्म करता है वह वैसा ही फल भोगता है। 'सर्वे कर्मवशा वयम्'^५ हम सब लोग कर्माधीन हैं; महाभारतकार का यह कथन कर्म के एकाधिकार को व्यक्त करता है। वन पर्व में कर्म के स्वरूप को समझाते हुए मुनि मार्कण्डेय कहते हैं कि मनुष्य ईश्वरकृत पूर्व शरीर के द्वारा शुभाशुभ कर्मों को संचित कर दूसरे जन्म में उसका यथासमय फल प्राप्त करता है। इन कर्मों के परिणामों को वह निवारण करने में समर्थ नहीं होता।^६ भगवद्गीता में भी कर्म बंधन से लेकर कर्म-मुक्ति तक की प्रक्रिया का वर्णन है।

संस्कृत साहित्य में 'दैव' और 'भाग्य' शब्द पूर्वकृत कर्म के पर्याय के रूप में प्रयुक्त हुए हैं। शुक्रनीति, स्वप्नवासवदत्त, पंचतन्त्र, हितोपदेश, नीतिशतक ग्रन्थ में कर्मवाद की चर्चा समुपलब्ध है। जिस प्रकार छाया और धूप आपस में सदा सम्बद्ध रहते हैं इसी तरह कर्म और कर्ता एक दूसरे से बंधे रहते हैं।^७ ऐसा मन्तव्य पंचतन्त्र में दृष्टिगत होता है। कर्म की महत्ता का प्रतिपादन नीतिशतक में करते हुए कहा है कि कर्म का प्रभुत्व मनुष्य एवं देवताओं सभी पर चलता है। कर्म ही प्रधान एवं शक्तिशाली है।^८ योगवासिष्ठ में पूर्वकृत कर्म का निरूपण और उसका निरसन भी अंकित है।

भारतीय दर्शनों में कर्म की सर्वत्र मीमांसा की गई है। न्याय, वैशेषिक और वेदान्त दर्शन कर्मों में स्वतः फल देने की क्षमता का अभाव मानकर ईश्वर को फलप्रदाता स्वीकार करते हैं तथा सांख्य, बौद्ध और मीमांसा दर्शन किसी वैयक्तिक ईश्वर का अस्तित्व स्वीकार नहीं करते हैं। जैन दर्शन फल देने की शक्ति कर्म में ही मानता है।

'कर्म सिद्धान्त' को न्याय दर्शन 'अदृष्ट' और मीमांसा दर्शन 'अपूर्व' के रूप में अपने ग्रन्थों में समेटे हुए है। वैशेषिक दर्शन में 'कर्म' एक पदार्थ है, न कि पुरुषकृत पूर्वकर्म का द्योतक है। सांख्यदर्शन में 'कर्म' शब्द तो प्राप्त नहीं होता, किन्तु कर्म के स्वरूप की अभिव्यक्ति अवश्य मिलती है। बौद्ध दर्शन में संस्कार के अभिप्राय में कर्म व्याख्यायित हुआ है। बंधन और कर्म-विपाक के स्वरूप में 'कर्म' वेदान्त और योगदर्शन में स्थापित हुआ है।

कर्मसिद्धान्त रूपी केन्द्र के विस्तार में सम्पूर्ण जैन दर्शन सिमटा हुआ है। यहाँ प्रत्येक आत्मा का पृथक् अस्तित्व और पृथक् कर्म-संयोजन है। इसलिए सभी जीव अपने-अपने कर्मों के कर्ता एवं भोक्ता हैं, अतः कहा है- 'अप्पा कत्ता विकत्ता य, दुहाण य सुहाण य।' इस दर्शन में अष्टविध कर्मों के बंधन एवं उनसे

मुक्त होने की प्रक्रिया का वर्णन है। यह प्रक्रिया जीव के एक जन्म में पूर्ण न होकर कई जन्मों में पूर्ण होती है, अतः पुनर्जन्म की मान्यता भी कर्मसिद्धान्त का एक पक्ष है। पूर्वकृत कर्म का एक सुव्यवस्थित एवं विस्तृत रूप जैन दर्शन में प्रतिपादित हुआ है। यह कर्म-मीमांसा जैनागमों में ही नहीं, दार्शनिक साहित्य में भी सुस्पष्ट हुई है।

कर्म-सिद्धान्त का आचारांग, सूत्रकृतांग, प्रश्नव्याकरण और विपाक सूत्र में संक्षिप्त तथा स्थानांग, समवायांग, भगवती, प्रज्ञापना एवं उत्तराध्ययन में सुव्यवस्थित व बहुविस्तृत विवरण उपलब्ध होता है। आगम के अतिरिक्त कम्मपयडि, पंचसंग्रह, कर्मविपाक, कर्मस्तव आदि महत्त्वपूर्ण कर्म विषयक ग्रन्थ हैं। कर्म-साहित्य में षट्खण्डागम, कसायपाहुडसुत्त, गोम्मटसार-कर्मकाण्ड आदि दिगम्बर ग्रन्थों का भी महनीय स्थान है।

विशेषावश्यक भाष्य में शंका-समाधान के अन्तर्गत कर्म-सिद्धान्त विस्तृत रूप में निरूपित हुआ है। वहाँ गणधरों के संशय को दूर करते हुए भगवान महावीर ने कर्म को अदृष्ट, मूर्त, परिणामी, विचित्र और अनादिकाल से जीव के साथ सम्बद्ध बतलाया है।^१

जैनाचार्यों ने कर्म-सिद्धान्त को शुभाशुभ कर्म के विपाक की व्यवस्था के लिए आवश्यक समझा। ईश्वरवाद, कूटस्थ आत्मवाद, क्षणिकवाद आदि को जैन दार्शनिक स्वीकार नहीं करते, अतः उन्होंने कर्मसिद्धान्त को व्यापक धरातल पर स्थापित करने का प्रयास किया, जिसे इस अध्याय में समास में अग्रांकित बिन्दुओं के अन्तर्गत स्पष्ट किया जाएगा— कर्म का अर्थ एवं स्वरूप, कर्मबंध : चार प्रकार, कर्म की विभिन्न अवस्थाएँ, अष्टविध कर्म और भेद, कर्मबंध के कारण, कर्म-विपाक, अन्य तथ्य, कर्मफल संविभाग, पुनर्जन्म, कर्म-साहित्य आदि।

जैनदर्शन अनेकान्तवादी है, अतः कर्मसिद्धान्त का प्ररूपक दर्शन होने के बावजूद भी एकान्त कर्मवाद का यहाँ खण्डन प्राप्त होता है। सन्मतितर्क और उसकी टीका, द्वादशारनयचक्र तथा शास्त्रवार्ता समुच्चय में एकान्त कर्मवाद को असम्यक् बताया है।

यह कर्मवाद का सिद्धान्त मात्र जीव जगत् पर ही लागू होता है, अजीव पर नहीं। जबकि कालवाद, स्वभाववाद और नियतिवाद अजीव पर भी समान रूप से घटित होते हैं। अतः जीवों में सम्पादित होने वाले कार्यों के प्रति ही कर्म कारण है।

वेदों में कर्म-संदर्भ

वैदिक संहिता ग्रन्थों में 'कर्मवाद', 'कर्मगति' आदि शब्द प्राप्त नहीं होते हैं किन्तु वैदिक संहिताओं में कर्मवाद की धारणा अवश्य प्राप्त होती है। वैदिक संहिताओं

में शुभ-अशुभ कर्मों को व्यक्त करने वाले अनेक शब्दों का प्रयोग हुआ है। 'शुभस्पतिः' (अच्छे कर्मों के रक्षक), 'धियस्पतिः' (अच्छे कर्मों के रक्षक), 'विचर्षणिः', 'विश्वचर्षणिः' (शुभ और अशुभ कर्मों के द्रष्टा), 'विश्वस्य कर्मणो धर्ता' (सभी कर्मों के आधार) आदि पदों का देवता के विशेषण के रूप में प्रयोग मिलता है। इन शब्दों के प्रयोग से शुभाशुभ कर्मों का महत्त्व प्रकट होता है। यज्ञादि कर्मों का वेदों में विशेषतया यजुर्वेद में अनेक प्रकार से विधान है। वेद में उल्लेख मिलता है कि स्वर्ग आदि साधक यज्ञों की समाप्ति होते ही उनका फल नहीं मिलता है, किन्तु मरने के बाद ही यजमान दूसरा शरीर धारण कर पूर्वजन्म में किए गए कर्मों का भोग करता है। कई मंत्रों में यह स्पष्ट कहा गया है कि शुभ कर्मों के करने से अमरत्व की प्राप्ति होती है। जीव अनेक बार इस संसार में अपने कर्मों के अनुसार उत्पन्न होता है और मरण को प्राप्त होता है।^{१०}

अतः स्पष्ट है कि वेद में भी कर्म का फल मान्य है और एक जन्म में जो कर्म किया जाता है उसका फल दूसरे जन्म में अवश्य मिलता है तथा साधारणतया कर्म करने वाले जीव को ही अपने किए हुए उस कर्म के फल का भोग करना पड़ता है।

ऋग्वेद के मंत्रों में पूर्वकृत कर्म का प्रतिपादन प्रत्यक्षतः तो प्राप्तव्य नहीं है, किन्तु उस पर महर्षि दयानन्द सरस्वती का विवेचन समुपलब्ध है, जिसमें कर्मवाद की व्याख्या मिलती है—

न स स्वो दक्षो वरुण धृतिः सा सुरा मन्दुर्विभीदको अचित्तिः।

अस्ति ज्यायाकनीयस उपरे स्वप्नश्च नेदन्तस्य प्रयोता।।^{११}

हे परमात्मन् (वरुण) ! स्व का स्वभाव, धृति यानी मन्द कर्म, क्रोध, ह्यृतादि व्यसन (विभीदकः) तथा अज्ञान (अचित्तिः) ये सभी पापप्रवृत्ति में कारण हैं। जीव के हृदय में अन्तर्यामी पुरुष भी है जो शुभकर्मों को शुभकर्मों की ओर तथा अशुभकर्मों (मन्दकर्मों) को अशुभ कर्मों की ओर प्रवाहित करता है। स्वप्न का किया हुआ कर्म भी अनृत की ओर ले जाने वाला होता है।

दयानन्द सरस्वती इस मन्त्र की व्याख्या में कहते हैं कि स्वभाव, मन्द कर्म, अज्ञान, क्रोध, ईश्वर का नियमन— ये पाँच जीव की सद्गति या दुर्गति में कारण होते हैं। यहाँ यह शंका होती है कि ऐसा करने से ईश्वर में वैषम्य तथा घृणा रूप दोष आते हैं अर्थात् ईश्वर ही अपनी इच्छा से किसी को नीचा और किसी को ऊँचा बनाता है। इसका उत्तर यह है कि ईश्वर पूर्वकृत कर्मों द्वारा फलप्रदाता है और उस फल से स्वयंसिद्ध ऊँच-नीचपन आ जाता है। जैसे किसी पुरुष को यहाँ नीच कर्म करने का

दण्ड मिला, उतने काल में जो वह स्वकर्म करने से वंचित रहा, इससे वह दूसरों से पीछे रह गया। इस भाव से ईश्वर जीव की उन्नति तथा अवनति का हेतु है। अतः वास्तव में तो जीव के स्वकृत कर्म ही उसकी उन्नति तथा अवनति में कारण होते हैं, इसी भाव से जीव को कर्म करने में स्वतन्त्र और भोगने में परतन्त्र माना गया है। कर्मानुसार फल देने से ईश्वर में कोई दोष नहीं आता।

पाप कर्म के संबंध में एक मंत्र इस प्रकार है- 'मा वो भुजेमान्यजातमेनो मा तत्कर्म वसवो यच्छयध्वे'^{१३} अर्थात् हे निवास करने वालों! जो अन्य के द्वारा उत्पन्न पाप कर्म है, वह कर्म तुम मत इकट्ठा करो।

'यस्मिन्वृक्षे मध्वदः सुपर्णा निविशन्ते सुवते चाथि विश्वे'^{१४} वृक्ष रूप इस जगत् में मधुर कर्मफलों को खाने वाले उत्तम कर्मयुक्त जीव स्थिर होते हैं और सन्तानों को उत्पन्न करते हैं। अर्थात् संसार में जीवों ने जैसा कर्म किया वैसा ही अवश्य ईश्वर के न्याय से भोग्य है।

उपर्युक्त प्रकरणों से स्पष्ट होता है कि कर्मवाद वैदिक काल में प्रतिष्ठित था तथा वेदों में अनेक ऐसे सूक्त हैं जिनसे कर्मवाद की अवधारणा का सामान्य परिचय प्राप्त होता है। पुण्य-पाप अथवा शुभ-अशुभ, स्वर्ग-नरक, मुक्ति, परलोक एवं पुनर्जन्म आदि अनेक ऐसे तत्त्व हैं जिनको कर्मसिद्धान्त से अलग रखकर ठीक एवं सही ढंग से परिभाषित नहीं किया जा सकता। यह सत्य है कि इस काल में 'कर्मवाद' का उतना विस्तृत एवं सुव्यवस्थित दार्शनिक चित्रण नहीं हुआ है जितना परवर्ती काल में। फिर भी इन सारगर्भित विवरणों से कर्मवाद के मूल स्वरूप का स्पष्टीकरण तो होता ही है। वेदों में वर्णित मंत्रों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि कर्मसिद्धान्त का प्रारम्भिक सूत्रपात यहीं से प्रारम्भ हुआ।

उपनिषदों में कर्म-चर्चा

प्राचीन भारतीय साहित्य में उपनिषदों का महत्वपूर्ण स्थान है। इनमें किसी भी सिद्धान्त को तार्किक एवं दार्शनिक शैली में अभिव्यक्त करने का हर संभव प्रयास किया गया है। कर्मवाद पर भी दार्शनिक दृष्टि से चिन्तन उपनिषदों में सम्प्राप्त होता है। केनोपनिषद्, प्रश्नोपनिषद्, मुण्डकोपनिषद्, माण्डूक्योपनिषद्, तैत्तिरीयोपनिषद्, ऐतरेयोपनिषद्, छान्दोग्योपनिषद्, बृहदारण्यकोपनिषद् और श्वेताश्वतरोपनिषद् में कर्म से सम्बद्ध कई तथ्य निरूपित हैं।

मुण्डकोपनिषद् में 'विद्वान्पुण्यपापे विधूय निरंजनः परमं साम्यमुपैति'^{१५} वाक्य के अन्तर्गत पुण्य और पाप शब्द शुभ एवं अशुभ कर्मों के द्योतक हैं।

३४४ जैनदर्शन में कारण-कार्य व्यवस्था : एक समन्वयात्मक दृष्टिकोण

बृहदारण्यकोपनिषद् में कहा गया है 'पुण्यो वै पुण्येन कर्मणा भवति पापः पापेनेति'^{४५} पुण्य कर्म से जीव पुण्य वाला और पाप से पाप करने वाला होता है। वहाँ ही कहा है- 'काममय एवायं पुरुष इति स यथाकामो भवति तत्कृतुर्भवति। यत्कृतुर्भवति तत्कर्म कुरुते यत्कर्म कुरुते तदभिसंपद्यते' अर्थात् मनुष्य काममय ही होता है, जैसी उसकी इच्छा होती है वैसा ही उसका विचार बनता है या उसी अनुरूप वह चिन्तन करता है। विचार या चिन्तन के अनुरूप ही वह कर्म करता है, और जैसा कर्म करता है वैसा ही फल प्राप्त करता है। छान्दोग्योपनिषद् में शुभ-अशुभ कर्म की फल प्राप्ति देश-काल के निमित्त से बताई गई है- 'कृतस्य कर्मणाः शुभाशुभस्य फलप्राप्तेर्देशकालनिमित्तापेक्षत्वात्'^{४६} कर्म विषयक अन्य वाक्य भी उपनिषद् वाङ्मय में प्राप्त होते हैं, यथा-

१. 'कर्मणा पितृलोको विद्यया देवलोकः' - बृहदारण्यकोपनिषद् १.५.१६

कर्म से पितृलोक को तथा विद्या से देवलोक को प्राप्त करता है।

२. 'त्रिकर्मकृत्तरति जन्ममृत्यू' - कठोपनिषद् १.१७

तीन कर्मों को करने वाला जन्म एवं मृत्यु को पार कर लेता है।

३. 'ये कर्मणा देवानपि यन्ति' - तैत्तिरीयोपनिषद्, ब्रह्मानन्दवल्ली ८

जो कर्म से देवों को भी प्राप्त करते हैं।

४. 'सोऽस्यायमात्मा पुण्येभ्यः कर्मभ्यः' - ऐतरेयोपनिषद् २.१.४

यह आत्मा पुण्य कर्मों से है।

५. 'तत्त्वज्ञानोदयादूर्ध्वं प्रारब्धं नैव विद्यते।' -

'कर्म जन्मान्तरीयं यत्प्रारब्धमिति कीर्तितम्।' - नादविन्दूपनिषद् २२, २३

तत्त्वज्ञान होने के पश्चात् प्रारब्ध नहीं रहता। जन्मान्तर का कर्म प्रारब्ध कहलाता है।

६. 'वर्णाश्रमाचारयुता विमूढाः कर्मानुसारेण फलं लभन्ते' - मैत्रेयुपनिषद् १.१३

वर्णाश्रम के आचार से विमूढ मनुष्य कर्म के अनुसार फल को प्राप्त करते हैं।

७. 'कर्मकरः कर्षकवत्फलमनुभवति'

'शुभाशुभातिरिक्तः शुभाशुभैरपि कर्मभिर्न लिप्यते।' - परब्रह्मोपनिषद्

कर्म करने वाला व्यक्ति कर्षक के समान फल प्राप्त करता है।

शुभ एवं अशुभ कर्मों से अपने को पृथक् समझने वाला शुभ-अशुभ कर्मों से लिप्त नहीं होता।

८. 'सर्वेषां प्राणिनां प्रारब्धसंचितागामिकर्मसाधर्म्यदर्शनात्कर्माभिप्रेरिताः सन्तो जनाः क्रियाः कुर्वन्तीति' - वज्रसूचिकोपनिषद्

सभी प्राणियों के प्रारब्ध संचित और आगामी कर्म में समानता देखने से ऐसा बोध होता है। कर्म से प्रेरित होकर लोग क्रियाएँ करते हैं।

९. 'कर्मणा बध्यते जन्तुर्विद्यया च विमुच्यते' - संन्यासोपनिषद् २.९८

जीव या प्राणी कर्म से बंध को प्राप्त होता है तथा विद्या से विमुक्त होता है।^{१७}

उपनिषदों में कर्म के सूक्ष्म, गहन एवं सारगर्भित विवेचन के साथ कर्म-बंधन, मोक्ष, पुनर्जन्म आदि कर्म विषयक अनेक तत्त्वों की चर्चा है। उपनिषदों में कर्मबंधन विषयक इस विचार का उल्लेख मिलता है कि शुभकर्मों से शुभ तथा अशुभ कर्मों से अशुभ कर्मों का बंध होता है। उपनिषदों के अनुसार अविद्या बंधन का कारण है और विद्या से मोक्ष प्राप्त होता है। उपनिषदों में जीव के मानसिक व्यापार को ही कर्मबंधन का प्रबल कारण माना गया है- "मन एवं मनुष्याणां कारणं बंधमोक्षयोः"^{१८} गीता में भी अर्जुन ने कृष्ण को कहा- 'चंचलं हि मनः कृष्णः'^{१९}

सभी उपनिषदों से मुख्य रूप से यही शिक्षा मिलती है कि आत्मज्ञान से ब्रह्म का साक्षात्कार करने पर जीव कर्मबंधन से मुक्त होकर परमसुख और शांति प्राप्त कर सकता है। यथा-

१. 'ज्ञात्वा देवं सर्वपाशापहानिः क्षीणैः क्लेशैर्जन्ममृत्युप्रहाणिः'^{२०} अर्थात् प्रकाशमय परमात्मा को जान लेने पर समस्त बंधनों का नाश हो जाता है, क्योंकि क्लेशों का नाश हो जाने के कारण जन्म-मृत्यु का सर्वथा अभाव हो जाता है।

२. 'तस्याभिध्यानाद्भोजनात्तत्त्वभावादभूयश्चान्ते विश्वमायानिवृत्तिः'^{२१} अर्थात् उस ईश्वर का निरन्तर ध्यान करने से और मन की तन्मयता से अन्त में समस्त माया की निवृत्ति हो जाती है।

कठोपनिषद्, बृहदारण्यकोपनिषद् और छान्दोग्योपनिषद् में पुनर्जन्म सिद्धान्त का विस्तृत विवेचन उपलब्ध होता है। कठोपनिषद् में नचिकेता अपने पिता से कहता है- "सस्यमिव मर्त्यः पच्यते सस्यमिवाजायते पुनः"^{२२} मरणधर्मा मनुष्य अनाज

की तरह पकता है अर्थात् जराजीर्ण होकर मर जाता है तथा अनाज की भाँति पुनः उत्पन्न हो जाता है। बृहदारण्यकोपनिषद् में एक दृष्टान्त आता है कि जिस प्रकार जोंक एक तृण के अन्त में पहुँचकर दूसरे तृणरूप आश्रय को पकड़कर अपने को सिकोड़ लेती है; उसी प्रकार यह आत्मा इस शरीर को छोड़कर अविद्या को प्राप्त कर दूसरे आधार का आश्रय ले अपना उपसंहार कर लेती है। जैसे सुनार सुवर्ण का भाग लेकर दूसरे नवीन और कल्याणतर (अधिक सुन्दर) रूप की रचना करता है, उसी प्रकार यह आत्मा इस शरीर को नष्टकर अन्य पित्र्य, गान्धर्व, देव, प्राजापत्य, ब्राह्म अथवा भूतों के नवीन और सुन्दर रूप की रचना करता है।^{३३}

छान्दोग्योपनिषद् में तो जन्म-मरण के इस संसरण को स्पष्ट रूप से हेय कहा है- 'क्षुद्राण्यसकृदावर्तीनि भूतानि भवन्ति जायस्व म्रियस्वेत्येतत्तृतीयं स्थानं तेनासौ लोको न संपूर्यते तस्माज्जुगुप्सेत तदेष श्लोकः'^{३४} अर्थात् शूद्र या पापी बारंबार आने-जाने वाले प्राणी होते हैं। 'उत्पन्न होओ और मरो' यही उनका तृतीय स्थान होता है। इसी कारण यह परलोक नहीं भरता। अतः इस संसार गति से घृणा करनी चाहिए।

श्वेताश्वतरोपनिषद् में कर्म को चेतन से अन्य यानी जड़ माना है। कर्मानुसार जीवात्मा अनुक्रम से शरीर को प्राप्त करता है।^{३५} यह जीवात्मा स्वयं के कर्मों का कर्ता एवं भोक्ता है तथा अपने कर्मों से प्रेरित होकर नाना योनियों में विचरता है।^{३६} कर्म की जड़ता और जीव की चेतनता को समझने के पश्चात् जीव साधक बनकर सत्त्वादि गुणों से व्याप्त कर्मों को आरम्भ करके समस्त भावों को परमात्मा के प्रति समर्पण कर देता है। इस समर्पण से उन कर्मों का अभाव हो जाने पर पूर्वसंचित कर्म समुदाय का भी सर्वथा नाश हो जाता है। कर्मों का नाश हो जाने पर वह साधक परमात्म रूप को प्राप्त हो जाता है।^{३७}

उपर्युक्त विवरणों से ऐसा प्रतीत होता है कि कर्मवाद पर उपनिषदों में वेदों की तुलना में कुछ अधिक गहराई से विचार हुआ है। यह सर्वविदित है कि जागतिक वैषम्य के कारण-संबंधी खोज में ही मुख्य रूप से कर्मवाद की स्थापना हुई। जहाँ पूर्वयुगीन वैदिक ऋषियों ने जगत् वैचित्र्य एवं वैयक्तिक विभिन्नताओं का कारण किन्हीं बाह्य तत्त्वों को मानकर संतोष कर लिया, वहाँ औपनिषदिक ऋषियों ने इन मान्यताओं की समीक्षा के द्वारा आन्तरिक कारण खोजने का प्रयास किया। औपनिषदिक चिन्तन में कारण की यथार्थ व्याख्या तो नहीं हुई फिर भी इतना तो कहा ही जा सकता है कि जागतिक वैविध्य के कारण-संबंधी खोज में लोग प्रयत्नशील हो गए थे। इस प्रकार कर्मवाद के विश्लेषण में औपनिषदिक योगदान को नकारा नहीं जा सकता।

पुराणों में कर्म-प्रतिष्ठा

श्रीविष्णु महापुराण में 'भाग्य' की महत्ता का प्रतिपादन करते हुए कहा है-

'सर्व एव महाभाग महत्त्वं प्रति सोढ्यमाः।

तथापि पुंसां भाग्यानि नोद्यमा भूतिहेतवः॥'^{१८}

हे महाभाग! महत्त्व प्राप्ति के लिए सभी यत्न करते हैं तथापि वैभव का कारण तो मनुष्य का भाग्य ही है, उद्यम नहीं। इसलिए जिसे महान् वैभव की इच्छा हो उसे केवल पुण्यसंचय का ही यत्न करना चाहिए; और जिसे मोक्ष की इच्छा हो उसे भी समत्वलाभ का ही प्रयत्न करना चाहिए।^{१९} इस कथन से 'पूर्वकृत कर्म' को ही भाग्य के रूप में स्वीकारा है, ऐसा ज्ञात होता है।

कर्म और विद्या के दो भेद बताते हुए कहा है-

'तत्कर्म यन्न बन्धाय सा विद्या या विमुक्तये।

आयासायापरं कर्म विद्यान्या शिल्पनैपुणम्॥'^{२०}

कर्म वही है जो बंधन का कारण न हो और विद्या भी वही है जो मुक्ति की साधिका हो। इसके अतिरिक्त अन्य कर्म तो परिश्रम रूप तथा अन्य विद्याएँ कला-कौशलमात्र ही हैं अर्थात् कर्म दो प्रकार के हैं- १. वे कर्म जो बंधन के हेतु नहीं। २. वे कर्म जो बंधन के हेतु हैं।

मार्कण्डेय पुराण में भी दैव की दिव्यता प्रतिपादित हुई है। पूर्वकाल में मुनि सुकृष द्वारा अपने पुत्रों के अविनय किए जाने पर शाप दिया गया कि वे सब तिर्यग्योनि में उत्पन्न हों। अपनी त्रुटि पर पश्चात्ताप करते हुए पुत्रों (शिष्यों) ने उनसे जब क्षमायाचना की और कहा कि आप हमें शाप मुक्त कीजिए। तब ऋषि कहते हैं-

दैवमात्रं परं मन्ये धिक्पौरुषमनर्धकम्।

अकार्यं कारितो येन बलादहमचिन्तितम्॥'^{२१}

नास्त्यसाविह संसारे यो न दिष्टेन बाध्यते।

सर्वेषामेव जन्तूनां दैवाधीनं हि चेष्टितम्॥'^{२२}

अर्थात् वृथा पौरुष को धिक्कार है, मैं विचारता हूँ दैव (नियति) ही इस विषय में बली है, दैव ने ही मुझको इस प्रकार के अचिन्तित अकार्य में प्रवृत्त किया

३४८ जैनदर्शन में कारण-कार्य व्यवस्था : एक समन्वयात्मक दृष्टिकोण

है। इस संसार में ऐसा कोई नहीं है जो प्रारब्ध के वश में होकर न रहता हो, प्राणियों की सब चेष्टाएँ दैवाधीन हैं।

मत्स्यपुराण में दैव को इस प्रकार परिभाषित किया गया है- 'स्वमेव कर्म दैवाख्यां विद्धि देहान्तरार्जितम्'^{३३} अर्थात् दैव नामक कर्म स्वयं के द्वारा किया हुआ ऐसा कर्म है जो दूसरे (पूर्वजन्म) देह के द्वारा अर्जित है।

इस संसार में बहुत सी बातें ऐसी हैं जो भाग्याधीन होती हैं, जिसमें पुरुष का प्रयत्न निरर्थक रहता है। जैसे- संसार में जीव को प्राप्त होने वाला सुख और दुःख। अतः भाग्य को ही प्रबल मानकर न तो दुःख पाने पर संतप्त होना चाहिए और न सुख पाने पर हर्षित।^{३४}

नारदीय महापुराण में 'दैव' शब्द का बहुशः प्रयोग हुआ है। यथा-

दैवात्सोऽपि गतो लोकं यमस्यात्र विहाय माम्।

कान्तारे विजने चैका भ्रमन्ती दुःखपीडिताः॥

दैवात्त्वत्सविधं प्राप्ता जीविताहं त्वयाधुना।

इत्येवं स्वकृतं कर्म मह्यं सर्वं न्यवेदयत्॥^{३५}

दैव अर्थात् भाग्य से वह भी यमलोक चला गया और दैव से ही निर्जन वन में दुःख से पीड़ित घूमती हुई मैं तुम्हारे पास पहुँच गई। तुम्हारे द्वारा मुझे जीवन दान दिया गया है, इसीसे मुझे स्वकृत कर्म ने सब कुछ निवेदन कर दिया है। अर्थात् अपने द्वारा किए गए पूर्वकृत कर्मों के कारण ही जीव को विभिन्न अवस्थाएँ भोगनी होती हैं।

उपर्युक्त श्लोकों से स्पष्ट है कि जीवन में विभिन्न घटनाएँ दैव से घटित होती हैं। दैव का लक्षण करते हुए कहा है- 'दैवं तत्पूर्वजन्मनि संचिताः कर्मवासनाः'^{३६} अर्थात् पूर्व जन्मों में संचित कर्मवासनाएँ ही दैव हैं।

आदिकाव्य रामायण में कर्म-चर्चा

कर्मवाद का गहन विश्लेषण महाकाव्यों का प्रतिपाद्य विषय नहीं है, फिर भी प्रसंगानुसार इसकी चर्चा इनमें विभिन्न स्थलों पर दृष्टिगत होती है जिनसे इस काल में कर्मवाद की स्थापना एवं उसके विविध पक्षों के सामान्य स्वरूप और उनके विकास का अनुमान लगाया जा सकता है।

आदि महाकाव्य रामायण में कर्मवाद का सामान्य स्वरूप निम्न शब्दों में प्रस्तुत हुआ है-

‘यादृशं कुरुते कर्म तादृशं फलमश्नुते’^{४९}

‘यदाचरति कल्याणि शुभं वा यदि वाशुभम्।

तदेव लभते भद्रे कर्ता कर्मजमात्मनः॥’^{५०}

अर्थात् जो जैसा कर्म करता है वह वैसा ही फल भोगता है। यदि मनुष्य शुभ कर्म करता है तो सुख को और अशुभ कर्म करता है तो दुःख को प्राप्त करता है। अतः कहा जा सकता है कि जीव स्वयं के कर्मों का कर्ता और भोक्ता है।

राजधन और सुख-प्राप्ति रूपी कार्य धर्माचरण रूपी कारण से प्राप्त होता है और दुःख भोग रूपी कार्य अधर्म या पापसेवन से होता है। इसलिए जो सुख चाहता है उसे धर्माचरण करना चाहिए तथा पाप का सर्वथा त्याग कर देना चाहिए। अतः कहा है-

धर्माद् राज्ञं धनं सौख्यमधर्माद् दुःखमेव च।

तस्माद् धर्मं सुखार्थाय कुर्यात् पापं विसर्जयेत्॥’^{५१}

उपर्युक्त श्लोक से कर्म और कर्मफल के मध्य कारण-कार्य संबंध स्पष्ट होता है। अतः जो व्यक्ति क्रियमाण कर्म के फल का विचार न करके केवल कर्म की ओर ही दौड़ता है; वह फल मिलने के समय उसी तरह शोक करता है जिस तरह कोई आम-वृक्ष काटकर पलाश को सींचने वाला शोक करता है।^{५२}

रामायण में पुनर्जन्म पर अटूट आस्था व्यक्त हुई है। अयोध्याकाण्ड में सीता राम से कहती है कि आपके साथ वन अनुगमन से परलोक में भी मेरा कल्याण होगा और जन्म-जन्मान्तर तक आपके साथ मेरा संयोग बना रहेगा। क्योंकि इस लोक में पिता आदि के द्वारा जो कन्या जिस पुरुष को अपने धर्म के अनुसार जल से संकल्प करके दे दी जाती है, वह मरने के बाद परलोक में भी उसी की स्त्री होती है।^{५३} यह विवरण कर्म-पुनर्जन्म में अटूट विश्वास का ज्वलन्त प्रमाण माना जा सकता है।

पूर्वजन्म के कर्मों का भावी प्रभाव राम-वनगमन के प्रसंग पर दृग्गोचर होता है-

‘मन्ये खलु मया पूर्वं विवत्सा बहवः कृताः।

प्राणिनो हिंसिता वापि तन्मामिदमुपस्थितम्॥’^{५४}

रामवनगमन के समय राजा दशरथ विलाप करते हुए कहते हैं कि लगता है मैंने पूर्वजन्म में अवश्य ही बहुत सी गायों का उनके बछड़ों से वियोग कराया है

अथवा अनेक प्राणियों की हिंसा की है इसी कारण आज इस जन्म में मेरे साथ यह पुत्र विछोह रूप संकट आया है। महाराज दशरथ के ये भाव स्पष्ट करते हैं कि पूर्वजन्म में जिस प्रकार का कर्म बांधा जाता है, उसे उस रूप में ही भोगा जाता है।

कैकयी के हृदयविदारक वचनों को सुनने के बाद उन बातों के श्रवण करने का कारण खोजते हुए कहते हैं- 'दुःखमेवंविधं प्राप्तं पुराकृतमिवाशुभम्'^{५३} यह दुःख मुझे पूर्वकृत अशुभ कर्मों के कारण ही मिल रहा है। भारद्वाज ऋषि द्वारा उचित आतिथ्य ग्रहण करने को भी राम अपने द्वारा पूर्वजन्म में किए गए महान् पुण्य कर्मों का फल मानते हैं।^{५४} मरणासन्न बाली भी सुग्रीव के प्रति अपने द्वारा किए गए वैर को पूर्वजन्मों में किये गए पाप कर्मों का फल मानता है।^{५५}

रामायणकाल में यह धारणा विकसित हो गयी थी कि पूर्वजन्म के कर्मों के आधार पर ही व्यक्ति के वर्तमान एवं भावी जीवन की दिशा निर्धारित होती है। अपने पूर्वजन्म के किये गए कर्मों के अनुरूप मनुष्य वर्तमान एवं भविष्य के फल प्राप्त करता है।

महाभारत में कर्म-विचार

महाभारत में भी कर्म और कर्मफल का विस्तृत विवेचन उपलब्ध होता है। महाभारत में धर्मानुकूल आचरण को 'पुण्य' और उससे प्रतिकूल आचरण को 'पाप' की संज्ञा दी गई है। पुण्य कर्म करने से मनुष्य की उन्नति होती है तथा पाप कर्म करने से अधोगति होती है। प्रत्येक प्राणी अपने किए हुए कर्मों का ही फल पाता है। जीव के वर्तमान जीवन के कर्मों से ही उसके भविष्य का जीवन निर्धारित होता है। इस प्रकार प्राणी अपने लिए अनुकूल अथवा प्रतिकूल परिस्थिति उत्पन्न करने में स्वयं उत्तरदायी है।

शान्ति पर्व में कर्म और भोग के नियमानुसार आत्मा को अनन्त भवचक्र में एक शरीर से दूसरे शरीर में घूमने वाला कहा गया है। वहाँ उल्लेख है कि सूत का एक धागा जिस प्रकार भिन्न-भिन्न मनकों में जाता है, उसी प्रकार अपने कर्मों के वशीभूत होकर आत्मा मनुष्य, पशु, पक्षी आदि योनियों में भ्रमण करता रहता है।^{५६} इन नाना योनियों में यह मनुष्य जिस-जिस शरीर से जो-जो कर्म करता है; उस-उस शरीर से उसी-उसी कर्म का फल भोगता है।^{५७} इसीलिए उसे पूर्वकृत कर्मों के अनुरूप शुभाशुभ फल प्राप्त होते हैं क्योंकि शुभ और अशुभ फल कर्मजन्य हैं।^{५८}

मनुष्य की मृत्यु भी स्वकृत कर्मों के फलस्वरूप होती है। कोई दूसरा इसके विनाश का कारण नहीं है- इस प्रकार शोकाकुल युधिष्ठिर को सान्त्वना देते हुए

मीष्म ने गौतमी, ब्राह्मणी, व्याध, सर्प, मृत्यु और काल का संवाद रूप ऐतिहासिक उदाहरण दिया, जिसके अन्तर्गत कहा गया-

यदनेन कृतं कर्म तेनायं निधनं गतः।

विनाशहेतुः कर्मास्य सर्वे कर्मवशा वयम्।^{१०}

अर्थात् जीव अपने कर्म से ही मरता है। कर्म ही उसके विनाश का कारण है। हम सब लोग कर्माधीन हैं।

महाभारत में युधिष्ठिर मार्कण्डेय मुनि से प्रश्न करते हैं^{११} -

१. शुभ और अशुभ कर्म करने वाला जो पुरुष है, वह अपने उन कर्मों का फल कैसे भोगता है?
२. सुख और दुःख की प्राप्ति कराने वाले कर्मों में मनुष्यों की प्रवृत्ति कैसे होती है?
३. मनुष्य का किया कर्म इस लोक में ही उसका अनुसरण करता है अथवा पारलौकिक शरीर में भी?
४. देहधारी जीव अपने शरीर का त्याग करके जब परलोक में चला जाता है, तब उसे शुभ और अशुभ कर्म उसको कैसे प्राप्त करते हैं?
५. इहलोक व परलोक में जीव का उन कर्मों के फल से किस प्रकार संयोग होता है?

समाधान-

कर्म के स्वरूप को समझाते हुए मुनि मार्कण्डेय समाधान देते हैं-
'जन्तोः प्रेतस्य कौन्तेय गतिः स्वैरिह कर्मभिः'^{१२} अर्थात् संसार में मृत्यु के पश्चात् जीव की गति उनके अपने-अपने कर्मों के अनुसार ही होती है।

मनुष्य ईश्वर के रचे हुए पूर्व शरीर के द्वारा शुभ और अशुभ कर्मों की बहुत बड़ी राशि संचित कर लेता है। फिर आयु पूरी होने पर वह इस जरा-जर्जर स्थूल शरीर का त्याग करके उसी क्षण किसी दूसरी योनि (शरीर) में प्रकट होता है। एक शरीर को छोड़ने और दूसरे को ग्रहण करने के बीच में क्षणभर के लिए भी वह असंसारी नहीं होता। दूसरे स्थूल शरीर में पूर्वजन्म का किया हुआ कर्म छाया की भाँति सदा उसके पीछे लगा रहता है और यथासमय अपना फल देता है।^{१३}

संसार में कर्म ही मनुष्यों का पुत्र-पौत्र के समान अनुगमन करने वाला है। कर्म ही दुःख-सुख के संबंध का सूचक है। इस जगत् में कर्म ही परस्पर एक दूसरे को प्रेरित करते हैं। हम भी कर्मों से ही प्रेरित हुए हैं। जैसे कुम्हार मिट्टी के लौंदे से जो-जो बर्तन चाहता है, वही बना लेता है; उसी प्रकार मनुष्य अपने किये हुए कर्म के अनुसार ही सब कुछ पाता है। नित्य-निरन्तर एक-दूसरे से मिले हुए धूप और छाया के समान कर्म और कर्त्ता दोनों एक-दूसरे से संबद्ध होते हैं।^{१३}

कर्मफल के संबंध में महाभारत में कहा गया है कि पूर्वजन्मों के शुभकार्यों के फलस्वरूप मनुष्य को देवलोक मिलता है। शुभ एवं अशुभ कर्मों के मिश्रण से मनुष्य जन्म और केवल अशुभ कर्मों के उदय से अधोगति की प्राप्ति होती है, जिनमें विविध प्रकार के दुःखों को सहना पड़ता है।^{१४}

महाभारत में कर्मफल की चर्चा में पूर्वजन्म एवं पुनर्जन्म की मान्यता को भी पूर्णरूपेण स्वीकार किया गया है तथा कहा गया है कि पूर्वजन्म एवं पुनर्जन्म कर्म सिद्धान्त की दो ऐसी मान्यताएँ हैं जिनको स्वीकार किए बिना कर्मफल की यथोचित व्याख्या असंभव है। यही कारण है कि महाभारत में अदृष्टवाद एवं जन्मान्तरवाद के संबंध में कोई संशय दृष्टिगत नहीं होता। आशावतरण अध्याय में कौरवों एवं पाण्डवों के पूर्वजन्म का सम्पूर्ण वृत्तान्त दिया गया है।^{१५}

मोक्ष भी कर्मवाद का अभीष्ट अंग है। महाभारत में इस पर भी गहराई से विचार किया गया है। मोक्ष का अर्थ महाभारतकार के अनुसार अनिर्वचनीय आनन्द की स्थिति है। आत्मा का परमात्मा से तादात्म्य होना ही परम सुख है।

महाभारत के शान्तिपर्व में भिन्न-भिन्न प्रकरणों में मोक्ष की प्राप्ति के लिए भिन्न-भिन्न मार्गों का निर्देश किया गया है। राजधर्म प्रकरण में राजा के द्वारा काम, क्रोध आदि से रहित होकर उचित रूप में प्रजा का पालन, दान तथा निग्रह आदि अपने कर्त्तव्यों को पूर्ण करने पर मोक्ष पद प्राप्त करने की चर्चा की गयी है।^{१६} मोक्षधर्म प्रकरण में काम, क्रोध आदि दोषों का त्याग, इन्द्रिय, संयम तथा निष्काम योग आदि का आचरण मोक्ष प्राप्ति के लिए आवश्यक मार्ग कहा गया है।^{१७}

भगवद्गीता में कर्म की अवधारणा

गीता हिन्दू परम्परा का एक बहुमान्य एवं बहुचर्चित ग्रन्थ है। इसमें लगभग सभी महत्त्वपूर्ण सिद्धान्तों को दृष्टिगत किया गया है। इसकी कर्मसिद्धान्त की व्याख्या विभिन्न दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण है। यद्यपि इसमें कर्मसिद्धान्त की किन्हीं नवीन मान्यताओं की स्थापना नहीं है, प्रत्युत इसमें कर्मसंबंधी मान्यताओं को सहज ढंग से विवेचित एवं विश्लेषित करने का भरपूर प्रयत्न किया गया है।

गीता में कर्म का अभिप्राय ऐसे कार्यों से है जिनका शुभाशुभ फल मनुष्यों को जन्म-जन्मान्तर में भोगना पड़ता है। वर्णाश्रम के अनुसार किये जाने वाले स्मार्त कार्यों को भी गीता में कर्म कहा गया है। तिलक के अनुसार गीता में कर्म शब्द केवल यज्ञ, याग एवं स्मार्त कर्म के ही संकुचित अर्थ में प्रयुक्त नहीं हुआ है।^{५८} मनुष्य जो कुछ भी करता है या जो कुछ भी नहीं करने का मानसिक संकल्प या आग्रह रखता है, वे सभी कायिक या मानसिक प्रवृत्तियाँ भगवद् गीता के अनुसार कर्म ही हैं।^{५९} इस प्रकार पूर्ववर्ती साहित्य की तुलना में गीता में कर्म शब्द का प्रयोग व्यापक अर्थ में हुआ है।

‘कर्म’ शब्द का बहुशः प्रयोग इस ग्रन्थ में प्राप्त होता है। रामानुज भाष्य में कर्म को ‘कर्मयोगादिकम्’^{६०} शब्दों से परिभाषित किया गया है। ‘कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन’^{६१} श्लोकांश में कर्म को कर्तव्य के अर्थ में कहा गया है। अन्यत्र भी यह अर्थ संपादित हो रहा है।^{६२} ‘किं कर्म किमकर्मेति’^{६३} से कर्म और अकर्म पर भी विचार किया गया है।

गीता में यह स्पष्ट संकेत है कि एक क्षण भी कर्म किये बिना नहीं रहा जा सकता। हम कर्म करने के लिए बाध्य हैं। श्वास लेना इत्यादि भी, जो हमारे शरीर को बनाये रखने के लिए अनिवार्य है, क्रिया ही है। अतः कर्म हमारे लिए स्वाभाविक है एवं उससे वंचित रह पाना असंभव है। इस प्रकार कर्मबंधन की प्रक्रिया भी अबाध गति से गतिशील है, किन्तु वे कर्म ही मानव के लिए बंधनकारी होते हैं जिनका संबंध अज्ञान से है। अज्ञान से अभिप्राय यहाँ कर्म करते समय कर्तृत्व भाव का विद्यमान रहना है। गीताकार अज्ञान को आसुरी सम्पदा में परिगणित करते हैं तथा आसुरी सम्पदा को बंधनकारी बताते हुए कहते हैं- “निबन्धायासुरी मता”^{६४} अज्ञान के अतिरिक्त दम्भ, दर्प, अभिमान, क्रोध, पारुष्य (कठोर वाणी) को आसुरी सम्पदा में समाविष्ट किया गया है।^{६५} श्री कृष्ण कहते हैं कि दम्भ, मान एवं मद समन्वित दुष्टतापूर्ण आसक्ति (कामनाएँ) से युक्त तथा मोह (अज्ञान) से मिथ्यादृष्टि को ग्रहण कर मनुष्य असदाचरण से युक्त होकर संसार में परिभ्रमण करते हैं।^{६६}

आसक्त और अनासक्त भाव से किए गए कर्म का फल गीता में स्पष्ट रूप से बताया गया है। फलेच्छा में आसक्ति रखने वाला पुरुष सदा कर्मों से बंधता है अर्थात् जन्ममरणशील होकर संसार में भ्रमण करता रहता है। अनासक्त भाव से संयुक्त पुरुष नैष्ठिकी शांति को प्राप्त करता है। जैसा कि कहा है-

युक्तः कर्मफलं त्यक्त्वा, शान्तिमाप्नोति नैष्ठिकीम्।

अयुक्तः कामकारेण फले सक्तो निबध्यते।^{६७}

गीता कर्मफल संविभाग में विश्वास करती है। इसकी मान्यता है कि श्राद्ध, तर्पण आदि क्रियाओं के अभाव में तथा कुलधर्म के विनष्ट होने से पितरों का पतन हो जाता है। संतानादि द्वारा किये गये शुभाशुभ कृत्यों का प्रभाव उसके पितरों पर पड़ता है। इस प्रकार गीता पुण्य एवं अपुण्य कर्मों के फल संविभाग को स्वीकार करते हुए यह कहती है कि इनका फल अनिवार्य रूप से इनके कर्ता को ही प्राप्त नहीं होता, बल्कि उसके परिवार वालों को भी भोगना पड़ सकता है।^{६८}

गीता में मनुष्य के स्वतन्त्र रूप से कर्म करने के अधिकार को तो स्वीकार किया गया है, किन्तु फल को ईश्वराधीन माना गया है।^{६९} व्यक्ति के कर्म करने के अधिकार की स्वतन्त्रता एकान्त रूप से स्वच्छन्दता नहीं है, बल्कि उसमें समत्व बुद्धि भी जुड़ी होनी आवश्यक है। इसलिए स्वतंत्र रूप से कर्म करने के अधिकार की व्याख्या में गीता समत्व बुद्धि से कर्म करने पर विशेष जोर देती है और कर्मों के अनुसार ही कर्मफल को स्वीकार करती है।^{७०}

गीता में अनेक स्थलों पर पुनर्जन्म का स्पष्ट वर्णन मिलता है। यद्यपि गीता के प्रारम्भ में आत्मा को जन्म-मरण से परे अजर-अमर एवं नित्य बताया गया है, फिर भी पुनर्जन्म एवं देहान्तर प्राप्ति को एक अतिसाधारण घटना के रूप में चित्रित किया गया है। गीता के दूसरे अध्याय में यह वर्णन आया है कि जिस प्रकार जीवात्मा की इस देह में कुमार, युवा और वृद्धा अवस्था होती रहती है, वैसे ही अन्य शरीर की प्राप्ति या देहान्तर प्राप्ति भी है। तत्त्ववेत्ता धीर पुरुष इस विषय में चिन्ता नहीं करते।^{७१} पुनर्जन्म को एक रूपक से समझाते हुए गीताकार कहते हैं—

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय, नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि।

तथा शरीराणि विहाय जीर्णान्धन्यानि संयाति नवानि देही।।^{७२}

अर्थात् जीवात्मा द्वारा एक शरीर छोड़कर दूसरे को ग्रहण करना ठीक वैसे है जैसे मनुष्य पुराने वस्त्रों को त्यागकर नये वस्त्रों को ग्रहण करता है।

मोक्ष को गीता में निर्वाणपद, अव्ययपद, परमपद, परमगति और परमधाम आदि नामों की संज्ञा दी गई है। मोक्ष का स्वरूप बताते हुए कहते हैं कि जिसे प्राप्त कर लेने पर पुनः संसार में आना नहीं होता है वही परमधाम है। परमसिद्धि को प्राप्त हुए महात्माजन मेरे (कृष्ण) को प्राप्त हो कर दुःखों के घर इस अस्थिर पुनर्जन्म को प्राप्त नहीं होते हैं। ब्रह्मलोकपर्यन्त समग्र जगत् पुनरावृत्तियुक्त है, लेकिन जो भी मुझे (कृष्ण या ईश्वर को) प्राप्त कर लेता है, उसका पुनः जन्म नहीं होता।^{७३}

गीता की दृष्टि में मोक्ष निर्वाण है, परमशान्ति का अधिष्ठान है।^{१३} गीता यह भी स्वीकार करती है कि मोक्ष सुखावस्था है। मुक्तात्मा ब्रह्मभूत होकर अत्यन्त सुख का अनुभव करता है।^{१४}

संस्कृत-साहित्य में पूर्वकृत कर्म का स्वरूप

संस्कृत साहित्य की विभिन्न कृतियों में कर्म एवं पुरुषार्थ की चर्चा है। वहाँ पूर्वकृत कर्म को 'दैव' या 'भाग्य' कहा गया है। यहाँ पर कतिपय कृतियों से पूर्वकृत कर्म अथवा भाग्य से सम्बद्ध वाक्य निदर्शन के रूप में प्रस्तुत हैं-

शुक्रनीति में दैव

शुक्रनीति में पूर्वकृत कर्म को दैव या भाग्य कहा गया है-

दैवे पुरुषकारे च खलु सर्वं प्रतिष्ठितम्।

पूर्वजन्मकृतं कर्मैहार्जितं तद् द्विधाकृतम्।।^{१५}

अर्थात् भाग्य व पुरुषार्थ पर ही सम्पूर्ण जगत् प्रतिष्ठित है। इनमें एक कर्म के ही दो भेद किए गए हैं- पूर्वजन्म में किया हुआ कर्म 'भाग्य' है और इस जन्म में किया हुआ कर्म 'पुरुषार्थ' है।

स्वप्नवासवदत्त में भाग्य

स्वप्नवासवदत्त नाटक में भाग्य का प्रतिपादन हुआ है। वहाँ अपमान से व्यथित वासवदत्ता को समझाते हुए यौगन्धरायण कहते हैं- 'कालक्रमेण जगतः परिवर्तमाना चक्रारपंक्तिरिव गच्छति भाग्यपंक्तिः'^{१६} भाग्यवश समय के फेर से बदलने वाली दशाएँ रथ के पहियों के अरों की भाँति ऊपर-नीचे होती रहती हैं। महान् कवि भास की इस अत्यन्त गौरवमयी सूक्ति की छाया मेघदूत में भी दृष्टिगोचर होती है- 'नीचैर्गच्छत्युपरि च दशा चक्रनेमिक्रमेण।'^{१७} महान् कवियों की इस प्रकार की उक्तियाँ दैवदलित मानवों को बहुत ही संतोष एवं शांति प्रदान करती हैं।

पंचतन्त्र में कर्म

पंचतन्त्र में कर्म और कर्ता को छाया और धूप के सदृश बताया गया है-

यथा छायातपो नित्यं सुसंबद्धौ परस्परम्।

एवं कर्म च कर्ता च संश्लिष्टावितरेतरम्।।^{१८}

जिस प्रकार छाया और धूप आपस में सदा सम्बद्ध रहते हैं इसी तरह कर्म और कर्ता एक-दूसरे से बंधे रहते हैं। ये पूर्वकृत कर्म सोते हुए मनुष्य के साथ सोते हैं और चलते हुए के साथ चलते हैं। ये हमेशा आत्मा के साथ रहते हैं।^{५०} जिस प्रकार बछड़ा हजारों गायों में भी अपनी माता को पहचान लेता है, उसी प्रकार पूर्वजन्म में किया हुआ कर्म कर्ता के पीछे-पीछे जाता है।^{५१} ये पूर्वकृत कर्म ही भाग्य बनता है; जो गर्भ में स्थित प्राणी के आयु, काम, धन, विद्या और मृत्यु निश्चित करता है।^{५२} मनुष्य ने जिस स्थान, जिस समय और जैसी आयु में शुभाशुभ कर्म पूर्वजन्म में किए हैं उन्हीं के अनुरूप वे कर्म उसे भाग्याधीन होकर भोगने पड़ते हैं।^{५३}

दैव के प्रतिकूल होने पर महापुरुष भी विवेकहीन होकर कुमार्ग में प्रवृत्त हो जाते हैं।^{५४} तथा पूर्व संचित धन भी नष्ट हो जाते हैं।^{५५} इसके विपरीत दैव अनुकूल होने पर बिना परिश्रम के भी विधि की प्रेरणा से फल मिल जाता है-

अकृतेऽप्युद्यमे पुंसामन्यजन्मकृतं फलम्।

शुभाशुभं समभ्योति विधिना संनियोजितम्।^{५६}

हितोपदेश में पूर्वजन्मकृत कर्म

हितोपदेश में 'पूर्वजन्मकृतं कर्म तद् दैवमिति कथ्यते'^{५७} श्लोकांश द्वारा पूर्वजन्म में कृत कर्म को दैव कहा है। दैव के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए कहा है-

यस्माच्च येन च यथा च यदा च यच्च, यावच्च यत्र च शुभाऽशुभमात्मकम्।

तस्माच्च तेन च तथा च तदा च तच्च, तावच्च तत्र च विधातुवशादुपैति।^{५८}

जिस कारण से, जिस कारण से, जिस प्रकार से, जिस काल में, जैसा, जितना छोटा-बड़ा, जहाँ-जहाँ जो-जो शुभ या अशुभ कर्म-फल भोगना लिखा होता है, भाग्यवश उस कारण से, उस कारण से, उसी प्रकार से, उसी समय में वैसा ही छोटा या बड़ा उसी स्थल में वह शुभाऽशुभ कर्म, फलस्वरूप में परिणत होकर उपस्थित हो जाता है।

'सम्पत्तेश्च विपत्तेश्च दैवमेव हि कारणम्'^{५९} सम्पत्ति और विपत्ति दोनों का कारण दैव ही है। ऐसा जानकर भी नीतिज्ञ सफलता हेतु इधर-उधर कितना ही प्रयत्न करे तथापि उसे फल उतना ही प्राप्त होगा जो भाग्य में लिखा है।^{६०} क्योंकि कभी-कभी भली-भाँति सोच कर किए गए कार्य भी भाग्यदोष से नष्ट हो जाते हैं।^{६१}

नीतिशतक में भाग्य एवं कर्म

नीतिशतक में भी पूर्वकृत कर्म का प्रतिपादन विभिन्न श्लोकों में हुआ है। पूर्वकृत कर्मों का संचय ही भाग्य है और यह भाग्य ही होनी-अनहोनी में कारण होता है। पूर्वकृत पुण्य शुभफलों के जनक होते हैं, इसलिए कर्म की महिमा को नीतिकार ने सुन्दर शब्दों में प्रस्तुत किया है-

‘भाग्यानि पूर्व-तपसा खलु संचितानि काले फलान्ति पुरुषस्य यथैव वृक्षाः।’^{११}

अर्थात् पूर्व जन्म में किए गए तप द्वारा संचित भाग्य ही निश्चित रूप से उचित समय पर फल देता है, जैसे-वृक्ष। जिस प्रकार वृक्ष समय आने पर स्वतः फल प्रदान करते हैं उसी प्रकार परोपकारादि शुभ कर्मों के फलस्वरूप निर्मित ‘संचित भाग्य’ भी समय आने पर मानव को शुभ फल देते हैं। इन फलों का कथन निम्नांकित श्लोकों में हुआ है-

वने रणे शत्रुजलाग्निमध्ये, महार्णवे पर्वतमस्तके वा।

सुप्तं प्रमत्तं विषमस्थितं वा, रक्षन्ति पुण्यानि पुराकृतानि॥

भीमं वनं भवति तस्य पुरं प्रधानं, सर्वो जनः स्वजनतामुपयाति तस्य।

कृत्स्ना च भूर्भवति सन्निधिरत्नपूर्णा, यस्यास्ति पूर्वसुकृतं विपुलं नरस्य॥^{१२}

मनुष्यों द्वारा किये गये पूर्व जन्म के पुण्य ही सर्वत्र रक्षा करते हैं। वन में, युद्ध में, शत्रु, जल और अग्नि के बीच में, महासागर में अथवा पर्वत की चोटी पर सोये हुए को, असावधान को अथवा संकट में पड़े हुए को पुण्य ही बचाते हैं।

जिस मनुष्य का पूर्वजन्म का अत्यधिक पुण्य है, उसके लिए भयानक वन ही प्रधान नगर हो जाता है। सभी लोग उसके आत्मीय बन जाते हैं और यह सम्पूर्ण पृथिवी उत्तम निधियों व रत्नों से परिपूर्ण हो जाती है। अतः पुण्यशाली मनुष्य के लिए किसी भी वस्तु का अभाव नहीं रहता। उसे सर्वत्र अनुकूलता प्राप्त होती है। जहाँ कहीं विषम परिस्थितियाँ भी बनती हैं वहाँ भी शुभ कर्म उसकी सहायता करते हैं।

कवि कर्म की महत्ता को प्रतिपादित करते हुए कहता है-

नमस्यामो देवान्नु हतविधेस्तेऽपि वशगा,

विधिर्वन्धाः सोऽपि प्रतिनियतकर्मैकफलदः।

फलं कर्माद्यन्तं यदि किममरैः किञ्च विधिना,

नमस्तत्कर्मभ्यो विधिरपि न दोष्यः प्रभवति॥^{१३}

हम देवताओं को नमस्कार करते हैं, परन्तु वे भी विधाता के अधीन हैं। विधाता वन्दनीय है, वह भी केवल निश्चित कर्म का ही फल देने वाला है। यदि फल कर्मों के अधीन है तो देवताओं से क्या और विधाता से क्या प्रयोजन, उन कर्मों को ही नमस्कार है जिनके लिए विधाता ही समर्थ नहीं हो पाता।

कर्म का प्रभुत्व मनुष्य एवं देवताओं सभी पर चलता है। कर्म ही प्रधान एवं शक्तिशाली है। इसी तथ्य को कवि प्रकट करता हुआ कहता है कि कर्म की अप्रतिम शक्ति के कारण ही ब्रह्मा को ब्रह्माण्ड रूपी वर्तन में बंद होकर उसी प्रकार सृष्टि का निर्माण करते रहना पड़ता है, जिस प्रकार कोई कुम्हार घट निर्माण के कार्य में लगा रहता है। कर्म के प्रभाव के कारण ही भगवान् विष्णु को दस अवतार धारण करने रूपी अनेक कष्टों को सहन करना पड़ता है।

बलवान कर्म का ही प्रभाव है कि उसने संसार का विनाश करने वाले भगवान् शिव को भी हाथ में कपाल लेकर भिक्षा के लिए भ्रमण कराया। इस प्रकार कर्म ने शिव को 'कपाली' बनने को विवश कर दिया। इतना ही नहीं-संसार को आलोकित करने वाले भगवान् भास्कर भी कर्म के प्रभाव के कारण ही निरन्तर आकाश मण्डल में भ्रमण करते रहते हैं। अतः कर्म ही सर्वोपरि एवं सर्वातिशायी है। इस महाबली कर्म के प्रभाव से ब्रह्मा, विष्णु, शिव और सूर्य भी नहीं बच सके तो साधारण मानव की क्या शक्ति है। अतः कर्म प्रणम्य है।^{१४}

योगवासिष्ठ में दैव और पुरुषार्थ

योगवासिष्ठ में दैव की चर्चा विस्तार से हुई है। 'पूर्वकृत कर्म ही दैव है' इस संबंध में निम्नांकित श्लोक प्रकाश डालते हैं-

पुरुषार्थं फलप्राप्तिर्दैवकालवशादिह।

प्राप्ता चिरेण शीघ्रं वा याऽसौ दैवमिति स्मृता।।^{१५}

सिद्धस्य पौरुषेणेह फलस्य फलशालिना।

शुभाशुभार्थं सम्यग्निर्दैवशब्देन कथ्यते।।^{१६}

भावी त्ववश्यमेवार्थः पुरुषार्थैकसाधनः।

यः सोऽस्मिंल्लोकसंधाते दैवशब्देन कथ्यते।।^{१७}

यदेव तीव्रसंवेगाद् दृढं कर्म कृतं पुरा।

तदेव दैवशब्देन पर्यायेणेह कथ्यते।।^{१८}

प्राक्कर्मैतराकारं दैवं नाम न विद्यते।^{११}

प्राक्तनं पौरुषं तद्वै दैवशब्देन कथ्यते।।^{१२}

यथा यथा प्रयत्नः स्याद्भवेदाशु फलं तथा।

इति पौरुषमेवास्ति दैवमस्तु तदेव च।।^{१३}

अर्थात् देश और काल के अनुसार विलम्ब से अथवा शीघ्र ही कृत पुरुषार्थ के फल की प्राप्ति का नाम 'दैव' है। फल देने वाले पुरुषार्थ द्वारा शुभाशुभ अर्थ-प्राप्ति रूप फल-सिद्धि का नाम ही दैव है। जो पुरुषार्थ द्वारा अवश्य ही प्राप्त होने वाली वस्तु है वह इस संसार में दैव कहलाती है। जो कर्म दृढता से और तीव्र प्रयत्न से पूर्वकाल में किया जा चुका है, वही इस समय 'दैव' नाम से पुकारा जाता है। पूर्वकृत कर्म के अतिरिक्त दैव और कोई वस्तु नहीं है; पूर्वकृत पुरुषार्थ का ही नाम दैव है। जैसा-जैसा प्रयत्न किया जाता है, वैसा-वैसा ही वह फल देता है। इसलिए पुरुषार्थ ही सत्य है, उसी को दैव कहा जा सकता है।

योगवासिष्ठ में जहाँ एक ओर पूर्वकृत कर्म का निरूपण है, वहीं अन्यत्र उसका निरसन भी समुपलब्ध है-

दैवमेवेह चेत्कर्तुं पुंसः किमिव चेष्टया।

स्नानदानासनोच्चारान्दैवमेव करिष्यति।।^{१४}

यदि दैव से ही सब कुछ होता है तो पुरुष की चेष्टा का क्या प्रयोजन? उसके स्नान, दान, आसन, उच्चार आदि कार्य भी दैव से ही सम्पादित हो जायेंगे।

'दैव कुछ नहीं करता, यह कल्पना मात्र है।'^{१५} 'दैव सदा ही असत् है'^{१६}, 'दैव (भाग्य) कुछ नहीं है'^{१७}- इन सभी वाक्यों से दैव का अस्तित्व नहीं रहता। दैव मूर्ख लोगों की कल्पना है और जो इसके सहारे रहता है वह नाश को प्राप्त होता है। बुद्धिमान लोग पुरुषार्थ द्वारा उन्नति करके उत्तम पद को प्राप्त करते हैं।^{१८}

दैव की अपेक्षा पुरुषार्थ की प्रबलता है। वर्तमानकालिक पुरुषार्थ दैव से प्रबल होता है, इस बात का उल्लेख योगवासिष्ठ के कई श्लोकों में प्राप्त होता है-

द्वौ हुडाविव युध्येते पुरुषार्थौ परस्परम्।

य एव बलवांस्तत्र स एव जयति क्षणात्।।

ह्यस्तनी दुष्क्रियाभ्येति शोभां सत्क्रिया यथा।

अद्यैव प्राक्तनीं तस्माद्यात्नात्सकार्यवान्भव।।

ऐहिकः प्राक्तनं हन्ति प्राक्तनोऽद्यतनं बलात्।
 सर्वदा पुरुषस्यन्दस्तगानुद्वेगवाञ्जयी॥
 द्वयोरद्यतनस्यैव प्रत्यक्षाद्वलिता भवेत्।
 दैवं जेतुं यतो यत्नैर्बालो यूनेव शक्यते॥
 परं पौरुषमाश्रित्य दत्तैर्दन्तान्विचूर्णयन्।
 शुभेनाशुभमुद्युक्तं प्राक्तनं पौरुषं जयेत्॥
 प्राक्तनः पुरुषार्थोऽसौ मां नियोजयतीति धीः।
 बलादधस्यदीकार्या प्रत्यक्षादधिका न सा॥
 तावत्तावत्प्रयत्नेन यतितव्यं सुपौरुषम्।
 प्राक्तनं पौरुषं यावदशुभं शाम्यति स्वयम्॥^{१०३}

अर्थात् दोनों पुरुषार्थ (पूर्वकृत कर्म जिसका नाम दैव है और वर्तमानकाल का पुरुषार्थ) दो मेंदों के समान एक-दूसरे के साथ लड़ते हैं, जो उनमें अधिक बलवाला होता है वही विजय पाता है। जैसे कल का बिगड़ा हुआ काम आज के प्रयत्न से सुधर जाता है उसी प्रकार वर्तमानकालिक पुरुषार्थ पूर्व के किए हुए पुरुषार्थ को सुधार सकता है; इसलिए मनुष्य को कार्यशील होना चाहिए। अधिक बली होने पर वर्तमानकालिक पुरुषार्थ पूर्वकाल के पुरुषार्थ को और पूर्वकालिक पुरुषार्थ वर्तमानकाल के पुरुषार्थ को दबा देता है; हमेशा ही पुरुष का किया हुआ प्रयत्न विजय पाता है। जो उद्वेग रहित होकर पुरुषार्थ करता है, वही विजय पाता है। यह तो प्रत्यक्ष में ही सिद्ध है कि पूर्वकाल के कर्म की अपेक्षा वर्तमान का किया हुआ कर्म अधिक बलवान है। इसलिए दैव को वर्तमानकालिक पुरुषार्थ इस प्रकार जीत लेता है जैसे कि बच्चे को युवक। इसलिए परम पुरुषार्थ का आश्रय लेकर शुभ कर्म द्वारा पूर्वकाल के अशुभ कर्मों पर विजय प्राप्त करना चाहिए। बलपूर्वक इस विचार को दूर करना चाहिए कि उसे दैव किसी ओर प्रेरित कर रहा है। वर्तमानकालिक पुरुषार्थ से किसी प्रकार भी पूर्वकालिक पुरुषार्थ बलवान नहीं है। मनुष्य को इतना पुरुषार्थ करना चाहिए कि जिससे उसके पूर्वकाल के अशुभ कर्म शान्त हो जाएँ।

विभिन्न भारतीय दर्शनों में कर्म

भारतीय दर्शन के लगभग सभी प्रस्थानों में कर्म की चर्चा हुई है। यहाँ न्याय, वैशेषिक, सांख्य, मीमांसा, बौद्ध एवं वेदान्त दर्शन से कर्म के स्वरूप पर विचार किया जा रहा है। जैनदर्शन में कर्म-स्वरूप पर पृथक् से विवेचन किया जाएगा।

न्यायदर्शन में कर्म

न्यायदर्शन में कर्मसिद्धान्त 'अदृष्ट' के रूप में विवेचित है। अदृष्ट का शाब्दिक अर्थ है- अदृश्य शक्ति। कर्म अनित्य रूप है।^{१०८}

विश्व में रहने वाले लोगों के बीच अत्यधिक विषमता पाई जाती है। कुछ लोगों के पास अत्यधिक सम्पत्ति पाई जाती है तो कुछ लोग निर्धन होते हैं। कुछ लोग ऐसे हैं जो बिना परिश्रम किए ही सुख प्राप्त करते हैं; लेकिन कुछ लोग कठिन परिश्रम करने पर भी दुःख झेलते हैं। कुछ लोग ज्ञानी हैं तो कुछ लोग अज्ञानी। अतः यहाँ एक स्वाभाविक प्रश्न है कि इस विषमता का क्या कारण है? न्यायदर्शन इस विषमता की व्याख्या कर्म-सिद्धान्त के आधार पर करता है। इस सिद्धान्त के अनुसार मनुष्य के सभी कर्मों के फल सुरक्षित रहते हैं। शुभ कर्मों से सुख की प्राप्ति होती है तथा अशुभ कर्मों से दुःख की प्राप्ति होती है। इन भावों को वात्स्यायन न्यायभाष्य में 'सर्वद्रव्याणां विश्वरूपो व्यूह इन्द्रियवत् कर्मकारितः पुरुषार्थतन्त्रः। कर्म तु धर्माधर्मभूतं चेतनस्योपभोगार्थमिति'^{१०९} शब्दों से प्रकट करते हैं। तात्पर्य है कि सभी द्रव्यों की विविध रूपों में उत्पत्ति इन्द्रियों के समान कर्म (अदृष्ट) के कारण ही हुई है। कर्म तो धर्माधर्मभूत चेतन के सुख और दुःख का साधन है।

शरीर की सृष्टि कर्मनिमित्तक है। इस पक्ष को प्रमाणित करते हुए न्यायसूत्रकार लिखते हैं- 'पूर्वकृतफलानुबन्धानुदुत्पत्तिः'^{११०} अर्थात् पूर्वकृत कर्म के फल के संबंध से शरीर की उत्पत्ति होती है।

अभिप्राय यह है कि पूर्वकृत जो कर्म है उन कर्मों से उत्पन्न जो अदृष्ट है, उस अदृष्ट के संबंध से शरीर का निर्माण होता है। पूर्व शरीर में जो वाणी, बुद्धि, शरीर की आरम्भ रूपा प्रवृत्ति है, वही पूर्वकृत कर्म कही गयी है, उसका फल उससे अन्य धर्म और अधर्म है। उस फल (धर्म और अधर्म) का जो अनुबन्ध और आत्मसमवेत अदृष्टाख्य धर्म और अधर्म की अवस्थिति है, उससे प्रयुक्त भूतों के द्वारा शरीर की उत्पत्ति होती है, स्वतन्त्र भूतों के द्वारा शरीर की उत्पत्ति नहीं होती है।^{१११}

अपवर्ग की प्राप्ति-प्रक्रिया बताते हुए सूत्रकार कहते हैं- 'दुःखजन्मप्रवृत्तिदोष- मिथ्याज्ञानानामुत्तरोत्तराऽप्याये तदनन्तरापायादपवर्गः'^{११२} दुःख, जन्म, प्रवृत्ति, दोष, मिथ्याज्ञानों में से उत्तर-उत्तर पदार्थों का अपाय (निवृत्ति) होने पर तदनन्तरापाय (उनके पूर्व-पूर्व की निवृत्ति) होने से अपवर्ग (मोक्ष) होता है। भाव यह है कि तत्त्वज्ञान और मिथ्याज्ञान के परस्पर विरुद्ध होने से तत्त्वज्ञान के द्वारा मिथ्याज्ञान रूपी मूलकारण के नष्ट हो जाने से रागद्वेषादि का नाश हो जाता है।

३६२ जैनदर्शन में कारण-कार्य व्यवस्था : एक समन्वयात्मक दृष्टिकोण

रागद्वेषादि रूप कारण के नाश से पुण्य-पाप रूप दस प्रकार की कायिक, वाचिक, मानसिक प्रवृत्तियों का नाश हो जाता है। प्रवृत्तिरूप कारण के नाश से जन्म का भी नाश हो जाता है (शरीरान्तर संबंध नहीं होता) जन्मरूप कारण के अभाव से दुःखात्यन्तनिवृत्ति रूप मोक्ष की उपलब्धि होती है।^{११३}

प्रयत्न करता हुआ जीव हमेशा ही कर्म के फल को प्राप्त नहीं करता है, कभी-कभी उसका कर्म विफल भी हो जाता है। इसका कोई दृष्ट कारण नहीं है, अतः सूत्रकार कहते हैं- 'ईश्वरः कारणम्- पुरुषकर्माऽऽफल्यदर्शनात्'^{११४} यानी ईश्वर कारण है, क्योंकि कर्मों की विफलता फलोत्पत्ति के अनुकूल ईश्वरेच्छा न होने से होती है। दूसरी बात यह है कि अदृष्ट अचेतन है, अतः इसको संचालित करने के लिए ईश्वर की आवश्यकता होती है। इसी अर्थ में ईश्वर को कर्मफलदाता माना जाता है।

वैशेषिक सूत्र में कर्म

वैशेषिक सूत्र में कर्म को द्रव्य माना गया है। यह द्रव्य अन्य द्रव्य में समवाय संबंध से रहने वाला पदार्थ है। इसका लक्षण है-

“एक-द्रव्यगुणम् संयोग-विभागेष्वकारणमनपेक्ष इति कर्म लक्षणम्”^{११५}

कर्म द्रव्य एवं निर्गुण है तथा संयोग और विभाग की उत्पत्ति में स्वोत्तरभावी पदार्थ की अपेक्षा के बिना ही कारण होता है। इस प्रकार महर्षि कणाद ने कर्म के तीन लक्षण बताए हैं- कर्म एक ही द्रव्य में रहता है, स्वयं अगुणवान है और संयोग-वियोग का कारण होता है।

यह कर्म पाँच प्रकार का होता है- उत्क्षेपण, अवक्षेपण, आकुंचन, प्रसारण तथा गमन।

कर्म का यह स्वरूप पुरुष द्वारा कृत पूर्वकर्म का बोधक नहीं है। यह तो एक भिन्न पदार्थ है जो द्रव्य एवं गुण में रहता है। पूर्वकृत कर्म या अदृष्ट का स्वरूप तो वैशेषिक दर्शन में भी वही स्वीकार्य है जो न्यायदर्शन में प्रतिपादित है।

सांख्यदर्शन में कर्म

‘कर्म’ शब्द का प्रयोग यद्यपि सांख्यदर्शन में कहीं नहीं हुआ है किन्तु वहाँ जैनदर्शन में प्रयुक्त ‘कर्म’ शब्द की अर्थाभिव्यक्ति मिलती है। जैनदर्शन में दुःखों को कर्मों का फल माना गया है, वैसे ही सांख्यदर्शन में अविवेक अथवा अनादि अविद्या के कारण सुख-दुःख का होना स्वीकार किया गया है। यह अविवेक ही कर्मबंध का

अथवा संसार में भ्रमण करने का मूल कारण है।^{११६} इसके साथ ही ईश्वरकृष्ण यह भी कहते हैं कि 'धर्मेण गमनमूर्ध्वं, गमनमधस्ताद्भवत्यधर्मेण'^{११७} अर्थात् धर्म से ऊपर के लोकों में और अधर्म से अधोलोक में गमन होता है। इस कारिकांश पर रमाशंकर त्रिपाठी तत्त्व प्रदीपिका व्याख्या में लिखते हैं- 'धर्मेण सुकृतेन यागादिना इत्यर्थः ऊर्ध्वं द्युप्रभृतिषु लोकेषु गमनं भवति। अधर्मेण दुष्कृतेन हिंसादिना अधस्तात् सुतलादिषु नरकादिषु वा गमनं भवति। धर्माचरणेन मानवाः सूक्ष्मशरीरेण उत्तमेषु लोकेषु व्रजन्ति, ततः पुण्ये क्षीणे उत्तमेष्वेव कुलेषु उत्पद्यन्ते। अधर्माचरणेन निन्दितेषु भुवोऽधस्ताद्वर्तमानेषु सुतलादिषु नरकेषु वा गच्छन्ति; पुनः ततः अधमेषु कुलेषु वा योनिषु जायन्ते इति भावार्थः।'^{११८} अर्थात् धर्म या यागादि रूप सुकृत से ऊर्ध्व लोकों में गमन होता है। धर्माचरण से मनुष्य सूक्ष्म शरीर के द्वारा उत्तम लोकों में जाते हैं, वहाँ से पुण्य क्षीण होने पर उत्तम कुलों में उत्पन्न होते हैं। अधर्म के आचरण से पृथ्वी के नीचे सुतल आदि निन्दित नरकों में जाते हैं। फिर वहाँ से अधम कुलों में अथवा योनियों में उत्पन्न होते हैं।

बंधन एवं मुक्ति की प्रक्रिया तथा कर्मों का स्वरूप सांख्यदर्शन में जैनदर्शन से कुछ भिन्न रूप में प्रतिपादित हुआ है। सांख्य में जीव अकर्ता होते हुए भी बंधन एवं मुक्ति की प्रक्रिया से गुजरता है। सांख्य भी पुनर्जन्म को स्वीकार करता है। जैनदर्शन के कार्मण शरीर को सांख्यदार्शनिक लिंगशरीर या सूक्ष्म शरीर कहते हैं।^{११९}

सत्त्व, रजस्, तमस् इन तीनों गुणों से युक्त प्रकृति को सांख्यदर्शन कर्त्री मानता है तथा इसे ही पुरुष को मुक्ति दिलाने में सहायक भी मानता है। प्रकृति एवं पुरुष का संयोग ही कर्म (संस्कार) को उत्पन्न करता है, जिसके फलस्वरूप भोग प्राप्त होता है।^{१२०} यह भोग चेतन पुरुष लिंग शरीर के विनाश होने तक, ऊपर, नीचे तथा मध्य के लोकों में जरा-मरण से उत्पन्न दुःख के रूप में प्राप्त करता है।^{१२१}

मीमांसा दर्शन में कर्म

मीमांसा दर्शन में कर्म को वैदिक यज्ञ-संबंधी कर्मकाण्ड के अनुष्ठान के रूप में व्याख्यायित किया जाता है। कर्म में दैहिक एवं मानसिक दोनों कार्य स्वीकार किए गए हैं। मानसिक कर्म में विचार करना, कल्पना करना, ज्ञान प्राप्त करना आदि को सम्मिलित किया गया है और दैहिक कर्म में यज्ञयाग आदि को।

इस दर्शन के 'अपूर्व सिद्धान्त' को 'कर्म सिद्धान्त' का पर्याय कहा जा सकता है। अपूर्व का शाब्दिक अर्थ है- 'पूर्व' अर्थात् कृत कर्मों से नवीन उत्पन्न होने वाला पाप तथा पुण्य रूप फल।^{१२२} यजमान यज्ञ तो आज करता है किन्तु उसका फल

भविष्य में प्राप्त होता है। इस प्रकार कर्म के फल की निष्पत्ति तत्काल न होकर बाद में होती है तो क्रिया और फल के मध्य काल की असंगति आ जाती है। जिसे दूर करने के लिए मीमांसक 'अपूर्व' के प्रत्यय को स्वीकार करते हैं। यह अपूर्व कर्म का विधायक है क्योंकि 'फलश्रुतेस्तु कर्म स्यात्, फलस्य कर्मयोगित्वात्'^{१२३} अर्थात् कर्मों के फल सुने जाते हैं और फल से कर्म का निश्चित संबंध है। इसका आशय यह है कि यज्ञ से 'अपूर्व (पुण्य)' उत्पन्न होता है और अपूर्व से उत्पन्न होता है स्वर्ग (फल)। इस प्रकार क्रिया और फल के बीच अपूर्व माध्यम का काम करता है।

जीव का अपने कृत कर्मों के साथ जो संबंध है वह मिट नहीं सकता और वह जो धन भोग करने के लिए पाता है तो वह उसके पुराने या नये कर्मों का फल होता है। जो धन कर्मों के फलस्वरूप प्राप्त नहीं होता है तो वह अपने आप ही नष्ट हो जाता है अथवा रोग, दुर्घटना आदि कोई ऐसी बाधा उपस्थित हो जाती है जिससे वह उसका भोग नहीं कर सकता। प्रारब्ध कर्म मनुष्य को केवल भोग देने के लिए होते हैं। वर्तमान समय के क्रियमाण कर्मों पर उसका कोई प्रभाव नहीं पड़ता। उनको मनुष्य यथा रूप भला या बुरा करके आगे के लिए वैसा ही प्रारब्ध बना सकता है।^{१२४}

कतिपय मीमांसक विद्वानों ने कर्म-विभाजन तीन श्रेणियों में किया है—सहज कर्म, जैव कर्म, ऐश कर्म। प्रकृति की आरम्भिक अवस्था में ब्रह्मांड और पंचभूतों की उत्पत्ति तथा उद्भिज्ज के रूप में जीव-सृष्टि का आरम्भ होना आदि सहज कर्म माने जाते हैं। मीमांसा इनको प्रकृति के कर्म मानता है। इसके पश्चात् जब उद्भिज्ज से चलने-फिरने वाले प्राणी बनकर अन्त में मनुष्य का आविर्भाव हो जाता है तब जैव कर्म आरम्भ होता है। क्योंकि मनुष्य को बुद्धि, विवेक मिल जाने के कारण वह पाप-पुण्य का निर्णय कर सकता है। इसी जैव कर्म के फलस्वरूप मनुष्य प्रेतयोनि, स्वर्ग-नरक, मनुष्य लोक आदि में भ्रमण करता हुआ तरह-तरह की योनियों का अनुभव करता रहता है। इसी अवस्था में वह वेद, पुराण, धर्म-ग्रन्थ आदि की सहायता से आत्मिक उन्नति के मार्ग में अग्रसर होता जाता है। ऐश कर्म का संबंध मनुष्य लोक से उच्च स्थिति वाले देवलोक से है, पर मनुष्य लोक से भी उसका परोक्ष संबंध रहता है। इसी कर्म के प्रभाव से मनुष्य देव पदवी को प्राप्त करता है और निरन्तर परमात्मा की प्राप्ति के मार्ग में अग्रसर होता है।^{१२५}

सकाम कर्मों के अनुष्ठान से तो पुण्य-पाप होते हैं, जिससे जीवात्मा सदैव बन्धनों में ही पड़ा रहता है, पर निष्काम धर्माचरण से तथा आत्मज्ञान के प्रभाव से पूर्व कर्मों के संचित संस्कार नष्ट हो जाते हैं और मनुष्य जन्म-मरण के चक्कर से छुटकारा पाकर दुःखों से निवृत्ति अर्थात् मोक्ष को प्राप्त कर लेता है।^{१२६}

बौद्ध दर्शन में कर्म

बौद्ध धर्म में कर्म को चैतसिक कहा गया है और वह चित्त के आश्रित रहता है। यह कर्म तीन प्रकार का है- १. मानसिक कर्म २. वाचिक कर्म ३. कायिक कर्म।^{१२७} इन्हें त्रिदण्ड भी कहा जाता है। इनमें से मनोदण्ड हीनतम और सावद्यतम कर्म माना गया है।

मानसिक कर्म 'वासना' कहलाता है और वाचिक तथा कायिक कर्म 'अविज्ञप्ति' माना जाता है। कहीं पर मानसिक, वाचिक और कायिक कर्म को विज्ञप्ति रूप भी कहा गया है। बौद्ध धर्म में मान्य कर्म का वासना और अविज्ञप्ति रूप जैनधर्म का द्रव्यकर्म और संस्कार तथा विज्ञप्ति रूप कर्म जैनधर्म का भावकर्म माना जा सकता है।^{१२८}

बौद्ध दर्शन में द्वादश अंग कहे गए हैं, उसके अन्तर्गत संस्कार का भी उल्लेख है। यहाँ संस्कार से अभिप्राय 'कर्म' से है। यह कर्मावस्था पूर्वजन्म की है। अविद्यावश सत्त्व जो भी भला-बुरा कर्म करता है, वही संस्कार कहलाता है। आचार्य बुद्धघोष संस्कृत प्रत्युत्पन्न धर्मों का अभिसंस्कार करने वाली लौकिक कुशल और अकुशल चेतना को ही 'संस्कार' कहते हैं। यह संस्कार तीन प्रकार का होता है- १. पुण्याभिसंस्कार २. अपुण्याभिसंस्कार ३. आर्नेजाभिसंस्कार।^{१२९}

दुःखनिरोधगामिनी प्रतिपद के आठों अंगों को ही बौद्ध दर्शन में 'आर्य अष्टांगिक मार्ग' भी कहा जाता है। चतुर्थ अंग 'सम्यक् कर्मान्त' में सम्यक् कर्मान्त का अर्थ ठीक कर्म अथवा यथार्थ कार्य है। सत्त्वों का कर्म प्रबल होता है, कर्मों पर ही सत्त्व निर्भर है। उसके जैसे कर्म होंगे, वैसी ही उसकी गति होगी। यदि बुरे कर्म किए हैं तो नरकगामी होगा और यदि सत्कर्म किए हैं तो स्वर्ग या निर्वाण का प्राप्तकर्ता होगा। हिंसा, चोरी और काम मिथ्याचार से विरत रहना ही सम्यक् कर्मान्त है। सम्यक् कर्मान्त के कारण सत्त्व पाप से ऊपर उठता है और सदाचारी बनता है। इस प्रकार जो जैसा कर्म करता है वह वैसा ही फल भोगता है।^{१३०}

माणवक द्वारा प्राणियों की हीनता और उत्तमता के संबंध में प्रश्न किए जाने पर भगवान् बुद्ध कहते हैं- "कम्मस्सका माणव सत्ता कम्मदायादा कम्मयोनी कम्मबन्धू कम्मपटिसरणा, कम्मं सत्ते विभजति यदिदं हीनपणीतताया, ति।"^{१३१} अर्थात् माणवक! प्राणी कर्मस्वक (कर्म ही है अपना जिनका) हैं, कर्म-दायाद, कर्म-योनि, कर्म-बन्धु और कर्मप्रतिशरण हैं। कर्म ही प्राणियों को इस हीनता और उत्तमता में विभक्त करता है। इस प्रसंग को अधिक स्पष्ट करते हुए

डॉ. भरतसिंह उपाध्याय^{१३२} लिखते हैं कि भगवान् बुद्ध जीवन की विषमता का मूल कारण कर्म को मानते हैं। कर्म ही प्राणियों को हीन और उत्तम में बाँटता है। जिसका जैसा कर्म है, वैसा उसका फल है। कोई स्त्री या पुरुष, यदि वह प्राणातिपाती है, क्रोधी है, ईर्ष्यालु है, लोभी है, अभिमानी है, पाप कर्मों में चित्त को लगाने वाला है तो वह उस काया को छोड़ मरने के बाद दुर्गति में उत्पन्न होता है और यदि मनुष्य योनि में आता है तो हीन होता है, दरिद्र और निर्बुद्धि होता है। इसी प्रकार जिसके कर्म शुभ हैं, वह सुगति में जन्म लेता है और यदि मनुष्य योनि में आता है तो उत्तम, स्वस्थ, समृद्ध और प्रज्ञावान होता है।^{१३३} सुगति या दुर्गति का पाना इस प्रकार कर्म के शुभ या अशुभ होने पर निर्भर है।^{१३४} सदाचार से सुगति और दुराचार से दुर्गति प्राप्त होती है।^{१३५}

कर्म और विपाक के पारस्परिक संबंध और अन्योन्याश्रित भाव से यह संसार चक्र चलता है, यह कर्म के सिद्धान्त की धुरी है। जिसे विसुद्धिमग्न में निम्न शब्दों में उद्धृत किया गया है-

कम्मा विपाका वत्तन्ति विपाको कम्म संभवो।

कम्मा पुनर्भवो होति एवं लोको पवत्तती ति।^{१३६}

कर्म से विपाक प्रवर्तित होते हैं और स्वयं विपाक कर्म-संभव हैं। कर्म से पुनर्जन्म होता है, इस प्रकार यह संसार प्रवर्तित होता है। अतः कहा जा सकता है कि बुद्ध शासन की सम्पूर्ण प्रतिष्ठा कर्म के सिद्धान्त पर आधारित है। यह कर्म सिद्धान्त सभी बौद्ध दार्शनिकों को मान्य है।

वेदान्त दर्शन में कर्म

वेदान्त के अनुसार बन्धन का मूल कारण अविद्या या अज्ञान है। अविद्या आत्मा का स्वाभाविक गुण नहीं है, बल्कि जीव की मिथ्या कल्पना का परिणाम है। अविद्या से उत्पन्न कर्मफल को सब जीव परमात्मा के आश्रय से ही भोगते हैं क्योंकि कर्मों का ज्ञाता एवं सर्वशक्तिमान् होने से ब्रह्म ही यह सामर्थ्य रखता है। जड़ प्रकृति अथवा जीवात्मा स्वयं इसमें समर्थ नहीं है। इसमें कर्म भोग की व्यवस्था करने वाला ब्रह्म ही सिद्ध होता है। अतः वेदान्त दर्शन में कहा है-

‘फलमत उपपत्तेः’^{१३७} अर्थात् इस परमात्मा से ही कर्मफल मानना उपयुक्त है। यह बात श्रुतियों में भी बार-बार कही गई है कि ब्रह्म ही जीवों के कर्म-फल का द्रष्टा है।^{१३८} तैत्तिरीय उपनिषद् में भी ब्रह्म को ही ‘महान् अज आत्मा कर्म-फल देने वाला’ कहा है। अन्य श्रुतियाँ भी इसी प्रकार कहती हैं, इससे कर्म-फल का देने वाला ब्रह्म ही सिद्ध होता है।

योगदर्शन में कर्म

योगदर्शन के अभिमतानुसार 'अविद्यास्मितारागद्वेषाभिनिवेशाः क्लेशाः'^{१३९} अर्थात् अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश- इन पाँच क्लेशों से क्लिष्ट वृत्ति उत्पन्न होती है। इस क्लिष्ट वृत्ति से धर्माधर्म रूपी संस्कार पैदा होता है।^{१४०} ये संस्कार और क्लेश ही अविद्या या कर्मबंधन के हेतु हैं।^{१४१} योगदर्शन में इन बद्ध कर्मों का विपाक तीन प्रकार का बताया गया है- जाति, आयु और भोग।^{१४२} 'जाति' पद मनुष्य, पशु आदि योनियों को सूचित करता है। 'आयु' पद यह संकेत करता है कि एक निश्चित अवधि तक देह तथा प्राण का संयोग रहता है। भोग सुख एवं दुःख रूप अनुभूति को अभिव्यंजित करता है। इस प्रकार योग सम्मत ये तीनों पद एक-दूसरे से इतने आबद्ध हैं कि एक के अभाव में दूसरे की संभावना नहीं की जा सकती। क्योंकि व्यक्ति अपने द्वारा किये कर्मों के अनुसार सुख-दुःख का भोग तभी कर सकता है जब उसके पास आयु हो और आयु भी वह तभी धारण कर सकता है जब उसने जन्म लिया हो। इस प्रकार योग दर्शनानुसार कर्म से मिलने वाले जाति, आयु एवं भोग रूप तीनों फल परस्पर सम्बद्ध हैं।

ईश्वर को परिभाषित करते हुए भी योगदर्शन में कर्म और विपाक की चर्चा समुपलब्ध होती है।^{१४३} यहाँ द्वेषादि क्लेश से उत्पन्न शुभाशुभ कार्यजन्य होने से पुण्य-पाप कर्म कहे जाते हैं। ये कर्म चार प्रकार के हैं- कृष्ण, शुक्ल, शुक्लकृष्ण, अशुक्लकृष्ण। दुरात्माओं का कर्म कृष्ण है और तपस्वी, स्वाध्यायी आदि का शुक्ल। चरमदेह कैवल्य प्राप्त संन्यासी अशुक्लकृष्ण हैं और कृष्णशुक्ल बाह्य व्यापार से साध्य हैं।^{१४४} पुण्य-पाप के फल सुख-दुःख विपाक कहे जाते हैं।

कर्म की अवधारणा : कतिपय प्रमुख बिन्दु

कर्म और भाग्य

भारतीय चिन्तन में जिसे संचित कर्म कहा गया है, वही भाग्य है। इसे मीमांसा, न्याय आदि दर्शनों ने अदृष्ट भी कहा है। वैदिक परम्परा में कर्म के तीन प्रकार प्रतिपादित हैं- संचित, प्रारब्ध और क्रियमाण।

संचित कर्म- पूर्वजन्म में कृत कर्म संचित कर्म होते हैं। इस कर्म का उदय समय आने पर होता है।

प्रारब्ध कर्म- जो पूर्वकृत कर्म अपना फल प्रदान करना प्रारम्भ कर देता है, उसे प्रारब्ध कर्म कहते हैं। वर्तमान में जो कुछ हम भोग रहे हैं, वह प्रारब्ध कर्म है।

क्रियमाण कर्म- जो कर्म वर्तमान में पुरुषार्थ के रूप में किया जा रहा है, उसे क्रियमाण कर्म कहते हैं। क्रियमाण कर्म के आधार पर ही संचित कर्म का अर्जन होता है तथा इसका फल भविष्य में प्राप्त होता है। यह संस्कार का भण्डार है जो भविष्य के लिए सुरक्षित है। क्रियमाण कर्म भविष्य में फल प्रदान करते समय प्रारब्ध बन जाते हैं और प्रारब्ध के अनुसार ही क्रियमाण कर्म सम्पन्न होते हैं। इस प्रकार क्रियमाण, प्रारब्ध और संचित कर्म के मध्य एक वृत्त का निर्माण होता है-

ये तीनों कर्म भूत, वर्तमान और भविष्य की व्याख्या करते हैं। भूतकालीन कर्म के अनुसार वर्तमान और वर्तमानकालीन कर्मानुसार भविष्य का जीवन प्राप्त होता है। वर्तमान भूत से जन्य है और भविष्य का जनक है। इस प्रकार कर्म का शाश्वत या निरन्तर चक्र चलता रहता है।

जैन दर्शन में संचित कर्म को सत्ता में स्थित कर्म कहा गया है। सत्ता में स्थित कर्म जैसा होता है, उसी के अनुरूप कर्म उदय में आते हैं अर्थात् कर्म के फल की प्राप्ति होती है। अतः कर्म-बंध व उदय से मिलने वाले फल को ही भाग्य कहा गया है। वैदिक परम्परा के प्रारब्ध कर्म को उदय तथा क्रियमाण कर्म को बंध का कारण कहा जा सकता है।

सामान्यतः यह माना जाता है कि भाग्य के अनुरूप ही फल की प्राप्ति होती है। उसमें किसी प्रकार के परिवर्तन की संभावना नहीं है। किन्तु जैनदर्शन की मान्यता है कि तप एवं शुभभाव रूप पुरुषार्थ के द्वारा पूर्वबद्ध अर्थात् सत्ता में स्थित कर्मों की स्थिति एवं फलदान शक्ति में परिवर्तन संभव है। यह भाग्य परिवर्तन की प्रक्रिया 'करण' कहलाती है। करण से तात्पर्य है कर्म-बंध से लेकर फल-भोग तक की अवस्थाएँ। इस प्रकार वर्तमान के कर्म ही पुरुष के लिए विधाता हैं, जिसे 'महापुराण' में निम्न प्रकार से श्लोकाबद्ध किया गया है-

विधिः स्रष्टा विधाता देवं कर्म पुराकृतम्।

ईश्वरश्चेति पर्यायिकर्म वेधसः।।^{१७५}

विधि स्रष्टा, विधाता, दैव, पुराकृत, ईश्वर ये कर्म रूपी ब्रह्मा के पर्यायवाची शब्द हैं। अर्थात् कर्म ही वास्तव में ब्रह्म या विधाता हैं।^{१७६}

ईश्वर और कर्मफल

आर्यावर्त की भूमि पर कर्म के विषय में अनेक सिद्धान्त पल्लवित एवं विकसित हुए हैं। कुछ दार्शनिक केवल कर्मवादी हैं तो कुछ दार्शनिक कर्मवाद को

स्वीकार ही नहीं करते। कुछ कर्मवाद को मानते हैं पर ईश्वरवाद के सहचारी के रूप में उसे स्वीकार करते हैं।

भारत के विभिन्न दर्शनों में 'कर्म' के लिए माया, अविद्या, प्रकृति, अपूर्व, वासना, आशय, धर्माधर्म, अदृष्ट, संस्कार, दैव, भाग्य आदि शब्द प्रयुक्त हुए हैं। वेदान्त दर्शन में माया, अविद्या और प्रकृति शब्दों का प्रयोग हुआ है। मीमांसा दर्शन में अपूर्व शब्द प्रयुक्त हुआ है। बौद्धदर्शन में वासना और अविज्ञप्ति शब्दों का प्रयोग दृष्टिगोचर होता है। सांख्यदर्शन में 'आशय' शब्द विशेष रूप से मिलता है। न्याय-वैशेषिक दर्शन में अदृष्ट, संस्कार और धर्माधर्म शब्द प्रचलित हैं। दैव, भाग्य, पुण्य-पाप आदि ऐसे अनेक शब्द हैं जिनका प्रयोग सामान्य रूप से सभी दर्शनों में हुआ है। भारतीय दर्शनों में एक चार्वाक दर्शन ही ऐसा दर्शन है जिसका कर्मवाद में विश्वास नहीं है क्योंकि वह आत्मा का स्वतंत्र अस्तित्व ही नहीं मानता है। किन्तु शेष सभी भारतीय दर्शन किसी न किसी रूप में कर्म की सत्ता मानते हैं।

न्याय-वैशेषिक दर्शन में कर्मफलदाता : ईश्वर

न्याय, वैशेषिक और वेदान्त दर्शन कर्मों में स्वतः फल देने की क्षमता का अभाव मानकर ईश्वर को फल-प्रदाता स्वीकार करते हैं। न्याय-वैशेषिक दर्शन में ईश्वर को कर्म-नियम का व्यवस्थापक एवं कर्मफल का प्रदाता स्वीकार किया गया है।

उपर्युक्त दर्शनों के अनुसार राग, द्वेष और मोह रूप दोषों से प्रेरणा प्राप्त कर जीवों में मन, वचन और काय की प्रवृत्तियाँ होती हैं और उससे धर्म और अधर्म की उत्पत्ति होती है। ये धर्म और अधर्म संस्कार कहलाते हैं।^{१४९} ये संस्कार ही कर्म हैं। इन कर्मों का नियन्ता ईश्वर है, इस संबंध में कुछ तर्क निम्न हैं-

१. 'ईश्वरः कारणम्-पुरुषकर्माऽऽफल्गुदशनात्'^{१५०} प्रयत्न करता हुआ जीव हमेशा ही कर्म के फल को प्राप्त नहीं करता है, कभी-कभी उसका कर्म विफल भी हो जाता है। क्यों विफल होता है? ऐसा कोई दृष्ट कारण नहीं है इसलिए फलोत्पत्ति के अनुकूल ईश्वरेच्छा के न होने से कर्मों की विफलता होती है। इस प्रकार कार्य मात्र के प्रति ईश्वर की कारणता है।

२. *तत्कारितत्वादहेतुः*^{१५१} - ईश्वर पुरुषकार को अनुगृहीत करता है अर्थात् फल प्राप्ति के लिए प्रयत्नशील जो पुरुष है ईश्वर उसके फल का सम्पादन करता है। जब ईश्वर फल का सम्पादन नहीं करता है तो उस पुरुष का कर्म निष्फल हो जाता है।

३. जड़कर्म अचेतन होने के कारण स्वतः फल प्रदान नहीं कर सकते, क्योंकि फल प्रदान की क्रिया चेतन की प्रेरणा के बिना नहीं हो सकती।^{१५२}

४. कर्म का कर्ता जो चैतन्य है, वह भी फलप्रदाता नहीं माना जा सकता, क्योंकि कर्ता कभी भी स्वेच्छा से अशुभ कर्मों का फल प्राप्त करना नहीं चाहता। अतः फलप्रदाता ईश्वर को मानना आवश्यक है।^{१५१}

वेदान्त में ईश्वर द्वारा कर्मफल

वेदान्त दर्शन का भी मन्तव्य है कि फलप्राप्ति कर्म से नहीं, अपितु ईश्वर अर्थात् ब्रह्म से होती है। 'फलमत उपपत्ते', 'श्रुतत्वाच्च', 'धर्म जैमिनिरत एव', 'पूर्व तु बादरायणो हेतुव्यपदेशात्'^{१५२} आदि सूत्र इस मन्तव्य का प्रतिपादन करते हैं।

सब जीव परमात्मा के आश्रय में ही अपने कर्म-फल रूप भोग को प्राप्त करते हैं, क्योंकि कर्मों का ज्ञाता एवं सर्वशक्तिमान् होने से ब्रह्म ही यह सामर्थ्य रखता है। जड़ प्रकृति अथवा जीवात्मा स्वयं इसमें समर्थ नहीं है। इससे कर्म-भोग की व्यवस्था करने वाला ब्रह्म ही सिद्ध होता है। यह बात श्रुतियों में भी बार-बार कही गई है कि ब्रह्म ही जीवों के कर्म-फल का द्रष्टा है। तैत्तिरीय उपनिषद् में भी ब्रह्म को ही 'महान्, अज-आत्मा कर्म फल देने वाला' कहा है। अन्य श्रुतियाँ भी इसी प्रकार कहती हैं, इससे कर्मफल का देने वाला ब्रह्म ही सिद्ध होता है।

जिस कर्म से फल की उत्पत्ति होती है, वह कर्म ब्रह्म से ही उत्पन्न होता है, 'धर्म' कर्म का पर्याय है। इस प्रकार आचार्य जैमिनि कर्म को ही फल देने वाला स्वीकार करते हैं, किन्तु आचार्य बादरायण इनके मत से सहमत नहीं हैं। बादरायण कर्म को निमित्त मात्र ही मानते हैं क्योंकि जड़ और अनित्य कर्म स्वयं फल की व्यवस्था करने में समर्थ नहीं हैं। इस प्रकार ब्रह्म ही कर्म-फल प्रदाता सिद्ध होता है।^{१५३}

सांख्यादि अनीश्वरवादी दर्शनों में कर्मफल

सांख्य, बौद्ध और मीमांसा दर्शनों में किसी वैयक्तिक ईश्वर का अस्तित्व ही स्वीकार नहीं किया गया है। योग दर्शन में ईश्वर का अस्तित्व तो मान्य है, लेकिन वह केवल उपासना का विषय एवं श्रद्धा का केन्द्र है। वह ईश्वर कर्म-नियम का व्यवस्थापक या शुभाशुभ कर्मों का फलप्रदाता नहीं है। ईश्वर के बगैर कर्मफल की व्यवस्था उपर्युक्त दर्शनों में भिन्न प्रकार से स्थापित की गई है।

सांख्यदर्शन में अविवेक या अज्ञान ही कर्मबन्ध का अथवा संसार में भ्रमण करने का मूल कारण है। इस कारण से जीव को सुख-दुःख होता है तथा ज्ञान से मोक्ष रूप फल प्राप्त होता है।^{१५४} ये ज्ञान और अज्ञान बुद्धि के परिणाम या कार्य हैं।^{१५५} चूंकि बुद्धि के नाना रूप कार्य के प्रति अव्यक्त प्रकृति कारण है, अतः ज्ञान-अज्ञान और

उसके विपाक की व्यवस्था में प्रकृति ही कारण हुई।^{१५६} इस प्रकार कर्म-फल की व्यवस्था में सांख्य ईश्वर या अन्य पुरुष को कारण न मानते हुए प्रकृति से ही नियमन स्वीकार करता है।

मीमांसा दर्शन में मानसिक और दैहिक दो प्रकार के कर्म स्वीकार किए गए हैं। मानसिक कर्म में विचार, कल्पना करना आदि को सम्मिलित किया गया है और दैहिक कर्म में यज्ञ याग आदि को। इन दोनों प्रकार के शुभ कृत्यों से पुण्य और अशुभ कृत्यों से पाप की उत्पत्ति होती है। पुण्य-पाप के साथ कर्म से एक अपूर्व नामक शक्ति उत्पन्न होती है जो आत्मा के साथ रहती है।^{१५७} यह अपूर्व कर्म-फल की विधायक है क्योंकि 'फलश्रुतेस्तु कर्म स्यात् फलस्य कर्मयोगित्वात्'^{१५८} अर्थात् कर्मों के फल सुने जाते हैं और फल से कर्म का निश्चित संबंध है। इस प्रकार क्रिया और फल के बीच अपूर्व ईश्वर के समान मध्यस्थ की तरह कार्य करता है।

जैनमत में कर्म, कर्मफल और ईश्वर विषयक विचार

जैनदर्शन कर्म को पौद्गलिक मानता है। जो पुद्गल-परमाणु कर्मरूप में परिणत होते हैं उन्हें कर्म वर्गणा कहते हैं और जो शरीर रूप में परिणत होते हैं उन्हें नोकर्म वर्गणा कहते हैं। लोक इन दोनों प्रकार के परमाणुओं से परिपूर्ण है।

जीव अपने मन, वचन और काय की प्रवृत्तियों से कर्म-वर्गणा के पुद्गलों को आकर्षित करता है। मन, वचन और काय की प्रवृत्ति तभी होती है जब जीव के साथ कर्म का संबंध हो। जीव के साथ कर्म तभी सम्बद्ध होता है, जब मन, वचन और काय की प्रवृत्ति हो। इस तरह प्रवृत्ति से कर्म और कर्म से प्रवृत्ति की परम्परा अनादिकाल से चल रही है। कर्म और प्रवृत्ति के कार्य और कारण भाव को लक्ष्य में रखते हुए पुद्गल परमाणुओं के पिण्ड रूप कर्म को द्रव्य कर्म कहा है और राग-द्वेषादि रूप प्रवृत्तियों को भाव कर्म कहा है। इस तरह कर्म के मुख्य दो भेद हैं- द्रव्य कर्म और भाव कर्म।

कर्मबंध के चार भेद हैं- प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेश।^{१५९} इनमें प्रकृति और प्रदेश का बंध योग से होता है एवं स्थिति और अनुभाग का बंध कषाय से होता है। सार रूप में कहा जाय तो कषाय ही कर्मबंध का मुख्य हेतु है।^{१६०} कर्मफल के संबंध में षड्दर्शनसमुच्चयकार कहते हैं-

तत्र ज्ञानादिधर्मैभ्यो भिन्नाभिन्नो विवृत्तिमान्।

शुभाशुभकर्मकर्ता भोक्ता कर्मफलस्य च।।^{१६१}

जीव चैतन्य स्वरूप है। यह अपने ज्ञान, दर्शन आदि गुणों से भिन्न है तथा अभिन्न भी है। कर्मों के अनुसार वह मनुष्य, पशु आदि की पर्यायें धारण करता है। अपने अच्छे और बुरे विचारों से शुभ और अशुभ कर्मों को बाँधता है तथा उनके सुख-दुःख रूप फलों को भोगता है।

जैनदर्शन न केवल कर्मफल-नियंता ईश्वर का विरोध करता है, बल्कि इसके संबंध में पुष्ट एवं प्रामाणिक तर्क भी प्रस्तुत करता है-

१. यदि व्यक्ति ईश्वर प्रेरित कर्मफल को प्राप्त होता है तो संसार में घटित होने वाले सम्पूर्ण अशुभ कर्मों का दोषी कोई व्यक्ति विशेष नहीं हो सकता, तब उसका दोषी भी ईश्वर होना चाहिए क्योंकि उक्त समस्त व्यापार उसकी प्रेरणा से होता है।^{१६२}
२. साधारण बुद्धि रखने वाला शासक भी असत् कर्म होने के पूर्व उसे रोकने की व्यवस्था करता है तो ईश्वर तो मनुष्य की तुलना में सर्वज्ञ है वह संसारी जीवों को पाप कर्म करने से पहले ही उन्हें क्यों नहीं रोक देता? पहले तो उन्हें खुलकर पाप कर्म करने की छूट देना और बाद में उस पाप कर्म का दुःखद फल देना उसकी कौन-सी दयालुता एवं न्यायशीलता है?^{१६३}
३. यदि कर्म-नियम के बिना ईश्वर मात्र अपनी स्वच्छन्द इच्छा से किसी को मूर्ख और किसी को विद्वान्, किसी को राजा और किसी को रंक, किसी को सम्पन्न और किसी को विपन्न बनाए तो उसे न्यायी नहीं कहा जा सकता। लेकिन ईश्वर कभी भी अन्यायी नहीं हो सकता। यही कारण है कि जो दर्शन ईश्वर को फल प्रदाता मानते हैं वे भी यह स्वीकार करते हैं कि ईश्वर जीवों के कर्मानुसार ही उनके सुख-दुःख की व्यवस्था करता है। जैसे व्यक्ति के भले-बुरे कर्म होते हैं उनके अनुसार ही ईश्वर उन्हें प्रतिफल देता है। ईश्वरीय व्यवस्था पूरी तरह कर्मनियम से नियन्त्रित है। ईश्वर अपनी इच्छा से उसमें कुछ भी परिवर्तन नहीं कर सकता, तो यह सर्वशक्तिसम्पन्न ईश्वर का उपहास है।^{१६४}
४. यदि कारुणिक ईश्वर का कार्य कर्म-नियम से अनुशासित है तो फिर न तो ऐसे ईश्वर का कोई महत्त्व रहता है और न उसकी करुणा का कोई अर्थ। एक ओर ईश्वरीय व्यवस्था को कर्मनियम के अधीन मानना और दूसरी ओर कर्मव्यवस्था के लिए ईश्वर की आवश्यकता बताना-इससे इतरेतराश्रय दोष का प्रसंग उत्पन्न होता है।^{१६५}

जैन मान्यतानुसार यद्यपि जड़-कर्म चेतन-शक्ति के अभाव में स्वतः फल नहीं दे सकते, लेकिन इसके साथ ही जैनी यह भी स्वीकार करते हैं कि कर्मों को अपना फल प्रदान करने के लिए कर्ता से भिन्न अन्य चेतन सत्ता की अथवा ईश्वर की आवश्यकता नहीं है। कर्मों के कर्ता चेतन आत्मा के द्वारा स्वयं ही वासना एवं कषायों की तीव्रता के आधार पर कर्म-विपाक का प्रकार, कालावधि, मात्रा और तीव्रता का निश्चय हो जाता है। यह आत्मा स्वयं ही अपने कर्मों का कर्ता है और स्वयं ही उनका फल प्रदाता बन जाता है। प्रत्येक जीवात्मा अपने शुद्ध स्वरूप की दृष्टि से परमात्मा ही है, ऐसा स्वीकार कर लें तो फिर चाहे ईश्वर को कर्म-नियम का नियामक और फल प्रदाता कहें या जीवात्मा को स्वयं ही अपने कर्मों का कर्ता और फल प्रदाता मानें, स्थिति में कोई अन्तर नहीं पड़ता है। आचार्य हरिभद्र इसी समन्वयात्मक भूमिका को स्पर्श करते हुए कहते हैं-

परमैश्वर्ययुक्तत्वान्मत आत्मैव वेश्वरः।

स च कर्तेति निर्दोषः कर्तृवादो व्यवस्थितः॥^{१६६}

केवलज्ञानादि के अतिशयों की सम्पन्नता ही जीव का परमैश्वर्य से सम्पन्न होना है और इस परमैश्वर्य के कारण जीव को ही ईश्वर माना जाता है। इस प्रकार जीवमात्र तात्त्विक दृष्टि से परमात्मा ही है और वही स्वयं अपने अच्छे-बुरे कर्मों का कर्ता और फलप्रदाता भी है। इस तात्त्विक दृष्टि से कर्म नियन्ता के रूप में ईश्वरवाद भी निर्दोष और व्यवस्थित सिद्ध हो जाता है।

कर्मवादियों पर ईश्वरवादियों का आक्षेप और उसका समाधान

आक्षेप- ईश्वर एक ऐसा व्यक्ति होना चाहिए कि जो सदा से मुक्त हो, और मुक्त जीवों की अपेक्षा भी जिसमें कुछ विशेषता हो। इसलिए कर्मवाद का यह मानना ठीक नहीं कि कर्म से छूट जाने पर सभी जीव मुक्त अर्थात् ईश्वर हो जाते हैं।

समाधान- ईश्वर चेतन है और जीव भी चेतन; फिर उनमें अन्तर ही क्या है? अन्तर इतना हो सकता है कि जीव की सभी शक्तियाँ आवरणों में घिरी हुई हैं और ईश्वर की नहीं। पर जिस समय जीव अपने आवरणों को हटा देता है, उस समय तो उसकी सभी शक्तियाँ पूर्ण रूप में प्रकाशित हो जाती हैं। फिर जीव और ईश्वर में विषमता किस बात की? विषमता का कारण जो औपाधिक कर्म है, उसके हट जाने पर भी यदि विषमता बनी रहे तो फिर मुक्ति ही क्या है? विषमता का राज्य संसार तक ही परिमित है आगे नहीं। इसलिए कर्मवाद के अनुसार यह मानने में कोई आपत्ति नहीं कि सभी मुक्त जीव ईश्वर ही हैं; केवल विश्वास के बल पर यह कहना कि

३७४ जैनदर्शन में कारण-कार्य व्यवस्था : एक समन्वयात्मक दृष्टिकोण

ईश्वर एक ही होना चाहिए उचित नहीं। सभी आत्माएँ तात्त्विक दृष्टि से ईश्वर ही हैं, केवल बंधन के कारण वे छोटे-मोटे जीव रूप में देखे जाते हैं- यह सिद्धान्त सभी को अपना ईश्वरत्व प्रकट करने के लिए पूर्ण बल देता है।^{१६७}

जैन दर्शन में कर्म-सिद्धान्त : विकसित स्वरूप

जैन दर्शन में कर्म सिद्धान्त का व्यवस्थित विवेचन प्राप्त होता है। कालवाद, स्वभाववाद, नियतिवाद तो जैन दर्शन के प्रासंगिक एवं गौण विवेच्य विषय हैं। किन्तु पूर्वकृत कर्मवाद और पुरुषार्थवाद जैन दर्शन के प्रमुख विवेच्य विषय हैं। "कर्म सिद्धान्त" जैन दर्शन का केन्द्रिय सिद्धान्त है। कर्म-सिद्धान्त के विभिन्न आयाम जैन दर्शन में समाहित हैं। कर्म सिद्धान्त में मात्र कर्म की ही व्याख्या नहीं है प्रत्युत आत्मकर्तृत्व- भोक्तृत्ववाद, पुनर्जन्मवाद आदि अन्य पक्ष भी सम्मिलित हैं। अतः आगमकार कहते हैं- "से आयावादी, लोयावादी, कम्मावादी, किरियावादी"^{१६८} अर्थात् आत्मा को जानने वाला आत्मवादी, लोकवादी, कर्मवादी और क्रियावादी है।

प्रत्येक आत्मा का पृथक् अस्तित्व और पृथक् कर्म-संयोजन है। इसलिए सभी जीव अपने-अपने कर्मों के कर्ता एवं भोक्ता हैं, अतः कहा है- "अप्पा कत्ता विकत्ता य, दुहाण य सुहाण य।"^{१६९} जीव स्वकर्मों से या पुण्य-पाप की क्रियाओं से अष्टविध कर्मों से बन्धता है तथा संवर और निर्जरा से सभी कर्मों का क्षय कर मोक्ष को प्राप्त करता है। बन्धन और मुक्ति की यह प्रक्रिया जीव के एक जन्म में पूर्ण न होकर कई जन्मों में पूर्ण होती है। इसलिए पुनर्जन्म की मान्यता भी कर्म-सिद्धान्त का अंग है। 'कर्म सिद्धान्त' के आधारभूत आगम वाक्य इस प्रकार हैं- "जं जारिसं पुव्वमकासि कम्मं, तमेव आगच्छति संपराए" (सूत्रकृतांग), "जहा कडं कम्म तहासि भारे" (सूत्रकृतांग) "सुचिण्णा कम्मा सुचिण्णफला भवन्ति, दुचिण्णा कम्मा दुचिण्णफला भवन्ति" (औपपातिक सूत्र) अर्थात् जैसा कर्म किया जाता है उसी के अनुरूप फल मिलता है।

आगमों में कर्मसिद्धान्त संक्षेप में प्रस्तुत हुआ, अतः जैनाचार्यों ने कर्मसिद्धान्त को शुभाशुभ कर्म के विपाक की व्यवस्था के लिए इसका विस्तार आवश्यक समझा। ईश्वरवाद, कूटस्थ आत्मवाद, क्षणिकवाद आदि को जैन दार्शनिक स्वीकार नहीं करते, इसलिए उन्होंने कर्म-सिद्धान्त को व्यापक धरातल पर स्थापित करने का प्रयास किया। उन्होंने कर्मसिद्धान्त के ग्रन्थों की बृहत्तर पर रचनाएँ कीं। इस सम्बन्ध में पण्डित सुखलालजी कहते हैं कि "यद्यपि वैदिक साहित्य तथा बौद्ध साहित्य में कर्म सम्बन्धी विचार हैं पर वह इतना अल्प है कि उसका कोई खास ग्रन्थ

उस साहित्य में दृष्टिगोचर नहीं होता, इसके विपरीत जैन दर्शन में कर्म-सम्बन्धी विचार सूक्ष्म, व्यवस्थित और अतिविस्तृत है।" इसी तथ्य को परिपुष्ट करते हुए डॉ. सागरमल जैन का कथन है कि "यद्यपि भारतीय चिन्तन की जैन, बौद्ध और वैदिक तीनों परम्पराओं में कर्मसिद्धान्त का विकास हुआ है, लेकिन उसके सर्वांगीण विकास का श्रेय जैन परम्परा को ही है।" इन विवरणों से यही प्रतिध्वनित होता है कि कर्मसिद्धान्त के आविर्भाव एवं विकास में जैन परम्परा का विशिष्ट योगदान है।^{१७०}

कर्म का अर्थ एवं स्वरूप

साधारण लोग खाना, पीना, सोना, चलना आदि किसी भी हलचल के लिए तथा काम, धन्धे या व्यवसाय के अभिप्राय से "कर्म" शब्द का प्रयोग करते हैं।

शास्त्रों में 'कर्म' के विभिन्न अर्थ हैं। कर्मकाण्डी मीमांसक यज्ञ-याग आदि क्रिया कलाप अर्थ में; स्मार्त विद्वान् चार वर्णों और चार आश्रमों के नियत कर्म रूप अर्थ में; वैयाकरण कर्ता जिसको अपनी क्रिया के द्वारा पाना चाहता है उस अर्थ में; नैयायिक लोग उत्क्षेपण आदि पाँच सांकेतिक कर्मों में 'कर्म' शब्द का व्यवहार करते हैं।

जैन दर्शन में क्रिया को ही कर्म कहा गया है और क्रिया में जीव की शारीरिक, मानसिक एवं वाचिक तीनों ही प्रकार की क्रियाओं को समाविष्ट किया गया है। शास्त्रीय भाषा में इन्हें योग कहा जाता है। लेकिन जैन परम्परा में कर्म का यह क्रियापरक अर्थ 'कर्म' शब्द की एक आंशिक व्याख्या ही प्रस्तुत करता है। शेष आंशिक व्याख्या को प्रस्तुत करते हुए आचार्य देवेन्द्र सूरि कर्म को निम्न प्रकार से परिभाषित करते हैं-

“कीरइ जिएण हेउहिं, जेणं तो भण्णए कम्म”^{१७१} जीव की क्रिया का जो हेतु है, वह कर्म है। इस प्रकार जैन दर्शन में क्रिया और क्रिया के हेतु या कारण दोनों को कर्म कहा गया है।

कर्म के दो पक्ष हैं-१. राग-द्वेष, कषाय आदि मनोभाव, २. कर्मपुद्गल। कर्मपुद्गल क्रिया का हेतु है और रागद्वेषादि क्रिया है। कर्मपुद्गल से तात्पर्य उन जड़ परमाणुओं से है जो प्राणी की किसी क्रिया के कारण आत्मा की ओर आकर्षित होकर, उससे अपना सम्बन्ध स्थापित कर कर्मशरीर की रचना करते हैं और समय-विशेष के पकने पर अपने फल के रूप में विशेष प्रकार की अनुभूतियाँ उत्पन्न कर अलग हो जाते हैं। इन्हें द्रव्य कर्म कहते हैं। “उक्तज्ञानावरणादिद्रव्यकर्मोदयजनिता आत्मनोऽज्ञानराग- मिथ्यादर्शनादिपरिणामविशेषा भावकर्माणि”^{१७२} अर्थात्

ज्ञानावरणादि द्रव्य कर्मों के उदय से होने वाले आत्मा के अज्ञान, राग, मिथ्यादर्शन आदि परिणामविशेष भाव कर्म हैं। द्रव्य कर्म के होने में भावकर्म और भावकर्म के होने में द्रव्यकर्म कारण है। जैसे वृक्ष से बीज और बीज से वृक्ष की परम्परा अनादिकाल से चली आ रही है, इसी प्रकार द्रव्यकर्म से भावकर्म और भाव कर्म से द्रव्य कर्म का सिलसिला भी अनादि है।

बन्धन के हेतु कषाय, राग, द्वेष, मोह आदि मनोभाव भी आत्मा में स्वतः उत्पन्न नहीं होते, अपितु कर्म-वर्गणा के विपाक के फलस्वरूप चेतना के सम्पर्क में आने पर ये तज्जनित मनोभाव बनते हैं। ये कर्म-पुद्गल प्राणी की क्रिया द्वारा उसकी ओर आकर्षित होते हैं। ये ही बन्धन के निमित्त हैं। बन्धन की दृष्टि से आत्मा की अशुद्ध मनोवृत्तियों (कषाय और मोह) और कर्म-वर्गणा के पुद्गलों में पारस्परिक सम्बन्ध है। वस्तुतः बन्धन की दृष्टि से जड़ कर्म परमाणु और आत्मा में निमित्त और उपादान का सम्बन्ध है। कर्म-पुद्गल बन्धन के निमित्त कारण है और आत्मा उपादान कारण।

जैनाचार्यों ने एकान्त रूप से न तो आत्मा को बन्धन का कारण माना है और न ही कर्मपुद्गलों को, अपितु दोनों के पारस्परिक संयोग से आत्मा बन्धन में आता है यह स्वीकार किया है।

कर्मबन्ध : चार प्रकार

बन्धन कर्मसिद्धान्त का महत्वपूर्ण विषय है। तत्त्वार्थसूत्रकार उमास्वाति ने इसका स्वरूप इस प्रकार सूत्रबद्ध किया है-

“सकषायत्वाज्जीवः कर्मणो योग्यान्पुद्गलानादत्ते स बन्धः” १६७३

कषाय भाव के कारण जीव का कर्म-पुद्गलों से आक्रान्त हो जाना बन्ध है।

जब कोई प्रवृत्ति होती है, उसी क्षण कर्म का बन्ध हो जाता है। यानी प्रवृत्ति का फल मिल जाता है। प्रवृत्ति का फल है-कर्मों का अर्जन। प्रत्येक क्रिया के साथ-साथ फल प्राप्त होता है, क्योंकि प्रत्येक क्रिया परिणाम को साथ लिए चलती है।

कर्म का बन्ध, कर्म परमाणुओं का अर्जन क्रिया का परिणाम है। यह परिणाम तत्काल प्राप्त होता है; ऐसा नहीं होता कि क्रिया अभी हो रही है और कर्म का बंध कभी बाद में होगा। जो अर्जित हो गया, जो संगृहीत हो गया, वह कब तक साथ रहेगा-इसका स्वतन्त्र नियम है। अर्जन का काल क्षण भर का है और उपभोग का काल बहुत लम्बा है। प्राणी दीर्घ काल तक अर्जित कर्मों का उपभोग करता रहता है।

इस कर्मबन्ध की प्रक्रिया में बन्ध की चार अवस्थाएँ बनती हैं वे निम्न हैं:-

“पयइठिडरसपएसा तं चउहा मोयगस्स दिट्ठंता”^{१९४}

कर्म-बन्ध लड्डु के दृष्टान्त से प्रकृति, स्थिति, रस और प्रदेश की अपेक्षा से चार प्रकार का है-

१. प्रकृति बन्ध- “ज्ञानप्रच्छादनादिस्वभावः प्रकृतिः”^{१९५} अर्थात् ज्ञान को ढकनादि स्वभाव प्रकृति है। यह प्रकृति बन्ध कर्म परमाणुओं की प्रकृति (स्वभाव) का निश्चय करता है अर्थात् कर्म के द्वारा आत्मा की ज्ञानशक्ति, दर्शनशक्ति आदि किस शक्ति का आवरण होगा, इस बात का निर्धारण कर्म की प्रकृति करती है।
२. प्रदेश बन्ध- “आत्मप्रदेशेषु द्वयर्धगुणहानिगुणितसमयप्रबद्धमात्राणि सिद्धराश्यनन्तैकभागप्रमितानामभव्यजीवस्यानन्तगुणानां सर्वकर्मपरमाणूनां परस्पर- प्रदेशानुप्रवेशलक्षणः प्रदेशबन्धः”^{१९६} अर्थात् आत्मा के प्रदेशों में अढाई गुणहानि गुणित समय प्रबद्ध मात्र की सत्ता रहती है तथा प्रतिसमय सिद्धराशि के अनन्तवें भाग प्रमाण या अभव्य जीवों के अनन्तवें समस्त कर्म परमाणुओं का परस्पर प्रदेशों में अनुप्रवेश होना प्रदेशबन्ध है। कर्म परमाणु आत्मा के किस विशेष भाग का आवरण करेंगे, इसका निश्चय प्रदेश बन्ध करता है। यह कर्मफल की विस्तार-क्षमता का निर्धारक है। कर्म-दलिकों की संख्या की प्रधानता से कर्म-परमाणुओं का ग्रहण प्रदेश-बन्ध कहलाता है।
३. स्थिति बन्ध- “ज्ञानावरणीयादिप्रकृतीनां ज्ञानप्रच्छादनादिस्वस्वभावा-परित्यागेनावस्थानं स्थितिः, तत्कालश्चोपचारात्”^{१९७} अर्थात् ज्ञानावरणीय आदि प्रकृतियों का ज्ञान को ढकने आदि रूप अपने स्वभाव को न छोड़ते हुए स्थित रहना स्थिति है। उसके काल को उपचार से स्थिति बंध कहा जाता है। कर्म परमाणु कितने समय तक सत्ता में रहेंगे और कब अपना फल देना प्रारम्भ करेंगे, इस काल-मर्यादा का निश्चय स्थिति-बन्ध करता है। यह समय मर्यादा का सूचक है।
४. अनुभाग बन्ध- “कर्मप्रकृतीनां तीव्रमन्दमध्यमशक्तिविशेषोऽनु-भागः”^{१९८} अर्थात् कर्म प्रकृतियों की तीव्र, मन्द, मध्यम शक्ति विशेष को अनुभाग कहते हैं। यह कर्मों के बन्ध एवं विपाक की तीव्रता और मन्दता का निश्चय करता है। यह कर्मों की तीव्रता या गहनता को बतलाता है।

“जोगा पयडिणएस”^{१७९} अर्थात् प्रकृतिबन्ध और प्रदेशबन्ध ये दोनों योगों की प्रवृत्ति से होते हैं। केवल योगों की प्रवृत्ति से जो बन्ध होता है वह सूखी दीवार पर हवा के झोंके के साथ आने वाली रेती के समान है। ग्यारहवें, बारहवें और तेरहवें गुणस्थान में कषायभाव के कारण कर्म का बन्धन इसी प्रकार का होता है। कषायरहित प्रवृत्ति से होने वाला कर्मबन्ध निर्बल, अस्थायी और नाममात्र का होता है, इससे संसार नहीं बढ़ता।

“ठिडअणुभागं कसायाउ”^{१८०} अर्थात् स्थितिबन्ध और अनुभागबन्ध कषाय से होते हैं। योगों के साथ कषाय की जो प्रवृत्ति होती है, उससे अमुक समय तक आत्मा से पृथक् न होने की कालिक मर्यादा पुद्गलों में निर्मित होती है। इसी कषाय से जीव और पुद्गल परस्पर बद्ध, स्पृष्ट, अवगाढ और स्नेह प्रतिबद्ध है तथा परस्पर एकमेक होकर रहते हैं।^{१८१}

कर्म की विभिन्न अवस्थाएँ

जैन दर्शन में कर्म की विविध अवस्थाओं का उल्लेख मिलता है। ये अवस्थाएँ कर्म के बन्धन, उद्वर्तन, सत्ता, उदय, क्षय आदि से सम्बन्धित हैं। इनको मुख्य रूप से १० भेदों में वर्गीकृत करते हैं। वे निम्न प्रकार हैं—(१) बन्धन (२) सत्ता (३) उदय (४) उदीरणा (५) उद्वर्तना (६) अपवर्तना (७) संक्रमण (८) उपशमन (९) निधत्ति (१०) निकाचन।

१. बन्धन- किसी विषय, वस्तु, व्यक्ति, घटना, परिस्थिति आदि के प्रति अनुकूलता में राग रूप प्रवृत्ति करने से और प्रतिकूलता में द्वेष रूप प्रवृत्ति करने से उसके साथ संबन्ध स्थापित हो जाता है। यह संबन्ध ही बन्ध है, बन्धन है। इस प्रकार राग-द्वेष करने का प्रभाव चेतना के गुणों पर एवं उन गुणों की अभिव्यक्ति से सम्बन्धित माध्यम शरीर, इन्द्रिय, मन वाणी आदि पर पड़ता है। अतः राग-द्वेष रूप जैसी तीव्र या मन्द प्रवृत्ति होती है, वैसे ही कर्म बन्धते हैं। जिस प्रकार शरीर में भोजन के द्वारा ग्रहण किया गया अच्छा पदार्थ शरीर के लिए हितकर और बुरा पदार्थ अहितकर होता है इसी प्रकार आत्मा द्वारा ग्रहण किए गए शुभ कर्म परमाणु आत्मा के लिए सुफल और सौभाग्यशाली एवं ग्रहण किए अशुभ कर्म परमाणु आत्मा के लिए कुफल दुर्भाग्यदायी होते हैं।

२. सत्ता- कर्म पुद्गल बन्धन के बाद से निर्जरा के पूर्व तक आत्मा से सम्बद्ध रहते हैं, उसे सत्ता कहते हैं। कर्म विपाक की काल-मर्यादा के परिपक्व न

होने के कारण जितने समय के लिए आत्मा और कर्म-पुद्गलों का सम्बन्ध बना रहता है, उसे सत्ता काल कहते हैं। इस अवस्था में कर्म अपना फल न प्रदान करते हुए आत्मा से सम्बद्ध रहता है। सत्ताकाल के समाप्त होने के बाद ही कर्म अपना फल देते हैं।

३. **उद्वर्तना अथवा उत्कर्षण-** बंधे हुए कर्म की स्थिति और रस (अनुभाग) का बढ़ना उद्वर्तना कहलाता है। कर्मों की स्थिति तथा अनुभाग का निश्चय तो बन्ध के ही समय जीव में विद्यमान कषाय भाव की तीव्रता के अनुसार हो जाता है। किन्तु बन्धे हुए कर्म की स्थिति एवं अनुभाग में वृद्धि पुनः पहले से अधिक पाप प्रवृत्ति करने तथा उसमें अधिक रस लेने से होती है। उदाहरणार्थ- पहले किसी ने डरते-डरते छोटी सी वस्तु चुराकर लोभ की प्रवृत्ति की, फिर वह डाकुओं के गिरोह में मिल गया तो उसकी लोभ की प्रवृत्ति का पोषण हो गया, वह बहुत बढ़ गई तथा अधिक काल तक टिकाऊ भी हो गई, अब वह निधड़क हो डाका डालने व हत्याएँ करने लगा। इस प्रकार उसकी पूर्व की लोभ की वृत्ति का पोषण होना, उसकी स्थिति व रस (अनुभाग) का बढ़ जाना "उद्वर्तना या उत्कर्षण" कहा जाता है।
४. **उदीरणा-** नियत समय से पूर्व कर्म का उदय में आना उदीरणा है। जिस प्रकार शरीर में स्थित कोई विकार कालान्तर में रोग के रूप में फल देने वाला है। टीका लगवाकर या दवा आदि के प्रयत्न द्वारा पहले ही उस विकार को उभार कर फल भोग लेने से उस विकार से मुक्ति मिल जाती है। श्री कन्हैयालालजी लोढ़ा उदीरणा का मनोवैज्ञानिक स्वरूप प्रस्तुत करते हुए कहते हैं कि अपने द्वारा पूर्व में किए हुए पापों या दोषों को स्मृति पटल पर लाकर गुरु के समक्ष प्रकट करना, उनकी आलोचना करना, प्रतिक्रमण करना उदीरणा है।^{१८९}
५. **उदय-** कर्म का फलित होना, उदय है। इस अवस्था में पूर्वबद्ध कर्म अपना फल प्रदान करते हैं। उदय दो प्रकार का है- (१) प्रदेशोदय (२) विपाकौदय। सभी कर्म अपना फल प्रदान करते हैं लेकिन उनमें से कुछ कर्म ऐसे भी होते हैं जो फल देते हुए भी भोक्ता को फल की अनुभूति नहीं कराते हैं और निर्जित हो जाते हैं। ऐसे कर्मों का उदय प्रदेशोदय कहलाता है। जैसे- ऑपरेशन करते समय अचेतन अवस्था में शल्यक्रिया

की वेदना की अनुभूति नहीं होती। कषाय के अभाव में ईर्यापथिक क्रिया के कारण जो बन्ध होता है उसका मात्र प्रदेशोदय होता है। जो कर्म परमाणु अपनी फलानुभूति करवाकर आत्मा से निर्जरित होते हैं, उनका उदय विपाकोदय कहलाता है। विपाकोदय की अवस्था में तो प्रदेशोदय होता ही है, लेकिन प्रदेशोदय की अवस्था में विपाकोदय हो ही, यह अनिवार्य नहीं है।

६. अपवर्तन या अपकर्षण- पूर्व में बन्धे हुए कर्मों की स्थिति एवं अनुभाग (रस) को वर्तमान के कर्म द्वारा न्यून कर देना अपवर्तन है। अपवर्तन उद्वर्तन से विपरीत अवस्था है। पहले किसी अशुभ कर्म का बन्ध करने के पश्चात् जीव यदि अच्छे कर्म करता है तो उसके पहले बान्धे हुए कर्मों की स्थिति व फलदान शक्ति घट जाती है। जैसे- श्रेणिक ने पहले क्रूर कर्म करके सातवीं नरक की आयु का बन्ध कर लिया था। बाद में वह भगवान महावीर की शरण व समवशरण में आया तो उसे सम्यक्त्व प्राप्त हुआ। जिसके कारण उसे कृत कर्मों पर पाश्चात्ताप हुआ तो शुभ भावों के प्रभाव से उसकी बान्धी हुई सातवीं नरक की आयु घटकर पहले नरक की रह गई। जैन कर्म सिद्धान्त में उद्वर्तन एवं अपवर्तन की अवस्थाओं से यह प्रतिध्वनित होता है कि प्रयत्न विशेष से पूर्व बद्ध कर्म की काल, स्थिति एवं फल की तीव्रता को मन्दता में परिवर्तन किया जा सकता है।

७. संक्रमण- कर्म-प्रकृति के पुद्गलों का परिणमन अन्य सजातीय प्रकृति में हो जाना संक्रमण कहलाता है। जीव के वर्तमान परिणामों के कारण से जो प्रकृति बंधी थी, उसका न्यूनाधिक व अन्य प्रकृति रूप परिवर्तन व परिणमन हो जाना कर्म का संक्रमित होना है। इस प्रकार अवान्तर कर्मप्रकृतियों (उत्तर कर्मप्रकृतियाँ) का अदल-बदल होना संक्रमण के रूप में जाना जाता है। इसमें आत्मा पूर्वबद्ध कर्मों की अवान्तर प्रकृतियों, समयावधि, तीव्रता एवं परिमाण (मात्रा) को परिवर्तित करता है। उदाहरणार्थ-पूर्व में बद्ध दुःखद संवेदन रूप असातावेदनीय कर्म का नवीन सातावेदनीय कर्म का बन्ध करते समय ही सातावेदनीय कर्म-प्रकृति के साथ मिलाकर उसका सातावेदनीय कर्म में संक्रमण किया जा सकता है। संक्रमण कर्मों के अवान्तर भेदों में ही होता है, मूल भेदों में नहीं होता है अर्थात् ज्ञानावरणीय कर्म का आयु कर्म में संक्रमण नहीं किया जा सकता। इसी प्रकार कुछ अवान्तर कर्म ऐसे हैं जिनका रूपान्तर

नहीं किया जा सकता। जैसे-दर्शन मोहनीय और चारित्र मोहनीय कर्म का रूपान्तर नहीं होता। इसी प्रकार आयुष्य कर्म भी एक दूसरे में संक्रमित नहीं होते, जैसे-नरकायु के मनुष्यायु में या तिर्यचायु से मनुष्यायु में आदि। संक्रमण के चार भेद हैं-(१) प्रकृति संक्रमण (२) स्थिति संक्रमण (३) अनुभाग संक्रमण (४) प्रदेश संक्रमण।

८. उपशमन- कर्मों के विद्यमान रहते हुए भी उनके फल देने की शक्ति को कुछ समय के लिए दबा देना या उन्हें किसी काल-विशेष के लिए फल देने में अक्षम बना देना उपशमन है। सत्ता और उपशमन में मुख्य अन्तर है कि सत्ता में कर्मविपाक स्वाभाविक रूप से स्थगित रहता है जबकि उपशमन में कर्मविपाक को स्थगित किया जाता है। उपशमन की तुलना राख से ढकी हुई अग्नि से की जा सकती है। जिस प्रकार राख से दबी हुई अग्नि उस आवरण के दूर होते ही पुनः प्रज्वलित हो जाती है, उसी प्रकार उपशमन की अवस्था के समाप्त होते ही कर्म पुनः उदय में आकर अपना फल देता है।

९. निधत्ति- जिसमें कर्मों का उदय और संक्रमण न हो सके किन्तु उद्वर्तन-अपवर्तन की संभावना हो, वह निधत्ति है। जैसे-मलेरिया, तपेदिक, हैजा आदि के विषाणु शरीर में भीतर प्रवेश हो जाय और वहाँ उनमें बाहरी प्रभाव से हानि-वृद्धि होती रहे, परन्तु वे बाहर में रोग के रूप में प्रकट नहीं हो तथा दवा के प्रभाव से भी उनका रूपान्तरण नहीं हो। इसी प्रकार सत्ता में स्थित जिन कर्मों का कषाय के घटने-बढ़ने से उनके स्थिति व अनुभाग में घट-बढ़, अपकर्षण-उत्कर्षण हो परन्तु उनका संक्रमण अर्थात् अन्य प्रकृति रूप रूपान्तरण तथा उदय नहीं हो ऐसी कर्म की अवस्था निधत्ति कहलाती है। यह चार प्रकार की है- (१) प्रकृति निधत्ति (२) स्थिति निधत्ति (३) अनुभाव निधत्ति (४) प्रदेश निधत्ति।

१०. निकाचना- इस अवस्था में कर्मों को उसी रूप में भोगना अनिवार्य होता है, जिस रूप में उन कर्मों का बन्ध हुआ करता है। इसमें न तो कर्मों की उदीरणा सम्भव है और न उद्वर्तना-अपवर्तना। निकाचना की स्थिति में कर्मों का बन्धन इतना प्रगाढ़ होता है कि उसकी काल-मर्यादा एवं तीव्रता (परिमाण) में कोई परिवर्तन नहीं किया जा सकता है और न ही समय के पूर्व उसका भोग किया जा सकता है। जैसे-आगामी भव का बंधा हुआ आयु कर्म।

अष्टविध कर्म और उनकी उत्तर प्रकृतियाँ-

कर्म परमाणुओं द्वारा आत्मा की विभिन्न शक्तियों के प्रकट होने में अवरोध पैदा किया जाता है। उस अवरोध के भेदों के अनुसार कर्म-विभाग किये जाते हैं। वे आठ प्रकार के हैं-१. ज्ञानावरणीय, २. दर्शनावरणीय, ३. वेदनीय, ४. मोहनीय, ५. आयुष्य, ६. नाम, ७. गोत्र, ८. अन्तराय।^{१८३}

इनको मूल प्रकृतियाँ कहते हैं तथा इनके अवान्तर भेद को उत्तर प्रकृतियाँ कहते हैं। इन प्रकृतियों के सम्बन्ध में आचारांग और सूत्रकृतांग में कोई उल्लेख नहीं है तथा स्थानांग व भगवती में आठ मूलप्रकृतियों का ही विवरण है। समवायांग में दर्शनावरणीय, मोहनीय और नाम कर्म की उत्तरप्रकृतियों को छोड़कर शेष कर्मों की उत्तरप्रकृतियों की चर्चा है। प्रज्ञापना में कर्म की मूल एवं उनकी उत्तर प्रकृतियों का पूर्ण विवरण है।^{१८४}

१. ज्ञानावरणीय कर्म- जो आत्मा के विशेष ग्रहण रूप ज्ञान गुण को ढकता है, वह ज्ञानावरणीय कर्म है। जिस प्रकार बादल सूर्य के प्रकाश को आवरित करते हैं, तो सूर्य का प्रकाश तिरोहित हो जाता है उसी प्रकार ज्ञानावरणीय कर्म आत्मा की सहज ज्ञान की उपलब्धि में बाधक होता है जिससे आत्मा का ज्ञान प्रकट नहीं हो पाता है। ज्ञानावरण, दर्शनावरण कर्म के उदय से जीव के ज्ञान दर्शन गुण पर मात्र आवरण आता है, उससे ज्ञान-दर्शन गुण पूर्णतया नष्ट नहीं होते। ज्ञानावरणीय कर्म के भेद- “*पंचविहे पण्णत्ते। तंजहा-आभिणिबोहियणाणवरणिज्जे जाव केवलणाणावरणिज्जे*”^{१८५}

ज्ञानावरणीय कर्म पाँच प्रकार के कहे गए हैं - (१) मतिज्ञानावरण (२) श्रुतज्ञानावरण (३) अवधिज्ञानावरण (४) मनःपर्यायज्ञानावरण (५) केवलज्ञानावरण।

ऐन्द्रिक एवं मानसिक ज्ञान-क्षमता पर आवरण मतिज्ञानावरण है। बौद्धिक अथवा आगमज्ञान की अनुपलब्धि होना श्रुतज्ञानावरण है। अतीन्द्रिय ज्ञान क्षमता पर आवरण अवधिज्ञानावरण है। पर मानसिक अवस्थाओं की ज्ञान-प्राप्ति का अभाव मनःपर्यायज्ञानावरण है। पूर्णज्ञान प्राप्त करने की क्षमता पर आवरण केवलज्ञानावरण है।

२. दर्शनावरणीय कर्म- जो आत्मा के सामान्य-ग्रहण रूप दर्शन गुण को रोकता है, वह दर्शनावरणीय कर्म है। इसके परिणामस्वरूप जीव पदार्थ का यथार्थ दर्शन नहीं कर पाता। इस कर्म की तुलना दरवाजे पर खड़े द्वारपाल से की जा सकती है, जो राजा के दर्शन में बाधक बनता है। इसी प्रकार दर्शनावरणीय कर्म व्यक्ति के ऐन्द्रिक-संवेदन में बाधक बनता है।

दर्शनावरणीय कर्म के भेद-“*पंचविहे पण्णत्ते। तंजहा-णिहा जाव थीणगिद्धी। चउव्विहे पण्णत्ते। तंजहा-चक्खुदंसणावरणिज्जे जाव केवलदंसणा- वरणिज्जे।*”^{१८६} दर्शनावरणीय कर्म की ९ उत्तरप्रकृतियाँ हैं, वे इस प्रकार हैं- (१) चक्षुदर्शनावरण (२) अचक्षुदर्शनावरण (३) अवधिदर्शनावरण (४) केवलदर्शनावरण (५) निद्रा (६) निद्रानिद्रा (७) प्रचला (८) प्रचलाप्रचला (९) स्त्यानगृद्धि।

नेत्र-शक्ति का अवरुद्ध हो जाना चक्षुदर्शनावरण है। नेत्र के अतिरिक्त शेष इन्द्रियों की सामान्य अनुभव शक्ति पर आवरण आ जाना अचक्षुदर्शनावरण है। अतीन्द्रिय दर्शन की उपलब्धि में अवरोध आना अवधिदर्शनावरण है। त्रिकालिक घटनाओं के बोध का आवरित होना केवलदर्शनावरण है। सामान्य शयन निद्रा है। गहरी नींद निद्रानिद्रा है। बैठे-बैठे आने वाली निद्रा प्रचला है। चलते-फिरते आने वाली निद्रा प्रचला-प्रचला है। दिन अथवा रात्रि में सोचे हुए कार्य-विशेष को सुप्तावस्था में सम्पन्न करने का सामर्थ्य उत्पन्न होना स्त्यानगृद्धि है।

३. वेदनीय कर्म- जो सुख-दुःख का अनुभव कराए, वह वेदनीय कर्म है। वेदनीय कर्म के भेद-“*दुविहे पण्णत्ते। तंजहा-सातावेयणिज्जे य असातावेयणिज्जे य*”^{१८७} वेदनीय कर्म दो प्रकार का है- (१) सातावेदनीय (२) असातावेदनीय। अनुकूल विषयों की प्राप्ति से होने वाला सुख का संवेदन सातावेदनीय है तथा प्रतिकूल विषयों की प्राप्ति से होने वाला दुःख का संवेदन असातावेदनीय है।

४. मोहनीय कर्म- जो आत्मा को मोहित करे, वह मोहनीय कर्म है। इन कर्म परमाणुओं से आत्मा की विवेक शक्ति कुण्ठित होती है। जैसे- मदिरा आदि नशीली वस्तुओं के सेवन से व्यक्ति का विवेक और चरित्र दूषित हो जाता है, ठीक उसी प्रकार मोहनीय कर्म के कारण व्यक्ति की दृष्टि और आचरण दूषित हो जाता है।

मोहनीय कर्म के भेद-“*दुविहे पण्णत्ते। तंजहा-दंसणमोहणिज्जे य चरित्रमोहणिज्जे य...* दुगुंछा”^{१८८} मोहनीय कर्म के मुख्य दो भेद हैं- (१) दर्शन (२) चारित्र। अवान्तर भेद कुल २८ हैं।

सम्यक्त्वमोहनीय कर्म में कुछ क्षण के लिए जीव में सम्यक्त्व की व्युत्पत्ति होती है और पुनः मलिनता आ जाती है। मिथ्यात्वमोहनीय कर्म के उदय से जीव की तत्त्व श्रद्धा मिथ्या होती है। सम्यक्त्व तथा मिथ्यात्व का समन्वित रूप मिश्रमोहनीय कर्म है। ये तीनों भेद दर्शन मोहनीय के हैं।

चारित्र मोहनीय के दो भेद हैं—(१) कषाय मोहनीय (२) नोकषाय मोहनीय। क्रोध, मान, माया, लोभ की वह तीव्रता जो जीव के सम्यक्त्व गुणों का घात करके अनन्त काल तक संसार में परिभ्रमण कराये, अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ कहलाता है। जिस कषायचतुष्क के उदय से आत्मा के देशविरति चारित्र का घात होता है, उसे अप्रत्याख्यानवरण क्रोध, मान, माया, लोभ कहते हैं। जिस कषायचतुष्क के उदय से आत्मा को सर्वविरति चारित्र प्राप्त करने में बाधा है। वह प्रत्याख्यानवरण क्रोध-मान-माया-लोभ होता है। जिस कषायचतुष्क के उदय से आत्मा को यथाख्यात चारित्र की प्राप्ति न हो उसे संज्वलन क्रोध-मान-माया-लोभ कहते हैं। ये कषाय मोहनीय के १६ अवान्तर भेद हैं।

जिस कर्म के उदय से जीव में कारणवश अथवा अकारण ही हास्य, रति, अरति, शोक, भय अथवा जुगुप्सा होती है उसे हास्यादि नोकषाय मोहनीय कर्म कहा जाता है। स्त्री को पुरुष के साथ, पुरुष को स्त्री के साथ और नपुंसक को पुरुष व स्त्री के साथ संभोग की इच्छा क्रमशः स्त्रीवेद-पुरुषवेद-नपुंसकवेद नोकषाय मोहनीय कर्म कहलाता है। ये नोकषाय मोहनीय के ९ भेद हैं।

५. आयुष्य कर्म- जो कर्म परमाणु आत्मा को विभिन्न शरीरों में नियत अवधि तक कैद रखते हैं, उन्हें आयुष्य कर्म कहते हैं।

आयुष्य कर्म के भेद- “चउव्विहे षण्णत्ते। तंजहा-णेरइयाउए जाव देवाउए”^{१८९} आयुष्य कर्म की चार उत्तर प्रकृतियाँ हैं— (१) देवायु (२) मनुष्यायु (३) तिर्यचायु (४) नरकायु। जिसके कारण देवगति प्राप्त हो वह देवायु, जिस निमित्त से मनुष्य योनि मिले वह मनुष्यायु, जिसके फलस्वरूप तिर्यचगति मिले वह तिर्यचायु तथा जिसके परिणामस्वरूप नरकगति भोगनी पड़े वह नरकायु कहलाती है।

६. नाम कर्म- चित्रकार की तरह जो आत्मा को नाना योनियों में नरकादि पर्यायों द्वारा नामांकित कराता है, वह नाम कर्म है। इस कर्म के कारण जीव नरक, तिर्यच, मनुष्य, देव आदि विविध शरीर धारण करता है। नाम कर्म जीव के व्यक्तित्व का एक प्रमुख निर्धारक तत्त्व है।

नाम कर्म के भेद- “बायालीसइविहे षण्णत्ते। तंजहा गतिणामे..... अपसत्थविहाय- गतिणामे थ”^{१९०} नाम कर्म की केवल मूल प्रकृतियों के अवान्तर भेदों की गणना की दृष्टि से ४२ भेद हैं तथा नामकर्म की मूल प्रकृतियों के अवान्तर भेदों की गणना से ६७, ९३, १०३ भेद भी बताए गए हैं। ये दो प्रकार की हैं— (१) पिण्ड प्रकृतियाँ (२) प्रत्येक प्रकृतियाँ।

पिण्ड प्रकृतियाँ-उत्तर प्रकृतियाँ सहित-

१. गतिनाम कर्म- (१) नरक गति (२) तिर्यच गति (३) मनुष्य गति (४) देव गति।
२. जातिनाम कर्म-(१) एकेन्द्रिय (२) बेइन्द्रिय (३) तेइन्द्रिय (४) चतुरिन्द्रिय (५) पंचेन्द्रिय।
३. शरीरनाम कर्म- (१) औदारिक (२) आहारक (३) वैक्रिय (४) तेजस (५) कार्मण।
४. अंगोपांगनाम कर्म- (१) औदारिक (२) वैक्रिय (३) आहारक।
५. बन्धननाम कर्म- (१) औदारिक (२) आहारक (३) वैक्रिय (४) तेजस (५) कार्मण।

ये पाँच अथवा १५ बन्धन नाम कर्म इस प्रकार हैं-

(१) औदारिक-औदारिक बन्धन नाम (२) औदारिक-तेजस बन्धन नाम (३) औदारिक-कार्मण बन्धन नाम। (४) वैक्रिय-वैक्रिय बन्धन नाम (५) वैक्रिय-तेजस बन्धन नाम (६) वैक्रिय-कार्मण बन्धन नाम (७) आहारक-आहारक बन्धन नाम (८) आहारक-तेजस बन्धन नाम (९) आहारक-कार्मण बन्धन नाम (१०) औदारिक-तेजस कार्मण बन्धन नाम (११) वैक्रिय-तेजस-कार्मण बन्धन नाम (१२) आहारक-तेजस कार्मण बन्धन नाम (१३) तेजस- तेजस बन्धन नाम (१४) तेजस कार्मण बन्धन नाम (१५) कार्मण-कार्मण बन्धन नाम।

६. संघात नाम कर्म- (१) औदारिक (२) वैक्रिय (३) आहारक (४) तेजस (५) कार्मण।
७. संहनन नाम कर्म- (१) वज्रऋषभनाराच (२) ऋषभनाराच (३) नाराच (४) अर्द्धनाराच (५) कीलिका (६) छेवट्ट।
८. संस्थान नाम कर्म- (१) समचतुरस्र-संस्थान (२) न्यग्रोध-परिमण्डल (३) सादि संस्थान (४) कुब्ज (५) वामन (६) हुण्डक।
९. वर्णनाम कर्म- (१) कृष्ण (२) नील (३) लोहित (४) हारिद्र (५) सित।
१०. गन्धनाम कर्म- (१) सुरभि-सुगन्ध नाम कर्म (२) दुरभि-दुर्गन्ध नाम कर्म।
११. रसनाम कर्म- (१) तिक्तरस (२) कटुरस (३) कषायरस (४) अम्ल (५) मधु।

३८६ जैनदर्शन में कारण-कार्य व्यवस्था : एक समन्वयात्मक दृष्टिकोण

१२. स्पर्शनाम कर्म- (१) गुरु (२) लघु (३) मृदु (४) खर (५) शीत (६) उष्ण (७) स्निग्ध (८) रुक्ष।

१३. आनुपूर्वीनाम कर्म- (१) देवानुपूर्वी (२) मनुष्यानुपूर्वी (३) तिर्यचानुपूर्वी (४) नरकानुपूर्वी।

१४. विहायोगति- (१) शुभ विहायोगति (२) अशुभ विहायोगति।

गतिनामकर्म के प्रभाव से जीव मनुष्यादि गतियों में जाता है। जातिनामकर्म के निमित्त से एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पंचेन्द्रिय जाति प्राप्त करता है। शरीरनामकर्म के कारण जीव को औदारिक, वैक्रिय, आदि शरीरों की प्राप्ति होती है। अंगोपांगनामकर्म के उदय से जीव के विविध अंगों और उपांगों को एक निश्चित स्वरूप मिलता है। बन्धननामकर्म द्वारा ग्रहण किये हुए औदारिक आदि शरीर पुद्गलों के साथ गृह्यमाण औदारिक आदि पुद्गलों का आपस में सम्बन्ध स्थापित होता है। इसके १५ भेद विभिन्न शरीरों के पारस्परिक सम्बन्ध के सूचक हैं। जिस कर्म के उदय से शरीर योग्य पुद्गल प्रथम ग्रहण किये हुए शरीर पुद्गलों पर व्यवस्थित रूप से स्थापित किये जाते हैं, उसे संघातनामकर्म कहते हैं। जिस कर्म के प्रभाव से शरीर के हड्डियों की सन्धियाँ दृढ़ होती हैं, उसे संहनननामकर्म कहते हैं। संस्थाननामकर्म के कारण शुभता एवं अशुभता की दृष्टि से शरीर के पृथक्-पृथक् आकार निर्मित होते हैं। वर्णनामकर्म शरीर के विविध वर्णों को निर्धारित करता है। जिस कर्म के उदय से शरीर में शुभ या अशुभ गन्ध हो, उसे गन्धनामकर्म कहते हैं। रसनामकर्म के उदय से शरीर में तिक्त, मधुर आदि शुभ एवं अशुभ रसों की निष्पत्ति होती है। जिस कर्म के प्रभाव से शरीर का स्पर्श कर्कश, मृदु, स्निग्ध, रुक्ष आदि रूप हो, उसे स्पर्शनामकर्म कहते हैं। जिस कर्म के उदय से जीव विग्रहगति में अपने उत्पत्ति स्थान पर पहुँचता है, उसे आनुपूर्वीनामकर्म कहते हैं। जिस कर्म के उदय से जीव की चाल शुभ या अशुभ होती है, उसे विहायोगतिनामकर्म कहते हैं।

प्रत्येक प्रकृतियाँ-

(१) पराघात (२) उच्छ्वास (३) आतप (४) उद्योत (५) अगुरुलघु (६) तीर्थकर (७) निर्माण (८) उपघात।

त्रसदशक की प्रत्येक प्रकृतियाँ - (१) त्रसनाम (२) बादरनाम (३) पर्याप्तनाम (४) प्रत्येकनाम (५) स्थिरनाम (६) शुभनाम (७) सुभगनाम (८) सुस्वरनाम (९) आदेयनाम (१०) यशःकीर्तिनाम।

स्थावर दशक की प्रत्येक प्रकृतियाँ- (१) स्थावरनाम (२) सूक्ष्मनाम (३) अपर्याप्तनाम (४) साधारणनाम (५) अस्थिरनाम (६) अशुभनाम (७) दुर्भगनाम (८) दुःस्वरनाम (९) अनादेयनाम (१०) अयशःकीर्तिनाम।

जिस कर्म के उदय से जीव बड़े-बड़े बलवानों की दृष्टि में भी अजेय समझा जाता है, उसे पराघातनामकर्म कहते हैं। श्वास लेने और छोड़ने की क्रिया को उच्छ्वासनामकर्म कहते हैं। आतपनामकर्म से सूर्यमण्डल के बादर पृथिवीकायिक जीवों का शरीर उष्ण न होकर उनका प्रकाश उष्ण होता है। उद्योतनामकर्म से जीव का शरीर शीत प्रकाश फैलाता है। जिसके कारण जीव का शरीर न हल्का होता है और न भारी वह अगुरुलघुनामकर्म कहलाता है। केवलज्ञान के उत्पन्न होने पर ही तीर्थकरनामकर्म का उदय होता है। अंग-उपांग का व्यवस्थित स्वरूप निर्माणनामकर्म से होता है। जिसके कारण शरीर के विविध अवयव यथास्थान व्यवस्थित नहीं होते, वह उपाघातनामकर्म है। जिस कर्म के प्रभाव से त्रसकाय की प्राप्ति हो, त्रसनामकर्म कहते हैं। जिस कर्म के उदय से जीव को बादर काय की प्राप्ति हो, उसे बादरनामकर्म कहते हैं। जिस कर्म के उदय से जीव अपनी-अपनी पर्याप्तियों से युक्त होते हैं, वह पर्याप्तनामकर्म है। जिसके उदय से एक शरीर का स्वामी एक ही जीव होता है वह प्रत्येकनामकर्म है। स्थिरनामकर्म के उदय से दाँत हड्डी ग्रीवा आदि अपने सुनिश्चित स्थान पर होते हैं। शुभनामकर्म शरीर के अवयवों की शुभता को सूचित करता है। सुभगनामकर्म से अकारण ही जीव लोकप्रिय बनता है। सुस्वरनामकर्म के उदय से जीव की आवाज मधुर एवं सुस्वर होती है। आदेयनामकर्म के उदय से जीव का वचन सर्वमान्य होता है। यशःकीर्तिनामकर्म से जीव का संसार में यश फैलता है। स्थावरनामकर्म के उदय से जीव में स्थिर होने की प्रवृत्ति विकसित होती है। सूक्ष्मनामकर्म से जीव को शरीर हल्का या भारी न मिले। अपर्याप्तनामकर्म से जीव की पर्याप्तियाँ पूर्ण नहीं होती। साधारणनामकर्म के उदय से अनन्त जीव एक कर्म के स्वामी बनते हैं। अस्थिरनामकर्म के उदय से शरीर के विविध अवयव अस्थिर होते हैं। अशुभनामकर्म नाभि के नीचे के विविध अवयवों की अशुभता को सूचित करते हैं। दुर्भगनामकर्म से उपकार करके भी अप्रिय बनता है। दुःस्वरनामकर्म से कर्कश एवं अप्रिय वचन का उच्चारण होता है। जिस कर्म के उदय से युक्तियुक्त वचन भी अग्राह्य समझे जाए, वह अनादेय नाम कर्म है। अयशःकीर्तिनामकर्म के उदय से जीव लोक में अपयश एवं अपकीर्ति प्राप्त करता है।

इस प्रकार नामकर्म की पिण्ड प्रकृतियों में बन्धन नामकर्म के ५ भेद मानने पर नामकर्म के कुल ६५ भेद होते हैं। पिण्ड प्रकृतियों के ६५ एवं प्रत्येक प्रकृतियों के २८ भेदों को जोड़ने पर नामकर्म के १३ भेद होते हैं और बन्धनामकर्म के ५ के स्थान पर १५ भेदों को लेने पर नाम कर्म के कुल १०३ भेद होते हैं।

७. गोत्र कर्म- जो आत्मा को उच्च अथवा नीच कुल में व्यवहृत करवाता है, वह गोत्र कर्म है।

गोत्र कर्म के भेद- “दुविहे पण्णत्ते। तंजहा उच्चगोए य णीयागोए च”^{१९१} (१) गोत्र कर्म दो प्रकार का होता है- (१) उच्च गोत्र (२) नीच गोत्र। उच्च गोत्र-कर्म के अभ्युदय से जीव उच्च कुल में जन्म लेता है। नीच गोत्र कर्म के कारण जीव नीच कुल में जन्म लेता है।

८. अन्तराय कर्म- भण्डारी की तरह जो दाता और पात्र आदि के बीच में आकर आत्मा के दान आदि में विघ्न डालता है, वह अन्तराय कर्म है। यह कर्म अभीष्ट की उपलब्धि में बाधा पहुँचाता है।

अन्तराय कर्म के भेद- “पंचविहे पण्णत्ते। तंजहा-दाणतराइए जाव वीरियंतराइए”^{१९२} अन्तराय पाँच प्रकार का है- १. दानान्तराय, २. लाभान्तराय, ३. भोगान्तराय, ४. उपभोगान्तराय, ५. वीर्यान्तराय। जिस कर्म के कारण जीव को दान देने का उत्साह न हो, वह दानान्तराय कर्म है। जिस कर्म के उदय से उसे इष्ट वस्तु की प्राप्ति न हो, वह लाभान्तराय कर्म है। जिस कर्म के उदय से भोग्य वस्तुओं के विद्यमान होने पर भी इनका भोग न हो सके, वह भोगान्तराय कर्म है। जीव जिस कर्म के प्रभाव से उपभोग सामग्री का उपभोग न कर सके, वह उपभोगान्तराय कर्म है। किसी कार्य-विशेष में व्यक्ति का पराक्रम न दिखा पाना या अपनी सामर्थ्य का सदुपयोग कर पाना, वीर्यान्तराय कर्म है।

कर्मबन्ध के हेतु

जैन दर्शन में बन्धन का हेतु आस्रव है। आस्रव से अभिप्राय है- कर्मवर्णाओं का आत्मा में आना। आने के द्वार मन-वचन-काया रूपी तीनों योग हैं। जिसे आस्रव के रूप में परिभाषित करते हुए उमास्वाति कहते हैं- “कायवाङ्मनःकर्म योगः, स आस्रवः”^{१९३} अर्थात् मानसिक, वाचिक और कायिक प्रवृत्तियाँ आस्रव हैं। यह आस्रव पुण्य रूप और पाप रूप दोनों प्रकार का हो सकता है। अतः कहा है- “शुभः पुण्यस्याशुभः पापस्य”^{१९४} अर्थात् जीव की

पुण्य-प्रवृत्तियों से शुभ कर्म का आस्रव होता है तथा अशुभ प्रवृत्तियों से पाप कर्म का आस्रव होता है।

ये आस्रव द्वार बन्ध के हेतु कहलाते हैं। समवायांग सूत्र में जिनका नामोच्चारण इस प्रकार हुआ है- “*पंच आस्रवद्वारा पन्नन्ता तजंहा-मिच्छन्तं, अविरई, पमाया, कसाया, जोगा*”^{१९५} अर्थात् मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग - ये पाँच आस्रव द्वार हैं।

१. मिथ्यात्व- पदार्थ का यथार्थ श्रद्धान न होकर मिथ्या श्रद्धान होना, मिथ्यात्व है। यह मिथ्यात्व दो तरह से फलित होता है-(१) वस्तु-विषयक यथार्थ श्रद्धान का अभाव (२) वस्तु का अयथार्थ श्रद्धान अर्थात् किसी पदार्थ के यथार्थ स्वरूप को असत्य मानकर उसके अयथार्थ स्वरूप को ही सत्य मान बैठना। यथा-शरीर आदि जड़ पदार्थों में चैतन्य बुद्धि, अतत्त्व में तत्त्व बुद्धि और अधर्म में धर्म बुद्धि आदि विपरीत भावना। मिथ्यात्व अयथार्थ दृष्टिकोण से पाँच प्रकार का है- १. एकान्त, २. विपरीत, ३. विनय, ४. संशय और ५. अज्ञान।
२. अविरति- शुभ प्रवृत्तियों से विरत होना ही अविरति है। इसमें जीव पाप-कार्यों आस्रवद्वारों, इन्द्रिय और मन के विषयों से विरक्त नहीं होता है इसलिए वह अविरत जीव हिंसा, असत्य, स्तेनकर्म, मैथुन, संचय आदि दुर्वृत्तियों में संलग्न रहता है। ऐसे व्यक्ति का त्याग के प्रति अनुत्साह और भोग में उत्साह होता है। यह जीवन की असंयमित और मर्यादित प्रणाली है। इसके पाँच भेद हैं-१, हिंसा, २. असत्य, ३. स्तेयवृत्ति, ४. मैथुन (कामवासना) ५. परिग्रह।
३. प्रमाद- कषाय एवं वासनाओं के तीव्र आवेग के कारण आत्मचेतना का प्रसुप्त होना ही प्रमाद है। प्रमाद विवेक शक्ति को कुण्ठित करता है। प्रमाद के कारण मनुष्य धर्म कार्यों को नहीं कर पाता, कर्तव्य-अकर्तव्य में असावधानी बरतता है, शुभ परिणति में उत्साह नहीं रखता, मोक्ष-मार्ग की ओर गति नहीं कर पाता है। प्रमाद को हिंसा का मुख्य कारण माना गया है। दूसरे प्राणी का घात हो या न हो, फिर भी प्रमादी व्यक्ति को हिंसा का दोष निश्चित रूप से लगता है। अतः भगवान महावीर ने कहा है- “*समयं गोयम मा पमायए*” अर्थात् हे गौतम! क्षणमात्र का भी प्रमाद न कर।
४. कषाय- आत्मा के कलुषित परिणाम कषाय है। कषाय ही जन्म-मरण के मूल कारण है। कषाय क्रोध, मान, माया और लोभ के भेद से चार प्रकार के

कहे गए हैं। ये जीव की शुभ भावनाओं को कृश करते हैं। क्रोध कषाय के कारण आत्मा स्वभाव से वंचित होकर आक्रोश से भर जाता है। मान-कषाय के प्रभाव से जीव में आत्म-प्रदर्शन की मिथ्या भावना जागृत होती है। माया के कारण जीव के आचार एवं विचारों में एकरूपता न रहकर उसमें एक तरह की कपट-प्रवृत्ति विकसित होती है। लोभ कषाय के कारण ममत्व की भावना जागृत होती है। यह कषाय संग्रह-वृत्ति को जन्म देती है। अतः कषाय मन के आन्तरिक मनोविकार हैं।

५. योग- योग का अर्थ है प्रवृत्ति। यह शुभ और अशुभ दोनों प्रकार की होती है। शुभ योग की प्रवृत्ति से पुण्य का और अशुभ योग की प्रवृत्ति से पाप का आस्रव होता है। इसके ३ भेद हैं-मन, वचन और काया। मन, वचन और काया से होने वाली आत्मा की क्रिया कर्म परमाणुओं के साथ आत्मा का योग अर्थात् सम्बन्ध कराती है, एतदर्थ इसे योग कहा गया है।

बन्धन के उक्त पाँच कारणों में कषाय और योग- ये दो महत्त्वपूर्ण हैं। क्योंकि मिथ्यात्व, अविरति और प्रमाद के मूल तो कषाय ही हैं। कर्मबन्ध की विस्तृत व्याख्या के लिए मिथ्यात्वादि पाँचों को कर्मबन्ध का कारण कहा गया है। परन्तु कषाय एवं योग ही कर्मबन्ध के मूल कारण हैं, जिनमें बन्धनकारक जीव के सम्पूर्ण मनोविकारों का समावेश है। बन्धन न तो शरीर में है, न इन्द्रियों में है और न ही बाहर किसी अन्य वस्तु में, बल्कि इनके निमित्त से मन में राग एवं द्वेष जो भाव उत्पन्न होते हैं, उन भावों के कारण ही बन्धन होता है। अतः कहा है- “रागो य दोसो वि य कम्मबीयं”^{११६} अर्थात् राग और द्वेष कर्म के बीज हैं। इसके अतिरिक्त जैन साहित्य में अष्टविध कर्म के बन्ध के पृथक् कारणों का भी उल्लेख प्राप्त होता है।

कर्मबन्ध के विशिष्ट कारण

तत्त्वार्थ सूत्र और कर्मग्रन्थ में ज्ञानावरणीय आदि अष्टविध कर्मों के बन्ध के कारणों का सूत्राबद्ध वर्णन मिलता है-

१-२. ज्ञानावरणीय दर्शनावरणीय-कर्मबन्ध के कारण

“तत्प्रदोषनिह्नवमात्सर्यान्तरायासादनोपघाता ज्ञानदर्शनावरणयोः”^{११७} अर्थात् प्रदोष, निह्नव, मात्सर्य, अन्तराय, आसादन तथा उपघात ये ज्ञानावरण व दर्शनावरण कर्म के बन्ध हेतु हैं। (१) ज्ञानी और सम्यक् दृष्टि की निन्दा करना अथवा उसके प्रति अकृतज्ञ होना (२) ज्ञानी का उपकार स्वीकार नहीं करना तथा मिथ्या मान्यताओं का प्रतिपादन करना (३) ज्ञान प्राप्ति तथा शुद्ध दृष्टिकोण की उपलब्धि में बाधक बनना

(४) ज्ञानी और सम्यक् दृष्टि के प्रति द्वेष रखना (५) ज्ञानी और सम्यक् दृष्टि का समुचित विनय एवं सम्मान नहीं करना ६. विद्वान् और सम्यक् दृष्टि के साथ मिथ्याग्रह सहित विवाद करना। इन ६ प्रकार के अशुभ आचरण के द्वारा ज्ञानावरणीय और दर्शनावरणीय कर्म का बन्ध होता है। कर्मग्रन्थ में भी उपर्युक्त ६ कारण मान्य हैं।^{१९८}

३. असाता-सातावेदनीय कर्मबन्ध के कारण

“दुःखशोकतापाक्रन्दनवधपरिवेदनान्यात्मपरोभयस्थान्यस”

दुःखशोकतापाक्रन्दनवधपरिवेदनान्यात्मपरोभयस्थान्यस

“भूतव्रत्यनुकम्पा दानं सरागसंयमादियोगः क्षान्तिः शौचमिति सद्देहास्य”^{१९९}

१. दुःख, २. शोक, ३. ताप, ४. आक्रन्दन, ५. वध, ६. परिवेदन ये ६ असातावेदनीय कर्म के बन्ध के कारण हैं, जो ‘स्व’ और ‘पर’ की अपेक्षा से १२ प्रकार के हो जाते हैं। कर्मग्रन्थ में गुरु का अविनय, अक्षमा, क्रूरता, अविरति, योगाभ्यास नहीं करना, कषाययुक्त होना तथा दान एवं श्रद्धा का अभाव असातावेदनीय कर्म के कारण माने गए हैं।^{२००} भूत-अनुकम्पा, व्रती-अनुकम्पा, दान, सरागसंयमादि योग, क्षान्ति और शौच - ये सातावेदनीय कर्मबन्ध के हेतु हैं। कर्मग्रन्थ में सातावेदनीय कर्म के बन्धन का कारण गुरुभक्ति, क्षमा, करुणा, व्रतपालन, योग-साधना, कषाय-विजय, दान और दृढ़ श्रद्धा माना गया है।^{२०१}

४. दर्शन और चारित्र मोहनीय कर्मबन्ध के कारण

“केवलश्रुतसंज्ञ धर्मदेवावर्णवादो दर्शनमोहस्य”^{२०२}

“कषायोदयात्तीव्रपरिणामश्चारित्रमोहस्य”^{२०३}

सर्वज्ञ श्रुत, संघ, धर्म और देव के अवर्णवाद (निन्दा) के दर्शनमोह तथा कषाय जनित आत्मपरिणाम को चारित्रमोह का कारण माना गया है। कर्मग्रन्थ के अनुसार उन्मार्ग देशना, सन्मार्ग का अपलाप, धार्मिक सम्पत्ति का अपहरण और तीर्थंकर, मुनि, चैत्य और धर्मसंघ के प्रतिकूल आचरण दर्शनमोह बन्ध के कारण हैं तथा कषाय, हास्यादि और विषयों के अधीन होना चारित्र मोह कर्म बन्धन के कारण हैं।^{२०४}

५. नरक-तिर्यच-मनुष्य-देव आयुष्य कर्मबन्ध के कारण

“बह्वारम्भपरिग्रहत्वं च नारकस्यायुषः”^{२०५} “माया तैर्यग्योनस्य”^{२०६}

“अल्पारम्भपरिग्रहत्वं स्वभावमार्दवार्जवं च मानुषस्य”^{२०७} “सरागसंयमसंयमा-संयमकामनिर्जराबालतपांसि देवस्य”^{२०८}

३९२ जैनदर्शन में कारण-कार्य व्यवस्था : एक समन्वयात्मक दृष्टिकोण

बहुआरम्भ और बहुपरिग्रह नरकायु के बन्ध हेतु हैं। इसके अतिरिक्त कर्मग्रन्थ में रौद्र परिणाम को नरक का कारण माना है।^{२१०} स्थानांग सूत्र में महापरिग्रह, महारम्भ, पंचेन्द्रिय-वध और मांसभक्षण को नरकायु के हेतु स्वीकार किए गये हैं।^{२११} माया तिर्यचायु का कारण है। गूढ हृदय वाले, शठ अर्थात् जिसकी जबान मीठी है, पर दिल में जहर भरा है, सशल्य अर्थात् प्रतिष्ठा कम होने के भय से पाप को प्रकट न करने वाले तिर्यचायु का बन्ध करते हैं- ऐसा कर्मग्रन्थ में मान्य है।^{२१२} १. मायाचार, दूसरों को ठगना, असत्य वचन बोलना, कम-ज्यादा तोल-माप करना- ये चार कारण स्थानांग में कहे हैं।^{२१३} २. अल्प आरम्भ, अल्प परिग्रह, स्वभाव में मृदुता और सरलता ये मनुष्यायु के बन्ध हेतु हैं। कर्मग्रन्थ के अनुसार अल्प कषाय, दान में रुचि और मध्यम गुण अर्थात् क्षमा मृदुता आदि मनुष्यायु के कारण हैं।^{२१४} ३. स्थानांग के अनुसार सरलता, विनयशीलता, करुणा और अहंकार एवं मात्सर्य से रहितता मानवायु के निमित्त हैं।^{२१५} ४. सरागसंयम, संयमासंयम, अकामनिर्जरा और बाल तप ये देवायु के बन्ध हेतु हैं। स्थानांग में भी ये चार ही देवायु के कारण हैं।^{२१६} ५. कर्मग्रन्थ में अविरति को भी देवायु का कारण माना है।^{२१७}

६. नामकर्मबन्ध के कारण

“योगवक्रता विसंवादनं चाशुभस्य नाम्नः”^{२१८} “विपरीतं शुभस्य”^{२१९}
मन-वचन और काय की वक्रता और विसंवाद अशुभ नाम कर्म का तथा मन-वचन-काया की सरलता और संवाद शुभ-नामकर्म का कारण है। कर्मग्रन्थ में कहा है- निष्कपट और गौरव रहित जीव शुभ नाम को तथा कपटी और अहंकारी जीव अशुभ नाम को बांधता है।^{२२०}

७. गोत्र कर्मबन्ध के कारण

“परात्मनिन्दाप्रशंसे सदसद्गुणाच्छादनोद्भावने च नीचैर्गोत्रस्य”^{२२१}

“तद्विपर्ययो नीचैर्बुत्त्यनुत्सेकौ चोत्तरस्य”^{२२२}

पर-निन्दा, आत्मप्रशंसा, दूसरों के सद्गुणों का आच्छादन और असद्गुणों का प्रकाशन ये नीच गोत्र के बन्ध के हेतु हैं। इसके विपरीत पर-प्रशंसा, आत्म-निन्दा, सद्गुणों का प्रकाशन, असद्गुणों का गोपन और नम्रवृत्ति एवं निरभिमानता ये उच्च गोत्र के बन्ध के हेतु हैं। कर्मग्रन्थ के अनुसार आठ प्रकार के मद से रहित, गुणग्राही दृष्टि वाला, अध्ययन-अध्यापन में रुचि रखने वाला तथा भक्त उच्चगोत्र को प्राप्त करता है और इसके विपरीत आचरण करने वाला नीच गोत्र को प्राप्त करता है।^{२२३}

८. अन्तराय कर्मबन्ध के कारण

“विघ्नकरणमन्तरायस्य”^{२२४} दानादि में विघ्न डालना अन्तरायकर्म का बन्ध हेतु है। कर्मग्रन्थ के अनुसार जिन-पूजा आदि धर्म कार्यों में विघ्न उत्पन्न करने वाला और हिंसा में तत्पर व्यक्ति भी अन्तराय कर्म का संचय करता है।^{२२५}

कर्म-विपाक- कर्म विपाक से अभिप्राय समय के परिपक्व होने पर कर्मों के फल प्रदान करने से है। कर्म विपाक को दो वर्गों में विभक्त किया जा सकता है।- (१) नियत विपाकी कर्म (२) अनियतविपाकी कर्म।^{२२६} ये वे कर्म हैं जिनका फल अनिवार्य रूप से भोगना पड़ता है। अनियतविपाकी कर्म में कर्मों का फल किये हुए कर्मों के अनुसार भोगना अनिवार्य नहीं होता, बल्कि उनमें व्यक्ति अपने पुरुषार्थ से परिवर्तन करके इनके फलोपभोग से वंचित रह सकता है।

ज्ञानावरणीय कर्म के विपाक से जीव को ज्ञान-प्राप्ति में बाधा उत्पन्न होती है। दर्शनावरणीय कर्म के विपाक से जीव को दर्शन की उपलब्धि नहीं होती। सातावेदनीय कर्म के फलस्वरूप सुख का संवेदन तथा असातावेदनीय कर्म के फलस्वरूप जीव दुःख का संवेदन करता है। मोहनीय कर्म के विपाक से विवेकाभाव के कारण अशुभ की ओर प्रवृत्ति होती है। आयुष्य कर्म के फल से नरकादि चतुर्गति की आयु को भोगता है। शुभनाम कर्म के विपाक से मनोज्ञ शब्द, रूप, रस, स्वर आदि प्राप्त होते हैं तथा अशुभनामकर्म से अमनोज्ञ शब्द, रूप, रस प्राप्त होते हैं। गोत्र कर्म के विपाक से उच्च या नीच गोत्र मिलता है। अन्तराय कर्म के फलस्वरूप व्यक्ति के दान, लाभ, भोगोपभोग, वीर्य आदि में बाधा उत्पन्न होती है।

कर्म मोक्ष

भारतीय कर्म साहित्य में जैसे कर्मबन्ध और उसके कारणों का विस्तार से निरूपण है उसी प्रकार उन कर्मों से मुक्त होने का साधन भी प्रतिपादित किया गया है।

“सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः”^{२२७}

अर्थात् सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र ये तीनों मिलकर मोक्ष प्राप्ति के साधन बनते हैं। इन साधनों के द्वारा अष्टविध कर्मों से आबद्ध आत्मा चार घाती कर्मों का क्षय कर कैवल्य प्राप्त करती है।^{२२८} शेष चार अघाती कर्मों का शरीर के साथ नाश हो जाता है तब जीव का मोक्ष होता है।^{२२९}

मोक्ष आत्मा की वह विशुद्धावस्था है जिसमें उसका किसी भी विजातीय तत्त्व के साथ संयोग नहीं रहता और सम्पूर्ण विकारों का अभाव होकर आत्मा स्वरूप में स्थिर हो जाती है। यह स्थिति सम्पूर्ण कर्मों के आत्यन्तिक क्षय होने पर होती है। अतः तत्त्वार्थ सूत्रकार कहते हैं:-

“कृत्स्नकर्मक्षयो मोक्षः”^{१३०}

अर्थात् कर्मों का अत्यन्त अभाव हो जाना, सम्पूर्णतः नष्ट हो जाना मोक्ष है। निष्कर्ष के रूप में कहा जा सकता है कि कर्मबन्धन एवं मोक्ष जीवन के दो पहलू हैं, जहाँ मानसिक विकारों के वशीभूत होकर बन्धनावस्था में आत्मा अपने सम्यक् दर्शन-ज्ञान-चारित्र्य को खो बैठती है वहीं मोक्षावस्था में वह समस्त मानसिक विकारों का दमन कर शुद्ध-विशुद्ध एवं शाश्वत स्थिति प्राप्त करती है।

विशेषावश्यक भाष्य में कर्म-विवेचन

जिनभद्रगणि रचित (६-७वीं शती) विशेषावश्यक भाष्य में ग्यारह गणधरों के संशयों का भगवान महावीर द्वारा समाधान समुपलब्ध होता है। यह चर्चा ‘गणधरवाद’ के नाम से प्रसिद्ध है। लगभग सभी गणधरों के संशयों को दूर करते हुए भगवान ने कर्म सिद्धान्त को स्थापित किया है। द्वितीय गणधर अग्निभूति ने कर्म के विषय में प्रश्न उपस्थित किया तब भगवान महावीर ने कर्म के अस्तित्व को सिद्ध करने के साथ कर्म को अदृष्ट, मूर्त, परिणामी, विचित्र और अनादिकाल से जीव के साथ सम्बद्ध बतलाया। पंचम गणधर सुधर्मा के साथ इस लोक और परलोक के सादृश्य-वैसादृश्य की चर्चा हुई। इस अवसर पर भी लोक और परलोक के मूल में कर्म की सत्ता को सिद्ध करते हुए संसार को कर्म-मूलक कहा। बंध और मोक्ष के विषय में छठे गणधर मण्डिक से वार्ता है, अतः उसमें भी जीव का कर्म के साथ बंध और उसकी कर्म से मुक्ति की ही चर्चा है। नौवें गणधर अचलघ्राता की चर्चा का मुख्य विषय पुण्य-पाप है। उसमें शुभ कर्म और अशुभ कर्म के अस्तित्व की चर्चा ही प्रधान है। इस प्रसंग पर द्वितीय गणधर से हुई चर्चा के कई विषयों की पुनरावृत्ति करने के पश्चात् कर्म-संबंधी अनेक नये तथ्य भी उद्घाटित हुए हैं, जैसे कि कर्म के संक्रम का नियम, कर्म-ग्रहण की प्रक्रिया, कर्म का शुभाशुभ रूप में परिणमन, कर्म के भेद इत्यादि। दसवें गणधर मेतार्य से परलोक विषयक चर्चा है। उसमें भी यह तथ्य स्वीकृत है कि परलोक कर्माधीन है। अंतिम गणधर प्रभास के साथ हुई निर्वाण संबंधी चर्चा में भी यह प्रतिपादित किया गया है कि अनादि कर्म-संयोग का नाश ही निर्वाण है। इस प्रकार भिन्न-भिन्न गणधरों के साथ होने वाले वादों में कर्म-चर्चा विविध रूप से सामने आई है। सातवें व आठवें गणधरों की चर्चा में क्रमशः देवों और नारकियों

की चर्चा है। उसका अभिप्राय भी यही है कि शुभ कर्म के फलरूप देवत्व और अशुभकर्म के फलस्वरूप नारकत्व की प्राप्ति होती है। इस प्रकार प्रायः समस्त गणधरवाद में कर्म-चर्चा को पर्याप्त महत्त्व मिला है।

विभिन्न गणधरों के साथ चर्चा में जो कर्मविषयक बिन्दु उभरे हैं, उन्हें संक्षेप में प्रस्तुत किया जा रहा है-

कर्म की सिद्धि : विभिन्न हेतुओं से

प्रत्यक्ष, अनुमान आदि प्रमाणों के द्वारा ज्ञानावरणादि परमाणु संघात रूप कर्म की सिद्धि नहीं होने से अग्निभूति के मन में कर्म के अस्तित्व के संबंध में संशय था।^{२३२}

१. सुखःदुःख की अनुभूति से- इस संशय-निवारण में और कर्म की सिद्धि में भगवान् महावीर कहते हैं कि तुम्हारा संशय अयुक्त है, क्योंकि मैं कर्म को प्रत्यक्ष देखता हूँ। तुमको वह प्रत्यक्ष नहीं है, किन्तु तुम अनुमान से उसकी सिद्धि कर सकते हो। इस अनुमानार्थ हेतु है- 'अणुभूइमयं फलं जस्स त्ति'^{२३३} अर्थात् व्यक्ति को सुख-दुःख की अनुभूति-रूप कर्म के फल (कार्य) प्रत्यक्ष अनुभव में आते हैं। इस कार्य के पीछे कर्म उसी प्रकार हेतु है जिस प्रकार अंकुर के पीछे बीज।^{२३३} इस पर पुनः अग्निभूति प्रश्न उपस्थित करते हैं कि 'सो दिये चेव मई वभिचाराओ न तं जुत्तं'^{२३४} सुगन्धित फूलों की माला, चन्दन आदि पदार्थ सुख के हेतु हैं और साँप का विष, काँटा आदि पदार्थ दुःख के हेतु हैं। जब इन सब दृष्ट कारणों से सुख-दुःख होता हो तब उसका अदृष्ट कारण कर्म क्यों माना जाए?^{२३५} भगवान् प्रत्युत्तर देते हैं-

जो तुल्लसाहणाणं फले विसेसो न सो विणा हेउं।

कज्जत्तणओ गोयम! घडो व्व, हेऊ य सो कम्मं।^{२३६}

सुख-दुःख के दृष्ट साधन अथवा कारण तुल्य रूप से उपस्थित होने पर भी उनके फल में जो विशेषता दिखाई देती है वह निष्कारण नहीं हो सकती। यह विशेषता घट के समान कार्य रूप है। कहने का तात्पर्य यह है कि जैसे परमाणु के घटादि कार्य प्रत्यक्ष हैं और परमाणु अप्रत्यक्ष हैं वैसे ही इस विशेषता रूपी कार्य के जनक अप्रत्यक्ष कर्म होने चाहिए।

२. कर्मण शरीर की सिद्धि देहान्तर से- बालक का शरीर देहान्तर पूर्वक उत्पन्न होता है। वह देहान्तर कर्मण शरीर है। जिस प्रकार युवा का शरीर

बालशरीर पूर्वक होता है उसी प्रकार बालशरीर को देहान्तर (शरीरान्तर) पूर्वक मानना चाहिए। इसमें इन्द्रिय सुख-दुःख, प्राण-अपान, निमेष-उन्मेष जीवन आदि वाला होने को हेतु बनाया गया है। जो जीव इन्द्रियादि से युक्त होता है, वही अन्य शरीर धारण करने पर भी इन्द्रियादि को प्राप्त करता है। जो अशरीरी है उनके नियत गर्भ, देश, स्थान की प्राप्ति पूर्वक शरीर का ग्रहण मानना उचित नहीं है क्योंकि उसमें नियामक कारण का अभाव है। स्वभाव इसमें नियामक नहीं हो सकता, क्योंकि उसका इसी ग्रन्थ (विशेषावश्यक भाष्य) में आगे निराकरण किया गया है। इसलिए बाल शरीर से पूर्व शरीरान्तर को स्वीकार करना चाहिए और वह शरीर कर्म है जिसे कर्मण शरीर भी कहा गया है।^{२३९}

३. चेतन की क्रिया फलवती होने के कारण कर्म-सिद्धि- यह कर्मसाधक तीसरा अनुमान है। यहाँ कर्म-सिद्धि में 'चेतन की क्रिया का फलवती होना' हेतु दिया गया है। इस हेतु के औचित्य में एक लम्बी चर्चा द्वितीय गणधर अग्निभूति और भगवान के मध्य चली। जो यहाँ सार रूप में प्रस्तुत है-

भगवान महावीर- "इह या चेतनारब्धाक्रिया तस्याः फलं दृष्टम्, यथा कृष्यादिक्रियायाः, चेतनारब्धाश्च दानादिक्रियाः, तस्मात् फलवत्यः यच्च तासां फलं तत् कर्म"^{२४०} इस संसार में चेतन द्वारा की गई क्रिया का फल होता है, जैसे कृषि क्रिया का। सचेतन पुरुष कृषि क्रिया करता है तो उसे उसका फल धान्यादि प्राप्त होता है, उसी प्रकार दानादि क्रिया का कर्ता भी सचेतन है, अतः उसे उसका कुछ न कुछ फल मिलना चाहिए। जो फल प्राप्त होता है, वह कर्म है।

अग्निभूति- पुरुष कृषि करता है, किन्तु अनेक बार उसे धान्यादि फल की प्राप्ति नहीं भी होती; अतः आपका यह हेतु व्यभिचारी है।^{२४१}

भगवान महावीर- तुम्हारा कहना असत् है, क्योंकि चेतन की प्रारम्भ की गई क्रिया का फल अवश्य मिलता है। फिर भी जहाँ क्रिया का फल नहीं मिलता, वहाँ उसका अज्ञान अथवा सामग्री की विकलता या न्यूनता फलाभाव का कारण है। यदि सामग्री का साकल्य अथवा पूर्णता हो तो सचेतन द्वारा आरब्ध क्रिया निष्फल नहीं होती।^{२४२}

अग्निभूति- जैसे कृषि आदि क्रिया का दृष्ट फल धान्यादि है, वैसे दानादि क्रिया का भी सबके अनुभव से सिद्ध मनःप्रसाद रूप दृष्ट फल ही मानना

चाहिए। अतः कर्मरूप अदृष्ट फल मानने की आवश्यकता नहीं है। इसलिए आपका हेतु अभिप्रेत अदृष्ट कर्म के स्थान पर दृष्ट फल का साधक होने से विरुद्ध है।^{२४१}

भगवान् महावीर- मनःप्रसाद भी एक क्रिया है, अतः सचेतन की अन्य क्रियाओं के समान उसका भी फल होता है। वह फल कर्म है, अतः मेरे इस नियम में कोई दोष नहीं कि सचेतन द्वारा आरम्भ की गई क्रिया फलवती होती है।^{२४२}

अग्निभूति- आपने पहले दानादि क्रिया को कर्म का कारण बताया और अब मनःप्रसाद को कर्म का कारण बताते हैं। अतः आपके कथन में पूर्वापर विरोध है।^{२४३}

भगवान् महावीर- तुम सत्य कहते हो, किन्तु मनःप्रसादादि क्रिया ही आनन्तर्य से कर्म का कारण है और मनःप्रसाद आदि क्रिया का दानादि क्रिया ही कारण है। अतः कर्म के कारण के कारण में कारण का उपचार करके दानादि क्रिया को कर्म का कारण रूप माना जाता है। इस तरह पूर्वापर विरोध का परिहार हो जाता है।^{२४४}

अग्निभूति- सारांश यह है कि मनुष्य जब मन में प्रसन्न होता है तब ही दानादि करता है। दानादि करने पर उसे बाद में मनःप्रसाद प्राप्त होता है; इसलिए वह पुनः दानादि करता है। इस तरह मनःप्रसाद का फल दानादि है तथा दानादि का फल मनःप्रसाद और उसका भी फल दानादि। आप मनःप्रसाद का अदृष्ट फल कर्म बताते हैं, उसके स्थान में दृष्ट फल दानादि ही मानना चाहिए।^{२४५}

भगवान् महावीर- जैसे मृत्पिण्ड से तो घड़ा उत्पन्न होता है किन्तु घड़े से पिण्ड उत्पन्न नहीं होता। वैसे ही सुपात्र को दान देने से मनःप्रसाद उत्पन्न होता है। अतः यह नहीं कहा जा सकता है कि मनःप्रसाद से दान की उत्पत्ति हुई। कारण यह है कि जो जिसका निमित्त होता है, वह उसी का फल नहीं कहा जा सकता, दूर एवं विरुद्ध होने के कारण।^{२४६}

अग्निभूति- संसार में लोग पशु का वध करते हैं, वह किसी अधर्मरूप अदृष्ट कर्म के लिए नहीं किया जाता, अपितु माँस खाने को मिले, इसी उद्देश्य से पशु हिंसा करते हैं। इसी प्रकार सभी क्रियाओं का कोई न कोई दृष्ट फल ही स्वीकार करना चाहिए, अदृष्ट फल को मानना अनावश्यक है।

अदृष्ट फल के लिए दानादि क्रिया करने वाला व्यक्ति शायद ही कोई हो। दृष्ट यश की प्राप्ति के लिए दानादि जैसी क्रियाओं को करने वाले बहुत लोग हैं और बहुत कम लोग अदृष्ट कर्म के निमित्त दानादि करते होंगे। अतः सचेतन की सभी क्रियाओं का फल दृष्ट ही मानना चाहिए।^{२४९}

भगवान महावीर- कृषि आदि क्रियाओं का दृष्ट के अतिरिक्त अदृष्ट फल भी होता है। वे लोग चाहे अदृष्ट अधर्म के लिए अशुभ क्रियाएँ न करते हों, फिर भी उन्हें उनका फल मिले बिना नहीं रहता। अन्यथा इस संसार में अनन्त जीवों का अस्तित्व घटित नहीं हो सकता, क्योंकि तुम्हारे मतानुसार पाप कर्म करने वाले भी नए कर्मों का ग्रहण नहीं करते, फिर तो मृत्यु के बाद उन्हें मोक्ष प्राप्त होना चाहिए। किन्तु हम विश्व में अनन्त जीव देखते हैं और उनमें भी अधर्मात्मा ही अधिक हैं। अतः मानना होगा कि समस्त क्रियाओं का दृष्ट के अतिरिक्त अदृष्ट कर्म रूप फल भी प्राप्त होता है।^{२५०}

अग्निभूति- दानादि क्रिया के कर्ता को धर्म रूप अदृष्ट फल मिल सकता है क्योंकि वह ऐसे फल की कामना करता है। किन्तु जो कृषि आदि क्रियाएँ करते हैं वे तो दृष्ट फल की ही अभिलाषा रखते हैं। फिर उन्हें भी अदृष्ट फल कर्म की प्राप्ति क्यों हो?^{२५१}

भगवान महावीर- तुम्हारा कथन अयुक्त है। क्योंकि कार्य का आधार उसकी सामग्री होती है। मनुष्य की इच्छा हो या न हो, किन्तु जिस कार्य की सामग्री होती है, वह कार्य अवश्य उत्पन्न होता है। बोने वाला किसान यदि अज्ञानवश भी गेहूँ के स्थान पर कोदरा (कोदु) बो दे और उसे हवा, पानी आदि अनुकूल सामग्री मिले तो कृषक की इच्छा-अनिच्छा की उपेक्षा कर कोदरा उत्पन्न हो ही जायेंगे। इसी प्रकार हिंसा आदि कार्य करने वाले मांसभक्षक चाहें या न चाहें किन्तु अधर्म अदृष्ट कर्म उत्पन्न होता ही है। दानादि क्रिया करने वाले विवेकशील पुरुष यद्यपि फल की इच्छा न करें तथापि सामग्री होने पर उन्हें धर्म रूप फल मिलता ही है।^{२५२}

अतः यह बात सिद्ध होती है कि शुभ अथवा अशुभ सभी क्रियाओं का शुभ अथवा अशुभ अदृष्ट फल होता ही है। अन्यथा इस संसार में अनन्त संसारी जीवों की सत्ता ही शक्य नहीं है। कारण यह है कि अदृष्ट कर्म के अभाव में सभी पापी अनायास मुक्त हो जाएँगे; क्योंकि उनके इच्छित न होने के कारण मृत्यु के बाद संसार

का कारण कर्म रहेगा ही नहीं। किन्तु जो लोग अदृष्ट शुभ कर्म के निमित्त दानादि क्रियाएँ करते होंगे, उनके लिए ही यह क्लेश-बहुल संसार रह जाएगा। यह बात इस प्रकार फलित होगी- जिसने दानादि शुभ क्रिया अदृष्ट के निमित्त की होगी, उसे कर्म का बंध होगा और उसे भोगने के लिए वह नया जन्म धारण करेगा। वहाँ पुनः कर्म के विषाक का अनुभव करते हुए वह दानादि क्रिया करेगा और नए जन्म की सामग्री तैयार करेगा। इस तरह तुम्हारे मतानुसार ऐसे धार्मिक लोगों के लिए ही संसार होना चाहिए, अधार्मिकों के लिए मानो मोक्ष का निर्माण हुआ है। तुम्हारी मान्यता में ऐसी असंगति उपस्थित होती है।^{२५१}

यदि हिंसादि क्रियाएँ करने वाले सभी मोक्ष ही जाते रहें तो फिर इस संसार में हिंसादि क्रिया करने वाला कोई भी न रहे और हिंसादि क्रिया का फल भोगने वाला भी कोई न रहे। केवल दानादि शुभ क्रियाएँ करने वाले और इनका फल भोगने वाले ही संसार में रह जायेंगे। किन्तु संसार में यह बात दिखाई नहीं देती। उसमें उक्त दोनों प्रकार के जीव दृष्टिगोचर होते हैं।^{२५२}

अनिष्ट रूप अदृष्ट के फल की प्राप्ति के लिए इच्छापूर्वक कोई भी जीव क्रिया नहीं करता, फिर भी इस संसार में अनिष्ट फल भोगने वाले अत्यधिक जीव दृष्टिगोचर होते हैं। अतः यह मानना पड़ेगा कि प्रत्येक क्रिया का अदृष्ट फल होता ही है। अर्थात् क्रिया शुभ हो अथवा अशुभ, उसका अदृष्ट रूप फल कर्म अवश्य होता है। इससे विपरीत दृष्ट फल की इच्छा करने पर दृष्ट फल की प्राप्ति अवश्य ही हो, ऐसा एकान्त नियम नहीं है। ऐसी स्थिति का कारण भी पूर्वबद्ध अदृष्ट कर्म ही होता है। सारांश यह है कि दृष्ट फल धान्य आदि के लिए कृषि आदि कर्म करने पर भी पूर्व कर्म के कारण धान्य आदि दृष्ट फल शायद न भी मिले, किन्तु अदृष्ट कर्म रूप फल तो अवश्य मिलेगा। कारण यह है कि चेतन द्वारा आरम्भ की गई कोई भी क्रिया निष्फल नहीं होती।^{२५३}

कर्म की मूर्तता

कर्म अदृष्ट होने पर भी मूर्त है। इस तथ्य को निरूपित करते हुए भगवान् महावीर स्वामी ने गणधर अग्निभूति को बहुत से हेतु दिए, वे इस प्रकार हैं-

‘मूर्तमेव कर्म, तत्कार्यस्य शरीरादेर्मूर्तत्वात्’^{२५४} अर्थात् कर्म मूर्त है, क्योंकि उसका कार्य शरीरादि मूर्त है। हेतु निम्न है-

१. “यस्य यस्य कार्यं मूर्तं तस्य तस्य कारणमपि मूर्तम्, यथा घटस्य परमाणवः, यच्चापूर्तं कार्यं न तस्य कारणं मूर्तं, यथा

ज्ञानस्यात्मेति।^{१४५} जिसका कार्य मूर्त होता है उसका कारण भी मूर्त होता है, जैसे परमाणु का कार्य घट मूर्त होने से परमाणु भी मूर्त है, वैसे ही कर्म भी मूर्त है। जो कार्य अमूर्त होता है, उसका कारण भी अमूर्त होता है; जैसे ज्ञान का समवायि कारण (उपादान कारण) आत्मा।

इस प्रकार मूर्त कार्य का मूर्त कारण तथा अमूर्त कार्य का अमूर्त कारण होना चाहिए। यहाँ कारण से तात्पर्य समवायि अथवा उपादान कारण है, अन्य नहीं। सुख-दुःख आदि कार्य का समवायि कारण आत्मा है और वह अमूर्त ही है। कर्म तो सुख-दुःखादि का अन्न आदि के समान निमित्त कारण है।^{१४६} अतः यह हेतु निर्बाध है।

२. कर्म मूर्त है, क्योंकि उससे संबंध होने से सुख आदि का अनुभव होता है; जैसे कि खाद्य आदि का भोजन से सुख का अनुभव होता है। जो अमूर्त हो, उससे संबंध होने पर सुख आदि का अनुभव नहीं होता; जैसे कि आकाश। कर्म का संबंध होने पर आत्मा सुख आदि का अनुभव करती है, अतः कर्म मूर्त है।^{१४७}
३. कर्म मूर्त है, क्योंकि उसके संबंध से वेदना का अनुभव होता है। जिससे संबंध होने पर वेदना का अनुभव हो वह मूर्त होता है, जैसे कि अग्नि। कर्म का संबंध होने पर वेदना का अनुभव होता है, अतः कर्म मूर्त है।^{१४८}
४. कर्म मूर्त है, क्योंकि आत्मा और उसके ज्ञानादि धर्मों से अतिरिक्त बाह्य पदार्थ से उसमें बलाधान होता है— अर्थात् स्निग्धता आती है। जैसे-घड़े आदि पर तेल आदि बाह्य वस्तु का विलेपन करने से बलाधान होता है, वैसे ही कर्म में भी माला, चंदन, वनिता आदि बाह्य वस्तु के संसर्ग से बलाधान होता है, अतः वह घट के समान मूर्त है।^{१४९}
५. कर्म मूर्त है, क्योंकि वह आत्मा आदि से भिन्न होने पर परिणामी है, जैसे कि दूध। जैसे आत्मादि से भिन्न रूप दूध परिणामी होने के कारण मूर्त है, वैसे ही कर्म मूर्त है।^{१५०}

कर्म की परिणामिता

कर्म परिणामी है, इस संबंध में सर्वज्ञ महावीर द्वारा कथित पंक्तियाँ—

अद्व मयमसिद्धमेयं परिणामाउ त्ति सो वि कज्जाओ।

सिद्धो परिणामो से दहिपरिणामादिव पयस्स।^{१५१}

अभिप्राय यह है कि कर्म परिणामी है, क्योंकि उसका कार्य शरीर आदि परिणामी है। जिसका कार्य परिणामी हो, वह स्वयं भी परिणामी होता है। जैसे दूध का कार्य दही का परिणामी होने के कारण अर्थात् दही के छाछ रूप में परिणत होने के कारण उसका कारण रूप दूध भी परिणामी है, वैसे ही कर्म के कार्य शरीर के परिणामी (विकारी) होने के कारण कर्म स्वयं भी परिणामी है।^{२६२}

विचित्रता में कर्म की कारणाता

१. परिणामों की विचित्रता का कारण : कर्म

जीव के साथ संबद्ध कर्मपुद्गल विचित्र हैं। कारण यह है कि अन्य बाह्य पुद्गलों की अपेक्षा आन्तरिक कर्म-पुद्गलों में यह विशेषता है कि वे जीव द्वारा गृहीत हुए हैं। इसी कारण वे कर्म जीवगत विचित्र सुख-दुःख के कारण भी बनते हैं। यदि बादल आदि बाह्य पुद्गल नाना रूप से परिणमन करते हैं तो जीवों के द्वारा परिगृहीत कर्म भी विचित्र रूप से परिणमन कर सकते हैं।^{२६३}

जिस प्रकार बिना किसी के प्रयत्न के स्वाभाविक रूपेण बादल आदि पुद्गलों में इन्द्रधनुष आदि रूप जो विचित्रता होती है, उसकी अपेक्षा किसी कारीगर द्वारा बनाए गए पुद्गलों में एक विशिष्ट प्रकार की विचित्रता होती है। उसी प्रकार जीव द्वारा गृहीत कर्म-पुद्गलों में नाना प्रकार के सुख-दुःख उत्पन्न करने की विशिष्ट प्रकार की परिणाम विचित्रता क्यों नहीं होगी?^{२६४} अर्थात् अवश्य होगी। इस प्रकार कर्म में नाना प्रकार का परिणमन होने से कर्म विचित्र सिद्ध होता है।

२. भव विचित्रता का कारण : कर्म

तीर्थंकर महावीर से सुधर्मा स्वामी जिज्ञासा करते हैं कि कारणानुरूप कार्य मानने पर भी भवान्तर में विचित्रता की संभावना कैसे बनती है अर्थात् मनुष्य मरकर देव तिर्यच भव में कैसे उत्पन्न हो सकता है?^{२६५}

भगवान् फरमाते हैं कि तुम बीज के अर्थात् कारण के अनुरूप ही अंकुर अर्थात् कार्य मानते हो तो भी तुम्हें परजन्म में जीव में वैचित्र्य मानना ही पड़ेगा। कारण कि भवांकुर का बीज मनुष्य नहीं, किन्तु उसका कर्म है और वह विचित्र होता है। कर्म के हेतुओं-मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय, योग में विचित्रता है, अतः कर्म भी विचित्र है। कर्म के विचित्र होने के कारण जीव का भवांकुर भी विचित्र ही होगा। यह बात तुम्हें माननी चाहिए। अतः मनुष्य मरकर अपने कर्मों के अनुसार नारक, देव अथवा तिर्यच रूप में भी जन्म ले सकता है।^{२६६}

नारकों में तीव्र परिणाम वाला सतत दुःख लगा ही रहता है। तिर्यंचों में उष्ण, ताप, भय, भूख, तृषा इन सबका दुःख होता है तथा अल्प सुख भी होता है। मनुष्यों को नाना प्रकार के मानसिक तथा शारीरिक सुख और दुःख होते हैं, किन्तु देवों को तो शारीरिक सुख ही होता है, अल्प मात्रा में ही मानसिक दुःख होता है।^{२६७}

परलोक का आधार : कर्म

दसवें गणधर मेतार्य द्वारा परलोक विषय में प्रश्न करने पर भगवान् फरमाते हैं- “इत्ते च्छिद्य न स कत्ता भोत्ता य अओ वि नत्थि परलोगो”^{२६८} अभिप्राय यह है कि जब तक जीव में कर्मों का कर्तृत्व एवं भोक्तृत्व भाव है तब तक वह परलोक गमन करता है। भोक्तृत्व एवं कर्तृत्व के अभाव में परलोक की मान्यता व्यर्थ है।

मूर्त कर्म का अमूर्त आत्मा से संबंध

कर्म मूर्त यानी रूप-रस-गंध-स्पर्श युक्त है जबकि आत्मा रूप-रस-गंध-स्पर्श से रहित अरूपी या अमूर्त है। कर्म और आत्मा में संयोग और समवाय संबंध दोनों होते हैं, जिसे विशेषावश्यक भाष्य में उदाहरण देते हुए इस प्रकार कहा गया है- “यथा मूर्तस्य घटस्यामूर्तेन नभसा संयोगलक्षणाः संबंधस्तथाऽत्रापि जीव-कर्मणोः। यथा वा द्रव्यस्यांगुल्यादेः क्रिययाऽऽकुंचनादिकया सह समवायलक्षणाः संबंधः, तथाऽत्रापि जीव-कर्मणोरयमिति”^{२६९} घट मूर्त है, फिर भी उसका संयोग संबंध अमूर्त आकाश से होता है, इसी प्रकार मूर्त कर्म का अमूर्त आत्मा से संयोग होता है। अंगुली मूर्त द्रव्य है, फिर भी आकुंचनादि अमूर्त क्रिया से उसका समवाय संबंध है। इसी प्रकार जीव और कर्म का समवाय संबंध भी सिद्ध होता है।

जीव-कर्म का अनादि संबंध

जीव और कर्म का संबंध अनादि है। इस तथ्य को अनुमान प्रमाण से विशेषावश्यक भाष्य में प्रतिज्ञा, हेतु और दृष्टान्त के माध्यम से इस प्रकार कहा है-

प्रतिज्ञा- अनादिः कर्मणः संतान इति।

हेतु- देहकर्मणोः परस्परं हेतुहेतुमद्भावादिति।

दृष्टान्त- बीजाङ्कुरयोरिवेति।

देह और कर्म में परस्पर कार्य-कारण भाव है, अतः कर्म-सन्तति अनादि है। जैसे-बीज से अंकुर और अंकुर से बीज की बीजाङ्कुर-सन्तति अनादि है, वैसे ही देह

से कर्म और कर्म से देह के मध्य संबंध जानना चाहिए। इस प्रकार देह और कर्म की परम्परा अनादि काल से चली आ रही है; अतः कर्म सन्तति अनादि माननी चाहिए। जिनका परस्पर कार्य-कारण भाव होता है, उनकी सन्तति अनादि होती है।^{२७०}

कर्म का कर्ता ; जीव

विशेषावश्यक भाष्य में छठे गणधर से भगवान महावीर की चर्चा में जीव को कर्म का कर्ता स्वीकार करते हुए कहा गया है-

कर्ता जीवो कम्मस्स करणओ जह घडस्स घडकारो।

एवं छिद्य देहस्स वि कम्मकरणसंभवाउ त्ति।^{२७१}

अभिप्राय यह है कि जिस प्रकार दंडादि करण से युक्त कुम्हार घट का कर्ता है; उसी प्रकार कर्मरूप (क्रियारूप) करण से जीव कर्मबंध का कर्ता है। इसी न्याय से कर्मरूप करण के द्वारा शरीर का कर्ता आत्मा है। अतः जीव कर्म द्वारा शरीर उत्पन्न करता है और शरीर द्वारा कर्म को उत्पन्न करता है। इस प्रकार जीव कर्म और शरीर दोनों का कर्ता है।^{२७२}

कर्मबंध अनादि सान्त है

जो अनादि होता है, वह अनन्त भी होता है। मण्डिक गणधर द्वारा ऐसी शंका किए जाने पर भगवान महावीर ने कहा-

जं संताणोऽणार्द्धं तेणाणंतोऽवि णायमेगंतो।

दीसइ संतो वि जओ कत्थइ बीयंकुराईणं।^{२७३}

ऐसा ऐकान्तिक नियम नहीं है कि जो अनादि हो वह अनन्त ही हो। कारण कि बीज-अंकुर की संतान यद्यपि अनादि है तथापि उसका अन्त हो जाता है। इसी प्रकार अनादि कर्म संतान का भी नाश हो सकता है।

बीज तथा अंकुर में से किसी का भी यदि अपने कार्य को उत्पन्न करने से पूर्व ही नाश हो जाए तो बीजांकुर की संतान का भी अन्त हो जाता है। यही बात मुर्गी और अण्डे के विषय में भी है कि उन दोनों की संतान अनादि होने पर भी इस अवस्था में नष्ट हो जाती है, जब दोनों में से कोई एक अपने कार्य को उत्पन्न करने के पूर्व ही नष्ट हो जाए।^{२७४} ये दोनों उदाहरण बंध को अनादि एवं सान्त सिद्ध करते हैं। इसके अतिरिक्त एक अन्य उदाहरण निम्न प्रकार है-

४०४ जैनदर्शन में कारण-कार्य व्यवस्था : एक समन्वयात्मक दृष्टिकोण

जह वेह कंचणो बलसंजोगोऽणाइसंतइगओ वि।

बोच्छिज्जइ सोवायं तह जोगो जीव-कम्माणं।।^{२५५}

सोने तथा मिट्टी का संयोग अनादि सन्ततिगत है। फिर भी अग्नि तापादि से उस संयोग का नाश हो जाता है। इसी प्रकार जीव तथा कर्म का अनादि संयोग भी सम्यक् श्रद्धा आदि रत्नत्रय द्वारा नष्ट हो सकता है।

माण्डिक द्वारा प्रश्न किया गया कि जीव तथा कर्म का संयोग जीव और आकाश के संयोग के समान अनादि अनन्त है अथवा सोने और मिट्टी के समान अनादि सान्त है?^{२५६}

जीव में दोनों प्रकार के संयोग घटित हो सकते हैं, इसमें कोई विरोध नहीं है। जीव-सामान्य की अपेक्षा से दोनों प्रकार के संबंध घटित होते हैं। जीव विशेष की अपेक्षा से अभव्य जीवों में अनादि अनन्त संयोग है, क्योंकि उनकी मुक्ति नहीं होती है, अतः उनके कर्म-संयोग का नाश कभी भी नहीं होता। भव्य जीवों में अनादि सान्त संयोग है, क्योंकि वे कर्म-संयोग का नाश कर मोक्ष-प्राप्ति की योग्यता रखते हैं।^{२५७}

पुण्य-पाप का स्वरूप

भगवान ने पुण्य-पाप का स्वरूप इस प्रकार कहा है-

सोहणवण्णाइगुणं सुभाणुभावं च जं तयं पुण्णं।

विवरीयमओ पावं न बायरं नाइसुहुमं च।।^{२५८}

जो स्वयं शुभ वर्ण, गंध, रस तथा स्पर्श युक्त हो तथा जिसका विपाक भी शुभ हो वह पुण्य है और इससे विपरीत जो अशुभ वर्ण, गंध, रस तथा स्पर्श युक्त हो तथा जिसका विपाक भी अशुभ हो वह पाप है। पुण्य और पाप ये दोनों पुद्गल हैं, किन्तु वे मेरु आदि के समान अतिस्थूल नहीं हैं और परमाणु के समान अतिसूक्ष्म भी नहीं हैं।

पुण्य-पाप कर्मों का फल : स्वर्ग-नरक

भगवान से गणधर मौर्यपुत्र ने देव और गणधर अकम्पित ने नारकी के संबंध में जिज्ञासा रखी। तब वहाँ भगवान ने पुण्य तथा प्रकृष्ट पाप के प्रतिफल को लक्ष्य कर कर्म सिद्धान्त की व्याख्या की, जो नीचे प्रस्तुत है-

इस संसार में दुःखी मनुष्यों व तिर्यचों तथा सुखी मनुष्यों के होने पर भी नारक तथा देव योनि को पृथक् मानने का कारण यह है कि प्रकृष्ट पाप का फल

केवल दुःख ही होना चाहिए और प्रकृष्ट पुण्य का फल केवल सुख ही होना चाहिए। इस दृष्ट संसार में ऐसा कोई प्राणी नहीं है जो मात्र दुःखी हो और जिसे सुख का कुछ अंश भी प्राप्त न हो। ऐसा भी कोई प्राणी नहीं है जो मात्र सुखी हो और जिसे लेशमात्र भी दुःख प्राप्त न हो। मनुष्य कितना भी सुखी क्यों न हो, फिर भी रोग, जरा, इष्ट-वियोग आदि से थोड़ा दुःख होता ही है। अतः कोई ऐसी योनि भी होनी चाहिए जहाँ प्रकृष्ट पाप का फल केवल दुःख ही हो तथा प्रकृष्ट पुण्य का फल केवल सुख ही हो, ऐसी योनियाँ क्रमशः नारक व देव हैं।^{२७९}

देहादि की प्राप्ति एवं सुख-दुःखादि में पुण्य-पाप की कारणता

भगवान महावीर और गणधर अचलभ्राता के मध्य चर्चा का विषय 'पुण्य-पाप' था। पुण्य-पाप के संबंध में भगवान महावीर के विचार यहाँ प्रस्तुत किए जा रहे हैं-

तं चिय देहाईणं किरियाणं पिय सुभाऽसुभत्ताओ।

पडिवज्ज पुण्णपावं सहावओ भिन्नजाईयं।।^{२८०}

तात्पर्य यह है कि दृष्ट कारण रूप माता-पिता के समान होने पर भी एक पुत्र सुन्दर देह वाला होता है तथा दूसरा कुरूप। अतः दृष्ट कारण माता-पिता से भिन्न रूप अदृष्ट कारण कर्म को भी मानना चाहिए। वह कर्म भी दो प्रकार का स्वीकार करना चाहिए पुण्य और पाप। शुभ देहादि कार्य से उसके कारणभूत पुण्य कर्म का तथा अशुभ देहादि कार्य से उसके कारणभूत पाप कर्म का अस्तित्व सिद्ध होता है। शुभ क्रिया रूप कारण से शुभ कर्म पुण्य की निष्पत्ति होती है तथा अशुभ क्रिया रूप कारण से अशुभ कर्म पाप की निष्पत्ति होती है।^{२८१} इससे भी कर्म के पुण्य व पाप ये दो भेद स्वभाव से ही भिन्नजातीय सिद्ध होते हैं। कहा भी है-

इह दृष्टहेत्वसंभविकार्यविशेषात् कुलालयत्न इव।

हेत्वन्तरमनुमेयं तत् कर्म शुभाऽशुभं कर्तुः।।

अर्थात् दृष्ट हेतुओं के होने पर भी कार्य विशेष असंभव हो तो कुम्भकार के यत्न के समान एक अन्य अदृष्ट हेतु का अनुमान करना पड़ता है और वह कर्ता का शुभ अथवा अशुभ कर्म है।

एक अन्य प्रकार से भी कर्म के पुण्य और पाप इन दो भेदों की सिद्धि हो सकती है।

सुह-दुक्खाणं कारणमणुरूवं कज्जभावओऽवस्सं।

परमाणवो घडस्स व कारणमिह पुण्ण-पावाइं।।^{२८२}

सुख और दुःख दोनों ही कार्य हैं, अतः दोनों के ही उनके अनुरूप कारण होने चाहिए। जैसे घट का अनुरूप कारण मिट्टी के परमाणु हैं तथा पट के अनुरूप कारण तन्तु हैं, वैसे ही सुख का अनुरूप कारण पुण्य-कर्म तथा दुःख का अनुरूप कारण पाप कर्म हैं। इस प्रकार दोनों का पार्थक्य है।

जीव तथा पुण्य का संयोग ही सुख का कारण है। उस संयोग का ही स्वपर्याय सुख है। जीव व पाप का संयोग दुःख का कारण है। उस संयोग का ही स्वपर्याय दुःख है। जैसे सुख को शुभ, कल्याण, शिव आदि कह सकते हैं वैसे ही उसके कारण पुण्य के लिए भी यही शब्द प्रयुक्त किए जा सकते हैं। जैसे दुःख को अकल्याण, अशुभ, अशिव आदि संज्ञा दी जाती है, उसके कारण पाप-द्रव्यों को भी इन शब्दों से प्रतिपादित किया जाता है। इसीलिए ही विशेषरूपेण सुख-दुःख के अनुरूप कारण के रूप में पुण्य-पाप माने जाते हैं।^{२८३}

कर्म-पुद्गल ग्रहण की प्रक्रिया

गणधर अचलभ्राता की जिज्ञासा को शान्त करते हुए भगवान् कर्म-ग्रहण की प्रक्रिया समझाते हैं-

गिणहइ तज्जोगं चिय रेणुं पुरिसो जहा कयब्भंगो।

एगक्खेतोगाढं जीवो सव्वप्पएसेहिं।।^{२८४}

जैसे कोई व्यक्ति शरीर पर तेल लगा कर नग्न शरीर ही खुले स्थान में बैठे तो तेल के परिमाण के अनुसार उसके समस्त शरीर पर मिट्टी चिपक जाती है, वैसे ही राग-द्वेष से स्निग्ध जीव भी कर्म-वर्गणा के विद्यमान कर्म योग्य पुद्गलों को ही पाप-पुण्य में ग्रहण करता है। कर्म-वर्गणा के पुद्गलों से भी सूक्ष्म परमाणु का अथवा स्थूल औदारिकादि शरीर योग्य पुद्गलों का कर्म रूप में ग्रहण नहीं होता। जीव स्वयं आकाश के जितने प्रदेशों में होता है उतने ही प्रदेशों में विद्यमान तद्रूप पुद्गलों का अपने सर्वप्रदेश में ग्रहण करता है।^{२८५}

जब तक जीव ने कर्मपुद्गल का ग्रहण नहीं किया हो तब तक वह पुद्गल शुभ या अशुभ किसी भी विशेषण से विशिष्ट नहीं होता, अर्थात् वह अविशिष्ट ही होता है। किन्तु जीव उस कर्म पुद्गल का ग्रहण करते ही आहार के समान अध्यवसाय रूप परिणाम तथा आश्रय की विशेषता के कारण उसे शुभ या अशुभ रूप में परिणत कर देता है। कहने का तात्पर्य यह है कि जीव का जैसा शुभ या अशुभ अध्यवसाय रूप परिणाम होता है, उसके आधार पर वह ग्रहण काल में ही कर्म में शुभत्व या अशुभत्व उत्पन्न कर देता है तथा कर्म के आश्रयभूत जीव का भी एक ऐसा स्वभाव विशेष है

कि जिसके कारण वह उक्त रीति से कर्म का परिणाम करते हुए ही कर्म का ग्रहण करता है।^{२८६}

आहार के समान होने पर भी परिणाम और आश्रय की विशेषता के कारण उसके विभिन्न परिणाम दृष्टिगोचर होते हैं; जैसे कि गाय तथा सर्प को एक ही आहार देने पर भी गाय द्वारा खाया गया पदार्थ दूध रूप में परिणत होता है तथा सर्प द्वारा खाया गया विष रूप में। यहाँ पर जैसे खाद्य पदार्थ में भिन्न-भिन्न आश्रय में जाकर तद्-तद्रूप में परिणत होने का परिणाम स्वभाव विशेष है वैसे ही खाद्य का उपयोग करने वाले आश्रय में भी उन वस्तुओं को तद् तद् रूप में परिणत करने का सामर्थ्य विशेष है। इसी प्रकार कर्म में भी भिन्न-भिन्न शुभ या अशुभ अध्यवसाय वाले अपने आश्रय रूप जीव में जाकर शुभ या अशुभ रूप में परिणत हो जाने का सामर्थ्य है। आश्रय रूप जीव में भी भिन्न-भिन्न कर्मों का ग्रहण कर उन्हें शुभ या अशुभ रूप में अर्थात् पुण्य या पाप रूप में परिणत कर देने की शक्ति है।^{२८७}

एक ही जीव कर्म के शुभ तथा अशुभ दोनों परिणामों को उत्पन्न करने में समर्थ होता है। यथा- एक ही शरीर में अविशिष्ट अर्थात् एक रूप आहार ग्रहण किया जाता है, फिर भी उसमें से सार और असार रूप दोनों परिणाम तत्काल हो जाते हैं। शरीर खाए हुए भोजन को रस, रक्त तथा माँस रूप सार तत्त्व में और मलमूत्र जैसे असार तत्त्व में परिणत कर देता है। इसी प्रकार एक ही जीव गृहीत साधारण कर्म को अपने शुभाशुभ परिणाम द्वारा पुण्य तथा पाप रूप में परिणत कर देता है।^{२८८}

इसके बाद पुण्य और पाप प्रकृतियों की पृथक्-पृथक् गणना विशेषावश्यक भाष्य में विस्तार से की गई है।^{२८९}

कर्म-संक्रम का नियम

कर्म की मूल प्रकृति और उत्तर प्रकृतियों में परस्पर कर्म-संक्रमण के संबंध में विशेषावश्यक भाष्य में जो कहा गया है, वह इस प्रकार है- "मोत्तूणं आउयं खलु दंसणमोहं चरित्तमोहं च। सेसाणं पगईणं उत्तरविहिसंकमो भज्जो"^{२९०} ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र तथा अन्तराय- इन आठ मूल कर्म-प्रकृतियों में तो परस्पर संक्रम हो ही नहीं सकता। अर्थात् एक मूल प्रकृति दूसरी प्रकृति रूप में परिणत नहीं की जा सकती है, किन्तु उत्तर प्रकृतियों में परस्पर संक्रम संभव है। इस नियम में भी यह अपवाद है कि आयुकर्म की मनुष्य, देव, नारक, तिर्यच इन चार उत्तर प्रकृतियों में परस्पर संक्रम नहीं होता तथा मोहनीय कर्म दर्शनमोह तथा चारित्रमोह रूप दो उत्तर प्रकृतियों में भी परस्पर संक्रम नहीं होता।

४०८ जैनदर्शन में कारण-कार्य व्यवस्था : एक समन्वयात्मक दृष्टिकोण

इनके अतिरिक्त कर्म की शेष उत्तर प्रकृतियों में परस्पर संक्रम की भजना (विकल्प) है।^{१९१}

जीव के साथ कर्म का वियोग सम्भव

ग्यारहवें गणधर प्रभास के साथ चर्चा में भगवान ने फरमाया- “जीव तथा कर्म का संयोग आकाश के समान अनादि है, इसलिए जीव और आकाश के अनादि संयोग के समान जीव व कर्म के संयोग का भी नाश नहीं होता”-प्रभास के इस प्रश्न का समाधान देते हुए भगवान कहते हैं^{१९२}- ‘जीव में बन्ध सम्भव है, क्योंकि उसकी दान अथवा हिंसादि क्रिया फलयुक्त होती है। बन्ध का वियोग भी जीव में शक्य है, क्योंकि वह बन्ध संयोग रूप होता है। जिस प्रकार सुवर्ण तथा पाषाण का अनादि रूप योग भी संयोग है इसलिए किसी कारणवशात् उसका वियोग होता है; उसी प्रकार आत्मा के बन्ध रूप कर्म-संयोग का भी सम्यग्ज्ञान व क्रिया द्वारा नाश होता है।’^{१९३}

कर्म सिद्धान्त : कतिपय अन्य बिन्दु

कर्म की मूर्तता के सम्बन्ध में विचार

जैन ग्रन्थों में रूप, रस, गन्ध, स्पर्श युक्त पदार्थ को मूर्त कहा गया है। जैन दर्शन के धर्म, अधर्म, आकाश पुद्गल, काल और जीव; इन ६ द्रव्यों में पुद्गल ही एक ऐसा द्रव्य है जिसमें रूप, रस, गन्ध, स्पर्श आदि गुण होते हैं। जो इन गुणों से युक्त है उनमें मूर्तत्व है। चूंकि जैन दर्शन में कर्म को पुद्गलजन्य माना गया है अतः उसकी मूर्तता स्वतः सिद्ध है। मूर्तता के सम्बन्ध में कुन्दकुन्दाचार्य और डॉ. सागरमल जैन के निम्न तर्क हैं।

१. पंचास्तिकाय में मूर्त कर्म का समर्थन करते हुए कहते हैं-

“जह्मा कम्मस्स फलं विसयं फासेहिं भुञ्जदे णियदं।

जीवेण सुहं दुक्खं तम्हा कम्माणि मुत्ताणि॥”^{१९४}

इन्द्रिय, विषय, स्पर्श आदि मूर्त हैं उनको भोगने वाली इन्द्रियाँ मूर्त हैं, उनसे होने वाले सुख-दुःख मूर्त हैं इसलिए उनके कारणभूत कर्म भी मूर्त हैं।

२. डॉ. सागरमल जैन का मन्तव्य है^{१९५} कि कर्म मूर्त है क्योंकि उसके सम्बन्ध से दुःख-सुख आदि का ज्ञान होता है जैसे-भोजन से। कर्म मूर्त है क्योंकि उसके सम्बन्ध से वेदना होती है, जैसे-अग्नि से। यदि कर्म अमूर्त होता तो उसके कारण सुख-दुःख की वेदना नहीं होती।

कारण से जिस प्रकार कार्य का अनुमान होता है, उसी प्रकार कार्य से भी कारण का अनुमान होता है। इस सिद्धान्त के अनुसार शरीर आदि कार्य मूर्त हैं तो उनका कारण कर्म भी मूर्त ही होना चाहिये।

मूर्त कर्म से अमूर्त आत्मा का सम्बन्ध और प्रभाव

अमूर्त आत्मा और मूर्त कर्म दोनों अनादि हैं। कर्मसंतति का आत्मा के साथ अनादि काल से सम्बन्ध है। प्रतिपल-प्रतिक्षण जीव नूतन कर्म बांधता है। ऐसा कोई भी क्षण नहीं, जिस समय सांसारिक जीव कर्म नहीं बांधता है। इस दृष्टि से आत्मा के साथ कर्म का सम्बन्ध अनादि है। आत्मा अमूर्त होते हुए भी कर्म के सम्पर्क से कथंचित् मूर्त भी है। इस दृष्टि से कर्म और आत्मा का परस्पर सम्बन्ध सम्भव है, क्योंकि आत्मा और कर्म का सम्बन्ध न मानने पर कर्म सिद्धान्त का अस्तित्व नहीं रहता।

जिस प्रकार अमूर्त ज्ञानादि गुणों पर मूर्त मदिरादि का प्रभाव पड़ता है उसी प्रकार अमूर्त जीव पर भी मूर्त कर्म का प्रभाव पड़ता है। उपाध्याय अमरमुनि^{१९६} इसका युक्तियुक्त समाधान देते हुए कहते हैं कि कर्म के संबंध से आत्मा कथंचित् मूर्त भी है। क्योंकि संसारी आत्मा अनादिकाल से कर्म-संतति सम्बद्ध है, इस अपेक्षा से आत्मा सर्वथा अमूर्त नहीं है, अपितु कर्म-संबद्ध होने के कारण स्वरूपतः अमूर्त होते हुए भी वस्तुतः कथंचित् मूर्त है। इस दृष्टि से भी आत्मा पर मूर्त कर्म का उपघात, अनुग्रह और प्रभाव पड़ता है।

डॉ. सागरमल जी जैन भी 'मूर्त का अमूर्त पर प्रभाव' के संबंध में लिखते हैं कि जिस पर कर्म सिद्धान्त का नियम लागू होता है, वह व्यक्तित्व अमूर्त नहीं है। हमारा वर्तमान व्यक्तित्व शरीर (भौतिक) और आत्मा (अभौतिक) का एक विशिष्ट संयोग है। शरीरी आत्मा भौतिक तथ्यों से अप्रभावित नहीं रह सकता। जब तक आत्मा शरीर (कर्म शरीर) के बंधन से मुक्त नहीं हो जाती, तब तक वह अपने को भौतिक प्रभावों से पूर्णतया अप्रभावित नहीं रख सकती। मूर्त शरीर के माध्यम से उस पर मूर्त-कर्म का प्रभाव पड़ता है।^{१९७}

कर्म-फल संविभाग नहीं

कर्म फल संविभाग यानी कर्मों के फल का विभाजन। कहने का तात्पर्य यह है कि एक व्यक्ति द्वारा किये गए कर्म का फल दूसरे व्यक्ति को मिल जाना ही कर्म-फल संविभाग है। इसके संबंध में भारतीय दर्शन में भी चिन्तन उपलब्ध होता है। महाभारत और गीता में शुभ (पुण्य) एवं अशुभ (पाप) दोनों ही प्रकार के कर्मों का

फल संविभाग स्वीकार किया गया है।^{३१८} बौद्ध केवल शुभ कर्म यानी पुण्य कर्मों के विभाजन को ही स्वीकार करते हैं।^{३१९} जैनमतानुसार प्राणी के शुभाशुभ कर्मों के प्रतिफल में अन्य कोई भागीदार नहीं बन सकता। जो व्यक्ति शुभाशुभ कर्म करता है, वही उसका फल प्राप्त करता है। इसके संबंध में विभिन्न तर्क इस प्रकार हैं-

१. भगवती सूत्र में गौतम द्वारा पूछे जाने पर कि "क्या जीव स्वयंकृत दुःख को भोगता है?" इसके उत्तर में भगवान महावीर कहते हैं कि जीव स्वकृत दुःख-सुख का भोग करता है, परकृत का नहीं।^{३२०}
२. उत्तराध्ययन सूत्र में स्पष्ट उल्लेख है कि संसारी जीव अपने और अन्य बन्धु-बान्धवों के लिए कर्म करता है, किन्तु उस कर्म के फलोदय के समय कोई भी बन्धु-बान्धव हिस्सेदार नहीं होता है। व्यक्ति के दुःख को न जाति के लोग बाँट सकते हैं और न मित्र, पुत्र तथा बन्धु। वह स्वयं अकेला ही उन प्राप्त दुःखों को भोगता है, क्योंकि कर्म कर्ता के पीछे ही चलता है। व्यक्ति के किए हुए कर्मों के फलोपभोग में उसके माता, पिता, पुत्रवधू, भाई, पत्नी तथा औरस पुत्र भी समर्थ नहीं हैं।^{३२१}
३. फल ही व्यक्ति को कर्म करने के लिए प्रेरित करता है। ऐसी स्थिति में कर्म करने वाला व्यक्ति यदि उस कर्म का फलोपभोग न करे तो यह न्यायोचित नहीं होगा। यदि यही सत्य मान लिया जाए कि कर्म कोई करेगा तथा उसका फल कोई भोगेगा तो फिर कर्म करने के प्रति व्यक्ति उदासीन होगा, क्योंकि फल ही एक ऐसा मापदण्ड है जो कर्म करने के लिए व्यक्ति को प्रेरित करता है।^{३२२}
४. कर्मफल संविभाग को स्वीकार करने पर कर्मों के शुभत्व एवं अशुभत्व के प्रति व्यक्ति का कोई नैतिक उत्तरदायित्व भी नहीं होगा।^{३२३}
५. जैन कर्मसिद्धान्त मानता है कि विविध सुखद-दुःखद अनुभूतियों का मूल कारण (उपादान) तो व्यक्ति के अपने ही पूर्व कर्म हैं। दूसरा व्यक्ति तो मात्र निमित्त बन सकता है। अर्थात् उपादान कारण की दृष्टि से सुख-दुःखादि अनुभव स्वकृत है और निमित्त कारण की दृष्टि से परकृत है। यहां यह प्रश्न उठता है कि यदि हम दूसरों का हिताहित करने में मात्र निमित्त होते हैं, तो फिर हमें पाप-पुण्य का भागी क्यों माना जाता है? जैन विचारकों का कहना है कि हमारे पुण्य-पाप दूसरे के हिताहित की क्रिया पर निर्भर न होकर हमारी मनोवृत्ति पर निर्भर है। हम दूसरों का हिताहित करने पर

उत्तरदायी इसलिए है कि वह कर्म एवं कर्मसंकल्प हमारा है। दूसरों के प्रति हमारा जो दृष्टिकोण है, वही हमें उत्तरदायी बनाता है। उसी के आधार पर व्यक्ति कर्म का बंध करता है और उसका फल भोगता है।^{३०४}

कर्म सिद्धान्त के दो महत्त्वपूर्ण तथ्य : गुणस्थान एवं मार्गणास्थान

जैन कर्मसिद्धान्त में गुणस्थान एवं मार्गणास्थान का विशेष योगदान है। क्योंकि गुणस्थानों से कर्मबंधन से छूटने तथा जीव के आध्यात्मिक विकास की सूचना मिलती है और मार्गणास्थान के विवरण से यह पता चलता है कि विभिन्न प्रकार के कर्मों के करने पर जीव कौन-सी अवस्था या गति प्राप्त करता है। कर्मबंध की अल्पता और आध्यात्मिक शक्ति के विकास के आधार पर गुणस्थानों के १४ भेद किए गए हैं। ये गुणस्थान एक क्रम में व्यवस्थित हैं। इनके आधार पर समस्त जीवों के कर्मबंध, उदय, उदीरणा, सत्ता आदि का मापन सुगमता से किया जा सकता है। गुणस्थानों के सम्यक् ज्ञान से यह भी जाना जा सकता है कि इस प्रकार की आन्तरिक अशुद्धि या शुद्धि वाला जीव अमुक कर्मप्रकृतियों का बंध, उदय तथा उदीरणा कर सकता है। १४ गुणस्थानों में प्रथम की अपेक्षा दूसरा तथा दूसरे की अपेक्षा तीसरा; इस प्रकार पूर्ववर्ती गुणस्थान की अपेक्षा परवर्ती गुणस्थान में आध्यात्मिक विकास की मात्रा क्रमशः बढ़ती जाती है और कर्म का बंधन शिथिल होता जाता है। विकास की ओर बढ़ती हुई इन्हीं क्रमिक अवस्थाओं को गुणस्थान कहा जाता है। ये गुणस्थान निम्नलिखित हैं— १. मिथ्यादृष्टि २. सास्वादन सम्यग्दृष्टि ३. सम्यग्मिथ्यादृष्टि ३. अविरति सम्यग्दृष्टि ५. देशविरति ६. प्रमत्तसंयत ७. अप्रमत्तसंयत ८. निवृत्तिकरण (अपूर्वकरण), ९. अनिवृत्तिकरण बादर सम्पराय १०. सूक्ष्म संपराय ११. उपशांतक-षायवीतरागछद्मस्थ १२. क्षीणकषायवीतरागछद्मस्थ १३. सयोगकेवली १४. अयोगकेवली।^{३०५}

मार्गणास्थान जीव के पूर्व कर्मों की विभिन्नता के आधार पर प्राप्त होने वाली गति, योनि, शरीर, इन्द्रियों की संख्या आदि को सूचित करता है। जीव के कर्मजन्य औदयिक, औपशमिक, क्षायोपशमिक आदि भावों को दृष्टि में रखकर मार्गणाओं के १४ भेद किए गए हैं। जो इस प्रकार हैं— १. गति २. इन्द्रिय ३. काय ४. योग ५. वेद ६. कषाय ७. ज्ञान ८. संयम ९. दर्शन १०. लेख्या ११. भव्यत्व १२. सम्यक्त्व १३. संज्ञी १४ आहारकत्व।^{३०६} इनमें प्रत्येक के अन्य अवान्तर भेद भी हैं, जिनको लेकर ६२ मार्गणाएँ मानी गयी हैं।

कर्मजन्य औदयिक, क्षायिक एवं क्षायोपशमिक आदि भावों के अनुसार एक ही समय में जीव में सभी चौदह मार्गणाएँ हो सकती हैं, परन्तु एक जीव में एक समय

में एक ही गुणस्थान हो सकता है। गुणस्थान यह बतलाता है कि कर्मबंधन के क्रमशः क्षीण होने या क्रमिक आध्यात्मिक विकास होने से मुक्ति की प्राप्ति हो जाती है एवं मार्गणास्थान से कर्मों के प्रतिफल के रूप में प्राप्त होने वाली विविध गति आदि की सूचना मिलती है।

आगम साहित्य में समवायांग सूत्र के अन्तर्गत जीवस्थान के रूप में १४ गुणस्थानों के उल्लेख मिलते हैं, किन्तु मार्गणा सिद्धान्त का सुव्यवस्थित विवरण प्राप्त नहीं होता। दिगम्बर आगम षट्खण्डागम में मार्गणा एवं गुणस्थान दोनों ही सिद्धान्तों का सुव्यवस्थित विवेचन है। प्रारम्भ में गुणस्थान एवं मार्गणास्थान की बीज रूप अवधारणाएँ उपस्थित थीं। कर्म-विषयक साहित्य के रचना काल में इनका पूर्ण विकास हुआ। साथ ही कर्मप्रकृतियों के बन्ध, उदय, उदीरणा आदि से भी इनका समन्वय स्थापित किया गया।^{३०७}

आत्मा और कर्म से संबंधित समस्याएँ

कर्म और आत्मा के संदर्भ में मुख्य रूप से निम्नांकित प्रश्न उपस्थित होते हैं-

१. कर्म पहले है या आत्मा?
२. कर्म बलवान है या आत्मा?
३. यदि कर्म और आत्मा का संबंध अनादि है तो उससे छुटकारा कैसे हो सकता है?

१. कर्म पहले या आत्मा?

कर्म पहले है, उसके बाद आत्मा है; ऐसी मान्यता स्वीकार करने पर स्वाभाविक रूप से यह प्रश्न उठता है कि कर्मों का कर्ता आत्मा जब पहले था ही नहीं तो फिर कर्मों को किया किसने? और कर्म अस्तित्व में आया कैसे? इसके विपरीत यदि आत्मा को कर्म से पहले स्वीकार करते हैं तो यह प्रश्न उपस्थित होता है कि यदि कर्म पहले अस्तित्व में नहीं था तो आत्मा का बंधन कैसे हुआ? अर्थात् आत्मा किसी समय मुक्त था और फिर बंधन में आया। इन प्रश्नों पर जैन ग्रन्थों में गंभीर विचार किया गया है। उसमें न तो आत्मा को पहले माना गया है और न कर्म को, अपितु आत्मा और कर्म दोनों को ही अनादि कहा गया है। आत्मा एवं कर्म के संबंध में पंचाध्यायी में स्पष्ट उल्लेख है कि "यथानादिः स जीवात्मा यथानादिश्च पुद्गलः, द्वयोर्बन्धोऽप्यनादिः स्यात् संबंधो जीवकर्मणा"^{३०८} अर्थात् आत्मा भी अनादि तथा कर्म भी अनादि एवं आत्मा तथा कर्म का संबंध भी अनादि है। इस प्रकार आत्मा, कर्म और उनका पारस्परिक संबंध तीनों अनादि हैं।

कर्म पहले और आत्मा बाद में- इस मान्यता के अनुसार तो आत्मा भी एक उत्पन्न-विनष्ट होने वाला पदार्थ होगा और आत्मा का जन्म मानेंगे तो उसका मरण भी निश्चित ही मानना होगा। इस संबंध में सुरेश मुनि 'शास्त्री' कहते हैं कि- आत्मा के संबंध में यह जन्म-मरण, उत्पन्न-विनष्ट होने का विचार भारत के प्रायः सभी दर्शनों को एकदम अमान्य है। भारतीय दर्शनकारों की दृष्टि में आत्मा एक अजर, अमर, अविनाशी और शाश्वत तत्त्व है।^{३९} वेदव्यास के इस स्वर से सभी दर्शनकार सहमत हैं-

न जायते म्रियते वा कदाचिन्नायं भूत्वा भविता वा न भूयः।

अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो, न हन्यते हन्यमाने शरीरे।।^{३९}

ऐसी विषम स्थिति में न आत्मा पहले है और न ही कर्म पहले। जैन संस्कृति के महान् विश्लेषकों ने "आत्मा और कर्म- इन दोनों में कौन पहले और कौन बाद में," इस कड़ी को अनादि कहकर तोड़ दिया। उनका कहना है कि आत्मा भी अनादि है, कर्म भी अनादि है और आत्मा-कर्म इन दोनों का संबंध भी अनादि है। आत्मा कर्मण शरीर के रूप में कर्मों से अनादिकाल से बंधा हुआ चला आ रहा है।

२. कर्म बलवान या आत्मा?

एक तुला में रखी हुई समान आकार की वस्तु के सदृश कर्म और आत्मा का महत्त्व जैन दर्शन में प्रतिपादित हुआ है। इन दोनों में से किसे प्रधानता दी जाए यह चिन्तन का विषय है। जैन ग्रन्थों में कर्म की अपेक्षा आत्मा को ही बलवान माना गया है क्योंकि कर्म के साथ संबंध का भी मूल कारण आत्मा है। इस विचार को प्रमाण के रूप में स्थापित करने हेतु उत्तराध्ययन सूत्र के अंश प्रस्तुत किए जा रहे हैं-

अप्या णई वेयरणी, अप्या मे कूडसामली।

अप्या कामदुहा धेणू, अप्या मे णंदणं वणं।।

अप्या कत्ता विकत्ता य, दुहाण य सुहाण य।

अप्या मित्तममित्तं च, दुप्पट्ठिय-सुपट्ठिओ।।^{३९}

आत्मा ही वैतरणी नदी है, कूटशाल्मली वृक्ष है, कामदुग्धा धेनु है और वही नन्दन वन है। आत्मा ही अपने सुख-दुःख का कर्ता है, भोक्ता है, सत्प्रवृत्तियों में स्थित आत्मा ही अपना मित्र है एवं दुष्प्रवृत्तियों में स्थित आत्मा ही अपना शत्रु है।

गणधरवाद में कर्म और आत्मा की बलवत्ता के संबंध में संशयात्मक स्थिति इस प्रकार प्रस्तुत की गई है-

कथवि बलिओ जीवो, कथवि कम्माइ हुन्ति बलिआइं।

जीवस्स य कम्मस्स य, पुव्वविरुद्धाइं वेराइं।।^{३१२}

कहीं आत्मा बलवान है और कहीं कर्म बलवान है। कभी जीव, काल आदि लब्धियों की अनुकूलता होने पर कर्मों को पछाड़ देता है और कभी कर्मों की बहुलता होने पर जीव उनसे दब जाता है।

इस संबंध में कर्म-सिद्धान्त के मर्मज्ञ आचार्यों ने उत्तर दिया है कि ऊपर से देखने पर कर्म की शक्ति बलवती दिखाई देती है, किन्तु आत्मा की ही शक्ति अधिक बलवती है। बहिर्दृष्टि से पत्थर कठिन-कठोर प्रतीत होता है और अन्तर्दृष्टि से पानी। इसीलिए पहाड़ों पर बरसने वाली पानी की नन्हीं-नन्हीं बूंदें विशाल एवं कठोर चट्टानों में भी छेद डालकर उसके टुकड़े-टुकड़े कर डालती हैं। वे टुकड़े कंकर और कंकर अन्ततः रेत बन जाती हैं। देखने में लोहा पानी से कठोर प्रतीत होता है। पर पानी में डाले गये लोहे को जंग लग जाता है। इसी तरह स्थूल दृष्टि से कर्म बलवान प्रतीत होते हैं, किन्तु वास्तव में आत्मा ही बलवान है। आगमकार के शब्दों में—

खावित्ता पुव्वं कम्माइं, संजमेण तवेण य।

सव्वदुक्खपहीणद्वा पक्कमंति महेसिणो।।^{३१३}

अर्थात् संयम और तप के द्वारा पूर्व कर्मों को क्षीण कर, उन्हें पछाड़ कर महर्षि गण समस्त दुःखों का अन्त कर देते हैं।

३. अनादि का अन्त कैसे?

आत्मा के साथ कर्म का अनादि संबंध है तो उसका अन्त कैसे संभव है? क्योंकि जो अनादि होता है उसका नाश नहीं होता, जैसे आकाश का।

षड्दर्शनसमुच्चय में इसका प्रत्युत्तर दिया गया है— “यद्यपि रागादयो दोषा जन्तोरनादिमन्तः—तथापि कस्यचिद्वाथावस्थितस्त्रीशरीरादिवस्तुतत्त्वाव-गमेन तेषां रागादीनां प्रतिपक्षभावनातः प्रतिक्षणमपचयो दृश्यते। ततः संभाव्यते विशिष्टकालादिसामग्रीसद्भावे भावनाप्रकर्षतो निर्मूलमपि क्षयः निर्मूलक्षयानभ्युपगमेऽपचयस्याप्यसिद्धेः।”^{३१४}

यद्यपि रागादि दोष (कर्म) अनादि काल से इस आत्मा के साथ हैं, फिर भी प्रतिपक्षी विरागी भावनाओं से इसका नाश होता है। उदाहरणार्थ किसी स्त्री में आसक्त कामी व्यक्ति जब स्त्री के शरीर को वास्तविक रूप में मल, मूत्र, मौस, हड्डी, रक्त

आदि का एक लोथड़ा समझ लेता है तब उसके राग का स्रोत इतना सूख जाता है और विरागी भावनाओं की वृद्धि होने से आत्मा के साथ सम्बद्ध पूर्व रागादि का समूल उच्छेद हो जाता है।

उत्तराध्ययन सूत्र में भी अनादि कर्म संबंध का अन्त करने की बात कही है—

“*खवित्ता पुव्वकम्माइं संजमेण तवेण य।*

जयघोस-विजय घोसा, सिद्धिं पत्ता अणुत्तरं।।”^{११५}

संयम एवं तप के द्वारा पूर्वसंचित कर्मों को क्षीण कर अनुत्तर सिद्धि प्राप्त की जा सकती है और अपनी कालावधि पूर्ण होने पर आत्मा से अलग हो जाता है। इस प्रकार आत्मा से नये कर्मों के सम्बद्ध होने एवं पुराने कर्मों के बिछुड़ने की परम्परा चलती रहती है।

जैन दर्शन में कर्म और आत्मा के संबंध को अनादि कहने का अभिप्राय यह है कि कर्म का प्रवाह अर्थात् कर्म और आत्मा के संबंध की परम्परा अनादि है, न कि किसी कर्म विशेष का आत्मा के साथ अनादि संबंध है। क्योंकि पुराने कर्म अपनी-अपनी स्थिति पूर्ण होने पर आत्मा से अलग होते रहते हैं और नए-नए कर्म बंधते रहते हैं। आत्मा से पुराने कर्मों के अलग होने को जैन संस्कृति की मूल भाषा में ‘निर्जरा’ और आत्मा के साथ नवीन कर्मों के संबंध हो जाने को बंध कहते हैं। किसी विशेष कर्म का आत्मा के साथ अनादि-काल से सम्बन्ध चला आ रहा हो- जैन संस्कृति के कर्म-सिद्धान्त का यह मन्तव्य कदापि नहीं है। भिन्न-भिन्न कर्मों के संयोग का प्रवाह अनादिकालीन है, न कि किसी एक कर्म विशेष का। अतः कर्म विशेष का संबंध सादि और सान्त होता है।

कर्म और पुनर्जन्म

पुनर्जन्म का अर्थ है- वर्तमान जीवन के पश्चात् का परलोक जीवन। परलोक जीवन का मुख्य आधार पूर्वकृत कर्म है। अतीत कर्मों का फल हमारा वर्तमान जीवन है और वर्तमान कर्मों का फल हमारा भावी जीवन है। कर्म और पुनर्जन्म का अविच्छेद्य संबंध है। कर्म की सत्ता स्वीकार करने पर उसके फलरूप परलोक या पुनर्जन्म की सत्ता भी स्वीकार करनी पड़ती है। जिन कर्मों का फल वर्तमान भव में प्राप्त नहीं होता उन कर्मों के भोग के लिए पुनर्जन्म मानना आवश्यक है। पुनर्जन्म और पूर्वभव न माना जाएगा तो कृतकर्म का निर्हेतुक विनाश और अकृतकर्म का भोग मानना पड़ेगा। ऐसी स्थिति में कर्म-व्यवस्था दूषित हो जाएगी। इन दोषों के परिहार हेतु ही कर्मवादियों ने पुनर्जन्म की सत्ता स्वीकार की है।

जैन कर्म सिद्धान्त संबंधी साहित्य

सभी भारतीय दर्शन किसी न किसी रूप में कर्मवाद को स्वीकार करते हैं। कर्मवाद संबंधी सिद्धान्तों के निरूपण में जैन आचार्यों का अपना मौलिक योगदान रहा है। इस सिद्धान्त का विशिष्ट निरूपण जैनाचार्यों द्वारा रचित जैनकर्मसिद्धान्त संबंधी साहित्य में प्राप्त होता है। कर्मवाद का सामान्य विवेचन तो प्रायः जैन आगमिक तथा दार्शनिक ग्रन्थों एवं जैन कथा साहित्य में मिलता है, किन्तु विशेष विवेचन कर्म संबंधी विशाल साहित्य में मिलता है।

जैन परम्परा दो भागों में विभक्त है- श्वेताम्बर और दिगम्बर। दोनों ही परम्पराओं में कर्म-संबंधी साहित्य का सर्जन हुआ है।

श्वेताम्बर परम्परा में

आचारांग, सूत्रकृतांग, प्रश्नव्याकरण तथा विपाक सूत्र इत्यादि में कर्म-सिद्धान्त के यत्र-तत्र बिखरे हुए विवरण उपलब्ध होते हैं, जबकि स्थानांग, समवायांग, भगवती, प्रज्ञापना एवं उत्तराध्ययन में इसके सुव्यवस्थित एवं बहुविस्तृत विवरण उपलब्ध होते हैं।

स्थानांग सूत्र में बंधन के चार प्रकारों-प्रकृतिबंध, स्थितिबंध, अनुभाग बंध एवं प्रदेश बंध की चर्चा है।^{३१६} बंध, उदय, उदीरणा, उपशमन, निधत्ति आदि का भी उल्लेख सम्प्राप्त होता है। इस प्रकार स्थानांग में आचारांग और सूत्रकृतांग की अपेक्षा जैन कर्म-सिद्धान्त का विकसित रूप परिलक्षित होता है। समवायांग सूत्र में ज्ञानावरणीय, वेदनीय, आयु, नाम और अन्तराय इन पाँच कर्मों की क्रमशः ५, २, ४, ४२ और ५ इस प्रकार ५८ उत्तरप्रकृतियों की चर्चा है।^{३१७} भगवती सूत्र में यह स्पष्ट किया गया है कि किस प्रकार के कर्मों का अपवर्तन, संक्रमण, निधत्ति, निकाचना आदि सम्भव है। इस आगम में मोहनीय कर्म तथा उसके बंधन, उदय एवं उदीरणा आदि से संबंधित तथ्यों पर प्रकाश डाला गया है।

उपासकदशांग, अन्तकृतदशांग तथा अनुत्तरौपपातिक आदि अंगसूत्रों में कर्म विषयक कोई चर्चा नहीं है। उपांग साहित्य में प्रज्ञापना और जीवाभिगम के कुछ अंश को छोड़कर शेष उपांगों में कर्मसिद्धान्त से संबंधित सामग्री का अभाव ही दृष्टिगोचर होता है। प्रज्ञापना में कर्मसिद्धान्त का सुनियोजित, सुविस्तृत एवं सुस्पष्ट विवरण मिलता है। मूलसूत्र उत्तराध्ययन सूत्र में मुख्य रूप से कर्म की आठ मूल प्रकृतियों एवं उनकी अधिकांश उत्तरप्रकृतियों के नामोल्लेख मिलते हैं। श्वेताम्बर आगम-साहित्य के तीन मूलसूत्रों, छेदसूत्र, चूलिकासूत्र एवं प्रकीर्णकों में कर्मसिद्धान्त का कोई विकसित स्वरूप परिलक्षित नहीं होता।

आगम के अतिरिक्त शिवशर्मसूरि रचित 'कम्मपयडि' और चन्द्रर्षिमहत्तर विरचित 'पंचसंग्रह' महत्त्वपूर्ण कर्मग्रन्थ हैं। कर्मविपाक, कर्मस्तव, बंधस्वामित्व, षडशीति शतक और सप्ततिका ये प्राचीन षट्कर्मग्रन्थ हैं।

दिगम्बर परम्परा में

दिगम्बर परम्परा के ग्रन्थों में षट्खण्डागम का अन्यतम स्थान है। इस ग्रन्थ के कर्ता आचार्य पुष्पदन्त और भूतबलि हैं। इसमें छः खण्ड हैं- जीवस्थान, क्षुद्रकबंध, बन्धस्वामित्वविचय, वेदना, वर्गणा और महाबंध। कर्मसिद्धान्त के विभिन्न पक्षों से संबंधित विस्तृत विवरणों का एक स्थान पर संकलन षट्खण्डागम ग्रन्थ ही प्रस्तुत करता है। जैन कर्मसिद्धान्त में संबंधित शायद ही कोई ऐसा तथ्य होगा जो इस ग्रन्थ की पैनी दृष्टि से अछूता होगा।

षट्खण्डागम की तरह दृष्टिवाद नामक बारहवें अंग से उत्पन्न कसायपाहुडसुत भी कर्मसिद्धान्त का व्याख्या ग्रन्थ है, जो आज लुप्त हो गया है। आचार्य नेमिचन्द्र विरचित गोम्मटसार 'कर्मकाण्ड' में नौ विषयों का प्रतिपादन हुआ है- १. प्रकृतिसमुत्कीर्तन २. बन्धोदयसत्त्व ३. सत्त्वस्थानभंग ४. त्रिचूलिका ५. स्थानसमुत्कीर्तन ६. प्रत्यय ७. भाव-चूलिका ८. त्रिकरणचूलिका ९. कर्मस्थितिरचना। इन्हीं की रचना 'लब्धिसार' में कर्मबंधन से मुक्त होने के उपायों का विस्तृत विवेचन है। अमितगति कृत पंचसंग्रह में गद्यपद्यात्मक १४५६ श्लोक हैं। यह गोम्मटसार का संस्कृत रूपान्तर सा है।

दिगम्बर साहित्य में कर्म विषयक तथ्यों को सूक्ष्म, गूढ़ एवं गम्भीर शैली में वर्णित किया गया है, वहीं श्वेताम्बर साहित्य में कर्म-विषयक तथ्य अपेक्षाकृत सरल, सुबोध एवं सुगम शैली में निरूपित किए गए हैं। कर्म सिद्धान्त को एक सुनियोजित एवं सुव्यवस्थित स्वरूप प्रदान करने में दोनों ही परम्पराओं के ग्रन्थों का विशेष योगदान है।^{३१८}

जैन वाङ्मय में एकान्त कर्मवाद एवं उसका खण्डन

आचारांग सूत्र एवं उसकी शीलांक टीका में कर्मवाद

आचारांग सूत्र में आत्मवादी, लोकवादी आदि के साथ कर्मवादी को भी परिगणित किया गया है।^{३१९} शीलांकाचार्य ने इस सूत्र पर टीका करते हुए कर्मवादियों की मान्यता निम्न शब्दों में प्रस्तुत की है- "कर्म ज्ञानावरणीयादि तद् वदितुं शीलमस्य। कर्मणो जगद्वैचित्र्यवादिनि, यतो हि प्राणिनो मिथ्यात्वाविरति-

४१८ जैनदर्शन में कारण-कार्य व्यवस्था : एक समन्वयात्मक दृष्टिकोण

प्रमादकषाययोगैः पूर्वं गत्यादियोग्यानि कर्माण्याददते पश्चात्तासु तासु विरूपरूपासु योनिषु उत्पद्यन्ते कर्म च प्रकृतिस्थित्यनुभागप्रदेशात्मकमवसेयमिति। अनेन च कालयदृच्छानियतीश्वरात्मवादिनो निरस्ता द्रष्टव्याः।^{१३२०} अर्थात् ज्ञानावरणीय आदि कर्म का कथन करने वाले कर्मवादी हैं। कर्मवादी जगत् की विचित्रता का कारण कर्म को मानते हैं। इनके अनुसार प्राणी मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग से पहले गति आदि के योग्य कर्मों को ग्रहण करते हैं तथा बाद में उन भिन्न प्रकार की योनियों में उत्पन्न होते हैं। यह कर्म प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेश स्वरूप जानना चाहिए। इस कर्मवाद के द्वारा कालवादी, यदृच्छावादी, नियतिवादी, ईश्वरवादी और आत्मवादी निरस्त हो जाते हैं।

द्वादशारनयचक्र में कर्मवाद का उपस्थापन एवं प्रत्यवस्थान

कर्म-एकान्तवादी पुरुषकार को कारण नहीं मानते, वे पुरुषकार को नाना-फलों को प्रदान करने में असमर्थ मानते हैं तथा कर्म की कारणता सिद्ध करते हैं। द्वादशारनयचक्र में मल्लवादी क्षमाश्रमण (५वीं शती) ने कर्म को एकान्त कारण मानने वाले दार्शनिकों की ओर से विभिन्न तर्क उपस्थित किए हैं, वे निम्न हैं-

१. पुरुषकार द्वारा कार्य की सिद्धि न होने से कर्म की सिद्धि- “यदि प्रवर्तयितृत्वात् पुरुषकारः कारणं स्यात् ततः प्रधानमध्यमाधमभिन्नाः सिद्धयोऽसिद्धयो वा नाना न स्युः, उत्कर्षार्थिकारणैकत्वात्”^{१३२१} अर्थात् यदि प्रवर्तक होने से पुरुषकार ही कारण है तो प्रधान, मध्यम और अधम रूप में नाना प्रकार की सिद्धियाँ और असिद्धियाँ नहीं हो सकती क्योंकि पुरुषकारवादी तो उत्कर्ष को चाहने वाले होते हैं।

उत्कर्षार्थी के द्वारा प्रधान, मध्यम और अधम पुरुषकार संभव नहीं है। वे तो सिद्धि के ही अभिलाषी होते हैं, असिद्धि के नहीं; फिर भी नाना प्रकार की सिद्धियाँ और असिद्धियाँ देखी जाती हैं। इसलिए इनके पीछे कोई न कोई दूसरा कारण होना चाहिए, जो कर्म ही है।^{१३२२}

२. कार्य की भिन्नता से कर्म की सिद्धि- कार्य की भिन्नता से कारण की भिन्नता का बोध होता है और इस भिन्नता का प्रवर्तक कारण कर्म ही है। पुरुषकार में यह भेद का व्यापार संभव नहीं है, क्योंकि वह चेतना मात्र बल है। कर्म के बिना यह भेद संभव नहीं है। पशुत्व में विद्यमान जीव मनुष्य जीवन की चैतन्य शक्ति का आधान करने में समर्थ नहीं है और मनुष्य होकर वह पशु-जीवन की चैतन्य शक्ति का आधान करने में समर्थ नहीं है, क्योंकि यह शक्ति तो कर्मलभ्य है।^{१३२३}

३. पुरुष अस्वतन्त्र : कर्मवश होने से- पुरुष की परवशता को स्वीकार करते हुए क्षमाश्रमण हेतु देते हैं- “योऽपि च पुरुषः सोऽस्वतन्त्रः, कर्मपरवशत्वात्, वेतालाविष्टशवशरीरवत्”^{३२४} जो भी पुरुष है वह अस्वतन्त्र है, कर्म के परवश होने के कारण। वेताल से आविष्ट शव-शरीर की भाँति।

जिस प्रकार वेताल से आविष्ट शव वेताल के अधीन होता है उसी प्रकार कर्म से आविष्ट पुरुष स्वतन्त्र नहीं है।

इसलिए आहार विशेष के भक्षण से जो खल, रस आदि का विभाजन होता है, उन अज्ञात क्रियाओं में पुरुष अस्वतन्त्र होता है। वे क्रियाएँ कर्मकृत हैं, किन्तु पुरुष उसे ‘मैंने की’ ऐसा समझता है।^{३२५} यदि पुरुष स्वतन्त्र हो तो वह इष्ट क्रियाएँ ही करेगा, अन्य नहीं! इसलिए सब कुछ क्रियाओं में कर्म ही कारण है।^{३२६}

४. पुरुषकार भी कर्मरूप- पुरुषार्थवादी शंका उपस्थित करते हुए कहते हैं कि कर्म को कारण मानना उचित नहीं है क्योंकि उसको सहायक कारण की अपेक्षा होती है। जैसे भार को ढोने वाले पुरुष को भार रखने और उतारने वाले सहयोगी की अपेक्षा होती है उसी प्रकार कर्म की कारणता में पुरुषकार का सहयोग होता है।^{३२७} कर्मवादी समाधान देते हैं कि जो पुरुषकार होता है, वह भी धर्म या अधर्म स्वरूप फल प्रदान करने के कारण कर्म ही है- “योऽपि स्वामिपुरुषकारः सोऽप्यधर्मफलत्वात् कर्मैव, क्लेशत्वात्, ज्वरवत्”^{३२८} यदि फल की प्राप्ति अहेतुक हो तो मुक्त जीवों में भी धर्म-अधर्म या सुख-दुःख स्वरूप फल की प्राप्ति होनी चाहिए। यदि फल की प्राप्ति सहेतुक है तो उसका हेतु कर्म ही है।

कर्मवाद का छाण्डन

एकान्त कर्मवाद उचित नहीं है। इसके संबंध में मल्लवादी क्षमाश्रमण और आचार्य सिंहसूरि ने विभिन्न तर्क उपस्थित किए हैं, जो निम्न हैं-

१. कर्म कारण नहीं कार्य- कर्मवादी कर्म को कारण मानते हैं जबकि कर्म कार्य-लक्षण वाला होता है। कर्म का जो लक्षण है उससे कर्ता का अनुमान होता है जैसा कि कहा है- ‘कर्तुरीप्सिततमं कर्म’ अर्थात् कर्ता को जो ईप्सित होता है, उसे कर्म कहते हैं। कर्म के इस लक्षण से कर्म के अतिरिक्त कर्ता का उसी प्रकार अनुमान होता है जैसे घट कार्य को देखकर उसके कर्ता कुलाल का अनुमान होता है।^{३२९}

२. कर्मवादी द्वारा प्रदत्त हेतु असाध्य का साधक- यदि यह शंका की जाय- “ननु कर्मणैव करिष्यत इति स्वत एव कर्मणा कर्म क्रियते न

तद्व्यतिरिक्तेन कर्त्रेत्युक्तं प्राग् दृष्टान्ते ब्रीहिणैव ब्रीहिः कार्येण बीजब्रीहिणा कार्याऽंकुरब्रीहिः क्रियत इत्युक्तं^{३३०} अर्थात् कर्म के द्वारा ही कर्म किया जाता है, कर्म से भिन्न कर्ता के द्वारा कर्म नहीं किया जाता। जैसे कि ब्रीहि के द्वारा ही ब्रीहि उत्पन्न होता है अर्थात् कार्य स्वरूप बीज ब्रीहि के द्वारा अंकुर ब्रीहि रूप कार्य उत्पन्न होता है। इसलिए कर्म से ही कर्म उत्पन्न होता है कर्ता को मानने की आवश्यकता नहीं है।

समाधान प्रस्तुत करते हुए कहते हैं कि ब्रीहि से ब्रीहि उत्पन्न होने का जो दृष्टान्त दिया गया है, वह सम्यक् नहीं है क्योंकि ब्रीहि उत्पन्न होने के लिए पृथ्वी, जल, आकाश, वायु आदि की आवश्यकता होती है; जो ब्रीहि से पृथक् भूत कर्ता को माने बिना संभव नहीं है। इसलिए आपका दृष्टान्त विपरीत साध्य का ही साधक है।^{३३१}

दूसरी बात यह है कि 'कर्तुरीप्सिततमं कर्म' लक्षण से जो कर्म का स्वरूप प्रकट होता है, उससे कर्म के निर्विवाद रूप से कृतक होने के कारण वह कर्ता का ही कार्य सिद्ध होता है और वह कर्ता पुरुष या आत्मा है। उस कर्ता आत्मा में कर्म से करने की शक्ति आती है।^{३३२}

३. कर्म पुरुष के आश्रित- कर्म-शक्ति की स्वतंत्रता का अपना कोई स्वरूप नहीं है। यथा- "न हि स क्रियमाणः, कर्मणोऽस्वतंत्रत्वे सति अलब्धात्म-वृत्तित्वादभवन्माभूतदेवदत्तवत्"^{३३३} जिस प्रकार उत्पन्न होने वाला देवदत्त गर्भावस्था में अस्वतंत्र होता है, इसलिए वह वहाँ अकर्ता है; उसी प्रकार क्रियमाण कर्म भी स्वतंत्र नहीं रह सकता। उत्पन्न होने वाले अथवा क्रियमाण कर्म को पृथग्भूत पुरुष या आत्मा का आश्रय लेना होता है।

४. शास्त्र की व्यर्थता का प्रसंग- एकान्त कर्मवाद के खण्डन में आचार्य सिंहसूरि तर्क देते हैं- 'किंचान्यत्, पुरुषकारप्रत्याख्याने सर्वशास्त्रवैयर्थ्य-प्रसंगः'^{३३४} पुरुषकार या आत्मवाद का प्रत्याख्यान करने पर तो समस्त शास्त्र की व्यर्थता का प्रसंग उपस्थित हो जाएगा। पुरुषार्थ हेतु प्रेरित करने वाली उपदेशादि क्रिया भी तब व्यर्थ हो जाएगी क्योंकि फिर तो कर्म से ही प्रवृत्ति माननी होगी।

५. कर्म की प्रवृत्ति का कर्ता आत्मा- कर्मवादी के अनुसार कर्म की प्रवृत्ति मात्र से ही शास्त्र के अर्थ एवं उपदेशादि की क्रियाएँ सम्पन्न हो जाएगी। ये सभी क्रियाएँ प्रतिपत्ति और अप्रतिपत्ति में कर्म से ही होती हैं।^{३३५} इस कारण की ऐकान्तिकता संस्तुत्य नहीं है, क्योंकि 'अथ तदादिकर्म कुतः? ब्रूयास्त्वम्-ओं पुरुषादेवेति। कर्मत एव न, ब्रीहिवैधर्म्येणाकर्तृकत्वात्, आत्मादिवत्, नोत्क्षेपणवत्'^{३३६} आदि में कर्म कहाँ से आया? यदि कर्मवादी कहेंगे कि पुरुष से

आया है तो फिर कर्म से कर्म का आना कैसे कहा जाएगा। जिस प्रकार उत्क्षेपण कर्म बिना कर्ता के संभव नहीं है उसी प्रकार कर्म मात्र का कर्ता आत्मा को मानना होगा।

६. आत्मा और कर्म में अन्योन्यभाव- आत्मा और कर्म में परिणाम्य और परिणामक भाव होने के कारण एकत्व है। आत्मा में वैसा सामर्थ्य होने से वह पुद्गलों को गति, जाति आदि के रूप में परिणामन करता है तथा पुद्गल भी आत्मा को मिथ्यादर्शन आदि के कारण परिणामित करते हैं। अन्योन्य परिणामकता एवं परिणाम्य के कारण इनमें अनादि से एकता है।^{३३७} आत्मा और कर्म परस्पर एक दूसरे के कारण बनते हैं, अतः एकान्त कर्मवाद सिद्ध नहीं होता।

७. ज्ञान भी कर्मजन्य नहीं- रूप आदि को पुद्गल का स्वरूप माना जाता है, किन्तु ज्ञान दर्शन रूप उपयोग के बिना उनकी उपलब्धि नहीं होती और जो उपयोग स्वरूप मति आदि ज्ञान हैं, उनमें भी रूपादि का ज्ञान करने के कारण उनमें पुद्गलात्मकता पाई जाती है।^{३३८} इस प्रकार एक मात्र कर्म को कारण मानना उचित नहीं है।

शास्त्रवार्ता समुच्चय एवं उसकी टीका में कर्मवाद का निरसन

आठवीं शती के हरिभद्रसूरि ने कालवाद, स्वभाववाद और नियतिवाद के पश्चात् कर्मवाद का युक्तियुक्त प्रतिपादन किया है। कर्मवाद के पक्ष में विभिन्न युक्तियाँ दी हैं, वे इस प्रकार हैं-

१. भोग्य पदार्थ की सिद्धि से कर्म की सिद्धि

न भोक्तृव्यतिरेकेण भोग्यं जगति विद्यते।

न चाकृतस्य भोक्ता स्यान्मुक्तानां भोगभवतः॥^{३३९}

संसार में भोगने योग्य वस्तुएँ भोग करने वाले भोक्ता के लिए होती हैं। इनका अस्तित्व भोक्ता पर निर्भर होता है, क्योंकि 'भोग्यपदस्य ससंबन्धिकत्वात्' अर्थात् 'भोग्य' पद संबंधिसापेक्ष है। अतः भोक्तारूप संबंधी के अभाव में उसका अस्तित्व नहीं हो सकता। भोक्ता के लिए भी नियम है कि वह अकृत कर्म का भोग नहीं कर सकता, क्योंकि 'स्वव्यापारजन्यस्यैव स्वभोग्यत्वदर्शनात्' जो जिसके व्यापार से उत्पन्न होता है वही उसका भोग्य होता है। यह नियम स्वीकार नहीं किया जाय तो मुक्त पुरुषों में भी भोग की आपत्ति होगी। इस प्रकार भोक्ता को भोग्य पदार्थ स्वकृत कर्मानुसार ही मिलते हैं। अतः भोग्य पदार्थ की प्राप्ति से पुरुष के कर्मों की सिद्धि स्वतः हो जाती है।

२. सुख-दुःख के रूप में जगत् भोग्य होने से कर्मकृत जगत् की सिद्धि- कर्मवादियों के मत में- “जीवों का पूर्वाजित कर्म ही जगत् का उत्पादक होता है” इस संबंध में हरिभद्रसूरि का निम्नांकित तर्क महत्वपूर्ण है-

भोग्यं च विश्वं सत्त्वानां विधिना तेन तेन यत्।

दृश्यतेऽध्यक्षमेवेदं तस्मात् तत्कर्मजं हि तत्।।^{३४०}

इस तर्क का अभिप्राय यह है कि यह जगत् सुख-दुःख आदि को उत्पन्न करके ही जीवों का भोग्य होता है। जिसका अनुभव प्राणिमात्र करता है। चूंकि सुख-दुःख कर्मजन्य होते हैं, अतः जगत् भोक्ता के कर्मों से ही उत्पन्न होता है। इस संदर्भ में यशोविजय ने कहा- ‘जगद्धेतुत्वं कर्मण्येव, इतरेषां पराभिमतहेतूनां व्यभिचारित्वादिति भावः’^{३४१} अर्थात् जगत् की कारणता जीव के कर्मों में ही है, कारण कि अन्य वादियों द्वारा बताए गए कारण व्यभिचारित हो जाते हैं, क्योंकि उन कारणों के रहने पर भी कभी कार्य नहीं होता और कभी उनके अभाव में भी कार्य हो जाता है। इस प्रकार कर्मवादी का मत युक्तिसिद्ध है।

३. भोक्ता के अनुकूल कर्म के अभाव में मूंगपाक अशक्य- संसार में भोग्य पदार्थ कर्ता या भोक्ता के अनुकूल (पूर्वकृत कर्म) अदृष्ट के अभाव में उपलब्ध नहीं होते। क्योंकि दृष्ट कारण अदृष्ट के माध्यम से प्रकट होते हैं। इसलिए कर्मवाद में दृष्ट कारण को महत्त्व न देकर अदृष्ट कारण को ही सभी कार्यों का जनक कहा है। इसे उदाहरण के द्वारा समझाते हुए हरिभद्र लिखते हैं-

न च तत्कर्मवैधुर्यं मुद्रपक्तिरपीक्ष्यते।

स्थाल्यादिभंगभावेन यत् क्वचिन्नोपपद्यते।।^{३४२}

भोक्ता के अदृष्ट के अभाव में मूंग का पाक भी होता नहीं दिखता, क्योंकि कई बार मनुष्य जब मूंग पकाने लगता है तो पाकपात्र आदि का अकस्मात् भंग हो जाने से मूंग का पाक नहीं हो पाता। यहाँ पाकपात्र आदि दृष्ट कारण का अभाव होने से पाक नहीं हुआ, यह कहना पर्याप्त नहीं है, क्योंकि दृष्ट कारण का अभाव किसी निमित्त से ही होगा और उसका जो निमित्त होगा वह कोई दृष्ट निमित्त प्रमाण सिद्ध न होने से अदृष्ट रूप ही होगा। अतः अदृष्ट को ही मूंग पाक आदि कार्य के अभाव का प्रयोजक मान लेना उचित है। कहा भी गया है- ‘तद्धेतोरेवाऽस्तु किं तेन’ अर्थात् जो कार्य अपने हेतु के हेतु से उत्पन्न होता है, उसी को ही हेतु माना जाय, दूसरे को क्यों माना जाय? इस न्याय से कार्य को साक्षात् अदृष्ट से उत्पन्न मानने पर कहीं भी दृष्ट कारण की अपेक्षा नहीं होगी।^{३४३}

४. आकस्मिक धन-लाभ आदि में अदृष्ट कर्म ही कारण- कभी-कभी बिना किसी प्रयत्न के ही मनुष्य को विपुल धन की प्राप्ति हो जाती है। इसमें दृष्ट कारण का अभाव है फिर भी धन-प्राप्ति हो रही है। अतः दृष्ट पदार्थों में यदि कहीं किसी कार्य के प्रति कारणत्व का व्यवहार होता है तो इसलिए नहीं कि दृष्ट पदार्थ सचमुच कारण है किन्तु वह व्यवहार इसलिए होता है कि कार्य की उत्पत्ति के पूर्व उनका सन्निधान अवर्जनीय होता है। उनका अवर्जनीय सन्निधान अदृष्ट के कारण स्वरूप होता है। अतः यह स्वीकार किया जा सकता है कि दृष्ट कारण अदृष्ट के व्यञ्जक होते हैं न कि कार्य के वास्तविक कारण। कार्य का वास्तविक कारण तो अदृष्ट ही होता है।^{३४४} इसी तरह जो हमें आकस्मिक धनलाभ की प्राप्ति होती है, उसमें वास्तविक कारण अदृष्ट है। बाह्य कारण अनिवार्य सन्निधान के रूप में उपस्थित रहते हैं। इस संबंध में प्रसिद्ध श्लोक निम्न है-

यथा यथा पूर्वकृतस्य कर्मणः फलं निधानस्थमिवाऽवतिष्ठते।

तथा तथा तत्प्रतिपादनोद्यता प्रदीपहस्तेव मतिः प्रवर्तते।^{३४५}

अर्थात् कोष में धन के समान पूर्वकृत कर्म का फल पहले से ही विद्यमान रहता है। वह जिस-जिस रूप से अवस्थित रहता है उस उस रूप में उसे सुलभ करने के लिए मनुष्य की बुद्धि सतत उद्यत रहती है और उसी उसी प्रकार से उसे प्राप्त करने के लिए मानों हाथ में दीप लिये आगे-आगे चलती है।

५. काल भी कर्म की ही विशेष अवस्था- काल-विपाक होने पर ही मनुष्य को भोग्य सामग्री उपलब्ध होती है। ऐसा मानने पर कर्मवाद में कालवाद के प्रवेश की शंका उपस्थित हो जाती है। इसके निवारणार्थ यशोविजय तर्क देते हैं- 'तस्य कर्मावस्थाविशेषरूपत्वात्'^{३४६} अर्थात् काल भी कर्म की एक विशेष अवस्था ही है। काल के कर्म का अंगभूत होने से कालवाद के प्रवेश की आशंका बेबुनियाद है।

६. भोग्य पदार्थों की भिन्नता में कर्म की भिन्नता कारण- भोग्य पदार्थ भिन्न-भिन्न हैं। इसलिए उनके कारण रूप कर्म भी भिन्न-भिन्न हैं। यदि कर्म को भिन्न-भिन्न नहीं मानेंगे तो भोग्यों की भिन्नता नहीं हो सकेगी।^{३४७} कहीं वह कर्म रूप कारण उद्भूत होता है और कहीं अनुद्भूत। न्याय-वैशेषिकों ने भी शालि, यव आदि के बीजों के नष्ट होने पर उनको परमाणु रूप में स्वीकार किया है। परमाणु में शालित्व, यवत्व आदि का भेद दिखाई नहीं पड़ता, तथापि उन्होंने अदृष्ट के द्वारा ही परमाणुभूत शालिबीजों से शालि अंकुरों की तथा परमाणुभूत यव-बीजों से यवांकुरों की उत्पत्ति स्वीकार की है।^{३४८} इसलिए कार्य की भिन्नता में कर्म या कारण की

४२४ जैनदर्शन में कारण-कार्य व्यवस्था : एक समन्वयात्मक दृष्टिकोण

भिन्नता आवश्यक है। जीवों के नानाफलों में कर्म की भिन्नता ही कारण है। नियति आदि की कारणता स्वीकार करना उचित नहीं।^{३४९}

खण्डन

महोपाध्याय यशोविजय ने कर्म की एकान्ततः कारणता का खण्डन किया है। उनके अनुसार यदि अदृष्ट को ही सर्वत्र कारण माना जाए तो मोक्ष के अभाव की आपत्ति होगी।^{३५०} क्योंकि 'मोक्षस्य कर्मजिन्यत्वात्'^{३५१} मोक्ष कर्मजन्य नहीं होता और कर्मवाद में कर्म से भिन्न किसी को कारण नहीं माना जाता। इस प्रकार कारण का सर्वथा अभाव हो जाने से मोक्ष का होना असंभव हो जाएगा।

कोई कर्मवाद के रक्षण में यह कहे कि 'आत्मस्वरूपावस्थानरूपो मोक्षः कर्मक्षयेणाभिव्यज्यत एव, न तु जन्यत एव'^{३५२} अर्थात् आत्मा का अपने विशुद्ध रूप में अवस्थान ही मोक्ष है, कर्मक्षय से उसकी अभिव्यक्ति मात्र होती है, उत्पत्ति नहीं होती। अतः कारणाभाव में भी उसका अस्तित्व अक्षुण्ण रह सकता है। तो यह कहना भी उचित नहीं है। मोक्षस्वरूप कर्मक्षय कारण रूप कर्म के अभाव होने पर नहीं हो सकता क्योंकि कर्मक्षय भी कर्म से होता नहीं और कर्म से भिन्न कोई कारण इस मत में मान्य नहीं है।

सन्मतितर्क टीका में कर्मवाद का निरूपण एवं निरसन

कर्मवाद का स्थापन- अभयदेव सूरि (१०वीं शती) कहते हैं कि कर्मवादियों का मत है- जन्मान्तर में अर्जित इष्ट एवं अनिष्ट फल को प्रदान करने वाला कर्म समस्त जगत् के वैचित्र्य का कारण है। जैसा कि कहा है-

“यथा यथा पूर्वकृतस्य कर्मणः फलं निधानस्थमिवावतिष्ठते।

तथा तथा तत्प्रतिपादनोद्यता प्रदीपहस्तेव मतिः प्रवर्तते।।”

“स्वकर्मणा युक्त एव सर्वो ह्युत्पद्यते नरः।

स तथा कृष्यते तेन, यथाऽयं स्वयमिच्छति।।”^{३५३}

अर्थात् जैसे पूर्वकृत कर्म का फल खजाने में स्थित धन की भाँति होता है, जो समय आने पर उपस्थित होता है। वैसे ही हाथ में रखे हुए दीपक के समान बुद्धि की प्रवृत्ति भी पूर्वकृत कर्मानुसार ही होती है।

अन्य श्लोक में कहा है अपने कर्म से युक्त ही सभी मनुष्य उत्पन्न होते हैं तथा वह कर्म से उसी प्रकार खींचा जाता है मानो वह स्वयं चाहता हो।

एक समान देश, काल, कुल, आकार वाले तथा समान चेष्टा(प्रयत्न) वाले को कभी अर्थ की प्राप्ति होने व कभी न होने में देश, काल, आकार आदि कारण नहीं हो सकते। दृश्यमान कारणों के समान होने के कारण ये फल प्राप्ति में भेदक नहीं हो सकते। इसलिए दृष्ट कारणों से अतिरिक्त अदृष्ट कारण है।^{३५४}

कर्मवाद का खण्डन

यह मत असम्यक् है, इसके संबंध में तीन हेतु प्रस्तुत किए जा रहे हैं-

१. अनवस्था दोष- कर्म की कारणता के पीछे अनवस्था दोष का प्रसंग उपस्थित होता है। इसलिए कहा है- *“कुलालादेर्घटादिकारणत्वेनाध्यक्षतः प्रतीयमानस्य परिहारेण परादृष्टकारणप्रकल्पनया तत्परिहारेण परादृष्टकारण-कल्पनया अनवस्थाप्रसंगतः क्वचिदपि कारणप्रतिनियमानुपपत्तेः”*^{३५५} अर्थात् घटादि कार्यों के प्रति कुलालादि का कारण होना प्रत्यक्ष से प्रतीयमान है, इसका परिहार करते हुए अन्य अदृष्ट कारणों की कल्पना करना तथा फिर उसका परिहार करने के लिए उससे भी भिन्न अदृष्ट कारण की कल्पना करना अनवस्था दोष का कारण है। इस प्रकार कहीं भी कार्य-कारण की व्यवस्था उत्पन्न नहीं हो सकेगी।

२. मात्र कर्म से जगत् विचित्रता असंभव- कर्म की विचित्रता को स्वतंत्र कारण मानना उचित नहीं है क्योंकि वह (कर्म) कर्ता के अधीन है। एक स्वभाव वाले कर्म से जगत् की विचित्रता मानना उचित नहीं है क्योंकि कारण की भिन्नता के बिना कार्य में भिन्नता नहीं आ सकती। यदि कर्म को अनेक स्वभाव वाला स्वीकार किया जाए तो अनेक कारणों को मानने में और इस कर्म में नाममात्र का भेद रह जाता है। इसलिए वास्तव में पुरुष, काल, स्वभाव आदि की भी जगत् के वैचित्र्य में कारणता स्वीकृत है।^{३५६}

३. अधिष्ठाता चेतन के बगैर 'कर्म' निरालम्ब- कर्म का चेतन तत्त्व आलम्बन है, उस आलम्बन के बिना कर्म अपना कार्य नहीं कर सकता क्योंकि *‘चेतनवताऽनधिष्ठितमचेतनत्वाद्वास्यादिवत् वर्तते अथ तदधिष्ठायकः पुरुषोऽभ्युपगम्यते न तर्हि कर्मैकान्तवादः पुरुषस्य तदधिष्ठायकत्वेन जगद्वैचित्र्यकारणात्त्वोपपत्तेः’*^{३५७} चेतन से अनधिष्ठित अचेतन कर्म वास्यादि (कुल्हाड़ी) की भाँति है, जिसका कोई अधिष्ठायक नहीं है। यदि उसका अधिष्ठायक पुरुष स्वीकार किया जाता है तो कर्म एकान्तवाद खण्डित हो जाता है। जगत् के वैचित्र्य में तब पुरुष को अधिष्ठायक रूप से कारण मानना होगा। कोई वस्तु केवल नित्य या केवल अनित्य होने पर कार्य को उत्पन्न नहीं करती। ऐसा अनेक बार प्रतिपादन किया है। इसलिए एकान्त कर्मवाद भी युक्तियुक्त नहीं है।

निष्कर्ष

पूर्वकृत कर्मवाद के अनुसार जीव के द्वारा किये गए कर्मों का ही फल सुख-दुःख आदि के रूप में प्राप्त होता है तथा यही जगत् की विचित्रता का कारण है। अपने-अपने कृत कर्मों के कारण ही जीव विभिन्न योनियों में परिभ्रमण करते हैं तथा कर्मों की भिन्नता के आधार पर भिन्न-भिन्न शरीर ग्रहण करके अपने कृत कर्मों का फल भोग करते हैं।

भारतीय चिन्तन में कर्मवाद की जड़े भी गहरी हैं। वैदिक वाङ्मय तथा बौद्ध और जैन ग्रन्थ इसके साक्षी हैं। कर्मवाद का प्रतिपादन करने वाले ग्रन्थ जैन दर्शन में स्वतन्त्र रूप से उपलब्ध हैं। किन्तु एकान्त कर्मवाद के पोषक ग्रन्थ न तो प्राप्त होते हैं और न ही उनका उल्लेख मिलता है। जैन दार्शनिकों ने पंच समवाय का प्रतिपादन करते हुए पूर्वकृत कर्मवाद को तो अंगीकार किया है किन्तु उसकी एकान्त कारणता का प्रतिषेध भी किया है।

वैदिक संहिताओं में शुभ-अशुभ कर्मों को व्यक्त करने वाले शुभस्पतिः, धियस्पतिः, विचर्षणिः, विश्वचर्षणिः, विश्वस्य कर्मणो धर्ता आदि शब्दों एवं वाक्यों का प्रयोग हुआ है। यज्ञादि कर्मों का यजुर्वेद में अनेक प्रकार से विधान है। कुछ मंत्रों में यह स्पष्ट निरूपण है कि शुभ कर्म को करने से अमरत्व की प्राप्ति होती है। ऋग्वेद के मंत्रों में पूर्वकृत कर्म का स्पष्ट प्रतिपादन नहीं है किन्तु महर्षि दयानन्द सरस्वती ने एक मंत्र की व्याख्या करते हुए ईश्वर को पूर्वकृत कर्मों का फल प्रदाता बताया है।

उपनिषदों में कर्मवाद पर दार्शनिक चिन्तन उपलब्ध है। बृहदारण्यकोपनिषद्, कठोपनिषद्, तैत्तिरीयोपनिषद्, ऐतरेयोपनिषद्, छान्दोग्योपनिषद् आदि उपनिषदों में कर्म के अनुसार फल प्राप्ति की पुष्टि करने वाले वाक्य समुपलब्ध हैं। संन्यासोपनिषद् में कहा गया है- 'कर्मणा बध्यते जन्तुर्विद्याया च विमुच्यते'^{४५८} अर्थात् कर्म से जीव बंधन को प्राप्त होता है तथा विद्या से मुक्ति को प्राप्त करता है। ब्रह्मबिन्दूपनिषद् में मन को बंधन एवं मोक्ष का कारण निरूपित किया गया है- 'मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः।'^{४५९} उपनिषद् वाङ्मय में कर्म के बंधन पुनर्जन्म और मोक्ष आदि का सम्यक् प्रतिपादन है।

पुराणों में दो प्रकार के कर्म निरूपित हैं। एक वे जो बंधन के हेतु हैं तथा दूसरे वे जो बंधन के हेतु नहीं हैं। पुराणों में पूर्वकृत कर्म का दैव या भाग्य के रूप में निरूपण है। आदिकाव्य रामायण में कर्म सिद्धान्त पूर्णतः स्थापित है- 'यादृशं कुरुते

कर्म तादृशं फलमश्नुते^{४६०} महाभारत में धर्मानुकूल आचरण को पुण्य तथा उससे प्रतिकूल आचरण को पाप की संज्ञा दी गई है। मनुष्य की मृत्यु को भी कर्माधीन निरूपित किया गया है। मृत्यु के पश्चात् जीव की गति उनके अपने-अपने कर्मों के अनुसार प्रतिपादित की गई है। पूर्वजन्म या पुनर्जन्म की मान्यता को भी महाभारत में स्थान दिया गया है।

भगवद् गीता में कर्म संबंधी मान्यताओं को सहज ढंग से विवेचित एवं विश्लेषित किया गया है। गीता का कथन है कि फलेच्छा की आसक्ति रखने वाला पुरुष सदा कर्मों से बंधता है और अनासक्त भाव से कर्म करने वाला पुरुष नैष्ठिक शान्ति को प्राप्त करता है। गीता में मनुष्य को स्वतंत्र रूप से कर्म करने का अधिकारी तो माना गया है किन्तु फल को ईश्वराधीन बताया गया है। 'वासांसि जीर्णानि यथाविहाय'^{४६१} श्लोक पुनर्जन्म के सिद्धान्त को पुष्ट करता है।

संस्कृत साहित्य के विभिन्न ग्रन्थों में दैव, भाग्य या कर्म सिद्धान्त की पुष्टि हुई है। शुक्रनीति में पूर्वजन्म में किये हुए कर्म को भाग्य और इस जन्म में किये जाने कर्म को पुरुषार्थ कहा है।^{४६२} स्वप्नवासवदत्त में 'कालक्रमेण जगतः परिवर्तमाना चक्रारपंक्तिरिव गच्छति भाग्यपंक्तिः'^{४६३} तथा मेघदूत में 'नीचैर्गच्छत्युपरि च दशाचक्रनेमिक्रमेण'^{४६४} वाक्य पूर्वकृत कर्म रूपी भाग्य की पुष्टि करते हैं। पंचतन्त्र हितोपदेश और नीतिशतक भी दैव या पूर्वकृत कर्म के सिद्धान्त के पोषक हैं। हितोपदेश में पूर्वजन्म में कृत कर्म को दैव कहा गया है- 'पूर्वजन्मकृतं कर्म तत् दैवमिति कथ्यते'^{४६५} वहाँ सम्पत्ति और विपत्ति का कारण भी दैव को प्रतिपादित किया गया है।^{४६६} नीतिशतक में समस्त सृष्टि के संचालन को कर्म के अधीन प्रतिपादित करते हुए कर्म को नमन किया गया है- 'नमस्तत्कर्मभ्यो विधिरपि न येभ्यः प्रभवति'^{४६७}

योगवासिष्ठ में दैव और पुरुषार्थ की विस्तृत चर्चा है। पुरुषार्थ द्वारा फल की प्राप्ति को दैव स्वीकार किया गया है। वहाँ पुरुषार्थ को ही दैव रूप में परिणत माना गया है तथा दैव की अपेक्षा पुरुषार्थ की प्रबलता अंगीकार की गई है।

न्यायदर्शन में कर्म को अदृष्ट के रूप में निरूपित किया गया है। सांख्य दर्शन में धर्म से ऊपर के लोकों में गमन तथा अधर्म से अधोलोक में गमन अंगीकार किया गया है। मीमांसा दर्शन में प्रतिपादित अपूर्व सिद्धान्त को कर्म-सिद्धान्त का पर्याय कहा जा सकता है। बौद्ध दर्शन में कर्म को चैतन्य कहते हुए उसे चित्त के आश्रित माना गया है। कर्म के वहाँ मानसिक, वाचिक और कायिक तीन भेद अंगीकृत

हैं, जिन्हें त्रिदण्ड भी कहा गया है। विशुद्धि मग्न में कर्म से विपाक और विपाक से कर्म की उत्पत्ति कही गई है। कर्म से ही पुनर्भव और लोक की प्रवृत्ति स्वीकार की गई है।^{३६८} वेदान्त दर्शन के अनुसार बंधन का मूल कारण अविद्या या अज्ञान है। योगदर्शन में अविद्या, अस्मिता, राग-द्वेष और अभिनिवेश को क्लेश की संज्ञा देते हुए प्रतिपादित किया गया है कि क्लिष्ट वृत्ति से धर्माधर्म रूपी संस्कार पैदा होते हैं और ये संस्कार ही कर्म बंधन के हेतु हैं। योग सूत्र में जाति, आयु और भोग के रूप में कर्म विपाक की त्रिविधता निरूपित है।

भारतीय चिन्तन में तीन प्रकार के कर्म निरूपित हैं- १. संचित कर्म २. प्रारब्ध कर्म ३. क्रियमाण कर्म। पूर्वकृत कर्म का फल भोग प्रारब्ध कर्म कहलाता है। वर्तमान में पुरुषार्थ के रूप में जो किया जा रहा है वह क्रियमाण कर्म है। तथा पूर्वजन्म में कृत कर्म संचित कहलाते हैं।

कर्म-सिद्धान्त का सबसे अधिक व्यवस्थित निरूपण जैन दर्शन में उपलब्ध है। यह जैन दर्शन का प्रमुख सिद्धान्त है। कर्म सिद्धान्त या कर्मवाद से सम्बद्ध जैन दर्शन में विपुल साहित्य है। श्वेताम्बर परम्परा में प्रज्ञापना सूत्र, व्याख्याप्रज्ञप्ति सूत्र, स्थानांग सूत्र, उत्तराध्ययन सूत्र आदि आगम साहित्य के अतिरिक्त कम्मपयडि, ६ कर्मग्रन्थ, पंचसंग्रह आदि अनेक ग्रन्थ उपलब्ध हैं। दिगम्बर परम्परा में षट्खण्डागम, कषायपाहुड़, गोम्मटसार आदि ग्रन्थ अपना अप्रतिम स्थान रखते हैं।

जैन दर्शन में कर्म-सिद्धान्त का जितना व्यवस्थित एवं व्यापक निरूपण उपलब्ध होता है उतना किसी अन्य दर्शन में नहीं। जैन मान्यतानुसार कर्मों के कारण ही जीव संसार में परिभ्रमण करता है। कर्मों का पूर्ण क्षय ही मोक्ष का स्वरूप है। जैनदर्शन में आठ कर्म प्रतिपादित हैं- ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय, मोहनीय, आयुष्य, नाम, गोत्र और अन्तराय। इन आठ कर्मों का स्वरूप इनके बंध के हेतुओं आदि का जैन साहित्य में विशद प्रतिपादन हुआ है। कर्म के बंधन में मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग की भूमिका स्वीकार की गई है। इन पाँच बन्ध हेतुओं में भी योग और कषाय को अधिक महत्त्व दिया गया है।

बन्ध के चार प्रकार हैं- प्रकृति बंध, स्थिति बंध, अनुभाग बंध और प्रदेश बंध। कर्म के स्वभाव को प्रकृति, उसकी फल प्रदान करने की अवधि को स्थिति, फलदान शक्ति को अनुभाग और बद्ध कर्म-पुद्गल परिमाण को प्रदेश बंध के रूप में मान्य किया गया है।

कर्म सिद्धान्त के संबंध में विशेषावश्यक भाष्य एवं विभिन्न ग्रन्थों के आधार पर इस अध्याय में जो चर्चा की गई है, उसमें से कतिपय बिन्दु निष्कर्षतः इस प्रकार हैं-

१. आत्मा अमूर्त है और कर्म मूर्त। इन दोनों का संयोग अनादि है किन्तु मोक्ष प्राप्ति के समय इनका वियोग संभव है।
२. मूर्त कर्म का अमूर्त आत्मा के साथ संबंध सम्भव है। जिस प्रकार घट मूर्त होते हुए भी उसका संयोग संबंध अमूर्त आकार से होता है उसी प्रकार मूर्त कर्म का अमूर्त आत्मा से संयोग संभव है। मूर्त कर्म का अमूर्त आत्मा के साथ संबंध होने के प्रश्न पर कुछ दार्शनिकों का समाधान है कि कर्म से युक्त आत्मा कथंचित् मूर्त है। कर्मबंधन से वियुक्त होने पर उसका अमूर्त स्वरूप प्रकट हो जाता है।
३. कर्म का कर्ता और भोक्ता जीव है। जीव के सुख-दुःख स्वयंकृत हैं, परकृत नहीं।
४. कर्म के फल का संविभाग दूसरा नहीं कर सकता अर्थात् एक जीव के द्वारा किये गये कर्म का फल उसे ही भोगना होता है। दूसरा उसे नहीं बाँट सकता।
५. कर्मबंध के सामान्य हेतु मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग के होने पर भी प्रत्येक कर्म के बंध के अपने विशिष्ट हेतु भी हैं जिनका निरूपण तत्त्वार्थसूत्र आदि ग्रन्थों में स्पष्टतः हुआ है।
६. शुभ कर्म पुण्य और अशुभ कर्म पाप कहे जाते हैं। दूसरे शब्दों में विशुद्धि को पुण्य और संक्लेश को पाप कहा गया है।
७. सुख-दुःख की अनुभूति, देहान्तर-प्राप्ति चेतन की क्रिया फलवती होने से कर्मों की सिद्धि होती है। सुख एवं शुभ देहादि कार्य से उसके कारणभूत पुण्य कर्म का तथा दुःख अशुभ देहादि कार्य से उसके कारणभूत पाप कर्म का अस्तित्व सिद्ध होता है। 'सुह-दुःखाणां कारणमणुरूपं वज्जभावओऽवस्सं परमाणवो धडस्स व कारणमिह पुण्ण-पावाइ'^{३६९} जैसे घट का अनुरूप कारण मिट्टी के परमाणु है तथा पट के अनुरूप कारण तन्तु है वैसे ही सुख का अनुरूप कारण पुण्य कर्म है तथा दुःख का अनुरूप कारण कर्म है।
८. कर्मों का फल प्रदान करने के लिए किसी ईश्वर को स्वीकार करने की आवश्यकता नहीं है। आत्मा से चिपके हुए कर्म-पुद्गल उदय में आकर फल प्रदान करते हैं। जब तक जीव ने कर्मपुद्गल का ग्रहण नहीं किया है तब तक वह पुद्गल शुभ या अशुभ किसी भी विशेषण से विशिष्ट नहीं

होता। किन्तु जीव उस कर्म-पुद्गल का ग्रहण करते ही उसे शुभ या अशुभ रूप में परिणत कर देता है।

९. राग-द्वेष से स्निग्ध जीव कर्म-वर्गणा के विद्यमान कर्म योग्य पुद्गलों को ग्रहण करके पाप-पुण्य में परिणत करता है।
१०. कर्मों का बंध भले ही अनादि हो, किन्तु उनका अन्त संभव है। समस्त अष्टविध कर्मों का क्षय होने पर मोक्ष होता है- 'कृत्स्नकर्मक्षयो मोक्षः'^{१७०}
११. अपने भाग्य का निर्माण जीव स्वयं करता है तथा वही उसमें अपने पुरुषार्थ के द्वारा कथंचित् परिवर्तन भी कर सकता है।
१२. कर्म की दशा अवस्थाएँ स्वीकार की गई हैं- बंध, उदय, उदीरणा, सत्ता, उद्वर्तना, अपवर्तना, संक्रमण, उपशमन, निधति और निकाचन। इन्हें दश कारण भी कहा गया है। कर्म सिद्धान्त में इन दश अवस्थाओं का विशेष महत्त्व है।
१३. प्रायः भारतीय दर्शन में यह माना जाता है कि जीव ने जिस प्रकार के कर्मों का अर्जन किया है उसे उनका वैसा ही फल भोग करना पड़ता है। जैन दर्शनानुसार पूर्वबद्ध कर्मों का उत्कर्षण, अपकर्षण और संक्रमण संभव है। पहले बाँधे गए कर्मों की फलदान अवधि अर्थात् स्थिति को वर्तमान के शुभाशुभ परिणामों से घटाया या बढ़ाया जा सकता है। वर्तमान के शुभ परिणामों के द्वारा पूर्वबद्ध पाप कर्मों की स्थिति घटती है तथा पुण्य कर्मों की स्थिति बढ़ती है। घटने को अपकर्षण या अपवर्तन तथा बढ़ने को उत्कर्षण या उद्वर्तन कहा जाता है। इसी प्रकार कर्मों की फलदान शक्ति अर्थात् अनुभाव या अनुभाग में भी शुभाशुभ परिणामों से पूर्वबद्ध कर्मों में उत्कर्षण एवं अपकर्षण संभव है। पूर्वबद्ध कर्मों का बद्धमान कर्मों में वर्तमान के भावों के अनुसार संक्रमण संभव है। इस प्रकार जैन दर्शन का मन्तव्य है कि पूर्वबद्ध कर्मों को उसी रूप में भोगना अनिवार्य नहीं है। उनमें यथोचित परिवर्तन भी संभव है। कुछ ही कर्म ऐसे हैं जिन्हें निकाचित कर्म कहा जाता है, उनमें परिवर्तन किसी भी प्रकार संभव नहीं होता।
१४. कर्म मूर्त है क्योंकि उसका कार्य शरीरादि मूर्त है। वह इसलिए भी मूर्त है क्योंकि उससे संबंध होने पर सुख-दुःखादि का अनुभव होता है। मूर्त होने के साथ वह परिणामी भी है।

जैन दर्शन में 'कर्म सिद्धान्त' की प्रधानता होते हुए भी एकान्त कर्मवाद का द्वादशारण्यचक्र, शास्त्रवार्ता समुच्चय और सन्मति तर्क की तत्त्वबोधविधायिनी टीका में जैनाचार्यों ने उपस्थापन एवं निरसन किया है। आचारांग सूत्र एवं उसकी शीलांक टीका में भी एकान्त कर्मवाद का उपस्थापन हुआ है। एकान्त कर्मवाद के उपस्थापन में जो तर्क दिए गए हैं वे संक्षेप में इस प्रकार हैं—

१. जगत् की विचित्रता का कारण कर्म है। कर्मवाद के द्वारा कालवादी, यदृच्छावादी, नियतिवादी, ईश्वरवादी और आत्मवादी निरस्त हो जाते हैं।
२. पुरुषकार या पुरुषार्थ के द्वारा भी जब कार्य की सिद्धि नहीं होती है तब पूर्वकृत कर्म ही कारण के रूप में सिद्ध होता है। पुरुषकार के होते हुए भी कार्य की असिद्धि देखी जाती है, इसलिए सिद्धि-असिद्धि के पीछे कोई न कोई दूसरा कारण है जो कर्म है।
३. कार्य की भिन्नता से कारण की भिन्नता का बोध होता है और इस भिन्नता का प्रवर्तन कारण कर्म ही है।
४. कर्म से आविष्ट पुरुष उसी प्रकार अस्वतन्त्र या परवश है जिस प्रकार वेताल से आविष्ट शव।
५. पुरुषार्थवादी शंका करते हैं कि कर्म को सहायक कारण के रूप में पुरुषार्थ की अपेक्षा रहती है। कर्मवादी इसका समाधान देते हुए कहते हैं कि जो पुरुषकार होता है वह भी धर्म या अधर्म स्वरूप फल प्रदान करने के कारण कर्म ही है।
६. भोक्ता को भोग्य पदार्थ स्वकृत कर्म के अनुसार ही मिलते हैं अतः भोग्य पदार्थ की प्राप्ति से पुरुष के कर्मों की सिद्धि स्वतः हो जाती है।
७. जीवों का पूर्वार्जित कर्म ही जगत् का उत्पादक होता है। *जगद्धेतुत्वं कर्मण्येव, इतरेषां पराभिमतहेतूनां व्यभिचारित्वादिति भावः*^{३७९} अर्थात् जगत् की कारणता जीव के कर्मों में ही है। क्योंकि अन्यवादियों के द्वारा बताये गये कारण व्यभिचरित हो जाते हैं।
८. भोक्ता के अनुकूल कर्म के अभाव में मूंग का पकना भी नहीं देखा जाता। कभी-कभी दृष्ट कारण का अभाव होने पर भी आकस्मिक धन-लाभ देखा जाता है। उसका कारण अदृष्ट कर्म ही है।
९. काल विपाक होने पर कोई भोग्य सामग्री की उपलब्धि स्वीकार करते हैं किन्तु वस्तुतः वह काल भी कर्म का ही अंगभूत है।

१०. भोग्य पदार्थ भिन्न-भिन्न हैं इसलिए उनके कारण रूप कर्म भी भिन्न-भिन्न हैं। यदि कर्म को भिन्न-भिन्न नहीं मानेंगे तो भोग्य पदार्थों की भिन्नता नहीं हो सकेगी।
११. पूर्वकृत कर्म का फल खजाने में स्थित धन की भाँति होता है, जो समय आने पर उपस्थित होता है। इसी प्रकार हाथ में रखे हुए दीपक के समान बुद्धि की प्रवृत्ति भी पूर्वकृत कर्मानुसार ही होती है।

एकान्त कर्मवाद के निरसन में जैनाचार्यों ने जो तर्क दिए हैं, उनमें से कतिपय प्रमुख तर्क निष्कर्षतः इस प्रकार हैं-

१. कर्मवादी कर्म को कारण मानते हैं जबकि वह कर्ता का कार्य है। 'कर्तुरीप्सिततमं कर्म' लक्षण से जो कर्म का स्वरूप प्रकट होता है उससे कर्म के निर्विवाद रूप से कृतक होने के कारण वह कर्ता का ही कार्य सिद्ध होता है और वह कर्ता पुरुष या आत्मा है।
२. कर्म शक्ति की स्वतंत्रता का कोई स्वरूप नहीं है। उत्पन्न होने वाले अथवा क्रियमाण कर्म को पृथक्भूत पुरुष या आत्मा का आश्रय लेना होता है।
३. यदि पुरुषार्थ का महत्त्व नहीं है एवं कर्म से ही सबकुछ होता है तो समस्त शास्त्र की व्यर्थता का प्रसंग उपस्थित होता है। आत्मा और कर्म में परिणाम और परिणामक भाव पाया जाता है।
४. कर्म की प्रवृत्ति का कर्त्ता आत्मा है।
५. यदि अदृष्ट कर्म को सर्वत्र कारण माना जाय तो मोक्ष के अभाव की आपत्ति होगी क्योंकि मोक्ष कर्मजन्य नहीं होता है और एकान्त कर्मवाद में कर्म से भिन्न किसी कारण को नहीं माना जाता। अदृष्ट कर्म को कारण मानने से अनवस्था दोष उपस्थित होगा। घटादि कार्यों के प्रति कुलालादि कारण का होना प्रत्यक्ष से प्रतीयमान है। इसका परिहार करते हुए अन्य अदृष्ट कारणों की कल्पना करना तथा फिर उसका परिहार करने के लिए उससे भी भिन्न अदृष्ट कारण की कल्पना करना अनवस्था दोष को उत्पन्न करना है।
६. कर्म से जगत् की विचित्रता संभव नहीं है, क्योंकि कर्म कर्ता के अधीन है। एक स्वभाव वाले कर्म से जगत् की विचित्रता रूपी कार्य नहीं हो

सकता। यदि कर्म को अनेक स्वभाव वाला स्वीकार किया जाए तो पुरुषकार, स्वभावादि अनेक कारणों को मानने में और इस कर्म को मानने में नाममात्र का भेद रह जाएगा।

७. आत्मा कर्म का आलम्बन है, उस आलम्बन के बिना कर्म अपना कार्य नहीं कर सकता। चेतन से अनिधिष्ठित कर्म वास्यादि की भाँति है जिसका कोई अधिष्ठायक होना चाहिए। अधिष्ठायक उसको स्वीकार करते ही एकान्त कर्मवाद खण्डित हो जाता है।

निष्कर्ष यह है कि जैन दर्शन में कर्म-सिद्धान्त एक प्रमुख सिद्धान्त के रूप में विवेचित होने पर भी जैन दार्शनिक उसकी एकान्त कारणता से असहमत हैं। वे पूर्वकृत कर्मों के साथ काल, स्वभाव, नियति और पुरुषार्थ को भी कथंचित् महत्त्व देते हैं।

संदर्भ

१. श्वेताश्वतरोपनिषद् ५.७
२. नारदीय महापुराण, उत्तरखण्ड, अध्याय २८, श्लोक ६५
३. रामायण उत्तरकाण्ड, अध्याय १५, श्लोक २५
४. महाभारत, अनुशासन पर्व, अध्याय १, श्लोक ७२
५. महाभारत, वनपर्व, अध्याय १८३, श्लोक ७६-७९
६. यथा छायातपौ नित्यं, सुसंबद्धौ परस्परम्, एवं कर्म च कर्ता च संश्लिष्टावितरेतरम्। -पंचतन्त्र, मित्रसम्प्राप्ति, श्लोक १३२
७. नीतिशतक, श्लोक ९५
८. उत्तराध्ययन २०.३७
९. विशेषावश्यक भाष्य गाथा १६१२ से १६३१ में
१०. 'भारतीय दर्शन' उमेश मिश्र, उत्तरप्रदेश हिन्दी संस्थान, लखनऊ, प्रथम संस्करण पृ. ३८
११. वेद (ऋग्वेद भाषा भाष्य सम्पूर्ण), प्रकाशक-दयानन्द संस्थान, नई दिल्ली-५, मण्डल ७, सूक्त ८७, मंत्र ६
१२. ऋग्वेद-मण्डल ७, सूक्त ५३, मंत्र २
१३. ऋग्वेद-मण्डल १, सूक्त १६४, मंत्र २२
१४. मुण्डकोपनिषद् ३.१.३

१५. बृहदारण्यकोपनिषद्, ३.२.१३
१६. छान्दोग्योपनिषद् १.८.६, शांकरभाष्य
१७. उद्धृत ईशाद्यष्टोत्तरशतोपनिषद्, पृ. ४५७
१८. बृहद्विन्दूपनिषद्, मंत्र २ उद्धृत ईशाद्यष्टोत्तरशतोपनिषद्
१९. गीता ६.३४
२०. श्वेताश्वतरोपनिषद् १.११
२१. वही, १.१०
२२. कठोपनिषद्, १.१.६
२३. "तद्यथा तृणजलायुका तृणस्यान्तं गत्वान्यमाक्रममाक्रम्यात्मानमुपसहरत्येवमेवायमात्मेदं शरीरं निहत्याविद्यां गमयित्वाऽन्यमाक्रममाक्रम्यात्मानमुपसहरति। तद्यथा पेशस्कारी पेशसो मात्रामुपादायान्यन्नवतरं कल्याणतरं रूपं तनुत एवमेवायमात्मेदं शरीरं निहत्याऽविद्यां गमयित्वाऽन्यन्नवतरं कल्याणतरं रूपं कुरुते पित्र्यं वा गान्धर्वं वा दैवं वा प्राजापत्यं वा ब्राह्मं वाऽन्येषां वा भूतानाम्।"

-बृहदारण्यक ४.४, ३-४

२४. छान्दोग्योपनिषद् ५.१०.८
२५. 'कर्मानुगान्यनुक्रमेण देही, स्थानेषु रूपाण्यभिसम्प्रपद्यते'-श्वेताश्वतरोपनिषद् ५.११
२६. गुणान्वयो यः फलकर्मकर्ता कृतस्य तस्यैव स चोपभोक्ता।
स विश्वरूपस्त्रिगुणस्त्रिवर्त्मा प्राणाधिपः संचरति स्वकर्मभिः॥

-श्वेताश्वतरोपनिषद् ५.७

२७. आरभ्य कर्माणि गुणान्वितानि, भावांश्च सर्वान् विनियोजयेद् यः।

तेषामभावे कृतकर्मनाशः, कर्मक्षये याति स तत्त्वतोऽन्यः॥

-श्वेताश्वतरोपनिषद् ६.४

२८. श्री श्रीविष्णुपुराण, गीता प्रेस, गोरखपुर, सं.१९९०, अंश १, अध्याय १९, श्लोक ४४
२९. तस्माद्यतेत पुण्येषु य इच्छेन्महती श्रियम्।
यतित्वयं समत्वे च निर्वाणमपि चेच्छता॥ -श्री श्री विष्णुपुराण १.१९.४६
३०. श्री श्रीविष्णुपुराण १.१९.४१
३१. मार्कण्डेय पुराण, अध्याय ३, श्लोक ७६ (नाग पब्लिश, १९८५, जवाहर नगर, दिल्ली-७)

३२. मार्कण्डेय पुराण, अध्याय ३, श्लोक ८१
३३. मत्स्य पुराण, द्वितीय खण्ड, संस्कृति संस्थान, ख्वाजा कुतुब (वेदनगर), बरेली (उ.प्र.), १९७२, पृ. ३०४ पर श्लोक २
३४. “नानाभावा बहवो जीवलोके दैवाधीना नष्टचेष्टाधिकाराः” -मत्स्यपुराण ३८.६
 “सुखं हि जयन्तुर्यदिवापि दुःखं, दैवाधीनं विन्दन्ति नात्मशक्त्या।
 तस्मादिष्टं बलवन्मन्यमानो, न संज्वरेन्नापि दृष्येत् कदाचित्॥”-मत्स्यपुराण ३८.७
 -उद्धत विश्व संस्कृत सूक्ति कोश- भाग द्वितीय, पृ. २५५
 -उद्धत बृहद् विश्व सूक्ति कोश- भाग द्वितीय, पृ. ७३५
३५. श्री नारदीय महापुराणम्, नाग पब्लिशर्स, ११ ए/यू.ए., जवाहर नगर, दिल्ली-७, पूर्व खण्ड, अध्याय २०, श्लोक ४७-४८
३६. नारदीय महापुराण, उत्तरखण्ड, अध्याय २८, श्लोक ६५
३७. रामायण, उत्तरकाण्ड, सर्ग १५, श्लोक २५
३८. रामायण, अयोध्याकाण्ड, सर्ग ६३, श्लोक ६
३९. रामायण, उत्तरकाण्ड, सर्ग १५, श्लोक २३
४०. अविज्ञाय फलं यो हि कर्म त्वेवानुधावति।
 स शोचेत् फलवेलायां यथा किंशुकसेचकः॥
 -रामायण, अयोध्याकाण्ड, सर्ग ६३, श्लोक ९
४१. इहलोके च पितृभिर्या स्त्री यस्य महाबला।
 अदिर्भर्तता स्वधर्मेण प्रेत्यभावेऽपि तस्य सा॥
 -रामायण, अयोध्याकाण्ड, सर्ग २९, श्लोक १८
४२. रामायण, अयोध्याकाण्ड, सर्ग ३९, श्लोक ४
४३. रामायण, अयोध्याकाण्ड, सर्ग १२, श्लोक ७९
४४. उपावृत्ते मुनि तस्मिन् रामो लक्ष्मणमब्रवीत्।
 कृत पुण्याः सम भद्रं ते मुनिर्यन्तोऽनुकम्पते॥
 -रामायण, अयोध्या काण्ड, सर्ग ५५, श्लोक ११
४५. सुग्रीव दोषेण न मां गन्तुमर्हसि किल्विधात्।
 कृष्यमाणं भविष्येण बुद्धिमोहेन मां यलात्॥
 -रामायण, किष्किन्धा काण्ड, सर्ग २२, श्लोक ३

४३६ जैनदर्शन में कारण-कार्य व्यवस्था : एक समन्वयात्मक दृष्टिकोण

४६. तदेव च यथा सूत्रं सुवर्णे वर्तते पुनः।
मुक्तास्वथ प्रवालेषु मृन्मये राजते तथा॥
तद्वद् गोऽश्वमनुष्येषु तद्वद्भस्तिमृगादिषु।
तद्वत् कीटपतंगेषु प्रसक्तात्मा स्वकर्मभिः॥

-महाभारत, शान्तिपर्व, अध्याय २०६, श्लोक २, ३

४७. येन येन शरीरेण यद्यत्कर्म करोत्ययम्।
तेन तेन शरीरेण तत् तत् फलमुपाश्रुते॥

-महाभारत, शान्तिपर्व, अध्याय २०६, श्लोक ४

४८. यद्दयं पुरुषः किञ्चित् कुरुते वै शुभाशुभम्।
तद् धातुविहितं विद्धि पूर्वकर्मफलोदयम्॥

-महाभारत, वनपर्व, अध्याय ३२, श्लोक २२

कर्मजं त्विह मन्यन्ते फलयोगं शुभाशुभम्।

-महाभारत शान्तिपर्व, अध्याय २२२, श्लोक २४

४९. महाभारत, अनुशासन पर्व, अध्याय १, श्लोक ७२

५०. कर्मणः पुरुषः कर्ता शुभस्याप्यशुभस्य वा॥५७॥

कुतो वा सुखदुःखेषु नृणां ब्रह्मविदां वर।

इह वा कृतमन्वेति परदेहेऽथ वा पुनः॥५८॥

देही च देहं संत्यज्य मृग्यमाणः शुभाशुभैः।

कथं संत्युज्यते प्रेत्य इह वा द्विजसत्तम॥५९॥

-महाभारत, वनपर्व, अध्याय १८३, श्लोक ५७-५९

५१. महाभारत, वनपर्व, अध्याय १८३, श्लोक ७४

५२. अयमादिशरीरेण देवसृष्टेन मानवः।

शुभानामशुभानां च कुरुते संचयं महत्॥७६॥

आयुषोऽन्ते प्रहायेदं क्षीणप्रायं कलेवरम्।

सम्भवत्येव युगपद् योनौ नास्त्यन्तराभवः॥७७॥

तत्रास्य स्वकृतं कर्म छायेषानुगतं सदा।

फलत्यय सुरवार्हो वा दुःखार्हो वाय जायते॥७८॥

-महाभारत, वनपर्व, अध्याय १८३, श्लोक ७६-७८

५३. कर्मदायादवॉल्लोकः कर्मसंबंधलक्षणः।
 कर्मणिचोदयन्तीह यथान्योन्यं तथा वयम्॥
 यथा मृत्पिण्डतः कर्ता कुरुते यद् यदिच्छति।
 एवात्मकृतं कर्म मानवः प्रतिपद्यते॥
 यथाच्छायातपौ नित्यं सुसम्बद्धौ निरन्तरम्।
 तथा कर्म च कर्ता च सम्बद्धावात्मकर्मभिः॥

-महाभारत, अनुशासन पर्व, अध्याय १, श्लोक ७३-७८

५४. शुभैर्लभति देवत्वं ध्यामिश्रैर्जन्म मानुषम्।
 अशुभैश्चाप्यधो जन्म कर्मभिलभते श्वशः॥

-महाभारत, शान्तिपर्व, अध्याय ३२९ श्लोक २५

५५. आदिपर्व, छठा अध्याय, दृष्टव्य कर्म की हिन्दू अवधारणा के पृ. १३८
 ५६. धर्मेस्थिता सत्त्ववीर्या धर्मसेतुवटारका।
 त्यागवाताध्वगा शीघ्रा नौस्तं संतारयिष्यति॥

-महाभारत, शान्ति पर्व, अध्याय ६६, श्लोक ३७

५७. महाभारत शान्ति पर्व के मोक्षधर्म प्रकरण में, अध्याय १९४, श्लोक ४६
 ५८. गीता रहस्य पृष्ठ ५५-५६, दृष्टव्य 'कर्म की हिन्दू अवधारणा, पृ. १६९'
 ५९. 'शरीरवाङ्मनोभिर्यत्कर्म प्रारभते नरः' -गीता १८.१५
 ६०. गीता १८.१८ का रामानुज भाष्य
 ६१. गीता २.४७
 ६२. (१) आरुरुक्षोर्मुनेर्योगं कर्म कारणमुच्यते।
 योगारूढस्य तस्यैव शमः कारणमुच्यते॥ -गीता ६.३
 (२) ब्राह्मणक्षत्रियविशां शूद्राणां च परंतप।
 कर्मणि प्रविभक्तानि स्वभावप्रभवैर्गुणैः॥ -गीता १८.४१

६३. गीता ४.१६
 ६४. गीता १६.५
 ६५. दम्भो दर्पोऽतिमानश्च क्रोधः पारुष्यमेव च।
 अज्ञानं चाभिजातस्य पार्थ संपदमासुरीम्॥ -गीता १६.४

४३८ जैनदर्शन में कारण-कार्य व्यवस्था : एक समन्वयात्मक दृष्टिकोण

६६. काममाश्रित्य दुष्पूरं दम्भमानमदान्विता।
मोहाद्गृहीत्वासद्ग्राहान्प्रवर्तन्तेऽशुचिब्रताः॥ -गीता १६.१०
६७. गीता ५.१२
- ६७' गीता १.४२
६८. कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि॥ -गीता २.४७
६९. दृष्टव्य 'कर्म की हिन्दू अवधारणा' पृ. २०७
७०. देहिनोऽस्मिन्यथा देहे कौमारं यौवनं जरा।
तथा देहान्तरप्राप्तिर्धौरस्तत्र न मुह्यति॥ -गीता २.१३
७१. गीता २.२२
७२. गीता ८.१५, १६ और १५.६
७३. "शान्तिं निर्वाणपरमां मत्संस्थामधिगच्छति" -गीता ६.१५
७४. "सुखेन ब्रह्मसंस्पर्शमत्यन्तं सुखमश्नुते"-गीता ६.२८
७५. शुक्रनीति, चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन, वाराणसी १९९८, प्रथम अध्याय श्लोक ४९
७६. स्वप्नवासघदत्तम्, प्रथमोद्घ, श्लोक ४
७७. मेघदूत, उत्तरमेघ, श्लोक ४९
७८. पंचतन्त्र, मित्रसम्प्राप्ति, श्लोक १३२
७९. शेते सह शयानेन गच्छन्तमनुगच्छति।
नराणां प्राक्तनं कर्म तिष्ठेत्त्वथ सहात्मना॥-पंचतन्त्र, मित्रसम्प्राप्ति, श्लोक १३१
८०. यथा धेनुसहस्रेषु वत्सो विन्दति मातरम्।
तथा पुराकृतं कर्म कर्तारमनुगच्छति॥-पंचतन्त्र, मित्र सम्प्राप्ति, श्लोक १३०
८१. आयुः कर्म च वित्तं च विद्या निधनमेव च।
पंचैतानि हि सुज्यन्ते गर्भस्थस्यैव देहिनः॥-पंचतन्त्र २.८४
८२. यस्मिन् देशे च काले च वयसा यादृशेन च। कृतं शुभाशुभं कर्मतत्तथातेन
भुज्यते॥ -पंचतन्त्र २.८१
८३. कृतान्तपाशबद्धानां दैवोपहतचेतसाम्।
बृद्धयः कुब्जगामिन्यो भवन्ति महतामपि॥ -पंचतन्त्र २.५/२.१२९

८४. पराङ्मुखे विधौ चेत्स्यात्कथंचिद्द्रविणोदयः।
तत्सोऽन्यदपि संगृह्य याति शङ्खनिधिर्यथा॥ -पंचतन्त्र २.११
८५. पंचतन्त्र २.८१
८६. हितोपदेश, चौखम्बा संस्कृत सीरीज ऑफिस, वाराणसी, कथामुख का श्लोक ३१
८७. हितोपदेश, मित्रलाभ, श्लोक ४०
८८. हितोपदेश, सन्धि, श्लोक ४८
८९. करोतु नाम नीतिज्ञो व्यवसायमितस्ततः।
फलं पुनस्तदेवास्य यद्विधेर्मनसि स्थितिम्॥ -हितोपदेश, सुहृदभेद, श्लोक १४
९०. कार्यं सुचरितं क्वापि दैवयोगाद्विनश्यति॥ -हितोपदेश, सन्धि, श्लोक २
९१. नीतिशतकम्, श्लोक ९७ का अंश
९२. नीतिशतकम्, श्लोक ९८, १०३
९३. नीतिशतकम्, श्लोक ९५
९४. ब्रह्मा येन कुलालवन्नियमितो ब्रह्माण्डभाण्डोदरे,
विष्णुर्येन दशावतारगहने क्षिप्तो महासंकटे।
रुद्रो येन कपालपाणिपुटके भिक्षाटनं कारितः,
सूर्यो भ्राम्यति नित्यमेव गगने तस्मै नमः कर्मणे॥ -नीतिशतकम्, श्लोक ९६
९५. योगवासिष्ठ २.७.२१
९६. योगवासिष्ठ २.९.४
९७. योगवासिष्ठ २.९.६
९८. योगवासिष्ठ २.९.१६
९९. योगवासिष्ठ २.६.४
१००. योगवासिष्ठ २.६.३५
१०१. योगवासिष्ठ २.६.२
१०२. योगवासिष्ठ २.८.६
१०३. योगवासिष्ठ २.९.३
१०४. योगवासिष्ठ २.८.११
१०५. योगवासिष्ठ २.५.२८

४४० जैनदर्शन में कारण-कार्य व्यवस्था : एक समन्वयात्मक दृष्टिकोण

१०६. मूढैः प्रकल्पितं दैवं तत्परास्ते क्षयं गताः।

प्राज्ञास्तु पौरुषार्थेन पदमुत्तमतां मताः॥ न्योगवासिष्ठ २.८.१६

१०७. योगवासिष्ठ- १.६.१०, ६/२.१५७.२९, २.६.१८, २.६.१९, २.५.९, २.५.१०, २.५.११

१०८. 'न कर्मोऽनित्यत्वात्' -न्याय दर्शन २.२.२३

१०९. न्यायसूत्र ३.१.३७ के भाष्य में

११०. न्याय सूत्र ३.२.६२

१११. "पूर्वशरीरे या प्रवृत्तिः वागबुद्धिशरीराम्भलक्षणा तत् पूर्वकृतं कर्मोक्तं तस्य फलम् तज्जनिता धर्माधर्मौ तत्फलस्यानुबन्धः आत्मसमवेतस्यावस्थानम् तेन प्रयुक्तेभ्यो भूतेभ्यस्तस्य शरीरस्योत्पत्तिर्न स्वतंत्रेभ्य इति।" -न्यायदर्शन ३.२.६२ का आत्स्यायन भाष्य

११२. न्यायसूत्र १.१.२

११३. न्यायसूत्र १.१.२ का भाष्य

११४. न्यायसूत्र ४.१.१९

११५. वैशेषिक सूत्र १.१.१७

११६. विपर्ययादिष्यते बन्धः। -सांख्यकारिका, कारिका ४४

११७. सांख्यकारिका, कारिका ४४

११८. सांख्यकारिका, कारिका ४४ पर तत्त्वप्रदीपिका व्याख्या

११९. पूर्वात्पन्नमसक्तं नियतं महाददिसूक्ष्मपर्यन्ताम्।

संसरति निरूपभोगं भावैरधिवासितं लिंगम्॥ -सांख्यकारिका, कारिका ४०

१२०. षड्ग्वन्धवदुभयोरपि संयोगस्तत्कृतः सर्गः॥ -सांख्यकारिका, कारिका २१

१२१. तत्र जरामरणकृतं दुःखं प्राप्नोति चेतनः पुरुषः।

लिंगस्याविनिवृत्तेस्तस्माद् दुःखं स्वभावेन॥ -सांख्यकारिका, कारिका ५५

१२२. मीमांसा दर्शन, संस्कृति संस्थान, ख्वाजा कुतुब, बरेली (उ.प्र.), १९६९, श्रीराम शर्मा, आचार्य द्वारा लिखित भूमिका पृ. १०

१२३. 'मीमांसा दर्शन' अध्याय ३, पाद २, सूत्र २५

१२४. 'कर्म तथेति चेत्', 'न समवायात्', 'प्रकमातु नियम्येतारम्भस्य क्रियानिमित्तत्वात्'

-मीमांसा दर्शन, अध्ययन ६, पाद २, सूत्र ११-१३

१२५. 'मीमांसा दर्शन' भूमिका पृ. १३
१२६. 'मीमांसा दर्शन' भूमिका पृ. १३
१२७. 'चेतनाहं भिक्खवे कम्मं ति वदामि। चेतयित्वा हि कम्मं करोति कायेन वाचाय मनसा वा' -अंगुत्तरनिकाय उद्धृत 'बौद्ध दर्शन तथा अन्य भारतीय दर्शन' भाग प्रथम, पृ. ४६३
१२८. डॉ. भागचन्द्र जैन भास्कर, 'जैन-बौद्ध दर्शन में कर्मवाद', 'जिनवाणी-कर्म सिद्धान्त विशेषांक', सम्यग्ज्ञान प्रचारक मण्डल, जयपुर, पृ. १६४
१२९. 'भारतीय दर्शन' -डॉ. नंदकिशोर देवराज, उत्तरप्रदेश, हिन्दी संस्थान, लखनऊ, पंचम संस्करण, १९९९, पृ. १७१
१३०. भारतीय दर्शन-डॉ. नन्दकिशोर देवराज, पृ. १६६
१३१. चूल-कम्म विभंग-सुत्तन्त-मज्झिमनिकाय ३.४.५ उद्धृत 'बौद्धदर्शन तथा अन्य भारतीय दर्शन' पृ. ४७५
१३२. 'बौद्ध दर्शन तथा अन्य भारतीय दर्शन' मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली पृ. ४७५
१३३. चूल कम्म विभंग-सुत्तन्त (मज्झिमनिकाय ३.४.५)
१३४. महाकम्म विभंग-सुत्तन्त (मज्झिमनिकाय, ३.४.६)
१३५. सालेय सुत्तन्त (मज्झिमनिकाय १.५.१.), वेरंजक सुत्तन्त (मज्झिमनिकाय १.५.२)
१३६. विभंग पृ. ४२६, विसुद्धिमग (कंखावितरणविसुद्धिनिहेसो) में उद्धृत-'बौद्ध दर्शन तथा अन्य भारतीय दर्शन पृ. ४७८
१३७. वेदान्त दर्शन- अध्याय ३, पाद २, सूत्र ३८
१३८. 'श्रुत्वाच्च'- वेदान्त दर्शन ३.२.३९
१३९. योगसूत्र २.३
१४०. क्लेश मूलः कर्माशयो दृष्टादृष्टजन्मवेदनीयः - योगसूत्र २.१२
१४१. 'तस्यहेतुरविद्या' - योगसूत्र २.२४
१४२. 'सति मूले तद्विपाको जात्यायुर्भोगाः' - योगसूत्र २.१३
१४३. 'क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेषः ईश्वरः' - योगसूत्र १.२४
१४४. कर्माशुक्लाकृष्णं योगिनस्त्रिविधमितरेषाम्।

ततस्तद्विपाकानुगुणानामेवाभिव्यक्तिर्वासनानाम्॥ योगसूत्र ४.७,८

४४२ जैनदर्शन में कारण-कार्य व्यवस्था : एक समन्वयात्मक दृष्टिकोण

१४५. महापुराण, ४३७, उद्धृत कर्मसिद्धान्त (श्री कन्हैयालाल लोढ़ा) पृ. ६
१४६. दैव शब्द की चर्चा पृ० २४७-२४९ आदि पर भी की गई है।
१४७. न्याय भाष्य १.१.२ आदि (प्रमुख जैनागमों में भारतीय दर्शन के तत्त्व-पृ. १९७ के फुटनोट से)
१४८. न्यायदर्शन ४.१.१९
१४९. न्यायदर्शन ४.१.२१
१५०. जैन, बौद्ध तथा गीता के आचार दर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन, पृ. ४४१
१५१. वही, पृ. ४४१
१५२. वेदान्त दर्शन-अध्याय ३, पाद २, सूत्र ३८-४१
१५३. वेदान्त दर्शन, संस्कृति संस्थान, ख्वाजा कुतुब, बरेली (उ.प्र.), ३.२.३८-४ की हिन्दी व्याख्या।
१५४. 'ज्ञानेन चाऽपवर्गो, विपर्ययादिष्यते बन्धः' -सांख्यकारिका, कारिका ४४
१५५. एष प्रत्ययसर्गो विपर्ययाशक्तितुष्टिसिद्धयाख्यः' -सांख्यकारिका, कारिका ४६
१५६. "वैश्वरूपस्य कारणमस्त्यव्यक्तं" -सांख्यकारिका १५, १६
१५७. चोदना पुनरारम्भः -मीमांसा दर्शन २.१.५
१५८. मीमांसा दर्शन- अध्याय ३, पाद २, सू. २५
१५९. प्रकृतिस्थित्यनुभावप्रदेशास्वद्विधयः' -तत्त्वार्थ सूत्र ८.४
१६०. जोगा पयडिपएसं ठिइअणुभागं कसायाउ' -कर्मग्रन्थ भाग-५, गाथा ९६
१६१. षड्दर्शन समुच्चय ४८
१६२. कर्मवाद : एक अध्ययन-सुरेश मुनि, पृ. ६९-७३
१६३. कर्मवाद : एक अध्ययन-सुरेश मुनि, पृ. ६९-७३
१६४. जैन, बौद्ध तथा गीता के आचारदर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन, पृष्ठ ४४३
१६५. वही, पृ. ४४३
१६६. शास्त्रवार्तासमुच्चय, स्तबक ३, श्लोक १४
१६७. दर्शन और चिन्तन- भाग द्वितीय, पृ. २१३-२१४
१६८. आचारांगसूत्र १.१.५
१६९. उत्तराध्ययन २०.३७

१७०. जैन कर्मसिद्धान्त उद्भव एवं विकास, अध्याय १, पृ. १
१७१. कर्मग्रन्थ भाग १, गाथा १
१७२. कर्मप्रकृति सूत्र १८८
१७३. तत्त्वार्थसूत्र, अध्याय ८, सूत्र २, ३
१७४. कर्मग्रन्थ, भाग १, गाथा २
१७५. कर्मप्रकृति-अभयचन्द्रसिद्धान्तचक्रवर्ती कृत, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, दिल्ली, १९६८ सूत्र ३
१७६. कर्मप्रकृति सूत्र १८५
१७७. कर्मप्रकृति सूत्र १६७, १६८
१७८. कर्मप्रकृति सूत्र १८०
१७९. कर्मग्रन्थ, भाग-पांच, गाथा ९६
१८०. कर्मग्रन्थ भाग पांच, गाथा ९६
१८१. 'अस्थि णं जीवा य जाव चिट्ठंति।' -व्याख्याप्रज्ञप्ति प्रथम शतक, उद्देशक ६
१८२. कर्मसिद्धान्त, प्राकृत भारती अकादमी, जयपुर, पृ. १७
१८३. "अद्दु कम्मपगडीओ पण्णत्ताओ। तंजहा-णाणावरणिज्जं जाव अंतराइयं" - प्रज्ञापना, पद २३, उद्देशक २
१८४. जैन कर्मसिद्धान्त का उद्भव एवं विकास, पृ. ९४-९६
१८५. प्रज्ञापना, पद २३, उद्देशक २
१८६. प्रज्ञापना, पद २३, उद्देशक २
१८७. प्रज्ञापना पद २३, उद्देशक २
१८८. प्रज्ञापना पद २३, उद्देशक २
१८९. प्रज्ञापना पद २३, उद्देशक २
१९०. प्रज्ञापना पद २३, उद्देशक २
१९१. प्रज्ञापना पद २३, उद्देशक २
१९२. प्रज्ञापना पद २३, उद्देशक २
१९३. तत्त्वार्थ सूत्र ६.१,२
१९४. तत्त्वार्थ सूत्र ६.३

४४४ जैनदर्शन में कारण-कार्य व्यवस्था : एक समन्वयात्मक दृष्टिकोण

१९५. समवायांग सूत्र, समवाय ५, सू. २६

१९६. उत्तराध्ययन ३२.७

१९७. तत्त्वार्थ सूत्र ६.११

१९८. “पडिणीयत्तण निन्हव उक्कवायपओसअंतराएणं।

अच्चासायणपाए आवरणत्तुगं जिओ जयइ॥” -कर्मग्रन्थ १.५४

१९९. तत्त्वार्थ सूत्र ६.१२,

२००. तत्त्वार्थ सूत्र ६.१३

२०१. कर्मग्रन्थ, भाग प्रथम, गाथा ५५

२०२. गुरुभक्तिखंतिकरुणा-वयजोगकसायविजयदाणजुओ।

दढधम्माई अज्जइ सायमसायं विवज्जयओ॥ -कर्मग्रन्थ १.५५

२०३. तत्त्वार्थ सूत्र ६.१४

२०४. तत्त्वार्थ सूत्र ६.१५

२०५. “उम्मग्गदेसणा मग्गनासणा देवदव्वहरणेहिं

दंसणमोहं जिणमुणिचेइयसंघाइ पडिणीओ

दुविहं पि चरणमोहं कसायहासाइविसयविवसमणो॥” -कर्मग्रन्थ १.५६, ५७

२०६. तत्त्वार्थ सूत्र ६.१६,

२०७. तत्त्वार्थ सूत्र ६.१७

२०८. तत्त्वार्थ सूत्र ६.१८, १९

२०९. तत्त्वार्थ सूत्र ६.२०

२१०. “बंधइ नरयाउ महारम्भपरिग्गहरओ रुद्धे” -कर्मग्रन्थ १.५७

२११. “चउहिं ठाणेहिं जीवा णेरइयाउयत्ताए कम्मं पकरेंति, तंजहा- महारंभताए, महापरिग्गहयाए, पंचिदियवहेणं, कुणिमाहारेणं॥” -स्थानांग ४.४.६२७

२१२. “तिरियाउ गूढहियाओ सद्धो ससल्लो” -कर्मग्रन्थ १.५८

२१३. “चउहिं ठाणेहिं जीवा तिरिक्खजोणियत्ताए कम्मं पकरेंति, तंजहा- माइल्लताए, णियडिल्लताए, अलियवयणेणं, कूडतुलकूडमाणेणं॥”

-स्थानांग सूत्र ४.४.६२९

२१४. "तहा मणुस्साउ पयईइ तणुकसाओ दाणरुई मज्झिमगुणो अ" -कर्मग्रन्थ १.५८
२१५. "चउहिं ठाणेहिं जीवा मणुस्साउयत्ताए कम्मं पगरेंति, तंजहा- पगतिभदत्ताए, पगतिविणीययाए, साणुक्कोसयाए, अमच्छरिताए।" -स्थानांग ४.४.६३०
२१६. "चउहिं ठाणेहिं जीवा देवाउयत्ताए कम्मं पगरेंति, तंजहा- सरागसंजमेण, संजमासंजमेण, बालतवोकम्मेण, अकामणिज्जराए।" -स्थानांग ४.४.६३१
२१७. "अविरयमाइ सुराउं बालतवोऽकामनिज्जरो जयइ।" -कर्मग्रन्थ १.५९
२१८. तत्त्वार्थ सूत्र ६.२१
२१९. तत्त्वार्थ सूत्र ६.२२
२२०. "सरलो अगारविल्लो सुहनाम अन्नहा असुहं।" -कर्मग्रन्थ १.५९
२२१. तत्त्वार्थ सूत्र ६.२४
२२२. तत्त्वार्थ सूत्र ६.२५
२२३. "गुणपेही मय रहिओ अज्झयणऽज्झावणारुई निच्चं।
पकुणइ जिणाइभत्तो उच्चं नीयं इयरहा उ।" -कर्मग्रन्थ १.६०
२२४. तत्त्वार्थ सूत्र ६.२६
२२५. "जिणपूयाविग्घकरो हिंसाइपरायणो जयइ विग्घं।" -कर्मग्रन्थ १.६१
२२६. 'णिययाऽणिययं संतं' -सूत्रकृतांग, प्रथम श्रुतस्कन्ध, प्रथम अध्ययन, दूसरा उद्देशक श्लोक ४
२२७. तत्त्वार्थ सूत्र १.१
२२८. (१) मोहक्षयाज्ज्ञानदर्शनावरणान्तराय क्षयाच्चकेवलं -तत्त्वार्थ सूत्र १०.१
(२) "खीणमोहस्स णं अरहओ ततो कम्मंसा जुगवं खिज्जंति, तंजहा-
णाणावरणिज्जं दंसणावरणिज्जं अंतरातियं।"

-स्थानांग, स्थान ३, उद्देशक ४, सूत्र ५२७

२२९. "अणगारे समुच्छिन्नकिरियं अनियट्ठिसुक्कझाणं झियायमाणे वेयणिज्जं आउयं
नामं गोत्तं च एए चत्तारिकम्मं से जुगवं खवेइ।" -उत्तराध्ययन २९.७२
२३०. तत्त्वार्थ सूत्र १०.३
२३१. 'हे आयुष्मन्निग्निभूते। ज्ञानावरणादिपरमाणुसंघातरूपे कर्माणि तव संदेहः यतः
प्रत्यक्षाऽनुमानादिसमस्तप्रमाणात्मकज्ञानगोचरातीतमेव तत् त्वं मन्यसे।'

-विशेषावश्यक भाष्य श्लोक १६११ की टीका

२३२. विशेषावश्यक भाष्य श्लोक १६११

२३३. “सौम्य! मा मंस्थास्त्वम्, यतो मम तावत् प्रत्यक्षमेव कर्म, तवाप्यनुमानं साधनं यस्य तदनुमानसाधनं वर्तते तत् कर्म, न पुनः सर्वप्रमाणगोचरातीतम्। यस्य, किम्? इत्याह- ‘अणुभूइमयं फलं जस्स त्ति’ सुख-दुःखानामनुभूतिरनुभवनं तन्मयं तदात्मकं फलं यस्य शुभाऽशुभकर्मण इति। अनेन चेदमनुमानं सूचितम्- अस्ति सुख-दुःखानुभवस्य हेतुः, कार्यत्वात्, अंकुरस्येवेति। -विशेषावश्यक भाष्य १६११ की टीका।

२३४. विशेषावश्यक भाष्य, श्लोक १६१२

२३५. “स्याद् मतिः- भ्रक्चन्दनाऽङ्गनादयः सुखस्य हेतवः, दुःखस्य त्वहि-विष-कण्टकादयः, इति दृष्ट एव सुख-दुःखयोर्हेतुरस्ति, किमदृष्टस्य कर्मणस्तद्धेतुत्वकल्पनेन?” -विशेषावश्यक भाष्य, १६१२ की टीका

२३६. विशेषावश्यक भाष्य, श्लोक १६१३

२३७. “बालशरीरं देहंतरपुष्पं इंदियाइमत्ताओ। जह बालदेहपुष्पो जुवदेहो, पुष्पमिह कम्मं।”

टीका- न चाशरीरिणो नियतगर्भ-देश-स्थानप्राप्तिपूर्वकः शरीरग्रहो युज्यते, नियामककारणाभावात्। नापि स्वभावो नियामकः तस्य निराकरिष्यमाणत्वात्। यच्चेह बालशरीरस्य पूर्वं शरीरान्तरं तत् ‘कर्म’ इति मन्तव्यम्-कर्मणं शरीरमित्यर्थः। -विशेषावश्यक भाष्य श्लोक १६१४, और उसकी टीका

२३८. विशेषावश्यक भाष्य, गाथा १६१५ की मलधारिहेमचन्द्रकृतवृत्ति। भाष्य की गाथा इस प्रकार है-

किरियाफलभावो दाणाईणं फलं किसी एव्व।

तं चिय दाणाइफलं मणप्पसायाई जई बुद्धी।

२३९. “अनैकान्तिकोऽयं हेतुः चेतनारब्धानामपि कासांचित् कृष्यादिक्रियाणां निष्फलत्वदर्शनात्।” -विशेषावश्यक भाष्य, गाथा १६१५ की वृत्ति

२४०. “तदयुक्तम्, फलवत्त्वाभिप्रायेणैव तदारम्भात्। यच्च क्वचिद् निष्फलत्वमपि दृश्यते तत्सम्यग्ज्ञानाद्यभावेन सामग्रीवैकल्याद् द्रष्टव्यम्।”

-विशेषावश्यक भाष्य, गाथा १६१५ का टीका

२४१. “कृष्यादिक्रिया दृष्टधान्याद्यवाप्तिफला दृष्टाः, अतो दानादिक्रियाणामपि दृष्टमेव मनः प्रसादादिकं फलं भविष्यति, किमदृष्टकर्मलक्षणफलसाधनेन? तत् इष्टविरुद्धसाधनाद् विरुद्धोऽयं हेतुः।”

-विशेषावश्यक भाष्य, गाथा १६१६ की टीका

२४२. "मनःप्रसादोऽपि क्रियारूप एव, ततश्च यथा दान-कृष्यादिकाः क्रियाः फलवत्यः तथा क्रियासाम्याद् मनः प्रसादस्यापि फलेन भवितव्यमेव, यच्च तस्य फलं तत् कर्मैव, इति न कश्चिद् व्यभिचारः।"

-विशेषावश्यक भाष्य, गाथा १६१६ की टीका

२४३. "दानादिक्रियैव कर्मणः कारणमुक्ता, अत्र तु मनः प्रसादादिक्रिया तत्कारणमुच्यते, इति कथं न पूर्वापरविरोधः? इति" -विशेषावश्यक भाष्य, गाथा १६१६ की टीका

२४४. "सत्यम्, किन्तु मनःप्रसादादिक्रियैवानन्तर्येण कर्मणः कारणम्, केवलं तस्या अपि मनःप्रसादादिक्रियाया दानादिक्रियैव कारणम्, अतः कारणकारणे कारणोपचाराददोष इति।" -विशेषावश्यक भाष्य गाथा १६१६ की टीका

२४५. "दानादिक्रियातो मनःप्रसादादयो जायन्ते, तेभ्यश्च प्रवर्धमानदित्सादिपरिणामः पुनरपि दानादिक्रियां करोति, एवं पुनः पुनरपि दानक्रियाप्रवृत्तेः सैव मनःप्रसादादेः फलमस्तु, न तु कर्मेति भावः, दृष्टफलमात्रेणैव चरितार्थत्वात् किमदृष्टफल-कल्पनेन? इति हृदयम्।"

-विशेषावश्यक भाष्य, गाथा १६१७ की टीका,

२४६. "यथामृत्पिण्डो घटस्य निमित्तं विज्ञेयस्तथा दानादिक्रियापि मनःप्रसक्तेः। दृश्यन्ते हि पात्रदानादिभ्यश्चिन्तादादयो जायमानाः। न च यद् यस्य निमित्तं तत् तस्यैव फलं वक्तुमुचितम् दूरविरुद्धत्वादिति।" -विशेषावश्यक भाष्य, गाथा १६१७ की टीका

२४७. "सा क्रिया सर्वापि तन्मात्रफलैव दृष्टमात्रफलैव युज्यते, नादृष्टफला, यथा दृष्टमांसमात्रफला पशुविनाशक्रिया; न हि पशुविनाशनक्रियामदृष्टाधर्मफलार्थं कोऽप्यारभते, किन्तु मांसभक्षणार्थम्; अतस्तन्मात्रफलैव सा, तावतैवावसितप्रयोजनत्वात्। एवं दानादिक्रियाया अपि दृष्टमात्रमेव श्लाघादिकं किञ्चित् फलम्, नान्यदिति।" -विशेषावश्यक भाष्य, गाथा १६१८ की टीका

२४८. "कृषि-हिंसादिका दृष्टफलाः क्रिया अदृष्टफला अपि प्रतिपद्यस्वाभ्युपगच्छ। इदमुक्तं भवति यद्यपि कृषि-हिंसादिक्रियाकर्तारो दृष्टफलमात्रार्थमेव ताः समारभन्ते नाधर्मार्थम्, तथापि तेऽधर्मलक्षणं पापरूपमदृष्टफलमश्नुवत एव, अनन्तसंसारिजीवान् यथानुपपत्तेः। ते हि कृषिहिंसादिक्रियानिमित्तमन-भिलषितमप्यदृष्टं पापलक्षणं फलं बद्ध्वाऽनन्तं संसारं परिभ्रमन्तोऽनन्ता इह तिष्ठन्ति।" -विशेषावश्यक भाष्य, गाथा १६२० की टीका

२४९. "ननु दानादिक्रियानुष्ठातृभिर्यददृष्टं धर्मलक्षणं फलमाशंसितं तत् तेषां भवतु, यैस्तु कृषि-हिंसादिक्रियाकर्तृभिरदृष्टमधर्मरूपं फलं नाशंसितं तत् तेषां कथं भवति?"

-विशेषावश्यक भाष्य, गाथा १६२० की टीका

२५०. "तद्युक्तम्, न ह्यविकलं कारणं स्वकार्यं जनयत् कस्याप्याशंसामपेक्षते, किन्त्वविकलकारणतया स्वकार्यं जनयत्येव। यत्पुरज्जातमपि हि कोद्रवादिबीजं क्वचिद् भूप्रदेशे पतितं जलादिसामग्रीसदभावेऽविकलकारणतां प्राप्तं वज्राशंसाभावेऽपि स्वकार्यं जनयत्येव। अविकलकारणभूताश्च कृषि-हिंसा-दयोऽधर्मजनने। अतस्तत्कर्तृगताशंसा तत्र क्वोपयुज्यते? न च दानादिक्रियायामपि विवेकिनः फलाशंसा कुर्वते, तथाप्यविकलकारणतया विशिष्टतरमेव ता धर्मफलं जनयन्ति।"-विशेषावश्यक भाष्य, गाथा १६२० की टीका

२५१. "तस्मात् शुभाया अशुभायाश्च सर्वस्या अपि क्रियाया अदृष्टं शुभाऽशुभं फलमस्त्येवेति प्रतिपत्तव्यम्, अनन्तसंसारिजीवसत्तान्यथानुपपत्तेरिति स्थितम्। इतरथा यदि कृषि- हिंसाद्यशुभक्रियाणामदृष्टं फलं नाभ्युपगम्येत, तदा ते तत्कर्तारोऽदृष्टफलभावाद् मरणानन्तरमेव सर्वेऽप्ययत्नेन मुच्येरन्-संसारकारणाभावाद् मुक्तिं गच्छेयुः, ततश्च प्रायः शून्य एव संसारः स्यादित्यर्थः। यश्चादृष्टारम्भोऽदृष्टफलानां दानादिक्रियाणां समारम्भः स एव क्लेशबहुलः संसारपरिश्रमणकारणतया दुरन्तः स्यात्; तथाहि- ते दानादिक्रियानुष्ठातरास्त-दनुष्ठानेनादृष्टफलानुबंधं विदधुः, ततो जन्मान्तरे तद्विपाकमनुभवन्तस्तत्प्रेरिताः पुनरपि दानादिक्रियास्येव प्रवर्तेरन्, ततो भूयस्तत्फलसंचयात् तद्विपाकानुभूतिः पुनरपि दानादिक्रियारम्भः, इत्येवमनन्तसंततिमयः संसारस्तोषां भवेत्।"

-विशेषावश्यक भाष्य, गाथा १६२०-१६२१ की टीका

२५२. "यत् कृषि-हिंसाद्यशुभक्रियानुष्ठातृणामदृष्टसंचयाभावे सर्वेषां मुक्तिगमन एकोऽपि तत्क्रियानुष्ठाता संसारे क्वापि नोपलभ्येत, अशुभतत्फलविपाकानु-भविता चैकोऽपि क्वचिदपि न दृश्येत, दानादिशुभक्रियानुष्ठातारः शुभतत्फलविपाकानुभवितार एव च केवलाः सर्वत्रोपलभ्येरन्, न चैवं दृश्यते।"

-विशेषावश्यक भाष्य, गाथा १६२१ की टीका

२५३. "यस्मादनिष्टभोगभाजो बहुतरा भूयांसः-अशुभकर्मविपाकजनितदुःखभाज एव प्राणिनः प्रचुरा इहोपलभ्यन्ते, शुभकर्मविपाकनिबन्धनसुखानुभवितारस्तु स्वल्पा एवेति भावः। तेन तस्मात् कारणात् सौम्या। प्रतिपद्यस्व शुभाऽशुभा वा सर्वाऽपि क्रिया, अदृष्टं शुभाशुभं कर्मरूपमैकान्तिकं फलं यस्याः साऽदृष्टैकान्तिक-फलेत्युत्तरगाथायां संबंधः। इदमुक्तं भवति येन दुःखिनोऽत्र बहवः प्राणिनो दृश्यन्ते सुखिनस्तु स्वल्पाः, तेन जायते- कृषि-वाणिज्य हिंसादिक्रियानिबन्धना-शुभकर्मरूपादृष्टफलविपाको दुःखिनाम्, इतरेषां तु दानादिक्रियाहेतुकशुभकर्म-रूपादृष्टफलविपाक इति।"-विशेषावश्यक भाष्य, गाथा १६२२ की टीका

२५४. विशेषावश्यक भाष्य, गाथा १६२५ की टीका

२५५. विशेषावश्यक भाष्य, गाथा १६२५ की टीका

२५६. "नन्वत एवात्र समवायिकारणमधिक्रियते, न निमित्तकारणम्, सुख-दुःखादीनां चात्मधर्मत्वादात्मैव समवायिकारणम्, कर्म पुनस्तेषामन्य-पानाऽहिंविषादिवद् निमित्तकारणमेवेत्यदोष इति।" -विशेषावश्यक भाष्य, गाथा १६२५ की टीका

२५७. "तत्र मूर्तं कर्म, तत्संबंधे सुखादि संवित्तेः, इह यत्संबंधे सुखादि संवेद्यते तद् मूर्तं दृष्टम्, यथाऽऽशनाद्याहारः, यच्चामूर्तं न तत्संबंधे सुखादि-संविदस्ति, यथाऽकाशसंबंधे, संवेद्यते च तत्संबन्धे सुखादि, तस्मात् मूर्तं कर्मेति।" -विशेषावश्यक भाष्य, गाथा १६२६, १६२७ की टीका

२५८. "यत्संबंधे वेदनोद्भवो भवति तद् मूर्तं दृष्टम्, यथाऽनलोऽग्निः, भवति च कर्मसंबंधे वेदनोद्भवः, तस्मात् तद् मूर्तमिति।"

-विशेषावश्यक भाष्य, गाथा १६२६, १६२७ की टीका

२५९. "मूर्तं कर्म, आत्मनो ज्ञानादीनां च तद्धर्माणां व्यतिरिक्तत्वे सति बाह्येन सक-चन्दनाऽङ्गनादिना बलस्योपचयस्याधीयमानत्वात्, यथा स्नेहाद्याहितबलो घटः, इह यस्यानात्म-विज्ञानादेः सतो बाह्येन वस्तुना बलमाधीयते तद् मूर्तं दृष्टम्, यथा स्नेहादिनाऽऽधीयमानबलो घटः, आधीयते च बाह्यैर्मिथ्यात्वादिहेतु-भूतैर्वस्तुभिः कर्मण उपचयलक्षणं बलम् तस्मात् तद् मूर्तमिति।" -विशेषावश्यक भाष्य, गाथा १६२६, १६२७ की टीका

२६०. "मूर्तं कर्म, आत्मादिव्यतिरिक्तत्वे सति परिणामित्वात्, क्षीरमिवेति। एवमादीनि हेतूदाहरणानि कर्मणो रूपित्वगमकानीति।"

-विशेषावश्यक भाष्य, गाथा १६२६, १६२७ की टीका

२६१. विशेषावश्यक भाष्य, गाथा १६२८

२६२. "सोऽपि परिणामः सिद्धः कर्मणः 'कज्जाउ त्ति' कर्मकार्यस्य शरीरादेः परिणामित्वदर्शनादित्यर्थः। इह यस्य कार्यं परिणाम्युपलभ्यते तस्यात्मनोऽपि परिणामित्वं निश्चीयते, यथा दध्नस्तक्रादिभावेन परिणामात् पयसोऽपि परिणामित्वं विज्ञायत एवेति।" -विशेषावश्यक भाष्य, गाथा १६२८ की टीका

२६३. "यथा सकललोकप्रत्यक्षाणाममीषां गन्धर्वपुर-शक्रकोदण्डादीनां बाह्यस्कन्धानां विचित्रता भवतोऽपि सिद्धा, तथा तेनैव प्रकारेणान्तराणामपि कर्मस्कन्धानां पुद्गलमयत्वे समानेऽपि जीवसहितत्वस्य विशेषवतो वैचित्र्यकारणसद्भावेऽपि सुख-दुःखादिजनकरूपतया विचित्रता किमिति नेष्यते? यदि ह्यभ्रादयो बाह्यपुद्गला नानारूपतया परिणमन्ति, तर्हि जीवैः परिगृहीताः सुतरां ते तथा परिणमन्तीति भावः।" -विशेषावश्यक भाष्य, गाथा १६३० की टीका

२६४. "यदि हि जीवपरिगृहीतानामपि बाह्यानामभ्रादिपुद्गलानां नानाकारपरिणतिरूपा चित्रता त्वया प्रतिपन्ना, तर्हि जीवानुगतानां कर्म-पुद्गलानां विशेषत एवास्माकं

भवतश्च सा सम्मता भविष्यति, भक्तयो विच्छित्तपरतासामिव चित्रादिषु शिल्पिन्यस्तानाम्। अयमभिप्रायः -चित्रकारादि-शिल्पिजीवपरिगृहीतानां चित्र-लेप्य-काष्ठकर्मानुगतपुद्गलानां या परिणामचित्रता सा विस्मयापरिणतेन्द्रधनु-रादिपुद्गलपरिणामचित्रतायाः सकाशाद् विशिष्टैवेति प्रत्यक्षत एव दृश्यते। अतो जीवपरिगृहीतत्वेन कर्मपुद्गलानामपि सुख-दुःखादिवैचित्र्यजननरूपा विशिष्टतरा परिणामचित्रता कथं न स्यात्? इति।”

-विशेषावश्यक भाष्य, गाथा १६३१ की टीका

२६५. कारणसरिसं सखं बीयस्सेवंकुरो त्ति मण्णंते।

इह भवसरिसं सखं जमवेसि परे वि तमजुत्तं॥-विशेषावश्यक भाष्य, गाथा १७७३

२६६. “यत एव बीजानुरूपं कारणानुगुणं कार्याणां जन्म मतम्, तत एवेह भवाद् भवान्तरे जीवं गृहाण प्रतिपद्यस्व.....येन यस्माद् नारक-तिर्यगादिरूपेण भवनं भवः स एवाऽकुर इवांकुरस्तस्य बीजमिह कर्मैवावसेयम्, तच्च मिथ्यात्वाऽविरत्यादिहेतुवैचित्र्याद् विचित्रं यस्माद् मयाऽभिहितम्, तस्मात् तज्जन्यस्य भवांकुरस्यापि जात्यादिभेदेन विचित्रता। ततो यदि त्वया कर्म प्रतिपन्नम्, हेतुवैचित्र्याच्च यदि तद्वैचित्र्यमभ्युपगतम् ततः संसारिणे जीवस्य तत्फलमपि नारक-तिर्यकमनुष्याऽमररूपेण भवनरूपं सौम्य! विचित्ररूपं प्रतिपद्यस्वेति।” -विशेषावश्यक भाष्य, गाथा १७७६-१७७८ पर टीका

२६७. सततमनुबद्धमुक्तं दुःखं नरकेषु तीव्रपरिणामम्।

तिर्यक्षूष्ण-भय-क्षुत् तृडादिदुःखं सुखं चाल्पम्॥

सुख-दुःखे मनुजानां मनः शरीराश्रये बहुविकल्पे।

सुखमेव तु देवानामल्पं दुःखं तु मनसि भवम्॥

-विशेषावश्यक भाष्य गाथा १९०० की टीका

२६८. विशेषावश्यक भाष्य गाथा १९६० की टीका

२६९. विशेषावश्यक भाष्य गाथा १६३५ की टीका

२७०. “यथा बीजेनाऽऽकुरो जन्यते, अंकुरादपि क्रमेण बीजमुपजायते, एवं देहेन कर्म जन्यते, कर्मणा तु देह इत्येवं पुनःपुनरपि परस्परमनादिकालीन-हेतुहेतुमद्भावादित्यर्थः। इह ययोरन्योऽन्यं हेतुहेतुमद्भाव-स्तयोरनादिः सन्तानः, यथा बीजांकुर-पितृपुत्रादीनाम्, तथा च देह-कर्मणोः, ततोऽनादिः कर्मसन्तान इति।” - विशेषावश्यक भाष्य गाथा १९३९ की टीका

२७१. विशेषावश्यक भाष्य गाथा १८१५

२७२. “कर्ता चात्र कर्मणो जीवः, करणसमेतत्वात्, दण्डादिकरणयुक्तकुलालवद् घटस्य, करणं चेह जीवस्य कर्म निर्वर्तयतः शरीरमवगन्तव्यम्। एवं देहस्याप्यात्मैव कर्ता, कर्मरूपं करणं कर्मकरणं तत्संभवात् तद्युक्तत्वात्, दण्डादिकरणसमेतकुलाल-वदिति।” -विशेषावश्यक भाष्य गाथा १८१५ की टीका

२७३. विशेषावश्यक भाष्य गाथा १८१७

२७४. अण्णयरमणिव्वत्तियकज्जं बीयं-कुराणं जं विहयं।

तत्थ हओ संताणो कुक्कुडि-अंडाइयाणं च।।

- विशेषावश्यक भाष्य गाथा १८१८

२७५. विशेषावश्यक भाष्य, गाथा १८१९

२७६. “जीवस्य कर्मणश्च योऽयं परस्परं योगः सोऽनादिः सन् किं जीव-नभसो-रिवानन्तः, अथ कांचनो-पलथोरिव सान्तोऽपि स्यात्।”

-विशेषावश्यक भाष्य गाथा १८२० की टीका

२७७. “द्विधाऽप्ययमविरुद्धः, तत्र प्रथमोऽनाद्यनन्तरूपोऽभव्यानां द्रष्टव्यः। यस्तु कांचनो-पलथोरिवानादिः सान्तोऽसौ भव्यानां विज्ञेयः।”

-विशेषावश्यक भाष्य गाथा १८२०, १८२१ की टीका

२७८. विशेषावश्यक भाष्य, गाथा १९४०

२७९. इह स्वकृतप्रकृष्टपापफलभोगिनस्तावत् क्वचिद् नारकाः प्रतिपत्तव्यास्ते च यदि प्रपन्नाः, ‘तेषां त्ति’ तर्हि तेनैव प्रकारेण स्वोपार्जितसुष्ठुबहुकपुण्यफलभुजः सुरगणा अपि प्रतिपत्तव्याः। अत्राह नन्विहैवातिदुःखितनरास्तिर्यञ्चश्चातिदुःख-दुःखितअत्राह नन्विहैवातिदुःखितनरास्तिर्यञ्चश्चातिदुःखदुःखित प्रकृष्टपापफल-भुजो भविष्यन्ति, तथा, मनुष्या एवातिदुःखिताः प्रकृष्टपुण्यफलभुजो भविष्यन्ति, किमदृष्टनारक-देवपरिकल्पनया? इति। तदयुक्तम्, प्रकृष्टपापफलभुजां सर्वप्रकारेणापि दुःखेन भवितव्यम्, न चातिदुःखितानामपि नर-तिरश्चां सर्वप्रकारं दुःखं दृश्यते, सुखदपवनाऽऽलोकादिसुखस्य सर्वेषामपि दर्शनात्। प्रकृष्टपुण्यफलभुजामपि सर्वप्रकारेणापि सुखेन भवितव्यम्, न चेहातिसुखितानामपि नराणां सर्वप्रकारं सुखमवलोक्यते, पूतिदेहोद्भवस्य रोग-जरादिप्रभवस्य च दुःखस्य तेषामपि सद्भावात्। तस्मात् प्रकृष्टपापनिबन्धनसर्वप्रकारदुःखवेदिनो नारकाः प्रकृष्टपुण्यहेतुकसर्वप्रकार-सुखभोगिनो देवाश्चाभ्युपगन्तव्या एवेति।।

- विशेषावश्यक भाष्य गाथा १८७४ की टीका

२८०. विशेषावश्यक भाष्य, गाथा १९२०

२८१. "दृष्ट एव माता-पित्रादिकस्तेषां हेतुः, दृष्टहेतुसाम्येऽपि सुरूपे-तरादिभावेन देहादीनां वैचित्र्यदर्शनात्, तस्य चादृष्टकर्माख्यहेतुमन्तरेणाभावात्। अतएव पुण्य-पापभेदेन कर्मणो द्वैविध्यम्, शुभदेहादीनां पुण्यकार्यत्वात्, इतरेषां तु पापफलात्वात्।" -विशेषावश्यक भाष्य गाथा १९२० की टीका

२८२. विशेषावश्यक भाष्य गाथा १९२१

२८३. "जीव-पुण्यसंयोगः सुखस्य कारणम्, तस्य च सुखं पर्याय एव, दुःखस्यापि जीव-पापसंयोगः कारणम्, अतस्तस्यापि दुःखं पर्याय एव, यथा च सुखं शुभं, कल्याणं, शिवमित्यादीन् व्यपदेशाँल्लभते तथा तत्कारणभूतं पुण्यस्कन्धद्रव्यमपि यथा च दुःखमशुभम्, अकल्याणम्, अशिवमित्यादिसंज्ञाः प्राप्नोति तथा तत्कारणभूतं पापद्रव्यमपि, इति विशेषतोऽत्र पुण्य-पापे सुख दुःखयोरनुरूपकारणत्वेनोक्ते इति।" -विशेषावश्यक भाष्य गाथा १९२४ की टीका

२८४. विशेषावश्यक भाष्य गाथा १९४१

२८५. "तस्य पुण्य-पापात्मकस्य कर्मणो योग्यमेव कर्मवर्गणागतं द्रव्यं जीवो ग्रह्णाति, न तु परमाण्वादिकम्, औदारिकादिवर्गणागतं वाऽयोग्यमित्यर्थः। तदप्येकक्षेत्रावगाढमेव गृह्णाति, न तु स्वावगाढप्रदेशोभ्यो भिन्नप्रदेशावगाढमित्यर्थः। तच्च तथा तैलादिकृताभ्यंगं पुरुषो रेणुं गृह्णाति तथा राग-द्वेषक्लिन्नस्वरूपो जीवोऽपि गृह्णाति न तु निर्हेतुकमिति भावः। इदं च सर्वैरपि स्वप्रदेशैर्जीवो गृह्णाति, न तु कैश्चिदित्यर्थः" - विशेषावश्यक भाष्य गाथा १९४१ की टीका

२८६. "स जीवस्तत्कर्म ग्रहणे ग्रहणकाले शुभाऽशुभादिविशेषणाविशिष्टमपि गृह्णन् क्षिप्रं तत्क्षणमेव शुभमशुभं वा कुरुते-शुभाऽशुभविभागेन व्यवस्थापयतीत्यर्थः। कुतः? इत्याह- 'परिणामाऽऽसयसभावउ त्ति' इहाश्रयो द्विविधकर्मणो जीव आश्रयः, कर्म तु शुभाशुभत्वस्य, तस्य द्विविधस्याप्याश्रयस्य स्वभाव आश्रयस्वभावः, परिणामश्चाश्रयस्वभावश्च परिणामाऽऽश्रयस्वभावौ, ताभ्यामेतत् कुरुते जीवः। इदमुक्तं भवति-जीवस्य यः शुभोऽशुभो वा परिणामोऽध्यवसायस्तद्वशात् ग्रहणसमय एव कर्मणः शुभत्वमशुभत्वं वा जनयति; तथा जीवस्यापि कर्माश्रयभूतस्य स कोऽपि स्वभावोऽस्ति येन शुभाऽशुभत्वेन परिणमयन्नेव कर्म गृह्णाति; तथा, कर्मणोऽपि शुभाऽशुभभावाद्याश्रयस्य स स्वभावः- स कश्चिद् योग्यताविशेषोऽस्ति, येन शुभाऽशुभपरिणामान्वितजीवेन गृह्यमाणमेवैतद्रूपतया परिणमति।" - विशेषावश्यक भाष्य गाथा १९४३ की टीका

२८७. “तयोरहि-धेन्वोराहारस्तदाहारः स तुल्योऽपि दुग्धादिको गृहीतः परिणामाऽऽश्रयवशाद् यथा धेन्वाः पयो दुग्धं भवति, अहेस्तु स एव विषं-विषरूपतया परिणमति, तथा तेनैष प्रकारेण पुण्याऽपुण्यपरिणामः। इदमुक्तं भवति- अस्ति स कश्चित् तस्याऽऽहारस्य परिणामो येन तुल्योऽपि सन्नाश्रयवैचित्र्याद् विचित्रतया परिणमति; आश्रयस्याप्यहि-धेनुलक्षणस्यास्ति तत्तद् निजसामर्थ्यम्, येन तुल्योऽपि गृहीत आहारस्तत्तद्रूपतया परिणमते; तथा पुण्य-पापयोरुपनययोजना कृतैवेति।”

-विशेषावश्यक भाष्य गाथा १९४४ की टीका

२८८. “जह वेगसरीरम्मि वि साराऽसारपरिणामयामेइ।

अविसिट्ठो वाहारो तह कम्मसुभाऽसुभविभागो।।”

भाष्य- “धेनु-विषधरयोर्भिन्ने शरीर आहारस्य परिणामवैचित्र्यं दर्शितम्। ‘वा’ इत्यथवा, यथैकस्मिन्नपि पुरुषादिशरीरेऽविशिष्टेऽप्येकरूपोऽत्याहारो गृहीतस्तत्क्षण एव साराऽसारपरिणामतामेति-रसाऽसृग्-मांसादि-रसपरिणामं मूत्र-पुरीषरूपमलपरिणामं च युगपदागच्छतीत्यर्थः तथा कर्मणोऽप्यविशिष्टस्य गृहीतस्य परिणामऽऽश्रयवशात् शुभाऽशुभविभागो द्रष्टव्य इति।”

-विशेषावश्यक भाष्य, गाथा १९४५ और उसकी टीका

२८९. विशेषावश्यक भाष्य गाथा १९४६

२९०. विशेषावश्यक भाष्य गाथा १९३९

२९१. “इहजानावरणादिमूलप्रकृतीनामन्योन्यं संक्रमः कदापि न भवत्येव, उत्तरप्रकृतीनां तु निजनिजमूलप्रकृत्यभिन्नानां परस्परं संक्रमो भवतीति।....एकस्या आयुर्लक्षणाया निजमूलप्रकृतेरभिन्नानामपि चतुर्णामायुषामन्योन्यं संक्रमो न भवतीति तद्वर्जनम्। तथा, दर्शनमोहं चारित्रमोहं च मुक्त्वा; एकस्या मोहनीयलक्षणायाः स्वमूलप्रकृतेरभिन्नयोरपि दर्शनमोह-चारित्रमोहयोरन्योन्यं संक्रमो न भवतीत्यर्थः। उत्तरभेदास्तद्भूतानामुत्तरप्रकृतिरूपाणां संक्रमो भाज्यो भजनीयः।”

-विशेषावश्यक भाष्य गाथा १९३९ की टीका

२९२. अहवाऽणाइत्तणओ खस्स व किं कम्म-जीवजोगस्स।

अविओगाओ न भवे संसाराभाव एव त्ति।। - विशेषावश्यक भाष्य गाथा १९७६

२९३. “बध्यते पुण्य-पापकर्मणा जीवः दान-हिंसादिक्रियाणां सफलत्वात्, कृष्यादिक्रियावत्, तथा, विघटते सम्यगुपायात् कोऽपि जीव-कर्म संयोगः, संयोगत्वात्, कांचनधातुपाषाणसंयोगवत् इत्याद्यनुमानात् परिहर्तव्यमिति।

-विशेषावश्यक भाष्य गाथा १९८५

२९४. पंचास्तिकाय, गाथा १३३
२९५. जैन, बौद्ध और गीता के आचार दर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन, पृ. ३१३
२९६. अमर भारती, नवम्बर १९६५, पृ. ११-१२, उद्धृत जैन, बौद्ध तथा गीता के आचारदर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन, पृ. ३१३
२९७. जैन, बौद्ध तथा गीता के आचार दर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन पृ. ३१३
२९८. पापं कर्म कृतं किंचिद् यदि तस्मिन् न दृश्यते।
नृपते तस्य पुत्रेषु पौत्रेष्वपि च नप्तृषु॥ -महाभारत, शान्ति पर्व, अध्याय १३९.२२
२९९. बौद्ध धर्म दर्शन, पृ. २७७ उद्धृत 'जैन, बौद्ध तथा गीता के आचारदर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन पृ. ३१६
३००. भगवती सूत्र १.२.२
३०१. संसारमावन्न परस्स अट्ठा, साहारणं जं च करेइ कम्मं।
कम्मस्स ते तस्स उ वेय-काले, न बंधवा बंधवयं उवेन्ति॥
न तस्स दुक्खं विभयन्ति नाइओ, न मित्तवग्गा न सुया न बंधवा।
एवको सयं पच्चणुहोइ दुक्खं, कत्तारमेव अणुजाइ कम्मं॥
माया पिया ण्हसा भाया, भज्जा पुत्ता य ओरसा।
नालं ते मम ताणाय, लुपंतस्स सकम्मुणा॥ -उत्तराध्ययन ४.४.१३.२३, ६.३
३०२. जैन कर्मसिद्धान्त का उद्भव एवं विकास, पृ. १८९
३०३. जैन कर्मसिद्धान्त का उद्भव एवं विकास, पृ. १८९
३०४. जैन, बौद्ध और गीता के आचारदर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन पृ. ३१८
३०५. मिच्छे सासण मीसे अविरय देसे पमत्त अपमत्ते।
नियट्ठि अनियट्ठि सुहुमु वसम खीण सजोमि अजोगिगुणा॥
-कर्मग्रन्थ, भाग २, श्लोक २
३०६. गइइदि ए काये जोए वेए कसायनाणेषु।
संजमदंसणलेसा भवसम्मो संनिआहारे॥ -कर्मग्रन्थ, भाग ४, श्लोक ९
३०७. जैन कर्म सिद्धान्त का उद्भव एवं विकास, पृ. १५७-१७२
३०८. पंचाध्यायी, २.४५ उद्धृत जैन कर्म सिद्धान्त का उद्भव एवं विकास, पृ. १९३
३०९. कर्मवाद : एक अध्ययन; सुरेश मुनि शास्त्री, श्री सन्मति ज्ञानपीठ, आगरा, १९६५

३१०. गीता २.२०

३११. उत्तराध्ययन सूत्र २०.३६, ३७

३१२. गणघरवाद २.२५

३१३. उत्तराध्ययन २५.४५

३१४. षड्दर्शनसमुच्चय, श्लोक ५२ की टीका, पृ. २७९

३१५. उत्तराध्ययन २५.४५

३१६. चउव्विहे बंधे पणत्ते, तंजहा- पगतिबंधे, तितिबंधे, अणुभावबंधे, पदेसबंधे।

-स्थानांग सूत्र, चतुर्थ स्थान, द्वितीय उद्देशक, सूत्र २९०

३१७. “णाणावरणिज्जस्स वेयणिय-आउय-नाम-अंतराइयस्स एएसि णं पंचण्हं कम्मपगडीणं अट्ठावन्नं उत्तरपगडीओ पणत्ताओ।”

-समवायांग सूत्र, समवाय ५८, सूत्र ३०४

३१८. विशेष जानकारी के लिए दृष्टव्य जैन कर्मसिद्धान्त उद्भव एवं विकास, पृष्ठ २०-८४

३१९. से आयावादी लोयावादी कम्मावादी किरियावादी-आचारांगसूत्र १.१.३

३२०. आचारांग सूत्र, अध्याय १, उद्देशक १, सूत्र ५ की शीलांक टीका

३२१. द्वादशारनयचक्र, प्रथम विभाग, ३५२-३५३

३२२. “उत्कर्षार्थिपुरुषकारैकत्वात्, प्रधानमध्यमाधमभेदभिन्नाः पुरुषकारा न सिध्यन्ति। सप्रभेदास्ताः सिद्धयोऽसिद्धयश्च नानाजातीया न स्युः अव्यतिरिक्तकारणत्वात्।”

-द्वादशारनयचक्र प्रथम विभाग, पृ. ३५३

३२३. “कार्यातिरेकात् कारणातिरेक इति कर्मैव प्रवर्तयितुं....तत्र त्वदिष्टपुरुषकारव्यापारस्यावतार एव नास्ति स्वशक्त्याधानासमर्थत्वात्। चेतनामात्रसारो हि पुरुषकारः शक्तिः, न च स पशुत्वे वर्तमानो मनुष्यत्वे स्वचैतन्यशक्तिमाधातुं समर्थः, मनुष्यः सन्न तज्ज्ञानं पशौ, तस्यापि कर्मलभ्यत्वात्” -द्वादशारनयचक्र, पृ. ३५३-३५४

३२४. द्वादशारनयचक्र पृ. ३५४

३२५. “अतो यथाहारविशेषाभ्यवहरणखलरसादिविभजनाद्यसंचेतितक्रियासु अस्वतंत्र एव ताः कर्मकृताः पुरुषो मत्कृता इत्यभिमन्यते।” -द्वादशारनयचक्र, पृ. ३५४

३२६. “इष्टस्यैव कारणं स्वातन्त्र्यात् स्यात्। तस्मात् सर्वमेव तत् कर्मण एव।”

-द्वादशारनयचक्र, पृ. ३५४

३२७. 'अकारणमपि कर्म, सहायापेक्षत्वात्, भारोत्पाटवत्' -द्वादशारनयचक्र पृ. ३५५

३२८. द्वादशारनयचक्र पृ. ३५५

३२९. "कर्मैकान्तवादोऽप्ययुक्तः। तत्प्रदर्शनार्थमाह-एवंवादिनस्ते पुनः कार्यलक्षणत्वात् कर्मणः, कार्यं कर्म, यत् क्रियते तत् कर्म, कर्तुरीप्सिततमं कर्म इति लक्षणादक्षरार्थाच्चानुमेयः कर्ता। तस्मात् कर्मणोऽन्यं कर्तारं कर्मव्यतिरिक्तमन्तरेण कर्माभावाद् घटस्येव कुलालोऽवश्यैष्यः कर्ता।"

-द्वादशारनयचक्र, प्रथम विभाग, सिंहसूरि टीका, पृ. ३५७

३३०. द्वादशारनयचक्र, प्रथम विभाग, सिंहसूरि टीका, पृ. ३५७

३३१. "अस्यापि ब्रीहिदृष्टान्तस्य क्षित्युदकाकाशवातांकुराद्यावृत्तिरूपत्वात् तेषां च स्वरूपभेदात् स्वतः पृथग्भूतकर्त्रीविनाभूतं कर्म सिध्यति अतो विपर्ययसाधनत्वमिति।" -द्वादशारनयचक्र, प्रथमो विभाग, सिंहसूरि टीका, पृ. ३५७

३३२. "किंचान्यत्, अक्षरार्थाच्च, 'क्रियत इति कर्म' कर्तुरीप्सिततमं कर्म इति कर्मशब्दाक्षरार्थः। ततस्तस्य कृतकत्वं निर्विवादम्, तस्माच्च निर्विवादकृतकत्वात् कर्मणः कर्तुरेव भावः स्वतन्त्रस्य, पुरुष एवं भवति, कर्तुरेव भावः सर्वस्येति पंचमीनिर्देशाद् वा पुरुषादेव सर्वं भवति कारणात्.....तच्छक्तेः, तस्मादेव हि कर्तुः पुरुषात् कर्मणः कृतकत्वशक्तिः, कर्तुर्वा पुरुषस्य करणशक्तिः न ब्रीहिनैव ब्रीहिवदावर्तकत्वेनेति।" -द्वादशारनयचक्र, प्रथमो विभाग, सिंहसूरि टीका, पृ. ३५७

३३३. द्वादशारनयचक्र, प्रथमो विभाग पृ. ३५८

३३४. द्वादशारनयचक्र, प्रथमो विभाग, सिंहसूरि टीका, पृ. ३५८

३३५. 'कर्मप्रवृत्तिमात्रत्वात् तथा शास्त्रार्थस्य अस्मदुपदेशादिक्रियाणां च प्रतिपत्त्यप्रतित्योः सर्वाण्येतानि कर्मण एवेति चेत्।' द्वादशारनयचक्र, प्रथमो विभाग, पृ. ३५८-३५९

३३६. द्वादशारनयचक्र, प्रथमो विभाग, पृ. ३५९

३३७. "यथा चात्र परिणाम्यपरिणामकभावादेकत्वं तथात्मकर्मणोरपि। आत्मा परिणमयति तथाभवनसामर्थ्याद् गतिजात्यादिना पुद्गलान् पुद्गलाश्चात्मानं मिथ्यादर्शनादित्वेन अन्योन्यपरिणामकत्वादनादित्वमेकत्वम्॥

-द्वादशारनयचक्र, प्रथमो विभाग, पृ. ३६१

३३८. "यदपि च रूपादि तदप्यात्मन एव तत्त्वम्, उपयोगात्मकत्वात् तदव्यतिरेकलभ्यरूपत्वात्, मध्यादिवत्...यच्चोपयोगस्वतत्त्वं मत्वादि तदपि पुद्गलात्मतत्त्वम्, रूपाधत्मकत्वात्, अण्वादिवत्" -द्वादशारनयचक्र, प्रथमो विभाग, पृ. ३६२-३६३

३३९. शास्त्रवार्ता समुच्चय, स्तबक २, श्लोक ६५
३४०. शास्त्रवार्ता समुच्चय, स्तबक २, श्लोक ६६
३४१. शास्त्रवार्ता समुच्चय, स्तबक २, श्लोक ६६ की टीका
३४२. शास्त्रवार्ता समुच्चय, स्तबक २, श्लोक ६७
३४३. 'दृष्टकारणवैगुण्यादेव तत्र कार्याभाव' इति चेत्? तर्हि तद्वैगुण्यं यन्निमित्तम्, तत् एव कार्यवैगुण्यं न्यायप्राप्तम्, 'तद्धेतोः' इति न्यायात्। -शास्त्रवार्ता समुच्चय, स्तबक २, श्लोक ६७ की टीका
३४४. "तथाविधप्रयत्नं विनापि शुभादृष्टेन धनप्राप्त्यादिदर्शनात्; कर्मविपाक-कालेऽवर्जनीयसंनिधिकत्वेनैव तेषां निमित्तत्वव्यवहारात्। अत एव 'दृष्टकारणानामदृष्टव्यञ्जकत्वम्' इति सिद्धान्तः।" -शास्त्रवार्ता समुच्चय, स्तबक २, श्लोक ६७ की टीका
३४५. शास्त्रवार्ता समुच्चय, स्तबक २, श्लोक ६७ की टीका में उद्धृत
३४६. शास्त्रवार्ता समुच्चय, स्तबक २, श्लोक ६७ की टीका में
३४७. चित्रं भोग्यं तथा चित्रात्कर्मणोऽहेतुतान्यथा' -शास्त्रवार्ता समुच्चय, स्तबक २, श्लोक ६८
३४८. 'क्वचिदुद्भुतरूपमेव, क्वचिच्चानुद्भुतरूपमेव, परमाणुसाद्भूतानां च शाल्यादिबीजानां शाल्याद्यङ्कुरजनकत्वमेव' इति नियमे परेणाऽप्यदृष्टम्यै-वाऽङ्गीकारात्, सर्वत्र तद्धेतुत्वस्यैवौचित्यात्। -शास्त्रवार्ता समुच्चय, स्तबक २, श्लोक ६८ की टीका
३४९. 'तस्य यस्माद्विचित्रत्व नियत्यादेर्न युज्यते।'
-शास्त्रवार्ता समुच्चय, स्तबक २, श्लोक ६८
३५०. 'अदृष्टैकान्तवादेऽनिर्मोक्षापत्तेः'
-शास्त्रवार्ता समुच्चय, स्तबक २, श्लोक ८० की टीका
३५१. शास्त्रवार्ता समुच्चय, स्तबक २, श्लोक ८० की टीका
३५२. शास्त्रवार्ता समुच्चय, स्तबक २, श्लोक ८० की टीका
३५३. सम्मति तर्क ३.५३ पर अभयदेव टीका के पृ. ७१४-७१५
३५४. "समानमीहमानानां समानदेशकालकुलाकारादिमतामर्थप्राप्त्यप्राप्तिना निमित्तेऽप्यनिमित्तस्य देशादिना प्रतिनियमायोगात्। न च परिदृश्यमानकारणप्रभवस्तस्य समानतथोपलम्भान्नचैकरूपत्वकार्यभेदस्तस्या-

हेतु-कत्वप्रशक्तेरहेतुकत्वे च तस्य कार्यस्यापि तद्रूपतापत्तेः। भेदाच्चेदव्यति-
रिक्ततस्य तस्यासत्वात् ततो यन्निमित्ते एते तद्वृष्टकारणव्यतिरिक्तमदृष्टकारणं
कर्मैति।” -सन्मति तर्क ३.५३ पर अभयदेव टीका पृष्ठ ७१५

३५५. सन्मति तर्क ३.५३ की अभयदेव टीका पृ. ७१५

३५६. “न च स्वतंत्रं कर्मवैचित्र्यं कारणमुपपद्यते तस्य कर्त्रधीनत्वात्। नचैकस्वभावात्
ततो जगद्वैचित्र्यमुपपत्तिमत्कारणवैचित्र्यमुपपत्तिमत्कारणवैचित्र्यमन्तरेण
कार्यवैचित्र्यायोगात्। वैचित्र्ये वा तदेककार्यताप्रच्युतेश्नेकस्वभावत्वे च कर्मणो
नाममात्रनिबन्धनैव विप्रतिपत्तिः। पुरुषकालस्वभावादेरपि
जगद्वैचित्र्यकारणत्वेनार्थतोऽभ्युपगमात्।”

-सन्मतितर्क, ३.५३ की अभयदेव टीका पृ. ७१५

३५७. सन्मति तर्क ३.५३ पर अभयदेव टीका पृ. ७१५

३५८. संन्यासोपनिषद् २.९८

३५९. ब्रह्मबिन्दूपनिषद्, मंत्र २ उद्धृत ईशाघष्टोत्तरशतोपनिषद्

३६०. रामायण, उत्तरकाण्ड, सर्ग १५, श्लोक २५

३६१. गीता २.२२

३६२. पूर्वजन्मकृतं कर्मैहार्जितं तद् द्विधाकृतम्- शुक्रनीति, ४९

३६३. स्वप्नवासवदत्त, प्रथम अंक, श्लोक ४

३६४. मेघदूत, उत्तरमेघ, श्लोक ४९

३६५. हितोपदेश, कथामुख का श्लोक ३१

३६६. सम्पत्तेश्च विपत्तेश्च दैवमेव हि कारणम्- हितोपदेश, सन्धि, श्लोक ४८

३६७. नीतिशतक, श्लोक ९५

३६८. कम्मा विपाका वर्तन्ति विपाको कम्म संभवो।

कम्मा पुनब्भवो होति एवं लोको पवत्तती ति।।

-विभंग, पृ. ४२६, विसुद्धिमग उद्धृत बौद्ध दर्शन

तथा अन्य भारतीय दर्शन, पृ. ४७८

३६९. विशेषावश्यक भाष्य, गाथा १९२१

३७०. तत्त्वार्थ सूत्र १०.३

३७१. शास्त्रवार्ता समुच्चय २.६६ की टीका

पुरुषवाद और पुरुषकार

उत्थापनिका

सन्मतितर्क में सिद्धसेन सूरि (५वीं शती) द्वारा काल, स्वभाव, नियति और पूर्वकृत कर्म के साथ 'पुरुष' को भी कारण रूप में प्रतिपादित किया गया है, यथा—

कालो सहाव णियई पुव्वकयं पुरिस कारणेगंता।

मिच्छत्तं ते चेव उ, समासओ होंति सम्मत्तं।।

गाथा में 'पुरिसे' शब्द प्रयुक्त हुआ है जो 'पुरुष' का वाचक है। अतः इस गाथा के अन्य शब्दों 'कालो', 'सहाव', 'णियई' एवं 'पुव्वकय' के आधार पर जिस प्रकार क्रमशः कालवाद, स्वभाववाद, नियतिवाद एवं पूर्वकृतवाद (कर्मवाद) फलित हुए हैं उसी प्रकार 'पुरिस' शब्द से 'पुरुषवाद' फलित होता है।

भारतीय वाङ्मय एवं विशेषतः जैन वाङ्मय का अवलोकन करने पर विदित होता है कि इस 'पुरुष' शब्द ने पुरुषार्थ तक की लम्बी यात्रा तय की है। कारण-कार्य सिद्धान्त के संदर्भ में यह 'पुरुष' शब्द दो प्रकार के भिन्न अर्थों में प्रयुक्त हुआ है— १. सृष्टिकर्ता पुरुष के अर्थ में २. पुरुषकार या पुरुषार्थ के अर्थ में। इनमें प्रथम अर्थ में प्रयुक्त 'पुरुष' शब्द केवल परम पुरुष के अर्थ तक सीमित नहीं रहा, अपितु उसका 'ब्रह्म' एवं 'ईश्वर' के अर्थ में भी विकास हुआ। अतः 'पुरुष' की कारणता की चर्चा करते समय इस अध्याय में ब्रह्म एवं ईश्वर की कारणता की चर्चा भी प्रसंगत की जाएगी। साथ ही पुरुषकार या पुरुषार्थ पर भी विशद प्रकाश डाला जाएगा, क्योंकि जैन दार्शनिकों ने आगे चलकर प्रधानतया 'पुरिस' शब्द का पुरुषकार या पुरुषार्थ अर्थ ही अंगीकार किया है।

संक्षेप में—

पुरुषवाद से पुरुषार्थवाद तक

यद्यपि सिद्धसेन विरचित 'सन्मतितर्क' की गाथा में 'पुरुष' शब्द का प्रयोग हुआ है, किन्तु व्याख्याकारों ने उसके भिन्न-भिन्न अर्थ ग्रहण किए हैं। सन्मतितर्क के टीकाकार अभयदेवसूरि (१०वीं शती) ने 'पुरुषवाद' अर्थ ग्रहण किया है। वे अपनी

४६० जैनदर्शन में कारण-कार्य व्यवस्था : एक समन्वयात्मक दृष्टिकोण

टीका में एक परम पुरुष से सृष्टि-रचना का प्रतिपादन करने वाले बाद को पुरुषवाद कहकर उसका निरसन करते हैं। यशोविजय ने भी इस अर्थ को सुरक्षित रखा है। जैनाचार्यों ने 'पुरुषवाद' के साथ ईश्वरवाद का भी निरसन किया है।

हरिभद्रसूरि (८वीं शती) ने विंशतिविंशिका ग्रन्थ की बीजविंशिका में 'पुरिस' के स्थान पर 'पुरिसकिरियाओ' शब्द का प्रयोग करके पुरुषकारवाद अर्थात् पुरुषार्थवाद को महत्त्व दिया है, यथा-

तह भव्वत्तं जं कालनियइपुव्वकयपुरिसकिरियाओ।

अकिखवइ तहसहाव ता तदधीणं तयापि भवे।।

हरिभद्रसूरि यहाँ 'पुरुष' का अर्थ 'आत्मा' अंगीकार कर उसके द्वारा की जाने वाली क्रियाओं को 'पुरिसकिरियाओ' कह रहे हैं। इनके अनन्तर शीलांकाचार्य ने सूत्रकृतांग की टीका में 'पुरिस' का अर्थ 'पुरुषकार' किया है जो पुरुष के द्वारा किये जाने वाले उद्यम, उत्थान, पराक्रम आदि का सूचक है। प्रवचनसार की तत्त्वप्रदीपिका टीका में अमृतचन्द्राचार्य ने नय के अन्तर्गत कालस्वभावादि के साथ पुरुषकार नय की गणना की है। आधुनिक व्याख्याकारों में पं. दलसुख मालवणिया ने गणधरवाद की प्रस्तावना में सिद्धसेन के मन्तव्य को प्रस्तुत करते हुए जहाँ काल आदि पाँच वादों का उल्लेख किया है, वहाँ उन्होंने 'पुरिस' का अर्थ पुरुषार्थ किया है। जिनेन्द्रवर्णी को भी पुरुषार्थ अर्थ मान्य है। आचार्य महाप्रज्ञ को पुरुषवाद और पुरुषकार दोनों अर्थ स्वीकार्य हैं।

प्रायः आधुनिक जैनाचार्य एवं विद्वान् पुरुषकार या पुरुषार्थ अर्थ को ही पंच समवाय में समाविष्ट करते हैं, पुरुषवाद अर्थात् सृष्टिकर्ता पुरुष को नहीं।

पुरुषकारणता : पुरुषवाद, ईश्वरवाद एवं पुरुषार्थ के रूप में

सन्मतितर्क के रचयिता सिद्धसेनसूरि ने तो गाथा में 'पुरिस' शब्द दिया है, जो पुरुष की कारणता को प्रकट करता है। पुरुष की कारणता दो प्रकार से हो सकती है-

१. पुरुष (परम पुरुष) को सर्जनकर्ता मानने से।
२. पुरुष (जीवात्मा) को कर्ता मानने से।

अभयदेवसूरि, यशोविजय आदि आचार्यों ने पुरुष की कारणता का सृष्टिकर्ता के रूप में उल्लेख तत्कालीन प्रचलित मान्यता का निरूपण करने की दृष्टि

से किया है, किन्तु जैनाचार्यों को एक पुरुष (परमात्मा) के द्वारा सृष्टि की रचना मान्य नहीं है। वे तो सृष्टि को अनादि अनन्त मानते हैं। कालचक्र से होने वाले परिवर्तन को अवश्य स्वीकार करते हैं। जैनदर्शन में ऐसा कोई परम पुरुष भी नहीं है जो एक ही हो, नित्य हो, सर्वव्यापी हो एवं सृष्टि का कर्ता हो। न्याय, वैशेषिक आदि दार्शनिक ईश्वर को सृष्टिकर्ता मानते हैं। जैन दार्शनिकों ने पुरुषवाद का खण्डन करने के साथ ईश्वरवाद का भी खण्डन किया है। अतः उत्तरवर्ती आचार्यों ने पुरुष अर्थात् आत्मा के द्वारा की जाने वाली क्रियाओं को अर्थात् पुरुषकार को कारण-समवाय में स्थान दिया है।

पंच समवाय में पुरुषकारवाद/पुरुषार्थवाद का औचित्य

जैन दृष्टि से पंच कारण समवाय में 'पुरुषकार' या 'पुरुषार्थ' का समावेश ही समुचित प्रतीत होता है। क्योंकि जैन दर्शन पुरुषार्थवादी दर्शन है। श्रमणसंस्कृति का धर्म होने से इसमें श्रम अथवा पुरुषार्थ को महत्त्व प्राप्त है। 'पुरुषवाद' को जैन दर्शन के पंच कारण समवाय में स्थान देना युक्ति संगत प्रतीत नहीं होता, क्योंकि पुरुषवाद में परम पुरुष से सृष्टि का सर्जन स्वीकार किया गया है अथवा उसके अन्य विकसित रूपों में ब्रह्म या ईश्वर को सृष्टि का कर्ता अंगीकार किया गया है, जो जैन दर्शन के अनुसार मान्य नहीं हो सकता। जैन दर्शन किसी पुरुष, ब्रह्म या ईश्वर को सृष्टिकर्ता नहीं मानता। अतः आधुनिक जैनाचार्य पंच कारण समवाय में काल, स्वभाव, नियति एवं पूर्वकृत कर्म के साथ पुरुषार्थ को स्थान देते हैं। जैनदर्शन आत्मवादी एवं कर्मवादी है, उसमें पुरुषार्थ/श्रम/उद्यम का महत्त्व पूर्णतः निर्विवाद है। यही नहीं, उसमें पुरुषार्थ की प्रधानता भी है। इसलिए पंच कारण समवाय में उसका स्थान होना सर्वथा उपयुक्त है। हाँ, 'पुरुष' शब्द का आत्मा अर्थ ग्रहण करके उसको ही कर्ता-विकर्ता मानते हुए कथंचित् पुरुषवाद नाम स्वीकार किया जा सकता है।

प्रस्तुत अध्याय को दो भागों में विभक्त किया जा रहा है। पूर्वार्द्ध भाग में 'पुरुषवाद' की चर्चा की जाएगी तथा उत्तरार्द्ध भाग में 'पुरुषकार' या 'पुरुषार्थ' पर विचार किया जाएगा।

पुरुषवाद

सन्मतितर्क में 'पुरिसे' (पुरुष) शब्द का प्रयोग होने से इस अध्याय के पूर्वार्द्ध में पुरुषवाद पर चिन्तन अभीष्ट है। प्रसंगतः ब्रह्मवाद एवं ईश्वरवाद पर भी विचार किया जाएगा। 'पुरुषवाद' की अवधारणा ही ब्रह्मवाद एवं ईश्वरवाद के रूप में विकास को प्राप्त हुई है।

पुरुष सूक्त के अन्तर्गत वेदों में पुरुषवाद की चर्चा समुपलब्ध होती है। ऋग्वेद, यजुर्वेद और अथर्ववेद तीनों में पुरुष सूक्त मिलता है। “*यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते*”, “*पूर्णं पुरुषेण सर्वम्*” उपनिषद् वाक्य ब्रह्म और परम पुरुष की कारणता स्थापित करते हैं। पुराण साहित्य में ब्रह्मा, विष्णु और महेश से सृष्टि की उत्पत्ति का वर्णन है। वैदिक साहित्य ही नहीं, अपितु संस्कृत साहित्य भी पुरुषवाद की चर्चा से अछूता नहीं है। रामायण, महाभारत, मनुस्मृति आदि प्रसिद्ध संस्कृत रचनाओं में ब्रह्मा से जगदुत्पत्ति का उल्लेख मिलता है।

जैन दार्शनिकों को पुरुष की कारणता स्वीकार्य नहीं है। अतः मल्लवादी क्षमाश्रमण, अभयदेवसूरि, शीलांकाचार्य, विशेषावश्यकभाष्यकार आदि दिग्गज आचार्यों ने पुरुषवाद का सुन्दर रीति से उपस्थापन कर प्रबल तर्कों से उसका खण्डन प्रस्तुत किया है।

पुरुषवाद का प्रतिपादन

वेद में पुरुषवाद की चर्चा

पुरुषवाद की चर्चा ऋग्वेद, यजुर्वेद और अथर्ववेद तीनों में ‘पुरुष सूक्त’ के रूप में सम्प्राप्त होती है। ऋग्वेद (मण्डल १०) और अथर्ववेद (काण्ड १९) के पुरुषसूक्त में १६-१६ तथा यजुर्वेद (अध्याय ३१) के पुरुषसूक्त में २२ मंत्र हैं। तीनों ही सूक्तों का अभिप्राय समान है। ऋग्वेद के १६ मंत्र तो यजुर्वेद में ज्यों की त्यों प्राप्त होते हैं, ६ मन्त्र नये हैं तथा ऋग्वेद के वे १६ मंत्र अथर्ववेद में मामूली पाठभेद के साथ प्राप्त होते हैं।

सृष्टि रचना हेतु एक ऐसे पुरुष की कल्पना वेद में प्राप्त होती है, जो सहस्र शिरों वाला, सहस्र भुजाओं वाला, सहस्र नेत्रों वाला और सहस्र पैरों वाला है। वह सम्पूर्ण जगत् को व्याप्त किए हुए है।^१ यह सर्वव्यापक पुरुष आहार करने वाले चेतन और अनाहारी जड़ जगत् में विविध प्रकार से व्याप्त है।^२ वेद में इस पुरुष को अत्यधिक महिमाशाली माना गया है। अतः कहा है—

‘पुरुष एवेदं सर्वं यद् भूतं यच्च भाव्यम्।

उतामृतत्वस्येश्वरो यदन्येनाभवत् सह।।’^३

अर्थात् जो कुछ विद्यमान है, जो कुछ उत्पन्न हुआ और उत्पन्न होने वाला है, जो अमरपन अर्थात् मोक्ष सुख और उससे भिन्न दुःख का भी शासक है वह पुरुष ही है।

ऋग्वेद में इस जगत्स्रष्टा पुरुष के मुख से ब्राह्मण को, दोनों भुजाओं से क्षत्रिय को, मध्य के घुटनों तक के भाग से वैश्य को और दोनों पैरों से शूद्रों को उत्पन्न प्रतिपादित किया गया है।^१ ऋग्वेद में यह भी कहा गया है कि मन से चन्द्र लोक और नेत्र से सूर्य मण्डल उत्पन्न हुआ। मुख से बिजली और आग तथा प्राण से पवन उत्पन्न हुई। नाभि से लोकों के बीच का आकाश, शिर से प्रकाशयुक्त लोक और दोनों पैरों से भूमि सम्यक् वर्तमान हुई तथा कान से दिशाओं की उत्पत्ति हुई।^२ इस प्रकार लोकोत्पत्ति की कल्पना करते हुए इस सूक्त में कहा गया है—

‘तस्माद्विराज्जायत विराजो अधि पुरुषः’^३

अर्थात् सृष्टि के आदि में विराट् (विविध पदार्थों से युक्त ब्रह्माण्ड) यथाविधि हुआ और विराट् से पुरुष हुआ। उस पुरुष से घोड़ा खच्चर, गधा आदि तथा दोनों और दाँतों वाले जानवर उत्पन्न हुए। उससे ही गाय, बैल, बकरी, भेड़ आदि उत्पन्न हुए।^४ उसने पशुओं को ही नहीं ग्राम में और जंगल में निवास करने वाले पक्षियों को भी बनाया।^५

पूजनीय उस पुरुष से ऋग्वेद, सामवेद, अथर्ववेद और यजुर्वेद के मन्त्र उत्पन्न हुए। अतः कहा है—

तस्माद् यज्ञात् सर्वहुत ऋचाः सामानि जज्ञिरे।

छन्दो ह जज्ञिरे तस्माद् यजुस्तस्मादजायत।^६

विद्वान् लोगों ने, साधना करने वाले योगियों ने और श्रेष्ठ गुणवालों ने उस परम पुरुष को पुण्य कर्मों से सींचा तथा पूजा।^७

ऋग्वेद के १०वें मण्डल के तृतीय अध्याय में सम्पूर्ण जगत् की सृष्टि ब्रह्मणस्पति से मानी है। कहा है—

ब्रह्मणस्पतिरेता सं कर्मार इवाधमत्।

देवानां पूर्व्ये युगेऽसतः सदजायत।।

अष्टौ पुत्रासो अदितेर्ये जातास्तन्व स्पारि।

देवाँ उ प्रैत्सप्तभिः परा मार्तण्डमास्यत्।।^८

अर्थात् ब्रह्मणस्पति ने वाणी को लुहार के समान ऋषियों में भरा तथा प्रथम युग में अव्यक्त से व्यक्त रूप संसार उत्पन्न किया। इस अव्यक्त प्रकृति के आठ पुत्र

४६४ जैनदर्शन में कारण-कार्य व्यवस्था : एक समन्वयात्मक दृष्टिकोण

हुए जो कि ईश्वर के शरीर से अथवा विस्तृत शक्ति से उत्पन्न हुए। सूर्य को सात पुत्रों से दूर स्थापित किया। इन आठ पुत्रों के संबंध में विशेष विवरण देते हुए दयानन्द सरस्वती ने बताया कि जो ईश्वर की आठ प्रकृतियाँ गीता में कही हैं, यही अदिति के आठ पुत्र हैं।

भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च।

अहंकार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा।।^{१३}

अर्थात् भूमि, जल, वायु, अग्नि, आकाश, मन, बुद्धि और अहंकार ये प्रकृतियाँ हैं। इनमें से आकाश को छोड़कर सभी से यह लोक बना। आकाश कोई ठोस पदार्थ नहीं है, उसमें ये सब स्थापित हुए। इन लोकों में सूर्य मुख्य था।

इस प्रकार वेद में एक पुरुष के द्वारा ही समस्त सृष्टि की रचना स्वीकार की गई है। उस पुरुष को परम शक्तिमान और महान् माना गया है।

उपनिषद् में पुरुषवाद का प्रतिपादन

ऐतरेयोपनिषद्, श्वेताश्वतरोपनिषद्, तैत्तिरीयोपनिषद्, प्रश्नोपनिषद् आदि उपनिषदों में पुरुषवाद का वर्णन समुपलब्ध होता है। परमात्मा के संकल्प से सृष्टि की रचना को स्वीकार करते हुए ऐतरेयोपनिषद् में कहा है—

ऊँ आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत्। नान्यत्किंचन मिणत्।

स ईक्षत लोकान्नु सृजा इति।।^{१४}

अभिप्राय यह है कि जड़-चेतनमय जगत् के प्रत्यक्ष रूप में प्रकट होने से पहले कारण-अवस्था में एकमात्र परमात्मा ही थे। उस समय उनमें भिन्न-भिन्न नाम रूपों की अभिव्यक्ति नहीं थी। उस सृष्टि के आदिकाल में परम पुरुष परमात्मा ने यह विचार किया कि 'मैं प्राणियों के कर्मफल भोगार्थ भिन्न-भिन्न लोकों की रचना करूँ। यह विचार करके परब्रह्म परमेश्वर ने अम्भ, मरीचि, मर और जल- इन लोकों की रचना की। यहाँ ह्यलोक 'अम्भ' नाम से, अन्तरिक्ष 'मरीचि' नाम से, पृथ्वी 'मर' नाम से तथा पाताल लोक 'जल' नाम से कहा गया है।^{१५} उसके बाद उन्होंने लोक पालनार्थ जल से हिरण्यगर्भ पुरुष को निकालकर उसे मूर्तिमान किया।^{१६}

परमात्मा ने उसको लक्ष्य करके संकल्प रूप तप किया। उस तप से तपे हुए हिरण्यगर्भ के शरीर से अण्डे की तरह मुखछिद्र प्रकट हुआ। मुख से वाक् इन्द्रिय और वाक् इन्द्रिय से अग्नि देवता प्रकट हुए। नासिका के छिद्रों से प्राण और प्राण से वायु

देवता उत्पन्न हुआ। दोनों आँखों से चक्षुरिन्द्रिय और चक्षुरिन्द्रिय से सूर्य प्रकट हुआ। दोनों कानों से श्रोत्रेन्द्रिय और श्रोत्रेन्द्रिय से दिशाएँ पैदा हुई। त्वचा से रोम और रोम से औषधि और वनस्पतियाँ प्रकट हुई। हृदय से मन का आविर्भाव हुआ और मन से चन्द्रमा, नाभि से अपान वायु और अपान वायु से मृत्यु देवता उत्पन्न हुआ। उसके बाद लिंग प्रकट हुआ और लिंग से वीर्य, वीर्य से जल उत्पन्न हुआ।^{१६} इस प्रकार सम्पूर्ण सृष्टि का निर्माण हुआ।

तैत्तिरीयोपनिषद् की ब्रह्मानन्द वल्ली में जगदुत्पत्ति ब्रह्म से मानी है। वहाँ ब्रह्म का स्वरूप 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म'^{१७} अर्थात् सत्य, अनन्तज्ञानरूप बताया गया है। उस परमात्मा से आकाश, आकाश से वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से जल और जल से पृथ्वीतत्त्व उत्पन्न हुआ। पृथ्वी से समस्त औषधियाँ और औषधियों से अन्न की उत्पत्ति हुई। अन्न से यह मनुष्य शरीर बना।^{१८} इस संदर्भ में छान्दोग्योपनिषद् की उक्ति 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलानिति' सत्य ही प्रतीत होती है कि यह सारा जगत् निश्चय ब्रह्म ही है, यह उसी से उत्पन्न होने वाला, उसी में लीन होने वाला और उसी में चेष्टा करने वाला है।^{१९} यह ब्रह्मा विश्व का कर्ता होने के साथ विश्व का रक्षक भी है।^{२०}

प्रश्नोपनिषद् में प्रजापति को सृष्टि का सर्जक स्वीकार किया गया है। वहाँ महर्षि कहते हैं कि निश्चय ही प्रजा उत्पन्न करने की इच्छा वाला प्रजापति है। जिसने तप करके (रवि) चन्द्रमा और सूर्य (प्राण) का जोड़ा इस उद्देश्य से उत्पन्न किया कि वे नाना प्रकार की प्रजाओं को उत्पन्न करेंगे।^{२१}

पुरुषवाद के संबंध में अन्य उक्तियाँ भी प्रसिद्ध हैं। वे निम्न हैं-

१. यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति।

यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति। तद्विजिज्ञास्व। तद् ब्रह्मेति।

-तैत्तिरीयोपनिषद् ब्रह्मवल्ली, अनुवाक १

अर्थात् ये सब प्रत्यक्ष दिखने वाले प्राणी जिससे उत्पन्न होते हैं, उत्पन्न होकर जिसके सहारे जीवित रहते हैं, प्रयाण करते हुए जिसमें प्रवेश करते हैं, उसको तत्त्व से जानने की इच्छा कर, वही ब्रह्म है।

२. (क) कालः स्वभावो नियतिर्यद्वृच्छा भूतानि योनिः पुरुष इति चिन्त्या

-श्वेताश्वतरोपनिषद् १.२

४६६ जैनदर्शन में कारण-कार्य व्यवस्था : एक समन्वयात्मक दृष्टिकोण

काल, स्वभाव, नियति, यदृच्छा और भूतों को सृष्टि में कारण मानने वालों के अतिरिक्त कुछ ऐसे भी विद्वान् हैं जो पुरुष को जगदुत्पत्ति में कारण मानते हैं।

(ख) यस्मात्परं नापरमस्ति किञ्चिद्वास्मान्नाणीयो न ज्यायोऽस्ति कश्चित्।

वृक्ष इव स्तब्धो दिवि तिष्ठत्येकस्तेनेदं पूर्णं पुरुषेण सर्वम्॥

—श्वेताश्वतरोपनिषद् ३.९

जिससे श्रेष्ठ दूसरा कुछ भी नहीं है, जिससे अधिक कोई भी न तो सूक्ष्म है, न महान् ही है। जो अकेला ही वृक्ष की भाँति निश्चल भाव से प्रकाशमय आकाश में स्थित है। उस परमपुरुष पुरुषोत्तम से यह सम्पूर्ण जगत् परिपूर्ण है।

३. देवस्यैष महिमा तु लोके येनेदं धाम्यते ब्रह्मचक्रम्। —श्वेताश्वतरोपनिषद् ६.१

अर्थात् यह परमदेव परमेश्वर की समस्त जगत् में फैली हुई महिमा है, जिसके द्वारा यह ब्रह्मचक्र घुमाया जाता है।

इस प्रकार उपनिषद् वाङ्मय में जगदुत्पत्ति में परम पुरुष की कारणता प्रतिपादित है।

पुराणों में पुरुषवाद पर विचार

वेद में केवल जगत् की उत्पत्ति का वर्णन है जबकि पुराण में उत्पत्ति के साथ प्रलय का भी वर्णन प्राप्त होता है। पुराणों में कई पुराण रजोगुण प्रधान हैं, कई तमोगुण प्रधान हैं और कई सत्त्वगुण प्रधान हैं। रजोगुण प्रधान पुराणों ने ब्रह्मा की महिमा गाई है, तमोगुण प्रधान पुराणों ने महेश्वर-शिव की महिमा बताई है और सत्त्वगुण प्रधान पुराणों ने विष्णु की महिमा प्रदर्शित की है।^{१३} वस्तुतः इन तीनों देवों का आविर्भाव एक ब्रह्मस्रोत से ही होता है। हरिवंश पुराण, देवी भागवत पुराण, ब्रह्मवैवर्त पुराण, मार्कण्डेय पुराण में सृष्टि रचना का वर्णन प्राप्त होता है।

हरिवंश पुराण में विश्वोत्पत्ति— भगवान् नारायण ने ब्रह्म से उत्पन्न होने के कारण अपने योगमय ज्ञान स्वभाव से सनातन दिव्य पुरुष का सर्जन किया। उस सनातन पुरुष का द्रव भाग जल, स्थूल भाग पृथ्वी, पोला भाग आकाश, ज्योति भाग नेत्र और शरीर का स्पन्दन ही वायु था। इस प्रकार इन पाँचों के संघात से ज्योति की उत्पत्ति हुई तथा उस अव्यक्त पुरुष से पाँच भौतिक पुरुष अर्थात् विश्व की उत्पत्ति हुई।^{१३}

देवी भागवत पुराण में सृष्टि की रचना— देवी भागवत पुराण में सर्ग और प्रलय का वर्णन करते हुए ब्रह्म को स्रष्टा के रूप में इस प्रकार कहा है—

एकमेवाद्वितीयं वै ब्रह्म नित्यं सनातनम्।

द्वैतभावं पुनर्याति उत्पत्तिसृजके।।^{३४}

एकमात्र ब्रह्म ही अद्वितीय है। वही नित्य और सनातन है, परन्तु जब वह विश्व की रचना में तत्पर होता है तब वह अनेक रूप हो जाता है। जैसे किसी उपाधि के कारण दीपक एक से अनेक रूप हो जाता है या दर्पण में प्रतिबिम्ब दिखाई देने पर एक का अनेकत्व प्रतीत होता है, ठीक वैसे ही जगत् और ब्रह्मा में अनेकत्व की प्रतीति होती है। सृष्टिकाल में ब्रह्मा से सर्जन के लिए ही भेद होता है और सृष्टि का अन्त होने पर किसी प्रकार का भेद नहीं रह पाता।^{३५}

ब्रह्म-वैवर्त पुराण में जगदुत्पत्ति- एकाकी और असहाय प्रभु ने गोलोक और जीव जगत् को जीव रहित, जल रहित, वायु रहित, प्रकाश रहित अंधकार से व्याप्त, घोर, भयंकर और शून्य रूप देखकर मन से विचार किया कि सृष्टि की रचना करूँ। ऐसा विचार करके स्वतन्त्र प्रभु ने अपनी इच्छा से सृष्टि की रचना प्रारम्भ की।^{३६} यथा-

आविर्बभूवुः सर्गादौ, पुंसो दक्षिणपार्श्वतः।

भवकारणरूपाश्च, मूर्तिमन्तस्त्रयो गुणाः।।^{३७}

सर्ग की आदि में प्रभु के दक्षिण पार्श्व से संसार के कारणभूत सत्त्व, रज और तम ये तीनों गुण साक्षात् मूर्तिमन्त रूप में प्रकट हुए। इनसे महान्, अहंकार और रूप रसादि पंच तन्त्र मात्राएँ प्रकट हुईं। इस प्रकार जगदुत्पत्ति हुई।

मार्कण्डेय पुराण में ९ सर्ग- मार्कण्डेय पुराण के ४४वें अध्याय में सर्ग के नौ प्रकार बताये गये हैं। उनको संक्षेप में यहाँ उद्धृत किया जा रहा है-

पहला महत् सर्ग है, जिसमें महत्तत्त्व की उत्पत्ति होती है। दूसरा भूत सर्ग है, जिसमें पाँच तन्मात्राएँ और पाँच भूतों की उत्पत्ति होती है। तीसरा वैकारिक सर्ग है, जिसमें पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ और मन- इस एकादश गण की उत्पत्ति होती है। ये तीनों सर्ग प्राकृत सर्ग कहलाते हैं।^{३८}

चौथा मुख्य सर्ग है जिसमें स्थावर की उत्पत्ति होती है। पाँचवाँ तिर्यक् स्रोत सर्ग कहलाता है जिसमें पशुपक्षी आदि तिर्यचों की उत्पत्ति मानी गई है। छठा ऊर्ध्वस्रोत सर्ग है जिसमें देवों की उत्पत्ति मान्य है। सातवाँ अर्वाक् स्रोतसर्ग है, जिसमें

४६८ जैनदर्शन में कारण-कार्य व्यवस्था : एक समन्वयात्मक दृष्टिकोण

मनुष्यगण की उत्पत्ति स्वीकृत है। आठवाँ अनुग्रह सर्ग है, जिसमें ऐसे महर्षियों की उत्पत्ति होती है जिनके अनुग्रह से दूसरों का कल्याण होता है। ये चौथे से आठवें तक के पाँच सर्ग वैकृत कहलाते हैं। नवम कौमार सर्ग है, जिसमें प्राकृत और वैकृत दोनों का मिश्रण होता है।^{२९}

महाभारत और गीता में पुरुषवाद

महाभारत में भी पुरुषवाद के बीज उपलब्ध हैं। यहाँ शान्ति पर्व में परमात्मा से सृष्टि की रचना के रूप में पुरुषवाद का अस्तित्व मिलता है। वहाँ मनु के द्वारा परमात्मा से सृष्टि की उत्पत्ति बताई गई है, यथा-

अक्षरात् खं ततो वायुस्ततो ज्योतिस्ततो जलम्।

जलात् प्रसूता जगती जगत्यां जायते जगत्।^{३०}

मनु कहते हैं- “बृहस्पते! अविनाशी परमात्मा से आकाश, आकाश से वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से जल और जल से यह पृथ्वी उत्पन्न हुई है। इस पृथ्वी में ही सम्पूर्ण पार्थिव जगत् की उत्पत्ति होती है। यह परमात्मा ही परम कारण है और इसके सिवाय जो कुछ है, सब कार्यमात्र है।”^{३१}

परमात्मा का स्वरूप बताते हुए कहते हैं कि यह परमात्म तत्त्व न गर्म है न शीतल, न कोमल है न तीक्ष्ण, न खट्टा है न कसैला, न मीठा है न तीखा है और शब्द, गन्ध एवं रूप से भी रहित है। उसका स्वरूप सबसे उत्कृष्ट एवं विलक्षण है।^{३२} परमात्मा व्यापक, व्याप्य और उनका साधन है तथा सम्पूर्ण लोक में सदा ही स्थित रहने वाला कूटस्थ, सबका कारण और स्वयं ही सब कुछ करने वाला है।^{३३}

इसी शान्ति पर्व में मधुसूदन द्वारा सृष्टि की रचना का भी उल्लेख हुआ है। वहाँ कहा गया है कि महाप्राज्ञ पितामह, कमलनयन के धारक भगवान् श्री कृष्ण अपनी महिमा से कभी च्युत न होने वाले, सबके कर्ता, अकृत, सर्वव्यापी तथा सम्पूर्ण भूतों की उत्पत्ति और प्रलय के स्थान हैं।^{३४} उन्होंने पंच महाभूतों की रचना की। जैसा कि कहा है-

महाभूतानि भूतात्मा महात्मा पुरुषोत्तमः।

वायुर्ज्योतिस्तथा चापः खं च गां चान्वकल्पयत्।^{३५}

श्रीकृष्ण ही भूत और भविष्य के आधार हैं। उनके संकर्षण का प्रादुर्भाव होने के पश्चात् श्री हरि की नाभि से एक दिव्य कमल प्रकट हुआ, जो सूर्य के समान

प्रकाशमान था। फिर उस कमल से सम्पूर्ण दिशाओं को प्रकाशित करते हुए समस्त प्राणियों के पितामह देवस्वरूप भगवान् ब्रह्मा उत्पन्न हुए।^{३६}

मधुसूदन ने दिन-रात, ऋतु के अनुसार काल, पूर्वाह्न तथा अपराह्न आदि समस्त कालविभाग की व्यवस्था की। फिर ब्राह्मण को मुख से, क्षत्रिय को भुजाओं से, वैश्यों को जाँघों से और शूद्रों को पैरों से भगवान् ने उत्पन्न किया।^{३७}

प्रथ्याद्य सोऽसृजन्मेघास्तथा स्थावरजङ्गमान्।

पृथिवी सोऽसृजद् विश्वां सहितां भूरितेजसा।।^{३८}

उन्होंने ही अपने मन के संकल्प से मेघों, स्थावर, जंगम प्राणियों तथा समस्त पदार्थों सहित महान् तेज से संयुक्त समूची पृथ्वी की सृष्टि की।

इस प्रकार भगवान् श्री कृष्ण को सृष्टिकर्ता, संहारकर्ता तथा समस्त कारणों का कारण मानते हुए महाभारत में कहा है- 'एष कर्ता विकर्ता च सर्वकारणकारणम्।' ^{३९}

श्रीमद् भगवद् गीता में भी श्रीकृष्ण अर्जुन को कहते हैं- 'बीज मां सर्वभूतानां विद्धि पार्थ सनातनम्'^{४०} हे अर्जुन! समस्त प्राणियों का सनातन बीज तू मुझको जान। सबकी गति, भर्ता, प्रभु साक्षी, निवास, शरण, सुहृद्, उत्पत्ति और प्रलय का स्थान, निधान और अविनाशी बीज मैं ही हूँ।^{४१}

रामायण में पुरुषवाद

रामायण में महर्षि वशिष्ठ लोक की उत्पत्ति का वृत्तान्त सुनाते हुए कहते हैं-

सर्वं सलिलमेवासीत् पृथिवी तत्र निर्मिता।

ततः समभवद् ब्रह्मा स्वयंभूदैवतैः सह।।

स वराहस्ततो भूत्वा प्रोज्जहार वसुंधराम्।

असृजच्च जगत् सर्वं सह पुत्रैः कृतात्मभिः।।^{४२}

सृष्टि के प्रारम्भकाल में सब कुछ जलमय ही था। उस जल के भीतर ही पृथ्वी का निर्माण हुआ। तदनन्तर देवताओं के साथ स्वयंभू ब्रह्मा प्रकट हुए। इसके बाद उन भगवान् विष्णुस्वरूप ब्रह्मा ने ही वराह रूप से प्रकट होकर जल के भीतर से इस पृथ्वी को निकाला और अपने कृतात्मा पुत्रों के साथ इस सम्पूर्ण जगत् की सृष्टि की।

मनुस्मृति में सृष्टि-रचना

मनु के समक्ष मुनियों द्वारा की गई जिज्ञासा के प्रत्युत्तर में सृष्टि-निर्माण तथा उसके पूर्व की स्थिति का वर्णन 'मनुस्मृति' में उपलब्ध होता है। सृष्टि के पूर्व की स्थिति का वर्णन निम्नश्लोक में दृष्टिगोचर होता है-

आसीदिदं तमोभूतमप्रज्ञातमलक्षणम्।

अप्रतर्क्यमविज्ञेयं प्रसुप्तमिव सर्वतः॥^{४३}

अर्थात् यह संसार पहले अन्धकार रूप, किसी प्रकार के ज्ञान से रहित, ज्ञान कराने वाले चिह्नों से हीन, तर्क के परे, अविज्ञेय तथा सभी ओर से सोते हुए के समान था।

इस प्रलयकाल के समाप्त होने के पश्चात् भगवान् स्वयंभू परमात्मा ने अव्यक्त रहकर पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश इन पाँच महाभूत और इनके कारण रूप शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध तथा महत् तत्त्व को प्रकट कर सृष्टि को उत्पन्न करने वाली शक्ति को बढ़ाया। तदनन्तर महाप्रलय की अवस्था के नाशक रूप से वे स्वयं प्रकट हुए।^{४४} वह परमात्मा इन्द्रियों से अगोचर, सूक्ष्म, अव्यक्त, सनातन, सभी प्राणियों में व्याप्त तथा अचिन्त्य था। ऐसे सर्वव्यापक परमात्मा ने ध्यान करके अपने शरीर से विभिन्न प्रकार की प्रजाओं की सृष्टि की इच्छा से प्रारम्भ में जल को उत्पन्न किया और उसमें बीज डाला।^{४५} वह बीज सूर्य के समान प्रकाश वाला स्वर्ण का अण्डा जैसा हो गया। तत्पश्चात् उसमें सभी लोकों के पितामह (जनक) ब्रह्माजी स्वयं उत्पन्न हुए तथा उन्होंने उस अण्डे में एक वर्ष तक निवास करके उसके दो भाग किए। फिर भगवान् ने दो टुकड़ों में ऊपर के टुकड़े से स्वर्ग और नीचे के टुकड़े से भूमि को रचा।^{४६} आत्मा से सद्-असद् भाव वाले मन को तथा मन से अहंकार को निर्मित किया। इसके बाद अपने से ही महत्-तत्त्व, तीनों गुण (सत्त्वगुण, रजोगुण और तमोगुण) और विषयों को ग्रहण करने वाली पाँचों इन्द्रियों को बनाया। तदनन्तर परमात्मा ने शक्तिशाली छः तत्त्वों (अहंकार तथा पंच तन्मात्रा) के सूक्ष्म अवयवों को अपने विकार के साथ (इन्द्रियों और पंच महाभूतों के साथ) इकट्ठा कर देव, मनुष्य, पशु, पक्षी आदि प्राणियों को रचा।^{४७} इस प्रकार ब्रह्म से सृष्टि की रचना हुई।

जैनग्रन्थों में पुरुषवाद का निरूपण एवं निरसन

सूत्रकृतांगसूत्र में सृष्टिरचना विषयक विभिन्न मत

आगमकाल में प्रचलित लोकरचना के संबंध में अनेक मत जैनागम सूत्रकृतांग में प्राप्त होते हैं। उस समय कुछ मतावलम्बी किसी विशिष्ट पुरुष से

जगदुत्पत्ति स्वीकार करने के कारण पुरुषवादी के रूप में जाने जाते थे। देव, ब्रह्म, ईश्वर और स्वयंभू (विष्णु) द्वारा सृष्टि का निर्माण मानने वाले देववादी, ब्रह्मवादी, ईश्वरवादी कहलाते थे। उनके मन्तव्य इस प्रकार हैं-

देवकृत लोक- 'देवउत्ते अयं लोए'^{४०} अर्थात् देव के द्वारा यह लोक बीज की तरह बोया गया। जैसे किसान बीज बोकर धान्य उत्पन्न करता है इसी तरह किसी देवता ने इस लोक को उत्पन्न किया है। वह इस लोक की रक्षा करता है। देववादी मानते हैं कि यह लोक किसी देवता का पुत्र है इत्यादि।^{४१}

ब्रह्मरचित लोक- 'बंभउत्तेति आवरे'^{४२} यह लोक ब्रह्म के द्वारा बनाया गया है। ब्रह्मवाद के संबंध में दो विचारधाराएँ प्रचलित हैं। प्रथम विचारधारा के अनुसार "ब्रह्म जगत् के पितामह हैं। वे जगत् के आदि में एक ही थे। उन्होंने प्रजापतियों को बनाया और प्रजापतियों ने क्रमशः इस सम्पूर्ण जगत् को उत्पन्न किया।"^{४३}

द्वितीय विचारधारा में यह चराचर जगत् अण्डे से उत्पन्न हुआ है। वे कहते हैं कि जिस समय इस जगत् में कुछ भी नहीं था, किन्तु यह संसार पदार्थ से शून्य था, उस समय ब्रह्मा ने जल में एक अण्डा उत्पन्न किया। वह अण्डा क्रमशः बढ़ता हुआ जब दो खण्डों में फट गया तब उससे ऊपर और नीचे के दो विभाग उत्पन्न हुए। उन दोनों विभागों में सब प्रजाएँ हुई। इसी तरह पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश, समुद्र, नदी और पर्वत आदि की उत्पत्ति हुई। ब्रह्मवादी कहते हैं कि सृष्टि के पहले यह जगत् अन्धकार रूप, अज्ञात और लक्षण रहित था। उस समय यह जगत् तर्क का अविषय तथा अज्ञेय और चारों तरफ से सोया हुआ सा था। ऐसी अवस्था में ब्रह्मा ने अण्डा आदि के क्रम से इस समस्त जगत् को बनाया।^{४४}

ईश्वरकृत लोक- "ईसरेण कडे लोए जीवाजीवसमाउत्ते सुहदुक्खस-मन्निए"^{४५} जीव और अजीव से युक्त सुख और दुःख सहित यह लोक ईश्वरकृत है, ऐसा ईश्वरवादी मानते हैं। गोम्मटसार में ईश्वरवादियों के मन्तव्य को स्पष्ट करते हुए कहते हैं- "अण्णाणी हु अणीसो अप्पा तस्स य सुहं च दुक्खं च सगं गिरयं गमणं सव्वं ईसरकयं होदि"^{४६} आत्मा अज्ञानी है, असमर्थ है कुछ करने में समर्थ नहीं है। उसका सुख, दुःख, स्वर्ग या नरक में जाना सब ईश्वर के अधीन है। अतः समस्त जगत् का कर्ता साधारण पुरुष न होकर ईश्वर ही हो सकता है।

स्वयंभूविरचित सृष्टि-

सयंभुणा कडे लोए इति वुत्तं महेसिणा।

मारेण संथुया माया तेण लोए असासए।^{५५}

अर्थात् कोई अन्यतीर्थी कहते हैं कि स्वयंभू अर्थात् विष्णु ने इस लोक को रचा है, यह हमारे महर्षि ने कहा है। यमराज ने माया बनाई है इसलिए यह लोक अनित्य है। विष्णु पहले एक ही थे और अकेले ही रमण करते थे। उन्होंने दूसरे की इच्छा की। उनके चिन्तन से दूसरी शक्ति उत्पन्न हुई और वह शक्ति होने के बाद ही इस जगत् की सृष्टि हुई। वे कहते हैं कि उस स्वयंभू ने लोक को उत्पन्न कर अत्यन्त भार के भय से जगत् को मारने वाले यमराज को बनाया और उस यमराज ने माया बनाई। उस माया से लोग मरते हैं। वस्तुतः उपयोग रूप जीव का विनाश नहीं होता है। इसलिए 'यह मर गया' यह बात माया ही है, परमार्थतः सत्य नहीं है। इस प्रकार यह लोक अशाश्वत-अनित्य अर्थात् विनाशी है, यह प्रतीत होता है।^{५६}

द्वादशारनयचक्र में पुरुषवाद का निरूपण

मल्लवादी क्षमाश्रमण (५वीं शती) विरचित द्वादशारनयचक्र में प्राचीन मतों का संक्षिप्त विवेचन प्राप्त होता है। पुरुषवाद के संदर्भ में भी इस ग्रन्थ में चर्चा है। इसमें पुरुष को चेतन आत्मा के रूप में प्रतिपादित करते हुए उसे समस्त सूक्ष्म और स्थूल जगत् का कारण स्वीकार किया गया है। यही नहीं बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा आदि सूक्ष्म जगत् और रूप, रस आदि स्थूल जगत् की अभिव्यक्ति पुरुष से स्वीकार की गई है। चेतन पुरुष ही सूक्ष्म-स्थूल जगत् के रूप में अभिव्यक्त होता है, इसलिए पुरुष ही सर्वात्मक है। इस ग्रन्थ में पुरुष की दूसरी विशेषता यह निरूपित की गई है कि वह ज्ञान लक्षण वाला है। जब ज्ञानस्वरूप पुरुष सर्वात्मक है तो वह सर्वज्ञ भी है। इस तरह पुरुष की सर्वज्ञता का भी द्वादशारनयचक्र में निरूपण हुआ है। पुरुष की इस ग्रन्थ में चार अवस्थाएँ बताई गई हैं- जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति और तूर्य। ये सभी अवस्थाएँ न्यूनाधिक रूप में ज्ञानमय हैं। पुरुषवाद के एवंविध स्वरूप का विवेचन अन्यत्र दुर्लभ है। यहाँ द्वादशारनयचक्र ग्रन्थ के आधार पर इन बिन्दुओं का कुछ विवेचन प्रस्तुत है-

ज्ञानस्वरूप होने के कारण पुरुष ज्ञाता होता है। यह समस्त जगत् पुरुषमय है। पुरुष के एक होने से सबका (देव, मनुष्य, तिर्यच, नरक, पृथ्वी, घट आदि का) ऐक्य है। सबके एक होने से जगत् और पुरुष एक ही है।^{५७} वही विभिन्न रूपों में

प्रकट होता है, इसलिए वह भाव है- 'भवतीति भावः' आगे प्रश्नोत्तर शैली में कहा गया है-

'को भवति' -कौन होता है?

'यः कर्ता' -जो कर्ता होता है।

'कः कर्ता' -कर्ता कौन होता है?

'यः स्वतन्त्रः' - जो स्वतन्त्र होता है।

'कः स्वतन्त्रः' - स्वतन्त्र कौन होता है?

'यो ज्ञः' - जो ज्ञाता होता है।

उपर्युक्त प्रश्नोत्तरों का सार यही है कि पुरुष ही कर्ता है। क्योंकि वह स्वतंत्र है और वह स्वतंत्र इसलिए है क्योंकि वह ज्ञाता है।

शंका- दूध ज्ञाता नहीं है फिर भी दही का कर्ता होता है। इक्षुरस ज्ञाता नहीं है, फिर भी गुड़ का कर्ता है। इसलिए ज्ञाता ही कर्ता होता हो, यह आवश्यक नहीं है।^{६८}

समाधान- "न, तत्प्रवृत्तिशेषत्वाद् गोप्रवृत्तिशेषक्षीरदधित्ववत्, जशेषत्वाद्वा चक्रभ्रान्तिवत्"^{६९} अर्थात् उपर्युक्त शंका उचित नहीं है, क्योंकि उस प्रवर्तमान ज्ञाता की प्रवृत्ति परिसमाप्त नहीं होने के कारण आगे भी शेष रहती है। जिस प्रकार गाय की प्रवृत्ति के परिसमाप्त नहीं होने के कारण दूध, दही, नवनीत, घृत आदि उसी की प्रवृत्ति के शेष कार्य हैं। उसी प्रकार पुरुष की प्रवृत्ति का शेष यह जगत् है। इसके लिए चक्रभ्रमण का दृष्टान्त दिया गया है। जिस प्रकार कुम्भकार के प्रयत्न से भ्रमणशील चक्र में कुम्भकार की प्रवृत्ति का शेष पाया जाता है, उसी प्रकार पुरुष की प्रवृत्ति का शेष यह जगत् है।

रूपादि के सदृश अमूर्त पुरुष से मूर्त की उत्पत्ति- जिस प्रकार रूप, रस, गंध, स्पर्श एवं शब्द अमूर्त होने के कारण सूक्ष्मवृत्ति को नहीं त्यागते हुए भी अपनी प्रवृत्ति के प्रभाव से अवबद्ध मूर्तत्व के प्रक्रम वाले परमाणुओं का आश्रय लेकर नाना भेदों से युक्त पृथ्वी आदि स्थूल रूपादि को उत्पन्न करते हैं। इसी प्रकार पुरुष से भी रूपादि भाव प्राप्त होते हैं। वह पुरुष स्वरूप आत्मा ही अमूर्त, सूक्ष्म रूपादि स्वरूप से तथा स्थूल मूर्त परमाणु द्विप्रदेश आदि स्कन्ध, पृथ्वी आदि स्वरूप से विभक्त होता है।^{७०}

ज्ञानस्वरूप आत्मा ही ग्राह्य और ग्राहक- ज्ञान स्वरूप आत्मा है। वही रूपादि स्वरूप से निरूपित किया जाता है। इसमें वह पुरुष परम कारण है। 'रूप' शब्द

का अर्थ ज्ञान भी है- *तद्वि रूपणं रूपं ज्ञानमेव।* वह ज्ञान ही रूप, रस, गंध, शब्द, स्पर्श आदि की दृष्टि से अलग-अलग को ग्रहण करता है तथा अविभक्त रूप में भी ग्रहण करता है।^{६१}

एक ही चैतन्य रूपादि में विभक्त होकर भी अविभक्त है, क्योंकि वह वैसा ही अनुभव में आता है। चैतन्य से भिन्न अर्थ की अनुपपत्ति होने के कारण ज्ञान स्वरूप आत्मा ही ग्राह्य और ग्राहक होता है।^{६२} जिस प्रकार शरीरादि को और बाह्य अर्थों को न्याय-वैशेषिक मत से जानता हुआ भी जीव स्वयं को जानने में अन्य प्रमाण की अपेक्षा नहीं रखता, इसी प्रकार रूपादि भेद से और ज्ञान-सुखादि के भेद से एक ही आत्मा विपरिवर्तमान होता है।^{६३}

पुरुष की सर्वात्मकता से सर्वज्ञता की सिद्धि-बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष आदि तथा काल, आकाश, दिक्, आत्मा आदि अमूर्त-सूक्ष्म हैं और रूपादि स्थूल हैं। इन बुद्धि आदि सूक्ष्म और रूपादि स्थूलों का अपरिदृष्ट (अदृश्य) पुरुष में समावेश हो जाता है।^{६४} जिस प्रकार दूध धेनु में अत्यन्त अपरिदृष्ट है, फिर भी धेनु से उसकी अभिव्यक्ति होती है, उसी प्रकार समस्त अपरिदृष्ट चेतन-अचेतन जगत् की व्यवस्था चेतन आत्मा पुरुष में एक साथ होती है।^{६५}

इस प्रकार सबके पुरुषात्मक हो जाने के कारण पुरुष में सहज ही सर्वज्ञता सिद्ध होती है।^{६६}

पुरुष की चार अवस्थाएँ- पुरुष की चार अवस्थाएँ हैं- १. जाग्रत २. सुप्त ३. सुषुप्त ४. तूर्य। इन अवस्थाओं में तूर्य अवस्था विशुद्ध है। इन चारों अवस्थाओं को सुख, दुःख, मोह और विशुद्धि की अवस्था भी कहा गया है। इन्हें सत्त्व, रज, तम और विमुक्ति नाम भी दिया गया है। ऊर्ध्वलोक, तिर्यक् लोक, अधोलोक और अविभाग अथवा संज्ञी, असंज्ञी, चेतन और भाव भी कहा गया है।^{६७} इनमें सर्वज्ञता तूर्य अवस्था में पाई जाती है। उसी को परमात्मा भी कहते हैं।^{६८}

महामोह और निद्रा के क्षय से उपशम शक्ति से निवृत्ति और उपकरण इन्द्रिय के द्वारा प्रत्यक्षादि से जब ज्ञान होता है तब वह चैतन्य की जाग्रत अवस्था है।^{६९} सुप्तावस्था भी ज्ञानस्वरूप ही होती है। क्योंकि उसमें संशय, विपर्यय आदि भी ज्ञान स्वरूप ही हैं। जिस प्रकार सोया हुआ व्यक्ति उच्छ्वास एवं निःश्वास आदि क्रियाओं में अव्यक्त रूप में चेतना युक्त होकर जानता है। इसी प्रकार सुप्तावस्था वाला पुरुष भी ज्ञानवान होता है।^{७०}

सुषुप्त अवस्था में आत्मा रागादि से युक्त होकर अपने आपको बंधन में डालकर पराधीन बना देता है। कर्म-बंधन से अनादि-अनन्त रूपादि स्वरूप को प्राप्त कर लेता है।^{११} यह अवस्था भी ज्ञानात्मक है, क्योंकि ज्ञाता के होने पर ही देश काल आदि से वस्तु का होना सिद्ध होता है अन्यथा घट आदि का प्रत्यक्ष होना सिद्ध नहीं होता है।^{१२}

विज्ञानरूप जगत् पुरुषमय- रूपादि के भेद से पदार्थों के भेद का विधान करने पर भी वस्तुतः विज्ञान मात्र ही व्यवस्थापित होता है।^{१३} इसलिए सर्वत्र आत्मा, बुद्धि, इन्द्रिय, प्रकाश, रूप, घट, औषध, आहार आदि में ज्ञानवृत्ति का ही अस्तित्व है।^{१४} जैसा कि कहा है-

पुरुष एवेदं सर्वं यद् भूतं यच्च भाव्यम्।

उतामृतत्वस्येशानो यदन्नेनातिरोहति।।^{१५}

-शुक्लयजुर्वेद ३१.२

यह सब पुरुष ही है। जो अब तक हुआ और जो होगा वह भी पुरुष ही है। अथवा अमृतत्व का स्वामी यह पुरुष अन्न के द्वारा अपना स्वरूप प्रकट करता है। टीकाकार सिंहसूरि (सातवीं शती का पूर्वार्द्ध) ने इस मंत्र का अर्थ स्पष्ट करते हुए कहा है-

इदम्- दृश्य स्पृश्य आदि इन्द्रिय गोचर अथवा अनुमानगम्य पदार्थ

सर्व- अशेष या समस्त

भूतं- वर्तमान और अतीत का वाचक

भाव्यं- भविष्य

अमृतत्वं-अक्षयता का

ईशानः- प्रभविता ज्ञान के अविनाशी होने से वह पुरुष अक्षयता का अनुभव करता है।

अन्नेन- जिसे खाया जाता है, वह अन्न है।

अतिरोहति- बढ़ता है।

इस प्रकार मल्लवादी क्षमाश्रमण ने द्वादशारण्यचक्र में पुरुषवाद का सम्यक् एवं व्यवस्थित निरूपण किया है।

मल्लवादी क्षमाश्रमण के द्वारा पुरुषवाद का निरसन

द्वादशारनयचक्रकार मल्लवादी क्षमाश्रमण (५वीं शती) ने पुरुषवाद का प्रमाणोपेत खण्डन किया है। उन्होंने पुरुष की अद्वैतता, सर्वगतता, सर्वज्ञता, सर्वात्मकता आदि का जो निरसन किया है, उसे यहाँ संक्षेप में प्रस्तुत किया जा रहा है।

पुरुष की चार अवस्थाओं का निरसन- पूर्व में पुरुष की जो जाग्रत, सुप्त, सुषुप्त, तूर्य नामक चार अवस्थाएँ निरूपित की गई हैं, उसमें पुरुष तत्त्व इन चार अवस्थाओं के लक्षण वाला है अथवा ये चार अवस्थाएँ पुरुषादि के लक्षण वाली है? यदि अवस्थाएँ स्वयं ही पुरुष हैं, तो चार अवस्थाओं से भिन्न किसी पुरुष की सिद्धि नहीं होती है। क्योंकि समुदयी मात्र का समुदाय स्वीकार किया जाता है, रूपादि समुदाय के समान। जैसे रूप, रस, गंध, स्पर्श आदि का समुदाय घटादि वस्तु होती है, उसी प्रकार चार अवस्थाओं का समुदाय ही पुरुष है। घट आदि वस्तु बौद्धमतानुसार रूपादि का समुदाय मात्र होती है। रूपादि से घट भिन्न नहीं होता है वैसे ही चार अवस्थाओं से पुरुष भिन्न नहीं होता है। चार अवस्थाओं का समुदाय ही पुरुष है, तो यह समुदायमात्रवाद रह जाएगा, पुरुषवाद नहीं। यही नहीं तूर्य (चतुर्थ) अवस्था के प्रतिपादन के लिए यदि इन चार अवस्थाओं का क्रम स्वीकार किया गया है, तो एक साथ इन अवस्थाओं के नहीं होने से अर्थात् क्रमिक होने से क्षणिकवाद की आपत्ति आती है। इसी तरह इसमें चार अवस्थाओं के चार ज्ञानों की कल्पना करने से कल्पना ज्ञान मात्र ही सत्य रह जाएगा तथा उनका आभास कराने वाली बाह्य वस्तु जैसे स्वप्न में नहीं होती है वैसे नहीं रहेगी। इस प्रकार यह विज्ञान के अतिरिक्त अर्थों का शून्यवाद उपस्थित हो जाएगा।^{७९}

शंका- आप अचिन्त्य का चिन्तन कर रहे हैं। ऊपर, नीचे और तिरछे कहीं भी एक ही तत्त्व व्यवस्थित है और वह पुरुष है। उससे भिन्न पर-अपर अणीयान् ज्यायान् आदि कुछ भी नहीं है।^{८०} जैसा कि कहा है-

यस्मात् परं नापरमस्ति किञ्चिद् यस्मान्नाणीयो न ज्यायोऽस्ति किञ्चित्।

वृक्ष इव स्तब्धो दिवि तिष्ठत्येकस्तेनेदं पूर्णं पुरुषेण सर्वम्।^{८१}

जिससे न कोई पर है, न कोई अपर, न कोई अणीयान् है, न कोई ज्यायान्, यह तो आकाश में वृक्ष की भाँति अकेला स्थित है और उस पुरुष से ही सब पूर्ण हैं (परिव्याप्त हैं)।

(पुरुषवादी) हमने 'पुरुष एव इदं सर्वम्' इसका अवधारण करके बात कही है, 'इदमेव पुरुषः' को लक्ष्य करके नहीं।^{६०}

प्रतिप्रश्न से समाधान- यह पुरुष चार अवस्थाओं में से एक अवस्थामात्र स्वरूप के रूप में व्यवस्थापित किया जाता है क्योंकि सभी अवस्थाओं में चैतन्य की वृत्ति रहती है। वह पुरुष विनिद्रा अवस्था से (अभिन्न) अनन्य होता है। इस प्रकार पुरुष आत्यन्तिक निद्रा के विगमन स्वरूप के कारण विनिद्रावस्था लक्षण वाला होता है। किन्तु यह विनिद्रावस्था अपने से भिन्न स्वरूप वाली नहीं हो सकती, अन्यथा अपने स्वरूप के त्याग की आपत्ति आ जाएगी।

यदि वह पुरुष मात्र विनिद्रावस्था लक्षण वाला होता है तो पुरुष में विनिद्रावस्था की भाँति जाग्रत, सुप्त, सुषुप्ति आदि अवस्था भी होती है। पुरुष के इन भिन्न-भिन्न अवस्थाओं में रहने से असर्वगतत्व का दोष आता है।^{६१}

यदि विनिद्रा अवस्था लक्षण वाला पुरुष सर्व स्वरूप होने से विनिद्रा अवस्था मात्र ही नहीं होता, वह विनिद्रा अवस्था भी सर्व स्वरूप होती है अर्थात् विनिद्रा अवस्था वाला पुरुष भी सर्वात्मक होता है। यहाँ प्रश्न होता है कि यदि प्रत्येक अवस्था में उस विनिद्रा अवस्था की सर्वात्मकता है, तो तृण आदि भी सर्वात्मक या सर्वगत हो जायेंगे। फिर पुरुष के एकत्व की कल्पना से क्या लाभ?^{६२} यदि विनिद्रावस्था पुरुष का लक्षण नहीं है तो उसका अभाव सिद्ध होता है। विनिद्रावस्था का अभाव होने से चार अवस्था वाले सर्वात्मक पुरुष का अभाव सिद्ध होता है।^{६३}

शंका- यदि विनिद्रा लक्षण से विपरीत भी पुरुष पुरुष ही है, अवधारण भेद के कारण। विनिद्रा अवस्था के अतिरिक्त भी अवस्थाएँ पुरुष का लक्षण बनती हैं। इस दृष्टि से पुरुष मेचक (वर्ण संकर) की भाँति अनेक रूप वाला है।^{६४}

समाधान- इस प्रकार तो अवधारण भेद का अवसर नहीं है, अन्याय्य होने से, क्योंकि इससे आपकी प्रतिज्ञा 'चैतन्यात्मकैकपुरुषमयमिदं सर्वम्' की हानि हो जाती है। यदि एक पुरुषमयता की प्रतिज्ञा का पालन किया जाता है, तो भिन्न-भिन्न अर्थ को विषय करने के आधार पर अवधारण करने का औचित्य विशीर्ण (नष्ट) हो जाता है। जिस प्रकार यह कहा जाय कि घट ही रूपादि हैं तो इस पक्ष में रूपादि घट से अर्थान्तरभूत नहीं माने जा सकते। रूप-स्वात्मा का रूपावस्था ही लक्षण है रसादि अवस्था नहीं। घटस्वरूप की तो रूपावस्था लक्षण ही है, उसमें अन्य अवस्थाओं का त्याग नहीं होता। इस तरह कौनसा ऐसा अर्थ होगा, जो रूपादि के अभाव वाला हो। इसी प्रकार विनिद्रा अवस्था लक्षण स्वरूप पुरुष से भिन्न अर्थ का अभाव होने से

अन्य सुप्त आदि अवस्थाओं का अभाव होने के कारण पुरुष के स्वरूप का अवधारक कौन होगा? इस प्रकार अवधारण का अभाव हो जाएगा अथवा पूर्ववत् प्रतिज्ञा की हानि हो जाएगी।^{८५}

‘पुरुष एव इदं सर्वं’ का निरसन- पुरुष की स्वात्मा ही उसकी अवस्था है। यदि अवस्था नहीं है तो पुरुष नहीं है। जैसे खपुष्प की कोई अवस्था नहीं है, अतः खपुष्प नहीं है। यदि पुरुष की अवस्था को स्वीकार भी किया जाए तो पुरुष की चार अवस्थाओं की एकता सिद्ध होती है। क्योंकि वे सभी पुरुष की ही स्वरूप हैं। उदाहरणार्थ विनिद्रा अवस्था ही जाग्रत अवस्था है, विनिद्रा अवस्था स्वरूप होने के कारण, विनिद्रा अवस्था के समान है। इसी प्रकार अन्य अवस्थाओं में भी समझनी चाहिए। जाग्रत अवस्था ही विनिद्रा अवस्था है। जाग्रत अवस्था स्वरूपक होने के कारण, जाग्रत अवस्था के समान। इसी प्रकार अन्य अवस्थाओं में भी समझना चाहिए। सुप्तावस्था ही विनिद्रावस्था है। सुप्तावस्था स्वरूप होने के कारण सुप्तावस्था के समान। इसी प्रकार अन्य अवस्थाएँ भी हैं। सुषुप्तावस्था ही विनिद्रावस्था है, सुषुप्तावस्था स्वरूप होने के कारण सुषुप्तावस्था के समान। इसी प्रकार अन्य अवस्थाएँ भी समझना चाहिए जो अन्य अवस्था है, वह अन्य भी है एक स्वरूप होने के कारण, उस अन्य स्वरूप अवस्था के समान। इस प्रकार भेदाभाव के कारण ‘पुरुष एव इदं सर्वं’ के अतिदेश का अभाव सिद्ध होता है।^{८६}

पुरुष की अद्वैतता का निरसन

जो यह कहा जाता है कि पुरुष एक ही है, उसकी भी अनेकता की आपत्ति आती है। जिसके स्वरूप से अव्यतिरिक्त (अभिन्न) लक्षण वाली अवस्थाएँ बिना भेद के कही जाती हैं, वह पुरुष भी पुरुषस्वरूप से अभिव्याप्त होने के कारण अनवस्थित एक तत्त्व की प्रतिष्ठा वाला पुरुष है, इस रूप में अतिदेश होता है। पुरुष स्वात्म वाला होने के कारण प्रत्यक्ष अर्थ में ‘इदं’ को विषय करने पर अचेतन, व्यक्त, मूर्त, अनित्य आदि रूप अर्थ के रूप में पुरुष की परमार्थता सिद्ध होती है।^{८७} पुरुष की विभिन्न अवस्थाओं को स्वीकार करने के कारण पुरुष में अन्यत्व और एकत्व की भी सिद्धि होती है। वे विनिद्रा आदि अवस्थाएँ पुरुष से अन्य हैं और उन अवस्थाओं से पुरुष अन्य है। अन्यथा दोनों में एक ही स्वरूप की आपत्ति आ जाएगी। जिस प्रकार विनिद्रा अवस्था सुप्तावस्था से भिन्न है उसी प्रकार पुरुष की विभिन्न अवस्थाएँ भी पुरुष से भिन्न हैं। पुरुष का अतिदेश स्वीकार यदि किया जाता है तो भी स्व-पर विषयकृत भेद के द्वारा पृथक्-पृथक् पुरुष की सिद्धि होती है।^{८८}

पुरुष की सर्वगतता का निरसन

जब पुरुष की लक्षण स्वरूप विनिद्रावस्था पुरुष नहीं है, पुरुष का लक्षण होने से, विनिद्रावस्था के समान। इसी प्रकार अन्य अवस्थाओं में भी जानना चाहिए। इससे पुरुष का अभावसिद्ध होता है। जब पुरुष का ही अभाव है तो सर्वगतता कैसे सिद्ध होगी? जिस प्रकार उष्णता का निरसन हो जाने से अग्नि का अभाव सिद्ध होता है, उसी प्रकार पुरुष का लक्षण सिद्ध न होने से पुरुष का अभाव सिद्ध होता है।^{८९}

द्वादशारनयचक्र में इस प्रकार मल्लवादी क्षमाश्रमण ने न केवल पुरुष की सृष्टिकारणता का निरसन किया है, अपितु उन्होंने पुरुष के स्वरूप, उसकी चार अवस्थाओं पुरुष एवं इदं सर्वं, पुरुष की अद्वैतता, उसकी सर्वगतता आदि का भी प्रमाणपुरस्सर खण्डन किया है।

विशेषावश्यक भाष्य में पुरुषवाद का निरूपण एवं निरसन

जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण (६-७वीं शती) विरचित विशेषावश्यक भाष्य में गणधरवाद के अन्तर्गत पुरुषवाद की चर्चा समुपलब्ध होती है। वहाँ गणधर अग्निभूति के मुख से 'पुरुष एवेदं सर्वम्' वेदवाक्य की व्याख्या में पुरुषवाद को प्रस्तुत करते हुए कहा गया है-

पूर्वपक्ष- "सभी दृष्टिगोचर होने वाले पदार्थ चेतन-अचेतन स्वरूप हैं। जो उत्पन्न हो चुके हैं, जो उत्पन्न होने वाले हैं, जो मोक्ष के स्वामी हैं, जो आहार से वृद्धिगत होते हैं, जो पशु आदि चलते हैं, जो पर्वत आदि नहीं चलते हैं, जो मेरु आदि दूर हैं तथा कुछ नजदीक हैं, जो सबके अन्दर हैं और जो सबके बाहर हैं- ये सभी पुरुष रूप हैं, इससे अतिरिक्त कर्म नाम की कोई वस्तु नहीं है।"^{९०}

निरसन- भगवान महावीर 'पुरुष एवेदं सर्वम्' वेद वाक्य को स्तुतिपरक बताते हुए पुरुषवाद का निरसन करते हैं। वे कहते हैं कि वेदों में कुछ वाक्य अर्थवाद और विधिवाद का प्रतिपादन करने वाले हैं तो कुछ अनुवाद प्रतिपादक हैं। 'पुरुष एवेदम्' इत्यादि वेद के पद आत्मस्तुति परक हैं तथा इसमें जाति आदि मद का त्याग करने हेतु अद्वैत प्रतिपादन हुआ है। 'अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकामः' आदि विधिवाक्य हैं, क्योंकि ये स्वर्गच्छ के लिए यज्ञ का विधान करते हैं।^{९१}

अर्थवाद दो प्रकार के होते हैं- १. स्तुति अर्थवाद और २. निन्दा अर्थवाद। स्तुतिपरक अर्थवाद के वाक्य हैं, यथा- 'पुरुष एवेदं सर्वम्' "स सर्वविद् यस्यैष महिमा भुवि दिव्ये ब्रह्मपुरे होष व्योम्नि आत्मा सुप्रतिष्ठितस्तमक्षरं वेदयते यस्तु

४८० जैनदर्शन में कारण-कार्य व्यवस्था : एक समन्वयात्मक दृष्टिकोण

स सर्वज्ञः सर्ववित् सर्वमेवाविवेश", "एकया पूर्णयाऽऽहुत्या सर्वान् कामान् वाप्नोति।" "एषः वः प्रथमो यज्ञो योऽग्निष्टोमः योऽनेनिष्ट्वाऽन्येन यजते स गतमभ्यपतत्" इस वाक्य में पशुमेध आदि करने की निन्दा की गई है, इसलिए ये निन्दार्थ प्रतिपादक वाक्य हैं। अनुवाद प्रतिपादक वाक्य हैं- "द्वादश मासाः संवत्सरः" "अग्निरुष्ण" "अग्निर्हिमस्य श्रेष्ठजं।" अतः 'पुरुष एवेदं सर्व' स्तुति रूप अर्थवाद वाक्य है।^{१२}

'विज्ञानघन एवैतेभ्य' वेद वाक्य से अभिप्राय है कि विज्ञानघन आत्मा पंचभूत अर्थात् शरीर से भिन्न है और वह शरीर रूपी कार्य का कर्ता है। कर्ता व कार्य के होने से यह अनुमान होता है कि इसका कोई करण होना चाहिए। जैसे लुहार और लोह-पिंड का सद्भाव होने पर कारणभूत संडासी का अनुमान होता है, वैसे ही आत्मा द्वारा शरीर आदि कार्य करने में करणभूत कर्म की आवश्यकता होती है। कर्म की सत्ता का साक्षात् प्रतिपादन इस वाक्य से होता है- "पुण्यः पुण्येन कर्मणा, पापः पापेन कर्मणा" अर्थात् पवित्र कार्य से पुण्य और अपवित्र कार्य से पाप होता है। इस प्रकार आगम से कर्म की सिद्धि होती है। अतः पुरुषवाद का तुम्हारा मत असत्य है।^{१३}

सन्मतितर्क-टीका में अभयदेवसूरि द्वारा प्रस्तुत पुरुषवाद एवं उसका निरसन

पूर्वपक्ष- एक पुरुष ही समस्त लोक की स्थिति, सर्ग और प्रलय का हेतु है। प्रलय में भी वह अलुप्त ज्ञानातिशय की शक्ति से युक्त होता है।^{१४} जैसा कि कहा है-

ऊर्णनाभ इवाऽशूनां चन्द्रकान्त इवाऽम्भसाम्।

प्ररोहाणामिव प्लक्षः स हेतुः सर्वजन्मिनाम्॥

जिस प्रकार तन्तुओं का कारण ऊर्णनाभ, जल का कारण चन्द्रकान्त मणि तथा जटाओं का कारण वटवृक्ष होता है इसी प्रकार सभी उत्पन्न होने वाले कार्यों का कारण वह पुरुष होता है।

'पुरुष एवेदं सर्वं यद् भूतं यच्च भाव्यम्।'

वर्तमान, भूत, भविष्य में जो कुछ था, है और होने वाला है- वह सब पुरुष ही है।^{१५}

निरसन- पुरुष को जगत् की स्थिति, सर्ग और प्रलय का कारण मानना उसी प्रकार असंगत है जिस प्रकार ईश्वर की जगत् हेतुता असंगत है। जैसा कि कहा है-

“उत्पन्न होने वाले कार्यों का हेतु पुरुष है, उत्पत्ति से रहित का नहीं, अन्यथा आकाशकुसुम के समान सब कुछ युगपद् हो जाएगा।”^{१६}

निरुद्देश्य और अनुकम्पा से सृष्टि की रचना अनुचित- प्रेक्षावान् पुरुषों की प्रवृत्ति प्रयोजनवती होती है तो क्या पुरुष भी जगत् की उत्पत्ति में प्रयोजन को उद्देश्य करके प्रवृत्त होता है। ईश्वर आदि की प्रेरणा से नहीं होता है, अन्यथा उस पुरुष में अस्वतन्त्रता का प्रसंग आ जाएगा। अनुकम्पा से दूसरों का उपकार करने के लिए भी जगत् की रचना करना संभव नहीं है, क्योंकि तब दुःखी प्राणियों की रचना नहीं की जा सकती है। उनके कर्म का क्षय करने के लिए दुःखी प्राणियों के निर्माण में प्रवृत्ति स्वीकार की जाए तो यह भी समुचित नहीं है। क्योंकि इसमें उन जीवों के द्वारा कृत कर्मों की अपेक्षा रखनी होगी। दूसरी बात यह है कि सृष्टि के पहले अनुकम्पा योग्य प्राणियों का सद्भाव नहीं रहता, इस तरह निरालम्बन अनुकम्पा का अयोग होने से इसके कारण भी जगत् की रचना में प्रवृत्ति मानना उचित नहीं है।^{१७} अनुकम्पा से प्रवृत्ति मानने पर सुखी प्राणियों के विनाशार्थ प्रवृत्ति उचित नहीं होने के कारण देव आदि का प्रलय अनुपपन्न हो जाएगा। दूसरी बात यह है कि जो समर्थ और कृपालु है, वह दुःख के कारण अधर्म आदि की अपेक्षा रखकर दुःखी प्राणियों की रचना करे यह भी उचित नहीं है। कृपालु तो दूसरों के दुःख के कारण को ही नहीं चाहते वे तो पर-दुःख के वियोग की इच्छा से ही सदा प्रवृत्ति करते हैं।^{१८}

युगपत् और क्रमपूर्वक जगत् का निर्माण असमीचीन- क्रीड़ा से भी जगत् रचना में पुरुष की प्रवृत्ति मानना समीचीन नहीं है। क्योंकि क्रीड़ा से जगत् को उत्पन्न करने में भी जगत् की उत्पत्ति की अपेक्षा से वह पुरुष अस्वतन्त्र हो जाएगा। क्योंकि जगत् की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलयात्मक विचित्र क्रीड़ा के उपाय की उस उत्पत्ति में अपेक्षा रहेगी। तभी विचित्र क्रीड़ा के उपाय की वृत्ति में उस पुरुष की पहले से ही शक्ति है तो वह युगपद् ही समस्त जगत् की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय की रचना कर देगा। यदि उसके पास प्रारम्भ में यह शक्ति नहीं है तो अशक्त अवस्था के होने के कारण क्रम से भी वह उत्पत्ति-स्थिति-प्रलय को सम्पन्न नहीं कर सकेगा। एक ही स्थान पर एक का शक्त और अशक्त होना विरोधी धर्म है।^{१९}

अबुद्धिपूर्वक जगत्-निर्माण में प्रवृत्ति नहीं- पुरुषवादी मात्र पुरुष को जगत् का कारण मानते हैं इसलिए उसमें सहकारी कारणों की अपेक्षा दूर से ही निरस्त हो जाती है। पृथ्वी आदि महाभूतों में तो अपने हेतु के बल से आए हुए अन्यान्य स्वभाव के सद्भाव से उनसे उत्पाद्य कार्य की युगपद् उत्पत्ति आदि का दोष संभव नहीं है।^{२०}

कोई यह कहे कि जिस प्रकार ऊर्णनाभ स्वभावतः प्रवृत्त होता हुआ भी अपने कार्यों को युगपत् नहीं करता है उसी प्रकार पुरुष भी अपने कार्यों को युगपत् नहीं करता है, ऐसा नहीं कहना चाहिए। क्योंकि ऊर्णनाभ की प्राणि-भक्षण लम्पटता के कारण अपने कार्य में प्रवृत्ति स्वभाव से नहीं होती है अन्यथा वहाँ भी यह दोष समान रूप से उत्पन्न होगा। यह ऊर्णनाभ नित्य एक स्वभाववाला नहीं होता, अपितु स्वहेतु के बल से होने वाले परापर कादाचित्क शक्ति वाला होता है, इसलिए उससे होने वाले कार्य की क्रम से प्रवृत्ति उचित ही है। पुरुष यथा कथंचित् अबुद्धिपूर्वक ही जगत्-निर्माण में प्रवृत्त नहीं होता है, क्योंकि इस प्रकार तो वह प्राकृत पुरुष से भी हीन हो जाएगा। इसी तरह प्रजापति आदि की जगत् की कारणता का निरास समझना चाहिए।^{१०१}

इस प्रकार 'पुरुषवाद' के संबंध में वेद, उपनिषद्, पुराण, महाभारत, रामायण आदि के साथ जैन ग्रन्थों में भी विशद चर्चा हुई है तथा जैनाचार्यों ने पुरुषवाद की मान्यता का प्रबल निरसन किया है। निरसन करते समय जैनाचार्यों ने पुरुषवाद के स्वरूप को ग्रामाणिकता के साथ प्रस्तुत किए हैं तथा विभिन्न तर्कों के द्वारा उसका निरसन किया है। 'पुरुष एवेदं सर्वम्' पुरुष की सर्वगतता, अद्वैतता, सृष्टि रचनाकार्य एवं पुरुष की जाग्रत, सुप्त, सुषुप्त तथा तूर्य अवस्थाओं का खण्डन जैनाचार्यों के चिन्तन की विशदता को अभिव्यक्त करता है।

ब्रह्मवाद : पूर्वपक्ष एवं उत्तरपक्ष

देववाद, ब्रह्मवाद, ईश्वरवाद आदि आगमकालीन मतों का पश्चात् काल में भी पल्लवन एवं पुष्टिकरण होता रहा। फलस्वरूप दार्शनिक युग में ब्रह्मवाद, देववाद या पुरुषवाद और ईश्वरवाद के मन्तव्य दार्शनिकों ने स्वीकार किये तथा उनको अपनी रचनाओं में शामिल किया। जैनाचार्यों को ये सभी वाद मान्य नहीं थे, अतः अपने ग्रन्थों में उन्होंने इनका स्वरूप एवं खण्डन प्रस्तुत किया है। विशेषतः प्रभाचन्द्राचार्य ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ प्रमेयकमलमार्तण्ड में ब्रह्मवाद के पूर्वपक्ष को तर्कपुरस्सर उपस्थापित किया है तथा फिर उसका युक्तिपूर्वक निरसन भी किया है। यहाँ प्रमेयकमलमार्तण्ड के आधार पर ब्रह्मवाद के स्वरूप के पूर्वपक्ष एवं उत्तरपक्ष की चर्चा की जा रही है।

प्रमेयकमलमार्तण्ड में ब्रह्मवाद का स्वरूप एवं खण्डन

ब्रह्म ही जगत् के चेतन-अचेतन, मूर्त-अमूर्त आदि समस्त पदार्थों का उपादान कारण होता है- ऐसा मन्तव्य ब्रह्मवादियों का है। ब्रह्मसूत्र का 'जन्माद्यस्य

यतः^{१०२} सूत्र इसी ब्रह्मवाद का पोषक है। ब्रह्मवाद में जगत् की परिकल्पना के मूल में माया को माना जाता है और वहाँ मायोपहित ब्रह्म ही जगत् का कारण है। ब्रह्मवाद एकात्मवाद भी मानता है, जिसे ब्रह्माद्वैतवाद कहा जाता है। इनके अनुसार सारा विश्व एक ब्रह्मस्वरूप है। ब्रह्मवादी अपने मत को प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम प्रमाण और अन्य तर्कों से सिद्ध करते हैं तथा प्रभाचन्द्राचार्य (१०वीं शती) इनकी दी गई युक्तियों का खण्डन करते हैं।

प्रत्यक्ष प्रमाण से ब्रह्मवाद की सिद्धि

आँख के खोलते ही दृष्टि पथ में आने वाले विषयों का निर्विकल्प प्रत्यक्ष होता है। इस निर्विकल्प प्रत्यक्ष के द्वारा सर्वत्र एकत्व का भान, बिना किसी भेदप्रतीति के शीघ्रातिशीघ्र जो होता है वही वस्तु का स्वरूप है। संसार में जो भेद की प्रतीति होती है, वह अविद्या, संकेत, स्मरण आदि से उत्पन्न होती है। जिसके कारण घट-पट आदि भिन्न-भिन्न पदार्थ ज्ञात होते हैं, इसलिए वस्तुतः भेद वस्तु का स्वरूप नहीं है। इस प्रकार प्रत्यक्ष प्रमाण के द्वारा अखंड परम ब्रह्म सिद्ध होता है।^{१०३}

प्रभाचन्द्र द्वारा निरसन

उपर्युक्त कथन उचित नहीं है, क्योंकि प्रत्यक्षप्रमाण साक्षात् ही यह घट है, यह पट है इत्यादि भेद रूप कथन करता है, न कि अभेद रूप।

ब्रह्मवाद में काल्पनिक भेदों से भेदव्यवस्था मानी जाती है। जैसे- एक ही आत्मा में काल्पनिक भेद करके कहा जाता है कि मेरे मस्तक में दर्द है, मेरे पैर में पीड़ा है, इत्यादि दुःख के भेद की व्यवस्था होती है।^{१०४} किन्तु इस प्रकार भेद-व्यवस्था स्वीकार करना भी समुचित नहीं है।

जैन मान्यतानुसार अद्वैतवादियों द्वारा भेद का खण्डन करने के दो पक्ष हो सकते हैं- १. भेद प्रमाण से बाधित है या २. अभेद को सिद्ध करने वाला कोई प्रमाण है। प्रथम पक्ष ठीक नहीं है, क्योंकि प्रत्यक्षादि प्रमाण भेद के अनुकूल ही हैं, वे भेदों में बाधक नहीं बनते। भेद के अभाव में प्रमाण और अप्रमाण की व्यवस्था नहीं रहती। अभेद को सिद्ध करने वाला प्रमाण रूपी दूसरा पक्ष भी उचित नहीं है, क्योंकि भेद के बिना साध्य और साधन का भाव कैसे बन सकता है। अतः अभेद को सिद्ध करने वाला कोई भी प्रमाण नहीं है।^{१०५}

अनुमान-प्रमाण से ब्रह्मवाद की सिद्धि

पूर्वपक्ष-“यत्प्रतिभासते तत्प्रतिभासान्तः प्रविष्टमेव यथा प्रतिभास-स्वरूपम्, प्रतिभासते चाशेषं चेतनाचेतनरूपं वस्तु इत्यनुमानादप्यात्माऽद्वैत-प्रसिद्धिः।”^{१०६} जो प्रतिभासित होता है, वह प्रतिभास के अन्दर शामिल है, क्योंकि वह प्रतिभासित हो रहा है जैसा कि प्रतिभास का स्वरूप प्रतिभासित होता है, अतः वह प्रतिभास के भीतर शामिल है। इसी तरह चेतन-अचेतन सभी वस्तुएँ प्रतिभासित होती हैं, जिसके कारण वे सभी प्रतिभास के अन्दर प्रविष्ट हैं। इस अनुमान के द्वारा आत्माद्वैत-ब्रह्माद्वैत सिद्ध होता है।

प्रभाचन्द्र द्वारा निरसन

यह अनुमान अयुक्त है। इस अनुमान में जो प्रतिभासमानत्व हेतु है, वह स्वतः प्रतिभासमानत्व है कि परतः? स्वतः कहो तो वह हेतु प्रतिवादी की अपेक्षा असिद्ध होगा, क्योंकि वे पदार्थों को स्वतः प्रतिभासमान नहीं मानते हैं। परतः प्रतिभासमानत्व विरुद्ध होगा, क्योंकि अद्वैत में साध्य और हेतु द्वैत होने से द्वैत को ही सिद्ध करेगा।^{१०७}

आगम-प्रमाण से ब्रह्मवाद की सिद्धि

आगम भी प्रत्यक्ष और अनुमान की तरह ब्रह्म का प्रतिपादक है। इसके संबंध में कुछ आगम वाक्य इस प्रकार हैं-

(१) सर्वं वै खल्विदं ब्रह्म नेह नानास्ति किञ्चन।

आरामं तस्य पश्यन्ति न तं पश्यति कश्चन।।^{१०८}

यह सारा विश्व ब्रह्मरूप है, कोई भिन्न-भिन्न वस्तु नहीं है, दुनिया के जीव उस ब्रह्म के विवर्तों को- पथार्यों को देखते हैं, किन्तु उसे कोई नहीं देख सकता।

(२) यद्भूतं यच्च भाव्यं स एव हि सकललोकसर्गस्थितिप्रलय हेतुः। उक्तं च

ऊर्णनाभ इवांशूनां चन्द्रकान्त इवाम्भसाम्।

प्ररोहाणामिव प्लक्षः स हेतुः सर्वजन्मिनाम्।।^{१०९}

जगत् पुरुषमय है, जो हुआ अथवा होने वाला है, वह सब ब्रह्म ही है। वही सारे संसार की उत्पत्ति, स्थिति और विनाश का कारण है। जैसे रेशमी कीड़ा रेशम के धागे को बनाता है, चन्द्रकान्त मणि जैसे जल को झराता है और वटवृक्ष जैसे जटाओं

को अपने में से स्वयं निकालता है। अतः वह उनका कारण होता है वैसे ही ब्रह्म समस्त जीवों का कारण होता है।

प्रभाचन्द्र द्वारा निरसन

वैदिक शास्त्र में जहाँ कहीं ब्रह्म के एकत्व का वर्णन है वह मात्र अतिशयोक्ति रूप है, वास्तविक नहीं है। जब पदार्थों में भेद स्वतः ही है अर्थात् प्रत्येक वस्तु स्वतः अन्य वस्तु से अपना पृथक् अस्तित्व रखती है तब उनको अभेद रूप मानना अतिशयोक्तिपूर्ण कल्पना से अधिक कुछ नहीं है। मकड़ी आदि प्राणी स्वभाव से जाल नहीं बनाते हैं, किन्तु आहार-संज्ञा के कारण ही उनकी ऐसी प्रवृत्ति होती है, अतः इस उदाहरण से “ब्रह्मा सृष्टि की रचना करता है” यह सिद्ध नहीं होता है।^{११०}

आगम के स्तुतिरूप या प्रशंसा रूप वचनों को सत्य नहीं मानना चाहिए, क्योंकि इसमें अतिप्रसंग दोष आता है। जैसे पत्थर पानी में तैरता है, अन्धा मणि को पिरोता है इत्यादि अतिशयोक्तिपूर्ण वचनों को सत्य मानने पर अतिप्रसंग आता है। ब्रह्मा ही ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति, स्थिति और नाश का कारण है, यह मानना भी गलत है क्योंकि अद्वैत में कार्यकारणभाव असंभव है। कार्यकारणभाव तो द्वैत में ही हो सकता है क्योंकि एक कारण और एक कार्य इन दो पदार्थों में ही कार्यकारणभाव बनता है।^{१११} इस प्रकार आगम सम्मत आपके तर्क मिथ्यासिद्ध होते हैं।

इस प्रकार ब्रह्म की अद्वैतता एवं जगत्कारणता को वेदान्तमत के अनुसार उपस्थापित कर आचार्य प्रभाचन्द्र ने उसका युक्तियुक्त निरसन किया है।

ईश्वरवाद : पक्ष-प्रतिपक्ष

पुरुषवाद का विकास ईश्वरवाद में

पुरुषवाद का ही विकास ईश्वरवाद के रूप में हुआ है। न्याय, वेदान्त आदि दर्शनों में जगत्प्रस्था ईश्वर का निरूपण हुआ है। योगदर्शन में ईश्वर को क्लेश एवं कर्म-विपाक के आशय से अपरामृष्ट पुरुष विशेष के रूप में प्रतिपादित किया गया है।^{११२} ईश्वर का प्रयोजन प्राणियों के प्रति अनुग्रह करना है। वेदान्त दर्शन में ईश्वर अज्ञान की समष्टि से आच्छन्न है, वह ही सृष्टि-निर्माण में उपादान एवं निमित्त कारण बनता है।^{११३} ईश्वर की सिद्धि में सर्वाधिक चिन्तन न्याय-वैशेषिक दर्शनों में हुआ है। यहाँ इन्हीं दर्शनों के आधार पर ईश्वरवाद की चर्चा की जा रही है।

न्याय-वैशेषिक दर्शन ईश्वरवादी दर्शन है। महर्षि गौतम ने ईश्वर को सर्वशक्तिमान और सर्वज्ञ के रूप में प्रतिपादित किया है। न्याय-वैशेषिक ने जीवात्मा

और परमात्मा के रूप में आत्मा को विभाजित किया है तथा परमात्मा को ही ईश्वर कहा है। ईश्वर का ज्ञान नित्य है। ईश्वर सभी प्रकार की पूर्णता से युक्त है। ईश्वर न बद्ध है और न मुक्त। ईश्वर स्रष्टा और पालनकर्ता होने के अतिरिक्त विश्व का संहर्ता भी है। ईश्वर दयालु, कृपालु एवं अनन्त गुणों से युक्त है।

ईश्वरः कारणं पुरुषकर्माऽऽफल्यदर्शनात्।^{११४}

पुरुष अर्थात् जीव के कर्मों की विफलता दृष्टिगोचर होने से ईश्वर की कारणता सिद्ध होती है। अभिप्राय यह है कि प्रयत्न करता हुआ जीव हमेशा ही कर्म के फल को प्राप्त नहीं करता, अपितु कभी-कभी असफल भी होता है। अतः पुरुषार्थ आदि दृष्ट कारण उसकी सफलता या विफलता में साधक नहीं हैं, बल्कि ईश्वरेच्छा उसकी नियामिका है।

ईश्वर प्राणिमात्र के कर्मों के फलों का न्यायतः प्रदाता है तथा हमारे सुखों और दुःखों का नियामक है। उसके आदेश और नियन्त्रण में रहकर ही जीव अपने कर्मों का सम्पादन करता है तथा अपने जीवन के उच्च लक्ष्यों को प्राप्त करता है।

ईश्वर का लक्षण वात्स्यायन ऋषि इस प्रकार करते हैं-
'गुणविशिष्टमात्मान्तर-मीश्वरः'^{११५} अर्थात् गुण विशेष से युक्त एक प्रकार का आत्मा ही ईश्वर है। अतः एक पुरुष विशेष ईश्वर है और वह समस्त कार्यों का जनक या कारण है।

ईश्वरवाद की सिद्धि में साधक प्रमाण

न्यायाचार्य उदयन ने ईश्वर के संबंध में 'न्यायकुसुमांजलि' नामक ग्रन्थ की रचना की। उनका ईश्वर निरूपण प्रधानतः यह ग्रन्थ पाँच स्तबकों में विभक्त है। इनमें से पहिले चार स्तबकों के द्वारा ईश्वर सत्ता की विरोधिनी युक्तियों का खण्डन किया गया है। पाँचवें स्तबक में ईश्वर के साधक प्रमाणों का उल्लेख है, यथा-

कार्यायोजनश्चतुष्टादेः पदात्प्रत्यक्षतः श्रुतेः।

वाक्यात्संख्याविशेषाच्च साध्यो विश्वविद्वयः।^{११६}

१. क्षित्यादिकं सकर्तृकं कार्यत्वात् घटवत्- घटादि जितने भी कार्य दृष्ट हैं, वे सभी किसी कर्ता के द्वारा ही उत्पन्न होते हैं। क्षित्यंकुरादि भी कार्य ही हैं, अतः उनकी उत्पत्ति भी किसी कर्ता से ही है। क्षित्यंकुरादि का यह कर्तृत्व अस्मदादि में संभव नहीं है, अतः अस्मदादि से विलक्षण क्षित्यंकुरादि का कर्ता परमेश्वर है।

२. 'संयुज्यतेऽन्योन्यं द्रव्यमनेनेत्याद्योजनं कर्म' सृष्टि की आदि में द्वयणुक के उत्पादक दो परमाणुओं की क्रिया आयोजन कहलाती है। किसी भी क्रिया से कार्य की उत्पत्ति होती है तो वह क्रिया अवश्य ही किसी स्वसमानकालिक प्रयत्न से उत्पन्न होती है। सृष्टि की आदि में दो परमाणुओं की क्रिया द्वयणुक रूप कार्य को उत्पन्न करती है, अतः उसको भी स्वसमानकालिक किसी प्रयत्न से अवश्य उत्पन्न होना चाहिए। यह प्रयत्न स्वयं परमेश्वर के आश्रय से संभव है।
३. "ब्रह्माण्डपर्यन्तं हि जगत् साक्षात्परम्परया वा विधारकप्रयत्नाधिष्ठितं गुरुत्वे सत्यपतनधर्मकत्वात् वियति विहंगमशरीरवत्" गुरु द्रव्य पतनशील होता है, किन्तु अन्य द्रव्य का संयोग और प्रतिबंधक प्रयत्न, इन दोनों में से कोई एक द्रव्य को पतन से रोकता है। जैसे छींके पर रखा हुआ दही का मटका अथवा आकाश में उड़ता हुआ पक्षी नहीं गिरता है वैसे ही गुरुतर द्रव्य ब्रह्माण्ड का पतन प्रतिबंधकी भूत परमेश्वर के कारण नहीं होता है।
४. "ब्रह्माण्डादि द्वयणुकपर्यन्तं जगत् प्रयत्नवद्विनाशयम् विनाशयत्वात् पाट्यमानपटवत्" जिस प्रकार 'निर्माण' कार्य प्रयत्न से युक्त कोई पुरुष ही कर सकता है, उसी प्रकार संहार भी प्रयत्न से युक्त कोई पुरुष ही कर सकता है। जैसे कि पट की उत्पत्ति और विनाश में दृष्टिगोचर होता है। इसी प्रकार जगत् का संहार प्रयत्न से युक्त पुरुष के बिना संभव नहीं है और तादृश प्रयत्न का आश्रय पुरुष परमेश्वर ही है।
५. पद्यते गम्यते व्यवहाराङ्गमर्थोऽनेन- व्यवहार का अंगीभूत अर्थ जिससे ज्ञात हो उसे पद कहते हैं। इस दृष्टि से पद का अर्थ 'वृद्ध व्यवहार' भी किया गया है। सृष्टि के प्रारम्भ में जब जीवों के शरीरों का निर्माण होता है, तब वे व्यवहार से पूर्णतः अपरिचित होते हैं। जैसे जुलाहा कपड़ा बुनने का नैपुण्य किसी की शिक्षा से ही प्राप्त करता है। नैपुण्य शिक्षा की यह परम्परा कहीं पर अवश्य विराम को प्राप्त होती है। वह विराम अवस्था अन्य की अपेक्षा नहीं रखने वाले किसी परम पुरुष में ही हो सकती है। वह अन्यानपेक्ष पुरुष परमेश्वर ही है।
६. प्रत्ययात्- प्रत्यय अर्थात् विश्वास। यथार्थज्ञान जिस पुरुष में रहता है, उस पुरुष के द्वारा उच्चरित तद्विषयक वाक्य ही प्रमाण कहलाता है। इसी रीति से

लोक में शब्द का प्रामाण्य देखा जाता है। इसलिए जब तक यह विश्वास न हो जाय कि 'वेद के वक्ता को वेदार्थ का यथार्थ ज्ञान है' तब तक वेदों में प्रामाण्य की संभावना नहीं होती है। अतः सर्वज्ञ पुरुष को छोड़कर किसी साधारण मनुष्य में वेदार्थ विषयक ज्ञान का विश्वास नहीं किया जा सकता। वह सर्वज्ञ पुरुष परमेश्वर है।

७. वेदाः सर्वज्ञपुरुषप्रणीताः वेदत्वात् यन्नैवम् तन्नैवम् यथा अस्मदादि वाक्यम्- वेदों (श्रुति) का निर्माण सर्वज्ञपुरुष द्वारा ही हुआ है। क्योंकि जो वेद नहीं है, उसकी रचना सर्वज्ञपुरुष के द्वारा नहीं होती है, जैसे कि अस्मदादि की रचनाएँ।
८. वेदवाक्यानि पौरुषेयाणि वाक्यत्वात् अस्मदादिवाक्यवत्- हम जितने भी वाक्य सुनते या पढ़ते हैं, वे सब पौरुषेय हैं। अतीन्द्रिय वस्तुओं का प्रतिपादन वेदवाक्यों द्वारा होता है। अतः वेद पौरुषेय अवश्य है। इसका रचयिता पुरुष ईश्वर है।
९. सर्गाद्याकालीन परमाणुगतद्वित्वसंख्या अपेक्षाबुद्धिजन्या द्वित्वत्वात्- इन परमाणु, द्वित्व आदि संख्या की उत्पत्ति में ज्ञाता की अपेक्षा से बुद्धि निमित्तकारण है। यह बुद्धि द्रष्टा ईश्वर की ही हो सकती है, क्योंकि सृष्टि के आरम्भ में अन्य कोई व्यक्ति रहता ही नहीं है।

उपर्युक्त अनुमान वाक्य के अतिरिक्त 'द्यावाभूमी जनयन्देव एकः' (द्युलोक व पृथ्वीलोक को उत्पन्न करने वाला ईश्वर) 'विश्वस्य कर्ता भुवनस्य गोप्ता' (विश्व का बनाने वाला और संसार का रक्षक) आदि आगम-वाक्यों से भी ईश्वर की सिद्धि होती है।

सूत्रकृतांग और उसकी टीका में ईश्वरवाद का निरूपण एवं निरसन

सूत्रकृतांग के द्वितीय श्रुतस्कन्ध में संसार रूप पुष्करिणी के वर्णन के साथ ईश्वरवाद के स्वरूप का निरूपण हुआ है। टीकाकार शीलाकाचार्य (८वीं शती) ने ईश्वरवाद का पक्ष प्रस्तुत करते हुए उसका निरसन भी किया है, जो संक्षेप में यहाँ चर्चित है-

ईश्वरवाद का पक्ष-

इह खलु धम्मा पुरसादिया पुरिसोत्तरिया पुरिसप्पणीया पुरिससंभूया।
पुरिसपज्जोतिता पुरिसमभिसमण्णागया पुरिसमेव अभिभूय चिद्धंति।^{११९}

इस जगत् में चेतन और अचेतन जितने पदार्थ हैं, सबका मूल कारण ईश्वर या आत्मा है। सब पदार्थों का कार्य भी ईश्वर या आत्मा ही है। सभी पदार्थ ईश्वर के द्वारा रचित हैं। सभी ईश्वर से उत्पन्न हैं। सभी ईश्वर से प्रकाशित हैं। सभी पदार्थ ईश्वर के अनुगामी हैं और ईश्वर को ही आधार रूप से आश्रय लेकर स्थित हैं।

सूत्रकार ने ईश्वरवाद के मत को अधिक स्पष्ट करते हुए शरीर का फोड़ा, मन का उद्वेग, वल्मीक, वृक्ष, पुष्करिणी, तालाब और बुलबुले के उदाहरणों से ईश्वर की सिद्धि की है। जैसे किसी प्राणी के शरीर में हुआ फोड़ा शरीर से ही उत्पन्न होता है, शरीर में ही बढ़ता है, शरीर का ही अनुगामी बनता है और शरीर का ही आधार लेकर टिकता है, इसी तरह सभी धर्म (पदार्थ) ईश्वर से ही उत्पन्न होते हैं, ईश्वर से ही वृद्धिगत होते हैं, ईश्वर के ही अनुगामी हैं, ईश्वर का आधार लेकर ही स्थित रहते हैं।^{११८} वैसे ही अरति, वल्मीक, वृक्ष, पुष्करिणी, तालाब और बुलबुला क्रमशः शरीर, मिट्टी, धरती, पृथ्वी, जल और पानी से ही उत्पन्न होते हैं, बढ़ते हैं, अनुगमन करते हैं तथा उनमें ही लीन होते हैं, उसी तरह जगत् ईश्वर से उत्पन्न होता है, विकास को प्राप्त होता है और नष्ट हो जाता है।^{११९}

निरसन- सूत्रकृतांग के टीकाकार शीलांकाचार्य ने ईश्वरवाद का युक्तियुक्त निरसन करते हुए कहा है-

ईश्वर की स्वतः प्रेरित और परतः प्रेरित क्रियाएँ कल्पनामात्र

सब कुछ ईश्वरकृतक है इसको स्वीकार करने पर यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि क्या यह ईश्वर स्वतः ही दूसरों को उनकी क्रियाओं में प्रवृत्त करता है या दूसरे के द्वारा प्रेरित होकर? इनमें से यदि प्रथम पक्ष को स्वीकार किया जाए तो उचित नहीं है, क्योंकि जिस प्रकार ईश्वर स्वतः दूसरों को अपनी क्रियाओं में प्रवृत्त करता है उसी प्रकार दूसरे भी स्वतः अपनी क्रियाओं में प्रवृत्त हो जायेंगे। बीच में ईश्वर की परिकल्पना करने से क्या लाभ? दूसरे पक्ष के अनुसार यदि ईश्वर अन्य के द्वारा प्रेरित होकर क्रियाओं का प्रवर्तक होता है तो वह दूसरा भी किसी अन्य से प्रेरित होगा और वह दूसरा भी किसी अन्य से प्रेरित होगा और इस प्रकार नभोमण्डल में अनवस्था दोष रूपी लता फैल जाएगी।^{१२०}

पूर्व शुभाशुभ कर्मों की कारणाता से ईश्वर की सिद्धि अयुक्तियुक्त

यह ईश्वर महापुरुष होने से वीतरागता से युक्त होता हुआ कुछ प्राणियों को नरक योग्य क्रियाओं में कैसे प्रवृत्त करता है तथा कुछ प्राणियों को स्वर्ग-अपवर्ग योग्य क्रियाओं में कैसे प्रवृत्त करता है? यदि वे जीव पूर्व शुभाशुभ कर्मों के उदय से

४९० जैनदर्शन में कारण-कार्य व्यवस्था : एक समन्वयात्मक दृष्टिकोण

उन-उन प्रकार की क्रियाओं में प्रवृत्त होते हैं, ईश्वर निमित्त मात्र होता है तो यह भी मन्तव्य युक्तिसंगत नहीं है। क्योंकि पूर्व में उस जीव की अशुभ प्रवृत्ति भी ईश्वर के ही आधीन है।^{१२१} जैसा कि कहा है-

अज्ञो जन्तुरनीशः स्यादात्मनः सुखदुःखयोः।

ईश्वरप्रेरितो गच्छेत्स्वर्गं वा श्वभ्रमेव वा॥

यह जीव अपने सुख-दुःख को प्राप्त करने में स्वयं समर्थ नहीं है। ईश्वर के द्वारा प्रेरित होकर वह स्वर्ग या नरक में जाता है। यदि प्राक्तन कार्य में प्रवृत्ति पूर्व प्राक्तन कर्म के कारण होती है तथा उसमें भी प्रवृत्ति प्राक्तनतर कर्म के कारण होती है तो इस प्रकार अनादि हेतु परम्परा होगी और उसी से शुभाशुभ कार्यों में प्रवृत्ति हो जाएगी तब फिर ईश्वर की परिकल्पना से क्या लाभ?^{१२२} जैसा कि कहा है-

शस्त्रौषधादिसम्बन्धाच्चैत्रस्य व्रणरोहणे।

असंबद्धस्य किं स्थाणोः, कारणात्वं न कल्प्यते?

सम्बद्ध को ही कारण माना जाता है, असम्बद्ध को नहीं। शस्त्र के संबंध से चैत्र के व्रण (घाव) होना और औषधि से चैत्र के घाव का भरना, शस्त्र और औषधि की कारणता को सिद्ध करता है। वहाँ असंबद्ध स्थाणु की कारणता को क्यों नहीं स्वीकार किया जाता?

अविनाभाव के अभाव में कार्यमात्र से कारण का अनुमान असंगत

यह कहा जाता है कि “समस्त शरीर, लोक, इन्द्रिय, करण आदि बुद्धि युक्त कारण पूर्वक उत्पन्न होते हैं, आकार विशेष होने के कारण, देव-कुल आदि के समान।” तो यह भी युक्ति संगत नहीं है। क्योंकि यह हेतु भी ईश्वर की सिद्धि नहीं करता यतः ईश्वर के साथ इस हेतु की व्याप्ति सिद्ध नहीं है। देव, कुल आदि का जो दृष्टान्त दिया गया है वह ईश्वरकर्तृत्व के रूप में स्वीकार नहीं किया जाता है। दूसरी बात यह है कि ‘संस्थान’ शब्द की प्रवृत्ति मात्र से सभी कार्यों की बुद्धिमत्-कारणपूर्वकता सिद्ध नहीं होती है। क्योंकि इसमें अविनाभाव लक्षण रूप व्याप्ति का अभाव है, यदि अविनाभाव के बिना ही संस्थान मात्र के देखने से साध्य की सिद्धि होती है तो ऐसा होने पर अतिप्रसंग होगा। जैसा कि कहा है “कुम्भकार के द्वारा मिट्टी के कार्य रूप में घट के निर्माण की सिद्धि होने से बल्मीक का कर्ता कुम्भकार को नहीं माना जा सकता है।”^{१२३}

जगत् का वैचित्र्य ईश्वर की सिद्धि में अनुपपन्न

ईश्वर का कर्तृत्व स्वीकार करने पर जगत् का वैचित्र्य सिद्ध नहीं होता। क्योंकि ईश्वर का एक ही रूप है। आत्मा का अद्वैत पक्ष तो अतीव अयुक्ति संगत होने के कारण आश्रयणीय नहीं है। क्योंकि वहाँ न प्रमाण है, न प्रमेय है, न प्रतिपाद्य है, न प्रतिपादक है, न हेतु है न दृष्टान्त है, न उनका आभास ही भेद रूप में ज्ञात होता है। आत्मा से अभिन्न होने के कारण समस्त जगत् का एकत्व हो जाएगा, उसके अभाव में कौन किसके द्वारा प्रतिपादित किया जाएगा। इस प्रकार शास्त्र का प्रणयन भी नहीं हो सकेगा तथा आत्मा के एक होने के कारण उसका कार्य भी उसी एक आकार का होगा। अतः ईश्वर अद्वैत पक्ष में जगत् की विचित्रता का कारण सिद्ध नहीं होता है।^{१२४}

सन्मति तर्क टीका में ईश्वरवाद का निरसन

सन्मति तर्क के टीकाकार अभयदेव सूरि (१०वीं शती) ने पुरुषवाद का खण्डन करने के पश्चात् ईश्वरवाद का भी खण्डन किया है। उन्होंने पुरुषवाद के खण्डन में जो तर्क प्रस्तुत किये हैं, वे ईश्वरवाद के खण्डन में भी लागू होते हैं^{१२५} किन्तु ईश्वरवाद के खण्डन में कुछ नये तर्क भी प्रस्तुत किये हैं, जो इस प्रकार हैं-

१. यदि ईश्वर दूसरों पर अनुग्रह करने के लिए सृष्टि की रचना करता है तो यह उचित नहीं है, क्योंकि यदि वह अनुग्रह से प्रवृत्त होता है तो उसे समस्त प्राणी समुदाय को एकान्त सुखी निर्मित करना चाहिए।^{१२६}
२. यदि स्वाभाविक शक्ति से ईश्वर जगत् की रचना करता है तो यह भी संगत नहीं है, क्योंकि स्वाभाविक शक्ति होने पर ईश्वर को जगत् की उत्पत्ति-स्थिति-संहार युगपद् कर देने चाहिए।^{१२७} जैसा कि कहा है- “सर्ग-स्थित्युपसंहारान् युगपद् व्यक्तशक्तितः। युगपच्च जगत् कुर्यात् नो चेत् सोऽव्यक्तशक्तिकः।।”^{१२८} यदि ईश्वर में शक्ति अभिव्यक्त है तो उसे सर्ग-स्थिति और संहार एक साथ कर देने चाहिए तथा जगत् की रचना भी एक साथ कर देनी चाहिए। यदि वह ऐसा नहीं करता है तो समझना चाहिए कि उसकी शक्ति व्यक्त नहीं हुई है। अभिव्यक्त शक्ति वाला ईश्वर क्रम से भी सृष्टि रचना करे तो उचित नहीं है।
३. यदि यह कहा जाय कि भगवान की प्रवृत्ति क्रीड़ा आदि के लिए नहीं होती, किन्तु पृथ्वी आदि महाभूतों की प्रवृत्ति जिस प्रकार अपने कार्यों में स्वभावतः होती है इसी प्रकार ईश्वर की भी होती है तो यह भी मान्यता उचित नहीं है। क्योंकि इस प्रकार तो ईश्वर के व्यापार मात्र से होने वाले

समस्त पदार्थ एक साथ हो जायेंगे। क्योंकि उसमें पूर्ण कारण विद्यमान है। यदि इसमें सहकारी कारण की अपेक्षा रहती है तो नित्य ईश्वर में सहकारी कारण की अपेक्षा संगत नहीं है।^{१२९}

प्रभाचन्द्राचार्य द्वारा ईश्वरवाद का खण्डन

प्रभाचन्द्राचार्य (११वीं शती) ने 'प्रमेयकमलमार्तण्ड' के अन्तर्गत ईश्वरवाद का पूर्वपक्ष रखकर उसके तर्कों को अपने बुद्धिबल से खण्डित कर निम्न प्रकार प्रस्तुत किया है-

ईश्वरवादी का मत- न्याय और वैशेषिक दर्शन के अनुसार सर्वज्ञ कर्मों का नाश करके नहीं बनता, अपितु एक अनादि महेश्वर है वही सर्वज्ञ है। उसकी सर्वज्ञता जगत् की रचना से सिद्ध होती है- "क्षित्यादिकं बुद्धिमद्भेतुकं कार्यत्वात्, यत्कार्यं तद्बुद्धिमद्भेतुकं दृष्टम् यथा घटादि, कार्यं चेदं क्षित्यादिकम्, तस्मादबुद्धिमद्भेतुकम्"^{१३०} पृथ्वी, पर्वत, वृक्षादि सभी पदार्थ किसी बुद्धिमान के द्वारा निर्मित हैं, क्योंकि वे कार्य हैं, जैसे घटादि कार्य हैं। पृथ्वी आदि हमेशा से रहते हैं तो उसका निर्माता भी हमेशा से रहना चाहिए। इस अनुमान से अनादि ईश्वर की सिद्धि होती है। जैनादि यह शंका करें कि कर्ता सशरीर है वैसे ही ईश्वर होना चाहिए, तो यह उचित नहीं है, क्योंकि कार्य करने के लिए शरीर की जरूरत नहीं होती, अपितु ज्ञान, इच्छा और प्रयत्न की जरूरत होती है।^{१३१}

प्रभाचन्द्र द्वारा निरसन- ज्ञान, चिकीर्षा और प्रयत्न-आधारता, ये तीन प्रकार की कर्तृता हैं। इस कर्तृत्व के लिए शरीर होना या नहीं होना जरूरी नहीं है, आपका यह कथन अयुक्त है। क्योंकि शरीर के अभाव में कर्तृत्व का आधार होना असंभव है, जैसे मुक्तात्मा में शरीर नहीं होने से कर्तृत्वाधार नहीं है। कार्यों की उत्पत्ति में आत्मा समवायी कारण है, आत्मा और मन का संयोग होना असमवायी कारण है और शरीरादिक निमित्त कारण हैं। इन तीन कारणों के अभाव में कार्य की उत्पत्ति नहीं होती ऐसा आप स्वयं मानते हैं। अतः आपका मत स्ववचनों से ही खण्डित होता है।^{१३२}

ईश्वरवादी- पृथ्वी आदि से उत्पन्न होने वाले स्थावर आदि का कर्ता ईश्वर है। तब जैन शंका करते हैं कि इस बुद्धिमान कर्ता की अनुपलब्धि अभाव के कारण नहीं हो रही है या सद्भाव होते हुए भी अनुपलब्धि लक्षण वाला होने से नहीं हो रही है। इस प्रकार संदेह होने से कार्यत्व हेतु संदिग्ध विपक्ष व्यावृत्ति वाला होकर असिद्ध हो जाता है।^{१३३} ईश्वरवादी कहते हैं कि यह विचार असंगत है, क्योंकि इस तरह सभी

अनुमान समाप्त हो जायेंगे। जहाँ पर अग्नि के अदर्शन में धूम दिखता है, वहाँ शंका होगी कि यहाँ अभाव होने से अग्नि नहीं दिखायी देती है अथवा अनुपलब्धि लक्षण वाली होने से नहीं दिखती है। इस तरह धूम हेतु भी संदिग्ध व्यतिरेकी होने से साध्य का गमक नहीं हो सकेगा।

किन्तु जिस सामग्री से धूम उत्पन्न होता हुआ रसोई में देखा था वह अपनी सामग्री का उल्लंघन नहीं कर सकता है ऐसा समझकर जहाँ पर्वत पर अग्नि नहीं दिखती है वहाँ भी उसका निश्चय हो जाता है। इसी प्रकार जो कार्य होता है वह कर्ता, कारण आदि पूर्वक होता है, ऐसा अनुमान सत्य है। इस हेतु में अतिप्रसंग नहीं है।^{१३३}

प्रभाचन्द्र- धूमादि सभी हेतुओं को संदिग्धानैकान्तिक मानना अज्ञानता है। क्योंकि सामान्य कार्य तो सामान्य कारण के साथ ही अविनाभावी हुआ करता है, जैसे सामान्य धूम सामान्य अग्नि का अविनाभावी होता है। जो घटादि विशेष कार्य होता है उसका विशेष कारण के साथ अविनाभाव निश्चित होता है, जैसे चंदन संबंधी विशेष धूम का विशेष अग्नि के साथ अविनाभाव निश्चित होता है। इस प्रकार सामान्य कार्य सामान्य कारण का और विशेष कार्य विशेष कारण का अनुमापक होता है, ऐसा सिद्धान्त निश्चित होता है।^{१३४}

इसके बावजूद भी सामान्य कार्य को विशेष कारण का अनुमापक माना जायेगा तो महानसादि में विशेष धूम तात्कालिक अग्नि का अविनाभावी होता हुआ जानकर भी उसी समय गोपाल घटिकादि में सामान्य धूम से उस अग्नि का अनुमान होने लगेगा।

ईश्वरवादी- अदृष्ट चेतन से अधिष्ठित होकर कार्य में प्रवृत्त होता है क्योंकि वह विवेकशून्य अचेतन है, जैसे तंतु आदि पदार्थ।^{१३५} वार्तिककार ने भी ईश्वरसिद्धि के लिए दो प्रमाण उपस्थित किए हैं-

१. महाभूत आदि कार्य चेतन से अधिष्ठित होकर प्राणियों के सुख-दुःख का निमित्त बनता है, क्योंकि वह रूपादिमान है। जैसे वाद्य चेतनाधिष्ठित होकर ही बजने का कार्य करता है।
२. पृथ्वी आदि महाभूत बुद्धिमान कारण से अधिष्ठित होकर अपने धारण आदि क्रियाओं में प्रवृत्त होते हैं, क्योंकि वे अनित्य हैं, जैसे कुल्हाड़ी आदि अपने काटने रूप क्रिया में देवदत्त से अधिष्ठित होकर ही प्रवृत्त होता है। जो बुद्धिमान कारण है वही ईश्वर है।

इन दो प्रमाणों से ईश्वर की सिद्धि होती है।^{१३६}

प्रभाचन्द्र- अचेतन का चेतन से अधिष्ठित होकर कार्य करना असंगत है, क्योंकि चेतन को भी अन्य चेतन की प्रेरणा की आवश्यकता रहती है। जैसे-पालकी चलाने वालों को स्वामी की प्रेरणा रहती है, अतः महेश्वर में भी अन्य प्रेरक की कल्पना करनी चाहिए।^{१३८} इस प्रकार महेश्वर में भी अन्य चेतन अधिष्ठायक की कल्पना से अनवस्था दोष आता है।

ईश्वर अदृष्ट की अपेक्षा लेकर कार्यों को करता है तो उस कार्य में अदृष्टकृत उपकार भी रहता है। क्योंकि अनुपकारक की अपेक्षा नहीं हुआ करती है। यदि अदृष्ट के उपकार को ईश्वर से भिन्न मानते हैं तो दोनों का संबंध नहीं बनता है और संबंध की कल्पना करें तो अनवस्था आती है।^{१३९}

इसके अतिरिक्त अन्य तर्कों से भी जैनाचार्य प्रभाचन्द्र ने ईश्वरवादी के मत का निरसन किया है-

सहकारी की अपेक्षा लेकर कार्यों को उत्पन्न करना ईश्वर का स्वभाव है, ईश्वरवादी का यह कथन असत् है। क्योंकि यदि वह स्वभाव अदृष्ट आदि सहकारी के मिलने के पहले भी है, तो आगामी काल में होने वाले जितने कार्य हैं वे सारे उसी समय हो जायेंगे। कारण कि जो जिस समय जिसको उत्पन्न करने में समर्थ होता है वह उस समय उस कार्य को अवश्य करता है, जैसे- अंतदशा को प्राप्त हुआ बीज अंकुर को उत्पन्न करा देता है। ईश्वर में पहले से ही उत्तरकालीन सकल कार्यों को उत्पन्न करने की सामर्थ्य रहती है, क्योंकि वह सदा एक सा स्वभाव वाला है, यदि उस समय सकल कार्यों को उत्पन्न नहीं करता है तो ईश्वर में कार्योत्पत्ति के सामर्थ्य का अभाव हो जाएगा।^{१४०}

ईश्वरवादी कहते हैं कि ईश्वर में सकल कार्योत्पत्ति की सामर्थ्य रहती है, किन्तु सहकारी का अभाव होने से उत्पन्न नहीं करता है।^{१४१} यह बात असंगत है। जो स्वयं समर्थ स्वभाव वाला है वह पर की अपेक्षा नहीं रखता है। क्योंकि समर्थ स्वभावी हो और पर की अपेक्षा भी रखने वाला हो, यह विरुद्ध बात है।^{१४२} यदि ये सहकारी कारण ईश्वर निर्मित हैं तो वही एक साथ कार्य करना रूप आपत्ति खड़ी है और ईश्वर के द्वारा निर्मित नहीं है तो वही कार्यत्व हेतु व्यभिचारी हुआ, क्योंकि सहकारी तो कार्य होते हुए भी ईश्वरकृत नहीं है। इस प्रकार ईश्वर के अनादि निधन सिद्ध नहीं होने से जगत् कर्तृत्वरूप ईश्वर की सिद्धि नहीं होती है।

सांख्यतत्त्वकौमुदी में ईश्वरवाद का खण्डन

सांख्यकारिका की पंक्ति 'इत्येष प्रकृतिकृतो महदादिविशेषभूतपर्यन्तः' [यह सर्ग (सृष्टि) प्रकृति महत्, भूतादि से निर्मित है]- का विवेचन करते हुए कौमुदीकार वाचस्पति मिश्र लिखते हैं कि "आरम्भः सर्गो महदादिभूतान्तः प्रकृत्यैव कृतो नेश्वरेण, न ब्रह्मोपादानो नाप्यकारणः"^{१४२} अर्थात् यह सृष्टि प्रकृति द्वारा की गई है, ईश्वर द्वारा नहीं। यह सृष्टि ब्रह्म-रूप उपादान-कारण का परिणाम नहीं है और न बिना किसी कारण के ही यह सृष्टि हुई है।

ईश्वरवाद को लक्ष्य कर कौमुदीकार ने जो खण्डन किया है, वह इस प्रकार है-

१. यह सृष्टि ईश्वर द्वारा अधिष्ठित प्रकृति से नहीं हो सकती, क्योंकि जो व्यापारहीन (निष्क्रिय) होता है वह किसी का अधिष्ठाता नहीं होता। यथा- निष्क्रिय बड़ई वसूले आदि का प्रयोग किसी कार्य में नहीं कर सकता।^{१४३}
२. जगत् की सृष्टि में ऐश्वर्यशील सृष्टिकारी ईश्वर की कोई कामना नहीं हो सकती, क्योंकि वे आप्तकाम (जिसकी कामनाएँ पूर्ण हो चुकी हों) हैं।^{१४४}
३. सृष्टि करने में ईश्वर की कोई करुणा नहीं हो सकती, क्योंकि सृष्टि के पूर्व जीवों के इन्द्रिय, शरीर और विषयों की उत्पत्ति न होने से उनको दुःख का बोध नहीं होता, अतः किस दुःख को दूर करने की इच्छा ईश्वर को होगी। यदि सृष्टि के बाद आविर्भूत जीवों को देखकर करुणा होती है- ऐसा माना जाए तो 'करुणा से सृष्टि होती है और सृष्टि होने पर करुणा-रूप मनोभाव उत्पन्न होता है' इस प्रकार का अन्योन्याश्रय दोष उत्पन्न हो जाएगा।^{१४५}
४. यदि ईश्वर करुणा से प्रेरित होकर सृष्टि करते हैं तो उन्हें केवल सुखी प्राणियों की ही सृष्टि करनी चाहिए, विचित्र (बहुविध सुख-दुःखोत्पादक कर्माशय युक्त) प्राणियों की नहीं। इसके समाधान में यह कहा जाय कि कर्म की विचित्रता होने से उसके फल भी विचित्र हो जाते हैं, तो ईश्वर को अधिष्ठाता मानने की क्या आवश्यकता है?^{१४६}

इस प्रकार सांख्य दार्शनिक व्यापारहीनता (निष्क्रियता), आप्तकामता और कारुण्याभाव के तर्क से ईश्वरवादियों के मत को असंगत स्थापित करते हैं।

स्याद्वादमंजरी के अनुसार ईश्वरवाद का प्रत्यवस्थान

ईश्वर के जगत्कर्तृत्व में दूषण देते हुए आचार्य हेमचन्द्रसूरि (१०७८ ई.शती) ने अन्ययोगव्यवच्छेद द्वात्रिंशिका में कहा है-

४९६ जैनदर्शन में कारण-कार्य व्यवस्था : एक समन्वयात्मक दृष्टिकोण

कर्तास्ति कश्चिज्जगतः स चौकः स सर्वगः स स्ववशः स नित्यः।

इमाः कुहेवाकविडम्बनाः स्युस्तेषां न येषामनुशासकस्त्वम्।^{१४८}

हे नाथ! जो अप्रामाणिक लोग १. जगत् का कोई कर्ता है २. वह एक है ३. सर्वव्यापी है ४. स्वतंत्र है और ५. नित्य है आदि दुराग्रह से परिपूर्ण सिद्धान्तों को स्वीकार करते हैं, उनका तू अनुशास्ता नहीं हो सकता।

स्याद्वादमंजरी नामक टीका में मल्लिषेण सूरि (१२९३ ई. शती) ने हेमचन्द्रसूरि (१०७८ ई.शती) के मन्तव्य का विस्तार से विवेचन करते हुए ईश्वरवाद का खण्डन प्रस्तुत किया है। उन्होंने खण्डन के पूर्व पूर्वपक्ष का भी प्रामाणिक निरूपण किया है।

(१) ईश्वर जगत्कर्ता नहीं

पूर्वपक्ष (न्याय-वैशेषिक)- पृथिवी, पर्वत, वृक्ष आदि पदार्थ किसी बुद्धिमान कर्ता के बनाये हुए हैं; क्योंकि ये कार्य हैं। जो कार्य होते हैं वे सब किसी बुद्धिमान कर्ता के बनाये हुए होते हैं जैसे घट, पृथिवी पर्वत आदि। यह बुद्धिमान कर्ता ईश्वर है।^{१४९}

उत्तरपक्ष (मल्लिषेण सूरि)- 'तदयुक्तम्, व्याप्तेरग्रहणात्' आपका अनुमान अयुक्त है, क्योंकि इस अनुमान में व्याप्ति का ग्रहण नहीं होता।

प्रश्न उपस्थित होता है कि ईश्वर ने शरीर धारण करके जगत् को बनाया है अथवा शरीर रहित होकर। यदि ईश्वर ने शरीर धारण करके जगत् को बनाया है तो वह शरीर हम लोगों की तरह दृश्य था अथवा पिशाच की तरह अदृश्य? यदि वह शरीर हमारी तरह दृश्य था, तो इसमें प्रत्यक्ष से बाधा आती है।^{१५०}

ईश्वर पिशाच आदि के समान अदृश्य शरीर से जगत् की सृष्टि करता है और आप इसमें ईश्वर के माहात्म्य विशेष को कारण स्वीकार करते हो, यह भी ठीक नहीं है, क्योंकि ईश्वर का माहात्म्य विशेष सिद्ध होने पर उसका अदृश्य शरीर सिद्ध होगा और अदृश्य शरीर सिद्ध होने पर माहात्म्यविशेष सिद्ध होगा जिससे इतरेतराश्रय दोष का प्रसंग बनेगा।^{१५१}

यदि ईश्वर ने शरीर रहित होकर जगत् को बनाया है, ऐसा मानेंगे तो ईश्वर को अशरीरस्रष्टा मानने में दृष्टान्त और दार्ष्टान्तिक विषम हो जायेंगे, क्योंकि घटादि निर्माता के दृष्टान्त शरीर सहित कर्ता के होते हैं।^{१५२}

इस कारण सशरीर और अशरीर दोनों पक्षों में कार्यत्व हेतु की सकर्तृत्व साध्य के साथ व्याप्ति सिद्ध नहीं होती।^{१५३}

(२) जगत् का निर्माण एक ईश्वर द्वारा संभव नहीं

पूर्वपक्ष- यदि बहुत से ईश्वरों को संसार का कर्ता स्वीकार किया जाय तो एक दूसरे की इच्छा में विरोध उत्पन्न होने के कारण एक वस्तु का अन्य रूप में निर्माण होने से संसार में असमंजस उत्पन्न हो जायेगा। अतः ईश्वर एक है।^{१५४}

उत्तरपक्ष (मल्लिषेणसूरि)- यह कथन एकान्त सत्य नहीं है। क्योंकि सैकड़ों कीड़ियाँ एक ही बामी को बनाती हैं, बहुत से शिल्पी एक ही महल को बनाते हैं, बहुत सी मधुमक्खियाँ एक ही शहद के छत्ते का निर्माण करती हैं, फिर भी वस्तुओं की एकरूपता में कोई विरोध नहीं आता। यदि फिर भी आप बामी, प्रासाद आदि का कर्ता ईश्वर को ही मानते हो तो इससे ईश्वर के प्रति आप लोगों की निरुपम श्रद्धा ही प्रकट होती है। इस तरह तो जुलाहे और कुंभकार आदि को पट और घट आदि का कर्ता न मानकर ईश्वर को ही इनका भी कर्ता मान लेना चाहिये।^{१५५}

इस प्रकार मतिभेद के भय से आपके द्वारा एक ईश्वर की कल्पना करना वैसे ही है जैसे कोई कृपण पुरुष खर्च के भय से अपने स्त्री-पुत्रादि को छोड़कर वन में चला जाता है।^{१५६}

(३) ईश्वर की सर्वज्ञता का निरसन

पूर्वपक्ष (न्याय वैशेषिक) - न्याय-वैशेषिक कहते हैं कि यदि ईश्वर को नियत प्रदेश में ही व्याप्त माना जाय तो अनियत स्थानों के तीनों लोकों के समस्त पदार्थों की यथारीति उत्पत्ति संभव न होगी। जैसे कुम्भकार एक प्रदेश में रहकर नियत प्रदेश के घटादिक पदार्थ को ही बना सकता है, वैसे ही ईश्वर भी नियत प्रदेश में रहकर अनियत प्रदेश के पदार्थों की रचना नहीं कर सकता। इसलिए ईश्वर सर्वव्यापी है। ईश्वर सब पदार्थों को जानने वाला है, क्योंकि यदि ईश्वर को सर्वज्ञ न मानें तो यथायोग्य उपादान कारणों के न जानने के कारण वह ईश्वर अणुरूप कार्यों की उत्पत्ति न कर सकेगा।^{१५७}

उत्तरपक्ष (मल्लिषेण सूरि)- ईश्वर का सर्वगतत्व शरीर की अपेक्षा से है अथवा ज्ञान की अपेक्षा से? प्रथम पक्ष में ईश्वर का अपना शरीर ही तीनों लोकों में व्याप्त हो जाएगा, फिर दूसरे बनाने योग्य (निर्मेय) पदार्थों के लिए कोई स्थान ही न रहेगा। ईश्वर को ज्ञान की अपेक्षा सर्वगत मानने पर वेद से विरोध आता है। वेद में

४९८ जैनदर्शन में कारण-कार्य व्यवस्था : एक समन्वयात्मक दृष्टिकोण

ईश्वर को शरीर की अपेक्षा से सर्वव्यापी कहा है। श्रुति भी है- “विश्वतोऽश्रुत विश्वतो मुखो विश्वतः पाणिरुत विश्वतः पपात्” ईश्वर सर्वत्र नेत्रों का, मुख का, हाथों का और पैरों का धारक है।^{१५८}

(४) ईश्वर जगत्सर्जन में स्वतन्त्र भी नहीं

पूर्वपक्ष (न्याय वैशेषिक)- ईश्वर स्वतंत्र (स्ववश) है, क्योंकि वह अपनी इच्छा से ही सम्पूर्ण प्राणियों को सुख-दुःख का अनुभव कराने में समर्थ है।^{१५९} कहा भी है-

ईश्वरप्रेरितो गच्छेत् स्वर्गं वा श्वभ्रमेव वा।

अन्यो जन्तुरनीशोऽयमात्मनः सुखदुःखयोः॥

ईश्वर द्वारा प्रेरित किया हुआ जीव स्वर्ग और नरक में जाता है। ईश्वर की सहायता के बिना कोई अपने सुख-दुःख उत्पन्न करने में स्वतंत्र नहीं है।

ईश्वर को परतन्त्र स्वीकार करने में उसके परमुखापेक्षी होने से, मुख्य कर्तृत्व को बाधा पहुँचेगी जिससे कि उसका ईश्वरत्व ही नष्ट हो जाएगा।^{१६०}

उत्तरपक्ष (मल्लिषेणसूरि)- यदि ईश्वर स्वाधीन होकर जगत् को रचता है और वह परम दयालु है, तो वह सर्वथा सुख-सम्पदाओं से परिपूर्ण जगत् को न बनाकर सुख-दुःख रूप जगत् का क्यों सर्जन करता है? यदि कोई कहे कि जीवों के जन्मान्तर में उपार्जन किये हुए शुभ-अशुभ कर्मों से प्रेरित ईश्वर जगत् को बनाता है, तो फिर ईश्वर के स्वाधीनत्व का ही लोप हो जाता है। अतएव ईश्वर अनीश्वर (असमर्थ) है, स्वतंत्र नहीं।^{१६१}

“तदेवमेवंविधदोषकलुषिते पुरुषविशेषे यस्तेषां सेवाहेवाकः स खलु केवलं बलवन्मोहविडम्बनापरिपाक इति”^{१६२} इस प्रकार अनेक दोषों से दूषित पुरुषविशेष ईश्वर को जगत् के कर्ता मानने का आग्रह केवल बलवान मोह की विडम्बना का ही फल है।

इस प्रकार जैनाचार्य शीलांक, अभयदेवसूरि, प्रभाचन्द्र एवं मल्लिषेणसूरि के द्वारा ईश्वरवाद के खण्डन में प्रदत्त तर्क महत्वपूर्ण हैं। जैनदर्शन की मान्यता है कि ईश्वर जगत् का रचयिता नहीं है वह जीवों को शुभाशुभ कर्मों का फल भी प्रदान नहीं करता है। सांख्यतत्त्वकौमुदीकार वाचस्पतिमिश्र ने भी ईश्वर की मान्यता का निरसन

किया है। यहाँ पर यह उल्लेखनीय है कि उदयन ने न्यायकुसुमांजलि में ईश्वर की सिद्धि में जो तर्क दिए हैं, उनके निरसन करने में जैन दार्शनिक सक्षम रहे हैं।

पुरुषकार (पुरुषार्थ)

जैन दर्शन में पुरुषकार (पुरुषार्थ) का महत्त्व

जैनदर्शन श्रमण संस्कृति का प्रतिनिधि दर्शन है। 'श्रमण' शब्द में श्रम या पुरुषार्थ की महत्ता अन्तर्निहित है। मोक्ष की प्राप्ति में पुरुषकार या पुरुषार्थ का महत्त्व पदे-पदे स्थापित है।

सिद्धसेनसूरि (५वीं शती) के सन्मतितर्क में जिन पाँच कारणों के समवाय का उल्लेख है, उनमें 'पुरिसे' को भी एक कारण प्रतिपादित किया गया है। षष्ठ अध्याय के पूर्वार्द्ध में 'पुरिसे' शब्द से पुरुषवाद अर्थ ग्रहण करके परम पुरुष, ब्रह्म और ईश्वर की कारणता पर विचार किया गया है। प्राचीन वाङ्मय में कहीं पुरुष को ही समस्त जगत् का कारण स्वीकार किया गया है, तो कहीं उसे ब्रह्म का स्वरूप दिया गया है। कहीं ईश्वर को सृष्टि कर्ता के रूप में सिद्ध किया गया है। जैन दर्शन के अनुसार न ब्रह्मवाद उचित है न पुरुषवाद उचित है और न ही ईश्वरवाद। इसीलिए जैन दार्शनिकों ने इन तीनों का निरसन करके पुरुषकार या पुरुषार्थ को महत्त्व दिया है।

महान् जैन दार्शनिक हरिभद्रसूरि (७००-७७० ई.शती) ने इसीलिए 'पुरिसे' शब्द के स्थान पर 'पुरिस किरियाओ' पद का प्रयोग किया है। इसका तात्पर्य है कि पुरुष अर्थात् आत्मा या जीव की क्रियाएँ या कार्य ही जैनदर्शन के कारणवाद के संदर्भ में अभीष्ट हैं। उपासकदशांग सूत्र में पुरुष की इन क्रियाओं को उत्थान, कर्म, बल, वीर्य आदि शब्दों से अभिव्यक्त किया गया है। नियतिवाद का खण्डन करते हुए भगवान् महावीर ने कुम्भकार शकडाल के समक्ष स्पष्ट रूप से उत्थान, कर्म, बल, वीर्य स्वरूप पुरुषार्थ का महत्त्व स्पष्ट किया है। व्याख्याप्रज्ञप्ति सूत्र में भी इनका उल्लेख हुआ है। वहाँ इनका स्वरूप बताते हुए कहा गया है- 'उद्वाणो कम्मे बल्ले वीरिण्ण पुरिसक्कारपरक्कमे, तं चेव जाव अफासे पन्नत्ते'^{१६२} अर्थात् उत्थान कर्म, बल, वीर्य, पुरुषकार, पराक्रम- ये सब जीव के उपयोग विशेष हैं अर्थात् अमूर्त होने से वर्ण, गंध, रस, स्पर्श से रहित हैं। जैनागमों में उत्थान, कर्म, बल, वीर्य, पुरुषकार और पराक्रम शब्दों का प्रयोग अनेकशः हुआ है। जो सभी जीव के पुरुषार्थ के प्रतीक हैं। उत्थान आदि का क्रमशः स्वरूप निम्नानुसार है-

५०० जैनदर्शन में कारण-कार्य व्यवस्था : एक समन्वयात्मक दृष्टिकोण

उत्थान- आत्म-पौरुष की उद्यतता एवं तत्परता।

कर्म- आत्म-पौरुष के साथ की जाने वाली क्रिया।

बल- क्रिया में आत्म-शक्ति का प्रयोग

वीर्य- आत्मशक्ति का प्रेरक रूप जो सामर्थ्य का अनुभव करता है।

पुरुषकार/पराक्रम- प्रयत्नपूर्वक आत्मपौरुष का प्रयोग

वीर्यान्तराय कर्म के क्षयोपशम से जीव में आत्मशक्ति का अनुभव होता है, जो उत्थान, कर्म, बल, वीर्य, पुरुषार्थ, पराक्रम आदि के रूप में प्रकट होता है।

जैन दर्शन आत्म-स्वातन्त्र्यवादी दर्शन है। इसमें प्रत्येक आत्मा को अपने दुःख-सुख का कर्ता अंगीकार किया गया है। जैनदर्शन के कर्मसिद्धान्त की अवधारणा है कि आत्मा स्वयं अपने कृत कर्मों का फल प्राप्त करता है। व्याख्याप्रज्ञप्ति सूत्र में कहा भी गया है- अत्तकडे दुःखे नो परकडे^{६५} अर्थात् दुःख आत्मकृत है, परकृत नहीं। उत्तराध्ययन सूत्र में कहा गया है- 'अप्या कत्ता विकत्ता य दुहाण य सुहाण य'^{६६} अर्थात् आत्मा ही अपने दुःख-सुख का कर्ता और विकर्ता है। जैनदर्शन में जीव के कर्मों का फल-प्रदाता ईश्वर को नहीं माना गया। इसमें कर्मों की ही स्वचालित व्यवस्था अंगीकार की गई है, जो यथा समय उदय में आकर जीव को फल प्रदान करते हैं। अरिहंत परमात्मा को तो जैन दर्शन स्वीकार करता है जो राग-द्वेष से पूर्णतः रहित होता है। ऐसे परमात्मा को सर्वज्ञ अवश्य स्वीकार किया गया है, किन्तु उसे न तो जगत् का स्रष्टा माना गया है और न ही जीवों के कर्म फल का नियन्ता।

आचारांग सूत्र में 'से आयावादी लोयावादी कम्मावादी किरियावादी'^{६६} सदृश वाक्य भी इंगित करते हैं कि जो आत्मवादी है, वह लोकवादी है, कर्मवादी है और क्रियावादी है। जैनदर्शन में सब जीवों की आत्म को पृथक्-पृथक् अंगीकार किया गया है तथा उनमें स्वयं में मुक्त होने का सामर्थ्य बताया गया है। प्रत्येक संसारी आत्मा आत्मकृत पौरुष के द्वारा अष्ट कर्मों के बंधन से सदा-सदा के लिए मुक्त हो सकता है। यह जैन दर्शन का अद्भुत सिद्धान्त है। सुख-दुःख या कर्मों को आत्मकृत मानने के कारण जैन दर्शन में पुरुषार्थ, पराक्रम या पुरुषकार का अत्यन्त महत्त्व है।

इस दृष्टि से जैनदर्शन को पुरुषार्थवादी दर्शन भी कहा जा सकता है। पुरुष मिथ्यात्वी है या सम्यक्त्वी, देशविरत है या सर्वविरत, पापाचरण में संलग्न है या धर्माचरण में इत्यादि अवस्थाओं के आधार पर ही पुरुष या जीव की आत्मदशा का

विकास या पतन होता है। इसीलिए भगवान महावीर कहते हैं- 'उड्डिए नो पमायाए'^{१६७} अर्थात् उठो प्रमाद मत करो। जैनदर्शन के अनुसार जब तक जीव या आत्मा स्वयं अहिंसा, संयम और तप में पराक्रम नहीं करता तब तक वह बंधन से मुक्त नहीं हो सकता।

भारतीय संस्कृति में पुरुषार्थ- चतुष्टय

भारतीय संस्कृति में त्रिवर्ग एवं पुरुषार्थ चतुष्टय की चर्चा मिलती है। पुरुषार्थ के त्रिवर्ग और चतुर्वर्ग का प्रतिपादन अमरकोश के निम्न श्लोकांश से होता है- "त्रिवर्गो धर्मकामर्थः चतुर्वर्गः समोक्षकैः"^{१६८} धर्म, अर्थ एवं काम को त्रिवर्ग एवं मोक्ष सहित त्रिवर्ग को चतुर्वर्ग कहा गया है। यह चतुर्वर्ग पुरुषार्थ चतुष्टय के नाम से अधिक प्रसिद्ध है। अग्निपुराण में कहा है-

धर्मार्थकाममोक्षाश्च पुरुषार्था उदाहृताः^{१६९}

अर्थात् धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष पुरुषार्थ कहे गए हैं।

भारतीय विचारधारा में पुरुष की उत्पत्ति के साथ ही स्वयं ब्रह्मा ने पुरुषार्थ की व्यवस्था की है। प्रारम्भ में त्रिवर्ग की ही व्यवस्था थी। कालान्तर में मोक्ष को भी पुरुषार्थ चतुष्टय में स्थान दिया गया।

धर्म-पुरुषार्थ

महर्षि कणाद ने धर्म पुरुषार्थ को मोक्ष में सहायक मानते हुए कहा- 'यतोऽभ्युदय-निःश्रेयससिद्धिः स धर्मः'^{१७०} अर्थात् धर्म वही है जिससे अभ्युदय एवं निःश्रेयस की सिद्धि हो। ऋग्वेद में धर्म ऋत के अर्थ में प्रकाशित हुआ है। छान्दोग्योपनिषद्^{१७१} में 'धर्म' शब्द आश्रमों के कर्तव्यों की ओर संकेत करता है। स्मृतियों में 'धर्म' को वर्ण-धर्म के अन्तर्गत समाविष्ट किया गया है। धर्म की कुछ अन्य परिभाषाएँ दी हैं, यथा- 'अहिंसा परमो धर्मः'^{१७२} 'आनुशास्यं परो धर्मः'^{१७३} 'आचारः परमो धर्मः'^{१७४} ऋग्वेद में ऋतु के शाश्वत नियम के रूप में धर्म का स्वरूप व्यापक था। धर्म में प्राकृतिक, पारमार्थिक, सामाजिक, वैयक्तिक सभी पक्षों का सुन्दर समावेश है। धर्म मानव से संबंधित है। अतः मानव के सभी पक्ष धर्म से सम्बद्ध हैं।

भारतीय विचारधारा में धर्म साध्य और साधन दोनों अर्थों में प्रयुक्त होता है। ऋत की अवस्था में धर्म साध्य है। धीरे-धीरे धर्म का साधन रूप विकसित हुआ। यह अर्थ, काम और मोक्ष का साधन कहलाने लगा। धर्म-पुरुषार्थ मोक्ष की दिशा में आगे बढ़ने की सीढ़ी है।

५०२ जैनदर्शन में कारण-कार्य व्यवस्था : एक समन्वयात्मक दृष्टिकोण

अर्थ-पुरुषार्थ

जीवन में अर्थ के महत्त्व के कारण ही अर्थ को पुरुषार्थ के रूप में अंगीकार किया गया है। नारद-स्मृति में कहा है-

'अर्थमूलाः क्रिया सर्वा यत्नस्तस्यार्जने यतः।'^{१७५}

मनुष्यों की सारी क्रियाएँ ही अर्थमूलक हैं, अतएव उसके उपार्जन में मनुष्य को महान् प्रयत्न करना चाहिए।

महाभारत में कहा है-

अर्थ इत्येव सर्वेषां कर्मणामव्यतिक्रमः,

न होतेऽर्थेन वर्तते धर्मकामाविति श्रुतिः।

अर्थस्यावयवावेतौ धर्मकामाविति श्रुतिः,

अर्थसिद्ध्यै विनिर्वृत्तावुभावे तौ भविष्यतः।।'^{१७६}

अर्थ ही समस्त कर्मों की मर्यादा के पालन में सहायक है। अर्थ के बिना धर्म और काम भी सिद्ध नहीं होते। श्रुति का कथन है कि धर्म और काम अर्थ के ही दो अवयव हैं। अर्थ की सिद्धि से उन दोनों की भी सिद्धि हो सकती है।

काम-पुरुषार्थ

काम तृतीय महत्त्वपूर्ण पुरुषार्थ है। काम का अर्थ है इच्छा, तृष्णा, एषणा आदि। कहा भी गया है- 'काम्यते इति कामः' अर्थात् विषय एवं पाँचों इन्द्रियों से उत्पन्न होने वाला शारीरिक और मानसिक सुख मुख्यतः काम कहलाता है। शरीर और मन के स्तर तक ही नहीं आत्मा के स्तर तक काम का विस्तार है। ज्ञान की इच्छा, मोक्ष की कामना, प्रेम करने की भावना ये सभी काम के अंगभूत हैं। ऋग्वेद के अनुसार काम की उत्पत्ति सृष्टि की इच्छा के रूप में हुई है।^{१७७}

गीता के अनुसार मानव का स्वभाव सत्त्व, रज और तम इन तीन गुणों से निर्धारित होता है।^{१७८} इस आधार पर काम की तीन अवस्थाएँ हैं-

१. शारीरिक काम- इन्द्रिय से उत्पन्न इच्छाएँ शारीरिक काम हैं। यह तमोगुण की स्थिति है। इसे स्थूल या लौकिक काम की अवस्था भी कहा जा सकता है। यह क्षणिक सुख की अवस्था है।

२. सांवेगिक काम- मन के संवेग रूप काम की स्थिति सांवेगिक काम कहलाता है। इसमें रजोगुण की अधिकता व सत्त्व गुण का समावेश होता है। यह मानसिक सुख की अवस्था है।
३. आध्यात्मिक व नैतिक काम- इसमें मानव आत्मसाक्षात्कार को जीवन का लक्ष्य बनाता है। इसमें केवल सत्त्व गुण ही शेष रहता है। इस अवस्था में किसी अन्य वस्तु की कामना नहीं रहती है। निष्काम भाव के कारण यह ब्रह्म रूप काम की स्थिति है।

काम के अन्तर्गत व्यक्ति के अभ्युदय एवं निःश्रेयस के लिए तीनों अवस्थाओं की स्थिति आवश्यक है।

मोक्ष-पुरुषार्थ

‘त्रिवर्गस्य निवृत्तिर्मोक्ष उच्यते’ अर्थात् त्रिवर्ग की निवृत्ति ही मोक्ष है। यही चतुर्थ पुरुषार्थ है। शाश्वत आनन्द की अवस्था ही मोक्ष है। अपूर्णता से पूर्णता और अभाव से स्वभाव की ओर जाना मोक्ष है। मोक्ष की साधना मानव की शक्ति व क्षमता का प्रयोगात्मक रूप है। मोक्ष-प्राप्ति हेतु मानव अज्ञान व बन्धन को दूर कर शारीरिक व मानसिक शुद्धि के द्वारा आत्मा के मूल स्वरूप का साक्षात्कार करता है। बन्धन से निष्कृति मोक्ष है। ब्रह्मबिन्दूपनिषद् में कहा है- ‘बन्धाय विषयासक्तं मुक्त्यै निर्विषयं स्मृतम्’^{१९९} अर्थात् विषयासक्त मन बन्ध का कारण है और निर्विषय मन मुक्ति का कारण है।

गीता में मोक्ष के अमृतत्व अनुभव के संबंध में कहा है- ‘जन्ममृत्युजरादुःखैर्विमुक्तोऽमृतमश्नुते’^{१८०} जीव जन्म, मृत्यु, जरा के दुःखों से मुक्त होकर अमृतरूप आत्मा का अनुभव करता है। जिस पद को पाकर व्यक्ति आध्यात्मिक, आधिदैविक व आधिभौतिक दुःख-बंधनों से मुक्त हो जाता है, उसे मोक्ष कहते हैं।

जैन दर्शन में धर्म-पुरुषार्थ की प्रमुखता

जैनदर्शन में उत्तरकालीन साहित्य में पुरुषार्थ-चतुष्टय की चर्चा मिलती है।^{१८१} किन्तु जैनागमों में मुख्यतः धर्म एवं मोक्ष पुरुषार्थ को ही मुख्य प्रतिपाद्य माना जा सकता है। अर्थ और काम का उपदेश जैनागम नहीं करते। उनमें धर्म और मोक्ष की ही प्रेरणा प्राप्त होती है। अर्थ और काम पर जैन दर्शन के अनुसार धर्म का नियन्त्रण आवश्यक है। मोक्ष साध्य है और धर्म साधन है। धर्म की साधना से ही मोक्ष

५०४ जैनदर्शन में कारण-कार्य व्यवस्था : एक समन्वयात्मक दृष्टिकोण

की प्राप्ति संभव है, इस दृष्टि से जैन दर्शन के अनुसार जीव के द्वारा आचरणीय पुरुषार्थों में धर्म पुरुषार्थ ही प्रधान पुरुषार्थ है। इसलिए इस अध्याय में पुरुषार्थ या पुरुषकार के रूप में जो भी चर्चा की जायेगी, उसमें धर्म पुरुषार्थ की चर्चा ही मुख्य रहेगी। यद्यपि अर्थ और काम भी जैन दर्शन के अनुसार उत्थान, कर्म, बल, वीर्य, पुरुषकार, पराक्रम स्वरूप पुरुषार्थ की अपेक्षा रखते हैं। तथापि उनमें किया गया उत्थान, कर्म, बल-वीर्य भगवान महावीर का उपदेशाटव्य नहीं है। इसलिए प्रसंगतः कहीं अर्थ और काम-पुरुषार्थ के रूप में पुरुषकार की यत्-किंचित् चर्चा भले ही आ जाए, किन्तु मोक्ष की प्राप्ति में उनके सहयोगी न होने के कारण जैन दर्शन में धर्म-पुरुषार्थ का ही विशेष महत्त्व है। क्योंकि धर्म ही मोक्ष में सहायक है।

जैन साधना-पद्धति में पुरुषार्थ

जैनसाधना पद्धति में सम्यक् दर्शन और सम्यक् ज्ञान के साथ सम्यक् चारित्र और सम्यक् तप का विशेष महत्त्व है। यहाँ सम्यक् दर्शन की प्राप्ति के लिए भी पुरुषार्थ अपेक्षित है तो सम्यक् चारित्र और सम्यक् तप तो धर्म पुरुषार्थ के ही प्रतीक हैं। पंच महाव्रतों का पालन, पाँच समिति और तीन गुप्ति स्वरूप अष्टप्रवचन माता का आराधन तथा जीवन पर्यन्त तीन करण-तीन योग से सामायिक की साधना धर्म-पुरुषार्थ का उत्कृष्ट रूप है। साधुओं के आचार पक्ष को लें तो वह पूर्ण रूप से धर्म पुरुषार्थ को प्रतिबिम्बित करता है। जैन साधु-साध्वी वाहनों का उपयोग नहीं करते, पदयात्रा करते हैं। स्वाध्याय और ध्यान ही उनकी दिनचर्या के प्रमुख अंग हैं। आहार आदि की गवेषणा वे शरीरन्यात्रा के लिए एवं संयम पालन में सुकरता के लिए करते हैं। आहार की गवेषणा के भी विविध नियम हैं, जिनका पालन करके निर्दोष आहार ग्रहण करना होता है। प्रत्येक क्रिया में उनका विवेक जागृत रहना आवश्यक माना जाता है। किस प्रकार बोलना, किस प्रकार वस्तुओं को उठाना और रखना तथा शौचादि के लिए किस प्रकार नियमों का पालन करना, सबका साध्वाचार में प्रतिपादन हुआ है।

जीवों में भव्यत्व रूपी योग्यता भी बिना साधना के फलित नहीं होती। यही कारण है कि भव्यत्व स्वभाव वाले जीवों को भी पुरुषार्थ के बिना न सम्यक्त्व की प्राप्ति होती है और न ही केवलज्ञान आदि की।

संयम में पराक्रम का उपदेश

उत्तराध्ययन सूत्र में चार दुर्लभ अंग चतुष्टय का वर्णन प्राप्त होता है-

चत्तारि परमंगाणि दुल्लहाणीह जन्तुणो।

माणुसत्तं सुई सद्धा संजमंभि य वीरियं।।^{१८२}

१. मनुष्यत्व २. धर्म-श्रवण ३. धर्म-श्रद्धान ४. संयम में पराक्रम- ये चारों जीव को दुर्लभता से प्राप्त होते हैं। इसी अध्ययन में दुर्लभ चतुष्टय में भी संयम में पराक्रम को सबसे दुष्कर प्रतिपादित किया गया है।^{१८३} जिससे संयम में पराक्रम का महत्त्व जैन दृष्टि से सर्वथा स्पष्ट हो जाता है। संयम में पराक्रम का फल अनास्रव के रूप में जीव को प्राप्त होता है।^{१८४}

संयम के स्थानांग सूत्र में चार प्रकार प्रतिपादित हुए हैं- मन संयम, वचन संयम, काय संयम और उपकरण संयम।^{१८५} इसी प्रकार त्याग के भी चार प्रकार कहे गए हैं- मन त्याग, वचन त्याग, काय त्याग और उपकरण त्याग।^{१८६} संयम और त्याग के ये प्रकार पुरुषार्थ की व्यापकता को निरूपित कर रहे हैं। प्रत्येक स्तर पर संयम एवं त्याग हो, इसके लिए भगवान ने अनेक स्थान पर पराक्रम का उपदेश देते हुए कहा है-

- “पुरिसा! परमचक्रवृ! विपरिक्कम।”^{१८७}

परिग्रह त्याग के परिश्रेक्ष्य में कहा है- हे परमचक्षुषमान् पुरुष! तू पराक्रम कर।

- “तम्हा अविमणे वीरे सारए समिए सहिते सदा जते”^{१८८}

मुनि सदा अविमना, प्रसन्नमना, स्वारत, समित सहित, वीर होकर संयमन करे।

- ‘जाणित्तु दुक्खं पत्तेयं सातं.....जाव सोत पण्णाणा अपरिहीणा जाव णोत्तपण्णाणा अपरिहीणा जाव घाणपण्णाणा अपरिहीणा जाव जीहपण्णाणा अपरिहीणा जाव फासपण्णाणा अपरिहीणा इच्छेतेहिं विरुवरुवेहिं पण्णाणेहिं अपरिहीणेहिं आयट्ठं सम्मं समणुवासेज्जासिं ति बोमि।’^{१८९}

प्रत्येक प्राणी का सुख और दुःख अपना-अपना है, इसलिए जब श्रोत्रेन्द्रिय, चक्षुरिन्द्रिय, घ्राणेन्द्रिय, रसनेन्द्रिय और स्पर्शनेन्द्रिय की प्रज्ञान शक्ति हीन नहीं हुई है तब तक आत्महित के लिए सम्यक् प्रकार से प्रयत्न करना चाहिए।

- “अणुसासणमेव पक्कमे, वीरेहिं सम्मं पवेदिं”^{१९०}

जिनेश्वर के द्वारा निरूपित अनुशासन में पराक्रम करो।

- ‘बुजिझज्ज तिउट्टेज्जा, बंधणं परिजाणिया’^{१९१}

बन्धन को जानकर, बंधन को तोड़ो।

- “*विरता समुद्रिता कासवस्स अणुधम्मचारिणो*”^{१९२}

काश्यप गोत्रीय भगवान महावीर का धर्मानुयायी साधक विरत तथा संयम में समुत्थित होता है।

इस प्रकार आगमों में पदे-पदे पराक्रम पर बल दिया गया है।

पुरुषकार : जीव का लक्षण

उत्तराध्ययन में ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप और उपयोग के साथ वीर्य यानी पराक्रम को भी जीव का लक्षण बताया गया है।^{१९३} व्याख्याप्रज्ञप्ति में यहाँ तक कहा है कि उत्थान, कर्म, बल, वीर्य और पुरुषकार-पराक्रम आदि धर्म आत्मा के सिवाय अन्यत्र परिणमन नहीं करते।^{१९४} कहने का अभिप्राय यह है कि पुरुषकार करने में मात्र जीव ही समर्थ है। जीव अपने आत्मभाव की अभिव्यक्ति पुरुषकार के माध्यम से ही करता है।^{१९५}

अभिव्यक्ति ही नहीं जीव शब्द, रूप, गन्ध, रस, स्पर्श, गति, स्थिति, लावण्य, यशःकीर्ति के साथ उत्थान, कर्म, बल, पुरुषकार पराक्रम का अनुभव भी करता है।^{१९६}

जीव के लक्षण के अतिरिक्त पुरुषार्थ के स्वरूप के संबंध में भी आगम में चर्चा प्राप्त होती है। गणधर गौतम द्वारा पुरुषकार के स्वरूप के संबंध में प्रश्न करने पर भगवान महावीर फरमाते हैं- ‘*उद्धाणे कम्मे बले वीरिणं धुरिसक्कारपरक्कमे, तं चेव जाव अफासे पन्नत्ते*’^{१९७} उत्थान, कर्म, बल, वीर्य, पुरुषकार-पराक्रम सभी जीव के उपयोग विशेष हैं, इस कारण अमूर्त होने से वर्ण, गंध, रस और स्पर्श से रहित हैं।

चारित्र धर्म : पुरुषार्थ का द्योतक

स्थानांग सूत्र में श्रुतधर्म और चारित्र धर्म के रूप में दो प्रकार के धर्म प्रतिपादित हुए हैं- ‘*दुविहे धम्मे पण्णत्ते तंजहा- सुयधम्मे चेव, चरित्तं धम्मे चेव*’^{१९८}

श्रुत धर्म ज्ञान का तथा चारित्र धर्म आचरण का द्योतक है। यह चारित्र धर्म पुरुषार्थ या पुरुषकार को ही ख्यापित करता है। चारित्र धर्म की सत्प्रेरणा देते हुए उत्तराध्ययन में कहा है-

किरियं च रोद्यए धीरे, अक्कीरियं परिवज्जए।

दिट्ठीए दिट्ठि-संपन्ने, धम्मं चर सुदुच्छरं।।^{१९९}

क्रिया यानी सदाचरण में रुचि रखो और अक्रिया का त्याग करो। सम्यक् दृष्टि पूर्वक दुश्चर धर्म का आचरण करो।

परीषह-जय में पुरुषार्थ

जैन धर्म में परीषहों को सहने का जो उपदेश दिया गया है, उसमें भी साधक के पुरुषार्थ का ही पक्ष प्रकट होता है। साधु के लिए २२ परीषह बताए हैं। जिनमें कुछ अनुकूल परीषह हैं तथा कुछ प्रतिकूल। दोनों ही प्रकार के परीषह साधक को साधना से डिगा सकते हैं। किन्तु जो इन परीषहों के उपस्थित होने पर समभाव पूर्वक आत्म पौरुष (पुरुषार्थ) का प्रयोग करता है।^{१००} वह पूर्वबद्ध कर्मों की तीव्रता से निर्जरा करता है। देव, मनुष्य और तिर्यच के द्वारा उपसर्ग दिए जाने पर भी साधु समत्व भावों का त्याग नहीं करता है तो वह निरन्तर मोक्ष मार्ग में पराक्रम करता है।^{१०१}

वीर्य के रूप में पुरुषार्थ निरूपण

प्रत्येक जीव में पुरुषार्थ पराक्रम का वाचक वीर्य होता है। भगवान से प्रश्न किया गया कि हे भगवन्! जीव सवीर्य है या अवीर्य? भगवान ने उत्तर दिया- जीव सवीर्य भी है और अवीर्य भी। जिन जीवों में उत्थान, कर्म, बल, वीर्य और पुरुष-पराक्रम हैं वे जीव लब्धि-वीर्य और करण वीर्य दोनों से सवीर्य हैं। जो जीव उत्थान, बल, वीर्य, पराक्रम से रहित हैं वे लब्धि वीर्य से सवीर्य हैं, किन्तु करण वीर्य से अवीर्य हैं।^{१०२} लब्धि का अर्थ है योग्यता अर्थात् उनमें वीर्य या पुरुषार्थ करने की योग्यता तो है, किन्तु पुरुषार्थ करते नहीं हैं इसलिए वे लब्धिवीर्य कहलाते हैं तथा करण का अर्थ है-व्यापार। अर्थात् जो जीव वीर्य या पुरुषार्थ का प्रयोग करते हैं वे करण वीर्य कहलाते हैं। जो जिस अपेक्षा से वीर्यवान् है, उसे उसी अपेक्षा से भगवान ने सवीर्य या अवीर्य कहा है।

सूत्रकृतांग सूत्र के प्रथम श्रुतस्कन्ध के आठवें 'वीर्य' अध्ययन में बाल-वीर्य और पण्डित-वीर्य का विवेचन है। प्रमाद युक्त कर्म को बाल वीर्य तथा अप्रमादयुक्त अकर्म अथवा संयम स्वरूप पराक्रम को पण्डितवीर्य कहा है।^{१०३} प्राणघातक, कषाय और राग-द्वेष को बढ़ाने वाले, पापजन्य जितने भी पराक्रम हैं, वे सभी सकर्मवीर्य या बालवीर्य हैं। अकर्म वीर्य में अध्यात्म बल (धर्मध्यान आदि) से समस्त पापप्रवृत्तियों, मन और इन्द्रियों को, दुष्ट अध्यवसायों तथा भाषा के दोषों को रोकने की प्रवृत्तियाँ समाहित हैं।

निर्युक्तिकार वीर्य को द्रव्य और भाव रूप से दो प्रकार का बतलाते हैं। सूत्रकृतांग के 'वीर्य' अध्ययन में भाव वीर्य का निरूपण है। मनोवीर्य, वाग्वीर्य,

कायवीर्य, इन्द्रियवीर्य और आध्यात्मिक वीर्य के भेद से भाव वीर्य पाँच प्रकार का है। जीव अपनी योग शक्ति द्वारा पुद्गलों को मन, वचन, काय और इन्द्रिय के रूप में परिणत करता है तो वे क्रमशः मनोवीर्य, वागवीर्य, कायवीर्य एवं इन्द्रियवीर्य कहलाते हैं। आध्यात्मिक वीर्य आत्मा की आन्तरिक शक्ति से उत्पन्न सात्त्विक बल है। इसे निर्युक्तिकार दस प्रकार का बतलाते हैं- १. उद्यम (ज्ञानोपार्जन, तपश्चरण आदि में आन्तरिक उत्साह) २. धृति (संयम और चित्त में स्थैर्य) ३. धीरत्व (परीषहों और उपसर्गों के समय अविचलता) ४. शौण्डीर्य (त्याग की उत्साहपूर्वक उच्च कोटि की भावना) ५. क्षमाबल ६. गाम्भीर्य (अद्भुत साहसिक या चामत्कारिक कार्य करके भी अहंकार न आना) ७. उपयोग बल ८. योग बल ९. तपोबल १०. संयम में पराक्रम (१७ प्रकार के संयम के पालन में तथा अपने संयम को निर्दोष रखने में पराक्रम करना)।

भाव वीर्य के अन्तर्गत आने वाले सभी वीर्य तीन कोटि के होते हैं- पण्डित वीर्य, बालपण्डित वीर्य और बाल वीर्य। पण्डित वीर्य संयम में पराक्रमी साधुता सम्पन्न सर्वविदित साधुओं का होता है, बालपण्डित वीर्य व्रतधारी संयमासंयमी देशविरति श्रावक का होता है और बाल वीर्य असंयम परायण हिंसा आदि से अविरत या व्रत भंग करने वाले का होता है।

सम्यक्त्व पराक्रम : उत्तराध्ययन का एक अध्ययन

उत्तराध्ययन सूत्र का 'सम्यक्त्व पराक्रम'^{१०४} अध्ययन तो इस बात का पुष्ट प्रमाण है कि मानव को मोक्ष के उन्मुख होना है तो पराक्रम करना होगा। यह पराक्रम धर्म- श्रद्धा, संवेग-निर्वेद, गुरु-शुश्रूषा, सामायिक, चतुर्विंशतिस्तव, वन्दना, प्रतिक्रमण, कायोत्सर्ग, प्रत्याख्यान, प्रतिलेखना, प्रायश्चित्त, क्षमापना, स्वाध्याय, वाचना, प्रतिपृच्छना, परावर्तना, अनुप्रेक्षा, धर्मकथा, श्रुत आराधना, मन की एकाग्रता, संयम, तप, प्रत्याख्यान, वैयावृत्य, मनोगुप्ति, वचनगुप्ति, कायगुप्ति, इन्द्रियनिग्रह, क्रोध-विजय, मान-विजय, माया-विजय, लोभ-विजय आदि साधनाओं के रूप में करणीय है। इस अध्ययन में साधना के इन विविध पहलुओं का लाभ भी बताया गया है, जिससे कोई भी साधना में प्रवृत्त हो सकता है।

तप के रूप में पुरुषार्थ

जैन दर्शन में आत्म पुरुषार्थ का सबसे सुन्दर निदर्शन तप साधना है। पूर्वबद्ध कर्मों का क्षय करने का यह अमोघ उपाय है। प्रायः भारतीय संस्कृति में यह माना जाता है कि कर्मों का फलभोग किये बिना उनसे मुक्ति नहीं मिलती। किन्तु जैन दर्शन

में पूर्वबद्ध कर्मों के यथाकाल उदय से पूर्व भी उदीरणा करके क्षय किया जा सकता है। कुछ कर्मों की स्थिति को कम किया जा सकता है उनकी फलदान शक्ति को अल्प किया जा सकता है। तपःसाधना का इस संबंध में जैन दर्शन में अत्यन्त महत्त्व स्वीकार किया गया है। उत्तराध्ययन सूत्र में कहा गया है-

“भवकोडिसंचियं कम्मं, तवसा निज्जरिज्जई।”^{१८०} अर्थात् करोड़ों भवों में संचित कर्मों को तप के द्वारा निर्जरित किया जा सकता है। यह पुरुषार्थ जीव की अनन्त शक्ति को जागृत करने में समर्थ है। पुरुषार्थ से ही कोई केवलज्ञानी बन सकता है और अष्ट कर्मों से रहित होकर सिद्ध-बुद्ध-मुक्त बन सकता है।

पराक्रम का एक रूप : अप्रमत्तता

आगमों में पदे-पदे जीव को प्रमाद रहित होने का ही उपदेश दिया गया है। उत्तराध्ययन सूत्र के दसवें अध्ययन में भगवान् ने अपने प्रमुख शिष्य गणधर गौतम को बार-बार कहा- ‘समयं गोयम! मा पमायए’ अर्थात् हे गौतम! समय मात्र का भी प्रमाद मत करो। यह संदेश इस बात का सूचक है कि जीव को सदैव सजग रहकर कर्म-क्षय के लिए उद्यत रहना चाहिए। जीवन क्षणभंगुर है अतः उसका उपयोग पूर्वबद्ध कर्मों के क्षय में करना ही मेधावी पुरुष का लक्षण है।

आचारांग सूत्र में अप्रमत्त होकर आत्मसाधना में संलग्न रहने का उपदेश दिया गया है- ‘यमत्तस्स अत्थि भयं, अपमत्तस्स नत्थि भयं’ अर्थात् जो प्रमाद युक्त है उसको भय है एवं जो अप्रमत्त है उसको किसी प्रकार का भय नहीं है। इसी प्रकार आचारांग में अनेक वाक्य प्राप्त होते हैं, जो अप्रमत्तता रूप पुरुषार्थ की प्रेरणा करते हैं-

- पासिय आतुरे पाणे अप्पमत्तो परिव्वए^{१८१}

पीड़ित प्राणियों को देखकर तू अप्रमादी होकर गमन कर।

- विगिंच कोहं अविकंपमाणे इमं निरुद्धाउयं सपेहाए^{१८२}

आयु सीमित है, इस बात को समझकर तू निश्चल रहता हुआ क्रोध को छोड़।

- खणं जाणाहि पंडि^{१८३}

हे पंडित! क्षण को जानो।

- अप्पमत्ते सया परकम्मेज्जासि^{१८४}

अप्रमत्त होकर सदा (धर्म में) पराक्रम कर।

संवर एवं निर्जरा में पुरुषार्थ की उपयोगिता

नवीन कर्म का बंध न करने में मानव का वर्तमान पुरुषार्थ अत्यन्त उपयोगी है। वह चाहे तो संयम की साधना के साथ आस्रव के निरोध रूप संवर का आराधन कर सकता है। पूर्वबद्ध कर्म यथाकाल उदय में आते हैं। किन्तु जो उनके उदयकाल में राग-द्वेष से रहित होकर समभाव का अभ्यास करता है वह नवीन कर्मों के बंध को न्यून कर सकता है। यही नहीं पूर्वबद्ध कर्मों को संयम और तप की साधना के द्वारा निर्जरित भी कर सकता है। संवर और निर्जरा की साधना मोक्ष की प्राप्ति में प्रमुख कारण है। इस साधना में अन्य कारणों के साथ जीव का पुरुषार्थ प्रधान कारण है। यही भगवान महावीर के उपदेशों का सार भी है। अपने अशुभ भावों को शुभ में परिणत करने का कार्य आत्म पुरुषार्थ के बिना संभव नहीं है। इस पुरुषार्थ के द्वारा भविष्य में उदय में आने वाले कर्मों को पहले उदय में लाने रूप उदीरणा भी संभव है। मन-वचन-काया तथा पाँच इन्द्रियों पर संयम रखने का दायित्व जीव का ही है। इसमें उसका पुरुषार्थ निहित है। संयम की साधना से संवर एवं तप की साधना से निर्जरा स्वतः होती है। इसका सजगतापूर्वक आराधन बिना पुरुषार्थ के संभव नहीं है।

शरीरादि की प्राप्ति में पुरुषार्थ की कारणाता

संसार के सभी जीवों को शरीर स्व पुरुषकार से प्राप्त होता है, न कि अन्य हेतु से। अतः कहा है-

जीवप्पवहे! एवं सति अत्थि उद्वाणे ति वा, कम्मे ति वा।

बले ति वा, वीरिए ति वा, पुरिसक्कार-परक्कमे ति वा।^{३१०}

शरीर जीव से उत्पन्न होता है। ऐसा होने में जीव का उत्थान, कर्म, बल, वीर्य और पुरुषाकार-पराक्रम कारण होता है। अतः जीव स्वयं (शरीर) का कर्ता है।

कर्म सिद्धान्त में पुरुषार्थ का स्थान

पुरुषार्थ से बद्ध कर्मों में भी परिवर्तन संभव है। यह परिवर्तन कर्म की निम्न अवस्थाओं में माना जाता है- उद्वर्तना, अपवर्तना, उदीरणा और संक्रमण। उद्वर्तना का अर्थ है- कर्मों की स्थिति में वृद्धि और अनुभाग में तीव्रता लाना। अपवर्तना में कर्मों की स्थिति कम हो जाती है और विपाक मन्द पड़ जाते हैं। उदीरणा के द्वारा व्यक्ति बाद में उदय में आने वाले कर्मों को खींचकर समय से पहले ही उदय में लाकर खाया देता है। ये तीनों अवस्थाएँ जैन दर्शन में पुरुषार्थ को प्रतिपादित करती हैं। पुरुषार्थ द्वारा कर्म-परिवर्तन का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त है- संक्रमण। संक्रमण

से अभिप्राय है कर्मों की उत्तर प्रकृतियों का परस्पर परिवर्तन। उदाहरणार्थ सातावेदनीय का असातावेदनीय में अथवा असातावेदनीय का सातावेदनीय में परिवर्तन।

संक्रमण रूपी परिवर्तन कर्म की मूल प्रकृतियों में नहीं होता, अपितु उत्तरप्रकृतियों में होता है। उत्तरप्रकृतियों में भी आयुर्कर्म की उत्तरप्रकृतियों में नहीं होता है तथा दर्शनमोह और चारित्रमोह में भी एक दूसरे के रूप में संक्रमण नहीं होता है। स्थानांग सूत्र में संक्रमण के विषय में चार भंगों का निर्देश मिलता है, वे इस प्रकार हैं-

१. सुभे णाममेगे सुभविवागे

२. सुभे णाममेगे असुभविवागे

३. असुभे णाममेगे सुभविवागे

४. असुभे णाममेगे असुभविवागे^{३१९}

१. शुभ और शुभ विपाक- कोई कर्म शुभ होता है और उसका विपाक भी शुभ होता है।

२. शुभ और अशुभ विपाक- कोई कर्म शुभ होता है और उसका विपाक अशुभ होता है।

३. अशुभ और शुभ विपाक- कोई कर्म अशुभ होता है और उसका विपाक शुभ होता है।

४. अशुभ और अशुभ विपाक- कोई कर्म अशुभ होता है और उसका विपाक भी अशुभ ही होता है।

उक्त चारों प्रकारों में प्रथम और चतुर्थ प्रकार तो बन्ध अनुसार विपाक वाले हैं तथा द्वितीय और तृतीय प्रकार संक्रमण-जनित परिणाम वाले हैं। कर्म सिद्धान्त के अनुसार मूल कर्म, चारों आयु कर्म, दर्शन मोह और चारित्र मोह का अन्य प्रकृति रूप संक्रमण नहीं होता। शेष सभी पुण्य-पाप रूप कर्मों का अपनी मूल प्रकृति के अन्तर्गत परस्पर में परिवर्तन रूप संक्रमण हो जाता है। अतः उपर्युक्त चतुर्भंगी पुरुषार्थ का महत्त्वपूर्ण सूत्र प्रस्तुत करती है।

कर्म की उदीरणा भी बिना पुरुषार्थ के संभव नहीं। व्याख्याप्रज्ञप्ति सूत्र में भगवान् से प्रश्न किया गया-

प्रश्न- भगवन्! जीव अनुदीर्ण-उदीरणादिक की उदीरणा करता है तो क्या उत्थान, कर्म, बल, वीर्य और पुरुषकार-पराक्रम से करता है अथवा अनुत्थान, अकर्म, अबल, अवीर्य, अपुरुषकार-पराक्रम से?

उत्तर- गौतम! जीव अनुदीर्ण-उदीरणा भविक कर्म की उदीरणा उत्थान से, कर्म से, बल से, वीर्य से और पुरुषकार-पराक्रम से करता है।^{११२}

इसी प्रकार अनुदीर्ण कर्म के उपशम, वेदन एवं निर्जरा में भी जीव उत्थान, कर्म, बल, वीर्य एवं पराक्रम करता है।^{११३}

पुरुषार्थ से असंख्यात गुणी कर्म निर्जरा

भारतीय कर्म सिद्धान्त में प्रायः यह माना जाता है कि जिसने एक बार जिन कर्मों का अर्जन कर लिया उसे वे कर्म भोगने ही पड़ते हैं, भोगने पर ही उनसे मुक्ति होती है। किन्तु जैन कर्म सिद्धान्त के अनुसार बांधे हुए कर्मों को उसी रूप में भोगना आवश्यक नहीं है। उनकी कालावधि एवं तीव्र फलदान शक्ति को समत्व की साधनापूर्वक कम किया जा सकता है। पूर्वबद्ध कर्मों की स्थिति, बंध एवं अनुभाग बंध का अपकर्षण किया जा सकता है। कर्म-साहित्य में कर्म-निर्जरा की क्रमिक अधिकता की दृष्टि से ११ गुणश्रेणियाँ निरूपित हैं। कर्मग्रन्थ, पंचसंग्रह, गोम्मटसार आदि में ११ गुणश्रेणियों का विवेचन प्राप्त होता है। जिनमें उत्तरोत्तर अधिक से अधिक कर्म-निर्जरा होती है। वे ११ गुणश्रेणियाँ इस प्रकार हैं-

१. सम्यक्त्व की उत्पत्ति में पहली २. देशविरति की उत्पत्ति में दूसरी ३. सर्वविरति की उत्पत्ति में तीसरी ४. अनन्तानुबंधी कषायों की विसंयोजना में चौथी ५. दर्शन मोहत्रिक के क्षय में पाँचवीं ६. चारित्र मोह के उपशमन में छठी ७. उपशांत मोह गुणस्थान में सातवीं ८. चारित्र मोहनीय के क्षय में आठवीं ९. क्षीण मोहनीय में नौवीं १०. सयोगी केवली गुणस्थान में दसवीं ११. अयोगी केवली गुणस्थान में ग्यारहवीं श्रेणि होती है।

गुणश्रेणि में उत्तरोत्तर संख्यात गुण हीन-हीन समय में उत्तरोत्तर परिणामों की विशुद्धि की अधिकता होते जाने के कारण कर्मों की निर्जरा असंख्यात गुणी अधिक होती है। अर्थात् जैसे-जैसे मोहनीय कर्म निःशेष होता जाता है, वैसे-वैसे निर्जरा भी बढ़ती जाती है और उसका द्रव्य प्रमाण असंख्यात गुणा-असंख्यात गुणा अधिकाधिक होता जाता है। फलस्वरूप वह जीव मोक्ष के अधिक निकट पहुँचता जाता है। जहाँ गुणाकार रूप से गुणित निर्जरा का द्रव्य अधिकाधिक पाया जाता है, उसको गुणश्रेणि

कहा जाता है और उन स्थानों में होने वाली निर्जरा गुणश्रेणि निर्जरा कहलाती है। गुणश्रेणि का विधान आयु कर्म को छोड़कर शेष सात कर्मों में ही होता है।

सम्यक्त्व की प्राप्ति के समय जो तीन करण होते हैं, उनमें अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण में गुणश्रेणि होती है। सम्यक्त्व प्राप्त होने के पश्चात् भी जीव अन्तर्मुहूर्त पर्यन्त प्रवर्द्धमान परिणाम वाला रहता है तब जो गुणश्रेणि होती है वह सम्यक्त्व निमित्तक गुणश्रेणि कहलाती है। देशविरति और सर्वविरति के निमित्त से भी गुणश्रेणियाँ होती हैं। उनमें प्रथम गुणश्रेणि की अपेक्षा द्वितीय गुणश्रेणि में असंख्यात गुणी कर्मदलिकों की निर्जरा होती है और द्वितीय गुणश्रेणि से तृतीय गुणश्रेणि में संख्यात गुणी दलिकों की गुणश्रेणि रचना होती है। सर्वविरति नामक गुणश्रेणि प्रमत्त और अप्रमत्त संयत गुणस्थान में होती है। अनन्तानुबंधी की विसंयोजना में होने वाली चौथी गुणश्रेणि चौथे से सातवें गुणस्थान तक होती है। परन्तु सप्तम गुणस्थानवर्ती जीव अनन्तगुण विशुद्ध परिणाम वाला होने से सर्वविरति के निमित्त से होने वाली गुणश्रेणि की अपेक्षा असंख्यातगुणी निर्जरा करता है। दर्शन मोहनीय की तीन प्रकृतियों सम्यक्त्व, मिथ्यात्व और सम्यक्त्व-मिथ्यात्व का क्षय करते समय दर्शन मोहनीय की क्षपक गुणश्रेणि होती है। आठवें, नौवें और दसवें गुणस्थान में चारित्र मोहनीय का उपशम करते समय छठी गुणश्रेणि होती है। उपशान्त मोह नामक ग्यारहवें गुणस्थान में सातवीं गुणश्रेणि और क्षपक श्रेणि में चारित्र मोहनीय का क्षपण करते हुए आठवीं गुणश्रेणि होती है। क्षीण-मोहनीय नामक बारहवें गुणस्थान में नौवीं गुणश्रेणि, सयोगी केवली नामक १३वें गुणस्थान में दसवीं गुणश्रेणि और अयोगी केवली नामक १४ वें गुणस्थान में ग्यारहवीं गुणश्रेणि होती है। गोम्मटसार जीव काण्ड में अयोगी केवली गुणश्रेणि के स्थान पर समुद्घात केवली गुणश्रेणि नाम गिनाया गया है। इन सभी गुणश्रेणियों में उत्तरोत्तर असंख्यातगुणी निर्जरा होती है। किन्तु कर्म-दलिकों के वेदन का काल उत्तरोत्तर संख्यातगुणा हीन लगता है। अर्थात् कम समय में अधिक-अधिक कर्म दलिकों का क्षय होता है। कर्मदलिकों की रचना को गुणश्रेणि कहते हैं। उपर्युक्त गुणश्रेणियों में असंख्यात गुणे कर्मदलिक उदय में आते हैं।

उक्त ग्यारह प्रकार की गुणश्रेणियों में से यद्यपि प्रत्येक का काल अन्तर्मुहूर्त ही होता है, तथापि प्रत्येक के अन्तर्मुहूर्त का काल उत्तरोत्तर कम होता जाता है तथा निर्जरा का परिमाण सामान्य से असंख्यात गुणा-असंख्यात गुणा होने पर भी उत्तरोत्तर बढ़ता जाता है। अर्थात् परिणामों के उत्तरोत्तर विशुद्ध होने से उत्तरोत्तर कम-कम समय में अधिक-अधिक कर्मों की निर्जरा होती है।

गुणश्रेणियों का उपर्युक्त विवेचन जीव के आत्मिक पुरुषार्थ को पुष्ट करता है। जीव के भावों की विशुद्धि से क्रोधादि कषायों पर नियन्त्रण से और सम्यक्त्व के प्रभाव से कर्मदलित तीव्रता से क्षय को प्राप्त होते हैं। यही गुणश्रेणियों का प्रतिपाद्य है।

पुरुषार्थ के उपर्युक्त विवेचन से यह सुस्पष्ट है कि जैनदर्शन में धर्म-पुरुषार्थ की प्रमुखता है और वही मोक्ष का साधन है। जैन-साधना पद्धति में पुरुष-क्रिया या पराक्रम का विशेष स्थान है। चारित्र-धर्म हो या तप का आचरण सर्वत्र आत्म-पुरुषार्थ अपेक्षित है। संवर एवं निर्जरा की समस्त साधना में आत्म-उद्यम रूप पुरुषार्थ अपेक्षित है। गुणश्रेणि से होने वाली निर्जरा में इस पुरुषार्थ का विशेष महत्त्व है। पुरुषकार तो जीव का लक्षण भी है जो मोक्ष का भी साधन है। लब्धिवीर्य एवं करण वीर्य का प्रतिपादन हो या संयम में पराक्रम का, साधना में अप्रमत्तता का विवेचन हो या परीषह-जय का, अपवर्तन करण का प्रसंग हो या संक्रमण करण का सर्वत्र जैनदर्शन में आत्मपौरुष रूप पुरुषार्थ का महत्त्व स्थापित है।

निष्कर्ष

जैनदर्शन मान्य 'पंच समवाय' सिद्धान्त में पुरुषकार या पुरुषार्थ का अप्रतिम स्थान है। आधुनिक मान्यतानुसार पंच समवाय में काल, स्वभाव, नियति एवं कर्म के साथ पुरुषार्थ का समावेश किया जाता है। यह उपर्युक्त ही है, क्योंकि जैनदर्शन श्रमणसंस्कृति का प्रतिनिधिदर्शन है जिसमें 'श्रम' का महत्त्व निर्विवाद है। यह श्रम दुःखमुक्ति के लिए करणीय साधना को इंगित करता है। इस श्रम में संयम एवं तप की साधना का समावेश है। आगम-वाङ्मय में एतादृक् पुरुषार्थ के पोषक अनेक उद्धरण सम्प्राप्त हैं।

आत्मकृत कर्म के अनुसार फलप्राप्ति को स्वीकार करने वाले आत्म-स्वातन्त्र्यवादी जैनदर्शन में उत्थान, कर्म, बल, वीर्य, पुरुषकार एवं पराक्रम आदि के रूप में पुरुषार्थ की महत्ता स्थापित हो यह स्वाभाविक है, तथापि इस अध्याय में पुरुषवाद एवं पुरुषार्थवाद का पृथक् रूपेण विचार करने का कारण है सिद्धसेनसूरि की निम्नांकित गाथा-

कालो सहाव नियई पुव्वकथं पुरिसे कारणेगता।

मिच्छत्तं ते चेव उ, समासओ होन्ति सम्मत्तं।^{२१४}

इस गाथा में 'पुरिसे' शब्द आया है, जिसका टीकाकार शीलांक ने 'पुरुष' अर्थ करके पुरुषवाद की चर्चा की है। पुरुषवाद के अनुसार जगत् का स्रष्टा परम पुरुष है जो सर्वव्यापक है, नित्य है, सर्वज्ञ है और एक है। इस पुरुषवाद का जैन दार्शनिक निरसन करते हैं।

हरिभद्रसूरि ने 'पुरिसे' के स्थान पर 'पुरिसकिरियाओ' (पुरुषक्रिया) शब्द का प्रयोग किया है जो धीरे-धीरे पुरुषकार एवं पुरुषार्थ के रूप में प्रयुक्त होने लगा। जैन दर्शन के फलक पर यह पुरुषक्रिया, पुरुषकार या पुरुषार्थ शब्द का प्रयोग अधिक समीचीन है।

'पुरिसे' एवं 'पुरिसकिरियाओ' शब्दों के आधार पर प्रस्तुत अध्याय दो भागों में विभक्त है। अध्याय के पूर्वार्द्ध में 'पुरुषवाद' की चर्चा है, जिसके साथ ब्रह्मवाद एवं ईश्वरवाद पर भी विचार किया गया है। अध्याय के उत्तरार्द्ध में पुरुषकार/पुरुषार्थ का निरूपण है।

'पुरुषवाद' के बीज ऋग्वेद के पुरुषसूक्त में उपलब्ध हैं। इसमें ऐसे पुरुष की कल्पना की गई है जो सहस्र शिरो, सहस्र भुजाओं वाला, सहस्र नेत्रों वाला और सहस्र पैरों वाला है। वह सम्पूर्ण जगत् को व्याप्त किये हुए है। पुरुष सूक्त का एक मंत्र प्रसिद्ध है-

पुरुष एवेदं सर्वं यद् भूतं यच्च भाव्यम्।

उतामृतत्वस्येश्वरो यदन्येनाभवत् सह।।^{२१५}

जो विद्यमान है, उत्पन्न हुआ है, उत्पन्न होने वाला है, जो मोक्ष-सुख और उससे भिन्न का भी शासक है वह पुरुष ही है। उस पुरुष से ही समस्त सृष्टि की रचना स्वीकार की गई है। ऋग्वेद का यह मंत्र ही पुरुषवाद की मान्यता का आधार प्रतीत होता है।

उपनिषद् वाङ्मय में भी पुरुषवाद की मान्यता का समर्थन प्राप्त होता है। ऐतरेयोपनिषद्, श्वेताश्वतरोपनिषद्, मुण्डकोपनिषद्, तैत्तिरीयोपनिषद्, प्रश्नोपनिषद् आदि उपनिषदों में पुरुषवाद वर्णित है। कहीं ब्रह्मवाद के रूप में उसका वर्णन किया गया है। तैत्तिरीयोपनिषद् में कहा गया है-

यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति।

यत्प्रयन्त्याभिसंविशन्ति। तद्विजिज्ञास्व। तद् ब्रह्मेति।।^{२१६}

उपनिषदों में ब्रह्म से जगत् की उत्पत्ति का विवेचन अधिक हुआ है। जो पुराणों में परिवर्धित हुआ है। हरिवंश पुराण में भगवान् नारायण को ब्रह्म से उत्पन्न स्वीकार किया गया है। देवी भागवत पुराण में अद्वैत ब्रह्म का निरूपण करते हुए उसे नित्य और सनातन बताया है तथा यह भी कहा गया है कि जब वह विश्व की रचना में तत्पर होता है तब वह अनेक रूप हो जाता है। महाभारत में अविनाशी परमात्मा से

आकाश, आकाश से वायु, वायु से अग्नि और अग्नि से जल तथा जल से पृथ्वी की उत्पत्ति निर्दिष्ट है। भगवद् गीता में श्री कृष्ण अर्जुन से कहते हैं- 'बीजं मां सर्वभूतानां विद्धि पार्थ सनातनम्।'^{११७} रामायण और मनुस्मृति में भी सृष्टि रचना का इसी प्रकार निरूपण हुआ है। मनुस्मृति में स्वयंभू परमात्मा से पृथ्वी, जल, तेज, वायु एवं आकाश की उत्पत्ति प्रतिपादित है।

जैनागम सूत्रकृतांग में ब्रह्म, ईश्वर और स्वयंभू के द्वारा जगत् के निर्माण की चर्चा है। जैनाचार्यों ने पुरुषवाद, ब्रह्मवाद और ईश्वरवाद तीनों का निरूपण एवं निरसन किया है। इस अध्याय के पूर्वार्द्ध में पुरुषवाद के अन्तर्गत ब्रह्मवाद एवं ईश्वरवाद का भी उपस्थापन एवं खण्डन किया गया है।

द्वादशारनयचक्र में मल्लवादी क्षमाश्रमण ने, विशेषावश्यकभाष्य में जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण ने तथा सन्मतितर्क टीका में अभयदेव सूरि ने पुरुषवाद का उपस्थापन एवं निरसन किया है। पुरुषवाद के उपस्थापन के कतिपय बिन्दु निम्न प्रकार हैं-

१. समस्त सूक्ष्म और स्थूल जगत् का कारण पुरुष है। यह पुरुष चेतन आत्मा के रूप में प्रतिपादित है। बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा आदि सूक्ष्म जगत् और रूप, रसादि स्थूल जगत् की अभिव्यक्ति पुरुष से ही होती है।
२. चेतन पुरुष ही सूक्ष्म-स्थूल जगत् के रूप में अभिव्यक्त होता है। इसलिए वह पुरुष सर्वात्मक है।
३. वह पुरुष ज्ञान लक्षण वाला है। जब ज्ञान पुरुष सर्वात्मक है तो वह सर्वज्ञ भी है।
४. पुरुष की चार अवस्थाएँ हैं- जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति और तूर्य।
५. जिस प्रकार कुम्भकार के प्रयत्न से भ्रमणशील चक्र में कुम्भकार की प्रवृत्ति का शेष पाया जाता है उसी प्रकार पुरुष की प्रवृत्ति का शेष यह जगत् है।
६. जिस प्रकार सूक्ष्म रूप, रस, गंध, स्पर्श एवं शब्द के नाना भेदों से युक्त पृथ्वी आदि स्थूल रूपादि उत्पन्न होते हैं। उसी प्रकार अमूर्त पुरुष से भी रूपादि भाव प्राप्त होते हैं।
७. एक पुरुष ही समस्त लोक की स्थिति-सर्ग-प्रलय का हेतु है। प्रलय में भी अलुप्त ज्ञानातिशय की शक्ति से युक्त होता है। पुरुष की कारणता के संबंध में अभयदेव सूरि ने निम्नांकित मंत्र उद्धृत किया है-

ऊर्णनाभ इवांऽशूनां चन्द्रकान्त इवाऽम्भसाम्।

प्ररोहाणामिव प्लक्षः स हेतुः सर्वजन्मिनाम्॥

८. जिस प्रकार तन्तुओं का कारण ऊर्णनाभ, जल का कारण चन्द्रकान्तमणि तथा जटाओं का कारण वटवृक्ष होता है उसी प्रकार सभी उत्पन्न होने वाले कार्यों का कारण वह पुरुष होता है।
९. विशेषावश्यक भाष्य में गणधर अग्निभूति के मुख से उच्चरित 'पुरुष एव इदं सर्वम्' वेदवाक्य की व्याख्या में पुरुषवाद को प्रस्तुत करते हुए कहा गया है कि जो उत्पन्न हो चुके हैं जो उत्पन्न होने वाले हैं, जो मोक्ष के स्वामी हैं, जो आहार से वृद्धिगत होते हैं, जो पशु आदि चलते हैं, जो पर्वत आदि नहीं चलते हैं। जो मेरु आदि दूर हैं तथा कुछ नजदीक हैं, जो सबके अन्दर हैं और जो सबके बाहर हैं, वे सभी पुरुष रूप हैं। उससे अतिरिक्त कर्म नाम की कोई वस्तु नहीं है।

पुरुषवाद के निरसन में मल्लवादी क्षमाश्रमण, जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण, अभयदेवसूरि के तर्कों का संक्षेप इस प्रकार है—

१. द्वादशारनयचक्र में मल्लवादी कहते हैं कि पुरुष की जाग्रत, सुप्त, सुषुप्ति और तूर्य नामक चार अवस्थाएँ निरूपित की गई हैं। उनमें पुरुष तत्त्व इन चार अवस्थाओं के लक्षण वाला है अथवा ये चार अवस्थाएँ पुरुषादि के लक्षण वाली हैं? यदि चार अवस्थाएँ स्वयं ही पुरुष हैं तो इन अवस्थाओं से भिन्न किसी पुरुष की सिद्धि नहीं होती। चार अवस्थाओं का समुदाय ही यदि पुरुष है तो यह समुदायवाद मात्र रह जाएगा, पुरुषवाद नहीं।
२. यदि तूर्य अवस्था के प्रतिपादन के लिए इन चार अवस्थाओं का क्रम स्वीकार किया गया है तो इन अवस्थाओं के क्रमिक होने से क्षणिकवाद की आपत्ति आती है।
३. चार अवस्थाओं के चार ज्ञानों की कल्पना करने से कल्पना ज्ञान मात्र ही सत्य रह जाएगा तथा उनका आभास कराने वाली बाह्य वस्तु जैसे स्वप्न में नहीं होती है वैसे नहीं रहेगी। इस प्रकार विज्ञान के अतिरिक्त पदार्थों का शून्यवाद उपस्थित हो जाएगा।
४. यदि यह पुरुष चार अवस्थाओं से एक अवस्था मात्र स्वरूप वाला है तो अन्य अवस्थाओं का अभाव हो जायेगा। यदि प्रत्येक अवस्था में विनिद्रा

अवस्था की सर्वात्मकता है तो तृण आदि भी सर्वात्मक या सर्वगत हो जायेंगे। फिर पुरुष की एकत्व की कल्पना से क्या लाभ?

५. पुरुष की स्वात्मा ही उसकी अवस्था है। यदि अवस्था नहीं है तो पुरुष नहीं है। यदि पुरुष की अवस्था को स्वीकार भी किया जाय तो पुरुष की चार अवस्थाओं की एकता सिद्ध होती है। उदाहरणार्थ विनिद्रा अवस्था ही जाग्रत अवस्था है। इसी प्रकार जाग्रत अवस्था ही विनिद्रा अवस्था है। ऐसा ही अन्य अवस्थाओं में समझना चाहिए। अतः भेद का अभाव होने के कारण 'पुरुष एव इदं सर्वं' के अतिदेश का अभाव सिद्ध होता है।
६. पुरुष की अद्वैतता असिद्ध है।
७. जब पुरुष की लक्षण स्वरूप विनिद्रा अवस्था पुरुष नहीं है तथा अन्य अवस्थाएँ भी पुरुष नहीं है तो इससे पुरुष का अभाव सिद्ध होता है।
८. जब पुरुष का ही अभाव है तो सर्वगतता कैसे होगी?
९. विशेषावश्यक भाष्य में जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण ने 'पुरुषेवेदं सर्वं' वेद वाक्य को अर्थवाद वाक्य बताकर उसका निरसन किया है।
१०. सन्मतितर्क टीका में अभयदेवसूरि ने जगदुत्पत्ति में पुरुष की कारणता पर आक्षेप करते हुए कहा है कि पुरुष को जगत् की स्थिति, सर्ग और प्रलय का कारण मानना उसी प्रकार असंगत है जिस प्रकार ईश्वर की जगत् हेतुता असंगत है। इसका तात्पर्य है कि अभयदेवसूरि ने कुत्रचित् ईश्वरवाद की जगत्हेतुता का भी खण्डन किया है।
११. पुरुष द्वारा जगत् की उत्पत्ति में कोई उद्देश्य प्रतीत नहीं होता। यदि वह अन्य पुरुष या ईश्वर आदि की प्रेरणा से जगत् रचना में प्रवृत्त होता है तो उसमें अस्वतन्त्रता का प्रसंग आ जाएगा।
१२. यदि वह अनुकम्पा से दूसरों का उपकार करने के लिए जगत् की रचना करता है तो दुःखी प्राणियों को उत्पन्न नहीं किया जा सकता।
१३. यदि उनके कर्मों का क्षय करने के लिए दुःखी प्राणियों को उत्पन्न किया जाय तो इसमें उन जीवों के द्वारा कृत कर्मों की अपेक्षा रखनी होगी।
१४. सृष्टि के पहले अनुकम्पा योग्य प्राणियों का सद्भाव नहीं रहता।
१५. क्रीड़ा से भी जगत्-रचना में पुरुष की प्रवृत्ति मानना समीचीन नहीं है।

विचित्र क्रीड़ा के उपाय की वृत्ति में उस पुरुष की पहले से ही शक्ति है तो वह युगपत् ही समस्त जगत् की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय की रचना कर देगा। यदि उसके पास प्रारम्भ में शक्ति नहीं है तो क्रम से भी वह उत्पत्ति-स्थिति-प्रलय को सम्पन्न नहीं कर सकेगा।

१६. पुरुष यदि अबुद्धिपूर्वक ही जगत् निर्माण में प्रवृत्त होता है तो वह प्राकृत पुरुष से भी हीन हो जाएगा।

उपनिषद् एवं वेदान्त दर्शन में ब्रह्म से जगदुत्पत्ति स्वीकार की गई है। आचार्य प्रभाचन्द्र (११वीं शती) ने प्रमेयकमलमार्तण्ड में ब्रह्मवाद के स्वरूप का उपस्थापन एवं निरसन किया है। उन्होंने जहाँ ब्रह्मवाद की सिद्धि में प्रत्यक्ष अनुमान और आगम प्रमाण दिए हैं वहाँ ब्रह्मवाद का सबल युक्तियों से निरसन भी किया है।

पुरुषवाद से जिस प्रकार ब्रह्मवाद का विकास हुआ उसी प्रकार ईश्वरवाद का भी विकास पुरुषवाद से मानना चाहिए। महर्षि गौतम ने न्यायदर्शन में ईश्वर को सर्वशक्तिमान् और सर्वज्ञ स्वीकार किया है। ईश्वर का ज्ञान नित्य है तथा वह सभी प्रकार की पूर्णता से युक्त है। ईश्वर न बद्ध है और न मुक्त। वह स्रष्टा और पालनकर्ता होने के साथ विश्व का संहर्ता भी है। पुरुष अर्थात् जीव के कर्मों की विफलता दृष्टिगोचर होने से ईश्वर की कारणता सिद्ध होती है। प्रयत्न करता हुआ भी जीव असफल होता है, जिसमें ईश्वरेच्छा ही उसकी नियामिका होती है। उदयन ने न्यायकुसुमांजलि में ईश्वरवाद की सिद्धि में अनेक साधक प्रमाण प्रस्तुत किए हैं। उनका सबसे बड़ा तर्क है कि जगत् भी एक कार्य है, इसीलिए उसका कोई न कोई स्रष्टा होना चाहिए और वह स्रष्टा ईश्वर है।

उनके द्वारा दी गई युक्तियों का समाहार निम्नांकित श्लोक में ज्ञातव्य है-

कार्याद्योजनधृत्यादेः पदात्प्रत्ययतः श्रुतेः।

वाक्यात्संख्याविशेषाच्च साध्यो विश्वविदव्ययः।।^{१८}

ईश्वरवाद के निरसन में शीलांकाचार्य (८वीं शती) अभयदेवसूरि (१०वीं शती), प्रभाचन्द्राचार्य (११वीं शती) और मल्लिषेणसूरि (१२९३ ई.शती) ने अनेक तर्क दिए हैं। सांख्यतत्त्वकौमुदीकार वाचस्पति मिश्र ने भी ईश्वरवाद का खण्डन किया है।

१. सूत्रकृतांग के टीकाकार शीलांकाचार्य ने ईश्वरवादियों से प्रश्न किया है कि ईश्वर स्वतः ही दूसरों को उनकी क्रियाओं में प्रवृत्त करता है या दूसरों के

द्वारा प्रेरित होकर। यदि वह स्वतः दूसरों को अपनी क्रियाओं में प्रवृत्त करता है तो दूसरे भी उसी प्रकार स्वतः अपनी क्रियाओं में प्रवृत्त हो जायेंगे। बीच में ईश्वर की परिकल्पना करने से क्या लाभ? यदि ईश्वर दूसरे के द्वारा प्रेरित होकर क्रियाओं का प्रवर्तक होता है तो वह दूसरा भी किसी अन्य से प्रेरित होगा और इस प्रकार अनवस्था दोष उत्पन्न हो जाएगा।

२. जीव के प्राक्तन शुभाशुभ कर्मों के फल प्रदाता के रूप में ईश्वर को मानने की आवश्यकता नहीं है। कर्मों की अनादि हेतु परम्परा से फल प्राप्ति स्वतः हो जायेगी।
३. जगत् की विचित्रता से ईश्वर की सिद्धि नहीं हो सकती। ईश्वर जब एक ही है तो समस्त जगत् का उससे एकत्व हो जाएगा। फिर कौन किसके द्वारा प्रतिपादित किया जायेगा?
४. अभयदेवसूरि ने सन्मति तर्क की टीका में पुरुषवाद के खण्डन में जो तर्क दिए हैं उन्हीं से ईश्वरवाद का भी खण्डन हो जाता है, यथा- १. जीवों पर अनुग्रह के लिए सृष्टि की रचना युक्तिसंगत नहीं। २. ईश्वर के द्वारा जगत् की उत्पत्ति न युगपत् हो सकती है और न क्रम से। ३. क्रीड़ा मात्र को ही जगत् की उत्पत्ति में कारण नहीं माना जा सकता।
५. प्रभाचन्द्राचार्य ने ईश्वरवादियों के तर्क एवं प्रतितर्कों को उपस्थित कर उनका युक्तिसंगत प्रत्यवस्थान किया है।
६. मल्लिषेण सूरि ने स्याद्वादमंजरी में ईश्वर की जगत्कर्तृता का व्यवस्थित निरसन किया है। हेमचन्द्रसूरि ने ईश्वरवाद का उपस्थापन अन्ययोगव्यवच्छेद द्वात्रिंशिका में किया है-

कर्तास्ति कश्चिज्जगतः स चौकः स सर्वगः स स्ववशः स नित्यः ।

इमाः कुहेवाकविडम्बानाः स्युस्तेषां न दोषामनुशासकस्त्वम् ।^{११९}

मल्लिषेणसूरि ने इसकी टीका स्याद्वादमंजरी में ईश्वरवाद का सम्यक् उपस्थापन किया है और निरसन भी । उनके कतिपय तर्क इस प्रकार हैं-

१. ईश्वर ने शरीर धारण करके जगत् को बनाया है तो वह दृश्य था या अदृश्य। यदि वह शरीर हमारे शरीर की तरह दृश्य था तो इसमें प्रत्यक्ष से बाधा आती है। यदि वह माहात्म्य विशेष के कारण अदृश्य शरीर वाला है तो

इसमें इतरेतराश्रय दोष आता है। क्योंकि माहात्म्य विशेष के सिद्ध होने पर अदृश्य शरीर सिद्ध होगा और अदृश्य शरीर सिद्ध होने पर माहात्म्य विशेष सिद्ध होगा।

२. जगत् का निर्माण न एक ईश्वर के द्वारा संभव है और न अनेक ईश्वर के द्वारा। ईश्वर को सर्वज्ञ नहीं माना जा सकता क्योंकि इसमें वेद से विरोध आता है। वह जगत् की रचना में जीवों को उनके कर्मानुसार फल देने के कारण स्वतंत्र भी नहीं है।

पुरुषकार अथवा पुरुषार्थ की चर्चा इस अध्याय का महत्त्वपूर्ण प्रतिपाद्य है क्योंकि उत्तरकालीन जैनाचार्यों ने पंचसमवाय में कालादि के साथ इसी को स्थान दिया है।

पुरुषकार या पुरुषार्थ जैन साधना पद्धति की आत्मा है। पूर्वबद्ध कर्मों के क्षय एवं नवीन कर्मों के निरोध के लिए आत्मपुरुषार्थ की महत्ता जैन वाङ्मय में पदे-पदे प्रतिपादित है। प्रत्येक आत्मा को स्वतंत्र मानने वाला जैन दर्शन पूर्वकृत कर्म और पुरुषार्थ की अवधारणा पर टिका हुआ है। सम्यक्त्व की प्राप्ति हो या गुणश्रेणि पर आरोहण जीव के शुभ परिणामों की महत्ता सर्वत्र स्थापित है। भारतीय संस्कृति में प्रतिपादित धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष नामक चार पुरुषार्थों में से जैन दर्शन में धर्म एवं मोक्ष पुरुषार्थ की विशेष प्रतिष्ठा है। इनमें भी धर्म पुरुषार्थ पर विशेषतः ध्यान केन्द्रित किया है क्योंकि मोक्ष की प्राप्ति उसी से संभव है। जैन ग्रन्थों में अर्थ और काम पुरुषार्थ को मुक्ति की साधना में कोई महत्त्व नहीं दिया गया है किन्तु व्यावहारिक जीवन के लिए उनका भी आचरण धर्मपूर्वक करना उपादेय स्वीकार किया गया है।

जैनदर्शन पुरुषार्थवादी दर्शन है। इसकी सिद्धि प्रस्तुत अध्याय में आगम एवं इतर जैन वाङ्मय के आधार पर विभिन्न बिन्दु प्रस्तुत करते हुए की गई है। पुरुषार्थ के लिए जैन ग्रन्थों में पराक्रम, वीर्य, पुरुषकार आदि शब्दों का प्रयोग हुआ है। उत्थान, कर्म, बल, वीर्य आदि शब्द भी इसके पोषण में प्रयुक्त हुए हैं।

संयम में पराक्रम का उपदेश, परीषहों पर विजय प्राप्त करने का संदेश, तप के द्वारा करोड़ों भवों के संचित कर्मों के क्षय करने का उल्लेख, पूर्वबद्ध कर्मों की गुणश्रेणि द्वारा असंख्यात गुणी कर्म-निर्जरा, साधक के द्वारा अप्रमत्तता का आराधन आदि ऐसे अनेक सबल पहलू हैं, जो जैनदर्शन को पुरुषार्थवादी दर्शन सिद्ध करता है। पुरुषकार को जैन दर्शन में जीव का लक्षण अंगीकार किया गया है- 'उद्वाणो, कम्पो

५२२ जैनदर्शन में कारण-कार्य व्यवस्था : एक समन्वयात्मक दृष्टिकोण

बले वीरिए पुरिसक्कारपरक्कमे तं चेव जाव अफासे पन्नत्ते^{१२०} अर्थात् उत्थान, बल, कर्म, वीर्य, पुरुषकार, पराक्रम- ये सभी जीव के उपयोग विशेष हैं। धर्माचरण के लिए उत्तराध्ययन सूत्र में कहा गया है- धम्मं चर सुदुच्चरं^{१२१} आचारांग सूत्र में अप्रमत्त होकर सदा धर्म में पराक्रम करने का बहुत ही सुन्दर उपदेश है- अप्पमत्ते सया परक्कमेज्जासि^{१२२}

संदर्भ

१. (१) सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात्। स भूमिं विश्वतो वृत्वात्यतिष्ठद् दशाङ्गुलम् -ऋग्वेद मण्डल १०, अध्ययन ४, सूक्त ९०, मंत्र १
(२) सहस्रबाहुः पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात्। स भूमिं विश्वतो वृत्वात्यतिष्ठद् दशाङ्गुलम्॥ -अथर्ववेद काण्ड १९, सूक्त ६, मंत्र १
२. (१) 'ततो विष्वङ व्यक्रामत्साशनानशुते अमि'
-ऋग्वेद, मण्डल १०, अध्ययन ४, सूक्त ९०, मंत्र ४
(२) 'तथा व्यक्रामद् विष्वङशनानशने अनु' -अथर्ववेद, काण्ड १९, सूक्त ६, मंत्र २
३. (१) अथर्ववेद १९.६.४
(२) ऋग्वेद में यह मंत्र इस प्रकार है-
पुरुष एवेदं सर्वं यद्भूतं यच्च भाव्यम्।
उतामृतत्वस्येशानो यदन्नेनातिरोहति॥
-ऋग्वेद मण्डल १०, अध्ययन ४, सूक्त ९०, मंत्र २
४. (१) ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् बाहू राजन्यः कृतः।
उरू तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्यां शूद्रो अजायतः॥
-ऋग्वेद मण्डल १०, अध्ययन ४, सूक्त ९०, मंत्र १२
(२) ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् बाहू राजन्योऽभवत्।
मध्यं तदस्य यद् वैश्यः पद्भ्यां शूद्रो अजायत॥ -अथर्ववेद १९.६.६
५. चन्द्रमा मनसो जातचक्षोः सूर्यो अजायत।
मुखादिन्द्रश्चाग्निश्च प्राणाद् वायुरजायत॥
नाभ्या आसीदन्तरिक्ष शीर्ष्णो द्यौः समवर्तत।
पद्भ्यां भूमिर्दिशः श्रोत्रात् तथा लोकाँ अकल्पयन्॥
(१) ऋग्वेद मण्डल १०, अध्ययन ४, सूक्त ९०, मंत्र १३-१४,
(२) अथर्ववेद १९.६.७, ८

६. (१) ऋग्वेद १०.४.९०.५
(२) 'विराडग्रे समभवद् विराजो अधि पुरुषः' -अथर्ववेद १९.६.९
७. तस्मादश्वा अजायन्त ये च के चोभयादतः।
गावो ह जज्ञिरे तस्मात् तस्माज्जाता अजावयः॥
-ऋग्वेद १०.४.९०.१०, अथर्ववेद १९.६.१२
८. 'वायव्यानारण्या ग्राम्याश्च य' -ऋग्वेद १०.४.९०.८, अथर्ववेद १९.६.१४
९. (१) अथर्ववेद १९.६.१३
(२) तस्माद्यज्ञात्सर्वहुत ऋचः सामानि जज्ञिरे। छन्दांसि जज्ञिरे तस्माद्यजुस्तस्मादजायत॥ -ऋग्वेद १०.४.९०.९
१०. (१) तं यज्ञं प्रावृषा प्रौक्षन् पुरुषं जातमग्रतः। तेन देवा अयजन्त साध्या वसवश्चये॥ -अथर्ववेद १९.६.११
(२) तं यज्ञं बर्हिषि प्रौक्षन् पुरुषं जातमग्रतः। तेन देवा अयजन्त साध्या ऋषयश्च ये॥ -ऋग्वेद १०.४.९०.७
११. ऋग्वेद, मण्डल १०, अध्याय ३, सूक्त ७२, मंत्र २, ८
१२. ऋग्वेद-भाषा भाष्य (प्रथम भाग) दयानन्द संस्थान, नई दिल्ली, मण्डल १०, अध्याय ३, सूक्त ७२, मंत्र ८ पर दयानन्द सरस्वती की विशेष टिप्पणी में उपर्युक्त श्लोक उद्धृत
१३. ऐतरेयोपनिषद्, प्रथम अध्याय, प्रथम खण्ड, मंत्र १
१४. 'स इमाल्लोकानसृजत। अम्मो मरीचीर्मरमापोऽदोऽम्मः परेण दिवं द्यौः प्रतिष्ठान्तरिक्षं मरीचयः पृथिवी मरो या अधस्तात्ता आपः।' -ऐतरेयोपनिषद्, प्रथम अध्याय, प्रथम खण्ड, मंत्र २
१५. "स ईक्षतेमे नु लोका लोकपालान् सृजा इति सोऽदग्य एव पुरुषं समुद्धृत्यामूर्छयत्।" -ऐतरेयोपनिषद्, प्रथम अध्याय, प्रथम खण्ड, मंत्र ३
१६. 'तमभ्यतपत्तस्याभितप्तस्य मुखं निरभिद्यत यथाण्डं मुखाद्वाग्वाचोऽग्निर्नासिके निरभिद्येतां नासिकाभ्यां प्राणः प्राणाद्वायुरक्षिणी निरभिद्येतामक्षिभ्यां चक्षुश्चक्षुष आदित्यः कर्णौ निरभिद्येतां कर्णाभ्यां श्रोत्रं श्रोत्रादिशस्त्वङ् निरभिद्यत त्वचो लोमानि लोमभ्य औषधिवनस्पतयो हृदयं निरभिद्यत हृदयान्मनो मनसश्चन्द्रमा नाभिनिरभिद्यत नाभ्या अपानोऽपानान्मृत्युः शिश्रून् निरभिद्यत शिश्रूनाद्रेतो रेतस आपः।' -ऐतरेयोपनिषद्, प्रथम अध्याय, प्रथम खण्ड, मंत्र ४

५२४ जैनदर्शन में कारण-कार्य व्यवस्था : एक समन्वयात्मक दृष्टिकोण

१७. तैत्तिरियोपनिषद्, ब्रह्मानन्द वल्ली, प्रथम अनुवाक्

१८. "तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः। आकाशाद्वायुः। वायोरग्निः। अग्नेरापः। अद्भ्यः पृथिवी। पृथिव्या औषधयः। औषधीभ्योऽन्नम्। अन्नात्पुरुषः।" -तैत्तिरियोपनिषद्, ब्रह्मानन्दवल्ली, प्रथम अनुवाक्

१९. छान्दोग्योपनिषद्, अध्याय ३, खण्ड १४, मंत्र १

२०. 'ॐ ब्रह्मा देवानां प्रथमः सम्बभूव विश्वस्य कर्ता भुवनस्य गोप्ता।'

-मुण्डकोपनिषद्, प्रथम मुण्डक, प्रथम खण्ड

२१. 'प्रजाकामो वै प्रजापतिः स तपोऽतप्यत स तपस्तप्त्वा स मिथुनमुत्पादयते रथिं च प्राणं चेत्येतौ मे बहुधा प्रजाः करिष्यत इति" -प्रश्नोपनिषद्, प्रथम प्रश्न, मंत्र १४

२२. 'सृष्टिवाद और ईश्वर' - शतावधानी पं. मुनि श्री रत्नचन्द्र जी महाराज, श्री जैन साहित्य प्रचारक समिति, ब्यावर, पृष्ठ १७९

२३. स तु योगमयज्ञानात्स्वभावाद् ब्रह्मसंभवात्।

सृजते पुरुषं दिव्यं ब्रह्मयोनि सनातनम्॥

द्रवं यत्सलिलं तस्य धनं यत्पृथिवी भवत्।

छिद्रं यच्च तदाकाशं ज्योतिर्यच्च क्षुरेव तत्॥

वायुना स्पन्दते चैनं संघाताज्योतिसंभवः।

पुरुषात्पुरुषो भावः पंचभूतमयो महान्॥

-हरिवंश पुराण (द्वितीय खण्ड) संस्कृति संस्थान, ख्वाजा कुतुब (वेदनगर)

बरेली (उत्तरप्रदेश), भविष्य पर्व, पृष्ठ १९१

२४. देवी भागवत पुराण (प्रथम खण्ड), संस्कृति संस्थान, ख्वाजा कुतुब (वेदनगर), बरेली (उ.प्र.), पृष्ठ १५१, श्लोक ४

२५. यथा दीपस्तयोपाधेयैर्गतात्संजायते द्विधा।

छायेवादार्शनध्ये वा प्रतिबिम्ब तथाऽऽवयोः॥

भेद उत्पत्तिकाले वै सगार्थं प्रभवत्यज।

दृश्यादृश्यविभेदोऽयं द्वैविध्ये सति सर्वथा॥

-देवी भागवत पुराण (प्रथम खण्ड), पृष्ठ १५१, श्लोक ५, ६

२६. दृष्ट्वा शून्यमयं विश्वं, गोलोकं च भयंकरम्।

निर्जन्तु निर्जलं घोरं, निर्वातं तमसावृतम्॥

आलोच्य मनसा सर्वमेकएवासहायवान्।

स्वेच्छया सृष्टुमारेभे, सृष्टिं स्वेच्छामयः प्रभुः॥

—ब्रह्मवैवर्त पुराण, अध्याय २.१-२, उद्धृत 'सृष्टिवाद और ईश्वर' पृष्ठ १८०

२७. ब्रह्मवैवर्त पुराण, अध्याय २.४

२८. प्रथमो महतः सर्गो, विज्ञेयो ब्रह्मणस्तु यः।

तन्मात्राणां द्वितीयस्तु, भूतसर्गो हि स स्मृतः॥

वैकारिकस्तृतीयस्तु सर्ग ऐन्द्रियकः, स्मृतः।

इत्येष प्राकृतः सर्गः संभूतो बुद्धिपूर्वकः॥

—मार्कण्डेय पुराण, अध्ययन ४४.३१, ३२ उद्धृत 'सृष्टिवाद और ईश्वर' पृष्ठ २००

२९. मुख्यसर्गश्च चतुर्थ, मुख्या वै स्थावराः स्मृताः।

तिर्यक्प्रोतास्तु यः प्रोक्त स्तैर्यग्योनस्ततः स्मृतः॥

तथोर्ध्वं स्रोतसां षष्ठो, देवसर्गस्तु स स्मृतः।

ततोऽर्वाक् स्रोतसां सर्गः, सप्तमः स तु मानुषः॥

अष्टमोऽनुग्रहः सर्गः, सात्त्विकस्तामसश्च यः।

पंचैते वैकृताः सर्गाः, प्राकृताश्च त्रयः स्मृताः॥

प्राकृतो वैकृतश्चैव, कौमारो नवमस्तथा।

ब्रह्मतो नव सर्गास्तु, जगतो मूलहेतवः॥

—मार्कण्डेय पुराण, अध्ययन ४४.३३-३६, उद्धृत 'सृष्टिवाद और ईश्वरवाद' पृष्ठ २००

३०. महाभारत, शान्ति पर्व, अध्याय २०२, श्लोक १

३१. 'यः सर्वहेतुः परमात्मकारी तत् कारणं कार्यमतो यदन्यत्'

—महाभारत, शान्ति पर्व २०२.७

३२. नोष्णं न शीतं भृदु नापि तीक्ष्णं

नाम्लं कषायं मधुरं न तिक्तम्।

न शब्दवन्नापि च गन्धवत्।

तन्न रूपवत्तत् परमस्वभावम्॥ —महाभारत, शान्ति पर्व २०२.३

३३. यद् व्याप्यभूद् व्यापकं साधकं च।

यन्मन्त्रवत् स्थास्यति चापि लोके। —महाभारत, शान्ति पर्व २०२.७

५२६ जैनदर्शन में कारण-कार्य व्यवस्था : एक समन्वयात्मक दृष्टिकोण

३४. पितामह महाप्राज्ञ पुण्डरीकाक्षमच्युतम्।
कर्तारमकृतं विष्णुं भूतानां प्रभवाप्ययम्॥

—महाभारत, शान्ति पर्व, अध्ययन २०७, श्लोक १

३५. महाभारत, शान्ति पर्व, अध्ययन २०७, श्लोक ८

३६. स धारयति भूतानि उभे भूतभविष्यती।
ततस्तस्मिन् महाबाहौ प्रादुर्भूते महात्मनि।
भास्करप्रतिमं दिव्यं नाभ्यां पद्मजायत॥
स तत्र भगवान् देवः पुष्करे भ्राजयन् दिशः।
ब्रह्मा समभवत् तात सर्वभूतपितामहः॥

—महाभारत, शान्ति पर्व, अध्ययन २०७, श्लोक ११, १२, १३

३७. महाभारत, शान्ति पर्व, अध्ययन २०७, श्लोक २९, ३१, ३२

३८. महाभारत, शान्ति पर्व, अध्याय २०७, श्लोक ३०

३९. महाभारत, शान्ति पर्व, अध्याय २०७

४०. गीता, ७.१०

४१. गतिर्भर्ता प्रभुः साक्षी निवासः शरणं सुहृत्।
प्रभवप्रलयस्थानं निधानं बीजमव्ययम्॥ —गीता ९.१८

४२. रामायण, अयोध्या काण्ड, ११०वाँ सर्ग, श्लोक ३, ४

४३. मनुस्मृति १.५

४४. ततः स्वयंभूर्भगवानव्यक्तो व्यञ्जयन्निदम्।
महाभूतादि वृत्तौजाः प्रादुरासीत्तमोनुदः॥ —मनुस्मृति १.६

४५. योऽसावतीन्द्रियप्राह्यः सूक्ष्मोऽव्यक्तः सनातनः।
सर्वभूतमयोऽचिन्त्यः स एव स्वयमुद्बभौ॥
सोऽभिध्याय शरीरात्स्वात्सिसुक्षुर्विवधाः प्रजाः।
अप एव ससर्जादौ तासु बीजमवासृजत्॥— मनुस्मृति १.७, ८

४६. तदण्डमभवद्भैमं सहस्रांशुसमप्रभम्।
तस्मिंजज्ञे स्वयं ब्रह्मा सर्वलोकपितामहः॥
तस्मिन्नण्डे स भगवानुषित्वा परिवत्सरम्।

स्वयमेवात्मनो ध्यानात्तत्तदण्डमकरोद्द्विधा॥

ताभ्यां स शकलाभ्यां च दिवं भूमिं च निर्ममे।

मध्ये व्योम दिशश्चाष्टावपां स्थानं च शाश्वतम्॥ -मनुस्मृति १.९, १२, १३

४७. उद्बबर्हात्मनश्चैव मनः सदसदात्मकम्।

मनसश्चाप्यहंकारमभिमन्तारमीश्वरम्॥

महान्तमेव चात्मानं सर्वाणि त्रिगुणानि च।

विषयाणां गृहीतृणि शनैः पंचेन्द्रियाणि च॥

तेषां त्ववयवान्सूक्ष्मान्धणामप्यमितौजसाम्।

सन्निवेश्यात्ममात्रासु सर्वभूतानि निर्ममे॥ -मनुस्मृति १.१४, १५, १६

४८. सूत्रकृतांग, १.१.३.५

४९. “देवेनोप्तो देवोप्तः, कर्षकेणेव बीजवपनं कृत्वा निष्पादितोऽयं लोक इत्यर्थः। देवैर्वा गुप्तो-रक्षितो देवगुप्तो देवपुत्रो वेत्येवमादिकमज्ञानमिति।”

-सूत्रकृतांग, १.१.३.५ की शीलांक टीका

५०. सूत्रकृतांग १.१.३.६४

५१. “ब्रह्मा जगत्पितामहः स चैक एव जगदादावासीत्तेन च प्रजापतयः सृष्टाः तैश्च क्रमेणैतत्सकलं जगदिति।” -सूत्रकृतांग १.१.३.५ की शीलांक टीका

५२. जगदेतच्चराचरमण्डेन कृत मण्डकृत मण्डाज्जातमित्यर्थः। तथाहि ते वदन्ति यदा न किंचिदपि वस्त्वासीत् पदार्थशून्योऽयं संसारस्तदा ब्रह्माऽप्सु अण्डमसृजत् तस्माच्च क्रमेण वृद्धात् पश्चात् द्विधाभावमुपगतादूर्ध्वाधोविभागोऽभूत्। तन्मध्ये च सर्वाः प्रकृतयोऽभूवन्, एवं पृथिव्यप्तेजोवायवाकाश समुद्रसरित्पर्वतमकराकरसं-निवेशादिसंस्थितिरभूदिति। तथा चोक्तम् “आसीदिदं तमोभूतमप्रज्ञातमलक्षणम्। अप्रतर्क्यमविज्ञेयं, प्रसुप्तमिव सर्वतः” एवम्भूते चाऽस्मिन् जगति असौ ब्रह्मा तस्य भावस्तत्त्वं पदार्थजातं तदण्डादिक्रमेण अकार्षीत् कृतवान् इति। - सूत्रकृतांग १.१.३.८ की शीलांक टीका

५३. सूत्रकृतांग १.१.३.६

५४. गोम्मटसार कर्मकाण्ड, ८८०

५५. (१) सूत्रकृतांग १.१.३.७ (२) ‘सयंभुणा सयं य णिमिओ’

-प्रश्नव्याकरण सूत्र १.२.४८

५६. “सयंभुणा इत्यादि, स्वयम्भवतीति स्वयम्भूः विष्णुरन्यो वा। सचैक एवादावभूत्, तत्रैकाकी रमते, द्वितीयमिष्टवान्, तच्चिन्तानन्तरमेव द्वितीया शक्तिः समुत्पन्ना

तदनन्तरमेव जगत्सृष्टिरभूदिति एवं महर्षिणा उक्तम् अभिहितम्। एवं वादिनो लोकस्य कर्तारमभ्युपगतवन्तः। अपि च तेन स्वम्भुवा लोकं निष्पाद्यातिभार-भयाद्यमाख्यो मारयतीति मारो व्यधाधि, तेन मारेण संस्तुता कृता प्रसाधिता माया, तथा च मायया लोकाः म्रियन्ते। न च परमार्थतो जीवस्योपयोगलक्षणस्य व्यापत्तिरस्ति अतो मायैषा यथाऽयं मृतः। तथा चाऽयं लोकोऽशाश्वतः अनित्योविनाशीति गम्यते।” -सूत्रकृतांग १.१.३.७ की शीलांक टीका

५७. “पुरुषो हि ज्ञाता ज्ञानमयत्वात्। तन्मयं चेदं सर्वं तदेकत्वात् सर्वैकत्वाच्च।”

-द्वादशारनयचक्र, प्रथम विभाग, पृष्ठ १७५

५८. “ननु क्षीररसादि दध्यादेः कर्तृ। क्षीरादधि भवत्यज्ञात कर्तृणः, रसाद् गुडः, न च तत् क्षीरं रसो वा ज्ञमिति ज्ञकर्तृत्वमनैकान्तिकमिति”

-द्वादशारनयचक्र, प्रथमो विभाग, पृष्ठ १७५ सिंहसूरि कृत टीका

५९. द्वादशारनयचक्र, प्रथम विभाग, पृष्ठ १७५

६०. (१) “यथैव हि रूपादयोऽमूर्तत्वेन सूक्ष्मां वृत्तिमत्यजन्त एव स्वप्रवृत्तिप्रभावा-वबद्धमूर्तत्व- प्रक्रमान् परमाणूनध्यास्य नानाप्रभेदपृथिव्यादिभेद-स्थूलरूपा जायन्ते एवं ततोऽपि परं कारणं रूपादिभावमापद्यत इति रूपादिप्रविभक्त-मप्रविभक्तस्वतत्त्वं यत् तद् भवति तदेव तत्त्वम्।।” -द्वादशारनयचक्रम्, प्रथमो विभाग, पृष्ठ १७६-१७७

(२) परमाणुद्विप्रदेशादिपृथिव्यादिष्वप्रविभक्तस्वरूपादितत्त्ववत्

-द्वादशारनयचक्रम्, प्रथमो विभाग, पृष्ठ १७७ पर सिंहसूरि टीका

६१. ननु ज्ञानस्वतत्त्व आत्मेति रूपादिभिरेव निरूपितं तत्, तद्वि रूपणं रूपं ज्ञानमेव विभक्ताविभक्तं ग्रहणमेव। -द्वादशारनयचक्रम्, प्रथमो विभाग, पृष्ठ १७७

६२. चैतन्यमेकमेव रूपादिविभक्तमप्यविभक्तम्, तथा तदनुभवदर्शनात्। स एव तु व्यतिरेकस्यानुपपत्तेर्ज्ञानस्वतत्त्वात्मैव ग्राह्यो ग्राहकश्चैषितव्यः।

-द्वादशारनयचक्रम्, प्रथमो विभाग, पृष्ठ १७८

६३. “यथा त्वदभिमतः प्रतिशरीरं शरीरादिव्यतिरिक्तमात्मैव आत्मानं शरीरादीश्च बाह्यान् प्रतिपद्यमानोऽपि स्वात्माधिगमे प्रमाणान्तराभावाद् ग्राह्यो ग्राहकश्च रूपादिभेदेन ज्ञानसुखादिभेदेन च स्वयमेव विपरिवर्तमान इति।”

-द्वादशारनयचक्रम्, प्रथमो विभाग, पृष्ठ १७८ पर सिंहसूरि टीका

६४. “बुद्धिसुखदुःखेच्छाद्वेषादिकालाकाशदिगात्माद्यमूर्त सूक्ष्ममुच्यते, रूपादयस्तु स्थूला एव प्रत्यक्षत्वात्। सूक्ष्मस्थूलत्वादि च तेषां यथासंख्यं बुद्ध्यादीनां रूपादीनां च तत्त्व एवेत्यभिसम्भन्तस्यते।”

—द्वादशारनयचक्रम्, प्रथमो विभाग, पृष्ठ १७८ पर सिंहसूरि टीका

६५. क्षीरमपि घेनावत्यन्तापरिदृष्टम्.....सर्वस्य चेतनाचेतनस्य जगत्क्षेतनात्मनि पुरुषेऽत्यन्तापरिदृष्टस्य व्यवस्था युगपदेव।

—द्वादशारनयचक्रम्, प्रथमो विभाग, पृष्ठ १७९ पर सिंहसूरि टीका

६६. एवं च सार्वज्ञ्यमयत्नेन लब्धं पुरुषात्मकत्वात् सर्वस्य।

—द्वादशारनयचक्रम्, प्रथमो विभाग, पृष्ठ १७९

६७. तस्य च चतस्रोऽवस्था जाग्रत्सुप्तसुषुप्ततुरीयान्वर्थाख्याः। ताश्च बहुधा व्यवतिष्ठन्ते। सुखदुःखमोहशुद्धयः सत्त्वरजस्तमोविमुक्त्याख्या ऊर्ध्वतिर्यग्धो-
लोक विभागाः संज्ञ्यसंज्ञ्य- चेतनभावा वा। —द्वादशारनयचक्रम्, प्रथमो विभाग, पृष्ठ १८२

६८. ‘स एव परमात्मा’ —द्वादशारनयचक्रम्, प्रथमो विभाग, पृष्ठ १८२

६९. महामोहनिद्राक्षयोपशमशक्त्या निर्धृत्सुपकरणेन्द्रियप्रत्ययं चैतन्यं प्रत्यक्षादि-
प्रत्यवेक्षणात्मक त्वाज्जाग्रदवस्था करणात्मा चेतनात्मा।

—द्वादशारनयचक्रम्, प्रथमो विभाग, पृष्ठ १८३

७०. (१) “तथा सुप्तावस्थापि ज्ञानमेव संशयादि ईषत्सुप्तता धस्तुनस्तथा तथा तत्त्वात्।”

—द्वादशारनयचक्रम्, प्रथमो विभाग, पृष्ठ १८३

- (२) सुप्तावस्था, सापि ज्ञानमेव संशयादि ईषत्सुप्तता।

—द्वादशारनयचक्रम्, प्रथमो विभाग, पृष्ठ १८४

७१. चैतन्यदात्मा पृथिव्यादिसुषुप्तावस्थाया विपर्ययेण वृत्तो रागाद्युपयुक्त उपयोगस्वातन्त्र्येण बुद्ध्यात्मनात्मानमस्वतन्त्री करोति, कर्मबन्धेन रूपादिमत्त्वमनाद्यनन्तश आपद्यते। —द्वादशारनयचक्रम्, प्रथमो विभाग, पृष्ठ १८६

७२. नन्वेवमनाद्यनन्तत्वे सति अविवेके चैतन्यरूपादिमत्त्वयोस्तुल्ये किमर्थं ज्ञानात्मकमित्युच्यते, किं रूपादिमदात्मकमिति नोच्यते सर्वम्? नैवं परिग्रहेऽपि कश्चिद्वेषः। —द्वादशारनयचक्रम्, प्रथमो विभाग, पृष्ठ १८७

७३. यथा तु रूपादिभेदेन सर्वभेदपर्यन्तं भेदं विधाय विज्ञानमात्रमेव व्यवस्थाप्यते॥

—द्वादशारनयचक्रम्, प्रथमो विभाग, पृष्ठ १८८

७४. सर्वत्र सन्निपत्यारादूरादुपकारित्वेभ्य आत्मबुद्धीन्द्रियप्रकाशरूपघटौषधाहारादिषु ज्ञानवृत्तिर्भवति। -द्वादशारनयचक्रम्, प्रथमो विभाग, पृष्ठ १८९

७५. द्वादशारनयचक्रम्, प्रथमो विभाग, पृष्ठ १८९

७६. "अथ किं भवता पुरुषादिवादिषु प्रतिस्वं तथा तथा या एता अवस्था उक्ताः पुरुषादि तत्त्वं तल्लक्षणम्, उत पुरुषादितल्लक्षणास्ताः।"

-द्वादशारनयचक्रम्, प्रथमो विभाग, पृष्ठ २४६

७७. "यद्यवस्थास्वात्मैव पुरुषादि, न पुरुषाद्यात्मा अवस्थाः, ततः पुरुषो नाम न कश्चिच्चतुरव-स्थाव्यतिरिक्तः समुदयिमात्रसमुदायाभ्युपगमाद् रूपादिसमुदायवत् समुदायिमात्रवाद एवायमन्यः, तुरीयत्वप्रतिपादनाभ्युपगत-मुक्तिक्रमवत् अयुगपदवस्थावृत्तेः क्षणिकवादः वासोवत्, चतुर्ज्ञानमात्रत्वात् कल्पनाज्ञानमात्रसत्यं न किञ्चित् तदाभासज्ञानबहिर्भूतं स्वप्नवदिति विज्ञानव्यति-रिक्तार्थशून्यवादः।" -द्वादशारनयचक्रम्, प्रथमो विभाग, पृष्ठ २४६-२४७

७८. अचिन्त्यमेवेदं चिन्त्यते। ऊर्ध्वमधस्तिर्यक् क्वचित् तत्त्वैक एव व्यवस्थितः पुरुषः अनतिरिक्तपरापराणीयोज्यायोरूपात्मकत्वात्।

-द्वादशारनयचक्रम्, प्रथम विभाग, पृष्ठ २४७

७९. श्वेताश्वतरोपनिषद्, ३.९ उद्धृत द्वादशारनयचक्रम्, प्रथम विभाग, पृष्ठ २४८

८०. मया हि 'पुरुष एवेदम्' इत्यवधार्योक्तम्, नोक्तम्, 'इदमेव पुरुषः'

-द्वादशारनयचक्रम्, प्रथम विभाग, सिंहसूरि टीका पृष्ठ २४७

८१. "नन्वयमेकावस्थामात्रस्यतत्त्व एव व्यवस्थापितः चैतन्यानतिवृत्तिवर्णनात्। तच्च विनिद्रावस्थातोऽनन्यदिति विनिद्रावस्थालक्षण एव पुरुष आत्यन्तिकनिद्राविगम-रूपनिरूप्यत्वाद् विनिद्रावस्थास्वात्मवत्। न ह्यसावितरात्मिका, स्ववृत्तित्यागापत्तेः। तन्मात्रत्वे तु पुरुषस्यापि तद्वज्जाग्रदाद्यवस्थानात्मकत्वादसर्वगतत्वम्।"

-द्वादशारनयचक्रम्, प्रथमो विभाग, पृष्ठ २४८

८२. "अथ विनिद्रावस्थालक्षणोऽपि पुरुषः सर्वत्वान् विनिद्रावस्थामात्र एव, विनिद्रावस्थापि विनिद्रावस्थात्मिका सती सर्वत्वान् विनिद्रावस्थामात्रैव स्याद् विनिद्रावस्थालक्षणत्वात् पुरुषस्यात्मवत्। ततश्च प्रत्यवस्थं तस्या एव सर्वात्मकत्वात् तृणाद्यपि सर्वगतमिति किं पुरुषैकत्वप्रकल्पनया।"

-द्वादशारनयचक्रम्, प्रथम विभाग, पृष्ठ २४९

८३. "अतल्लक्षणत्वाद्वा विनिद्रावस्थाया अभावः, ततश्च ततत्त्वचतुरवस्थसर्वात्मक-पुरुषाभावः।" -द्वादशारनयचक्रम्, प्रथम विभाग, पृष्ठ २४९

८४. "अथ विनिद्रालक्षणविपरीतोऽपि पुरुषः पुरुष एवावधारणभेदात्, विनिद्रावस्था-
स्वात्मनि विनिद्रावस्थैव लक्षणम्, पुरुषे तु लक्षणमेव अन्यासामप्यत्यागात् स
ह्यनेकरूपो मेचकवत्।" -द्वादशारनयचक्रम्, प्रथम विभाग, पृ. २४९-२५०

८५. द्वादशारनयचक्रम्, प्रथम विभाग, सिंहसूरि टीका, पृष्ठ २५०

८६. "यद्यपि च पुरुषस्वात्मैव अवस्था न तर्हि ना, अनवस्थत्वात् खपुष्पवत्।
अभ्युपगमेऽपि नुः अवस्थानां चतसृणामप्यैक्यं स्यात् पुरुषस्वात्मत्वात्
पुरुषवदिति। सर्वत्वसम्भाव्याभावात् सर्वाव्यापिता पुरुषस्य। विनिद्रावस्थैव हि
जाग्रदवस्था विनिद्रावस्थास्वात्मत्वाद् विनिद्रावस्थावत् एवमितरे अपि।
जाग्रदवस्थैव विनिद्रावस्था जाग्रदवस्थास्वात्मत्वाज्जाग्रदवस्थावत् एवमितरे
अपि। सुप्तावस्थैव विनिद्रावस्था सुप्तावस्थास्वात्मत्वात् सुप्तावस्थावत्,
एवमितरे अपि। सुषुप्तावस्थैव विनिद्रावस्था सुषुप्तावस्थास्वात्मत्वात्
सुषुप्तावस्थावत्, एवमितरे अपि। यैवान्यावस्था सैवान्यापि एकस्वात्मत्वात् सा
इवेति 'पुरुष एवेदं सर्वम्' इत्यतिदेशाभावो भेदाभावात्।"

-द्वादशारनयचक्रम्, प्रथम विभाग, पृष्ठ २५३-२५५

८७. "योऽसावेक एव पुरुषः सम्भाव्यते तस्याप्यनेकतैवमापद्यते,
यत्स्वरूपाव्यतिरिक्तलक्षणा अवस्था बिना भेदेनोच्यन्ते स पुरुषोऽपि
पुरुषेणाभिव्याप्तात्वादनवस्थितैकत्वतत्त्वप्रतिष्ठः 'पुरुषः' इत्यतिदेश्यः स्यात्
पुरुषस्वात्मत्वादवस्थावत्। प्रत्यक्षार्थेदंविषयतायां वा
अचेतनव्यक्तमूर्तानित्यादिरूपार्थपुरुषपरमार्थता।"

-द्वादशारनयचक्रम्, प्रथम विभाग पृष्ठ २५६-२५७

८८. "अवस्थास्त्वन्यत्वानेकत्व एव पुरुषः। अवश्यमन्यास्तास्तस्मात्,
तद्रूपापत्यनिष्टत्वात्, अवस्थान्तरवत्, यतोऽवस्थास्वात्मत्वमस्य नेष्यते।
पुरुषातिदेशानु पुनः स्वपरविषयकृत-भेदद्वारान्यत्वासम्भवात् कस्यचित्
कथंचिदप्यन्यस्यानुपपत्तौ ता अपि अन्यत्वापत्तिवत् पृथक्-पृथक् पुरुषः।"-
द्वादशारनयचक्रम्, प्रथम विभाग, पृष्ठ २५७

८९. "अथ पुरुषलक्षणापि विनिद्रावस्था न पुरुषः पुरुषोऽपि न तर्हि पुरुषः
पुरुषलक्षणात्वाद् विनिद्रावस्थावत्। एवं शेषा अपि इति पुरुषाभाव एव, कुतोऽस्य
सर्वगतता? तदभाव एव त्वदभिप्राय एव एवं प्रतिपाद्यते,
तदात्मत्वाभिमतनिरसनात्, उष्णत्वनिरसनेन अग्रयभावप्रतिपादनवत्।"

-द्वादशारनयचक्रम्, प्रथम विभाग, पृष्ठ २५८

९०. "इदं सर्वं- प्रत्यक्षं वर्तमानं चेतनाचेतनस्वरूपम्, 'ग्निं' इति वाक्यालंकारे, यद्
भूतम्- अतीतम्, यच्च भाव्यं-भविष्यद् मुक्तिसंसारवपि स एवेत्यर्थः।

उतामृतत्वस्येशान इति। उतशब्दोप्यर्थे। अपिशब्दश्च समुच्चये। अमृतत्वस्य च अमरणभावस्य मोक्षस्येशानः प्रभुरित्यर्थः। यदन्नेनातिरोहतीति। च शब्दस्य लुप्तस्य दर्शनाद् यच्चात्नेन- आहारेण, अतिरोहति-अतिशयेन वृद्धिमुपैति। यदेजति-चलति, पश्वादि। यद् नैजति- न चलति पर्वतादि। यद् दूरे मेवादि। यद् अन्तिके-उशब्दोऽवधारणे, यदन्तिके समीपे तदपि पुरुष एवेत्यर्थः। यदन्तः मध्ये अस्य चेतनाचेतनस्य सर्वस्यः यदेव सर्वस्याप्यस्य बाह्यतः तत् सर्वं पुरुष एवेति। अतस्तद्वृत्तिरिक्तास्य कर्मणः किल सता दुःश्रद्धेयेति।”

-विशेषावश्यक भाष्य, गाथा १६४३

९१. “पुरुष एवेदं सर्वं-इत्यादीनि तावत् पुरुषस्तुतिपराणि जात्यादिमदत्याग-हेतोरद्वैतभावना-प्रतिपादकानि च वर्तन्ते, न तु कर्मसत्ताव्यवच्छेदकानि। वेदवाक्यानि हि कानिचिद् विधिवादपराणि, कान्यप्यर्थवादप्रधानानि, अपराणि त्वनुवादपराणि तत्र ‘अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकामः’ इत्यादीनि विधिवादपराणि”।

-विशेषावश्यक भाष्य, गाथा १६४३

९२. विशेषावश्यक भाष्य, गाथा १६४३

९३. तस्मात् ‘पुरुष एवेदं सर्वम्’-इत्यादीनि वेदपदानि स्तुत्यर्थवादप्रधानानि द्रष्टव्यानि। ‘विज्ञानधन एवैतेभ्यः’ इत्यत्राप्यमर्थः-विज्ञानधनाख्यः पुरुष एवायं भूतेभ्योऽर्थान्तरं वर्तते। स च कर्ता, कार्यं च शरीरादिकमिति प्राक् साधितमेव। ततश्च कर्तृकार्याभ्यामर्थान्तरं करणमनुमीयतेः, तथाहि यत्र कर्तृ-कार्यभावस्तत्रावश्यंभावि करणम्, यथाऽयस्काराऽयः पिण्डसद्भावे संदर्शः यच्चात्रात्मनः शरीरादिकार्यनिवृत्तौ करणभावमापद्यते तत् ‘कर्म’ इति प्रतिपद्यस्व। अपि च, साक्षादेव कर्मसत्ताप्रतिपादकानि श्रयन्त एव वेदवाक्यानि, तद्यथा-“पुण्यः पुण्येन कर्मणा पापः पापेन कर्मणा” इत्यादि। तस्मादागमादपि प्रतिपद्यस्व कर्मेति।”

-विशेषावश्यक भाष्य, गाथा १६४३

९४. अन्यस्त्वाह- “पुरुष एवैकः सकललोकस्थिति-सर्ग-प्रलय हेतुः प्रलयेऽपि अलुप्तज्ञानातिशय शक्तिः”-सन्मति तर्क की टीका, पृष्ठ ७१५

९५. “अत्र सकललोकस्थिति-सर्ग-प्रलयहेतुता ईश्वरस्येवपुरुषवादिभिः पुरुषस्य इष्टा। विशेषस्तु समवायाद्यपरकारणसव्यपेक्ष ईश्वरो जगद् निवर्तयति अयं तु केवल एव।” ईश्वरवादी जिस प्रकार समस्त लोक की स्थिति सर्ग और प्रलय में ईश्वर की कारणता स्वीकार करते हैं उसी प्रकार पुरुषवादी इनमें पुरुष की कारणता अंगीकार करते हैं। दोनों में अन्तर यह है कि ईश्वर समवाय आदि अन्य कारणों की अपेक्षा रखकर जगत् की रचना करता है जबकि पुरुष अकेला ही समस्त जगत् की रचना आदि करता है।-सन्मति तर्क की टीका पृष्ठ ७१५

९६. "अस्य च ईश्वरस्यैव जगद्धेतुता असंगता। तथाहि- "पुरुषो जन्मिनां हेतुर्नोत्पत्तिविकलत्वतः। गगनाम्भोजवत् सर्वमन्यथा युगपद् भवेत्॥"

-सन्मति तर्क की अभयदेव टीका पृष्ठ ७१५

९७. किंच, प्रेक्षापूर्वकारिप्रवृत्तिः प्रयोजनवत्तया व्याप्तेति किं प्रयोजनमुद्दिश्य अयं जगत्करणे प्रवर्तते? नेश्वरादिप्रेरणात् अस्वातन्त्र्यप्रसक्तेः। न परानुग्रहार्थमनुकम्पया दुःखितसत्त्व- निर्वर्तनानुपपत्तेः। न तत्कर्मप्रक्षयार्थं दुःखितसत्त्वनिर्माणे प्रवृत्तिः तत्कर्मणोऽपि तत्कृतत्वेन तत्प्रक्षयार्थं तन्निर्माणप्रवृत्तौ अप्रेक्षापूर्वकारितापत्तेः। न च प्राक् सृष्टिः अनुकम्पनीयसत्त्वसद्भाव इति निरालम्बनाया अनुकम्पया अयोगात् नातोऽपि जगत्करणे प्रवृत्तिर्युक्ता।

-सन्मति तर्क की अभयदेव टीका, पृष्ठ ७१६

९८. "न च अनुकम्पातः प्रवृत्तौ सुखितसत्त्वप्रक्षयार्थं प्रवृत्तिर्युक्तेति देवादीनां प्रलयानुपपत्तिर्भवेत्। न च समर्थस्य दुःखकारणमधर्मादिकमपेक्ष्य कृपालोर्दुःखितसत्त्वनिर्वर्तनं युक्तम्, कृपापरतन्त्रतया दुःखप्रदे कर्मण्यवधारणोपपत्तेः न हि कृपालवः परदुःखहेतुत्वमेव इच्छन्ति परदुःखवियो-
गेच्छयैव तेषां सर्वदा प्रवृत्तेः।"

-सन्मति तर्क की टीका, पृष्ठ ७१६

९९. न च क्रीडया अपि तत्र तस्य प्रवृत्तिर्युक्ता क्रीडोत्पादेऽपि जगदुत्पादोपेक्षया तस्यास्वातन्त्र्योपपत्तेः जगदुत्पत्ति-स्थिति-प्रलयात्मकस्य विचित्रक्रीडोपायस्य तदुत्पत्तौ अपेक्षणात्। यदि विचित्रक्रीडोपायोत्पादने तस्य प्रागेव शक्तिः तदा युगपद् अशेषजगदुत्पत्ति-स्थिति-प्रलयान् विदध्यात्। अथ आदौ न तत्र शक्तिस्तदा अशक्तवास्थाया अविशिष्टत्वात् क्रमेणापि न तान् विदध्यात् एकत्र एकस्य शक्ताऽशक्तत्वलक्षणविरुद्धधर्मद्वयायोगात्। -सन्मति तर्क टीका, पृष्ठ ७१६

१००. "पुरुषवादिनां तु केवलस्यैव पुरुषस्य जगत्कारणत्वेन अभ्युपगमात् तदपेक्षा दुरापास्तैव। पृथिव्यादिमहाभूतानां तु स्वहेतुबलायाताऽपरापरस्वभावसद्भान्न तदुत्पाद्यकार्यस्य युगपदुत्पत्त्यादिदोषः संभवी।" -सन्मति तर्क की टीका, ३१७

१०१. न च यथा ऊर्णनाभः स्वभावतः प्रवृत्तोऽपि न स्वकार्याणि युगपद् निर्वर्तयति तथा पुरुषोऽपीति वाच्यम्, यत ऊर्णनाभस्यापि प्राणिभक्षणलाम्पदयात् स्वकार्ये प्रवृत्तिर्न स्वभावतः अन्यथा तत्राप्यस्य दोषस्य समानत्वात् न ह्यसौ नित्यैकस्वभावः अपि तु स्वहेतुबलभाव्यपरापरकादाचित्कशक्तिमानिति तदभाविनः कार्यस्य क्रमप्रवृत्तिरूपनैव। न च यथा कथंचित् अबुद्धिपूर्वकमेव पुरुषो जगन्निर्वर्तने प्रवर्तते, प्राकृतपुरुषादप्येवमस्य हीनतया प्रेक्षापूर्वकारिणामनवधेयवचनताप्रसक्तेः।

-सन्मति तर्क, अभयदेव टीका, पृष्ठ ७१७

५३४ जैनदर्शन में कारण-कार्य व्यवस्था : एक समन्वयात्मक दृष्टिकोण

१०२. ब्रह्मसूत्र, शांकर भाष्य १.२

१०३. "अक्षसन्निपातानन्तरोत्थाऽविकल्पकप्रत्यक्षेण हि सर्वत्रैकत्वमेवाऽन्यानपेक्षतया ज्ञप्तिं प्रतीयते इति तदेव वस्तुत्वस्वरूपम्। भेदः पुनरविद्यासंकेतस्मरणजनितविकल्पप्रतीत्याऽ- न्याऽपेक्षतया प्रतीयते इत्यसौ नार्थस्वरूपम्।" -प्रमेयकमलमार्तण्ड, प्रथम भाग, पृष्ठ १८४

१०४. 'समारोपितादपि भेदान्तद्भेदव्यवस्थोपपत्तेः, यथा द्वैतिनां 'शिरसि मे वेदना पादे मे वेदना' इत्यात्मन समारोपितभेदनिमित्ता दुःखादिभेदव्यवस्था'

-प्रमेयकमलमार्तण्ड, प्रथम भाग, पृष्ठ १८९

१०५. "किं भेदस्य प्रमाणबाधितत्वादभेदः साध्यते, अभेदे साधकप्रमाणसद्भावाद्वा? तत्राद्यविकल्पोऽयुक्तः प्रत्यक्षादेर्भेदानुकूलतया तद्बाधकत्वायोगात्। न खलु भेदमन्तरेण प्रमाणेतरव्यवस्थापि सम्भाव्यते। द्वितीयपक्षोऽप्ययुक्तः, भेदमन्तरेण साध्यसाधकभावस्यैवासम्भवात्। न चाभेदसाधकं किञ्चित्प्रमाणमस्ति"

-प्रमेयकमलमार्तण्ड, प्रथम विभाग, पृष्ठ १९०

१०६. प्रमेयकमलमार्तण्ड, प्रथम विभाग, पृष्ठ १८४-१८५

१०७. "यच्चानुमानादप्यात्माद्वैतसिद्धिरित्युक्ताम्, तत्र स्वतः प्रतिभासमानत्वं हेतुः परतो वा। स्वतश्चेत्, असिद्धिः। परतश्चेत्, विरुद्धोऽद्वैते साध्ये द्वैतप्रसाधनात्।"

-प्रमेयकमलमार्तण्ड, प्रथम विभाग, पृष्ठ १९५

१०८. प्रमेयकमलमार्तण्ड, प्रथम विभाग, पृष्ठ १८५

१०९. प्रमेयकमलमार्तण्ड, प्रथम विभाग, पृष्ठ १८५

११०. 'ऊर्णनाभो हि न स्वभावतः प्रवर्तते...प्राणिभक्षणलाम्पट्यात्प्रतिनियतहेतु- सम्भूततप्रवर्तते...प्राणिभक्षणलाम्पट्यात्प्रतिनियतहेतुसम्भूतत कादाचित्कात्' - प्रमेयकमलमार्तण्ड, प्रथम विभाग, पृष्ठ १९७

१११. "न चागमप्रामाण्यवादिना अर्थवादस्य प्रामाण्यमभिप्रेतमतिप्रसंगात्। आत्मैव हि सकललोकसर्गस्थितिप्रलयहेतुरित्यप्यसम्भाव्यम्; अद्वैतैकान्ते कार्यकारणभाव-विरोधात् तस्य द्वैताविनाभावित्वात्।" -प्रमेयकमलमार्तण्ड, प्रथम विभाग, पृष्ठ १९६

११२. 'क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः।' - योगसूत्र १.२४

११३. 'एतदुपहितं चैतन्यं सर्वज्ञत्वसर्वेश्वरत्वसर्वनियन्तृत्वादिगुणकमव्यक्तमन्तर्यामी जगत्कारणमीश्वर इति।'

-वेदान्तसार, साहित्य भण्डार, मेरठ, सन् २०००, सूत्र ३८, पृष्ठ ७८

११४. न्यायसूत्र ४.१.१९

११५. न्यायसूत्र ४.१.२१ के वात्स्यायन भाष्य में

११६. न्यायकुसुमांजलि, स्तबक ५, श्लोक १

११७. सूत्रकृतांग सूत्र, द्वितीय श्रुतस्कन्ध, प्रथम अध्ययन, सूत्र ६६०

११८. "से जहाणामए गंडे सिया सरीरे जाते सरीरे वुड्डे सरीरे अभिसमण्णागते सरीरमेव अभिभूय चिट्ठति। एवामेव धम्मा वि पुरिसादीया जाव पुरिसमेव अभिभूय चिट्ठति।" -सूत्रकृतांगसूत्र, द्वितीय श्रुतस्कन्ध, प्रथम अध्ययन, ६६०

११९. द्रष्टव्य सूत्रकृतांग सूत्र २.१.६६०

१२०. "सर्वमोश्वरकर्तृकमित्यत्राभ्युपगमे किमसावीश्वरः स्वत एवापरान् क्रियासु प्रवर्तते उतापरेण प्रेरितः? तत्र यद्याद्यः पक्षस्तदा तद्वदन्येषामपि स्वत एव क्रियासु प्रवृत्तिर्भविष्यति किमन्तर्गडुनेश्वरपरिकल्पनेन? अथासावप्यपरप्रेरितः, सोऽप्यपरेण सोऽप्यपरेणेत्येवमनवस्थालता नभोमण्डलमालिनी प्रसर्पति।"

-सूत्रकृतांग, श्रुतस्कन्ध २, अध्ययन १, सूत्र ११ की शीलांक टीका

१२१. "किंच असावीश्वरो महापुरुषतया वीतरागतोपेतः सन्नेकान्तरकयोग्यासु क्रियासु प्रवर्तयत्यपरांस्तु स्वर्गापवर्गयोग्यास्विति? अथ ते पूर्वशुभाशुभाचरितोदयादेव तथाविधासु क्रियासु प्रवर्तन्ते, स तु निमित्तमात्रम्, तदपि न युक्तिसंगतं, यतः प्राक्तनाशुभप्रवर्तनमपि तदायत्तमेव।"

-सूत्रकृतांग, श्रुतस्कन्ध २, अध्याय १, सूत्र ११ की शीलांक टीका

१२२. "अथ तदपि प्राक्तनमन्येन प्राक्तनतरेण कारितमिति, एवमनादिहेतुपरम्परेति, एवं च सति तत एव शुभाशुभे स्थाने भविष्यतः किमीश्वरपरिकल्पनेन।"

-सूत्रकृतांग, द्वितीय श्रुतस्कन्ध, पहला अध्ययन सूत्र ११ की शीलांक टीका

१२३. सर्वं तनुभुवनकरणादिकं बुद्धिमत्कारणपूर्वकं संस्थानविशेषत्वात् देवकुलादिषदिति, एतदपि न युक्तिसंगतं, यत एतदपि साधनं न भवदभिप्रेतमोश्वरं साधयति, तेन सार्धं व्याप्त्यसिद्धेः देवकुलादिके दृष्टान्तेऽनीश्वरस्यैव कर्तृत्वेनाभ्युपगमात्, न च संस्थानशब्दप्रवृत्तिमात्रेण सर्वस्य बुद्धिमत्कारणपूर्वकत्वं सिध्यति, अन्यथाऽनुपपत्तिलक्षणस्य साध्यसाधनयोः प्रतिबन्धस्याभावात् अथाधिनाभावमन्तरेणैव संस्थानमात्रदर्शनात्साध्यसिद्धिः स्याद्, एवं च सत्यतिप्रसंगः स्यात् उक्तं च - "अन्यथा कुम्भकारेण, मृद्विकारस्य कस्यचित्। घटादेः करणात्सिद्धयेद्वल्मीकस्यापि तत्कृतिः।" - सूत्रकृतांग, द्वितीय श्रुतस्कन्ध, अध्ययन १, सूत्र ११ की टीका

१२४. न चेश्वरकर्तृत्वे जगद्वैचित्र्यं सिध्यति, तस्यैकरूपत्वादित्युक्तप्रायमिति।
आत्माद्वैतपक्ष- स्त्वत्यन्तामयुक्तिसंगतत्वान्नाश्रयणीयः, तथाहि तत्र न प्रमाणं न
प्रमेयं न प्रतिपाद्यं न प्रतिपादको न हेतुर्न दृष्टान्तो न तदाभासो भेदेनावगम्यते,
सर्वस्यैव जगत् एकत्वं स्याद् आत्मनोऽभिन्नत्वात्, तदभावे च कः केन
प्रतिपाद्यते? इत्यप्रणयनमेव शास्त्रस्य, आत्मनश्चैकत्वात्तत्कार्यमप्येकाकारमेव
स्यादित्यतो निर्हेतुकं जगद्वैचित्र्यम्।"-सूत्रकृतांग, द्वितीय श्रुतस्कन्ध, अध्याय १,
सूत्र ११ की टीका

१२५. "अयम च दोष ईश्वरवादिनामपि समान इति।"-सन्मति तर्क की टीका, पृष्ठ ७१६

१२६. यदि असौ अनुग्रहप्रवृत्तस्तदा सर्वमेकान्तसुखिनं प्राणिगणं विदध्यात् इत्युक्तम्।"
-सन्मति तर्क की टीका, पृष्ठ ७१६

१२७. "शक्तिस्वाभाव्यात् करणे उत्पत्ति-स्थित्युपसंहारान् जगतो युगपत् कुर्यात्।"
-सन्मति तर्क की टीका, पृष्ठ ७१६

१२८. सन्मति तर्क की टीका पृष्ठ ७१६

१२९. "अथ न क्रोडाद्यर्था भगवतः प्रवृत्तिः किन्तु पृथिव्यादिमहाभूतानां यथा स्वकार्येषु
स्वभावत एव प्रवृत्तिस्तथा ईश्वरस्यापि इति, अयुक्तमेतत्; एवं हि
तद्वयापारमात्रभाविनामशेषभावानां युगपद् भावो भवेत् अविकलकारणत्वात्
सहकार्यपक्षाऽपि न नित्यस्य संगता इत्युक्तम्।"-सन्मति तर्क की टीका पृष्ठ ७१६

१३०. प्रमेयकमलमार्तण्ड, द्वितीय भाग, पृष्ठ ९९-१००

१३१. 'तत्रयमेव कारकप्रयुक्तिं प्रत्यगं न शरीरेतरता।'

-प्रमेयकमलमार्तण्ड, द्वितीय विभाग, पृष्ठ १०३

१३२. "यच्चेदमुक्तम्- ज्ञानचिकीर्षाप्रयत्नाधारता हि कर्तृता न सशरीरेतरता;
इत्यप्यसंगतम्, शरीराभावे तदाधारत्वस्याप्यसंभवात्मुक्तात्मवत्। तेषां खलुत्पत्तौ
आत्मा समवायिकारणम् आत्ममनः संयोगोऽसमवायिकारणम्, शरीरादिकं
निमित्तकारणम्। न च कारणत्रयाभावे कार्योत्पत्तिरनभ्युपगमात्।"

-प्रमेयकमलमार्तण्ड, द्वितीय भाग, पृष्ठ १२७

१३३. ननु क्षित्यादिसामग्रीप्रभवेऽपि स्थावरादिषु बुद्धिमतोऽभावादग्रहणं
भावेऽप्यनुपलब्धिलक्षणप्राप्त- त्वाद्वा इति संदिग्धो ध्यातिरेकः कार्यत्वस्य।"

-प्रमेयकमलमार्तण्ड, द्वितीय विभाग, पृष्ठ १०२

१३४. इत्यप्यपेशलम्, सकलानुमानोच्छेदप्रसंगात्। यत्र हि वह्नेरदर्शने धूमो दृश्यते तत्र-
'किं वह्नेरदर्शनमभावादनूपलब्धिलक्षणप्राप्तत्वाद्वा' इत्यस्यापि

सन्दिग्धव्यतिरेकत्वान्न गमकत्वम्। यथा सामग्र्या धूमो जन्यमानो दृष्टस्तां
नातिवर्त्तते इत्यन्यत्रापि समानम्- कार्यं कर्तृकरणादिपूर्वकं कथं तदतिक्रम्य
वर्त्ततातिप्रसंगात्।" -प्रमेयकमलमार्तण्ड, द्वितीय भाग, पृष्ठ १०२

१३५. "तस्य कारणत्वमात्रेणैवाविनाभावनिश्चयात्, धूममात्रस्याग्निमात्रेणाविनाभाव-
निश्चयवत्। घटादिलक्षणकार्यविशेषस्य तु कारणविशेषेणाविनाभावावगमः
चान्दनादिधूमविशेषस्याग्निविशेषेणाविनाभावावगमवत्-प्रमेयकमलमार्तण्ड, द्वितीय
भाग, पृष्ठ १२१

१३६. "अदृष्टं चेतनाधिष्ठितं कार्यं प्रवर्त्ततेऽचेतनत्वात्तत्त्वादिवत्।"
-प्रमेयकमलमार्तण्ड, द्वितीय भाग, पृष्ठ १०६

१३७. "तथा वार्त्तिककारेणापि प्रमाणद्वयं तत्सिद्धयेऽभ्यधायि- महाभूतादि व्यक्तं
चेतनाधिष्ठितं प्राणिनां सुख-दुःखनिमित्तं रूपादिमत्वात्तुर्यादिवत्। तथा
पृथिव्यादीनि महाभूतानि बुद्धिमत्कारणाधिष्ठितानि स्वासु धारणाद्यासु क्रियासु
प्रवर्त्तन्तेऽनित्यत्वाद्वास्यादिवत्।" -प्रमेयकमलमार्तण्ड, द्वितीय भाग, पृष्ठ १०६

१३८. "अचेतनवच्चेतनस्यापि चेतनान्तराधिष्ठितस्य विष्टिकर्मकरादिवत्
प्रवृत्त्युपलम्भात्, महेश्वरेऽप्यधिष्ठात् चेतनान्तरं परिकल्पनीयम्।"
-प्रमेयकमलमार्तण्ड, द्वितीय भाग, पृष्ठ १२८

१३९. 'अदृष्टापेक्षस्यास्य कार्यकर्तृत्वे तत्कृतोपकारोऽवश्यंभावी अनुपकारकस्यापेक्षा-
योगात्। तस्य चातो भेदे संबंधासम्भवः। सम्बन्धकल्पनायां चानवस्था।'
-प्रमेयकमलमार्तण्ड, द्वितीय भाग, पृष्ठ १३५

१४०. सहकारित्वस्यैककार्यकारित्वलक्षणत्वात्; इत्यप्यसाम्प्रतम्, सहकारिसव्यपेक्षो हि
कार्यजननस्वभावः तस्यादृष्टादिसहकारिसन्निधानाद्यदि प्रागप्यस्ति
तदोत्तरकालभावि सकलकार्योत्पत्तिस्तदैव स्यात्। तथाहि यद्यदा यज्जननसमर्थ
तत्तदा तज्जनयत्यव यथान्यावस्थाप्राप्तं बीजमङ्कुरम्,
प्रागप्युत्तरकालभाविसकलकार्यजनन- समर्थश्चैकस्वभाव- तथाभ्युपगतो महेश्वर
इति। तदा तदजने वा तज्जननसामर्थ्याभावः। -प्रमेयकमलमार्तण्ड, द्वितीय
भाग, पृष्ठ १३६

१४१. तज्जननसमर्थस्वभावोऽप्यसौ सहकार्योऽभावात्तथा तन्न जनयति।
-प्रमेयकमलमार्तण्ड, द्वितीय भाग, पृष्ठ १३६

१४२. 'इत्यपि वार्त्तिकम्, समर्थस्वभावस्यापरापेक्षाऽयोगात्। 'समर्थस्वभावश्चापरापेक्षश्'
इति विरुद्धमेतत्। -प्रमेयकमलमार्तण्ड, द्वितीय भाग, पृष्ठ १३६

१४३. सांख्यकारिका, कारिका ५६ पर तत्त्व कौमुदी

५३८ जैनदर्शन में कारण-कार्य व्यवस्था : एक समन्वयात्मक दृष्टिकोण

१४४. नेश्वराधिष्ठित-प्रकृतिकृतः निर्व्यापारस्याधिष्ठातृत्वासम्भवाद्। न हि निर्व्यापारस्तक्षा वास्याद्यधितिष्ठति। -सांख्यतत्त्वकौमुदी कारिका ५६

१४५. "न ह्यवाप्तसकलोप्सितस्य भगवतो जगत् सृजतः किमप्यभिलषितं भवति।"

-सांख्यतत्त्वकौमुदी, कारिका ५७

१४६. "नापि कारुण्यदस्य सर्गे प्रवृत्तिः प्राक् सर्गाज्जीवानामिन्द्रियशरीरविषयानुत्पत्तौ दुःखाभावेन कस्य प्रह्लाणेच्छा कारुण्यम्। सर्गोत्तरकालं दुःखिनोऽवलोक्य कारुण्याभ्युपगमे दुरुत्तरमितरेतराश्रयत्वम्-कारुण्येन सृष्टिः सृष्ट्या च कारुण्यम् इति।" -सांख्यतत्त्वकौमुदी, कारिका ५७

१४७. अपि च करुणया प्रेरित ईश्वरः सुखिन एव जन्तून् सृजेन् विचित्रान्। कर्मवैचित्र्याद्वैचित्र्यम् इति चेत्-कृतमस्य प्रेक्षावतः कर्माधिष्ठानेन"

-सांख्यतत्त्वकौमुदी, कारिका, ५७

१४८. अन्ययोगव्यवच्छेद-द्वात्रिंशिका, श्लोक ६

१४९. "उर्वोपर्वतततर्वादिकं सर्वं, बुद्धिमात्कर्तृकं, कार्यत्वात्, यद् यत् कार्यं तत् तत्सर्वं बुद्धिमात्कर्तृकं, यथा- घटः तथा चेदं, तस्मात् तथा। व्यतिरेके व्योमादि। यश्च बुद्धिमांस्तत्कर्ता स भगवानीश्वर एवेति।"

-स्याद्वादमंजरी, श्लोक ६ की टीका, पृष्ठ २८

१५०. "स चायं जगन्ति सृजन् सशरीरोऽशरीरो वा स्यात्? सशरीरोऽपि किमस्मदादिवद् दृश्यशरीरविशिष्टः, उत पिशाचादिवद्दृश्यशरीर विशिष्टः? प्रथमपक्षे प्रत्यक्षबाधः।"

-स्याद्वादमंजरी, पृष्ठ ३२

१५१. "पुनरदृश्यशरीरत्वे तस्य माहात्म्यविशेषः कारणम्.....इतरेतराश्रयदोषापत्तेश्च। सिद्धे हि माहात्म्यविशेषे तस्यादृश्यशरीरत्वम् प्रत्येतव्यम्। तत्सिद्धौ च माहात्म्यविशेषसिद्धिरिति।" -स्याद्वादमंजरी, पृष्ठ ३३

१५२. "अशरीरश्चेत् तदा दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकयोर्वैषम्यम्। घटादयो हि कार्यरूपाः सशरीरकर्तृका दृष्टाः।" -स्याद्वादमंजरी, पृष्ठ ३३

१५३. "तस्मात् सशरीराशरीरत्वक्षणे पक्षद्वयेऽपि कार्यत्वहेतोर्व्याप्यसिद्धिः"

-स्याद्वादमंजरी, पृष्ठ ३३

१५४. "स चैक इति। च पुनरर्थे। स पुनः-पुरुषविशेषः, एकः अद्वितीयः। बहूनां हि विश्वविधातृत्वस्वीकारे परस्परविमतिसंभावनाया अनिवार्यत्वाद् एकैकस्य वस्तुनोऽन्यान्य- रूपतया निर्माणे सर्वमसमंजसमापद्येत इति।"

-स्याद्वादमंजरी, पृष्ठ ३०

१५५. "नायमेकान्तः। अनेककीटिकाशतनिष्पाद्यत्वेऽपि शक्रमूर्धनः, अनेकशिल्पिकल्पितत्वेऽपि प्रसादादीनां, नैकसरगानिर्वर्तितत्वेऽपि मधुच्छत्रादीनां चैकरूपताया अविगानेनोपलम्भात्। अथैतेष्वप्येक एवेश्वरः कर्तेति ब्रूषे। एवं चेद् भवतो भवानीपतिं प्रति निष्प्रतिमा वासना, तर्हि कुविन्दकुम्भकारादितरस्कारेण पटघटादीनामपि कर्ता स एव किं न कल्प्यते।" -स्याद्वादमंजरी, पृष्ठ ३४
१५६. "तस्माद् वैमत्यभयाद् महेशितुरेकत्वकल्पना भोजनादिव्ययभयात् कृपणस्यात्यन्तवल्लभ-पुत्रकलत्रादिपरित्यजनेन शून्यारण्यानीसेवनमिवाभासते।" -स्याद्वादमंजरी, पृष्ठ ३४
१५७. "तथा स सर्वग इति। सर्वत्र गच्छतीति सर्वगः-सर्वव्यापी। तस्य हि प्रतिनियतदेशवर्ति- त्वेऽनियतदेशवृत्तीनां विश्वत्रयान्तर्वर्तिपदार्थसार्थानां यथावन्निर्माणानुपपत्तिः। कुम्भकारादिषु तथा दर्शनाद्। अथवा सर्व गच्छति जानातीति सर्वगः-सर्वज्ञः "सर्वे गत्यर्था ज्ञानार्थाः" इति वचनात्। सर्वज्ञत्वभावेहि यथोचितोपादानकारणाद्यनभिज्ञत्वाद् अनुरूपकार्योत्पत्तिर्न स्यात्।" -स्याद्वादमंजरी, पृष्ठ ३०
१५८. "तथा सर्वगतत्वमपि तस्य नोपपन्नम्। तद्धि शरीरात्मना, ज्ञानात्मना वा स्यात्? प्रथमपक्षे तदीयेनैव देहेन जगत्त्रयस्य व्याप्तात्वाद् इतरनिर्मेयपदार्थानामाश्रयानवकाशः। यदि परमेवं भवत्प्रमाणीकृतेन वेदेन विरोधः। तत्र हि शरीरात्मना सर्वगतत्वमुक्तम्- "विश्वतश्चक्षुरुत विश्वतो मुखो विश्वतः पाणिरुत विश्वतः पात्" इत्यादि श्रुतेः" -स्याद्वादमंजरी, पृष्ठ ३४
१५९. "तथा स स्ववशः- स्वतन्त्रः सकलप्राणिनां स्वेच्छया सुखदुःखयोरनुभावनसमर्थत्वात्।" -स्याद्वादमंजरी, पृष्ठ ३०
१६०. पारतन्त्र्ये तु तस्य परमुखप्रेक्षितया मुख्यकर्तृत्वव्याघात् अनीश्वरत्वापत्तिः। -स्याद्वादमंजरी, पृष्ठ ३०
१६१. "स हि यदि नाम स्वाधीनः सन् विश्वं विधत्ते, परमकारुणिकश्च त्वया वण्यते, तत् कथं सुखितदुःखिताद्यवस्थाभेदवृन्दस्थपुटितं घटयति भुवनम् एकान्तशर्मसंपत्कान्तमेव तु किं न निर्मिमीते? अथ जन्मान्तरोपार्जिततत्तत्तदीय शुभाशुभकर्मप्रेरितः सन् तथा करोतीति दत्तस्तर्हि स्ववशत्वाय जलांजलिः।" -स्याद्वादमंजरी, पृष्ठ ३९
१६२. स्याद्वादमंजरी, पृष्ठ ४२
१६३. व्याख्याप्रज्ञप्ति, शतक १२, उद्देशक ५, सूत्र ११
१६४. व्याख्याप्रज्ञप्ति शतक ७, उद्देशक १

५४० जैनदर्शन में कारण-कार्य व्यवस्था : एक समन्वयात्मक दृष्टिकोण

१६५. उत्तराध्ययन सूत्र २०.३७

१६६. आचारांग सूत्र १.१.१.५

१६७. आचारांग सूत्र १.५.२. सूत्र १५२

१६८. अमरकोश, द्वितीय काण्ड, ब्रह्म वर्ग, श्लोक ६२

१६९. अग्नि पुराण, उद्धृत 'श्री जैन दिवाकर स्मृति ग्रन्थ' पृष्ठ ५०५

१७०. (अ) वैशेषिक सूत्र १.१.२

(ब) "यः स्यात् प्रभवसंयुक्तः स धर्म इति निश्चयः"

-महाभारत, शान्ति पर्व. अध्ययन १०९.१०

१७१. छान्दोग्योपनिषद्, २.२३

१७२. महाभारत, अनुशासन पर्व ११५.१

१७३. महाभारत, वन पर्व, ३१३.७६

१७४. मनुस्मृति १.१०८

१७५. नारदस्मृति, उद्धृत 'पुरुषार्थ चतुष्टयः दार्शनिक अनुशीलन' पृष्ठ १२६

१७६. महाभारत शान्ति पर्व, अध्याय १६७.१२, १४

१७७. 'कामस्तदग्रे समवर्तताधि मनसो रेतः प्रथमं यदासीत्' -ऋग्वेद १०.१२९.४

१७८. त्रिविधा भवति श्रद्धा देहिनां सा स्वभावजा।

सात्त्विकी राजसी चैव तामसी चेति तां शृणु॥ -गीता १७.२

१७९. ब्रह्म बिन्दु, उपनिषद्, मंत्र २

१८०. गीता १४.२०

१८१. ज्ञानार्णव ३.४ उद्धृत जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश, भाग तृतीय, पृष्ठ ७०

१८२. उत्तराध्ययन, अध्ययन ३, गाथा १

१८३. 'सुई च लद्धुं सद्धं च वीरियं पुण दुल्लहं' - उत्तराध्ययन ३.१०

१८४. 'से णं भंते! संजमे किं फले? -अणण्हयफले"

-स्थानांग सूत्र स्थान ३, उद्देशक ३, सूत्र ४१८

१८५. चउष्धिहे संजमे पण्णत्ते तंजहा- मणसंजमे, वइसंजमे, कायसंजमे, उवगरणसंजमे।

-स्थानांगसूत्र, स्थान ४, उद्देशक २, सूत्र ३५१

१८६. चउच्चिधे चियाए पण्णत्ते तंजहा- मणचियाए, वइचियाए, कायचियाए, उवगरणचियाए। -स्थानांग सूत्र, स्थान ४, उद्देशक २, सूत्र ३५२
१८७. आचारांग १.५.२.१५५
१८८. आचारांग १.४.४.१४३
१८९. आचारांग १.२.१.६८
१९०. सूत्रकृतांग १.२.१.९९
१९१. सूत्रकृतांग १.१.१.१
१९२. सूत्रकृतांग १.२.२.१३५
१९३. नाणं च दंसणं चेव चरित्तं च तवो तथा।
वीरियं उवओगो य एयं जीवस्स लक्खणं॥ -उत्तराध्ययन २८.११
१९४. व्याख्याप्रज्ञप्ति, शतक २०, उद्देशक ३, सूत्र १
१९५. "हं ता गोयमा! जीवे णं सउट्ठाणे सकम्मे सबले सवीरिए सपुरिसक्कारपरक्कमे आयभावणेणं जीवभावं उवदंसेतीति वत्तव्वं सिया॥" -व्याख्याप्रज्ञप्ति, शतक २, उद्देशक १०, सूत्र ९(१)
१९६. व्याख्याप्रज्ञप्ति, शतक १४, उद्देशक ५, सूत्र १० से २०
१९७. व्याख्याप्रज्ञप्ति, शतक १२, उद्देशक ५, सूत्र ११
१९८. स्थानांग, स्थान २, उद्देशक १, सूत्र १०७
१९९. उत्तराध्ययन सूत्र, अध्ययन १८.३३
२००. सूत्रकृतांग १.२.१.१३
२०१. सूत्रकृतांग १.२.२.१५
२०२. व्याख्याप्रज्ञप्ति, शतक १, उद्देशक ८, सूत्र ११
२०३. पमायं कम्ममाहंसु, अप्पमायं तथाऽवरं।
तन्मावादेसतो वा वि, बालं पंडितमेव वा॥ -सूत्रकृतांग १.८.३
२०४. उत्तराध्ययन सूत्र, अध्ययन २९
२०५. उत्तराध्ययन सूत्र ३०.६
२०६. आचारांग सूत्र १.३.१ सूत्र १०८

- ५४२ जैनदर्शन में कारण-कार्य व्यवस्था : एक समन्वयात्मक दृष्टिकोण
२०७. आचारांग सूत्र १.४.२ सूत्र १४२
२०८. आचारांग सूत्र १.२.१ सूत्र ६८
२०९. आचारांग सूत्र १.४.१ सूत्र १३३
२१०. व्याख्याप्रज्ञप्ति, शतक १, उद्देशक ३, सूत्र ९ (५)
२११. स्थानांग सूत्र, स्थान ४, उद्देशक ४, सूत्र ६०३
२१२. व्याख्याप्रज्ञप्ति, शतक १, उद्देशक ३, सूत्र ९ (५)
२१३. व्याख्याप्रज्ञप्ति, शतक १, उद्देशक ३, सूत्र १०(३) से (१३) तक
२१४. सन्मति तर्क ३.५२
२१५. (१) अथर्ववेद १९.६.४
(२) ऋग्वेद १०.४.९०.२
२१६. तैत्तिरीयोपनिषद्, ब्रह्मवल्ली, अनुषाक १
२१७. गीता ७.१०
२१८. न्यायकुसुमाञ्जलि, स्तवक ५, श्लोक १
२१९. अन्ययोगव्यवच्छेद-द्वात्रिंशिका, श्लोक ६
२२०. व्याख्याप्रज्ञप्ति शतक १२, उद्देशक ४, सूत्र ११
२२१. उत्तराध्ययन सूत्र, १८.३३
२२२. आचारांग सूत्र १.४.१.१३३



जैनदर्शन की नयदृष्टि एवं पंच समवाय

उत्थापनिका

जैन दर्शन अनेकान्तवादी दर्शन है। उसके अनुसार वस्तु अनेकान्तात्मक है तथा उसे कथंचित् अनन्त धर्मात्मक भी स्वीकार किया गया है। वस्तु को समग्र रूप से जानना सबके लिए संभव नहीं है। इसलिए जैन दार्शनिकों ने उसे विविध दृष्टिकोणों से जानने के लिए नयवाद का सिद्धान्त दिया। नय को परिभाषित करते हुए संक्षेप में कहा गया है- 'ज्ञातुरभिप्रायविशेषो नयः' अर्थात् ज्ञाता का अभिप्राय विशेष नय है। ज्ञाता किस दृष्टिकोण से जान रहा है, यह ही नयवाद का मूल है। नयवाद के कारण जैन दार्शनिक द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा से जिस वस्तु को नित्य प्रतिपादित करते हैं, उसे ही वे पर्यायार्थिक नय की अपेक्षा से अनित्य निरूपित करते हैं। अनेकान्तात्मक होने से वस्तु नित्यानित्यात्मक है और नयवाद के द्वारा उसे कथंचित् नित्य एवं कथंचित् अनित्य प्रतिपादित किया जाता है। नय का प्रयोग जानने और कथन करने दोनों में होता है। इसलिए नयों की संख्या असीमित हो सकती है।

सिद्धसेन दिवाकर (५वीं शती) के शब्दों में-

जावइया वयणणहा तावइया चेव होन्ति णयवाया।^१

अर्थात् जितने वचन मार्ग होते हैं उतने नयवाद होते हैं। यद्यपि जैनाचार्यों ने वचन मार्ग के आधार पर सप्तभंगी नय का विवेचन किया है और जानने के अभिप्राय के आधार पर नैगम नय, संग्रह नय, व्यवहार नय, ऋजुसूत्र नय, शब्द नय, समभिरुद्ध नय और एवंभूत नय- इन सात नयों का निरूपण किया है। किन्तु नयों की संख्या नैगम आदि सात नयों तक ही सीमित नहीं की जा सकती। इन नयों के भी अनेक भेदोपभेद संभव हैं। मल्लवादी क्षमाश्रमण ने पाँचवीं शती ई. में द्वादशारनयचक्र नामक ग्रन्थ की रचना कर विधि, विधि-विधि, विध्युभय आदि १२ अरों के माध्यम से नयों का सर्वथा नूतन दृष्टिकोण के साथ निरूपण किया है, जिसमें उन्होंने उस समय प्रचलित दार्शनिक सिद्धान्तों का समावेश करने का अनूठा उपक्रम किया है। सांख्य, मीमांसा, वैशेषिक, बौद्ध आदि दर्शनों का प्राचीन विवेचन इस ग्रन्थ की विशेषता है। 'द्वादशारनयचक्र' नामक इस ग्रन्थ के द्वितीय 'विधिविध्यर' में पुरुषवाद, नियतिवाद, कालवाद, स्वभाववाद एवं भाववाद की चर्चा है। तृतीय अर 'विध्युभय' में

पुरुषवाद का विशेष निरूपण एवं निरसन है। इस ग्रन्थ की यह विशेषता है कि इसमें पुरुषवाद का नियतिवाद के द्वारा, नियतिवाद का कालवाद के द्वारा, कालवाद का स्वभाववाद के द्वारा, स्वभाववाद का भाववाद के द्वारा एवं फिर पुरुषवाद का भी निरसन किया गया है। यह निरसन विविध सिद्धान्तों के एकान्तवाद की उत्पाटित कर उनकी कथंचित् कारणता को अंगीकार करता है।

आठवीं-नवीं शती में विद्यानन्दि (७७५-८४० ई.) द्वारा रचित तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक में नयों की विशेष चर्चा है, जो नय के स्वरूप, भेदों एवं उनके महत्त्व से संवलित है। अमृतचन्द्राचार्य ने प्रवचनसार की तत्त्वप्रदीपिका टीका के अन्त में द्रव्यनय, पर्यायनय, अस्तित्वनय, नास्तित्वनय, अवक्तव्यनय, कालनय, स्वभावनय, नियतिनय, दैनय, पुरुषकारनय आदि ४७ नयों का उल्लेख कर प्रत्येक का संक्षेप में स्वरूप भी निरूपित किया है।

दशवीं शती से तेरहवीं शती के मध्य माइल्लनधवल द्वारा विरचित 'द्रव्यस्वभावप्रकाशक नयचक्र' ग्रन्थ भी अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है जिसमें काल, नियति, पुरुषवाद आदि का तो विवेचन नहीं है, किन्तु पर्याय-विवेचन के अन्तर्गत स्वभाव-पर्याय एवं विभाव पर्याय की चर्चा महत्त्वपूर्ण है, जिससे स्वभाव के स्वरूप का निर्धारण होता है। देवसेन द्वारा रचित 'नयचक्र' एवं 'आलापपद्धति' नामक रचनाएँ भी जैनदर्शन के नय-विषयक चिन्तन पर प्रकाश डालती हैं। इस प्रकार जैनदर्शन में नय-सिद्धान्त एक सत्यान्वेषी सिद्धान्त है, जिसमें आदरपूर्वक अन्य मतों को भी कथंचित् महत्त्व देकर पारस्परिक विरोध का शमन किया गया है।

पंच कारण समवाय के प्रथम प्रणेता : सिद्धसेन दिवाकर

जैन दर्शन की अनेकान्तवाद, नयवाद और स्याद्वाद की पद्धति के कारण यथार्थ के अन्वेषण, ग्रहण और कथन की प्रवृत्ति जैन दर्शन की एक मौलिक एवं अनमोल निधि बन गई। जैन दार्शनिकों ने नयवाद के आधार पर जैन दर्शन को विस्तार प्रदान किया। पंच समवाय का सिद्धान्त भी उनकी इसी प्रवृत्ति का सूचक है। जैनागमों में पंच समवाय नामक किसी सिद्धान्त का कहीं भी प्रतिपादन नहीं हुआ है। किन्तु जैन दर्शन की समन्वयात्मक नयदृष्टि के कारण कार्य-कारण सिद्धान्त की व्याख्या में काल, स्वभाव, नियति, पूर्वकृत कर्म और पुरुष/पुरुषकार का समावेश एक क्रान्तिकारी कदम है। जैन दर्शन मूलतः पुरुषार्थवादी दर्शन है, आत्मस्वातन्त्र्यवादी दर्शन है तथा आत्मा के कर्तृत्व और भोक्तृत्व को मुख्यता प्रदान करने के साथ बंधन और मोक्ष का उत्तरदायित्व भी आत्मा को ही सौंपता है, तथापि व्यापक, खुली एवं सत्यान्वेषी नय दृष्टि के कारण जैन दार्शनिकों ने कारण-कार्य सिद्धान्त में काल, स्वभाव, नियति एवं

पूर्वकृत कर्म को भी यथोचित स्थान दिया है। आगमों में यत्र-तत्र इनकी कारणता की कथंचित् पुष्टि भी होती है जिसकी चर्चा आगे की जायेगी। किन्तु इस क्षेत्र में सर्वप्रथम श्रेय प्रमुख दार्शनिक सिद्धसेन दिवाकर को जाता है जिन्होंने काल आदि पाँच की कारणता को जैन दर्शन में स्थान दिया। उन्होंने निम्नांकित पद्य में पाँच कारणों की गणना की-

कालो सहाव णियई पुव्वकयं पुरिसे कारणेगंता।

मिच्छतं ते चेव उ, समासओ होंति सम्पत्तं।।^१

सिद्धसेन दिवाकर ने काल, स्वभाव, नियति, पूर्वकृत कर्म एवं पुरुष की एकान्त कारणता को मिथ्यात्व कहा है तथा इनकी सम्मिलित कारणता को सम्यक्त्व कहा है। इसका तात्पर्य है कि उन्होंने अपने कथन में नयवाद का उपयोग किया है। नयवाद एकान्तवाद नहीं है, अपितु इसमें किसी एक को प्रधान एवं अन्य को गौण मानकर भी सत्य का कथन किया जाता है। सिद्धसेन दिवाकर जैन दर्शन के क्रान्तिकारी दार्शनिक थे। उन्होंने अनेकान्तवाद, स्याद्वाद और नयवाद की स्थापना में अग्रणी दार्शनिक के रूप में महत्त्वपूर्ण योगदान किया। वे श्वेताम्बर परम्परा के प्रतिनिधि दार्शनिक थे। दिगम्बर परम्परा में आचार्य समन्तभद्र ने भी इसी प्रकार का कार्य किया। वे भी स्वयंभूस्तोत्र, आप्तमीमांसा, युक्त्यनुशासन आदि कृतियों के माध्यम से अनेकान्तवाद, स्याद्वाद एवं नयवाद की स्थापना में युक्तिपूर्वक लगे रहे, किन्तु उन्होंने काल आदि पाँच की कारणता के संबंध में अपनी कृतियों में कोई उल्लेख नहीं किया।

सिद्धसेन के पश्चात् हरिभद्रसूरि (७००-७७० ईस्वी शती), शीलाकाचार्य (९-१०वीं शती), अभयदेवसूरि (१०वीं शती), मल्लधारी राजशेखर सूरि (१२-१३वीं शती), उपाध्याय विनयविजय (१७वीं शती) एवं उपाध्याय यशोविजय (१७वीं शती) ने भी अपनी कृतियों में काल आदि पाँच तत्त्वों की कारणता को जैन दर्शन में स्थान दिया है। वर्तमान में जैन धर्म की दिगम्बर एवं श्वेताम्बर दोनों परम्पराओं में काल आदि की कारणता को 'पंच समवाय' के रूप में अंगीकार किया जाता है।

‘पंच समवाय’ शब्द का प्रथम प्रयोग

पंच समवाय का अर्थ है काल, स्वभाव, नियति, पूर्वकृत कर्म एवं पुरुषार्थ/पुरुष- इन पाँचों का समवाय। कालादि पाँचों का समवाय चेतन जीव के किसी भी कार्य में कारण होता है, यह मान्यता ही जैन दर्शन में 'पंच समवाय' सिद्धान्त के रूप में जानी जाती है। यद्यपि काल आदि कारणता की चर्चा सिद्धसेनसूरि एवं उनके उत्तरवर्ती

५४६ जैनदर्शन में कारण-कार्य व्यवस्था : एक समन्वयात्मक दृष्टिकोण

आचार्यों के साहित्य में होती रही है, तथापि 'पंच समवाय' नामकरण का अस्तित्व प्राचीन वाङ्मय में प्राप्त नहीं होता। 'पंच समवाय' शब्द का प्रयोग १९वीं शती में ही प्रयुक्त होता हुआ दृष्टिगोचर होता है। स्थानकवासी सम्प्रदाय के तिलोकऋषि (वि.सं. १९३०) के काव्य में यह शब्द प्रसिद्ध हो चुका था। वे कहते हैं-

पंच समवाय मिल्या होत है कारज सब

एक समवाय मिल्या कारज न होइए।

पंच समवाय माने सो ही समदृष्टि जीव।

अनुभो लगाय दूर दृष्टि कर जोइए।^१

तिलोकऋषि जी ने पंच समवाय को प्रत्येक कार्य में कारण प्रतिपादित किया है तथा यह भी कहा है कि वही जीव सम्यग्दृष्टि होता है जो पाँच समवाय के सिद्धान्त को स्वीकार करता है। तिलोकऋषि जी के इस कथन में सिद्धसेनसूरि का वही वाक्य प्रतिध्वनित हो रहा है, जिसमें कहा गया है- 'मिच्छन्तं ते चेव, समासओ होंति सम्पत्तं' अर्थात् कालवाद, स्वभाववाद, नियतिवाद, पूर्वकृतकर्मवाद एवं पुरुषवाद में जहाँ एक-एक कारणवाद अपने आपमें मिथ्यात्व के सूचक हैं वहाँ वे सभी मिलकर सम्यक्त्व का स्वरूप ग्रहण कर लेते हैं। सिद्धसेनसूरि की इस दृष्टि को जैनाचार्यों ने निरन्तर पल्लवित एवं पुष्पित किया जो १९वीं २०वीं शती में सुदृढ़ वृक्ष की भाँति फल-फूलों से सम्पन्न बन गया।

१९वीं एवं २०वीं शती में 'पंच समवाय' सिद्धान्त जैन मत में अनेकान्तवाद की भाँति प्रसिद्ध हो गया। सम्प्रति जैनदर्शन के कारण-कार्य सिद्धान्त में पंच समवाय की चर्चा अपरिहार्य बन गई है।

सिद्धसेन, हरिभद्र, अभयदेव, शीलांक की परम्परा को पुनर्जीवित या सुदृढ़ करने में १७वीं शती के दार्शनिक उपाध्याय यशोविजय एवं उनके समकालीन उपाध्याय विनयविजय का महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है। उपाध्याय यशोविजय ने हरिभद्रसूरि के 'शास्त्रवार्तासमुच्चय' पर टीका लिखते समय काल आदि पाँच कारणों का समन्वय स्थापित किया है तथा उपाध्याय विनयविजय ने पाँच कारणों पर स्तवन की रचना की है, जो सम्प्रति उपलब्ध है।

पंच समवाय की प्रतिष्ठा

उन्नीसवीं-बीसवीं शती में स्थानकवासी परम्परा के संत श्री तिलोकऋषि ने कालवादी आदि पाँच वादियों के सिद्धान्तों का निरूपण हिन्दी के सवैया छन्द में करके

उन पाँचों वादों का समन्वय भी स्थापित किया है तथा उसे 'पंचसमवाय' नाम दिया है, जैसी कि पहले चर्चा की गई है। शतावधानी रत्नचन्द्र जी महाराज ने भी कारण संवाद नाम से काल आदि पाँच कारणवादों का समन्वय नाटक के रूप में किया है। इसमें राजा, मंत्री, कालवादी, स्वभाववादी, नियतिवादी, पूर्वकृत कर्मवादी और पुरुषार्थवादी को पात्र बनाया गया है। जिनका पारस्परिक संवाद अतिरोचक है। कानजी स्वामी (२०वीं शती) ने कालनय, स्वभावनय, नियतिनय, पूर्वकृतकर्मनय, और पुरुषार्थनय के आधार पर 'पंचसमवाय' सिद्धान्त का विशद निरूपण किया है।

जैनागम एवं उत्तरकालीन वाङ्मय का अध्ययन करने पर ज्ञात होता है कि जैन दर्शन में काल, स्वभाव, नियति, पूर्वकृतकर्म, पुरुष/पुरुषार्थ में प्रत्येक की कथंचित् कारणता स्वीकार की गई है। जैन परम्परा में इन पाँचों कारणों का समवाय मान्य है। काल आदि में से किसी एक की कारणता को ही न मानकर सबकी कारणता को यथोचित स्थान दिया गया है। यहाँ पर पाँचों की कारणता के संबंध में विचार किया जा रहा है। पाँचों का समन्वय करने के पूर्व काल आदि प्रत्येक की कारणता पर विचार प्रस्तुत है-

जैन दर्शन में काल की कारणता

सभी द्रव्यों के परिणमन में काल की कारणता

जैन दर्शन में धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय, पुद्गलास्तिकाय और जीवास्तिकाय के पर्याय-परिणमन में काल को कारण अंगीकार किया गया है। यह सभी द्रव्यों के पर्याय परिणमन में समान रूप से कारण है। गोम्मटसार-जीवकाण्ड में नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती कहते हैं-

वत्तणहेदू कालो वत्तणगुणामवि य दव्वणिचयेसु।

कालाधारेणेव य वट्ठंति हु सव्वदव्वणि।।'

वर्तन हेतु वाला काल है। द्रव्यों में परिवर्तन गुण होते हुए भी काल के आधार से सर्व द्रव्य वर्तन करते हैं।

काल के जैनदर्शन में दो प्रकार निरूपित हैं- १. परमार्थ या निश्चय काल २. व्यवहार काल। परमार्थ काल सम्पूर्ण लोक में व्याप्त है जबकि व्यवहार काल अढाई द्वीप (जम्बूद्वीप, धातकीखण्ड, अर्द्धपुष्कर द्वीप) में ही माना गया है। कालगणना में यह व्यवहार काल ही उपयोगी होता है। आगमों में सभी गणनाएँ व्यवहार काल के आधार पर की गई हैं। व्यवहार काल कार्य के होने में स्थूल निमित्त हो सकता है, किन्तु

५४८ जैनदर्शन में कारण-कार्य व्यवस्था : एक समन्वयात्मक दृष्टिकोण

परमार्थकाल सूक्ष्म रूप से सर्वत्र साधारण निमित्त है और यही षड् द्रव्यों के पर्याय-परिणमन एवं वर्तना में प्रमुख निमित्त है। काल के कार्यों का कथन तत्त्वार्थसूत्र में इस प्रकार किया गया है-

‘वर्तना परिणामः क्रिया परत्वापरत्वे च कालस्य’^१

वर्तना, परिणाम, क्रिया और परत्व-अपरत्व काल के कार्य हैं। वर्तन को परमार्थकाल का और परिणाम, क्रिया, परत्व-अपरत्व को व्यवहार काल का कार्य माना जा सकता है। प्रत्येक पदार्थ उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य के रूप में जो निरन्तर परिवर्तनशील होता रहता है, वह वर्तना है। यह वर्तन लोक-अलोक में व्याप्त होने से परमार्थ काल का कार्य है।

व्यवहार में काल की कारणता

लोक में दृष्टिगत कार्य ही व्यवहार काल के अनुमापक बनते हैं। “द्व्यपरिवट्टरूढो परिणामादीलब्धो जो सो कालो हवइ व्यवहारो”^२ अर्थात् जो द्रव्यों के परिवर्तन में सहायक तथा परिणामादि लक्षण वाला है, वह व्यवहारकाल है। द्रव्यों के परिवर्तन से तात्पर्य जीव व पुद्गल की जीर्ण एवं नूतन पर्याय से है और परिणामादि से तात्पर्य परिणाम, क्रिया, परत्व-अपरत्व से है। परिणाम जैसे मिट्टी की कुम्भ के रूप में, सुवर्ण की मुकुट-कलश के रूप में परिणति, क्रिया जैसे द्रव्य का हलन, चलन तथा पर-अपर अर्थात् पूर्वभावी पश्चाद्भावी रूप से व्यवहार काल व्यवहृत होता है।

जैनदर्शन में श्रमण दीक्षा के लिए न्यूनतम आयु ८ वर्ष मानी गई है तथा केवलज्ञान-प्राप्ति के लिए न्यूनतम आयु ९ वर्ष की अंगीकार की गई है जिसमें स्वाभाविक रूप से व्यवहारकाल की कारणता प्रकट हो रही है।

धर्मास्तिकाय की भाँति ‘काल’ की स्वतन्त्र द्रव्यता

पंचास्तिकाय की तात्पर्य वृत्ति में कहा है- ‘गतिपरिणतेर्धर्मद्रव्यं सहकारिकारणं भवति कालद्रव्यं च।’^३ जीव और पुद्गल स्वयं ही गति करते हैं और स्वयं ही स्थिर रहते हैं, किन्तु उनकी गति और स्थिति में निमित्त रूप से धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय को स्वतंत्र द्रव्य माना गया है। इसी प्रकार जीव और अजीव में पर्याय-परिणमन का स्वभाव होने पर भी निमित्त कारण रूप काल द्रव्य को स्वतंत्र द्रव्य स्वीकार किया जाना चाहिए।

काल की बहिरंग कारणाता

काल स्वतंत्र द्रव्य है तथा वह अन्य द्रव्यों के पर्याय-परिणमन में बहिरंग कारण है। अन्तरंग कारण तो धर्मास्तिकाय आदि द्रव्य स्वयं हैं, वे परिणमन में समर्थ होते हुए भी बहिरंग कारण 'काल' की अपेक्षा रखते हैं। जैसे कि आचार्य विद्यानन्दि कहते हैं- 'समर्थोऽपि बहिरंगकारणापेक्षः परिणामत्वे सति कार्यत्वात्, ब्रह्मादिवदिति यत्तत्कारणं बाह्यं स कालः।'^६

जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म और आकाश द्रव्यों की वर्तना बहिरंग कारण की अपेक्षा रखती है। जिस प्रकार चावलों के पकने में बहिरंग कारण अग्नि है, उसी प्रकार जीव आदि द्रव्यों की वर्तना में और उनकी सत्ता में बहिरंग कारण काल द्रव्य है। यही नहीं सूर्य आदि गमन, ऋतु-परिवर्तन आदि में भी कार्य कारण बनता है।^७

वर्तना का कारण आकाश नहीं, काल है

भट्ट अकलंक ने राजवार्तिक में प्रश्न उपस्थित किया है कि आकाश प्रदेश के निमित्त से ही अन्य द्रव्यों की वर्तना हो सकती है, अतः काल नामक द्रव्य को उसका हेतु मानने की आवश्यकता नहीं है। तब काल की सिद्धि में भट्ट अकलंक ने हेतु देते हुए कहा है कि जैसे बर्तन चावलों का आधार है, परन्तु पाक के लिए तो अग्नि का व्यापार ही चाहिए, उसी तरह आकाश वर्तना वाले द्रव्यों का आधार तो हो सकता है पर वह वर्तना की उत्पत्ति में सहकारी नहीं हो सकता। उसमें तो कालद्रव्य का ही व्यापार अपेक्षित है।^८

काललब्धि के रूप में काल की कारणाता

पदार्थ जगत् में और भाव जगत् में होने वाले परिणमनों में काल की विशेष भूमिका रहती है। जैन परम्परा के अनुसार काललब्धि के परिपाक से अनेक कार्य सम्पन्न होते हैं, जिसमें काल ही प्रमुख कारण के रूप में उभर कर आता है। कुछ उद्धरण निम्न हैं-

१. अव्यवहार राशि का जीव व्यवहार राशि में आता है, इसका कारण है- काल लब्धि। अनादि काल से मिथ्यात्वी प्राणी के जब मोक्ष-प्राप्ति में अर्द्धपुद्गलपरावर्तन जितना समय शेष रहता है तब वह अनन्तानुबन्धी चतुष्क व दर्शन मोहत्रिक इन सात प्रकृतियों के उपशम, क्षयोपशम या क्षय से औपशमिक आदि सम्यक्त्व प्राप्त करता है। पूज्यपाद ने प्रश्न उठाया है कि अनादि मिथ्यात्वी भव्य प्राणी का कर्मोदय इतना सघन होता है, फिर उस

स्थिति में उसके उन कर्मप्रकृतियों का उपशम कैसे होता है? इसका समाधान करते हुए स्वयं उन्होंने ही लिखा है- 'काललब्ध्यादिनिमित्तत्वात्' अर्थात् काललब्धि आदि के निमित्त से यह संभव है। काललब्धि का एक दूसरा स्वरूप प्राप्त होता है जिसके अनुसार कर्मों की स्थिति जब अन्तःकोटाकोटि सागरोपम की बंधती है तब सत्ता में स्थित कर्मों की स्थिति संख्यात हजार कम अन्तःकोटाकोटि सागरोपम हो जाती है और यह जीव प्रथम सम्यक्त्व के योग्य होता है।^{११}

२. महापुराण में उल्लेख है कि अनादि काल से चला आया कोई जीव काल आदि लब्धियों का निमित्त पाकर तीनों करण रूप परिणामों के द्वारा मिथ्यात्व आदि सात प्रकृतियों का उपशम करता है तथा संसार की परिपाटी का उच्छेद कर उपशम सम्यग्दर्शन प्राप्त करता है।^{१२}
३. मोक्षपाहुड में कहा गया है कि जिस प्रकार स्वर्ण पाषाण को उसकी शोधन सामग्री द्वारा शुद्ध बनाया जा सकता है उसी प्रकार कालादि की लब्धि से आत्मा परमात्मा बन जाता है।^{१३}
४. प्रवचनसार की तात्पर्यवृत्ति में वर्णन है कि अतीत अनन्तकाल में जो कोई भी सिद्धसुख के भाजन हुए हैं या भावी काल में होंगे, वे सब काललब्धि के वश से ही हुए हैं।^{१४}
५. कतिपय घटनाओं में काल की कारणता को अंगीकार किया गया है, जैसाकि धवला पुस्तक में निम्नांकित प्रश्नोत्तर से सिद्ध होता है- प्रश्न : इन (६६) दिनों में दिव्यध्वनि की प्रवृत्ति किसलिए नहीं हुई? उत्तर : गणधर का अभाव होने के कारण। प्रश्न : सौधर्म इन्द्र ने उसी समय गणधर को उपस्थित क्यों नहीं किया? उत्तर : नहीं किया, क्योंकि काललब्धि के बिना असहाय सौधर्म इन्द्र में उनको उपस्थित करने की शक्ति का अभाव था।^{१५}

अबाधा काल के रूप में काल की कारणता

कर्म के उदय के पूर्व जैनदर्शन में अबाधाकाल की अवधारणा है। अबाधाकाल में कर्म का उदय नहीं होता है, इसमें कर्म का निश्चित अबाधा काल स्वीकार करने के कारण काल की कारणता पुष्ट होती है। यथा- ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय और अन्तराय कर्मों का अबाधाकाल उत्कर्षतः तीन हजार वर्ष का, गोत्र और नाम कर्म का दो-दो हजार वर्ष का, मोहनीय कर्म का सात हजार वर्ष का और आयुष्य कर्म का एक तृतीयांश पूर्व कोटि वर्ष का है।^{१६}

विभिन्न आरकों का प्रभाव

काल के दो विभाग हैं- अवसर्पिणी काल और उत्सर्पिणी काल। जिस काल में जीवों की शक्ति, अवगाहना, आयु क्रमशः घटती जाती है वह अवसर्पिणी काल कहलाता है और जिस काल में शक्ति, अवगाहना और आयु आदि में क्रमशः वृद्धि होती है, वह उत्सर्पिणी काल कहलाता है। अवसर्पिणी काल के समाप्त होने पर उत्सर्पिणी काल आता है और उत्सर्पिणीकाल के समाप्त होने पर अवसर्पिणी काल आता है।

अवसर्पिणी काल में ६ आरकों का प्रभाव मनुष्यों पर निम्न रूप से होता है-

१. सुखम-सुखम :- अवसर्पिणी काल के पहले सुखम-सुखम आरे में मनुष्यों के शरीर की अवगाहना तीन कोस की होती है। आयु तीन पल्योपम की होती है तथा सभी मनुष्य वज्रऋषभनाराच संहनन तथा समचतुरस्र संस्थान के धारक होते हैं। एक साथ स्त्री और पुरुष का जोड़ा उत्पन्न होता है। उनकी इच्छाएँ दस प्रकार के कल्पवृक्षों से पूर्ण होती हैं। इस काल के सभी जीव मृत्यु के बाद देवगति को प्राप्त करते हैं।
२. सुखम :- इस काल के प्रभाव से मनुष्य के शरीर की अवगाहना दो कोस तथा आयु दो पल्योपम रह जाती है। शेष स्थितियाँ पहले आरे के समान रहती हैं।
३. सुखम-दुखम :- इसमें एक कोस का देहमान और एक पल्योपम का आयुष्य शेष रहता है। शेष स्थितियाँ समान रहती हैं। इन तीनों आरों में तिर्यच भी युगलिक होते हैं। इस काल में प्रथम तीर्थंकर और चक्रवर्ती का जन्म होता है।
४. दुखम-सुखम :- इस काल में मनुष्य का देहमान क्रमशः घटते-घटते ५०० धनुष का और आयुष्य एक करोड़ पूर्व का रह जाता है। छठे संहनन और छः संस्थान वाले तथा चार गतियों में जाने वाले मनुष्य होते हैं। इस काल में मनुष्य मोक्ष भी जा सकता है। २३ तीर्थंकर, ११ चक्रवर्ती, ९ बलदेव, ९ वासुदेव, ९ प्रतिवासुदेव भी इसी आरे में होते हैं। इस आरे में युगलिक धर्म समाप्त हो जाता है।
५. दुखम :- इस आरे में आयु १२५ वर्ष और अवगाहना सात हाथ की होती है। पाँचवें आरे में केवलज्ञान, मनःपर्याय ज्ञान आदि १० बातों का अभाव हो जाता है। अकाल, दुर्भिक्ष, चारित्रहीनता आदि अधार्मिकता बढ़ती जाती है।

६. **दुखम-दुखम** :- आयु क्रम घटते २० वर्ष की और शरीर की ऊँचाई सिर्फ एक हाथ की रह जाती है। रात्रि में शीत और दिन में ताप अत्यन्त प्रबल होता है। इस कारण वे मनुष्य बिलों से बाहर नहीं निकल सकते। वनस्पति नहीं होने से मांसाहार ही करते हैं। उस काल के मनुष्य दीन, हीन, दुर्बल, दुर्गन्धित, रुग्ण, अपवित्र, नग्न, आचार-विचार से हीन और माता, भगिनी, पुत्री आदि के साथ संगम करने वाले होते हैं। छह वर्ष की स्त्री संतान का प्रसव करती है। महाक्लेशमय वातावरण होता है। धर्म-पुण्य से हीन वे दुःख ही दुःख में अपनी सम्पूर्ण आयु व्यतीत करके नरक एवं तिर्यच गति में जाते हैं।

अवसर्पिणी काल के जिन छह आरों का वर्णन किया गया है, वही छह आरे उत्सर्पिणी काल में होते हैं। अन्तर यह है कि उत्सर्पिणी काल में उल्टे क्रम में होते हैं। उत्सर्पिणी काल दुखम-दुखम आरे से आरम्भ होकर सुखम पर समाप्त होता है।^{१९}

जैनदर्शन में स्वभाव की कारणता

षड्द्रव्यों का अपना स्वभाव

सूत्रकृतांग की टीका में कहा गया है- “सर्वे भावा स्वभावेन स्वस्वभाव-व्यवस्थिताः”^{१८} अर्थात् सभी पदार्थ स्वभाव से अपने स्वभाव में व्यवस्थित हैं। षड्द्रव्यों का अपना स्वभाव है। ‘स्वो भावः स्वभावः’ व्युत्पत्ति के अनुसार जीव-अजीव, भव्यत्व-अभव्यत्व, मूर्तत्व-अमूर्तत्व अपने स्वरूप में ही होते हैं तथा धर्म, अधर्म, आकाश एवं काल का भी अपना स्वभाव है। धर्म का गति, अधर्म का स्थिति, आकाश का अवगाहना और काल का परत्व-अपरत्व आदि स्वरूप भी स्वभाविक है। गति, स्थिति, अवगाहना, परत्व-अपरत्व आदि कार्यों में षड्द्रव्यों का स्वभाव हेतु होने से जैनागमों से ‘स्वभाव’ कारण रूप में स्वतः सिद्ध होता है।

उत्पादव्ययधौव्यात्मकता : स्वभाव

जैन दार्शनिकों ने उत्पाद-व्यय-धौव्यात्मकता को वस्तु का स्वभाव स्वीकार किया है। कुन्दकुन्दाचार्य कहते हैं कि स्थिति, उत्पाद और नाश पदार्थ का स्वभाव है- ‘द्वस्स जो हि परिणामो अत्थेसु सो सहावो ठिदिसंभवणाससंबद्धो’^{१९} प्रवचनसार की टीका में अमृतचन्द्राचार्य कहते हैं- ‘न खलु द्रव्यैर्द्रव्यान्तराणामारंभः सर्वद्रव्याणां स्वभावसिद्धत्वात्’^{२०} सभी पदार्थ द्रव्य, गुण और पर्यायमय हैं। इनका स्वरूप त्रिकालाबाधित और शाश्वत है। जैसा कि प्रवचनसार में कहा है-

सम्भावो हि सहावो गुणोहिं सगपज्जएहिं चित्तेहिं।
दव्वस्स सव्वकालं उप्पादव्वयधुवत्तेहिं।^{३१}

विस्मसा परिणमन में स्वभाव की कारणता

विभिन्न द्रव्यों के पर्याय-परिणमन में उन द्रव्यों का स्वभाव सबसे प्रमुख कारण है। षड्द्रव्यों में धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय एवं आकाशास्तिकाय का परिणमन स्वभाव से होता है। इनके परिणमन में पुरुषार्थ या प्रयोग को कारण नहीं माना जा सकता।

जैनागमों में तीन प्रकार के परिणमन का उल्लेख मिलता है- विस्मसा परिणमन, प्रयोग परिणमन, मिश्र परिणमन।^{३२} षड्द्रव्यों में पुद्गल ही एक ऐसा द्रव्य है जिसका परिणमन तीनों प्रकार का होता है, किन्तु धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय का विस्मसा परिणमन होता है। जिसमें एकमात्र स्वभाव को ही कारण माना जा सकता है।

जीव का अनादि पारिणामिक भाव : स्वभाव

अनुयोगद्वार में अनादि पारिणामिक भावों की चर्चा है। वहाँ तीन प्रकार के अनादि पारिणामिक भाव निरूपित हैं- जीवत्व, भव्यत्व और अभव्यत्व। जीवत्व से तात्पर्य है कि जीव कभी अजीव नहीं बनता और अजीव (जड़) कभी जीव में परिणत नहीं होता। भव्यत्व का अर्थ है जीव की वह प्राथमिक योग्यता जिसके कारण वह मोक्ष में जाने का अधिकारी बन सकता है। अभव्यत्व जीव का ऐसा स्वाभाविक भाव है जो उसे मोक्ष में जाने के अयोग्य घोषित करता है। भव्यत्व और अभव्यत्व का परस्पर संक्रमण नहीं होता, क्योंकि ये अनादि पारिणामिक भाव हैं और स्वाभाविक हैं। इनका कर्मों के उदय, उपशम, क्षय, क्षयोपशम से कोई संबंध नहीं है।

जीव के भव्यत्व के संबंध में व्याख्याप्रज्ञप्ति सूत्र में जयन्ती श्राविका के द्वारा भगवान् महावीर से प्रश्न किया गया कि हे भगवन्! जीवों में भवसिद्धिकत्व स्वभाव से है या परिणाम से? भगवान् ने उत्तर दिया- जयन्ती यह भवसिद्धिकत्व स्वभाव से है परिणाम से नहीं।^{३३}

अष्ट कर्मों में स्वभाव की कारणता

जैन कर्म-सिद्धान्त में प्रत्येक कर्म का अपना स्वभाव माना गया है। वह कर्म अपने स्वभाव अर्थात् प्रकृतिबंध के अनुसार ही फल प्रदान करता है। जैन दर्शन में ऐसे ८ कर्म प्रतिपादित हैं- १. ज्ञानावरण २. दर्शनावरण ३. वेदनीय ४. मोहनीय ५. आयुष्य ६. नाम ७. गोत्र ८. अन्तराय। इनमें प्रत्येक कर्म का स्वभाव निम्नानुसार है-

१. ज्ञानावरण कर्म- ज्ञान जीव का स्वभाव एवं लक्षण है तथा ज्ञानावरण कर्म का स्वभाव ज्ञान का आच्छादन करना है।
२. दर्शनावरण कर्म- जीव की सम्यक् दृष्टि या सोच को बाधित करने का स्वभाव दर्शनावरणीय कर्म का है।
३. वेदनीय कर्म- जीव को सुख-दुःख वेदन कराना वेदनीय कर्म का स्वभाव है।
४. मोहनीय कर्म- यह दो प्रकार का है- १. दर्शन मोहनीय २. चारित्र मोहनीय। दर्शन मोहनीय कर्म का स्वभाव जीव के सम्यक् दर्शन को प्रकट न होने देना है। चारित्र मोहनीय का स्वभाव क्रोध, मान, माया और लोभ रूप चार कषायों का और स्त्रीवेद-पुरुषवेद-नपुंसक वेद, हास्य रति आदि ९ नोकषायों का जीव को अनुभव कराना है।
५. नाम कर्म- जीव को शरीर, इन्द्रिय, अंगोपांग आदि की प्राप्ति कराने का कार्य नाम कर्म का स्वभाव है।
६. गोत्र कर्म- जीव को उच्चता एवं नीचता का अनुभव कराना गोत्र कर्म का स्वभाव है।
७. आयुष्य कर्म- इस कर्म का स्वभाव निश्चित अवधि तक जीव को विभिन्न भवों में भ्रमण कराना है।
८. अन्तराय कर्म- जीव के दान, लाभ, भोग-उपभोग एवं वीर्य लब्धियों को बाधित करने का स्वभाव अन्तराय कर्म का माना जाता है।

जैनदर्शन में नियति की कारणता

जैन दर्शन में नियतिवाद का निरसन प्राप्त होता है। उसकी चर्चा नियतिवाद से सम्बद्ध अध्याय में की गई है, तथापि जैन दर्शन की कुछ ऐसी मान्यताएँ हैं जो नियति को कथंचित् स्वीकार भी करती हैं। नियति को पुष्ट करने वाली अथवा उसे अपने ग्रन्थों में स्थान देने वाली कतिपय मान्यताएँ इस प्रकार हैं-

कालचक्र में नियति की कारणता

(१) जैन धर्म में कालचक्र का एक नियत क्रम स्वीकार किया गया है। नियत कालक्रम २० कोटाकोटि सागरोपम का मान्य है जो उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी

इन दो भागों में विभक्त है। दोनों में छः छः आरक होते हैं।^{२४} १० कोटाकोटि सागरोपम वाले उत्सर्पिणी के छह आरकों का क्रम इस प्रकार है- पहला दुःखम-दुःखम २१००० वर्ष का, दूसरा दुःखम भी २१००० वर्ष का, तीसरा दुःखम-सुखम ४२००० न्यून १ कोटाकोटि सागरोपम का, चौथा सुखम-दुःखम २ कोटाकोटि सागरोपम का, पाँचवाँ सुखम ३ कोटाकोटि सागरोपम का और छठा सुखम-सुखम ४ कोटाकोटि सागरोपम का होता है। अवसर्पिणी में यह क्रम उलट जाता है। वहाँ प्रथम आरक सुखम-सुखम तथा अन्तिम आरक दुःखम दुःखम होता है। कालमान उत्सर्पिणी के अनुसार ही होता है।

(२) भरत और ऐरवत क्षेत्र में ही उत्सर्पिणी-अवसर्पिणी काल का भेद होता है। इन दोनों क्षेत्रों के अतिरिक्त और किसी भी क्षेत्र पर कालचक्र का प्रभाव नहीं पड़ता। अतएव वहाँ सदैव एक सी स्थिति रहती है। यह काल की निश्चितता नियति को ही रेखांकित कर रही है।^{२५}

तीर्थकरों में नियति

(१) जैन धर्म में २४ तीर्थकरों की परिकल्पना है। जम्बूद्वीप में प्रत्येक उत्सर्पिणी एवं अवसर्पिणी काल में २४ तीर्थकर होते हैं। उनका भी काल निश्चित माना गया है। दुःखम-सुखम नामक उत्सर्पिणी के तृतीय एवं अवसर्पिणी के चतुर्थ आरक इसके लिए निर्धारित किये गये हैं, जो निश्चित नियम स्वरूप नियति को द्योतित करते हैं। जम्बूद्वीप के भरतक्षेत्र से इस अवसर्पिणी काल में २४ तीर्थकर हुए हैं तथा भावी २४ तीर्थकरों के नाम अभी से सुनिश्चित हो गए हैं।^{२६}

(२) जैन कर्म सिद्धान्तानुसार तीर्थकर प्रकृति को बाँधने वाला जीव तीसरे भव में अवश्य तीर्थकर बनता है। इसमें तीर्थकर प्रकृति का बंध पुरुषार्थ से माना जा सकता है तथा पूर्वकृत कर्मों का फल प्राप्त करने की दृष्टि से कोई तीर्थकर बन सकता है, किन्तु तीसरे भव में मोक्ष जाने की जो बात कही गई है वह नियति को सूचित करती है।

(३) तीर्थकरों के संबंध में यह रोचक जानकारी है कि प्रत्येक चौबीसी (२४ तीर्थकर) में एक तीर्थकर के निर्वाण तथा दूसरे तीर्थकर के बीच का जो समय परिमाण या अन्तर है वह प्रत्येक चौबीसी (२४ तीर्थकर) में उसी प्रकार रहता है। तीर्थकरों की देह की ऊँचाई और आयुष्य भी इसी प्रकार रहते हैं। मात्र उत्सर्पिणी काल के तीर्थकरों के आयुष्य, अन्तर, देह-परिमाण आदि का क्रम अवसर्पिणी काल के तीर्थकरों में उलट जाता है।^{२७}

काल एवं क्षेत्र में नियति

अकर्म भूमि में पुरुष-स्त्री के युगलिकों का उत्पन्न होना तथा कर्मभूमि में प्रथम तीन आरों में युगलिकों की उत्पत्ति स्वीकार करना काल एवं क्षेत्र की नियति है। अकर्मभूमि में नपुंसक मनुष्य का उत्पन्न न होना भी नियति को इंगित करता है।

जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति में नियति पोषक तत्त्व

जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति में नियति को पुष्ट करने वाले अनेक वाक्य प्राप्त होते हैं। गौतम स्वामी के द्वारा पूछे गए प्रश्नों के उत्तर में भगवान के कुछ वचन इस प्रकार हैं-

प्रश्न- भगवन्! जम्बूद्वीप में जघन्य (कम से कम) तथा उत्कृष्ट (अधिक से अधिक) समग्रतया कितने तीर्थंकर होते हैं-

उत्तर- गौतम! कम से कम चार तथा अधिक से अधिक ३४ तीर्थंकर होते हैं।

प्रश्न- भगवन्! जम्बूद्वीप में कम से कम तथा अधिक से अधिक कितने चक्रवर्ती होते हैं?

उत्तर- गौतम! कम से कम ४ तथा अधिक से अधिक ३० चक्रवर्ती होते हैं। जितने चक्रवर्ती होते हैं, उतने ही बलदेव होते हैं, वासुदेव भी उतने ही होते हैं।

प्रश्न- जम्बूद्वीप में निधि-रत्न-उत्कृष्ट निधान कितने होते हैं?

उत्तर- गौतम! जम्बूद्वीप में निधि रत्न ३०६ होते हैं।^{१८}

सिद्धों में नियति

जैन दर्शन में सिद्धों के संबंध में विविध प्रकार का वर्णन प्राप्त होता है, उनमें कुछ वर्णन नियति की मान्यता को पुष्ट करता हुआ प्रतीत होता है।

(१) पूर्वभवाश्रित सिद्धों के संबंध में कहा है- पहले, दूसरे और तीसरे नरक से निकलकर आने वाले जीव एक समय में १० सिद्ध होते हैं। चौथे नरक से निकले हुए ४ सिद्ध होते हैं। पृथ्वीकाय और जलकाय से निकले हुए ४ सिद्ध होते हैं। पंचेन्द्रिय गर्भज तिर्यंच और तिर्यंचनी की पर्याय से तथा मनुष्य की पर्याय से निकलकर मनुष्य हुए १० जीव सिद्ध होते हैं। मनुष्यनी से आये हुए २० सिद्ध होते हैं। भवनपति, वाणव्यन्तर और ज्योतिषी देवों से आये हुए २० सिद्ध होते हैं। वैमानिकों से आये १०८ सिद्ध होते हैं और वैमानिक देवियों से आये हुए २० सिद्ध होते हैं।^{१९}

(२) क्षेत्राश्रित सिद्ध- ऊँचे लोक में ४, नीचे लोक में २० और मध्यलोक में १०८ सिद्ध होते हैं। समुद्र में २, नदी आदि सरोवरों में ३, प्रत्येक विजय में अलग-अलग २० सिद्ध हों तो भी एक समय में १०८ से ज्यादा जीव एक समय में सिद्ध नहीं हो सकते। मेरुपर्वत के भद्रशाल वन, नन्दनवन और सौमनस वन में ४, पाण्डुक वन में २, अकर्मभूमि के क्षेत्रों में १०, कर्मभूमि के क्षेत्रों से १०८, पहले, दूसरे, पाँचवें तथा छठे आरे में १० और तीसरे-चौथे आरे में १०८ सिद्ध होते हैं। यह संख्या भी सर्वत्र एक समय में अधिक से अधिक सिद्ध होने वालों की है।^{३०}

(३) अवगाहना आश्रित सिद्ध- जघन्य दो हाथ की अवगाहना वाले एक समय में ४ सिद्ध होते हैं। मध्यम अवगाहना वाले १०८ और उत्कृष्ट ५०० धनुष की अवगाहना वाले एक समय में २ जीव सिद्ध होते हैं।^{३१}

(४) जितने भी जीव सिद्ध होते हैं, वे अपने अंतिम शरीर से तीसरे भाग कम आत्मप्रदेशों की अवगाहना सिद्ध दशा में प्राप्त करते हैं। यह प्रक्रिया भी नियति का एक रूप है।^{३२}

६३ शलाका पुरुषों में नियति

(१) २४ तीर्थंकर, १२ चक्रवर्ती, ९ बलदेव, ९ वासुदेव, ९ प्रतिवासुदेव आदि की निश्चित मान्यता भी जैन धर्म में नियति के प्रवेश की सूचक है।

(२) तीर्थंकर की माता और चक्रवर्ती की माता १४ स्वप्न देखती है। बलदेव की माता ४, वासुदेव की माता ७, प्रतिवासुदेव की माता ३ स्वप्न देखती है। इन स्वप्नों की वस्तु और संख्या की अपरिवर्तनशीलता नियति को स्पष्ट करती है।^{३३}

कर्म-सिद्धान्त में नियति

(१) योग और कषाय के होने पर कर्म-पुद्गल आत्मा के साथ चिपककर बंध को प्राप्त होते हैं, यह नियत है। इसके विपरीत कषाय पर विजय प्राप्त करने वाला या मोह पर विजय प्राप्त करने वाला मोक्ष को प्राप्त करता है, यह भी नियत है।

(२) विभिन्न गतियों में जीवों की उत्कृष्ट आयु नियत है। उससे अधिक वह वहाँ लाख पुरुषार्थ करने पर भी नहीं जी सकता है। देवगति और नरकगति में जघन्य आयु १०००० वर्ष एवं उत्कृष्ट आयु ३३ सागरोपम मानी गई है। इसी प्रकार देह के आकार इत्यादि का भी विभिन्न आरकों के आधार पर आकार निश्चित है।

(३) कर्मफल के सिद्धान्त में भी नियति कार्य करती है। पुरुषार्थ से कोई शुभ या अशुभ कर्म का बंध करता है तथा उन कर्मों का शुभ-अशुभ फल पूर्वकृत

उपार्जन के अनुसार स्वभाव से प्राप्त होता है। किन्तु कौनसा कर्म कब फल प्रदान करेगा उसका जघन्य और उत्कृष्ट बंध कितनी अवधि का होगा, इसमें नियति के अतिरिक्त कोई कारण समझ में नहीं आता।

(४) पूर्वकृत कर्म जीव के भावी जीवन को प्रभावित करने में नियति की तरह कार्य करते हैं। नियति को भाग्य या दैव भी कहा जाता है। उस दृष्टि से जीव के द्वारा ही उसकी नियति निर्धारित होती है।

(५) जैनदर्शन में दो प्रकार के आयुष्य कर्म होते हैं- अपवर्त्य और अनपवर्त्य। अपवर्त्य आयुष्य वाले जीव का आयुष्य विभिन्न निमित्तों के मिलने पर निश्चित अवधि के पूर्व भी पूर्ण हो सकता है। इसमें एकेन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय तक के तिर्यच एवं मनुष्यों की गणना होती है। ये जीव कदाचित् पूर्ण आयुष्य भी भोग सकते हैं। अनपवर्त्य आयुष्य वाले जीव आयुष्य की पूर्ण अवधि को भोगकर ही मरण को प्राप्त होते हैं। देव और नारक का आयुष्य अनपवर्त्य होता है। यह नियति है। इसी प्रकार २४ तीर्थंकर, १२ चक्रवर्ती, ९ बलदेव, ९ वासुदेव, ९ प्रतिवासुदेव इन उत्तम पुरुषों का तथा उसी भव में मोक्ष जाने वाले चरम शरीरी जीवों का आयुष्य अनपवर्त्य होता है।^{३५} इसमें भी नियति को कारण माना जा सकता है।

देवता, नारकी-जीव तथा असंख्यात आयुष्य वाले तिर्यच और मनुष्यों का जब ६ महीने आयुष्य शेष रह जाता है तब वह आगामी जन्म का आयु बंधन करता है। शेष निरुपक्रमी आयुष्य वाले अपनी आयुष्य का तीसरा विभाग शेष रहे तब निश्चय से अगले जन्म का आयुष्य बंधन करते हैं।^{३६}

(६) जैन कर्मवाद के अनुसार कर्म के दो प्रकार हैं- १. दलिक २. निकाचित। दलिक कर्म परमाणुओं की स्थिति आदि में सदा परिवर्तन की संभावना रहती है। निकाचित कर्मों के फल में परिवर्तन की संभावना प्रायः समाप्त हो जाती है। सामान्यतया निकाचित कर्म जिस रूप में बाँधे जाते हैं उसी रूप में उनका भोग अनिवार्य है। इस प्रकार निकाचित कर्म नियति के सूचक हैं।

केवलज्ञान सहित दश बोलों का विच्छेद

वर्तमान में यह मान्यता है कि जम्बूस्वामी के मोक्ष जाने के पश्चात् जम्बूद्वीप से कोई मोक्ष नहीं जा सकता। इस मान्यता के पीछे क्या कारण है यह स्पष्ट नहीं है, पर इस मान्यता को नियति के खाते में डाला जा सकता है। विशेषावश्यक भाष्य में जम्बूस्वामी के मोक्ष जाने के पश्चात् दश बोलों का विच्छेद प्रतिपादित है। वे दश बोल हैं-

१. केवलज्ञान २. मनःपर्याय ज्ञान ३. परमावधि ज्ञान ४. परिहार विशुद्धि चारित्र ५. सूक्ष्म संपराय चारित्र ६. यथाख्यात चारित्र ७. पुलाकलब्धि ८. आहारक शरीर ९. क्षायिक सम्यक्त्व और १०. जिनकल्पी मुनि।^{३६}

नियति की साधारण धारणाएँ

(१) जो जन्मता है वह अवश्य मरण को प्राप्त करता है। यह भी एक नियति है। जिसे जैन दर्शन स्वीकार करता है।

(२) जीव के अव्यवहार राशि से व्यवहार राशि में आने का सिद्धान्त भी नियति से जुड़ा हुआ है, उसमें मान्यता है कि कोई एक जीव जब सिद्ध होता है तो निगोद की अव्यवहार राशि से एक जीव व्यवहार राशि में आता है। इसमें नियति ही कारण प्रतीत होती है।

(३) यह भी नियत है कि कोई जीव एक बार भी सम्यक्त्व की प्राप्ति कर लेता है तो अधिकतम १५ भवों में अवश्य मोक्ष को प्राप्त करता है।

(४) छः मास आयुष्य शेष रह जाती है, उस समय जिनको केवलज्ञान उत्पन्न हुआ है, वे निश्चय ही समुदघात करते हैं। अन्य करते हैं अथवा नहीं भी करते हैं।^{३७}

(५) लेश्या के परिणाम के पहले और अन्तिम क्षण में प्राणी की मृत्यु नहीं होती है, अन्तिम अन्तर्मुहूर्त शेष रहा हो उस समय अथवा प्रथम अन्तर्मुहूर्त व्यतीत हो गया हो तब होती है। इसमें भी अन्तिम अन्तर्मुहूर्त शेष रहा हो तब नारकी और देवता की मृत्यु होती है और प्रथम अन्तर्मुहूर्त व्यतीत होते मनुष्य और तिर्यच की मृत्यु होती है।^{३८}

जैनदर्शन में पूर्वकृत कर्म की कारणता

पूर्वकृत कर्म की कारणता का संबंध अजीव से नहीं जीव से है। जीवों में भी संसारी जीवों से है, मुक्त जीवों से नहीं। संसारी जीव अपने द्वारा किये हुए शुभ-अशुभ कर्मों के अनुसार फल प्राप्त करते हैं। पूर्वकृत कर्म की कारणता को विभिन्न भारतीय दर्शन स्वीकार करते हैं, किन्तु जैनदर्शन में कर्म-सिद्धान्त का व्यापक एवं व्यवस्थित विवेचन प्राप्त होता है। जैनदर्शन के अनुसार कर्म-पुद्गल स्वयं ही जीव को अपने उदयकाल में फल प्रदान करते हैं। जीव उन कर्मों के वश में होने के कारण अपने को परवश एवं असहाय अनुभव करता है। कहा भी है-

कम्मं चिणांति सबसा, तस्सुदयम्मि उ परव्वसा होंति।^{३९}

अर्थात् कर्म करने में जीव स्वतंत्र है, किन्तु कर्म के उदयकाल में वह कर्म के अधीन हो जाता है।

अष्टविध कर्मों का प्रभाव

जैनदर्शन में कर्म के हेतु और उनके फल का सूक्ष्म विवेचन प्राप्त होता है। कर्म आठ प्रकार के माने गए हैं- १. ज्ञानावरण २. दर्शनावरण ३. वेदनीय ४. मोहनीय ५. आयुष्य ६. नाम ७. गोत्र ८. अन्तराय। जीव कषाय और योग से युक्त होकर इन कर्मों का बंध करता है तथा समय आने पर उनका फल प्राप्त करता है। ज्ञान एवं दर्शन जो जीव के स्वभाव एवं लक्षण माने जाते हैं वे ज्ञानावरण एवं दर्शनावरण कर्मों के कारण आंशिक रूप में आवरित रहते हैं। जब यह आवरण पूर्णतः दूर हो जाता है तो ज्ञान एवं दर्शन पूर्ण रूप से प्रकट हो जाते हैं जिन्हें केवलज्ञान और केवलदर्शन अथवा अनन्त ज्ञान और अनन्त दर्शन कहा जाता है। पूर्वकृत कर्मों के कारण ही सुख-दुःख का वेदन एवं संसार परिभ्रमण होता है। सुख-दुःख के वेदन में वेदनीय कर्म कारण बनता है। अन्य प्राणियों को सुख प्रदान करने पर अपने को सुख की तथा दुःख प्रदान करने पर दुःख की प्राप्ति होती है। सुख की प्राप्ति में सातावेदनीय एवं दुःख की प्राप्ति में असातावेदनीय कर्म का उदय माना जाता है। जैनदर्शन में मान्य ८ कर्मों में सर्वाधिक शक्तिशाली कर्म मोहकर्म है। इस मोह कर्म के मुख्यतः दो प्रकार हैं- १. दर्शन मोहनीय २. चारित्र मोहनीय। दर्शन मोहनीय के रहते हुए जीव को सम्यक्त्व की प्राप्ति नहीं होती तथा चारित्र मोहनीय के रहते हुए क्रोध, मान, माया और लोभ कषाय से मुक्ति नहीं मिलती। मिथ्यात्व का उदय एवं क्रोधादि कषायों का उदय मोहनीय कर्म का परिणाम है। राग-द्वेष आदि भी मोह कर्म के ही सूचक हैं। आठ कर्मों में सबसे पहले मोह कर्म का क्षय करने पर अन्य ज्ञानावरणादि घाती कर्म क्षय होते हैं। एक योनि से दूसरी योनि में परिभ्रमण का कारण आयुष्य कर्म है। इस आयुष्य कर्म के कारण ही जीव नरक, तिर्यच, मनुष्य और देव गति के किसी भव में निश्चित अवधि तक जीवन यापन करता है^{१०} तथा उस आयुष्य के समाप्त होने पर नई आयुष्य का भोग करने के लिए वह दूसरे भव में उत्पन्न होने के लिए गमन कर जाता है। इसलिए आयुष्य कर्म को भवभ्रमण का हेतु माना जाता है। जीव को शरीर, इन्द्रिय, अंगोपांग, श्वासोच्छ्वास आदि की प्राप्ति नाम कर्म के उदय के कारण होती है। एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय एवं पंचेन्द्रिय जीवों को यथायोग्य शरीर आदि की प्राप्ति में यह नाम-कर्म प्रमुख कारण है। गोत्र-कर्म से जीव हीन या उच्च कुलों में उत्पन्न होता है तथा अन्तराय कर्म के उदय से अपनी सत्क्रियाओं एवं आत्मपुरुषार्थ में विघ्न का अनुभव करता है।

जीव की शक्ति को प्रतिबन्धित करने में पूर्वकृत कर्मों का योगदान होता है। जीव के द्वारा कृत अशुभ कर्म या पाप कर्म उसकी आत्म-चेतना को पतन की ओर ले जाते हैं तथा शुभ कर्म या पुण्य कर्म उसकी चेतना को मोक्षोन्मुखी बनने में अनुकूलता प्रदान करते हैं। पूर्वकृत कर्म जीव को अपने आधीन बना लेते हैं। जीव पूर्वकृत कर्मों के वश में होकर अपने पुरुषार्थ को भी प्रकट करने में असहाय अनुभव करता है।

तीर्थंकर बनना भी पूर्वकृत कर्म का परिणाम

जैनदर्शन के अनुसार तीर्थंकर बनना भी तभी संभव है जब पहले 'तीर्थंकर' नामक नामकर्म की प्रकृति का उपार्जन किया गया हो। यह प्रकृति जब जिसके उदय में आती है तभी कोई जीव तीर्थंकर बन पाता है। जैनदर्शन में तीर्थंकर साधु, साध्वी श्रावक एवं श्राविका रूप चतुर्विध संघ की स्थापना करता है। साधारण केवलज्ञानी बनने के लिए तो चार घाती कर्मों का क्षय करना होता है, किन्तु तीर्थंकर बनने के लिए तीर्थंकर प्रकृति का उपार्जन आवश्यक होता है। तीर्थंकर केवलज्ञानी एवं केवलदर्शनी होता है।

कर्म की कारणता का विशद प्रतिपादन

जैनागमों एवं कर्म-संबंधी साहित्य में अष्टविध कर्मों का विभिन्न द्वारों से विशद प्रतिपादन प्राप्त होता है। जैनदर्शन के कर्म संबंधी साहित्य एवं कर्मवाद से सम्बद्ध मान्यताओं का निरूपण इस शोध प्रबन्ध के पंचम अध्याय में विस्तार से किया गया है। कर्म-सिद्धान्त जैनधर्म का प्रमुख केन्द्रिय सिद्धान्त है। इसकी दृढ़ मान्यता है कि आत्मा अपने द्वारा कृत कर्मों के अनुसार सुख-दुःख प्राप्त करता है। जैनधर्म की कर्म-कारणता संबंधी मान्यता का पोषण अनेकत्र हुआ है। उत्तराध्ययन सूत्र में कहा गया है-

अप्या कत्ता विकत्ता य, दुहाण य सुहाण य। -उत्तराध्ययन २०.३७

सूत्रकृतांग सूत्र में स्पष्ट कहा गया है कि जीव अपने द्वारा कृत कर्मों का फल प्राप्त करता है-

जमिणं जगती पुढो जगा, कम्मेहिं लुप्पंति पाणिणो।

सयमेव कडेहिं गाहती, नो तस्सा मुच्चे अपुट्ठयं।।

-सूत्रकृतांग सूत्र १/२/१:४

५६२ जैनदर्शन में कारण-कार्य व्यवस्था : एक समन्वयात्मक दृष्टिकोण

इस जगत में जो भी प्राणी हैं, वे अपने-अपने संचित कर्मों से ही संसार भ्रमण करते हैं और किये हुए कर्मों के अनुसार ही भिन्न-भिन्न योनियों में जन्म लेते हैं। फल भोगे बिना उपार्जित कर्मों से प्राणी का छुटकारा नहीं होता।

अन्यत्र भी कर्म-सिद्धान्त की पुष्टि में कहा है-

कम्मं चिणंति सवसा, तस्सुदयम्मि उ परव्वसा होंति।

रुक्खं दुरुहइ सवसो, विगलइ स परव्वसो तत्तो।।

-बृहत्कल्पभाष्य, २९८९

जीव कर्मों का बंध करने में स्वतंत्र है, परन्तु उन कर्मों का उदय आने पर फल भोगने में उसके अधीन हो जाता है। जैसे कोई पुरुष स्वेच्छा से वृक्ष पर चढ़ तो जाता है किन्तु प्रमादवश गिरते समय परवश हो जाता है।

रागो य दोसो वि य कम्मबीयं, कम्मं च मोहप्पभवं वयंति।

कम्मं च जाई मरणास्स मूलं, दुक्खं च मरणं वयंति।।

-उत्तराध्ययन सूत्र ३२.७

राग-द्वेष कर्म के बीज हैं। कर्म मोह से उत्पन्न होता है। वह जन्म-मरण का मूल है। जन्म-मरण को दुःख का मूल कहा गया है।

कम्मुणा बंभणो होइ, कम्मुणा होइ खत्तिओ।

वइस्से कम्मुणा होइ, सुदो हवइ कम्मुणा।।

-उत्तराध्ययनसूत्र २५.३३

कर्म से ही कोई ब्राह्मण होता है और कर्म से ही क्षत्रिय। कर्म से ही मनुष्य वैश्य होता है और शूद्र भी कर्म से ही होता है।

सव्वे सयकम्मकप्पिया, अव्वत्तेण दुहेण पाणिणो।

हिंदंति भयाउला सदा, जाइ जरामरणोहिऽभिद्वया।।

-सूत्रकृतांग सूत्र १/२/३/१८

सभी प्राणी अपने-अपने कर्मों के अनुसार ही पृथक्-पृथक् योनियों में अवस्थित हैं। कर्मों की अधीनता के कारण अव्यक्त दुःख से दुःखित प्राणी जन्म, जरा और मरण से सदा भयभीत रहते हुए चार गति रूप संसार चक्र में भटकते रहते हैं।

न तस्म दुक्खं विभयन्ति नाइयो, न मित्तवग्गा न सुया न बंधवा।

एक्कोसयं पच्चाणुहोइ दुक्खं, कत्तारमेव अणुजाइ कम्मं॥

-उत्तराध्ययन सूत्र १३/२३

ज्ञातिजन, संबंधी, मित्र-वर्ग, पुत्र और बांधव उसका (व्यक्ति का) दुःख नहीं बटा सकते। वह स्वयं अकेला दुःख का अनुभव करता है, क्योंकि कर्म कर्ता का ही अनुगमन करता है।

जं जारिसं पुब्बमकासि कम्मं।

तहेव आगच्छति संपराए॥

-सूत्रकृतांग सूत्र १/५/२/२३

अतीत में जैसा भी कुछ कर्म किया गया है, भविष्य में वह उसी रूप में उपस्थित होता है, फलित होता है।

सुचिण्णा कम्मा सुचिण्णाफला भवन्ति।

दुचिण्णा कम्मा दुचिण्णाफला भवन्ति॥

-औपपातिक सूत्र ७१

अच्छे कर्मों का फल अच्छा होता है। बुरे कर्मों का फल बुरा होता है।

कडाण कम्माण ण मोक्ख अत्थि॥ -उत्तराध्ययन सूत्र ४.३

फल भोगे बिना कृत कर्मों से छुटकारा नहीं हो सकता है।

जैन दर्शन में पुरुष/पुरुषकार (पुरुषार्थ) की कारणता

पुरुष या जीव कर्मों का कर्ता एवं भोक्ता

वर्तमान में जैन दर्शन में मान्य पंच समवाय के अन्तर्गत काल, स्वभाव, नियति एवं पूर्वकृत कर्म के साथ पुरुषार्थ की गणना की जाती है, जबकि सिद्धसेन सूरि ने सन्मतितर्कप्रकरण में पुरुषार्थ का नहीं, 'पुरुष' शब्द का प्रयोग किया है। 'पुरुष' शब्द जगत् के कारण के रूप में मान्य आत्मा का भी बोधक है तो जीवात्मा का भी। जैनदर्शन में जीवात्मा के अर्थ में पुरुष शब्द का प्रयोग मान्य हो सकता है जिसे जैन दार्शनिक जीव या आत्मा भी कहते हैं। जैन दर्शनानुसार आत्मा ही अपने सुख-दुःख का कारण है, वह स्वयं ही अपने कारणों से बंधन को प्राप्त है तथा स्वयं में ही मुक्त होने का सामर्थ्य है।

जैन धर्म के अनुसार आत्मा ही अपने कर्मों का कर्ता, भोक्ता एवं उनका क्षय-कर्ता है।^{६१} आत्मा में ही एतादृक् शक्ति है कि वह अनन्तज्ञानी बन सकता है। यहाँ तीर्थंकर या गुरु का उपदेश निमित्त कारण हो सकता है, किन्तु उपादान कारण तो स्वयं आत्मा ही होता है। इस दृष्टि से जैन दर्शन को आत्म-स्वातन्त्र्यवादी दर्शन भी कहा जा सकता है। इसमें आत्मा का अधिष्ठाता किसी अन्य शक्ति, आत्मा या परमात्मा को स्वीकार नहीं किया गया।

पुरुष के साथ पुरुषकार की कारणता स्वयंसिद्ध

पुरुष को कारण मानने पर पुरुष का व्यापार अर्थात् पुरुषकार तो अपने आप कारण बन जाता है। जैनदर्शन में आगे चलकर 'पुरुष' के स्थान पर 'पुरुषकार' शब्द को महत्त्व मिला। आचार्य हरिभद्र सूरि ने अनेक स्थानों पर 'पुरुषकार' अथवा 'पुरुषक्रिया' शब्द का प्रयोग किया है।^{६२} इसके अन्तर्गत आगम में प्रयुक्त उत्थान, कर्म, बल, वीर्य एवं पुरुषकार इन सभी शब्दों का समावेश जैन दर्शन में होने लगा। संक्षेप में इनके लिए श्रम, उद्यम या पुरुषार्थ शब्द का प्रयोग किया जा सकता है। आधुनिक काल में पुरुषार्थ शब्द का अधिक प्रयोग हो रहा है।

तप-संयम में किया गया पराक्रम ही पुरुषार्थ

आत्मा के द्वारा तप-संयम आदि में जो भी पराक्रम किया जाता है वह सब पुरुषार्थ है। पुरुषार्थ पाप कर्मों के बंधन के लिए भी हो सकता है और मुक्ति के लिए भी। वह असंयम एवं कदाचार में भी हो सकता है और संयम तथा सदाचार में भी। किन्तु साधना की दृष्टि से तप संयम एवं सदाचार में किया गया पुरुषार्थ ही महत्त्व रखता है। जैन धर्म में इसी प्रकार के धर्म-पुरुषार्थ को स्थान प्राप्त है।

स्वयं का पुरुषार्थ ही मोक्ष का साधक

प्रत्येक भव्य आत्मा अपने पुरुषार्थ को जागृत कर पाप कर्मों से मुक्त हो सकता है। तीर्थंकर तो मोक्ष के मार्ग का अपने उपदेशों में कथन मात्र करते हैं, उनके उपदेश को श्रवण कर कोई जीव संयम या पुरुषार्थ करे तो उसके जीवन की भावी-दिशा बदल जाती है। आगम वाङ्मय में ऐसा कोई उदाहरण नहीं मिलता जिसमें तीर्थंकर यह कहते हों कि मैं तुम्हें संसार सागर से उत्तीर्ण कर दूंगा। 'मामेकं शरणं ब्रज' जैसे वाक्य जैनागमों में प्राप्त नहीं होते हैं। वहाँ तो तीर्थंकर के उपदेश पर श्रद्धा कर स्वयं पुरुषार्थ करने की बात पर ही बल दिया गया है। जिनेन्द्रों के द्वारा कथित वचनों पर प्रतीति एवं श्रद्धा करने की बात आगमों में अवश्य प्राप्त होती है। किन्तु

श्रद्धा मात्र से काम नहीं चलता है। वहाँ श्रद्धा के साथ जीव को अप्रमत्त बनकर तप-संयम में पुरुषार्थ करना होता है।

पुरुषार्थ : संयम, तप, निर्जरा आदि का आधार

जैन धर्म श्रमण संस्कृति का धर्म है। जिसमें संवर एवं तप रूप श्रम या पुरुषार्थ का विशेष महत्त्व है। समस्त साधना पुरुषकार या पुरुषार्थ पर टिकी हुई है। संयम में पराक्रम का प्रसंग हो या परीषह-जय की परिस्थिति, सर्वत्र पुरुषकार या पुरुषार्थ ही जैन दर्शन में प्रमुख आलम्बन बनकर आता है। पुरुषार्थ के बल पर ही महाव्रत एवं अणुव्रत की साधना सफल होती है। सम्यक् चारित्र अथवा चारित्र धर्म की समस्त साधना पुरुषार्थ के महत्त्व का प्रतिपादन करती है। पाँच समिति एवं तीन गुप्ति का पालन भी पुरुषार्थ के महत्त्व का प्रतिष्ठापन करता है। पुरुषकार तो एक प्रकार से जीव का लक्षण है। पूर्वबद्ध कर्मों की निर्जरा बिना पुरुषार्थ के संभव नहीं। साधना के पुरुषार्थ के बल पर कर्मों की तीव्र एवं तीव्रतर निर्जरा संभव है। एक अवस्था से दूसरी अवस्था में असंख्यात गुणी कर्म-निर्जरा भी हो सकती है। पुरुषार्थ पूर्वक यह निर्जरा ही जैन दर्शन की अनुपम विशेषता है। यही नहीं कुछ कर्मों का फल भोग किये बिना भी उनकी स्थिति और अनुभाग को कम किया जा सकता है। इसमें भी पुरुषार्थ ही कारण है। यह पुरुषार्थ आत्मिक स्तर पर मन-वचन-काया के माध्यम से होता है।

पुरुषार्थ की प्रमुखता के निदर्शन

जैन धर्म दर्शन में पुरुषार्थ के महत्त्व पर विस्तार से षष्ठ अध्याय में विचार किया जा चुका है इसलिए यहाँ संक्षेप में संकेत मात्र में बात कही गई है जो इस तथ्य की सूचक है कि जैन धर्म दर्शन में पुरुषार्थ की प्रमुखता है। पुरुषार्थ करके मोक्ष में जाने वाली कुछ महान् आत्माओं का उल्लेख किया जा रहा है-

१. तीर्थंकर महावीर- तीर्थंकर महावीर ने साढ़े बारह वर्ष तक तपस्या करके केवलज्ञान की प्राप्ति की। कानों में कीलें ठोके जाने पर भी उन्होंने समत्व भाव का अनुपम उदाहरण प्रस्तुत किया। लाट देश में भ्रमण करते समय उन पर पत्थर फेंके जाने पर, उनके पीछे कुत्ते छोड़ दिये जाने पर तथा गालियाँ देकर तिरस्कार करने पर भी उन्होंने अपना आत्मिक पुरुषार्थ नहीं छोड़ा। तप-संयम की साधना में पूर्ण सामर्थ्य के साथ डटे रहे। जो परीषह एवं उपसर्ग उपस्थित हुए उनसे तनिक भी विचलित नहीं हुए। अहिंसा, समता, अपरिग्रह एवं निष्कषायता के पुरुषार्थ में वे निमग्न रहे। गोशालक के

नियतिवाद का उन्होंने खण्डन किया तथा उत्थान, कर्म, बल एवं वीर्य को महत्त्व प्रदान किया। केवलज्ञान प्राप्ति के पश्चात् भी स्वयं अप्रमत्त भाव से धर्मोपदेश करते हुए पुरुषार्थ करते रहे तथा अभ्यागतों को भी पुरुषार्थ का ही उपदेश दिया। यहाँ तीर्थंकर महावीर के जीवन की कुछ झलकियाँ प्रस्तुत की गई हैं, इसी प्रकार अन्य २३ तीर्थंकरों के संबंध में भी पुरुषार्थ के महत्त्व को जान लेना चाहिए।

२. गौतम आदि गणधर- भगवान महावीर के प्रमुख शिष्य गौतम आदि ग्यारह गणधरों ने भी तप-संयम रूप धर्म पुरुषार्थ का आलम्बन लेकर मोक्ष प्राप्त किया। ये सभी गणधर जन्मना ब्राह्मण थे, वेद-वेदांगों के ज्ञाता थे, किन्तु भगवान महावीर के सम्पर्क में आकर उन्होंने धर्म पुरुषार्थ को साधना का आलम्बन बनाया और केवलज्ञान प्राप्त करने में सक्षम बने।
३. अन्तगड् सूत्र में ९९ आत्माओं द्वारा पुरुषार्थ- अन्तगड् सूत्र के आठ अध्ययनों में ९९ महापुरुषों के चरित्र का वर्णन प्राप्त है, जिन्होंने जैन धर्म में मान्य कनकावली, एकावली, लघुसर्वतोभद्र, महासर्वतोभद्र आदि विशिष्ट तपों की आराधना करते हुए प्रबल पुरुषार्थ के साथ अष्टविध कर्मों का नाश कर सिद्धि प्राप्त की। इनमें अर्जुनमाली, गजसुकुमाल एवं अतिमुक्त कुमार का वर्णन विशिष्ट है। जो अर्जुनमाली प्रतिदिन ६ पुरुष एवं एक स्त्री की हत्या करता था, वह बेले-बेले (दो-दो उपवास) की तपस्या करके एवं नगर जनों के व्यंग्य बाणों, गालियों, पत्थरों आदि की बौछार को समभाव से सहन कर आत्म-पुरुषार्थ के साथ मुक्ति का वरण करने में समर्थ हुआ। गजसुकुमार मुनि के सिर पर सोमिल ब्राह्मण के द्वारा धधकते अंगारे रखे गए तथापि समभाव की उत्कृष्ट आराधना में तल्लीन गजसुकुमार मुनि ने उफ तक नहीं किया। साधना के पुरुषार्थ का यह भी एक उत्कृष्ट उदाहरण रहा। अतिमुक्त कुमार ने अल्पवय में दीक्षा धारण की एवं आत्मपुरुषार्थ का परिचय देकर सिद्धि प्राप्त की। इस अंतगड्दसा सूत्र में कृष्ण वासुदेव की माताओं, पत्नियों और पुत्रों ने भी आत्म-पुरुषार्थ का परिचय देकर बाईसवें तीर्थंकर अरिष्टनेमिनाथ के सान्निध्य में श्रमण-दीक्षा अंगीकार की।
४. शालिभद्र, धन्ना अणगार, स्कन्धक ऋषि, धर्मरुचि अणगार आदि के उदाहरण- आगम वाङ्मय एवं उत्तरकालीन साहित्य में ऐसे अनेक उदाहरण भरे पड़े हैं जो आत्म-पुरुषार्थ के द्योतक हैं। शालिभद्र नामक

सुकुमार सेठ ने अपनी अतुल धन-सम्पदा एवं ३२ पत्नियों का त्याग करके आत्म पुरुषार्थ के बल पर साधना के शिखर को प्राप्त किया। धन्ना सेठ ने एक पल में ही अपनी धर्मपत्नी एवं परिवार का त्याग कर संयम पथ अपनाया। स्कन्धक ऋषि की खाल उतारी गई तब भी अविचल समभाव का परिचय दिया। धर्मरुचि अणगार को नागश्री ने कड़वे तुम्बे का आहार दिया। आचार्य की आज्ञा पाकर उसे जंगल में परठने के लिए गए, वहाँ एक बूँद बाहर डालने पर जब चीटियाँ आकर उसमें मरने लगीं तो धर्मरुचि अणगार का मन स्वयं उस कड़वे तुम्बे को पीने का हो गया। प्राणि-रक्षा को महत्त्व देकर स्वयं ने उस आहार का भक्षण कर उच्च गति प्राप्त की।

इस प्रकार जैन धर्म दर्शन में पुरुषार्थ ही आचरण का प्रमुख पक्ष है। जीव के वश में यह पुरुषार्थ ही है जिसके बल पर वह मुक्ति की ओर चरण बढ़ा सकता है। अन्य सब कारणों के होते हुए भी यदि समुचित पुरुषार्थ न हो तो मोक्ष की ओर कदम नहीं बढ़ सकते। काल, स्वभाव, नियति एवं पूर्वकृत कर्मों की कारणता को भी जैन दर्शन ने स्वीकार किया है, किन्तु पुरुषार्थ की महिमा सबसे बढ़कर है।

पंच समवाय में पांच कारणों का समन्वय

प्राचीन श्वेताम्बर जैनाचार्यों का योगदान

जैन दार्शनिकों ने जैन धर्म दर्शन में पुरुषार्थ का महत्त्व प्रतिपादित करते हुए भी काल, स्वभाव, नियति एवं पूर्वकृत कर्मों की कारणता को यथोचित रूप में स्वीकार किया है। सिद्धसेन (पाँचवीं शती), हरिभद्र सूरि (७००-७७० ई.शती), शीलाकाचार्य (नौवीं-दसवीं शती), अभयदेव सूरि (दसवीं शती), मल्लधारी राजशेखर सूरि (बारहवीं- तेरहवीं शती), उपाध्याय यशोविजय (सत्रहवीं शती), उपाध्याय विनयविजय (सत्रहवीं शती) आदि उद्भट दार्शनिकों ने इस दिशा में सफल प्रयास किये हैं। यहाँ इन दार्शनिकों द्वारा की गई मीमांसा के आधार पर उनके तर्कों को उपस्थित किया जा रहा है-

१. सिद्धसेन सूरि- सिद्धसेन सूरि ने सर्वप्रथम काल, स्वभाव, नियति, पूर्वकृत कर्म और पुरुष इन पाँचों के समवाय की कारणता को सम्यक्त्व स्वीकार किया है। अनेकान्त को विभिन्न कोणों से स्थापित करने वाले कई जैन दार्शनिक हुए, किन्तु मात्र सिद्धसेन ने ही जैनदर्शन में 'कारणता' की दृष्टि से पाँचों कारणों के समवाय की स्थापना की है। उस युग में मात्र ये पाँच कारण ही विकसित नहीं थे, अपितु इनके अतिरिक्त ईश्वरवाद, यदृच्छावाद, ब्रह्मवाद, भूतवाद आदि अनेक

५६८ जैनदर्शन में कारण-कार्य व्यवस्था : एक समन्वयात्मक दृष्टिकोण

कारणवाद प्रचलित थे। इन अनेक कारणवादों के समूह में से सिद्धसेन दिवाकर ने ये पाँच कारण ही चुने, अन्य नहीं। इसके पीछे जैनागमों की भूमिका रही होगी। जैनागमों में ये पाँच कारण ही यत्र-तत्र बिखरे रूप में मिलते हैं। जिनका सिद्धसेन ने अनेकान्तदृक् से सन्मतितर्क के तृतीय काण्ड में केवल एक गाथा के रूप में सम्मिलित करते हुए कहा-

कालो सहाव नियर्द्ध पुब्बकयं पुरिसे कारणेगंता।

मिच्छन्तं ते चेव, समासओ हौति सम्मत्तं।।^{१३}

अर्थात् काल, स्वभाव नियति, पूर्वकृत कर्म और पुरुष ये पाँचों कारण मिलकर सम्यक्त्व को प्राप्त होते हैं तथा एकान्त रूप से मिथ्या है।

काल, स्वभाव आदि की ऐकान्तिक कारणता मिथ्यात्व है, किन्तु कथंचित् कारणता सम्यक्त्व है। इनकी कथंचित् कारणता जैन दर्शन में स्वीकार्य है। आचार्य सिद्धसेन का यह मन्तव्य श्लोकाबद्ध रूप में यहाँ उद्धृत है-

क्वचिन्नियतिपक्षपातगुरु गम्यते ते वचः,

स्वभावनियताः प्रजाः समयतन्त्रवृत्ताः क्वचित्।

स्वयंकृतभुजः क्वचित् परकृतोपभोगाः पुन,

नैवा विशदवाद! दोषमलिनोऽस्यहो विस्मयः।।^{१४}

कहीं नियतिवाद, कहीं स्वभाववाद, कहीं कालवाद, कहीं पुरुषार्थवाद और कहीं पूर्वकृत कर्मों को कार्य की उत्पत्ति में कारण माना गया है, किन्तु जैन दर्शन में कथंचित् इन सबका महत्त्व है। यही स्याद्वाद या विशदवाद का प्रतिपादन है।

२. हरिभद्र सूरि- हरिभद्र सूरि ने अपनी एक नहीं अनेक कृतियों में कालादि पाँचों कारणों की सामूहिकता को अनेक सदंशों में निरूपित किया है। उन्होंने शास्त्रवार्ता समुच्चय, बीजविंशिका, उपदेश पद, धर्मबिन्दु नामक ग्रन्थों में इसे उल्लिखित कर सिद्धसेन के मत का समर्थन किया है। शास्त्रवार्ता समुच्चय में उन्होंने अन्य मतों की चर्चा के प्रसंग में सर्वप्रथम काल, स्वभाव, नियति, पूर्वकृत कर्म और पुरुष की ऐकान्तिक कारणता का प्रबल तर्कों से निरसन कर अन्य हेतुओं के साथ कालादि को कार्योत्पादक बताया है। जैसे कि कहा है-

अतः कालादयः सर्वे समुदायेन कारणम्।

गर्भादेः कार्यजातस्य विज्ञेया न्यायवादिभिः।।^{१५}

अर्थात् पूर्वोक्त दोषों का परिहार सम्भव न होने से न्यायवादियों को यही मानना उचित है कि काल आदि अन्य निरपेक्ष होकर कार्य के उपादान नहीं होते, अपितु अन्य हेतुओं के साथ सामग्रीघटक होकर कार्योत्पादक होते हैं।

हरिभद्रसूरि ने धर्मबिन्दु में वरबोधि लाभ के निरूपण के समय भव्यत्व के साथ काल, नियति, कर्म एवं पुरुषार्थ को भी स्थान दिया है। भव्यत्व यहाँ स्वभाव का सूचक है। वे कहते हैं कि सिद्धि में जाने की योग्यता का अनादि पारिणामिक भाव भव्यत्व है जो आत्मा का अपना स्वरूप है। यह भव्यत्व कालादि के भेद से बीज-सिद्धि को प्राप्त करने के कारण अनेक रूपता को प्राप्त करता है। कालादि में काल, नियति, कर्म एवं पुरुषार्थ का ग्रहण होता है। इनमें विशिष्ट पुद्गल परावर्त वाला उत्सर्पिणी आदि काल होता है जो तथाभव्यत्व वाले जीव को फलदान के प्रति अभिमुख करता है। जिस प्रकार बसन्त आदि ऋतुएँ वनस्पति विशेष के विकास में सहायक बनती हैं, उसी प्रकार काल भी भव्य जीव के मोक्ष हेतु प्रयत्न में सहायक बनता है। काल के होने पर भी न्यूनाधिकता को दूर करके नियत कार्य को उत्पन्न करने वाली नियति होती है। संक्लेश को कम करने वाला अनेक प्रकार के शुभ भावों एवं ज्ञान का हेतु कुशल कर्म भी मुक्ति में सहायक होता है। समुचित पुण्य संचय से युक्त महान् कल्याण के भावों से सम्पन्न ज्ञानवान् प्ररूप्यमाण अर्थ के परिज्ञान में कुशल पुरुषार्थ भी इसी प्रकार मुक्ति में सहायक होता है।^{५१}

पुरुष के स्थान पर पुरुषक्रिया शब्द का प्रयोग सर्वप्रथम हरिभद्रसूरि ने बीजविंशिका में करके पुरुष की कारणता का सही स्वरूप विद्वानों के समक्ष उजागर किया है। पुरुष की कारणता का औचित्य पंच समवाय में उतना नहीं स्वीकार्य है जितना पुरुषकार या पुरुषार्थ का है। अतः जैन मान्यता के अनुकूल पुरुष के स्थान पर पुरुषक्रिया अर्थात् पुरुषकार शब्द ही अधिक उचित प्रतीत होता है। यथा—

तहभव्वत्तं जं कालनियइपुव्वकयपुरिसकिरियाओ।

अक्खिखवइ तहसहावं ता तदधीणं तयंपि भवे।।^{५२}

जिस प्रकार काल, नियति, पूर्वकृत कर्म और पुरुषार्थ का होना आवश्यक है उसी प्रकार स्वभाव का होना आवश्यक है, क्योंकि वे भी उसके अधीन हैं।

उपदेश पद में हरिभद्र सूरि ने समवाय के अर्थ में कलाप शब्द का प्रयोग करते हुए कहा है—

सव्वम्मि चेव कज्जे एस कलावो बुहेहिं निदिट्ठो।

जणगत्तेण तओ खालु परिभावेयव्वओ सम्मं।।^{५३}

ज्ञानियों के द्वारा सभी कार्यों में काल, स्वभाव, नियति, पूर्वकृत कर्म और पुरुष का कलाप (समवाय) निर्दिष्ट किया गया है। इसलिए इसे कारण रूप में सम्यक्त्वया जान लेना चाहिए।

इसी गाथा पर टीका करते हुए मुनिचन्द्रसूरि अधिक स्पष्ट करते हुए बताते हैं कि समस्त बाह्य एवं आभ्यन्तर कार्यों में काल आदि का कलाप कारण होता है। घट, कमल, प्रासाद, अंकुर आदि बाह्य कार्य हों अथवा नारक, तिर्यक्, मनुष्य या देव भव में होने वाले कार्य हों अथवा निःश्रेयस, अभ्युदय, संताप, हर्ष आदि आभ्यन्तर कार्य हों सबमें कालादि का कलाप कारण समुदाय के रूप में सिद्धसेन दिवाकर आदि विद्वत् मनीषि-पूर्वाचार्यों ने प्रतिपादित किया है। उन्होंने कालादि कलाप को कार्य की उत्पत्ति का जनक या हेतु स्वीकार किया है।^{४९}

३. शीलांकाचार्य- सूत्रकृतांग के टीकाकार आचार्य शीलांक (९-१०वीं शती) ने काल, स्वभाव, नियति, पूर्वकृतकर्म एवं पुरुषार्थ की चर्चा करते हुए इन्हें परस्पर सापेक्ष मानकर इनमें समन्वय स्थापित किया है। आचार्य शीलांक का तार्किक चिन्तन यहाँ प्रस्तुत है-

जैन दार्शनिक आत्मवादी होने के साथ क्रियावादी भी हैं। क्रियावाद में यद्यपि पुरुषार्थ की प्रबलता प्रतीत होती है, किन्तु आचार्य शीलांक काल, स्वभाव आदि का होना भी आवश्यक मानते हैं। उनकी दृष्टि में काल, स्वभाव, नियति, पूर्वकृत कर्म, पुरुष आदि सब कारणों के होने पर ही कोई क्रियावादी सम्यग्दृष्टि हो सकता है। शीलांकाचार्य के शब्दों में-

“तदेवं सर्वानपि कालादीन् कारणत्वेनाभ्युपगच्छन् तथाऽऽत्मपुण्यपाप-परलोकादिकं चेच्छन् क्रियावादी सम्यग्दृष्टित्वेना- भ्युपगन्तव्यः।”^{५०} अर्थात् काल, स्वभाव, नियति, पूर्वकृतकर्म पुरुषार्थ- इन समस्त पदार्थों को कारण मानने वाले तथा आत्मा, पुण्य, पाप और परलोक आदि को स्वीकार करने वाले क्रियावादी को सम्यग्दृष्टि जानना चाहिए।

अन्यत्र भी कहा है-

“अतो निरवधारणपक्षसमाश्रयणादिह सम्यक्त्वमभिहितं तथा कालादीनामपि समुदितानां परस्परसव्यपेक्षाणां कारणत्वेनेहाश्रयणात्सम्यक्त्वमिति।”^{५१}

अवधारण पक्ष को छोड़कर (एकान्तवाद को छोड़कर) निरवधारण पक्ष मानने से (अनेकान्त मानने से) क्रियावादी मत को सम्यक् कहा है तथा परस्पर

मिलकर एक दूसरे की अपेक्षा से काल आदि को कारण मानने से इस मत को सम्यक् कहा है।

ये समस्त काल आदि एक साथ मिलकर ही सब कार्यों के साधक होते हैं, अतः इनके मिलने पर ही समस्त कार्य समीचीनतया सम्पन्न होते हैं। अकेले काल आदि से कोई कार्य नहीं होता है, यथा- मूँग उबालने में आग, पानी, लकड़ी, तपेली आदि मिलने पर ही कारण होते हैं, उसी प्रकार कालादि पाँचों मिलकर कार्य की सिद्धि में कारण बनते हैं।^{५२}

अनेक उत्तमोत्तम लक्षणों से युक्त वैदूर्यमणि आदि चाहे कितने ही मूल्यवान हों, परन्तु वे अलग-अलग होने पर रत्नावली (रत्न का हार) नहीं कहे जाते हैं, किन्तु एक सूत्र में गूँथे जाने पर ही कहे जाते हैं। इसी तरह नियतिवाद आदि मत अपनी-अपनी न्याय की रीति से यद्यपि अपने-अपने पक्ष का समर्थन करते हैं तथापि दूसरे के साथ संबंध न रखने के कारण ये सभी मत सम्यक्त्व पद को प्राप्त नहीं करते हैं, किन्तु मिथ्या कहे जाते हैं।

पृथक् हुई मणियों को एक सूत्र में गूँथ देने पर वे सभी एकत्व को त्याग देने से रत्नावली यानी रत्न का हार कही जाती है। इसी तरह पूर्वोक्त सभी नयवाद यथायोग्य वक्तव्य में जोड़े हुए एक साथ होने से सम्यक् शब्द को प्राप्त करते हैं। परन्तु उनकी विशेष संज्ञा नहीं होती है। अतः जो अपने पक्ष में कदाग्रह रखते हैं वे सभी नयवाद मिथ्यादृष्टि हैं, परन्तु वे ही परस्पर संबंध रखने पर सम्यक् हो जाते हैं।^{५३}

आचार्य शीलांक ने एकान्त कालवाद, स्वभाववाद, नियतिवाद एवं पूर्वकृत कर्मवाद का निरसन कर सबकी परस्पर सापेक्षता का प्रतिपादन किया है-

“काल एवैकः सर्वस्यास्य जगतः कारणं तथा स्वभाव एव नियतिरेव पूर्वकृतमेव पुरुषकार एवेत्येवमपरनिरपेक्षतयैकान्तेन कालादीनां कारणात्वेनाश्रयणान्मिथ्यात्वं, तथाहि अस्त्येव जीव इत्वेवमस्तिना सह जीवस्य समानाधिकरण्यात् यद्यादस्ति तत्तंजीव इति प्राप्तम्, अतो निरवधारणपक्षसमाश्रयणादिह सम्यक्त्वमभिहितं तथा कालादीनामपि समुदितानां परस्परसव्यपेक्षाणां कारणात्वेनेहाश्रयणात्सम्यक्त्वमिति।”^{५४}

कालवादी एकमात्र काल को ही समस्त जगत् का कारण बताता है एवं स्वभाववादी एकमात्र स्वभाव को तथा नियतिवादी केवल नियति को और प्रारब्धवादी केवल पूर्वकृत कर्म को और पुरुषकारवादी एकमात्र पुरुषकार को सबका कारण मानते हैं। ये लोग दूसरे की अपेक्षा न करके एक मात्र काल आदि एक को ही कारण मानते हैं

५७२ जैनदर्शन में कारण-कार्य व्यवस्था : एक समन्वयात्मक दृष्टिकोण

इसलिए मिथ्यादृष्टि है। यदि 'अस्त्येव जीवः' जीव ही है यह माना जाय तो इसका अर्थ यह है कि जो जो है वह सब जीव है, परन्तु ऐसा मानने से अजीव पदार्थ सर्वथा न रहेगा, अतः एकान्त पक्ष को छोड़कर अनेकान्त से ही मत सम्यक् होता है। परस्पर मिलकर एक दूसरे की अपेक्षा से काल आदि को कारण मानने पर ही सम्यक्त्व होता है।

काल आदि प्रत्येक पदार्थ पृथक्-पृथक् कारण नहीं है इसलिए इनको पृथक्-पृथक् कारण मानना मिथ्यात्व है, अतः मिथ्यात्व को छोड़कर इन सबको परस्पर की अपेक्षा से कारण मानना सम्यग्वाद है।^{५५}

शीलांकाचार्य कहते हैं कि आर्हतमत में कोई सुख-दुःख आदि नियति से होते हैं क्योंकि उन सुख-दुःखों के कारण स्वरूप कर्म का किसी अवसर विशेष में अवश्य उदय होता है। इसलिए वे सुख-दुःख कथंचित् नियतिकृत हैं। सभी सुख-दुःख नियतिकृत नहीं होते हैं किन्तु पुरुष के उद्योग, काल, ईश्वर, स्वभाव और कर्म आदि के द्वारा किए हुए होते हैं। अतः आर्हत मत में सुख-दुःख आदि को कथंचित् पुरुषकार साध्य ही माना गया है। कारण यह है कि क्रिया से फल की उत्पत्ति होती है और वह क्रिया पुरुषार्थ के आधीन है।^{५६}

शीलांकाचार्य नियतिवादी की ओर से दोष का उत्थापन करते हैं- "पुरुषकार समान होने पर भी फल में विचित्रता देखी जाती है। इसलिए नियति ही विचित्रता का कारण है।" उन्होंने नियतिवादियों के आक्षेप का निराकरण करते हुए कहा है- वस्तुतः यह दूषण नहीं है क्योंकि पुरुषकार की विचित्रता भी फल की विचित्रता का कारण होती है तथा समान पुरुषार्थ करने पर भी जो किसी को फल नहीं मिलता है वह उसके अदृष्ट (भाग्य) का फल है। उस अदृष्ट को भी हम लोग (आर्हत) सुख-दुःख आदि का कारण मानते हैं। इसी तरह काल भी कर्ता है। क्योंकि बकुल, चम्पक, अशोक, पुन्नाग, नाग, आम आदि वृक्षों में विशिष्ट काल में ही फूल-फल की उत्पत्ति होती है सर्वदा नहीं होती है। नियतिवादियों ने जो यह कहा है कि "काल एकरूप है इसलिए उससे विचित्र जगत् की उत्पत्ति नहीं हो सकती है।" यह भी हम लोगों के लिए दोष नहीं है क्योंकि हम लोग एकमात्र काल को ही कर्ता नहीं मानते हैं, अपितु कर्म को भी कर्ता मानते हैं अतः कर्म की विचित्रता के कारण जगत् की विचित्रता होती है इसलिए हम आर्हतों के मत में कोई दोष नहीं है।^{५७}

शीलांक कहते हैं कि स्वभाव भी कथंचित् कर्ता है, क्योंकि आत्मा का उपयोग स्वरूप और असंख्य प्रदेशी होना, पुद्गलों का मूर्त होना, धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय का गति स्थिति में सहायक होना एवं अमूर्त होना- यह सब स्वभावकृत ही है। "स्वभाव आत्मा से भिन्न है अथवा अभिन्न है" इत्यादि नियतिवादी ने जो स्वभावकर्तृत्व में दोष

बताया है वह दोष नहीं है, क्योंकि स्वभाव आत्मा से भिन्न नहीं है और आत्मा कर्ता है यह हमने स्वीकार किया है। अतः आत्मा का कर्तृत्व स्वभावकृत ही है तथा कर्म भी कर्ता है क्योंकि वह जीवप्रदेश के साथ परस्पर मिलकर रहता हुआ कथंचित् जीव से अभिन्न है। उसी कर्म के वश आत्मा नारक, तिर्यच, मनुष्य और अमरगति में भ्रमण करता हुआ सुख-दुःख को भोगता है।^{५८}

शीलांक कहते हैं कि ईश्वर भी कर्ता है, आत्मा ही अलग-अलग स्थानों पर उत्पत्ति होने के कारण समस्त जगत में व्याप्त होने से ईश्वर है। उस आत्मा का सुख-दुःख की उत्पत्ति में कर्तृत्व सभी वादियों ने स्वीकार किया है। ईश्वर में जो मूर्त-अमूर्त आदि का दूषण दिया गया है, वह हमारे द्वारा स्वीकृत आत्मा रूप ईश्वर में लागू नहीं होता। शीलांकाचार्य का यह कथन नय विशेष की अपेक्षा से ग्राह्य हो सकता है अन्यथा जैन दर्शन में सृष्टिकर्ता ईश्वर का स्थान नहीं है।^{५९}

आचार्य शीलांक कहते हैं कि कर्म भी कर्ता होता है। वह जीव प्रदेशों के साथ अन्योन्य रूप से अनुप्रविष्ट और व्यवस्थित है। कथंचित् वह आत्मा से अभिन्न भी है। आत्मा कथंचित् उसी कर्म के कारण नारक, तिर्यक्, मनुष्य और देवभव में भ्रमण करता हुआ सुख-दुःखादि का अनुभव करता है। इस प्रकार नियति एवं अनियति दोनों का कर्तृत्व युक्ति से उपपन्न होने पर मात्र नियति का ही कर्तृत्व स्वीकार करने वाले नियतिवादी निर्बुद्धिक सिद्ध होते हैं।^{६०}

इस प्रकार आचार्य शीलांक ने जैन दर्शन में एकान्त नियतिवाद का निरसन करते हुए कथंचित् काल, स्वभाव, आत्मा, पूर्वकृत कर्म एवं पुरुषकार की भी कार्य की कारणता में सापेक्ष दृष्टि से स्थान दिया है एवं सबकी कारणता स्वीकार करने पर ही उसे सम्यक्त्व की श्रेणि में लिया है।

४. अभयदेव सूरि- सिद्धसेनसूरि के टीकाकार अभयदेवसूरि सन्मतितर्क पर टीका करते हुए कहते हैं कि प्रमाण से काल आदि का एकान्त संभव नहीं है। इनका पृथक्-पृथक् वाद मिथ्यावाद है और ये ही अन्योन्य की अपेक्षा रखकर नित्यादि एकान्त का निवारण करते हैं। ये एकानेक स्वभाव वाले होकर कार्य के संपादन में समर्थ होते हैं और प्रमाण के विषय होने से परमार्थ सत् होते हैं। इसलिए उनके प्रतिपादक शास्त्र की भी सम्यक्ता है और इनका समन्वित वाद सम्यक् वाद है।^{६१}

उपर्युक्त समन्वय करने से पूर्व अभयदेवसूरि ने विशद रूप से कालवाद, स्वभाववाद, नियतिवाद, कर्मवाद और पुरुषवाद की ऐकान्तिकता का खण्डन किया है।

५७४ जैनदर्शन में कारण-कार्य व्यवस्था : एक समन्वयात्मक दृष्टिकोण

५. मल्लधारि राजशेखर सूरि- राजशेखरसूरि (१२-१३वीं शती) षड्दर्शनसमुच्चय में मुक्ति-प्राप्ति के प्रसंग में पंच समवाय को उद्धृत करते हुए लिखते हैं-

कालस्वभावनियति - चेतनेतरकर्मणाम्।

भवितव्यता पाके, मुक्तिर्भवति नान्यथा।^{६२}

काल, स्वभाव, नियति, पुरुषकार-उद्यम और पूर्वकृत शुभाशुभ कर्म- इन पाँच कारणों का योग मिलने पर ही जीव की मुक्ति होती है, इन पाँचों कारणों के बिना मुक्ति नहीं मिलती।

६. उपाध्याय यशोविजय- नयोपदेश में उपाध्याय यशोविजय कहते हैं- "सकल नयों की दृष्टि से मूँग पकने के दृष्टान्त द्वारा पाँच कारण सिद्धान्त से सिद्ध है तथा सर्वत्र उनकी संगति स्वीकार्य है। सर्व नयों का समावेश होने से उसका यह सम्यक् रूप है। एक कारण विशेष को मानने पर दुर्नय होने से वह मिथ्या रूप होता है, जैसा कि आचार्य सिद्धसेन ने कहा- 'कालो सहाव णियई पुव्वकयं पुरिसकारणेगंता, मिच्छत्तं च तेव उ समासओ होति सम्मत्तमिति।' यह नहीं समझना चाहिए कि भव्यत्व से ही मोक्ष की सिद्धि होती है तथा अन्य कारण समुदाय निष्प्रयोजन है। यहाँ पर भव्यत्व के साथ ही अन्य कारणों का भी प्रवेश हो जाता है। 'जं जहा भगवया दिट्ठं तं तहा विपरिणमई।' अर्थात् भगवान के द्वारा जो जैसा देखा गया है वह उसी प्रकार परिणमन करता है। इस भगवद्वचन में 'तथा' पद के द्वारा अन्य कारणों का भी संग्रह हो जाता है।

उपाध्याय यशोविजय ने यहाँ पुरुषार्थ आदि कारणों को भी महत्त्व दिया है तथा भगवान की सर्वज्ञता को भी अंगीकार किया है। भगवान् जैसा देखते हैं उसी प्रकार समस्त कारणों का योग बनता है। संभवतः 'जहा' (यथा) एवं 'तहा' (तथा) पद महत्त्वपूर्ण है। भगवान के द्वारा कार्य को जिन कारणों से उत्पन्न होता हुआ देखा जाता है (जहा) उन्हीं विविध कारणों से वह उत्पन्न होता है, जिसे यहाँ 'तहा' पद के द्वारा स्पष्ट किया गया है।^{६३}

७. उपाध्याय विनयविजय- १७वीं शती में उपाध्याय विनयविजय जी ने कालादि पाँच कारणों पर गुजराती भाषा में दोहा एवं ढाल के रूप में स्तवन की रचना की है। उन्होंने सुन्दर रीति से स्याद्वाद एवं नयवाद के माध्यम से कालवाद, स्वभाववाद, भवितव्यतावाद (नियतिवाद), कर्मवाद एवं उद्यमवाद (पुरुषार्थवाद) में समन्वय स्थापित किया है। विनयविजय जी ने पहले कालवाद आदि सभी वादों के

पक्ष को युक्तियुक्त रूप में प्रस्तुत किया है एवं तदनन्तर पाँचों की अपेक्षा सिद्ध करते हुए कहा है-

अे पाँचे समुदाय मिल्या बिण, कोई काज न सीझे।

अंगुलीयोगे करतणी परे, जे बुझे तो रीझे रे।^{६४}

अर्थात् कालादि पाँच कारणों के समुदाय के मिले बिना कोई भी कार्य सिद्ध नहीं होता। जिस प्रकार अंगुलियों का योग होने पर ही हाथ से कार्य होता है उसी प्रकार पाँचों के समुदाय की अपेक्षा है। जो इस तथ्य को जान लेते हैं वे प्रसन्न रहते हैं।

प्राचीन दिगम्बराचार्यों का योगदान

अमृतचन्द्राचार्य (१०वीं शती) ने प्रवचनसार की टीका के अन्त में ४७ नयों की चर्चा की है, जिसमें उन्होंने नियतिनय, स्वभावनय, कालनय, पुरुषकारनय और दैवनय का भी निरूपण किया है। नियति नय का स्वरूप निरूपित करते हुए वे कहते हैं- 'नियतिनयेन नियमितौष्ण्यवद्विवनियतस्वभावभासि।'^{६५} अर्थात् जिस प्रकार वह्नि में उष्णता नियमित रूप से होने के कारण नियति है उसी प्रकार आत्मा की स्वप्रकाशकता नियत है। स्वभावनय का स्वरूप निरूपण करते हुए उन्होंने कहा कि पर्यायगत अनादि संस्कार को आत्मा का ज्ञान-दर्शन-चारित्र का स्वभाव निरर्थक करने वाला है जैसे कि काँटे की तीक्ष्णता का स्वभाव।^{६६} स्वभाव नय से आत्मा का जो स्वभाव है उसमें किसी के संस्कार नहीं पड़ते। संस्कार क्षणिक पर्याय में काम कर सकते हैं, ध्रुव स्वभाव में नहीं। कालनय की चर्चा में वे कहते हैं कि आत्मा को काल का परिपाक होने पर ही सिद्धि प्राप्त होती है जैसे कोई आम ग्रीष्मकाल में परिपक्व होता है।^{६७}

पुरुषकारनय के संदर्भ में उनका कथन है- 'पुरुषकारनयेन पुरुषकारो-पलब्धमधुकुक्कुटीक पुरुषकारवादिच्यत्नसाध्यसिद्धिः।'^{६८} अर्थात् पुरुष को पुरुषार्थ द्वारा नीबू का वृक्ष या मधुछत्ता प्राप्त होता है, ऐसे पुरुषार्थवादी के समान आत्मद्रव्य यत्नसाध्य सिद्धिवाला है। दैवनय की सिद्धि में कहते हैं कि दैवनय से जिसे पुरुषार्थ द्वारा नीबू का वृक्ष या मधुछत्ता प्राप्त हुआ है और उसमें से जिसे बिना प्रयत्न के ही अचानक माणिक्य प्राप्त हो गया है- ऐसे दैववादी के समान आत्मा अयत्नसाध्य सिद्धिवाला है।^{६९} इस प्रकार नयों के माध्यम से कारण पंचक का विवेचन अमृतचन्द्राचार्य ने किया है।

पद्मपुराण में काल, स्वभाव आदि की चर्चा प्राप्त होती है। वहाँ पर काल, कर्म, ईश्वर, दैव, स्वभाव, पुरुष, क्रिया और नियति शब्दों का प्रयोग हुआ है।^{७०}

पंचास्तिकाय पर जयसेनाचार्य (१२वीं शती) विरचित तात्पर्यवृत्ति में 'कालादिलब्धिवशात्' शब्द का प्रयोग हुआ है, जो कालादि पाँच कारणों की ओर संकेत करता है।^{१९}

आधुनिक युग में पंच समवाय का प्रतिष्ठापन

पंच समवाय को आधुनिक युग में लगभग सभी जैन सम्प्रदायों के आचार्यों, संतों एवं विद्वत्जनों ने जैन दृष्टि से कारण-कार्य सिद्धान्त की व्याख्या में महत्त्वपूर्ण स्थान दिया है। आज पंच समवाय शब्द जैन धर्म की सभी सम्प्रदायों में विश्रुत है। इस सिद्धान्त का आधुनिक युग में प्रतिपादन करने वाले आचार्यों, संतों एवं विद्वानों में कतिपय नाम इस प्रकार हैं- श्री तिलोकऋषि जी महाराज, शतावधानी श्री रत्नचन्द्र जी महाराज, आचार्य श्री विजयलक्ष्मीसूरीश्वर जी महाराज, मुनि न्यायविजय जी महाराज, श्रीकानजी स्वामी, आचार्य श्री जवाहरलाल जी महाराज, आचार्य श्री हस्तीमल जी महाराज, आचार्य श्री आत्माराम जी महाराज, पं. श्रीसमर्थमल जी महाराज, दिवाकर श्री चौधमल जी महाराज, आचार्य श्री विद्यासागर जी महाराज, क्षुल्लक श्री जिनेन्द्रचर्णी जी, उपाध्याय श्री अमरमुनि जी महाराज, आचार्य श्री महाप्रज्ञ जी महाराज, आचार्य श्री विजयमुनि जी महाराज, आचार्य श्री विजयभुवनभानु सूरीश्वर जी महाराज, आचार्य श्री विजयरत्नसुन्दरसूरीश्वर जी महाराज, पं. सुखलाल संघवी, पं. बेचरदास दोशी, पं. दलसुख मालवणिया, श्रुतधर श्री प्रकाशमुनि जी महाराज, महोपाध्याय श्री मानविजय जी महाराज, श्री हरिभद्रसूरीश्वर जी महाराज, डॉ. सागरमल जैन, डॉ. हुकमचन्द भारिल्ल आदि। यहाँ समस्त आचार्यों, मुनिवर्यों एवं विद्वत्जनों के नामों की गणना संभव नहीं, स्थूल रूप से ही यहाँ कुछ नाम गिनाए गए हैं। यह कहा जा सकता है कि जैन कारणवाद के संदर्भ में पंच समवाय का कोई भी जैनाचार्य या जैन विद्वान् विरोध नहीं करते हैं। समर्थन में सबका साहित्य प्राप्त नहीं होता, क्योंकि साहित्य का लेखन कुछ ही आचार्यों, संतों एवं विद्वानों द्वारा किया जाता है, सबके द्वारा नहीं। हाँ, अपने प्रवचनों एवं प्रश्नोत्तरों के माध्यम से सब पंच समवाय का समर्थन करते हुए ही दृष्टिगोचर होते हैं, विरोध करते हुए नहीं। इसलिए ही यह कहा जा सकता है कि आधुनिक युग में पंच समवाय का सिद्धान्त सुप्रतिष्ठित एवं सर्व जैन सम्प्रदायों द्वारा मान्य सिद्धान्त है। यहाँ पर कुछ आचार्यों, संतों एवं विद्वानों के पंच समवाय विषयक विचार प्रस्तुत हैं-

तिलोकऋषि जी महाराज

स्थानकवासी परम्परा के सन्त कवि श्री तिलोक ऋषि जी महाराज (संवत् १९३०) ने सवैया छन्द में निबद्ध काव्य के अन्तर्गत कालवादी, स्वभाववादी,

भवितव्यतावादी, पूर्वकृत कर्मवादी एवं पुरुषार्थवादी की मान्यताओं का विशद निरूपण करने के साथ सबमें समन्वय स्थापित किया है। उन्होंने मुक्ति-प्राप्ति के लिए पंच समवाय को आवश्यक स्वीकार किया है। वे कहते हैं-

‘पंच समवाय मिल्या होत है कारण सब,
एक समवाय मिल्या कारण न होइये।
पंच समवाय माने सो ही समदृष्टि जीव,
अनुभो लगाय दूर दृष्टि कर जोइये।।’

मुक्ति में पंच समवाय किस प्रकार आवश्यक है, उसे श्री त्रिलोकऋषिजी ने पद्य में इस प्रकार निबद्ध किया है-

पूछत है शिष्य कर जोड़ी गुरुदेव सेती,
कैसी रीति पंच समवाय मोक्ष लहिए।
सुण वत्स गुरु कहे काल लब्धि बिना जीव,
पावे नहीं शिवपद ताते समे गहिए।।
विनै कर कहे शिष्य काल भवि अभवि के,
अभवी न पावे शिव कारणता कहिए।
गुरु वदे काल है ये नहीं है स्वभावता में,
कहत तिलोक कैसे भुगति में लहिए।।
भवी को स्वभाव मोक्ष जावण को है तो फिर,
सभी भवीजीव क्यों न जावे निरवाण है।
गुरु कहे नियति जे निश्चे समकित गुण,
जागे जब मोक्ष बिन जाग्या होत हाण है।।
समकितवंत राजा माधव श्रेणिक आदि,
मुक्ति में न गया सो तो कौनसी बिन्नाण है।
कहत तिलोक घणा घूरन कर्मतथा,
उद्यम न कियो होसे प्रगट्यो न भाण है।।

जाली उबयाली अभै धन्नो सुनक्षत्र मेघ,
शालिभद्र आदि करी करणी करारी है।
तप जप व्रत सो तो कीनो ज्यां उद्यम अति,
मुक्ति में न गया मुनि सुर अवतारी है।
तिण को कारण शुभ कर्म रह्या शेषवती,
निर्जरा न भई सब जोग भित्या चारी है।
कहत तिलोकरिख पंचसमवाय बिना,
मोक्ष नहीं जाय कोई निश्चै उरधारी है।^{१२}

शतावधानी श्री रत्नचन्द्र जी महाराज

‘कारण संवाद नामक कृति में बीसवीं शती के शतावधानी श्री रत्नचन्द्र जी महाराज ने काल, स्वभाव, नियति, पूर्वकृत कर्म और पुरुषार्थ- इन पाँचों की सापेक्षता का प्रतिपादन किया है। उन्होंने नाटक के रूप में इस कृति की रचना रोचक रूप में की है। कालवादी, स्वभाववादी, नियतिवादी, पूर्वकृत कर्मवादी, पुरुषार्थवादी, राजा, मंत्री एवं पंडित आदि पात्रों के माध्यम से पंच समवाय का निरूपण अत्यन्त रोचक एवं आकर्षक है। राजा पात्र के माध्यम से शतावधानी श्री रत्नचन्द्र जी महाराज कहते हैं- “वादियों और सभासदों। काल, स्वभाव, पूर्वकर्म, पुरुषार्थ और नियति इन पाँचों का स्वतंत्र कारणता के लिए जो अभिमानपूर्ण वक्तव्य है, वह मिथ्या है।.... इनकी स्वतंत्र कारणता सिद्ध नहीं होती, किन्तु सापेक्ष कारणता सिद्ध होती है। पाँचों वादी साथ मिलकर सुख-दुःख, लाभ-अलाभ, जीवन-मरण आदि में कारणभूत हो सकते हैं अर्थात् पाँचों का समवाय (समुदाय) कारण माना जा सकता है। पाँचों की समान कारणता होने पर भी गौण या मुख्य भाव तो है ही। ऋतु के परिवर्तन आदि कई कार्यों में काल की प्रधान कारणता और दूसरों की गौणता है। स्वभाव की प्रायः सब जगह समान कारणता है। जीवन शक्तियाँ, शरीर, अंगोपांग, इन्द्रियाँ, प्राण आदि सम्पत्ति में पूर्व कर्म की प्रधानता है, पुरुषार्थ प्रभृति की गौणता है। शक्तियों का विकास करने में, विद्या, हुनर, कला, विज्ञान, शोध आदि में पुरुषार्थ की प्रधानता और पूर्व कर्म आदि की गौणता है। अचानक विघ्नों में नियति की प्रधानता और अन्य की गौणता है। इस प्रकार प्रत्येक वादी को अपने-अपने विषय में प्रधानता और अन्य स्थल पर अपनी गौणता स्वीकार करके गर्व और अधिक वाद छोड़ देना चाहिए तथा परस्पर की सामर्थ्य स्वीकार करनी चाहिए।”^{१३}

इस प्रकार पाँच समवायों में गौण-प्रधान भाव संभव है, किन्तु किसी एक की कारणता से ही कोई कार्य नहीं होता है। सबके सहयोग से कार्य सम्पन्न होता है।

आचार्य विजयलक्ष्मी सूरिश्वर जी महाराज

‘उपदेश प्रासाद’ नामक कृति में आचार्य श्री विजयलक्ष्मीसूरिश्वर जी महाराज ने कालवाद आदि पाँचों में समन्वय स्थापित करते हुए कहा है-

कालादिपंचभिः कार्यमन्योऽन्यं सव्यपेक्षकैः।

संपृक्ता यांति सम्यक्त्वमिमे व्यस्ताः कुदर्शनम्॥^{१४}

अर्थात् काल इत्यादि पाँचों कारणों की अपेक्षा होने पर कार्य होता है। इन पाँचों के समवाय को मानने वाला सम्यक्त्वी कहलाता है और इनकी अलग-अलग कारणता को स्वीकार करने वाला मिथ्यात्वी कहलाता है।

मुनिश्री न्यायविजय जी

‘जैन दर्शन’ नामक कृति में मुनि न्यायविजय जी ने पंच समवाय के संदर्भ में लिखा है- “ये पाँचों ही कारण अपने-अपने स्थान पर उपयोगी हैं, एक कारण को सर्वथा प्राधान्य देकर दूसरे को उड़ाया नहीं जाता अथवा सर्वथा गौण स्थान पर उसे हम नहीं रख सकते। यदि कालवादी काल को ही प्राधान्य देकर दूसरों का यथायोग्य मूल्यांकन न करे तो उसकी भ्रांति है।”^{१५}

कानजी स्वामी

‘नयप्रज्ञापन’ नामक ग्रन्थ में कानजी स्वामी (२०वीं शती) ने नियति, स्वभाव, काल, पुरुषार्थ और दैव इन पाँच नयों का निरूपण किया है। अमृतचन्द्राचार्य की प्रवचनसार की टीका के वाक्यों को आधार बनाकर आधुनिक युग के व्याख्याकार कानजी स्वामी ने इन नयों का निरूपण किया है। उनके प्रतिपादन का सारांश^{१६} यहाँ प्रस्तुत है- जब आत्मा को नियति नय से देखते हैं तब आत्मा अपना चैतन्य स्वभाव होने से एक रूप भासित होती है। कानजी स्वामी कहते हैं- “यहाँ द्रव्य के त्रिकाली स्वभाव को ही नियत कहा है।”^{१७} चैतन्यपना आत्मा का नित्य स्वभाव है। आत्मा का सहज निरपेक्ष शुद्ध स्वभाव भी नियत है। नियत नय आत्मा को सदा ज्ञायक स्वरूप ही देखता है।

नियति का सम्यक् स्वरूप प्रतिपादित करते हुए स्वामी जी कहते हैं- “पाँच समवाय में जो भवितव्य अथवा नियति आती है वह सम्यक् नियतिवाद है, उसके

साथ दूसरे चार समवाय भी आ जाते हैं। जो होता है वह सब नियत ही है, परन्तु इस नियत के निर्णय में ज्ञातास्वभाव का पुरुषार्थ भी है, इसलिए पुरुषार्थ आ गया। उस समय जो निर्मल स्वपर्याय प्रकट हुई वह काल है। स्वभाव में जो पर्याय थी वह प्रकट हुई उतने कर्मों में अंशों का अभाव हुआ, अतः पूर्वकृत कर्म भी आ गया।^{५८}

स्वभावनय से देखने पर जो आत्मा का स्वभाव है उसमें किसी के संस्कार नहीं पड़ते। संस्कार क्षणिक पर्याय में काम कर सकते हैं, ध्रुवस्वभाव में नहीं। जैसे-मव्य जीव का स्वभाव सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र प्राप्त करने की शक्ति रूप है।

काल की कारणता स्वीकार करते हुए वे कहते हैं- आत्मा की मुक्ति जिस समय होनी है, उसी समय होगी- ऐसा कालनय से आत्मा का एक धर्म है। जिस काल में मुक्ति होती है, उस काल में वह पुरुषार्थ पूर्वक ही होती है, परन्तु पुरुषार्थ से कथन न करके 'स्वकाल से मुक्ति हुई है' - ऐसा कालनय की अपेक्षा से कहा जाता है।^{५९}

पुरुषार्थ की मुक्ति में कारणता स्पष्ट करते हुए कानजी स्वामी कहते हैं- "आत्मा की सिद्धि यत्न साध्य है। जिस प्रकार कोई मनुष्य नीबू का बीज बोवे तो नीबू का वृक्ष होता है, उसी प्रकार चैतन्यस्वभाव के सम्मुख होकर उसकी रुचि और एकाग्रता से आत्मा की सिद्धि प्राप्त होती है- यह पुरुषकार नय का कथन है।"^{६०} पुरुषार्थ धर्म हटाकर अकेले नियति नय से आत्मा की मुक्ति माने वह मिथ्यादृष्टि है, क्योंकि उसने वस्तुतः आत्मा को स्वीकार ही नहीं किया। अन्तर (भीतर) के प्रयत्न से मुक्ति होती है- ऐसा आत्मा का धर्म है तथा यत्नसाध्य धर्म से आत्मा को लक्ष्य में लेने वाला पुरुषकार नय है।^{६१}

दैव नय की दृष्टि से वे कहते हैं- "जब जीव अपने स्वभाव-सन्मुखता का पुरुषार्थ करता है, तब इसके साथ ही कर्मों का नाश हो जाता है। कर्मों का नाश करने के लिए पृथक् से यत्न नहीं करना पड़ता। इस अपेक्षा से यह कहा है कि आत्मा की सिद्धि अयत्नसाध्य है- ऐसा दैवनय का कथन है।"^{६२}

समन्वयात्मक दृष्टि से इनका यह कथन अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है- "वस्तु में समस्त धर्म एक साथ हैं, परन्तु छद्मस्थ के श्रुतज्ञान में नय होते हैं और उन नयों की अपेक्षा मुख्यता गौणता होती है। एक नय दूसरे नयों के विषयभूत धर्मों को गौण करता है, परन्तु उनका सर्वथा निषेध नहीं करता। यदि वह दूसरे धर्म का सर्वथा निषेध करे तो अनेकांतमय वस्तु स्वरूप ही सिद्ध न हो अर्थात् वस्तु का प्रमाण ज्ञान ही न हो- ऐसी स्थिति में नय भी नहीं हो सकते, क्योंकि नय तो श्रुतज्ञान प्रमाण के अंश को कहते हैं।"^{६३}

आचार्य महाप्रज्ञ

तेरापंथ सम्प्रदाय के आचार्य महाप्रज्ञ ने आत्मकर्तृत्ववाद के संदर्भ में कारणपंचक सापेक्षता स्वीकार की है। उनके कथनों को यहाँ उद्धृत किया गया है।^{६३} वे कहते हैं- “काल, स्वभाव, नियति, पूर्वकृत कर्म और पुरुषार्थ ये सब नय हैं, इनकी सापेक्षता के द्वारा ही आत्मकर्तृत्ववाद की व्याख्या की जा सकती है। काल आदि पाँचों कारण समन्वित होकर ही किसी तथ्य की सही व्याख्या प्रस्तुत कर सकते हैं।”

मनुष्य की कार्य करने की स्वतंत्रता को भी आचार्य महाप्रज्ञ ने सापेक्ष स्वीकार किया है। वे कहते हैं- “जिसमें काल, स्वभाव, नियति या भाग्य का योग अधिक होता है, उसमें मनुष्य विचार में स्वतंत्र होते हुए भी कार्य करने में परतन्त्र होता है। जिसमें पुरुषार्थ का योग अधिक होता है उसमें मनुष्य कालादि योगों से परतन्त्र होते हुए भी कार्य करने में स्वतंत्र होता है। इस प्रकार मनुष्य की कार्य करने की स्वतंत्रता सापेक्ष ही होती है। निरपेक्ष, निरन्तर और निर्बाध नहीं होती।

सापेक्षवाद की दृष्टि से किसी भी तत्त्व को प्राथमिकता या मुख्यता नहीं दी जा सकती। अपने-अपने स्थान पर सब प्राथमिक और मुख्य हैं। काल का कार्य स्वभाव नहीं कर सकता और स्वभाव का कार्य काल नहीं कर सकता। भाग्य का कार्य पुरुषार्थ नहीं कर सकता और पुरुषार्थ का कार्य भाग्य नहीं कर सकता। फिर भी कर्तृत्व के क्षेत्र में पुरुषार्थ अग्रणी है।”

“पुरुषार्थ से काल के योग को पृथक् नहीं किया जा सकता, किन्तु काल की अवधि में परिवर्तन किया जा सकता है। पुरुषार्थ से भाग्य के योग को पृथक् नहीं किया जा सकता, किन्तु भाग्य में परिवर्तन नहीं किया जा सकता।” “काल, स्वभाव आदि को ज्ञान का वरदहस्त प्राप्त नहीं है, इसलिए वे पुरुषार्थ को कम प्रभावित करते हैं। पुरुषार्थ को ज्ञान का वरदहस्त प्राप्त है, इसलिए वह काल, स्वभाव आदि को अधिक प्रभावित करता है।”

“महावीर ने कर्म की उदीरणा और संक्रमण के सिद्धान्त का प्रतिपादन कर भाग्यवाद का भाग्य पुरुषार्थ के अधीन कर दिया। कर्म के उदीरणा का सिद्धान्त है कि कर्म की अवधि को घटाया-बढ़ाया जा सकता है और उसकी फल देने की शक्ति को मंद और तीव्र किया जा सकता है। कर्म के संक्रमण का सिद्धान्त है कि असत् प्रयत्न की उत्कटता के द्वारा पुण्य को पाप में बदला जा सकता है और सत् प्रयत्न की तीव्रता के द्वारा पाप को पुण्य में बदला जा सकता है। मनुष्य जैसा कर्म करता है, वैसा फल भोगता है- कर्मवाद के इस एकाधिकार को यदि उदीरणा और संक्रमण का सिद्धान्त

सीमित नहीं करता तो मनुष्य भाग्य के हाथ का खिलौना होता। उसकी स्वतंत्रता समाप्त हो जाती। फिर ईश्वर की अधीनता और कर्म की अधीनता में कोई अन्तर नहीं होता। किन्तु उदीरणा और संक्रमण के सिद्धान्त ने मनुष्य को भाग्य के एकाधिकार से मुक्त कर स्वतंत्रता के दीवट पर पुरुषार्थ के प्रदीप को प्रज्वलित कर दिया।”

आचार्य महाप्रज्ञ ने पाँच समवाय को द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव नामक चार दृष्टियों का विकास स्वीकार किया है, यथा- “द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव- ये चार दृष्टियाँ जैन दर्शन में ही उपलब्ध हैं, अन्यत्र कहीं प्राप्त नहीं हैं। उत्तरकाल में जैनाचार्यों ने इनका विकास किया। चार आदेशों के स्थान पर पाँच समवायों का विकास हुआ है- स्वभाव, काल, नियति, पुरुषार्थ, भाग्य या कर्म। ये पाँच समवाय चार दृष्टियों का विकास हैं। इन पाँच समवायों को समाहित किया जाये तो ये सारे चार दृष्टियों में समाहित हो जाते हैं। अगर विभक्त किया जाए तो ये पाँच उत्तरवर्ती दृष्टियाँ और चार पूर्ववर्ती दृष्टियाँ- नौ नियम प्रस्तुत होते हैं।

आचार्य श्री विजयरत्नसुन्दरसूरि जी महाराज

अपने विशाल साहित्य में आचार्य विजयरत्नसुन्दरसूरि जी महाराज ने पति-पत्नी, पिता-पुत्र, सास-बहू आदि के बीच में उत्पन्न होने वाली समस्याओं के निराकरण में पंच समवाय के सिद्धान्त को आधार बनाया है। उन्होंने विभिन्न घटनाओं के मर्म में जाकर यह प्रतिपादित करने का प्रयास किया है कि सभी समस्याओं का हल पंच समवाय के माध्यम से संभव है।

श्रुतधर श्री प्रकाशमुनि जी म.सा.

पं. समर्थमल जी म.सा. के शिष्यरत्न श्रुतधर श्री प्रकाशमुनि जी महाराज से पंच समवाय के विभिन्न बिन्दुओं पर जोधपुर में चर्चा हुई, कतिपय जिज्ञासाओं का उत्तर पत्र के माध्यम से प्राप्त हुआ। पंच समवाय के संबंध में उनका मन्तव्य इस प्रकार है- “कार्य सिद्धि के जितने भी कारण हैं, उनका पाँच समवायों में समावेश हो जाता है। जैसे गेहूँ में गेहूँ पैदा करने की क्षमता है तथा जौ, बाजरा, ज्वार, मक्का आदि पैदा करने की नहीं। यह स्वभाव समवाय है। गेहूँ में गेहूँ पैदा करने का सामर्थ्य होते हुए भी किसान का पुरुषार्थ, मिट्टी, पानी एवं खाद का संयोग आवश्यक है। गेहूँ समय के परिपाक से साथ ही पकता है। यह पुरुषकार एवं काल समवाय है। मिट्टी आदि अन्य कारणों का पुरुषकार कारण में समावेश कर दिया गया है। हजारों लाखों टनों में कुछ दाने ऐसे भी होते हैं जो इन सब कारणों के प्राप्त होने पर भी अंकुरित नहीं होते हैं। इसे नियति समवाय कहा गया है। जिनकी नियति उगने की थी वे विकास को प्राप्त

हो गए और जिनकी नियति पैदा होने की नहीं थी वे बिना अंकुरित हुए ही रह गए। सभी दानों में नये गेहूँ पैदा करने की योग्यता होते हुए भी कुछ दाने ही खेत में डाले जाते हैं। अधिक दाने तो आटा आदि बनाकर लोगों के उपभोग में आ जाते हैं। यह पूर्वकर्म समवाय है। इस प्रकार अनेक प्रकार के मध्यवर्ती कारणों को इन्हीं पाँचों में समाविष्ट किया जा सकता है।^{८४}

पं. दलसुख मालवणिया

पं. दलसुख मालवणिया ने गणधरवाद की प्रस्तावना में कालादि कारणों के समवाय को स्वीकार करते हुए कहा है- “कार्य की उत्पत्ति केवल एक ही कारण पर आश्रित नहीं, परन्तु उसका आधार कारण सामग्री है। इस सिद्धान्त के बल पर जैनाचार्यों ने कहा कि केवल कर्म ही कारण नहीं है, कालादि भी सहकारी कारण हैं। इस प्रकार सामग्रीवाद के आधार पर कर्म और कालादि का समन्वय हुआ। इससे ज्ञात होता है कि जैन भी कर्म को एकमात्र कारण नहीं मानते, परन्तु गौण-मुख्य भाव की अपेक्षा से कालादि सभी कारणों को मानते हैं।^{८५}

डॉ. सागरमल जैन

पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी के पूर्व निदेशक डॉ. सागरमल जैन से जोधपुर में हुई चर्चा में उनका मत था- “ऐसा लगता है कि सन्मति तर्क में उस समय चल रहे सिद्धान्तों के समन्वय के अन्तर्गत पंच समवाय भी एक अन्यतम सिद्धान्त है। पंच समवाय को कारणों का समन्वयकारी सूत्र कहा जा सकता है।^{८६}

डॉ. हुकमचन्द भारिल्ल

दिगम्बर परम्परा के विद्वान् डॉ. हुकमचन्द भारिल्ल कहते हैं- “जब कार्य होता है, तब पाँचों ही समवाय नियम से होते ही हैं और उसमें नियत धर्म-अनियत धर्म, स्वभाव धर्म-अस्वभाव धर्म, काल धर्म-अकाल धर्म एवं पुरुषकार धर्म-दैव धर्म ये आठ नयों के विषयभूत आत्मा के आठ धर्मों का योगदान भी समान रूप से होता ही है। तात्पर्य यह है कि आत्मा की सिद्धि के सम्पूर्ण साधन आत्मा में ही विद्यमान हैं, उसे अपनी सिद्धि के लिए यहाँ-वहाँ झाँकने की या भटकने की आवश्यकता नहीं है।^{८७}

इस प्रकार आधुनिक काल में पंच समवाय का सिद्धान्त सुप्रतिष्ठित है। यहाँ नमूने के रूप में कुछ आचार्यों, संतों एवं विद्वानों के विचार ही संकलित किए गए हैं। अन्य विद्वान् भी इन विचारों से असहमत दिखाई नहीं दिए हैं।

मुक्ति प्राप्ति में पंच समवाय की कारणता

जीवों के मुक्त होने में कालादि कारण पंचक का समन्वय या समवाय आवश्यक है। मुक्ति-प्राप्ति में प्रथम आधार जीव का भव्य होना है, जिसे स्वभाव कारण कहा जा सकता है। मोक्ष रूप फल में चरमावर्त काल, चरमावर्तकाल में भी कोई विशिष्ट उत्सर्पिणी-अवसर्पिणी काल, दुष्म-सुष्मादि आरा, शुक्लपाक्षिक होना काल की निमित्तता को प्रकट करते हैं। मुक्ति योग्य काल का संयोग अभव्य जीवों को भी मिलता है फिर भी वे न तो मुक्त होते हैं, न उनमें मुक्ति की संभावना नियत होती है और न उनमें मुक्ति मार्ग के अनुरूप पुरुषार्थ-पराक्रम होता है क्योंकि निरंजन, निराकार, निर्लेप बनना यह अभव्य जीव का स्वभाव ही नहीं है इसलिए काल के योग से उनमें शिव सुख का प्रादुर्भाव नहीं होता है।

मुक्ति की ओर गमन यह स्वभाव भव्य जीवों में ही पाया जाता है। इन भवी जीवों को काल का योग भी मिलता है फिर भी देखा जाता है कि सभी भव्य जीव मोक्ष नहीं जाते। इससे स्पष्ट है कि स्वभाव व काल दो का समवाय होने मात्र से जीव मोक्ष नहीं जा सकता। यदि इन दो समवाय से ही मुक्ति की योग्यता जीव में प्रकट होती तो संसार के समस्त भवी जीव मोक्ष में चले जाते किन्तु ऐसा नहीं होता है क्योंकि सभी भवी जीवों की नियति मोक्ष नहीं है। सम्यक्त्व की प्राप्ति के बिना मुक्ति की नियति निर्मित नहीं होती है। सभी भवी जीवों को सम्यक्त्व की प्राप्ति हो यह जरूरी नहीं है। इस प्रकार शुक्ल पाक्षिक बनते ही सम्यक्त्व प्राप्त कर लेना या यावत् मोक्ष जाने से अन्तर्मुहूर्त पहले सम्यक्त्व प्राप्त करना नियति की कारणता को उजागर करता है।

शुक्लपाक्षिक बन जाने पर भी प्रगाढ मिथ्यात्वादि के उदय से सम्यक्त्वादि प्राप्त न होना पूर्व कर्म का परिणाम है। इसी प्रकार चरित्र एवं मोक्ष प्रायोग्य मुन्य गति, पंचेन्द्रिय जाति, उत्तम संहनन आदि योग्यताएँ प्राप्त होना भी पूर्वकृत कर्म का परिणाम है। अजरता-अमरता की प्राप्ति की योग्यता रखने वाले भव्य जीव को तदनुरूप काल का सुयोग भी है और सम्यक्त्व के प्रताप से उसकी मुक्ति भी निश्चित हो चुकी है। इन तीनों समवाय की उपस्थिति के बावजूद मुक्ति होना आवश्यक नहीं है, क्योंकि ये तीनों समवाय मगध सम्राट् श्रेणिक को भी उपलब्ध थे, फिर भी वे मुक्त नहीं हुए, कारण कि उनके पूर्वकृत कर्मों का बंधन प्रगाढ था अर्थात् पूर्वकृत कर्म का योग उनकी मुक्ति में बाधक था।

गोभद्र श्रेष्ठी के पुत्र शालिभद्र भवी आत्मा थी। वे जिस काल में उत्पन्न हुए उस काल में स्वयं तीर्थंकर भगवान् मौजूद थे और अनेक जीव सिद्ध-बुद्ध-मुक्त हो

रहे थे। शालिभद्र की आत्मा ने अतीत में सम्यक्त्व प्राप्त किया था, जिससे मुक्ति उनकी नियति बन चुकी थी और उनमें मुक्ति की अदम्य लालसा भी थी एवं तदनुरूप उन्होंने उद्यम भी किया। स्वभाव, काल, नियति व पुरुषार्थ इन चारों समवायों के बावजूद वे मुक्त नहीं हुए, क्योंकि कर्मों का क्षय नहीं हुआ था। इस प्रकार कर्मों का विलय मुक्ति में सहायक होता है।

कर्म, कालादि के योग से शुद्ध स्वरूप का कुछ अंश प्रकट होता है, ऐसा जीव मुक्ति में पुरुषार्थ कर सकता है। संयम, तप, धैर्य, सहिष्णुता आदि में जीव का पुरुषार्थ ही जीव को मोक्षगामी बनाता है, जैसा कि गजसुकुमार आदि मुक्त जीवों के जीवन में हुआ। गजसुकुमार के साथ पाँचों समवाय का योग बना कि वे श्मशान में समाधिलीन होकर भी मुक्ति को प्राप्त हो गए।

इस प्रकार मुक्ति-प्राप्ति में भी पाँचों कारणों का समवाय अपेक्षित है। मल्लधारी राजशेखरसूरि ने भी 'षड्दर्शन समुच्चय' में पाँचों समवायों से मुक्ति स्वीकार की है-

कालस्वभावनियति - चेतनेतरकर्मणाम्।

भवितव्यता पाके, मुक्तिर्भवति नान्यथा। १८

काल, स्वभाव, नियति, पुरुषकार-उद्यम और पूर्वकृत शुभाशुभ कर्म- इन पाँच कारणों का योग मिलने पर ही जीव की मुक्ति होती है, इन पाँचों कारणों के बिना मुक्ति नहीं मिलती।

पंच समवाय मुक्ति में घटित होता है- इस संबंध में आचार्य महाप्रज्ञ और श्रुतधर श्री प्रकाशमुनि जी म.सा. से लिखित विचार प्राप्त हुए जो इस प्रकार हैं-

आचार्य महाप्रज्ञ कहते हैं- "पंच समवाय को मुक्ति मार्ग में भी घटित किया जा सकता है। काल लब्धि को हम अस्वीकार नहीं करेंगे। शुक्लपक्ष का भी एक निश्चित काल है। जीव में मुक्त होने का स्वभाव है। मुक्ति होना एक नियम भी है। मुक्त होने के लिए पुरुषार्थ नितांत अपेक्षित है। मुक्त होने के साथ कर्म का विलय भी जुड़ा हुआ है। इसलिए मुक्ति मार्ग के चिन्तन में समवाय का चिन्तन अप्रासंगिक नहीं है।"

श्रुतधर श्री प्रकाशमुनि जी म.सा. का मन्तव्य है- "जीव के मुक्त होने में भी पाँचों समवायों का समन्वय होना आवश्यक समझा जाता है। जीव का भव्य होना स्वभाव समवाय है। शुक्लपाक्षिक बनना काल समवाय है। शुक्लपाक्षिक बनते ही

सम्यक्त्व प्राप्त कर लेना या यावत् मोक्ष जाने से अन्तर्मुहूर्त पहले सम्यक्त्व प्राप्त करना नियति समवाय है। प्रगाढ मिथ्यात्वादि के उदय से शुक्लपाक्षिक बन जाने पर भी सम्यक्त्वादि प्राप्त न होना पूर्व कर्म का समवाय है तथा चारित्र एवं मोक्ष प्रायोग्य गति, जाति, संहनन आदि योग्यताएँ प्राप्त होना भी पूर्व कर्म में समझा जाता है। संयम में पराक्रम कर मोक्ष प्राप्त करना पुरुषार्थ समवाय है। इस प्रकार पाँचों समवायों के समन्वित होने से ही मोक्ष प्राप्त किया जा सकता है।"

व्यवहारिक जीवन में पंच समवाय

मुक्ति की प्राप्ति में ही नहीं व्यावहारिक जीवन में भी पंच समवाय का प्रयोग अनुभव में आता है। यह ध्यातव्य है कि पारिवारिक समन्वय, सामाजिक सुदृढता, पर्यावरण सुरक्षा आदि जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में कार्य की सफलता हेतु काल, स्वभाव, नियति, पूर्वकृत कर्म और पुरुषार्थ इन पाँचों का समन्वय अपेक्षित होता है। इनमें से एक के भी कम होने पर कार्य में सफलता संदिग्ध हो जाती है। व्यक्तिगत जीवन के विकास में भी इन पाँचों कारणों की अपेक्षा रहती है। कोई बालक एम.ए. कक्षा का अध्ययन करना चाहता है तो इसके लिए उसे समुचित आयु की प्राप्ति करना आवश्यक है। चार वर्ष का बालक चाहे तो वह एम.ए. की परीक्षा नहीं दे सकता। एम.ए. का पाठ्यक्रम दो वर्षों का होता है। अतः उस अध्ययन के लिए काल कारण की अपेक्षा रहती है। कोई एक क्षण में एम.ए. पाठ्यक्रम का लाख प्रयत्न करने पर भी अध्ययन नहीं कर सकता। इसी प्रकार स्वभाव की कारणता भी वहाँ परिलक्षित होती है। जिस बालक में अध्ययन का स्वभाव होगा अर्थात् अध्ययन के प्रति रुचि होगी। वह ही एम.ए. का अध्ययन करने की योग्यता अर्जित कर सकेगा। अन्यथा वह बी.ए. तक भी नहीं पहुँच सकेगा। नियति की कारणता भी परोक्ष रूप से स्वीकार करनी होगी। क्योंकि अध्ययन की अवधि में या उसके पूर्व कोई ऐसी दुर्घटना हो जाए कि वह अध्ययन के लिए जीवित ही न रहे अथवा अन्य कोई बाधा उत्पन्न हो जाए जिससे उसका अध्ययन पूर्ण न हो सके। इसलिए यह मानना होगा कि भवितव्यता या नियति भी कार्य की सिद्धि में एक कारण है। पूर्वकृत कर्मों के अनुसार फल की प्राप्ति होती है। इसलिए पूर्वकृत कर्म को भी इसमें कारण मानना होगा। यदि प्रगाढ ज्ञानावरण कर्म का उदय हुआ तो प्रयत्न करने पर भी वह कुछ सीख नहीं सकेगा तथा ज्ञानावरण कर्म का क्षयोपशम उत्तम हुआ तो वह अल्प प्रयत्न से भी विद्याध्ययन करने में सफल हो जाएगा। उपर्युक्त चारों कारणों के होने पर भी यदि छात्र का पुरुषार्थ न हो तो वह सफलता अर्जित नहीं कर सकेगा। वह दत्तचित्त होकर अध्ययन में लगेगा तभी उसे सफलता प्राप्त हो सकेगी। इस प्रकार व्यावहारिक जीवन में अध्ययन का यह उदाहरण पंच समवाय के सिद्धान्त की पुष्टि करता है इसी प्रकार अन्य क्षेत्रों में भी इन पाँचों के

परस्पर समन्वय से कार्य की सफलता को समझा जा सकता है। आज अनेक समस्याओं की उत्पत्ति में कलयुग या पंचम आरे को कारण माना जाता है। कभी व्यक्ति के स्वभाव को दोषी ठहराया जाता है, कभी कहा जाता है कि जो होनहार है वह होकर रहता है, कभी अपने पूर्वकृत कर्मों को कोसा जाता है, तो कभी दुराचरण रूप पुरुषार्थ या सदाचरण में अपुरुषार्थ को कारण ठहराया जाता है। किन्तु यह भिन्न-भिन्न व्यक्तियों का नय कथन है। सत्यता इनके समन्वय में निहित है। जब पाँचों कारणों का समवाय उपलब्ध होता है तभी उस कार्य का होना संभव होता है।

पारिवारिक समस्याओं को सुलझाने में कोई पंच समवाय सिद्धान्त की नय दृष्टि को लेकर चले तो उसे वास्तव में सफलता प्राप्त हो सकती है। पिता-पुत्र पर क्रोधित होने की बजाय यह सोचे कि पुत्र की उम्र ही ऐसी है इसमें चंचलता संभव है इसलिए व्यर्थ कुपित होना उचित नहीं है। यदि मैं अपने स्वभाव को बदल लूँ तथा पुत्र की समस्याओं को सही परिप्रेक्ष्य में समझूँ तो मेरा कुपित होना आवश्यक नहीं रहेगा। पूर्वकृत कर्मों के कारण भी संभव है पिता को पुत्र न सुहाता हो इसलिए पुत्र को दोषी समझने की बजाय अपने कर्मों को दोषी मानकर शांत रहना उचित है। पिता यदि प्रयत्न या पुरुषार्थ करे तो इस अनावश्यक क्रोध पर नियन्त्रण कर सकता है। इसके लिए आवश्यक है— आत्मबल, दृढ संकल्प और उस पर आचरण। पुरुषार्थ करने पर भी यदि सफलता न मिले तो नियति पर भरोसा कर लेना चाहिए कि जब झगड़ा मिटना होगा तब मिट जाएगा मैं व्यर्थ ही क्यों परेशान रहूँ। इस प्रकार पारिवारिक कलह के निवारण रूप कार्य में भी पंच समवाय की सार्थकता निसृत होती है।

कालादि पाँचों कारणों को नय दृष्टि से स्वीकार करना उपयुक्त है।

हरिभद्रसूरि विरचित उपदेश पद पर टीका करते हुए मुनिचन्द्रसूरि ने बाह्य एवं आभ्यान्तर सभी कार्यों में काल आदि के कलाप अर्थात् समवाय को कारण स्वीकार किया है— “ततः सर्वस्मिन्नेव कुम्भाभ्योरुहप्रासादंकुरादौ नारकतिर्यग्गरामरभवभाविनि च निःश्रेयसाभ्युदयोपतापहर्षादौ वा बाह्याध्यात्मिकभेदभिन्ने कार्ये न पुनः क्वचिदेव एष कालादिकलापः कारणासमुदायरूपः बुधैः सम्प्रतिप्रवृत्त- दुःषमातमस्विनीबललब्धोदय- कुबोधतमः पूराणोहदिवाकराकारश्रीसिद्धसेन- दिवाकरप्रभृतिभिः पूर्वसूरिभिः निर्दिष्टो निरूपितो जनकत्वेन जन्महेतुतया यतो वर्तते।”^{१९}

अर्थात् घट, कमल, प्रासाद, अंकुर आदि बाह्य कार्य हों अथवा नारक, तिर्यक, मनुष्य या देव भव में होने वाले कार्य हों अथवा निःश्रेयस, अभ्युदय, संताप, हर्ष आदि आभ्यान्तर कार्य हों, सबमें कालादि का कलाप कारण समुदाय के रूप में

५८८ जैनदर्शन में कारण-कार्य व्यवस्था : एक समन्वयात्मक दृष्टिकोण

सिद्धसेन दिवाकर आदि विद्वत्मनीषि पूर्वाचार्यों ने प्रतिपादित किया है। उन्होंने काल आदि कलाप को जनक या हेतु स्वीकार किया है।

इस प्रकार वर्तमान समय में पारिवारिक-समन्वयशीलता, सामाजिक-सुदृढ़ता, पर्यावरण-सुरक्षा, राष्ट्रीयता, साम्प्रदायिक सद्भाव आदि समस्याओं के समाधान में काल का सम्यक् बोध, स्वभाव की पहचान, विवेकपूर्ण पुरुषार्थ, नियम या नियति की मीमांसा, भाग्य के तारतम्य की स्वीकृति- इन पाँचों का समन्वय किया जा सकता है।

पंच कारण समवाय में गौण प्रधान भाव

यद्यपि जैनाचार्यों ने काल, स्वभाव, नियति, पूर्वकृत कर्म, पुरुषार्थ को पंच कारण समवाय में समान रूप से स्थान दिया है। किन्तु इनमें कभी काल की प्रधानता हो सकती है तथा अन्य कारण गौण रूप में सहयोगी हो सकते हैं। इसी प्रकार कहीं स्वभाव की, कहीं नियति की, कहीं पूर्वकृत कर्म की और कहीं पुरुषार्थ की प्रधानता तथा शेष अन्य कारणों की गौण रूप में सहयोगिता संभव है। विवक्षा से भी इनमें गौण प्रधान भाव कहा जा सकता है। कहीं ये एक-दूसरे से एक साथ इस प्रकार मिले रहते हैं कि उनकी गौणता या प्रधानता पर ध्यान ही नहीं जाता। जब काल को कारण कहा जाता है तब मात्र काल कारण नहीं होता उसके साथ अन्य कारणों का योग भी स्वतः बन जाता है। ज्योतिर्विद् जब किसी कार्य का मुहूर्त निकालता है तो उसमें काल की प्रधानता ज्ञात होती है किन्तु व्यक्ति का पुरुषार्थ, पूर्वकृत कर्म-फल का उदय, व्यक्ति का स्वभाव तथा कार्य की भवितव्यता का भी योग रहता है। यदि भवितव्यता न हो तो वह कार्य सम्पन्न नहीं होता है। उदाहरण के लिए राजा दशरथ ने अपने ज्येष्ठ पुत्र रामचन्द्र का राज्याभिषेक करने के लिए ज्योतिषी से मुहूर्त निकलवाया। अन्य सब प्रयास भी हुए किन्तु भवितव्यता का योग नहीं था तो उन्हें वनवास जाना पड़ा। यहाँ भवितव्यता की प्रधानता स्वीकार की जा सकती है। खेतों में काल के कारण फसल पक गई हो, अपने बीज के स्वभाव के अनुरूप फसल (गेहूँ, बाजरा, ज्वार आदि) पकी हो, किसान के पूर्वकृत कर्मों के उदय से उसे फसल का लाभ भी मिलने वाला हो तथा नियति भी अनुकूल हो किन्तु किसान यदि फसल को काटने का समय पर पुरुषार्थ न करे तो उसे फसल पकने का लाभ नहीं मिल सकता। इस उदाहरण में पुरुषार्थ की प्रधानता विदित होती है। फसल के पकने के पूर्व भी हल जोतने, बीज डालने, जल से सींचने, निराई करने, पशुओं से रक्षा करने आदि में भी किसान का पुरुषार्थ रहता है। किन्तु किसान का भाग्य काम न करे तो किसी भी कारण से फसल चौपट हो सकती है। ऋतुओं के संचालन, वस्तुओं के परिणमन आदि में काल की

प्रधानता हो सकती है किन्तु वहाँ नियति ही काम करती है। निश्चित नियम या क्रम से ऋतु परिवर्तन, पेड़-पौधों का विकास, मनुष्य का विकास आदि कार्य हुआ करते हैं। गृहिणियाँ घर में दूध जमाती हैं तब वे निश्चित समय पर दूध की कवोष्णता, बाहरी वातावरण आदि को देखकर जामण डालती हैं। यदि समय पर जामण न डाला जाए तो दूध से दही सही नहीं जमता। रसोई के प्रत्येक कार्य में गृहिणियों को वस्तु के स्वभाव के अनुसार काल को ध्यान में रखकर पुरुषार्थ करना होता है। प्रधानता से भले ही पुरुषार्थ को कारण कहा जाए किन्तु काल वस्तु के स्वभाव आदि की कारणता का प्रतिषेध नहीं किया जा सकता।

जैन दार्शनिकों ने अपनी अनेकान्तवादी दृष्टि के कारण पाँच कारणों के समवाय को स्वीकार तो किया है किन्तु उनके गौण प्रधान भाव या उनसे कार्य परिणति के उदाहरणों के रूप में उनकी समरूपता को व्याख्यायित करने का प्रयास नहीं किया। जब व्यक्ति के द्वारा पुरुषार्थ करने पर भी सफलता नहीं मिलती है तब वे काल आदि अन्य कारणों को भी प्रस्तुत कर देते हैं।

हरिभद्रसूरि कहते हैं कि दैव एवं पुरुषार्थ दोनों से मिलकर कार्य सम्पन्न होता है। किन्तु जब फल की प्राप्ति पूर्वोपार्जित कर्म की उदग्रता एवं पुरुषार्थ की अल्पता से हो जाती है तब उसे लोक में दैव से सम्पन्न कार्य कहा जाता है तथा इसके विपरीत पुरुषार्थ की अधिकता एवं दैव की अनुदग्रता से कार्य सम्पन्न होता है तो उस कार्य को पुरुषकार से सम्पन्न माना जाता है—

जमुदगं थेवेणं कम्मं परिणामइ इह पयासेण।

तं दइवं विवरीयं तु पुरिसगारो मुणेयव्वो।।”

दुःखमुक्ति की साधना में पूर्वबद्ध कर्मों के क्षय एवं नवीन कर्मों के निरोध में जीव के पुरुषार्थ की प्रधानता अंगीकार की जा सकती है। यदि जीव कुछ न कर सके तो तीर्थंकरों के उपदेश का भी औचित्य सिद्ध नहीं होता। संयम, तप और त्याग से युक्त जैन परम्परा में आत्म-पुरुषार्थ का महत्त्व निर्विवाद रूप से स्वीकार्य है।

पंच कारणों की न्यूनाधिकता

जैन दार्शनिकों ने काल, स्वभाव आदि पाँच कारणों को अवश्य स्वीकार किया है किन्तु यह आवश्यक नहीं है कि प्रत्येक कार्य की सिद्धि में पाँचों कारण अपेक्षित हों। ये पाँचों कारण तो जीव में घटित होने वाले कार्यों की दृष्टि से कहे गए हैं। अजीव पदार्थों में घटित होने वाले कार्यों में पूर्वकृत कर्म और पुरुषार्थ का होना आवश्यक प्रतीत नहीं होता है। क्योंकि अजीव पदार्थों का अपना कोई पूर्वकृत कर्म

नहीं होता है और वे स्वयं पुरुषार्थ करने में भी समर्थ नहीं होते हैं। मनुष्यादि जीवों के पूर्वकृत कर्म और पुरुषार्थ का संबंध कभी-कभी अजीव पदार्थों में होने वाले कार्यों से जोड़ा जा सकता है। किन्तु उन अजीव पदार्थों का न तो कोई अपना भाग्य होता है और न ही पुरुषार्थ। मिट्टी से जब घट बनता है तो मिट्टी के स्वभाव के अनुसार काल और नियति की अपेक्षा रखकर घट बनता है। मिट्टी स्वयं कोई पुरुषार्थ नहीं करती, पुरुषार्थ तो कुम्भकार करता है जो चाक आदि उपकरणों का सहयोग लेकर मिट्टी को एक आकार प्रदान करता है। घट का निर्माण होने पर कुम्भकार का ही भाग्योदय माना जाता है। इसलिए परिणमन जैन दर्शन में दो प्रकार का माना गया है- १. विस्रसा परिणमन २. प्रयोग परिणमन। जहाँ बिना किसी के पुरुषार्थ के स्वभावतः धर्म, अधर्म, आकाश, काल, पुद्गल में तथा मुक्त जीवों में विस्रसा अर्थात् स्वभावतः परिणमन होता है। प्रयोग परिणमन में जीव का पुरुषार्थ कारण बनता है। जैसे लोहे से किसी कलपुर्जे का निर्माण लौह-पुद्गल का प्रयोग परिणमन है।

पाँच कारण सर्वत्र घटित होते हैं यह अनिवार्य नहीं है, इसकी पुष्टि शोध कार्य के दौरान मेरे द्वारा पूछे गए प्रश्नों के लिखित उत्तर में आचार्य महाप्रज्ञ ने इन शब्दों में की है- “समवाय के पाँचों तत्त्वों को एक साथ घटित करना कोई अनिवार्यता नहीं होनी चाहिए। कहीं पाँचों तत्त्व एक साथ घटित हो सकते हैं। कहीं उनमें से एक, दो अथवा तीन घटित हो सकते हैं। निमित्त अनेक है। एक घटना में सब निमित्त समवेत हों, यह आवश्यक नहीं।

पंच कारण परस्पर प्रतिबंधक नहीं

यह प्रश्न उठ सकता है कि क्या काल आदि कारण परस्पर एक-दूसरे के प्रतिबंधक होते हैं? उदाहरण के लिए क्या नियति पुरुषार्थ का प्रतिबंधक हो सकती है? क्या पुरुषार्थ नियति का प्रतिबंधक हो सकता है? क्या पूर्वकृत कर्म अर्थात् पुरुषार्थ में बाधक बन सकता है? क्या पुरुषार्थ भाग्य को परिवर्तित कर सकता है? क्या पुरुषार्थ द्वारा काल और स्वभाव में प्रतिबंधकता उत्पन्न की जा सकती है। इस प्रकार बहुत से प्रश्न खड़े होते हैं। इन प्रश्नों का एक ही समाधान है कि ये परस्पर प्रतिबंधक प्रतीत होते हैं किन्तु वास्तव में इनका परस्पर समन्वय है। इनके समन्वय से कार्य की सिद्धि होती है। जब तक समन्वय नहीं होता तब तक कार्य की उत्पत्ति में असाधक या प्रतिबंधक कहा जा सकता है। इनकी परस्पर प्रतिबंधकता कहीं कहीं उल्लिखित भी हुई है। जैसे- कहीं जीव कर्म के वश होता है और कहीं कर्म जीव के आधीन होते हैं। ११ यहाँ यह कहा जा सकता है कि जीव का पुरुषार्थ उसकी प्राप्त योग्यता के अनुसार होता है। पूर्वकृत कर्मों के द्वारा उसकी योग्यता का निर्धारण होता है।

पुरुषार्थ की सफलता अन्य कारणों के उपस्थित रहने पर होती है। इस तथ्य को योग बिन्दु में हरिभद्रसूरि ने अभिव्यक्त किया है-

अस्मिन् पुरुषकारोऽपि सत्येव सफलो भवेत्।

अन्यथा न्यायवैगुण्याद् भवन्नपि न शस्यते।^{१२}

पुरुषार्थ भी तभी सफल होता है, जब वह आत्मा, कर्म आदि के स्वभाव के अनुरूप हो। वस्तु स्वभाव के विपरीत होने से पुरुषार्थ की कार्यकारिता सिद्ध नहीं होती। अतः मात्र पुरुषार्थ को प्रशस्त नहीं माना जा सकता।

पूर्वकृत कर्म (भाग्य) और पुरुषार्थ परस्पर मिलकर कार्य करते हैं। हरिभद्र सूरि ने शुभाशुभ कर्म को दैव या भाग्य कहा है तथा अपने वर्तमान कर्म व्यापार को पुरुषार्थ कहा है। व्यावहारिक दृष्टि से दैव और पुरुषार्थ में अन्योन्याश्रय देखा जाता है। जो व्यक्ति संसार में है उसका पूर्वसंचित कर्म के बिना जीवन व्यापार नहीं चलता और जब तक वह कार्य व्यापार में संलग्न नहीं होता तब तक संचित कर्म का फल प्रकट नहीं होता-

न भवस्यस्य यत् कर्म बिना व्यापारसंभवः।

न च व्यापारशून्यस्य फलं स्यात् कर्मणोऽपि हि।^{१३}

पूर्व कर्मों के शुभ होने से व्यक्ति के मन में शुभ भाव उत्पन्न होता है तथा वर्तमान में जिस प्रकार के कर्म किये जाते हैं कालान्तर में व्यक्ति का वैसा ही स्वभाव होता है। योगबिन्दु में हरिभद्रसूरि ने इसी तथ्य को प्रकट किया है-

शुभात् ततस्त्वसी भावो हन्ताऽयं तत्त्वभावभाक्।

एवं किमत्र सिद्धं स्यात् तत एवास्त्वतो ह्यदः।^{१४}

इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि कालादि पाँच कारण कभी-कभी एक दूसरे के प्रतिबंधक रूप में प्रतीत होते हैं किन्तु वास्तव में वे एक-दूसरे के पूरक हैं।

पंच समवाय : अनेकान्तवादी दृष्टि का परिणाम

जैन दर्शन में पंच समवाय का सिद्धान्त जैन दार्शनिकों की अनेकान्तवादी दृष्टि का परिणाम है। जैन दर्शन में पहले से ही द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव और भव की कारणता मान्य रही है किन्तु उस समय प्रचलित सृष्टि विषयक कार्य-कारण की जिन अवधारणाओं का जैन दर्शन में अविरोध रूप से स्वीकार हो सकता था, उनका जैन

दार्शनिकों ने पंच कारण-समवाय में समन्वय करते हुए काल, स्वभाव, नियति, पूर्वकृत कर्म और पुरुष/पुरुषार्थ कारण के रूप में अंगीकृत किया है। जैन दार्शनिकों ने जिस प्रकार एकान्त नित्यता और एकान्त अनित्यता का निरसन करते हुए वस्तु को नित्यानित्यात्मक प्रतिपादित किया है उसी प्रकार काल, स्वभाव, नियति, पूर्वकृत कर्म तथा पुरुष/पुरुषार्थ की पृथक्-पृथक् एकान्त कारणता को जैन दार्शनिकों ने मिथ्यात्व और इनके सामासिक या समन्वयात्मक रूप को सम्यक् प्रतिपादित किया है। इससे यह प्रतिध्वनित होता है कि जैन दार्शनिक इन सभी कारणों को जैन दर्शन में स्वीकार करते हैं। इन सभी कारणों को स्वीकार करने की पुष्टि इसी अध्याय में सोदाहरण की जा चुकी है। जैन दर्शन में कथंचित् काल, स्वभाव, नियति, पूर्वकृत कर्म, पुरुष/पुरुषार्थ की कारणता स्वीकृत है। इसलिए इन सब कारणों के समन्वित रूप को सम्यक्त्व कहने में कोई हानि नहीं है। किन्तु इससे यह पुष्ट नहीं होता है कि इनमें से किसी कारण के न रहने पर कार्य की सिद्धि नहीं होगी।

कार्य की सिद्धि इन पाँच कारणों में कदाचित् किसी के न्यून होने पर भी हो सकती है। इसलिए यह कहा जा सकता है कि पंच समवाय सिद्धान्त की मान्यता के पीछे जैन दार्शनिकों की अनेकान्तवाद की दृष्टि ही प्रमुख कारण रही है।

निष्कर्ष

जैनदर्शन की अनेकान्तवादी नय दृष्टि का ही परिणाम है कि इसमें पंच कारण समवाय सिद्धान्त को स्थान मिला। इसके पूर्व द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव और भव की कारणता जैन वाङ्मय में प्रतिपादित रही है। आगे चलकर निमित्त और उपादान की दृष्टि से भी कारण-कार्य का विचार हुआ। जैन दर्शन के कारण-कार्य सिद्धान्त को सदसत्कार्यवाद नाम से जाना गया है।

सिद्धसेन दिवाकर ने काल, स्वभाव, नियति, पूर्वकृत कर्म और पुरुष/पुरुषकार में से एक-एक की कारणता को मिथ्यात्व तथा सबके सामासिक या समन्वित स्वरूप को सम्यक्त्व कहा। उनके अनन्तर हरिभद्रसूरि, शीलांकाचार्य, अभयदेवसूरि, यशोवज्रिय, मल्लधारी राजशेखरसूरि, उपाध्याय विनयविजय आदि ने पंच समवाय के प्रतिष्ठापन में अपना योगदान दिया। उनके अनन्तर तिलोकऋषि जी, शतावधानी रत्नचन्द्र जी महाराज, कानजी स्वामी आदि ने भी पंच समवाय को प्रतिष्ठित करने में अपनी भूमिका का निर्वाह किया।

इसमें संदेह नहीं कि जैन दर्शन में काल, स्वभाव, नियति, पूर्वकृत कर्म और पुरुषार्थ की कारणता अंगीकृत है। इनमें एक-एक को प्रधान बनाकर भी कारणता का

प्रतिपादन संभव है। जैन दर्शन में काल की कारणता विभिन्न आधारों पर सिद्ध होती है—

१. सभी द्रव्यों के परिणमन में काल द्रव्य कारण है।
२. व्यवहार में काल की कारणता अनेक कार्यों में अंगीकृत है।
३. काल बहिरंग कारण है।
४. वर्तना, परिणाम, क्रिया, परत्व-अपरत्व के रूप में काल की कारणता स्वीकृत है।
५. जैन दर्शन में काल लब्धि की अवधारणा है जो काल की कारणता को सिद्ध करती है।
६. कर्म सिद्धान्त में अबाधाकाल की अवधारणा भी काल की कारणता को स्पष्ट करती है।

स्वभाव की कारणता भी जैन दर्शन में मान्य है। उसकी सिद्धि में कतिपय बिन्दु इस प्रकार हैं—

१. षड्द्रव्यों का अपना स्वभाव है तथा वे उसके अनुसार ही कार्य करते हैं।
२. विम्रसा परिणमन में पदार्थ का अपना स्वभाव ही कारण बनता है।
३. जीव का अनादि पारिणामिक भाव, भव्यत्व, अभव्यत्व, जीवत्व आदि के रूप में स्वभाव से ही कार्य करता है।
४. ज्ञानावरणादि अष्ट कर्मों का अपना स्वभाव है, उसी अनुसार वे जीव के ज्ञान को आवृत्त करने आदि का कार्य करते हैं।

जैन दर्शन में नियति की कारणता भी स्वीकृत है, यथा—

१. जैन धर्म में कालचक्र का नियत क्रम स्वीकार किया गया है जो उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी इन दो भागों में विभक्त है। दोनों में ६-६ आरक माने गए हैं।
२. २४ तीर्थंकर, १२ चक्रवर्ती, ९ बलदेव, ९ वासुदेव, ९ प्रतिवासुदेव आदि की निश्चित मान्यता जैन धर्म में नियति के प्रवेश की सूचक है। इसमें नियति के अतिरिक्त कोई कारण नहीं है।
३. तीर्थंकर कर्म प्रकृति को बांधने वाला जीव तीसरे भव में अवश्य तीर्थंकर बनता है, यह भी एक नियति है।

४. २४ तीर्थकरों में एक तीर्थकर के निर्वाण तथा दूसरे तीर्थकर के बीच का जो अन्तर है वह प्रत्येक चौबीसी में उसी प्रकार रहता है।
५. अकर्म भूमि में पुरुष-स्त्री के युगलिक का उत्पन्न होना तथा कर्मभूमि में प्रथम तीन आरों में युगलिकों की उत्पत्ति स्वीकार करना काल एवं क्षेत्र की नियति है। अकर्म भूमि में नपुंसक पुरुष का उत्पन्न न होना भी नियति की मान्यता को इंगित करता है।
६. जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति के अनुसार जम्बूद्वीप में कम से कम चार और अधिक से अधिक २४ तीर्थकरों के होने का कथन तथा कम से कम ४ और अधिक से अधिक ३० चक्रवर्ती होने का कथन भी नियति को सिद्ध करता है।
७. सिद्धों में पूर्वभव के आश्रित, क्षेत्राश्रित, अवगाहना आश्रित अनेक तथ्य ऐसे हैं, जो जैन धर्म में नियति की कारणता को पुष्ट करते हैं।
८. जैन कर्म सिद्धान्त में भी अनेक ऐसे निश्चित नियम हैं जो नियति को पुष्ट करते हैं। योग और कषाय के होने पर कर्म पुद्गल का आत्मा के साथ चिपकना नियत है। विभिन्न गतियों में जीवों की उत्कृष्ट आयु नियत है।
९. पूर्वकृत कर्म जीव के भावी जीवन को नियति की तरह प्रभावित करते हैं।
१०. अनपवर्त्य आयुष्य वाले जीव आयुष्य की पूर्ण अवधि भोगकर ही मरण को प्राप्त होते हैं, यह नियति है।
११. निकाचित कर्म की मान्यता भी नियति की सूचक है।
१२. वर्तमान में यह मान्यता है कि जम्बूस्वामी के मोक्ष जाने के पश्चात् केवलज्ञान सहित १० बातों का विच्छेद हो गया है। इसमें नियति कारण है।
१३. आचार्य महाप्रज्ञ के अनुसार नियति सार्वभौमिक नियम या निश्चित नियम के रूप में स्वीकार की जा सकती है। नियति की यह मान्यता जैन दर्शन में अपरिहार्य है। जो जन्मता है वह अवश्य मरण को प्राप्त होता है, यह भी एक नियति है। यह भी नियत है कि कोई जीव एक बार सम्यक्त्व प्राप्ति कर ले तो वह जीव अधिकतम १५ भव में अवश्य मोक्ष को प्राप्त कर सकता है।

पूर्वकृत कर्म की कारणता जैन दर्शन का प्रमुख एवं केन्द्रिय सिद्धान्त है। कर्म-सिद्धान्त से सम्बद्ध जैन दर्शन में विशाल साहित्य है। जैन वाङ्मय में कर्म सिद्धान्त का व्यवस्थित एवं विस्तृत विवेचन प्राप्त होता है। कर्म-सिद्धान्त जैन दर्शन का प्राचीन एवं सर्वमान्य सिद्धान्त है। कर्म की सिद्धि में कतिपय बिन्दु -

१. जैन दर्शन में अष्टविध कर्मों का प्रतिपादन है। आठ कर्म हैं—ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, वेदनीय, मोहनीय, आयुष्य, नाम, गोत्र-और अन्तराय। इन आठों कर्मों का विशद विवेचन आगमों, कर्मग्रन्थों, कषायपाहुड, गोमटसार आदि में सम्प्राप्त है।
२. जैनदर्शन के अनुसार कर्मपुद्गल स्वयं ही जीव को अपने उदयकाल में फल प्रदान करते हैं।
३. जैन दर्शन में मान्य पुनर्जन्म का सिद्धान्त पूर्वकृत कर्म के सिद्धान्त को पुष्ट करता है।
४. जब कर्मों का पूर्ण क्षय हो जाता है तो मोक्ष की प्राप्ति हो जाती है फिर कर्मों का बंधन नहीं होता।
५. तीर्थंकर बनना भी पूर्वकृत कर्म का ही परिणाम है।
६. जैन दर्शन की मान्यता है कि सभी प्राणी अपने-अपने संचित कर्मों के अनुसार ही संसार में भ्रमण करते हैं तथा विभिन्न योनियों में जन्म ग्रहण करते हैं।

जैन दर्शन में पुरुष/पुरुषकार की कारणता पर पूरा बल दिया गया है। सिद्धसेन सूरि ने पाँच कारणों में 'पुरुष' शब्द का प्रयोग किया है, पुरुषकार या पुरुषार्थ इसी का विकसित रूप है। आत्मा को अपने कार्यों या कर्मों का कर्ता मानने के आधार पर जैन दर्शन में पुरुष की कारणता स्वीकार की जा सकती है तथा जीव के द्वारा किए गए प्रयत्नों को पुरुषकार या पुरुषार्थ की संज्ञा दी जा सकती है।

जैन दर्शन में पुरुषकार या पुरुषार्थ का विशेष महत्त्व है। पुरुष के साथ पुरुषकार की कारणता स्वयं सिद्ध है। भारतीय संस्कृति में मान्य पुरुषार्थ चतुष्टय में से यहाँ धर्म पुरुषार्थ को अधिक महत्त्व दिया गया है। पुरुषार्थ की सिद्धि जैन वाङ्मय में पदे-पदे प्राप्त है। जैन धर्म में मान्य धर्म-पुरुषार्थ या पराक्रम को पुष्ट करने वाले कुछ बिन्दु इस प्रकार हैं—

१. तप संयम में पराक्रम की प्रेरणा की गई है।
२. मोक्ष की सिद्धि हेतु पुरुषार्थ को जागरित करने पर बल दिया गया है।
३. संयम, तप, निर्जरा आदि में पुरुषार्थ को साधन स्वीकार किया गया है।
४. तीर्थंकर ऋषभदेव से महावीर तक के २४ तीर्थंकरों का जीवन, गौतम आदि ग्यारह गणधरों का जीवन पुरुषार्थ को पुष्ट देता है।

५. अन्तागड सूत्र में ९९ आत्माओं द्वारा कर्मक्षय कर मोक्ष प्राप्त करने का निरूपण भी जैन दर्शन में पुरुषार्थ की मान्यता को पुष्ट करता है।
६. शालिभद्र, धन्ना अणगार, स्कन्धक ऋषि, धर्मरुचि अणगार आदि के जीवन प्रसंग भी आत्म पुरुषार्थ के समर्थक हैं।

पंच समवाय सिद्धान्त में कालादि पाँच कारणों का समन्वय करने में सिद्धसेन सूरि, हरिभद्रसूरि, शीलांकाचार्य, अभयदेवसूरि, मल्लधारी राजशेखरसूरि, उपाध्याय यशोविजय, उपाध्याय विनयविजय आदि उद्भट दार्शनिकों ने सफल प्रयास किये हैं। शीलांकाचार्य ने कहा है—

सव्वेवि य कालाई इह समुदायेण साहगा भणिया।

जुज्जंति य एमेव य सम्मं सव्वस्स कज्जस्स।।^{१४}

पंच कारण समवाय की सिद्धि में श्वेताम्बराचार्यों ने जितना स्पष्ट योगदान किया है उतना प्राचीन दिगम्बराचार्यों का योगदान ज्ञात नहीं होता। अमृतचन्द्राचार्य ने ४७ नयों का विवेचन करते हुए कालनय, स्वभावनय, नियतिनय, दैवनय और पुरुषकारनय का प्रतिपादन किया है किन्तु पंच कारण समवाय के नाम से कोई चर्चा नहीं की। जयसेनाचार्य ने पंचास्तिकाय की तात्पर्यवृत्ति में 'कालादिलब्धिवशात्' शब्द का प्रयोग किया है, किन्तु पाँच कारणों का स्पष्ट उल्लेख नहीं किया है।

१९वीं शती से पंच समवाय सिद्धान्त के प्रतिष्ठापन में श्री तिलोकऋषि जी महाराज, शतावधानी श्री रत्नचन्द्र जी महाराज, श्री कानजी स्वामी आदि के प्रयास उल्लेखनीय हैं।

पंच समवाय मुक्तिप्राप्ति में भी सहायक है तथा व्यावहारिक जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में भी इनकी कारणता सिद्ध होती है। काल आदि पाँच कारणों में परस्पर गौण-प्रधान भाव संभव है। कभी काल प्रधान हो सकता है, कभी स्वभाव, कभी नियति, कभी पूर्वकृत कर्म तो कभी पुरुषार्थ। यह भी आवश्यक नहीं कि सदैव एक साथ पाँचों कारण उपस्थित हों, पाँचों कारण तो जीव में घटित होने वाले कार्यों में ही होते हैं, अजीव पदार्थों में सम्पन्न होने वाले कार्यों में न तो पूर्वकृत कर्म कारण होता है और न ही उनका अपना पुरुषार्थ। उपचार से जीव के पूर्वकृत कर्मों एवं पुरुषार्थ को कथंचित् कारण माना जा सकता है। पुद्गल के प्रयोग-परिणमन में तो जीव का पुरुषार्थ कारण बनता भी है। ये पाँच कारण परस्पर एक-दूसरे के प्रतिबंधक नहीं होते हैं। इनमें परस्पर समन्वय से कार्य की सिद्धि होती है।

अन्त में यह कहा जा सकता है कि पंच समवाय का सिद्धान्त जैन दर्शन की अनेकान्तवादी या नयवादी दृष्टि का परिणाम है तथा यह जैनागमों की मूल मान्यता से अविरोध रखता है।

संदर्भ

१. सन्मतितर्क प्रकरण, ३.४७
२. सन्मतितर्क प्रकरण, ३.५३
३. तिलोक काव्य कल्पतरू, पंचवादी-स्वरूप-विषयक काव्य, पृष्ठ १०५
४. गोम्मटसार-जीव काण्ड, गाथा ५६८
५. तत्त्वार्थ सूत्र, अध्याय ५, सूत्र २२
६. बृहद् द्रव्य संग्रह, प्रथमाधिकार, गाथा २१
७. पंचास्तिकाय की तात्पर्य वृत्ति २५/५३/३
८. तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकालंकार, खण्ड ६, पृष्ठ १७०
९. “वर्तना हि जीवपुद्गलधर्माधर्माकाशानां तत्सत्तायाश्च साधारण्याः सूर्यगम्यादीनां च स्वकार्यविशेषानुमितस्वभावानां बहिरंगकारणापेक्षा कार्यत्वात्तदुलपाकवत् यत्तावद्बहिरंगं कारणं स कालः।” -तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकालंकार, षष्ठ भाग, पृष्ठ १६५
१०. आकाशप्रदेशनिमित्ता वर्तना नान्यस्तद्धेतुः कालोऽस्तीतिः, तन्न किं कारणम्। तां प्रत्यधिकरणभावाद् भाजनवत्। यथा- भाजनं तण्डुलानामधिकरणं न तु तदेव पचति, तेजसो हि स व्यापारः तथा आकाशमप्यादित्यगत्यादिवर्तनायामधिकरणं न तु तदेव निर्वर्तयति। कालस्य हि स व्यापारः। -राजवार्तिक ५/२२/८
११. सर्वार्थसिद्धि २.३.१०
१२. महापुराण ६२/३१४-३१५ उद्धृत जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश, भाग द्वितीय पृष्ठ ६१५
१३. अइसोहणजोएणं सुद्ध हेमं हवेइ जह तह य।
कालाई लद्धीए अप्पा परमण्यओ हवदि।।
-मोक्षपाहुड २४ उद्धृत जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश, भाग द्वितीय, पृष्ठ ६१५
१४. प्रषचनसार गाथा १४४ की तात्पर्य वृत्ति में
१५. धवला पुस्तक ९/४, १, ४४/१२०/१० उद्धृत जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश, भाग द्वितीय पृष्ठ ६१५

५९८ जैनदर्शन में कारण-कार्य व्यवस्था : एक समन्वयात्मक दृष्टिकोण

१६. लोकप्रकाश, सर्ग ९, श्लोक २७४-२७७
१७. जैन तत्त्व प्रकाश, ग्यारहवीं आवृत्ति, १९९०, पृष्ठ ८४-१०१
१८. सूत्रकृतांग शीलांक टीका सहित, मोतीलाल बनारसीदास इण्डोलाजिक ट्रस्ट, दिल्ली, प्रथम संस्करण १९७८, पृष्ठ २५१
१९. प्रवचनसार, गाथा ९९
२०. प्रवचनसार, गाथा ९८ पर अमृतचन्द्राचार्य की टीका
२१. प्रवचनसार गाथा ९६
२२. 'तिविहा पोग्गला पण्णत्ता तंजहा- पयोग परिणता, मीससा परिणता, वीससा परिणता।' -भगवती सूत्र, शतक ८, उद्देशक १
२३. व्याख्याप्रज्ञप्ति १.२.२.१५
२४. छव्विहा ओसप्पिणी पण्णत्ता, तंजहा- सुसम-सुसमा, सुसमा सुसम-दूसमा, दूसम-सुसमा, दूसमा, दूसम-दूसमा। छव्विहा उस्सप्पिणी पण्णत्ता तंजहा- दुस्सम-दुस्समा, दुस्समा, दुस्सम-सुसमा, सुसम-दुस्समा, सुसमा, सुसमा-सुसमा। -स्थानांगसूत्र, स्थान ६, सूत्र २३, २४
२५. भरतैरावताख्येषु क्षेत्रेषु स्याद्दशस्वयं।
कालः परावर्तमानः सदा शेषेष्ववस्थितः॥ -लोकप्रकाश, सर्ग २९, श्लोक ४३
२६. जैन तत्त्व प्रकाश, पृष्ठ ३०, ३१
२७. जैन तत्त्व प्रकाश, पृष्ठ ३०
२८. जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति, सप्तम वक्षस्कार, सूत्र २०८
२९. जैन तत्त्व प्रकाश, पृष्ठ ११५
३०. जैन तत्त्व प्रकाश, पृष्ठ ११५-११६
३१. जैन तत्त्व प्रकाश, पृष्ठ ११६
३२. प्राच्ये जन्मनि जीवानां या भवदेवगाहना।
तृतीय भागन्यूना सा सिद्धानामवगाहना॥ -लोकप्रकाश, सर्ग २, श्लोक १२५
३३. लोक प्रकाश, सर्ग ३०, श्लोक ५६-६०
३४. असंख्यायुर्नृतिर्यचश्चरमागांश्च नारका।
सुरा शलाका पुमांसोऽनुपक्रमायुषः स्मृता॥ -लोकप्रकाश, सर्ग ३, श्लोक ९०

३५. सुर नैरयिकाऽसंख्य जीवितिर्यग्मनुष्यकाः।
बध्नन्ति षण्मासशेषायुषोग्रभव जीवितम्॥
निजायुषस्तृतीयेशे शेषेऽनुप क्रमायुषः।
नियमादन्य जन्मायुर्निबध्नन्ति परे पुनः॥ -लोकप्रकाश, सर्ग ३, श्लोक ९१, ९२
३६. मण-परमोही-पुलाए आहारग-खवग-उवसमे कप्ये।
संजमतिअ-केवलि-सिज्झणा य जम्बुम्मि वुच्छिण्णा॥ -विशेषावश्यक भाष्य
गाथा २५९३
३७. यः षण्मासाधिकायुष्को लभते केवलोद्गमम्।
करोत्यसौ समुद्धातमन्ये कुर्वन्ति वा न वा॥
-‘गुणस्थान क्रमारोह’ ग्रन्थ से उद्धृत लोकप्रकाश सर्ग ३, श्लोक २६५ के
अन्तर्गत
३८. लेश्या परिणामस्यादि मान्त्ययोर्नागिनां भृतिः क्षणयोः।
अन्तर्मुहूर्त्तकिऽन्त्ये शेषे वाद्ये गते सा स्यात्॥
तत्राप्यन्तर्मुहूर्त्तन्त्ये शेषे नारक नाकिनः।
म्रियन्ते नरतिर्यचश्चाद्येऽतीत इति स्थितिः॥
-लोकप्रकाश, सर्ग ३, श्लोक ३२६ के पश्चात्
३९. बृहत्कल्प भाष्य २९८९
४०. एगया देवलोएसु नरएसु विणया।
एगया आसुरं कायं आहाकम्मेहिं गच्छइ॥- उत्तराध्ययन सूत्र ३.३
४१. अप्पा कत्ता विकत्ता य, दुहाण य सुहाण या- उत्तराध्ययन सूत्र २०.३७
४२. तहभव्वत्तं जं कालनियइपुव्वकयपुरिसकिरियाओ।
अक्खिवइ तहसहायं ता तदधोणं तयंपि भवे॥ -बीजविंशिका श्लोक ९
४३. सन्मतितर्क ३.५३
४४. द्वात्रिंशत् द्वात्रिंशिका, तृतीय द्वात्रिंशिका, श्लोक ८
४५. शास्त्रवार्ता समुच्चय, स्तवक २, श्लोक ७९
४६. भव्यत्वं नाम सिद्धिगमनयोग्यत्वमनादिपारिणामिको भावः आत्मस्वतत्त्वमेव,
तथाभव्यत्वं तु भव्यत्वमेव कालादिभेदनात्मनां बीजसिद्धिभावात्
नानारूपतामापन्नम्, आदिशब्दात् काल-नियति-कर्म पुरुष परिग्रहः, तत्र कालो

विशिष्टपुद्गलपरावर्तोत्सर्पिण्यादिः तथाभव्यत्वस्य फलदानाभिमुख्यकारी, वसन्तादिवद् वनस्पतिविशेषस्य, कालसद्भावेऽपि न्यूनाधिकव्यपोहेन नियतकार्यकारिणी नियतिः अपचोयमानसंक्लेशं नानाशुभाशय- संवेदनहेतुः कुशलानुबन्धि कर्म, समुचितपुण्यसंभारो महाकल्याणाशयः प्रधान परिज्ञानवान् प्ररूप्यमाणार्थपरिज्ञानकुशलः पुरुषः ततस्तथाभव्यत्वमादौ येषां ते तथा तेभ्यः असौ वरबोधिलाभः। -धर्मबिन्दु, अध्ययन २.६८

४७. विंशति विंशिका, बीजविंशिका, श्लोक ९

४८. उपदेश पद गाथा १६५

४९. सर्वस्मिन् निरवशेषे चैवशब्दोऽवधारणार्थः, ततः सर्वस्मिन्नेव कुम्भामभोरूहप्रासादांकुरादौ नारकतिर्यग्नरामरभवभाविनि च निःश्रेयसाभ्युदयोपतापहर्षादौ वा बाह्याध्यात्मिक भेदभिन्ने कार्ये न पुनः क्वचिदेव एष कालादिकलापः कारणसमुदायरूपः बुधैः सम्प्रतिप्रवृत्तदुःष- मातमस्विनी बललब्धोदयकुबोधतमः पूरापोहदिवाकराकारश्रीसिद्ध- सेनदिवाकरप्रभृतिभिः पूर्वसूरिभिः निर्दिष्टो निरूपितो जनकत्वेन जन्महेतुतया यतो वर्तते। -उपदेश पद, गाथा १६५ पर मुनि चन्द्रसूरि टीका

५०. सूत्रकृतांग की शीलांक टीका (अम्बिकादत्त व्याख्या सहित), भाग तृतीय, पृष्ठ ८७

५१. सूत्रकृतांग की शीलांक टीका (अम्बिकादत्त व्याख्या सहित), भाग तृतीय, पृष्ठ ८८

५२. सव्वेवि य कालाई इह समुदायेण साहगा भणिया।

जुज्जंति य एमेव य सम्मं सव्वस्स कज्जस्स।।

न हि कालादीहितो केवलएहिं तु जायए किंचि।

इह मुग्गरंधणादिवि ता सव्वे समुदिता हेऊ।।

-सूत्रकृतांग की शीलांक टीका (अम्बिकादत्त व्याख्या सहित), भाग तृतीय पृष्ठ ८९

५३. जह पेगलक्खणगुणा वेसलियादी मणी विसंजुत्ता।

रयणावल्लिववएसं ण लहंति महग्घमुल्लावि।।

तह णिययवादसुवि णिच्छियावि अण्णोऽण्णपक्खनिरवेक्खा।।

सम्भइंसणसइं सव्वेऽवि णया ण पाविंति।।

जह पुण ते चेव मणी जहा गुणविसेसभागपडिबद्धा।।

रयणावल्लित्ति भण्णइ चयंति पाडिक्कसण्णाओ।।

तह सव्वे णयवाया जहाणुरुवविणिउत्तवत्तव्वा।।

सम्भइंसणसइं लभंति ण विसेससण्णाओ।।

तम्हा मिच्छदिद्वी सव्वेवि णया सपक्खपडिबद्धा।

अण्णाण्णनिस्सया पुण हवति सम्मत्त सम्भावा।।

-सूत्रकृतांग की शीलांक टीका (अम्बिकादत्त व्याख्या सहित), भाग तृतीय, पृष्ठ ८९

५४. सूत्रकृतांग की शीलांक टीका (अम्बिकादत्त व्याख्या सहित), भाग तृतीय, पृष्ठ ८७-८८

५५. "यत एवं तस्मात्पक्त्वा मिथ्यात्ववादं-कालादिप्रत्येकैकान्तकारणरूपम् 'सेवध्वम्' अंगीकुरुध्वं 'सम्यग्वादं' परस्पर सव्यपेक्षकालादिकारणरूपम् 'इम' मिति मयोक्तं प्रत्यक्षासनं 'सत्यम्' अवितथमिति।" -सूत्रकृतांग की शीलांक टीका (अम्बिकादत्त व्याख्या सहित), भाग तृतीय, पृष्ठ ८९

५६. आर्हतानां किञ्चित्सुखदुःखादि नियतित एव भवति, तत्कारणस्य कर्मणः कस्मिंश्चिदवसरेऽवश्यंभाव्युदयसद्भावान्नियतिकृतमित्युच्यकस्मिंश्चिदवसरेऽवश्यं भाव्युदयसद्भावान्नियतिकृतमित्युच्य तथा किञ्चिदनियतिकृतञ्च पुरुषकार-कालेश्वरस्वभावकर्मादिकृतं, तत्र कथञ्चित् सुखदुःखादेः पुरुषकारसाध्यत्वमप्याश्रीयते, यतः क्रियातः फलं भवति क्रिया च पुरुषकारायत्ता प्रवर्तते।"

-सूत्रकृतांग की शीलांक टीका (अम्बिकादत्त व्याख्या सहित), भाग प्रथम, पृष्ठ ९०

५७. यत्तु समाने पुरुषव्यापारे फलवैचित्र्यं दूषणत्वेनोपन्यस्तं तददूषणमेव, यतस्तत्राऽपि पुरुषकारवैचित्र्यमपि फलवैचित्र्ये कारणं भवति, समाने वा पुरुषकारे यः फलाभावः कस्यचिद्भवति सोऽदृष्टकृतः, तदपि चाऽस्माभिः कारणत्वेनाश्रितमेव। तथा कालोऽपि कर्ता, यतो बकुलचम्पकशोकपुन्नागनागसहाकारादीनां विशिष्ट एव काले पुष्पफलाद्युद्भवो न सर्वदेति, यच्चोक्तं-‘कालस्यैकरूपत्वाज्जगद्वैचित्र्यं न घटत’ इति, तदस्मान् प्रति न दूषणं यतोऽस्माभिर्न काल एवैकः कर्तृत्वेनाऽभ्युपगम्यतेऽपितु कर्माऽपि ततो जगद्वैचित्र्यमित्यदोषः।

-सूत्रकृतांग की शीलांक टीका (अम्बिकादत्त व्याख्या सहित), भाग प्रथम, पृष्ठ ९०-९१

५८. स्वभावस्याऽपि कथञ्चित् कर्तृत्वमेव, तथाहि आत्मन उपयोगलक्षणत्वम-संख्येयप्रदेशत्वं पुद्गलानां च मूर्तत्वं धर्माधर्मास्तिकाययोगतिस्थित्युपपत्त्य-कारित्वममूर्तत्वधर्माधर्मास्तिकाययोगतिस्थित्युपपत्त्यकारित्वममूर्तत्व स्वभावापादितम्। यदपि चात्रात्मव्यतिरेकाव्यतिरेकरूपं दूषणमुपन्यस्तं तददूषणमेव, यतः स्वभाव आत्मनोऽव्यतिरिक्तः, आत्मनोऽपि च कर्तृत्वमभ्युपगतमेतदपि स्वभावापादितमेवेति। तथा कर्माऽपि कर्तृ भवत्येव, तद्धि जीवप्रदेशैः सहाऽन्योऽन्यानुवेधरूपतया व्यवस्थितं कथञ्चिच्चात्मनोऽभिन्नं, तद्वशाच्चात्मा

नारकतिर्यङ्मनुष्यामरभवेषु पर्यटन् सुखदुःखादिकमनुभवतीति।" --सूत्रकृतांग की शीलांक टीका (अम्बिकादत्त व्याख्या सहित), भाग प्रथम, पृष्ठ ९१

५९. तथेश्वरोऽपि कर्ता, आत्मैव हि तत्र तत्रोत्पत्तिद्वारेण सकलजगद्व्यापनादीश्वरः तस्य सुखदुःखोत्पत्तिकर्तृत्वं सर्ववादिनामविगानेन सिद्धमेव, यच्चात्र मूर्तामूर्तादिकं दूषणमुपन्यस्तं तदेवंभूतेश्वरसमाश्रयणे दूरोत्सादितमेवेति।"

-सूत्रकृतांग की शीलांक टीका (अम्बिकादत्त व्याख्या सहित), भाग प्रथम, पृष्ठ ९१

६०. तथा कर्मापि कर्तृ भवत्येव, तद्धि जीवप्रदेशैः सहान्योऽन्यानुवेधरूपतया व्यवस्थितं कथंचिच्चात्मनोऽभिन्नं, तद्वशाच्चात्मा नारकतिर्यङ्मनुष्यामरभवेषु पर्यटन् सुखदुःखादिकमनुभवतीति। तदेवं नियत्यनियत्योः कर्तृत्वे युक्त्युपपन्ने सति नियतेरेव कर्तृत्वमभ्युपगच्छन्तो निर्बुद्धिका भवन्तीत्यवसेयम्।" -सूत्रकृतांग की शीलांक टीका (अम्बिकादत्त व्याख्या सहित), भाग प्रथम, पृष्ठ ९१-९२

६१. तन्न कालाद्येकान्ताः प्रमाणतः संभवन्तीति तद्वादो मिथ्यावाद इति स्थितम्। त एव अन्योन्यसव्यपेक्षानित्याद्येकान्तव्यपेहेन एकानेकस्वभावाः कर्मनिर्वर्तनपटवः प्रमाणविषयतया परमार्थसन्त इति तत्प्रतिपादकस्य शास्त्रस्यापि सम्यक्त्वमिति तद्वादः सम्यग्वादतया व्यवस्थितः। -सन्मति तर्क, ३.५३ की टीका, पृष्ठ ७१७

६२. षड्दर्शन समुच्चय, श्री भूपेन्द्रसूरि- जैन साहित्य समिति, आहोर (मारवाड़), श्लोक ७९

६३. तथा च सकलनयदृष्ट्या मुद्रूपकत्यादिदृष्टान्तेन सिद्धान्त सिद्धा पंचकारणी सर्वत्र संगतिमङ्गति तत्पक्षस्य सर्वनयमयत्वेन सम्यग् रूपत्वात्, एककारणपरिशेषपक्षस्य च दुर्नयत्वेन मिथ्यारूपत्वात् तदाहुराचार्याः "कालो सहाव णियई पुव्वकयं पुरिसकारणेगन्ता। मिच्छत्तं ते चेव उ समासओ हुन्ति सम्पत्तं" न च तथाभव्यत्वेनैवेतरान्यथासिद्धेः समुदायपक्षोऽनतिप्रयोजन इति शंकनीयम्, तथापदार्थ- कुक्षावेवेतटकारणप्रवेशाद् व्यक्तिविशेषपरिचाय- कत्वेनान्योन्यव्याप्तिप्रदर्शकत्वेन च तस्यान्यथासिद्धयप्रदर्शकत्वात्, अत एव "जं जहा भगवया दिट्ठं तं तहा विपरिणमई" ति भगवद्भवनं सुष्ठुसंगच्छते, तथा पदेनैव तत्रेतरकारणोपसंग्रहात्" -नयोपदेश पृष्ठ ९२

६४. जिनेन्द्रभक्तिप्रकाश में विनयविजय कृत पंचसमवाय की ढाल ६ का पद्य २

६५. प्रवचनसार के परिशिष्ट में २६

६६. स्वभावनयेननिश्चिततीक्ष्णकण्टकवत्संस्कारानर्थक्यकारि।

६७. कालनयेन निदाघदिवसानुसारिपच्यमान सहकारफलवत्समयायत्तसिद्धिः।

—प्रवचनसार, परिशिष्ट ३०

६८. प्रवचनसार, परिशिष्ट, ३३

६९. दैवनयेन पुरुषकारवादिदत्तमधुकुक्टीगर्भलब्धमाणिक्यदैववादिवदयत्पुरुषकार-
वादिदत्तमधुकुक्टीगर्भलब्धमाणिक्यदैववादिवदयत्

—प्रवचनसार, परिशिष्ट ३३

७०. जैनैन्द्र सिद्धान्त कोश, भाग द्वितीय, पृष्ठ ६१९

७१. जैनैन्द्र सिद्धान्त कोश, भाग द्वितीय, पृष्ठ ६१९

७२. तिलोक काव्य कल्पतरू, पंचवादी-स्वरूप-विषयक-काव्य, पृष्ठ १०६-१०७

७३. कारण संवाद पृष्ठ ४१

७४. उपदेश प्रसाद, भाग ४ से

७५. जैन दर्शन पृष्ठ ४७४

७६. नय प्रज्ञापन पृष्ठ १७३-२१९ के आधार पर

७७. नय प्रज्ञापन पृष्ठ १७४

७८. नय प्रज्ञापन, पृष्ठ १८३-१८४

७९. नय प्रज्ञापन, पृष्ठ २०४

८०. नय प्रज्ञापन, पृष्ठ २१५

८१. नय प्रज्ञापन, पृष्ठ २१८

८२. नय प्रज्ञापन, पृष्ठ २१९

८३. एम.ए. (प्रथम वर्ष) का तृतीय प्रश्नपत्र, खण्ड (ख)- जैन विश्व भारती
संस्थान (मान्य विश्वविद्यालय), लाडनूँ।

८४. प्रकाशमुनि जी महाराज के विचारों से युक्त २३.२.२००२ के पत्र के आधार पर

८५. गणधरवाद की प्रस्तावना से, पृष्ठ १२८

८६. २२.१०.२००३ की चर्चा के आधार पर

६०४ जैनदर्शन में कारण-कार्य व्यवस्था : एक समन्वयात्मक दृष्टिकोण

८७. परमभाव प्रकाशक नयचक्र, पृष्ठ ३२४
८८. षड्दर्शन समुच्चय, श्री भूपेन्द्र सूरि जैन साहित्य समिति, आहोरे (मारवाड़), श्लोक ७९
८९. उपदेश पद, गाथा १६५ पर मुनिचन्द्रसूरि टीका
९०. उपदेश पद गाथा ३५०
९१. 'कम्मवसा खलु जीवा, जीववसाई कहिं चि कम्माई' -बृहत्कल्पभाष्य गाथा २६९०
९२. योगबिन्दु ४१४
९३. योगबिन्दु ३२१
९४. योगबिन्दु ३३५
९५. सूत्रकृतांग की शीलांक टीका, (अम्बिकादत्त व्याख्या सहित) भाग तृतीय, पृष्ठ ८९



उपसंहार

भारतीय दर्शन में कारण-कार्य सिद्धान्त की चर्चा में जैन दर्शन का भी अप्रतिम स्थान है। जैन दार्शनिक सांख्य के सत्कार्यवाद, वेदान्त के सत्कारणवाद, न्यायदर्शन के असत् कार्यवाद और शून्यवादी बौद्ध दर्शन के असत्कारणवाद का निरसन करते हुए सदसत्कारणवाद तथा सदसत्कार्यवाद की स्थापना करते हैं। इनके अनुसार कारण सत् भी है और असत् भी। कार्य की उत्पत्ति होने से पूर्व कारण सत् होता है तथा कार्य उत्पन्न हो जाने पर उपादान कारण का मूल स्वरूप न रहने से वह असत् भी होता है। कारण की भाँति जैन दर्शन में कार्य को भी सदसत् माना गया है। इस प्रकार जैन दर्शन का कारण-कार्य सिद्धान्त सदसत्कार्यवाद के नाम से प्रसिद्ध है। एकान्त सत् अथवा एकान्त असत् पदार्थ न तो स्वयं उत्पन्न होते हैं और न किसी को उत्पन्न करने में समर्थ होते हैं। जैन दार्शनिकों के अनुसार नित्यानित्यात्मक सामान्यविशेषात्मक या द्रव्यपर्यायात्मक पदार्थों में ही कारण-कार्य भाव घटित होता है।

जैन दार्शनिकों ने कारण-कार्य को क्रमभावी, भिन्नाभिन्न और सदृशासदृश स्वीकार किया है। वे संख्या, संज्ञा, लक्षण आदि के भेद से कारण-कार्य में कथंचित् भिन्नता का प्रतिपादन करते हैं तथा मृदादि की एकता, सत्त्व, प्रमेयत्व आदि के आधार पर उनमें अभिन्नता स्वीकार करते हैं।

अनेकान्तवादी जैन दार्शनिकों ने कारण-कार्यवाद पर विभिन्न दृष्टियों से विचार किया है, यथा-

१. द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव और भव की कारणता
२. षट्कारकों की कारणता
३. षड्द्रव्यों की कारणता
४. निमित्त और उपादान की कारणता
५. पंच समवाय की कारणता

द्रव्य, क्षेत्र, काल एवं भाव की कारणता पर विचार जैन दार्शनिकों का अपना मौलिक योगदान है। वे इन चार कारणों को आधार बनाकर समस्त कारण-कार्य सिद्धान्त की व्याख्या करते हैं। अजीव द्रव्यों में घटित होने वाले कार्यों में इन चारों कारणों का व्यापक दृष्टि से विचार किया गया है। जीव में घटित होने वाले कार्यों के प्रति भव की कारणता को भी अंगीकार किया गया है। नारक, तिर्यक्, मनुष्य और देव भव विभिन्न कार्यों के विशिष्ट कारण होते हैं।

विशेषावश्यक भाष्य में जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण ने कर्ता, कर्म, करण, संप्रदान, अपादान एवं अधिकरण कारकों की कारणता को प्रतिपादित कर अनेकान्त दृष्टि का परिचय दिया है।

जैन दार्शनिकों ने धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय, पुद्गलास्तिकाय, जीवास्तिकाय और काल द्रव्य की कारणता पर भी विचार किया है। इन षट्द्रव्यों के अपने उपग्रह या उपकार हैं। वे ही उनके कार्य हैं जो अन्य द्रव्यों के कार्यों में भी सहायक बनते हैं।

उपादान और निमित्त कारणों के रूप में भी जैन दार्शनिकों ने कारण-कार्य सिद्धान्त की व्याख्या की है। आगम वाङ्मय में उपादान और निमित्त शब्दों का प्रयोग नहीं हुआ है, किन्तु उत्तरवर्ती दार्शनिकों ने इन्हें जैनदर्शन में यथोचित स्थान दिया है।

कारण-कार्य की व्याख्या में जैन दार्शनिकों का 'पंच-समवाय' सिद्धान्त अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। यह उनकी अनेकान्त दृष्टि का परिणाम है। पंच समवाय में काल, स्वभाव, नियति, पूर्वकृत कर्म एवं पुरुषार्थ इन पाँच कारणों का समन्वय स्वीकार किया गया है। आगम वाङ्मय में पंच समवाय का कोई स्पष्ट उल्लेख नहीं मिलता। सिद्धसेन सूरि ने पाँचवीं शती ईस्वी में 'सम्मतितर्क प्रकरण' में उपर्युक्त पाँच कारणों के समुदाय को सम्यक्त्व एवं एक-एक कारण को मिथ्यात्व प्रतिपादित किया है, यथा-

कालो सहाव णियई, पुव्वकयं पुरिसे कारणेगंता।

मिच्छन्तं ते चेव उ, समासओ होन्ति सम्मतं।।^१

पाँच कारणों की गणना करते हुए भी सिद्धसेनसूरि ने 'पंचसमवाय' शब्द का प्रयोग नहीं किया। 'पंच समवाय' शब्द उत्तरवर्ती आचार्यों की देन है। १९वीं शती के तिलोकऋषि जी के काव्य में इसका प्रयोग दृष्टिगत होता है। संभव है उसके पूर्व भी यह प्रसिद्ध रहा हो। 'पंचानां कारणानां समवायः पंचसमवायः' के रूप में यह पाँच कालादि पाँच कारणों का समुदाय है। सिद्धसेनसूरि ने समवाय के लिए 'समासओ' शब्द का प्रयोग किया है, जो आगे कलाप, समुदाय, समुदित आदि शब्दों की यात्रा तय करता हुआ 'समवाय' के रूप में परिवर्तित हुआ, ऐसा प्रतीत होता है। सम्प्रति 'पंच समवाय' शब्द अत्यन्त प्रसिद्ध है।

काल, स्वभाव, नियति, पूर्वकृत कर्म और पुरुष/पुरुषार्थ में एक-एक की कारणता को ही पर्याप्त मानने वाले दार्शनिक मतों का कालवाद, स्वभाववाद, नियतिवाद, पूर्वकृत कर्मवाद एवं पुरुषवाद/पुरुषकारवाद शीर्षकों से विभिन्न अध्यायों

में वेद, उपनिषद्, पुराण, रामायण, महाभारत, भगवद् गीता, संस्कृत साहित्य की विभिन्न कृतियों, विभिन्न दार्शनिक ग्रन्थों, जैनागम और जैनाचार्यों की रचनाओं के आधार पर ऐतिहासिक क्रम से प्रकाश डाला गया है। प्रथम अध्याय में 'जैनदर्शन में मान्य कारणवाद एवं पंचसमवाय' पर संक्षेप में विचार निबद्ध है।

द्वितीय अध्याय 'कालवाद' से सम्बद्ध है। कालवाद के अनुसार एक मात्र काल ही समस्त कार्यों का कारण है। कालवाद के संबंध में कोई स्वतंत्र ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है। इस सिद्धान्त को लेकर किसी ग्रन्थ की रचना की गई हो ऐसा भी उल्लेख नहीं मिलता और न ही इस सिद्धान्त के प्रवर्तक का नामोल्लेख मिलता है। कालवाद किसी एक व्यक्ति की मान्यता न होकर सामूहिक मान्यता बन गई थी, ऐसा प्रतीत होता है। कालवाद की मान्यता के संबंध में निम्नांकित श्लोक महाभारत, अभयदेव की सम्मतितर्क टीका, सूत्रकृतांग पर शीलाकाचार्य की टीका, हरिभद्र सूरि विरचित शास्त्रवार्ता समुच्चय आदि ग्रन्थों में मिलता है-

कालः पचति भूतानि, कालः संहर्ते प्रजाः।

कालः सुप्तेषु जागर्ति, कालो हि दुरतिक्रमः॥^१

अर्थात् काल ही पृथ्वी आदि भूतों का परिणमन करता है। काल ही प्रजा का संहार करता है। काल ही लोगों के सो जाने पर जागता है, इसलिए काल की कारणता अनुल्लंघनीय है।

कालवाद की प्राचीनता का अनुमान करना कठिन है। अथर्ववेद के उन्नीसवें काण्ड के ५३-५४वें सूक्त 'कालसूक्त' नाम से प्रसिद्ध है। ये कालसूक्त ही कालवाद के उद्गम के स्रोत प्रतीत होते हैं। इनमें निहित काल तत्त्व का ही विकास उपनिषद्, पुराण, महाभारत, ज्योतिर्विद्या आदि में हुआ है।

कालवादियों के संबंध में उल्लेख गौडपाद कारिका में प्राप्त होता है, वहाँ कहा है- *कालात् प्रसूतिं भूतानां मन्यन्ते कालचिन्तकः।*^२ श्वेताश्वतरोपनिषद् में भी जगत् के कारणों की चर्चा में काल का भी कथन हुआ है। शिवपुराण में कालवाद का सिद्धान्त सम्पूर्ण रूप में अभिव्यक्त हुआ है-

कालादुत्पद्यते सर्वं, कालादेव विपद्यते।

न कालनिरपेक्ष हि क्वचित्किञ्चिद्भि विद्यते॥^३

कालवाद का यदि व्यवस्थित एवं विकसित रूप देखना हो तो ज्योतिर्विद्या के ग्रन्थ इसके निदर्शन हैं। क्योंकि ज्योतिर्विद्या कालगणना पर आधारित विद्या है। जिसमें ग्रह, नक्षत्रों के साथ काल ही प्रमुख कारण के रूप में अंगीकार किया गया है।

भारतीय दर्शन की विभिन्न परम्पराओं में काल के स्वरूप एवं उसकी कारणता पर विचार हुआ है। वैशेषिक दर्शन में काल को द्रव्य के रूप में स्थापित किया गया है। चिर, क्षिप्र, परत्व-अपरत्व आदि में उसे विशेष कारण अंगीकार किया गया है। सांख्य दर्शन में चार प्रकार की आध्यात्मिक तुष्टियों में काल को तृतीय तुष्टि के रूप में अंगीकार करते हुए कहा गया है कि काल की अपेक्षा रखकर ही विवेक ख्याति सिद्ध होती है। वेदान्त दर्शन में नैमित्तिक प्रलय में काल को निमित्त बताया गया है। व्याकरण दर्शन में इसे अमूर्त क्रिया के परिच्छेद (मापन) का हेतु स्वीकार किया गया है। योगदर्शन में यह क्षण और क्रम के रूप में विवेचित है। वहाँ क्षण को वास्तविक एवं क्रम का आधार बताया गया है।

जैन वाङ्मय में भी कालवाद की पर्याप्त चर्चा हुई है। जैन दार्शनिकों ने कालवाद के स्वरूप का निरूपण करने के साथ उसका निरसन भी किया है। जैनागमों में काल को एक द्रव्य तो प्रतिपादित किया गया है किन्तु कालवाद का पृथक् रूप से स्पष्ट उल्लेख नहीं मिलता है। सूत्रकृतांग में कथित “*ईसरेण कडे लोए पहाणाति तहावरे*”^१ पंक्ति के ‘पहाणाति’ शब्द से व्याख्याकारों ने काल का भी ग्रहण किया है। सूत्रकृतांग में ही निरूपित क्रियावाद, अक्रियावाद, विनयवाद और अज्ञानवाद की व्याख्या करते हुए क्रियावाद और अक्रियावाद के अन्तर्गत ‘कालवाद’ के क्रमशः ३६ एवं १४ भेद निरूपित किये गये हैं। शीलांकाचार्य ने आचारांग सूत्र की टीका में कालवाद का स्वरूप निरूपित करते हुए कहा है कि काल ही विश्व की स्थिति-उत्पत्ति और प्रलय में कारण है।

नन्दीसूत्र के टीकाकार मलयगिरि ने कहा है- ‘*कालवादिनश्च नाम ते मन्तव्या ये कालकृतमेव सर्वं जगत् मन्यन्ते*’^२ कालवाद के अनुसार काल ही सब कार्यों का कारण है, उसी से व्यवस्था बनती है। यदि कोई पुरुष मूँग रांधता है तो वे भी बिना काल के नहीं रांधे जाते हैं। अन्यथा हांडी, ईंधन आदि सामग्री के संयोग से प्रथम समय में ही मूँग रांध जाते। इसलिए जो कुछ होता है वह कालकृत ही है।

मल्लवादी क्षमाश्रमण, हरिभद्रसूरि, शीलांकाचार्य और अभयदेवसूरि ने अपनी कृतियों में कालवाद का उपस्थापन कर उसका युक्तियुक्त निरसन किया है। जैन दार्शनिकों की यह मान्यता है कि काल ही एकमात्र कारण नहीं है, स्वभाव, नियति, पूर्वकृत कर्म एवं पुरुषार्थ की भी कारणता मानना अपेक्षित है। जैनाचार्यों द्वारा उपस्थापित पूर्वपक्ष में कालवाद सिद्धान्त विषयक नवीन सूचनाएँ भी अभिव्यक्त हुई हैं-

१. कार्य के प्रति काल अवश्यक्लृप्त नियत पूर्ववर्ती है, इसलिए एकमात्र वही कार्य का कारण है। कारण कहे जाने वाले अन्य पदार्थ अवश्यक्लृप्त-नियतपूर्ववर्ती काल से भिन्न होने से अन्यथासिद्ध है।
२. काल को कार्य का यदि असाधारण कारण न माना जाये तो गर्भादि सभी कार्यों की उत्पत्ति अव्यवस्थित हो जाएगी।
३. काल नित्य है एवं एक रूप है। काल कारण की सभी कार्यों के साथ अन्वय-व्यतिरेक व्याप्ति होती है।

जैनाचार्यों ने कालवाद के निरसन में अनेक प्रबल तर्क दिए हैं-

१. मल्लवादी क्षमाश्रमण कहते हैं कि त्रिकाल कूटस्थ काल में परमार्थतः कारण-कार्य का विभाग नहीं हो सकता। कारण-कार्य का विभाग नहीं होने से व्यवहार की व्यवस्था भी नहीं बन सकती।
२. हरिभद्रसूरि का तर्क है यदि अन्य कारणों से निरपेक्ष केवल काल से कार्योंत्पत्ति स्वीकार की जायेगी तो अमुक कार्य की उत्पत्ति के समय में अन्य सभी कार्यों की उत्पत्ति की भी आपत्ति होगी। हरिभद्रसूरि अन्य तर्क देते हैं कि एकमात्र काल को कारण नहीं माना जा सकता, क्योंकि काल के समान होने पर भी कार्य समान नहीं देखा जाता, इसलिए अन्य हेतु भी अपेक्षित हैं।
३. शीलांकाचार्य का तर्क है कि एक स्वभावी, नित्य एवं व्यापक काल का ग्राहक कोई प्रमाण नहीं है। वे अन्य तर्क में कहते हैं कि यदि काल ही एकमात्र कारण हो तो समान काल में सभी किसानों के खेतों में मूंगों के पकने आदि की समान फल प्राप्ति होनी चाहिए, किन्तु ऐसा नहीं होता है।
४. अभयदेवसूरि का तर्क है कि वर्षाकाल आदि काल कारण के होने पर भी वर्षा का होना रूप कार्य निरन्तर नहीं चलता। इससे काल की नित्यता एवं एकरूपता भी खण्डित होती है। साथ ही काल का स्वभावभेद भी प्रकट होता है।

जैन दार्शनिकों ने 'पंच समवाय' सिद्धान्त में पाँच कारणों के अन्तर्गत काल की भी कारणता स्वीकार की है, किन्तु वे काल को एकान्त कारणता को अंगीकार नहीं करके अन्य कारणों की भी अपेक्षा स्वीकार करते हैं।

तृतीय अध्याय में 'स्वभाववाद' पर विचार किया गया है। स्वभाववाद एक प्राचीन सिद्धान्त है, जिसके अनुसार समस्त कार्यों का कारण स्वभाव है। वेद में स्वभाववाद का स्पष्ट उल्लेख प्राप्त नहीं होता, किन्तु नासदीय सूक्त के अन्तर्गत सृष्टि विषयक जिन विभिन्न मतों का उल्लेख हुआ है, उनके आधार पर पं. मधुसूदन ओझा ने दश वादों का उत्थापन किया है। इनमें एक अपरवाद है। अपर का अर्थ पं. ओझा ने अपर अर्थात् स्व करते हुए अपरवाद को स्वभाववाद के रूप में प्रतिष्ठित किया है।

श्वेताश्वतरोपनिषद् में जगदुत्पत्ति का कारण 'स्वभाव' को आचार्य शंकर के माध्य में पदार्थ की प्रतिनियत शक्ति के रूप में प्रतिपादित किया गया है। हरिवंश पुराण में जगत् को स्वभावकृत कहा गया है- भगवद् गीता में मानव स्वभाव के आधार पर वर्ण भेद का प्रतिपादन भी स्वभाव की कारणता को स्पष्ट करता है। स्वभावं भूतचिन्तकाः^९ कहकर महाभारत में भूत चिन्तकों को स्वभाववादी के रूप में प्रकाशित किया गया है। स्वभाववाद का महाभारत में पोषण भी है और निरसन भी।

बुद्धचरित में अश्वघोष का स्वभाववाद के संबंध में निम्नांकित श्लोक प्रसिद्ध है-

कः कण्टकस्य प्रकरोति तैक्ष्ण्यं विचित्रभावं मृगपक्षिणां वा।

स्वभावतः सर्वमिदं प्रवृत्तं न कामचारोऽस्ति कुतः प्रयत्नः।।^{१०}

स्वभाववाद के बीज वेद, उपनिषद्, पुराण आदि में भले ही उपलब्ध रहे हों और स्वभाववाद का स्पष्ट रूप भी पुराण में मिलता हो तथापि बुद्धचरित का उपर्युक्त श्लोक ही सभी दार्शनिक कृतियों में स्वभाववाद के निरूपण के समय उद्धृत होने से अपनी महत्ता एवं प्राचीनता प्रकट करता है। बृहत्संहिता में वराहमिहिर ने 'कालं कारणमेके स्वभावमपरे जगुः कर्म'^{११} कथन से स्वभाववाद की मान्यता की ओर संकेत किया है।

सांख्यकारिका की माठरवृत्ति में स्वभाव की कारणता का स्पष्ट उल्लेख हुआ है। अक्षपाद गौतम के न्यायसूत्र में भी स्वभाववाद का उल्लेख हुआ है- अनिमित्ततो भावोत्पत्तिः कण्टकतैक्ष्ण्यादिदर्शनात्।^{१२} वाक्यपदीय में भर्तृहरि ने स्वभाव की व्याख्या की।

बौद्ध दार्शनिक शान्तरक्षित (७०५ई.) ने तत्त्वसंग्रह में स्वभाववाद का विधिवत् उपस्थापन एवं प्रत्यवस्थान किया है।

उदयनाचार्य ने न्यायकुसुमाञ्जलि में आकस्मिकवाद के अन्तर्गत स्वभाववाद के पूर्वपक्ष को प्रस्तुत कर उसका उत्तर पक्ष भी दिया है तथा उसे नियतपूर्ववृत्तित्व के रूप में अंगीकार किया है। चार्वाक दर्शन में जगत् की विचित्रता को स्वभाव से ही उत्पन्न माना जाता है।

जैनाचार्यों ने प्रामाणिकता के साथ स्वभाववाद के पूर्वपक्ष को उपस्थापित किया है तथा स्वभाववाद की विभिन्न विशेषताओं को अपने ग्रन्थों में समायोजित किया है। जैन ग्रन्थों में चर्चित स्वभाववाद से सम्बद्ध कतिपय बिन्दु इस प्रकार हैं-

१. प्रश्नव्याकरण सूत्र में 'सहावेण' शब्द का प्रयोग हुआ है, जो स्वभाववाद की ओर संकेत करता है। अभयदेवसूरि ने इस शब्द की प्रश्नव्याकरण की टीका में विस्तार से विवेचना करते हुए कहा है कि स्वभाववाद के अनुसार समस्त प्राणियों का व्यवहार पूर्वकृत कर्मों से नहीं, अपितु स्वभाव से संचालित होता है।
२. नन्दीसूत्र की अवचूरि में स्वभाववाद के संबंध में स्पष्ट किया गया है कि जिसके होने पर होना तथा जिसके नहीं होने पर नहीं होना- यह अन्वय-व्यतिरेक का अनुविधान भी स्वभावकृत है। करोड़ों प्रयत्न करने पर भी स्वभाव को स्वीकृत किये बिना प्रतिनियत व्यवस्था नहीं बनती है।
३. लोकतत्त्वनिर्णय में हरिभद्रसूरि का कथन है कि जगत् में जो-जो सत् पदार्थ हैं, वे सभी स्वभावजन्य हैं। शास्त्रवार्ता समुच्चय में उन्होंने स्पष्ट किया है कि जीव के गर्भ से लेकर स्वर्गगमन तक के सभी कार्य स्वभाव से सम्पन्न होते हैं। स्वभाव के नियमन से ही कार्य का कभी होना तथा न होना रूप कादाचित्कत्व संभव होता है।
४. पदार्थों की उत्पत्ति के साथ उनका विनाश भी उनके स्वभाव से ही नियत देश-काल में होता है। इस संसार में मृग, अश्व, माष आदि का पाक भी स्वभाव के बिना नहीं होता क्योंकि जिस वस्तु में पकने का स्वभाव नहीं है, वह काल तथा अन्य कारणों के होने पर भी परिपक्व नहीं होती।
५. पूर्व-पूर्व उपादान परिणामों को उत्तरोत्तर होने वाले तत्-तत् उपादेय परिणामों के प्रति कारण मान लेने से स्वभाववाद में सहकारिचक्र की कल्पना अनावश्यक हो जाती है।
६. स्वभाववाद के अनुसार बीज का जो चरम क्षणात्मक परिणाम होता है, उससे अंकुर का प्रथम क्षणात्मक परिणाम उत्पन्न होता है। उत्पाद्य अंकुर

क्षणों में अत्यन्त सदृश होता है, जिससे उनका वैयादृश्य तिरोहित रहता है। अतः सदृश अंकुर क्षणात्मक कार्य से सदृश बीज क्षणात्मक कार्य का अनुमान होने में कोई बाधा नहीं होती।

७. आचारांग सूत्र की टीका में शीलांकाचार्य ने स्वभाव को परिभाषित करते हुए कहा है- 'वस्तुनः स्वत एव तथापरिणतिभावः स्वभावः।'^{११} अर्थात् वस्तु का स्वतः तथा परिणत रूप होना स्वभाव है। सभी भूत स्वभाव से ही प्रवृत्त और निवृत्त होते हैं। सूत्रकृतांग सूत्र की टीका में शीलांकाचार्य ने तज्जीवतच्छरीरवादी के मत में स्वभाव से ही जगत् की विचित्रता को उत्पन्न बताया है।
८. द्वादशारनयचक्र में स्वभाववाद का प्राचीन स्वरूप अभिव्यक्त हुआ है। वहाँ कहा गया है- 'युगपदयुगपद् घटरूपादीनां ब्रीहांकुरादीनां च तथा तथा भवनादेव तु स्वभावोऽभ्युपगतः।'^{१२}
९. द्वादशारनयचक्र में कहा गया है कि स्वभाव के अतिरिक्त द्रव्यों की अपेक्षा रखने पर स्वभाववादियों को आपत्ति नहीं है, किन्तु वे उसे भी स्वभाव के अन्तर्गत ही सम्मिलित करते हैं। एक ही स्वभाव शक्तिभेद से कारक भेद को प्राप्त होता है। वही कर्ता, कर्म, करण आदि स्वरूपों को प्राप्त होता है।

जैनाचार्य मल्लवादी क्षमाश्रमण, जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण, हरिभद्रसूरि उनके टीकाकार यशोविजय, तत्त्वबोधविधायिनी के टीकाकार अभयदेवसूरि और अज्ञात कृतिकार के द्वारा स्वभाववाद का प्रबल निरसन किया गया है।

मल्लवादी क्षमाश्रमण ने स्वभाववाद का निरसन करते हुए प्रश्न उठाया है कि यह स्वभाव व्यापक है या प्रत्येक वस्तु में परिसमाप्त होता है? यदि व्यापक है तो पररूप का अभाव सिद्ध होने से स्वविशेषण निरर्थक है। यदि प्रत्येक वस्तु में परिसमाप्त होता है तो वह घटत्व पटत्व आदि से भिन्न सिद्ध नहीं हो सकेगा। विशेषावश्यकभाष्य में जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण ने कहा है कि स्वभाव कोई वस्तु विशेष नहीं है। उनके अनुसार निष्कारणता को भी स्वभाव नहीं कहा जा सकता है। हरिभद्रसूरि ने धर्मसंग्रहणि में जगत् की विचित्रता एवं सुख-दुःख के अनुभव में एकमात्र स्वभाव को हेतु मानने वाले स्वभाववादियों पर प्रश्नों की बौछार कर दी है। वे कहते हैं- स्वभाव भाव रूप है या अभाव रूप? यदि वह भाव रूप है तो एक रूप है या अनेक रूप? यदि भाव रूप में एक रूप है तो वह नित्य है या अनित्य? यदि वह

अनेक रूप है तो मूर्त है या अमूर्त? इन प्रश्नों के उत्तरों का विकल्प प्रस्तुत करते हुए हरिभद्रसूरि ने स्वभाववाद का सबल निरसन किया है।

हरिभद्रसूरि ने स्वभावहेतुवाद का निरसन करते हुए कहा है कि स्वभाव जब क्रम से कार्य उत्पन्न करता है तब काल की भी अपेक्षा रखता है। काल की अपेक्षा रखने के कारण स्वभाववाद का सिद्धान्त सिद्ध नहीं हो पाता—‘मुक्तः स्वभाववादः स्यात्कालवाद-परिग्रहात्’^{१३} उन्होंने निहेतुक स्वभाववाद के खण्डन में कहा है कि सुख-दुःख की विचित्रता यदि निहेतुक है तो वह सदैव ही होनी चाहिए या सदैव ही नहीं होनी चाहिए क्योंकि निहेतुक वस्तु अन्य की अपेक्षा नहीं रखती है। अतः सुख-दुःख सहेतुक हैं और हेतु के रूप में स्वकृत कर्म को छोड़कर किसी कारण की संभावना नहीं बनती।

शास्त्रवार्ता समुच्चय के टीकाकार यशोविजय ने स्वभाववादियों के तर्क क्रमिक स्वभाव से क्रमिक कार्यों की उत्पत्ति होने में स्वभाववाद का भंग नहीं होता, का निरसन करते हुए कहा है कि प्रत्येक कार्य के प्रति भिन्न-भिन्न स्वभाव को कारण मानने से घट आदि की एक जातीयता नहीं बन पाएगी। जबकि घट-पट आदि जैसे एक जाति के सहस्रों कार्य जगत् में देखे जाते हैं।

अभिधान राजेन्द्र कोश में अज्ञात कृतिकार ने भी स्वभाववाद के निरसन में तर्क दिया है कि स्वभाव कार्यगत हेतु है या कारणगत? यह कार्यगत नहीं हो सकता, क्योंकि कार्य के निष्पन्न होने के बाद ही उसकी संभावना हो सकती है। अतः यह कार्य का हेतु नहीं हो सकता। कारणगत स्वभाव को कार्य का हेतु मानने पर अज्ञात टीकाकार ने अपनी सहमति प्रकट की है।

अभयदेवसूरि ने कहा है कि ‘स्वभावतः एव भावा जायन्ते’^{१४} कथन में स्वात्मनि क्रियाविरोध दोष आता है। दूसरा दोष यह है कि जो पदार्थ अनुत्पन्न है उसका उत्पन्न होने का स्वभाव नहीं माना जा सकता। उत्पन्न पदार्थ में भी उत्पन्न होने के स्वभाव की निवृत्ति माननी होगी, जिससे स्वभाव की नित्य कारणता का खण्डन हो जाता है। उन्होंने ‘सन्मतितर्क’ पर तत्त्वबोधविधायिनी टीका में निहेतुक स्वभाववाद का उपस्थापन करते हुए चार हेतु दिए हैं— १. अनुपलभ्यमानसत्ताकं कारणम्— पदार्थों के कारण की सत्ता उपलब्ध नहीं होती इसलिए वे निहेतुक हैं। २. प्रत्यक्ष से काँटों की तीक्ष्णता आदि में कोई कारण ज्ञात नहीं होता इसलिए भी कार्य निहेतुक है। ३. कादाचित्क होने से दुःखादि आध्यात्मिक कार्य निहेतुक हैं। ४. कार्य-कारण सिद्धान्त ही दोषपूर्ण है, क्योंकि उसमें अन्वय-व्यतिरेक की व्याप्ति व्यभिचार युक्त है।

अभयदेवसूरि ने इस निर्हेतुक स्वभाववाद का युक्तियुक्त निरसन किया है। पदार्थों के कारण की सत्ता उपलब्ध है। यह अनेक हेतुओं से सिद्ध है तथा अनुपलब्धि हेतु की असिद्धि है। कण्टकादि की तीक्ष्णता निर्हेतुक नहीं है, क्योंकि उसमें बीज आदि की कारणता सिद्ध है। कादाचित्क हेतु निर्हेतुक स्वभाववादियों के विरुद्ध है, क्योंकि यह हेतु साध्य निर्हेतुक से विपरीत सहेतुक को सिद्ध करता है। कार्य-कारण सिद्धान्त दोषपूर्ण नहीं है।

स्वभाववाद की सिद्धि में कारक हेतु की बजाय ज्ञापक हेतु मानना उचित नहीं है। ज्ञापक हेतु भी स्वपक्ष की सिद्धि का उत्पादक होने से कारक हेतु के समान होता है। कारक हेतु साध्य का उत्पादक होता है तो इससे स्वभाववाद की प्रतिज्ञा बाधित होती है। 'निर्हेतुकाः भावाः' की प्रतिज्ञा में हेतु दिए जाने पर निर्हेतुक स्वभाववाद वदतो व्याघातः की भाँति खण्डित हो जाता है।

बौद्ध दार्शनिक शान्तरक्षित (८वीं शती) ने भी अपनी कृति तत्त्वसंग्रह में स्वभाववाद का विशद उपस्थापन एवं निरसन किया है। स्वभाववाद की मान्यता को उन्होंने सर्वहेतुनिराशंस के रूप में प्रस्तुत किया है। ये स्वभाववादी संभवतः निर्हेतुक स्वभाववादी हैं जो स्व और पर दोनों को कारण नहीं मानते हैं। शान्तरक्षित और उनके टीकाकार कमलशील ने विभिन्न तर्क देकर स्वभाववाद का निरसन किया है। जिसका प्रभाव जैनाचार्य अभयदेवसूरि पर भी दृष्टिगोचर होता है।

स्वभाववाद के दो रूप प्राप्त होते हैं- १. स्वभाव हेतुवाद २. निर्हेतुक स्वभाववाद। हरिभद्रसूरि ने शास्त्रवार्ता समुच्चय में स्वभावहेतुवादी का ही खण्डन किया है, जबकि तत्त्वसंग्रह एवं अभयदेवकृत तत्त्वबोधविधायिनी टीका में स्वभावहेतुवादी और निर्हेतुक स्वभाववादी दोनों मतों का खण्डन प्राप्त है। इससे ज्ञात होता है कि स्वभावहेतुवाद पूर्व में स्वभाववाद के रूप में स्थापित था, धीरे-धीरे यह विकास को प्राप्त हुआ और निर्हेतुक स्वभाववाद के रूप में स्थापित होने लगा।

जैन ग्रन्थों में स्वभाव का विभिन्न दृष्टियों से निरूपण हुआ है तथा उसे जैन दार्शनिक कथंचित् कारण के रूप में स्वीकार भी करते हैं, किन्तु उसकी कारणैकान्तता का प्रबल प्रतिषेध करते हैं।

चतुर्थ अध्याय 'नियतिवाद' से सम्बद्ध है। नियतिवाद के अनुसार नियति ही सब कार्यों का कारण है। नियतिवाद का निरूपण मंखलि गोशालक ने किया था। उनकी मान्यता का स्पष्ट उल्लेख व्याख्याप्रज्ञप्ति सूत्र और बौद्ध त्रिपिटक के दीघनिकाय में स्पष्टतः हुआ है। सूत्रकृतांग और उपासकदशांग सूत्र में भी नियतिवाद

की चर्चा है। गोशालक की सम्प्रदाय आजीवक सम्प्रदाय के नाम से प्रसिद्ध है, किन्तु वर्तमान में यह अस्तित्व में नहीं है। नियतिवाद का मन्तव्य है कि जो जब, जैसा और जिससे होना होता है वह तब, वैसा और उससे ही होता है। नियति के स्वरूप को प्रतिपादित करने वाला एक श्लोक सूत्रकृतांग और प्रश्नव्याकरण की टीका, सम्मति तर्क, शास्त्रवार्ता समुच्चय और लोकतत्त्व निर्णय आदि दार्शनिक ग्रन्थों में उद्धृत है, जो इस प्रकार है-

प्राप्तव्यो नियतिगलाश्रयेण योऽर्थः, सोऽवश्यं भवति नृणां शुभोऽशुभो वा।

भूतानां महति कृतेऽपि हि प्रयत्ने, नाभाव्यं भवति न भाविनोऽस्ति नाशः।।^{१५}

अर्थात् जो पदार्थ नियति के बल के आश्रय से प्राप्तव्य होता है, वह शुभ या अशुभ पदार्थ मनुष्यों को अवश्य प्राप्त होता है। प्राणियों के द्वारा महान् प्रयत्न करने पर भी अभाव्य कभी नहीं होता और भावी का कभी नाश नहीं होता है।

नियतिवाद का कोई स्वतंत्र ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है, किन्तु इस सिद्धान्त का प्रभाव भारतीय वाङ्मय के विभिन्न ग्रन्थों में दृग्गोचर होता है। आगम, त्रिपिटक, उपनिषद्, पुराण, संस्कृत महाकाव्य एवं नाटकों में भी नियति के प्रतिपादक उल्लेख उपलब्ध होते हैं। वेद में नियतिवाद का साक्षात् उल्लेख नहीं है, किन्तु पं. मधुसूदन ओझा ने नासदीय सूक्त के आधार पर जगदुत्पत्ति के दशवाद प्रस्तुत करते हुए अपरवाद के अन्तर्गत स्वभाववाद के चार रूपों में एक रूप नियतिवाद बताया है।

श्वेताश्वतरोपनिषद् में 'कालः स्वभावो नियतिर्यदुच्छा, भूतानि योनिः पुरुष इति चिन्त्या।'^{१६} पंक्ति में नियतिवाद का अस्तित्व ज्ञापित होता है। महोपनिषद् एवं भावोपनिषद् के उद्धरणों से ज्ञात होता है कि नियति एक नियामक तत्त्व है। हरिवंशपुराण, वामनपुराण, नारदीयपुराण में दैव अथवा भवितव्यता के रूप में नियति की चर्चा है। रामायण में 'नियतिः कारणं लोके नियतिः कर्मसाधनम्'^{१७} वाक्य नियति की महत्ता को स्थापित करते हैं। महाभारत में वेदव्यास ने नियति के स्वरूप को अभिव्यक्त करते हुए कहा है-

यथा यथास्य प्राप्तव्यं प्राप्नोत्येव तथा तथा।

भवितव्यं यथा यच्च भव्यत्वे तथा तथा।।^{१८}

महाकवि कालिदास विरचित अभिज्ञानशाकुन्तल में 'भवितव्यानां द्वाराणि भवन्ति सर्वत्र'^{१९}, 'भवितव्यता खलु बलवती'^{२०} आदि वाक्य नियतिवाद के साक्षी हैं। हितोपदेश, पंचतन्त्र आदि में भी नियति का महत्त्व स्थापित है। कल्हण की

६१६ जैनदर्शन में कारण-कार्य व्यवस्था : एक समन्वयात्मक दृष्टिकोण

राजतरंगिणी में 'शक्तो न कोऽपि भवितव्यविलंघनायाम्'^{१९} वाक्य नियति की महत्ता का प्रकाशक है।

साहित्यशास्त्री मम्मट विरचित काव्यप्रकाश में 'नियतिकृतनियमरहितां' कारिका में 'नियति' शब्द का प्रयोग महत्त्वपूर्ण है। काव्यप्रकाश के टीकाकारों ने असाधारण धर्म या नियामक तत्त्व के रूप में, कर्म की अपर पर्याय के रूप में, अदृष्ट के रूप में तथा दैव के रूप में नियति शब्द की व्याख्या की है।

बौद्ध ग्रंथ दीर्घनिकाय में गोशालक ने बुद्ध के प्रश्न का उत्तर देते हुए अपने मत को स्पष्ट किया है- "प्राणियों के दुःख का कोई हेतु या प्रत्यय नहीं है। बिना हेतु और प्रत्यय के ही प्राणी दुःखी होते हैं। प्राणियों की विशुद्धि का भी कोई हेतु या प्रत्यय नहीं है। बिना हेतु और प्रत्यय के ही प्राणी विशुद्धि को प्राप्त होते हैं।"^{२०}

योगवासिष्ठ में नियति के सिद्धान्त को सृष्टि के प्रारम्भ से ही स्वीकार किया गया है। योगवासिष्ठ में प्रतिपादित है कि नियति की अटलता और निश्चितता को कोई भी खण्डित करने में समर्थ नहीं है। यहाँ तक कि सर्वज्ञ और बहुज्ञ प्रभु भी नियति को अन्यथा नहीं कर सकते। योगवासिष्ठकार ने पुरुषार्थ को भी नियति सापेक्ष प्रतिपादित किया है। नियति पुरुषार्थ के रूप से ही जगत् की नियामिका है- 'पौरुषेण रूपेण नियतिर्हि नियामिका'^{२१} काश्मीर शैव दर्शन में ३६ तत्त्वों के अन्तर्गत नियति की भी गणना की गई है।

जैनदर्शन के विभिन्न ग्रन्थों में नियतिवाद का निरूपण हुआ है, जिससे नियति की विभिन्न विशेषताएँ प्रकाश में आई हैं-

१. सुख-दुःख की प्राप्ति अपने या दूसरे के निमित्त से नहीं अपितु नियति के कारण से होती है। संसार में त्रस व स्थावर प्राणी हैं, वे सब नियति के प्रभाव से ही औदारिक आदि शरीर को प्राप्त करते हैं। ये नियति के कारण ही बाल्य, युवा और वृद्धावस्था को प्राप्त होते हैं- सूत्रकृतांग, पौण्डरिक अध्ययन
२. नियति एक पृथक् तत्त्व है, जिसके वश में सभी भाव हैं और वे नियत रूप से ही उत्पन्न होते हैं। जो, जब, जिससे होना होता है वह तब उससे ही नियत रूप से प्राप्त होता है। ऐसा नहीं मानने पर कार्य-कारण व्यवस्था और प्रतिनियत व्यवस्था संभव नहीं है। -नन्दीसूत्र की अवचूरी
३. नियतिवाद को प्रस्तुत करते हुए कहा है कि पुरुषकार को कार्य की उत्पत्ति में कारण मानने की आवश्यकता नहीं है क्योंकि उसके बिना नियति से ही समस्त प्रयोजनों की सिद्धि हो जाती है। -अभयदेवसूरी, प्रश्नव्याकरण वृत्ति

४. पदार्थों में आवश्यक रूप से जो जिस प्रकार होना होता है उसकी प्रयोजककर्त्री नियति होती है। -आचारांग सूत्र, शीलांक टीका
५. जिस जीव को जिस समय, जहाँ जिस प्रकार के सुख-दुःख का अनुभव करना होता है। वह संगति कहलाती है। यह संगति ही नियति है

- सूत्रकृतांग एवं उसकी शीलांक टीका

द्वादशारण्यचक्र पाँचवीं शती की महत्त्वपूर्ण रचना है। जिसमें मल्लवादी क्षमाश्रमण एवं उसके टीकाकार सिंहसूरि ने नियतिवाद के स्वरूप पर निम्नानुसार प्रकाश डाला है-

१. नियतिवाद में पुरुष के कर्तृत्व को स्वीकार नहीं किया जाता। उसके अनुसार पुरुष न स्वतंत्र है और न ज्ञाता।
२. नियति ही एक मात्र कारण है जिसको स्वीकार करने पर पदार्थों के सदृश या विसदृश कार्यों के घटित होने में कोई व्याघात नहीं आता है।
३. नियति उत्पद्यमान पदार्थों से भिन्न नहीं है, अपितु भेद बुद्धि से उत्पन्न होने वाले पदार्थों में भी नियति की अभिन्नता रहती है। क्रिया और क्रियाफल रूप सभी नियतियों में अभेद होता है।
४. एक ही नियति से द्रव्य, क्षेत्र, काल एवं भाव की अपेक्षा से विभिन्न स्वरूप प्रकट होते हैं। अपेक्षा से वह द्रव्य-नियति, क्षेत्र-नियति, काल-नियति और भाव-नियति से जानी जा सकती है।
५. नियति एक होकर भी भिन्न-भिन्न कार्यों को करने में समर्थ होती है तथा अनेक रूप होने पर कार्य और कारण से वह अभिन्न होती है।
६. यदि कहीं उत्पत्ति आदि में अनियम देखा जाता है तब भी वहाँ नियति को ही कारण मानना चाहिए।
७. नियति को स्वीकार करने पर कोई अभिमान शेष नहीं रह जाता।

सिद्धसेन विरचित नियति द्वात्रिंशिका एवं विजयलावण्यसूरिरचित टीका और मुनि भुवनचन्द्र रचित गुजराती व्याख्या के आधार पर नियतिवाद की निम्नांकित मान्यताएँ अभिव्यक्त हुई हैं-

१. सर्वसत्त्वों के स्वभाव की नियतता है।

६१८ जैनदर्शन में कारण-कार्य व्यवस्था : एक समन्वयात्मक दृष्टिकोण

२. बुद्धि के धर्म आदि आठ अंग नियति से नियमित हैं।
३. नियतिवाद के अनुसार जीव का स्वरूप चैतन्य है तथा क्रोध, मोह, लोभ आदि ज्ञान लक्षण रूप स्वभाव जिसका है वह चैतन्य है।
४. नियतिवाद में पाँच इन्द्रियाँ और मन मान्य हैं। मन अहं के द्वारा नियत है तथा प्रत्येक शरीर में पृथक्-पृथक् रूप से रहता है।
५. नरक, स्वर्ग आदि के दुःख-सुख नियत हैं।
६. ज्ञान भी नियत है तथा उच्च कुलीनों का स्वभाव भी नियत है।
७. नियतिवाद के अनुसार आकाश, काल, सुख-दुःख, जीव-अजीव आदि तत्त्व मान्य हैं।
८. नियतिवादियों को प्रत्यक्ष और अनुमान प्रमाण मान्य हैं।
९. शरीर आदि का कर्ता आत्मा नहीं है।
१०. जगद्वैचित्र्य की सिद्धि नियतिवाद के बिना नहीं हो सकती।
११. नियति आदि से नियमित उपादान ही सत्कार्य में व्यापार करता है। यह नियति ही कार्य की निमित्त होती है।

हरिभद्रसूरि(८वीं शती) तथा उनके टीकाकार यशोविजय(१७वीं शती) ने नियतिवाद के स्वरूप में कहा है-

१. नियतिजन्यता प्रत्येक वस्तु का साधारण धर्म है। सभी पदार्थ नियति से उत्पन्न होते हैं।-शास्त्रवार्ता समुच्चय
२. नियति प्रमाण से सिद्ध है, क्योंकि जगत् में नियति के स्वरूप के अनुसार ही घटादि कार्यों की उत्पत्ति देखी जाती है। नियति रूप विशिष्ट कार्य की उत्पत्ति ही नियति की सत्ता में प्रमाण है।
३. नियति के बिना मूंगों का पकना भी संभव नहीं है।
४. कार्य को यदि नियतिजन्य नहीं मानेंगे तो कार्य में नियतरूपता का कोई नियामक नहीं बनेगा। नियामकता के अभाव में उत्पन्न होने वाले कार्यों में सर्वात्मकता की आपत्ति आ जाएगी।

उपाध्याय यशोविजय ने नयोपदेश में कहा है कि- नियतिवादी का मन्तव्य है कि मुक्ति तो होती है, किन्तु उसका कोई उपाय नहीं है। वह अकस्मात् ही होती है।

जैन दार्शनिकों ने नियतिवाद के निरसन में अनेक तर्क दिए हैं। कुछ प्रमुख तर्क इस प्रकार हैं—

१. आगम का मन्तव्य है कि पूर्वकृत कर्म एवं पुरुषार्थ भी व्यक्ति के सुख-दुःख में हेतु होते हैं।
२. यदि नियतिवाद को स्वीकार किया जाए तो परलोक के लिए की गई जीव की क्रियाएँ व्यर्थ हो जायेंगी। किन्तु पुरुषार्थ को व्यर्थ नहीं माना जा सकता।
३. नियति स्वतः नियन्त्रित है या किसी अन्य से नियन्त्रित है।
४. उपासकदशांग सूत्र में उत्थान, कर्म, बल, वीर्य, पुरुषार्थ, पराक्रम आदि के महत्त्व का स्थापन करते हुए भगवान महावीर ने गोशालक के नियतिवाद का निरसन किया है।
५. पुरुषकार का अपलाप करने वाला नियतिवाद मृषा एवं प्रमाणातीत है।

- प्रश्नव्याकरण की ज्ञानविमलसूरिकृत टीका

६. नियति अचेतन है और अचेतन कर्ता कहीं भी उपलब्ध नहीं होता है। वह किसी के आश्रित ही हो सकता है, अनाश्रित नहीं।

- प्रश्नव्याकरण की ज्ञानविमलसूरिकृत टीका

७. नियति के सर्वात्मक होने से सदैव सब वस्तुएँ सब आकार वाली हो जायेंगी तथा उनमें पूर्व-पश्चात् और युगपत् का व्यवहार संभव नहीं होगा।

- द्वादशारनयचक्र

८. नियति को स्वीकार करने पर हित की प्राप्ति और अहित के परिहार के लिए आचार का उपदेश निरर्थक हो जाएगा। - द्वादशारनयचक्र

हरिभद्रसूरि ने शास्त्रवार्ता समुच्चय में तथा उनके टीकाकार यशोविजय ने स्याद्वादकल्पलता टीका में नियति के निरसन में निम्नांकित तर्क दिए हैं, जिनका सार इस प्रकार है—

१. नियति की एकरूपता असंभव है।
२. नियति को स्वीकार करने पर उसकी सर्वहेतुता का लोप उपस्थित होता है। सर्वहेतुता से आशय है सभी वस्तुओं का एक हेतु नियति।
३. अन्य भेदक के बिना नियति से वैचित्र्य की कल्पना अनुपयुक्त है।

सन्मतितर्क के टीकाकार अभयदेवसूरि ने नियतिवाद के निरसन में अनेक हेतु दिए हैं-

१. ज्ञान को उत्पन्न करने वाली नियति अज्ञान को उत्पन्न नहीं कर सकती।
२. नियतिवाद को स्वीकार करने पर अनियम में कारण का अभाव है।
३. नियति नित्य भी नहीं हो सकती और अनित्य भी।
४. स्वात्मनिक्रियाविरोध के कारण नियति स्वयं को उत्पन्न करने में समर्थ नहीं है।
५. काल आदि अन्य कारणों का निषेध मानने पर निर्हेतुक नियति की उत्पत्ति मानना उचित नहीं है।

धर्मसंग्रहणि टीका में आचार्य मलयगिरि ने नियतिवाद के निरसन में दो हेतु दिए हैं-

१. नियति के अतिरिक्त कारण को अंगीकृत किये बिना जगत् की विचित्रता संभव नहीं है।
२. नियति से भिन्न भेदक कारणों को स्वीकार करने पर जगत् की विचित्रता में अन्योन्याश्रय दोष आता है।

आधुनिक युग में बीसवीं शती के जैनाचार्य श्री आत्माराम जी महाराज ने नियति के संबंध में भाव-अभाव रूप, एक-अनेक रूप, नित्य-अनित्य रूप विकल्पों के माध्यम से नियतिवाद का निरसन करते हुए नियति में व्यतिरेक को असंभव सिद्ध किया है तथा नियति की एकरूपता, अनेकरूपता के साथ अभावरूपता का भी खण्डन किया है।

जैन दर्शन में भी कथंचित् नियति का प्रवेश है। जैन दर्शन में कथंचित् नियति को स्वीकार करते हुए काललब्धि, सर्वज्ञता और क्रमबद्धपर्याय को एकान्त नियतिवाद से पृथक् सिद्ध किया गया है, क्योंकि जैन दर्शन में नियति को कारण मानते हुए भी उसमें काल, स्वभावादि अन्य कारणों को भी स्थान दिया गया है।

पंचम अध्याय में पूर्वकृत कर्मवाद की चर्चा है। पूर्वकृत कर्मवाद के अनुसार जीव के द्वारा किये गए कर्मों का ही फल सुख-दुःख आदि के रूप में प्राप्त होता है तथा यही जगत् की विचित्रता का कारण है। अपने-अपने कृत कर्मों के कारण ही जीव विभिन्न योनियों में परिभ्रमण करते हैं तथा कर्मों की भिन्नता के आधार पर भिन्न-भिन्न शरीर ग्रहण करके अपने कृत कर्मों का फल भोग करते हैं।

भारतीय चिन्तन में पूर्वकृत कर्मवाद की जड़े गहरी हैं। वैदिक वाङ्मय तथा बौद्ध और जैन ग्रन्थ इसके साक्षी हैं। कर्मवाद का प्रतिपादन करने वाले ग्रन्थ जैन दर्शन में स्वतन्त्र रूप से उपलब्ध हैं, किन्तु एकान्त कर्मवाद के पोषक ग्रन्थ न तो प्राप्त होते हैं और न ही उनका उल्लेख मिलता है। जैन दार्शनिकों ने पंच समवाय का प्रतिपादन करते हुए पूर्वकृत कर्मवाद को तो अंगीकार किया है, किन्तु उसकी एकान्त कारणता का प्रतिषेध किया है।

वैदिक संहिताओं में शुभ-अशुभ कर्मों को व्यक्त करने वाले शुभस्पतिः, धियस्पतिः, विचर्षणिः, विश्वचर्षणिः, 'विश्वस्य कर्मणो धर्ता' आदि शब्दों व वाक्यों का प्रयोग हुआ है। उपनिषदों में कर्मवाद पर दार्शनिक चिन्तन उपलब्ध है। बृहदारण्यकोपनिषद्, कठोपनिषद्, तैत्तिरीयोपनिषद् ऐतरेयोपनिषद्, छान्दोग्योपनिषद् आदि उपनिषदों में कर्म के अनुसार फल प्राप्ति की पुष्टि करने वाले वाक्य समुपलब्ध हैं। संन्यासोपनिषद् में कहा गया है- 'कर्मणा बध्यते जन्तुर्विद्याया च विमुच्यते'।^{१३} ब्रह्मबिन्दूपनिषद् में मन को बंधन एवं मोक्ष का कारण निरूपित किया गया है- 'मन एव मनुष्याणां कारणं बंधमोक्षयोः।'^{१४} उपनिषद् वाङ्मय में कर्म के बंधन पुनर्जन्म और मोक्ष आदि का सम्यक् प्रतिपादन है।

पुराणों में पूर्वकृत कर्म का दैव या भाग्य के रूप में निरूपण है। आदिकाव्य रामायण में कर्म सिद्धान्त पूर्णतः स्थापित है- 'यादृशं कुरुते कर्म तादृशं फलमश्नुते'^{१५} महाभारत में धर्मानुकूल आचरण को पुण्य तथा उससे प्रतिकूल आचरण को पाप की संज्ञा दी गई है। पूर्वजन्म या पुनर्जन्म की मान्यता को भी महाभारत में स्थान दिया गया है।

भगवद्गीता में कर्म-संबंधी मान्यताओं को सहज ढंग से विवेचित एवं विश्लेषित किया गया है। गीता का कथन है कि फलेच्छा की आसक्ति रखने वाला पुरुष सदा कर्मों से बंधता है और अनासक्त भाव से कर्म करने वाला पुरुष नैष्ठिक शान्ति को प्राप्त करता है। गीता में मनुष्य को स्वतंत्र रूप से कर्म करने का अधिकारी तो माना गया है, किन्तु फल को ईश्वराधीन बताया गया है। 'वासांसि जीर्णानि यथविहाय'^{१६} श्लोक पुनर्जन्म के सिद्धान्त को पुष्ट करता है।

संस्कृत साहित्य के विभिन्न ग्रन्थों में दैव, भाग्य या कर्म सिद्धान्त की पुष्टि हुई है। शुक्रनीति में पूर्वजन्म में किये हुए कर्म को भाग्य और इस जन्म में किये जाने कर्म को पुरुषार्थ कहा है।^{१७} स्वप्नवासवदत्त में 'कालक्रमेण जगतः परिवर्तमाना चक्रारपंक्तिरिव गच्छति भाग्यपंक्तिः'^{१८} तथा मेघदूत में 'नीचैर्गच्छत्युपरि च

६२२ जैनदर्शन में कारण-कार्य व्यवस्था : एक समन्वयात्मक दृष्टिकोण

दशाचाक्रनेमिऋमेण^{३०} वाक्य पूर्वकृतकर्म रूपी भाग्य की पुष्टि करते हैं। पंचतन्त्र, हितोपदेश और नीतिशतक भी दैव या पूर्वकृतकर्म सिद्धान्त के पोषक हैं। नीतिशतक में समस्त सृष्टि के संचालन को कर्म के अधीन प्रतिपादित करते हुए कर्म को नमन किया गया है- 'नमस्तत्कर्मभ्यो विधिरधि न येभ्यः प्रभवति'^{३१}

योगवासिष्ठ में दैव और पुरुषार्थ की विस्तृत चर्चा है। पुरुषार्थ द्वारा फल की प्राप्ति को दैव स्वीकार किया गया है तथा दैव की अपेक्षा पुरुषार्थ की प्रबलता अंगीकार की गई है।

न्यायदर्शन में कर्म को अदृष्ट के रूप में निरूपित किया गया है। सांख्य दर्शन में धर्म से ऊपर के लोकों में गमन तथा अधर्म से अधोलोक में गमन अंगीकार किया गया है। मीमांसा दर्शन में प्रतिपादित अपूर्व सिद्धान्त को कर्म-सिद्धान्त का पर्याय कहा जा सकता है। बौद्ध दर्शन में कर्म को चैतसिक कहते हुए उसे चित्त के आश्रित माना गया है। कर्म के वहाँ मानसिक, वाचिक और काथिक तीन भेद अंगीकृत हैं, जिन्हें त्रिदण्ड भी कहा गया है। वेदान्त दर्शन के अनुसार बंधन का मूल कारण अविद्या या अज्ञान है। योगदर्शन में क्लिष्ट वृत्ति के संस्कार को ही कर्म बंधन के हेतु माना गया है। योग सूत्र में जाति, आयु और भोग के रूप में कर्म विपाक की त्रिविधता निरूपित है।

कर्म-सिद्धान्त का सबसे अधिक व्यवस्थित निरूपण जैन दर्शन में उपलब्ध है। यह जैन दर्शन का प्रमुख सिद्धान्त है। कर्म सिद्धान्त या कर्मवाद से सम्बद्ध जैन दर्शन में विपुल साहित्य है। श्वेताम्बर परम्परा में प्रज्ञापना सूत्र, व्याख्याप्रज्ञप्ति सूत्र, स्थानांग सूत्र, उत्तराध्ययन सूत्र आदि आगम साहित्य के अतिरिक्त कम्मपयडि, ६ कर्म ग्रन्थ, पंच संग्रह आदि अनेक ग्रन्थ उपलब्ध हैं। दिगम्बर परम्परा में षट्खण्डागम, कसायपाहुड, गोम्मटसार आदि ग्रन्थ अपना अप्रतिम स्थान रखते हैं।

जैन दर्शन में कर्म-सिद्धान्त का जितना व्यवस्थित एवं व्यापक निरूपण उपलब्ध होता है उतना किसी अन्य दर्शन में नहीं। जैन मान्यतानुसार कर्मों के कारण ही जीव संसार में परिभ्रमण करता है। कर्मों का पूर्ण क्षय ही मोक्ष का स्वरूप है। जैनदर्शन में आठ कर्म प्रतिपादित हैं- ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय मोहनीय, आयुष्य, नाम, गोत्र और अन्तराय। इन आठ कर्मों का स्वरूप इनके बंध के हेतुओं आदि का जैन साहित्य में विशद प्रतिपादन हुआ है। कर्म के बंधन में मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग की भूमिका स्वीकार की गई है। इन पाँच बन्ध हेतुओं में भी योग और कषाय को अधिक महत्त्व दिया गया है।

बन्ध के चार प्रकार हैं- प्रकृति बंध, स्थिति बंध, अनुभाग बंध और प्रदेश बंध। कर्म के स्वभाव को प्रकृति, उसकी फल प्रदान करने की अवधि को स्थिति, फलदान शक्ति को अनुभाग और बद्ध कर्म-पुद्गल परिमाण को प्रदेश बंध के रूप में मान्य किया गया है।

कर्म-सिद्धान्त के संबंध में विशेषावश्यक भाष्य एवं विभिन्न ग्रन्थों के आधार पर इस अध्याय में जो चर्चा की गई है, उसमें से कतिपय बिन्दु निष्कर्षतः इस प्रकार हैं-

१. आत्मा अमूर्त है और कर्म मूर्त। इन दोनों का संयोग अनादि है, किन्तु मोक्ष प्राप्ति के समय इनका वियोग संभव है।
२. मूर्त कर्म का अमूर्त आत्मा के साथ संबंध संभव है। जिस प्रकार घट मूर्त होते हुए भी उसका संयोग संबंध अमूर्त आकाश से होता है उसी प्रकार मूर्त कर्म का अमूर्त आत्मा से संयोग संभव है। मूर्त कर्म का अमूर्त आत्मा के साथ संबंध होने के प्रश्न पर कुछ दार्शनिकों का समाधान है कि कर्म से युक्त आत्मा कथंचित् मूर्त है। कर्मबंधन से वियुक्त होने पर उसका अमूर्त स्वरूप प्रकट हो जाता है।
३. कर्म का कर्ता और भोक्ता जीव है। जीव के सुख-दुःख स्वयंकृत हैं, परकृत नहीं।
४. कर्म के फल का संविभाग दूसरा नहीं कर सकता अर्थात् एक जीव के द्वारा किये गये कर्म का फल उसे ही भोगना होता है। दूसरा उसे नहीं बाँट सकता।
५. कर्मबंध के सामान्य हेतु मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग के होने पर भी प्रत्येक कर्म के बंध के अपने विशिष्ट हेतु भी हैं, जिनका निरूपण तत्त्वार्थसूत्र आदि ग्रन्थों में स्पष्टतः हुआ है।
६. शुभ कर्म पुण्य और अशुभ कर्म पाप कहे जाते हैं। दूसरे शब्दों में विशुद्धि को पुण्य और संक्लेश को पाप कहा गया है।
७. सुख-दुःख की अनुभूति, देहान्तर प्राप्ति चेतन की क्रिया फलवती होने से कर्मों की सिद्धि होती है। सुख एवं शुभ देहादि कार्य से उसके कारणभूत पुण्य कर्म का तथा दुःख अशुभ देहादि कार्य से उसके कारणभूत पाप कर्म का अस्तित्व सिद्ध होता है।

८. अपने भाग्य का निर्माण जीव स्वयं करता है तथा वही उसमें अपने पुरुषार्थ के द्वारा कथंचित् परिवर्तन भी कर सकता है।
९. कर्मों का बंध भले ही अनादि हो, किन्तु उनका अन्त संभव है। समस्त अष्टविध कर्मों का क्षय होने पर मोक्ष होता है- 'कृत्स्नकर्मक्षयो मोक्षः'^{१२}
१०. कर्म मूर्त है क्योंकि उसका कार्य शरीरादि मूर्त है। वह इसलिए भी मूर्त है क्योंकि उससे संबंध होने पर सुख-दुःखादि का अनुभव होता है। मूर्त होने के साथ वह परिणामी भी है।
११. कर्मों का फल प्रदान करने के लिए किसी ईश्वर को स्वीकार करने की आवश्यकता नहीं है। आत्मा से चिपके हुए कर्मपुद्गल उदय में आकर फल प्रदान करते हैं।
१२. कर्म की दश अवस्थाएँ स्वीकार की गई हैं-बंध, उदय, उदीरणा, सत्ता, उद्वर्तना, अपवर्तना, संक्रमण, उपशमन, निधत्ति और निकाचन। इन्हें दश कारण भी कहा गया है। कर्म सिद्धान्त में इन दश अवस्थाओं का विशेष महत्त्व है।
१३. प्रायः भारतीय दर्शन में यह माना जाता है कि जीव ने जिस प्रकार के कर्मों का अर्जन किया है उसे उनका वैसा ही फल भोग करना पड़ता है। जैन दर्शनानुसार पूर्वबद्ध कर्मों का उत्कर्षण, अपकर्षण और संक्रमण संभव है। पहले बाँधे गए कर्मों की फलदान अवधि अर्थात् स्थिति को वर्तमान के शुभाशुभ परिणामों से घटाया या बढ़ाया जा सकता है। वर्तमान के शुभ परिणामों के द्वारा पूर्वबद्ध पाप कर्मों की स्थिति घटती है तथा पुण्य कर्मों की स्थिति बढ़ती है। घटने को अपकर्षण या अपवर्तन तथा बढ़ने को उत्कर्षण या उद्वर्तन कहा जाता है। इसी प्रकार कर्मों की फलदान शक्ति अर्थात् अनुभाव या अनुभाग में भी शुभाशुभ परिणामों से पूर्वबद्ध कर्मों में उत्कर्षण एवं अपकर्षण संभव है। पूर्वबद्ध कर्मों का वद्ध्यमान कर्मों में वर्तमान के भावों के अनुसार संक्रमण संभव है। इस प्रकार जैन दर्शन का मन्तव्य है कि पूर्वबद्ध कर्मों को उसी रूप में भोगना अनिवार्य नहीं है। उनमें यथोचित परिवर्तन भी संभव है। कुछ ही कर्म ऐसे हैं जिन्हें निकाचित कर्म कहा जाता है, उनमें परिवर्तन किसी भी प्रकार संभव नहीं होता।

जैन दर्शन में 'कर्म सिद्धान्त' की प्रधानता होते हुए भी एकान्त कर्मवाद का द्वादशारनयचक्र, शास्त्रवार्ता समुच्चय और सन्मति तर्क की तत्त्वबोधविधायिनी टीका में जैनाचार्यों ने उपस्थापन एवं निरसन किया है। आचारांग सूत्र एवं उसकी शीलांक टीका में भी एकान्त कर्मवाद का उपस्थापन हुआ है, यथा-

१. जगत् की विचित्रता का कारण कर्म है। कर्मवाद के द्वारा कालवादी, यदृच्छावादी, नियतिवादी, ईश्वरवादी और आत्मवादी निरस्त हो जाते हैं।
२. पुरुषकार या पुरुषार्थ के द्वारा भी जब कार्य की सिद्धि नहीं होती है तब पूर्वकृत कर्म ही कारण के रूप में सिद्ध होता है। पुरुषकार के होते हुए भी कार्य की असिद्धि देखी जाती है, इसलिए सिद्धि-असिद्धि के पीछे कोई न कोई दूसरा कारण है जो कर्म है।
३. कार्य की भिन्नता से कारण की भिन्नता का बोध होता है और इस भिन्नता का प्रवर्तक कारण कर्म ही है।
४. कर्म से आविष्ट पुरुष उसी प्रकार अस्वतन्त्र या परवश है जिस प्रकार वेताल से आविष्ट शव।
५. पुरुषार्थवादी शंका करते हैं कि कर्म को सहायक कारण के रूप में पुरुषार्थ की अपेक्षा रहती है। कर्मवादी इसका समाधान देते हुए कहते हैं कि जो पुरुषकार होता है वह भी धर्म या अधर्म स्वरूप फल प्रदान करने के कारण कर्म ही है।
६. भोक्ता को भोग्य पदार्थ स्वकृत कर्म के अनुसार ही मिलते हैं अतः भोग्य पदार्थ की प्राप्ति से पुरुष के कर्मों की सिद्धि स्वतः हो जाती है।
७. जीवों का पूर्वार्जित कर्म ही जगत् का उत्पादक होता है। *जगद्धेतुत्वं कर्मण्येव, इतरेषां पराभिमतहेतूनां व्यभिचारित्वादिति भावः*।^{१३} अर्थात् जगत् की कारणता जीव के कर्मों में ही है।
८. भोक्ता के अनुकूल कर्म के अभाव में मूंग का पकना भी नहीं देखा जाता। कभी-कभी दृष्ट कारण का अभाव होने पर भी आकस्मिक धन लाभ देखा जाता है। उसका कारण अदृष्ट कर्म ही है।
९. काल विपाक होने पर कोई भोग्य सामग्री की उपलब्धि स्वीकार करते हैं किन्तु वस्तुतः वह काल भी कर्म का ही अंगभूत है।

१०. भोग्य पदार्थ भिन्न-भिन्न हैं इसलिए उनके कारण रूप कर्म भी भिन्न-भिन्न हैं। यदि कर्म को भिन्न-भिन्न नहीं मानेंगे तो भोग्य पदार्थों की भिन्नता नहीं हो सकेगी।
११. पूर्वकृत कर्म का फल खजाने में स्थित धन की भाँति होता है, जो समय आने पर उपस्थित होता है। इसी प्रकार हाथ में रखे हुए दीपक के समान बुद्धि की प्रवृत्ति भी पूर्वकृत कर्मानुसार ही होती है।

एकान्त कर्मवाद के निरसन में जैनाचार्यों ने जो तर्क दिए हैं, उनमें से कतिपय प्रमुख तर्क निष्कर्षतः इस प्रकार हैं-

१. कर्मवादी कर्म को कारण मानते हैं जबकि वह कर्ता का कार्य भी है। 'कर्तुरीप्सिततमं कर्म' लक्षण से जो कर्म का स्वरूप प्रकट होता है उससे कर्म के निर्विवाद रूप से कृतक होने के कारण वह कर्ता का ही कार्य सिद्ध होता है और वह कर्ता पुरुष या आत्मा है।
२. कर्म-शक्ति की स्वतंत्रता का कोई स्वरूप नहीं है। उत्पन्न होने वाले अथवा क्रियमाण कर्म को पृथक्भूत पुरुष या आत्मा का आश्रय लेना होता है।
३. यदि पुरुषार्थ का महत्त्व नहीं है एवं कर्म से ही सबकुछ होता है तो समस्त शास्त्र की व्यर्थता का प्रसंग उपस्थित होता है। आत्मा और कर्म में परिणाम और परिणामक भाव पाया जाता है।
४. कर्म की प्रवृत्ति का कर्ता आत्मा है।
५. यदि अदृष्ट कर्म को सर्वत्र कारण माना जाय तो मोक्ष के अभाव की आपत्ति होगी, क्योंकि मोक्ष कर्मजन्य नहीं होता है और एकान्त कर्मवाद में कर्म से भिन्न किसी कारण को नहीं माना जाता।
६. अदृष्ट कर्म को कारण मानने से अनवस्था दोष उपस्थित होगा। घटादि कार्यों के प्रति कुलालादि कारण का होना प्रत्यक्ष से प्रतीयमान है। इसका परिहार करते हुए अन्य अदृष्ट कारणों की कल्पना करना तथा फिर उसका परिहार करने के लिए उससे भी भिन्न अदृष्ट कारण की कल्पना करना अनवस्था दोष को उत्पन्न करना है।
७. कर्म से जगत् की विचित्रता संभव नहीं है, क्योंकि कर्म कर्ता के अधीन है। एक स्वभाव वाले कर्म से जगत् की विचित्रता रूपी कार्य नहीं हो सकता। यदि कर्म को अनेक स्वभाव वाला स्वीकार किया जाए तो

पुरुषकार, स्वभावादि अनेक कारणों को मानने में और इस कर्म को मानने में नाममात्र का भेद रह जाएगा।

८. आत्मा कर्म का आलम्बन है, उस आलम्बन के बिना कर्म अपना कार्य नहीं कर सकता। चेतन से अनिधिष्ठित कर्म वास्यादि की भाँति है, जिसका कोई अधिष्ठायक होना चाहिए। अधिष्ठायक को स्वीकार करते ही एकान्त कर्मवाद खण्डित हो जाता है।

निष्कर्ष यह है कि जैन दर्शन में कर्म-सिद्धान्त एक प्रमुख सिद्धान्त के रूप में विवेचित होने पर भी जैन दार्शनिक उसकी एकान्त कारणता से असहमत हैं। वे पूर्वकृत कर्मों के साथ काल, स्वभाव, नियति और पुरुषार्थ को भी कथंचित् महत्त्व देते हैं।

षष्ठ अध्याय में पुरुष के जगत्प्लष्टा-स्वरूप का निरसन एवं पुरुषकार/पुरुषार्थ की कारणता का कथञ्चित् स्वीकार है। जैनदर्शन में मान्य 'पंच समवाय' सिद्धान्त में पुरुषकार या पुरुषार्थ का अप्रतिम स्थान है। आधुनिक मान्यतानुसार पंच समवाय में काल, स्वभाव, नियति एवं कर्म के साथ पुरुषार्थ का समावेश किया जाता है। यह उपयुक्त ही है, क्योंकि जैनदर्शन श्रमणसंस्कृति का प्रतिनिधिदर्शन है जिसमें 'श्रम' का महत्त्व निर्विवाद है। यह श्रम दुःखमुक्ति के लिए करणीय साधना को इंगित करता है। इस श्रम में संयम एवं तप की साधना का समावेश है। आगम वाङ्मय में एतादृक् पुरुषार्थ के पोषक अनेक उद्धरण सम्प्राप्त हैं।

आत्मकृत कर्म के अनुसार फलप्राप्ति को स्वीकार करने वाले आत्म-स्वातन्त्र्यवादी जैनदर्शन में उत्थान, कर्म, बल, वीर्य, पुरुषकार एवं पराक्रम आदि के रूप में पुरुषार्थ की महत्ता स्थापित हो यह स्वाभाविक है, तथापि इस अध्याय में पुरुषवाद एवं पुरुषार्थवाद का पृथक् रूप प्रस्तुत किया गया है। सिद्धसेनसूरि की गाथा (सम्मतितर्क ३.५३) में 'पुरिसे' शब्द का प्रयोग हुआ है। इस गाथा में प्रयुक्त 'पुरिसे' शब्द का टीकाकार शीलाने ने 'पुरुष' अर्थ करके पुरुषवाद की चर्चा की है। पुरुषवाद के अनुसार जगत् का स्रष्टा परम पुरुष है जो सर्वव्यापक है, नित्य है, सर्वज्ञ है और एक है। इस पुरुषवाद का जैन दार्शनिक निरसन करते हैं।

हरिभद्रसूरि ने 'पुरिसे' के स्थान पर 'पुरिसकिरियाओ' (पुरुषक्रिया) शब्द का प्रयोग किया है, जो धीरे-धीरे पुरुषकार एवं पुरुषार्थ के रूप में प्रयुक्त होने लगा। जैन दर्शन के फलक पर यह पुरुषक्रिया, पुरुषकार या पुरुषार्थ शब्द का प्रयोग अधिक समीचीन है।

‘पुरुषवाद’ के बीज ऋग्वेद के पुरुषसूक्त में उपलब्ध हैं। इसमें ऐसे पुरुष की कल्पना की गई है जो सहस्र शिरों, सहस्र भुजाओं वाला, सहस्र नेत्रों वाला और सहस्र पैरों वाला है। वह सम्पूर्ण जगत् को व्याप्त किये हुए है। पुरुष सूक्त का एक मंत्र प्रसिद्ध है-

पुरुष एवेदं सर्वं यद् भूतं यच्च भाव्याम्।

उतामृतत्वस्येश्वरो यदन्येनाभवत् सह।।^{३४}

उपनिषद् वाङ्मय में भी पुरुषवाद की मान्यता का समर्थन प्राप्त होता है। ऐतरेयोपनिषद्, छान्दोग्योपनिषद्, मुण्डकोपनिषद्, तैत्तिरीयोपनिषद्, प्रश्नोपनिषद् आदि उपनिषदों में पुरुषवाद वर्णित है। कहीं ब्रह्मवाद के रूप में उसका वर्णन किया गया है। तैत्तिरीयोपनिषद् में कहा गया है - यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति। यत्प्रयन्त्याभिसंविशन्ति। तद्विजिज्ञास्व। तद् ब्रह्मेति।।^{३५}

उपनिषदों में ब्रह्म से जगत् की उत्पत्ति का विवेचन अधिक हुआ है। जो पुराणों में परिवर्धित हुआ है। हरिवंश पुराण में भगवान् नारायण को ब्रह्म से उत्पन्न स्वीकार किया गया है। देवी भागवत पुराण में अद्वैत ब्रह्म का निरूपण करते हुए उसे नित्य और सनातन बताया है तथा यह भी कहा गया है कि जब वह विश्व की रचना में तत्पर होता है तब वह अनेक रूप हो जाता है। महाभारत में अविनाशी परमात्मा से आकाश, आकाश से वायु, वायु से अग्नि और अग्नि से जल तथा जल से पृथ्वी की उत्पत्ति निर्दिष्ट है। भगवद् गीता में श्री कृष्ण अर्जुन से कहते हैं- ‘कीजं मां सर्वभूतानां विद्धि पार्थ सनातनम्’।^{३६} रामायण और मनुस्मृति में भी सृष्टि रचना का इसी प्रकार निरूपण हुआ है। मनुस्मृति में स्वयंभू परमात्मा से पृथ्वी, जल, तेज, वायु एवं आकाश की उत्पत्ति प्रतिपादित है।

जैनागम सूत्रकृतांग में देव, ब्रह्म, ईश्वर और स्वयंभू के द्वारा जगत् के निर्माण की चर्चा है। जैनाचार्यों ने पुरुषवाद, ब्रह्मवाद और ईश्वरवाद तीनों का निरूपण एवं निरसन किया है। पुरुषवाद का ही विकास ब्रह्मवाद एवं ईश्वरवाद में हुआ है।

द्वादशारनयचक्र में मल्लवादी क्षमाश्रमण ने, विशेषावश्यकभाष्य में जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण ने तथा सन्मतितर्क टीका में अभयदेव सूरि ने पुरुषवाद का उपस्थापन एवं निरसन किया है।

पुरुषवाद के निरसन में मल्लवादी क्षमाश्रमण, जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण, अभयदेवसूरि के तर्कों का संक्षेप इस प्रकार है-

१. द्वादशारण्यचक्र में मल्लवादी कहते हैं कि पुरुष की जाग्रत, सुप्त, सुषुप्ति और तूर्य नामक चार अवस्थाएँ निरूपित की गई हैं। उनमें पुरुष तत्त्व इन चार अवस्थाओं के लक्षण वाला है अथवा ये चार अवस्थाएँ पुरुषादि के लक्षण वाली हैं? यदि चार अवस्थाएँ स्वयं ही पुरुष हैं तो इन अवस्थाओं से भिन्न किसी पुरुष की सिद्धि नहीं होती। चार अवस्थाओं का समुदाय ही यदि पुरुष है तो यह समुदायवाद मात्र रह जाएगा, पुरुषवाद नहीं।
२. यदि तूर्य अवस्था के प्रतिपादन के लिए इन चार अवस्थाओं का क्रम स्वीकार किया गया है तो इन अवस्थाओं के क्रमिक होने से क्षणिकवाद की आपत्ति आती है।
३. चार अवस्थाओं के चार ज्ञानों की कल्पना करने से कल्पना ज्ञान मात्र ही सत्य रह जाएगा तथा उनका आभास कराने वाली बाह्य वस्तु जैसे स्वप्न में नहीं होती है वैसे नहीं रहेगी। इस प्रकार विज्ञान के अतिरिक्त पदार्थों का शून्यवाद उपस्थित हो जाएगा।
४. यदि यह पुरुष चार अवस्थाओं से एक अवस्था मात्र स्वरूप वाला है तो अन्य अवस्थाओं का अभाव हो जायेगा यदि प्रत्येक अवस्था में विनिद्रा अवस्था की सर्वात्मकता है तो तृण आदि भी सर्वात्मक या सर्वगत हो जायेंगे। फिर पुरुष की एकत्व की कल्पना से क्या लाभ?
५. पुरुष की स्वात्मा ही उसकी अवस्था है। यदि अवस्था नहीं है तो पुरुष नहीं है। यदि पुरुष की अवस्था को स्वीकार भी किया जाय तो पुरुष की चार अवस्थाओं की एकता सिद्ध होती है।
६. पुरुष की अद्वैतता असिद्ध है।
७. जब पुरुष की लक्षण स्वरूप विनिद्रा अवस्था पुरुष नहीं है तथा अन्य अवस्थाएँ भी पुरुष नहीं है तो इससे पुरुष का अभाव सिद्ध होता है।
८. जब पुरुष का ही अभाव है तो सर्वगतता कैसे होगी?
९. विशेषावश्यक भाष्य में जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण ने 'पुरुषेवेदं सर्वं' वेद वाक्य को अर्थवाद वाक्य बताकर उसका निरसन किया है।
१०. सन्मति तर्क टीका में अभयदेवसूरि ने जगदुत्पत्ति में पुरुष की कारणता पर आक्षेप करते हुए कहा है कि पुरुष को जगत् की स्थिति, सर्ग और प्रलय का कारण मानना उसी प्रकार असंगत है जिस प्रकार ईश्वर की जगत् हेतुता असंगत है।

११. पुरुष द्वारा जगत् की उत्पत्ति में कोई उद्देश्य प्रतीत नहीं होता। यदि वह अन्य पुरुष या ईश्वर आदि की प्रेरणा से जगत् रचना में प्रवृत्त होता है तो उसमें अस्वतन्त्रता का प्रसंग आ जाएगा।
१२. यदि वह अनुकम्पा से दूसरों का उपकार करने के लिए जगत् की रचना करता है तो दुःखी प्राणियों को उत्पन्न नहीं किया जा सकता।
१३. यदि उनके कर्मों का क्षय करने के लिए दुःखी प्राणियों को उत्पन्न किया जाय तो इसमें उन जीवों के द्वारा कृत कर्मों की अपेक्षा रखनी होगी।
१४. सृष्टि के पहले अनुकम्पा योग्य प्राणियों का सद्भाव नहीं रहता।
१५. क्रीड़ा से भी जगत्-रचना में पुरुष की प्रवृत्ति मानना समीचीन नहीं है। विचित्र क्रीड़ा के उपाय की वृत्ति में उस पुरुष की पहले से ही शक्ति है तो वह युगपत् ही समस्त जगत् की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय की रचना कर देगा। यदि उसके पास प्रारम्भ में शक्ति नहीं है तो क्रम से भी वह उत्पत्ति-स्थिति-प्रलय को सम्पन्न नहीं कर सकेगा।
१६. पुरुष यदि अबुद्धिपूर्वक ही जगत् निर्माण में प्रवृत्त होता है तो वह प्राकृत पुरुष से भी हीन हो जाएगा।

उपनिषद् एवं वेदान्त दर्शन में ब्रह्म से जगदुत्पत्ति स्वीकार की गई है। आचार्य प्रभाचन्द्र (११वीं शती) ने प्रमेयकमलमार्तण्ड में ब्रह्मवाद के स्वरूप का उपस्थापन एवं निरसन किया है। उन्होंने जहाँ ब्रह्मवाद की सिद्धि में प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम प्रमाण दिए हैं वहाँ ब्रह्मवाद का सबल युक्तियों से निरसन भी किया है।

पुरुषवाद से जिस प्रकार ब्रह्मवाद का विकास हुआ उसी प्रकार ईश्वरवाद का भी विकास पुरुषवाद से मानना चाहिए। महर्षि गौतम ने न्यायदर्शन में ईश्वर को सर्वशक्तिमान् और सर्वज्ञ स्वीकार किया है। ईश्वर का ज्ञान नित्य है तथा वह सभी प्रकार की पूर्णता से युक्त है। ईश्वर न बद्ध है और न मुक्त। वह स्रष्टा और पालनकर्ता होने के साथ विश्व का संहर्ता भी है। पुरुष अर्थात् जीव के कर्मों की विफलता दृष्टिगोचर होने से ईश्वर की कारणता सिद्ध होती है। प्रयत्न करता हुआ भी जीव असफल होता है, जिसमें ईश्वरेच्छा ही उसकी नियामिका होती है। उदयन ने न्यायकुसुमांजलि में ईश्वरवाद की सिद्धि में अनेक साधक प्रमाण प्रस्तुत किए हैं। उनका सबसे बड़ा तर्क है कि जगत् भी एक कार्य है, इसीलिए उसका कोई न कोई स्रष्टा होना चाहिए और वह स्रष्टा ईश्वर है।

ईश्वरवाद के निरसन में शीलांकाचार्य (९-१०वीं शती) अभयदेवसूरि (१०वीं शती), प्रभाचन्द्राचार्य (११वीं शती) और मल्लिषेणसूरि (१२९३ ई.) ने अनेक तर्क दिए हैं। सांख्यतत्त्वकौमुदीकार वाचस्पति मिश्र ने भी ईश्वरवाद का खण्डन किया है।

सूत्रकृतांग के टीकाकार शीलांकाचार्य ने ईश्वरवादियों से प्रश्न किया है कि ईश्वर स्वतः ही दूसरों को उनकी क्रियाओं में प्रवृत्त करता है या दूसरों के द्वारा प्रेरित होकर? यदि वह स्वतः दूसरों को अपनी क्रियाओं में प्रवृत्त करता है तो दूसरे भी उसी प्रकार स्वतः अपनी क्रियाओं में प्रवृत्त हो जायेंगे। बीच में ईश्वर की परिकल्पना करने से क्या लाभ? यदि ईश्वर दूसरे के द्वारा प्रेरित होकर क्रियाओं का प्रवर्तक होता है तो वह दूसरा भी किसी अन्य से प्रेरित होगा और इस प्रकार अनवस्था दोष उत्पन्न हो जाएगा। जीव के प्राक्तन शुभाशुभ कर्मों के फल प्रदाता के रूप में ईश्वर को मानने की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि कर्मों की अनादि हेतु परम्परा से फल प्राप्ति स्वतः हो जायेगी। जगत् की विचित्रता से ईश्वर की सिद्धि नहीं हो सकती। ईश्वर जब एक ही है तो समस्त जगत् का उससे एकत्व हो जाएगा। फिर कौन किसके द्वारा प्रतिपादित किया जायेगा?

अभयदेवसूरि ने सन्मति तर्क की टीका में पुरुषवाद के खण्डन में जो तर्क दिए हैं उन्हीं से ईश्वरवाद का भी खण्डन हो जाता है, यथा- १. जीवों पर अनुग्रह के लिए सृष्टि की रचना युक्तिसंगत नहीं। २. ईश्वर के द्वारा जगत् की उत्पत्ति न युगपत् हो सकती है और न क्रम से। ३. क्रीड़ा मात्र को ही जगत् की उत्पत्ति में कारण नहीं माना जा सकता। प्रभाचन्द्राचार्य ने ईश्वरवादियों के तर्क एवं प्रतितर्कों को उपस्थित कर उनका युक्तिसंगत प्रत्यवस्थान किया है।

मल्लिषेण सूरि ने स्याद्वादमंजरी में ईश्वर की जगत् कर्तृता का व्यवस्थित निरसन किया है। उनके कतिपय तर्क इस प्रकार हैं-

- i. ईश्वर ने शरीर धारण करके जगत् को बनाया है तो वह दृश्य था या अदृश्य? यदि वह शरीर हमारे शरीर की तरह दृश्य था तो इसमें प्रत्यक्ष से बाधा आती है। यदि वह माहात्म्य विशेष के कारण अदृश्य शरीर वाला है तो इसमें इतरेतराश्रय दोष आता है। क्योंकि माहात्म्य विशेष के सिद्ध होने पर अदृश्य शरीर सिद्ध होगा और अदृश्य शरीर सिद्ध होने पर माहात्म्य विशेष सिद्ध होगा।

- ii. जगत् का निर्माण न एक ईश्वर के द्वारा संभव है और न अनेक ईश्वर के द्वारा। ईश्वर को सर्वज्ञ नहीं माना जा सकता क्योंकि इसमें वेद से विरोध आता है। वह जगत् की रचना में जीवों को उनके कर्मानुसार फल देने के कारण स्वतंत्र भी नहीं है।

पुरुषकार अथवा पुरुषार्थ की चर्चा इस अध्याय का महत्त्वपूर्ण प्रतिपाद्य है, क्योंकि उत्तरकालीन जैनाचार्यों ने पंचसमवाय में कालादि के साथ इसी को स्थान दिया है।

पुरुषकार या पुरुषार्थ जैन साधना पद्धति की आत्मा है। पूर्वबद्ध कर्मों के क्षय एवं नवीन कर्मों के निरोध के लिए आत्मपुरुषार्थ की महत्ता जैन वाङ्मय में पदे-पदे प्रतिपादित है। प्रत्येक आत्मा को स्वतंत्र मानने वाला जैन दर्शन पूर्वकृत कर्म और पुरुषार्थ की अवधारणा पर टिका हुआ है। सम्यक्त्व की प्राप्ति हो या गुणश्रेणि पर आरोहण जीव के शुभ परिणामों की महत्ता सर्वत्र स्थापित है। भारतीय संस्कृति में प्रतिपादित धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष नामक चार पुरुषार्थों में से जैन दर्शन में धर्म एवं मोक्ष पुरुषार्थ की विशेष प्रतिष्ठा है। इनमें भी धर्म पुरुषार्थ पर विशेषतः ध्यान केन्द्रित किया है क्योंकि मोक्ष की प्राप्ति उसी से संभव है। जैन ग्रन्थों में अर्थ और काम पुरुषार्थ को मुक्ति की साधना में कोई महत्त्व नहीं दिया गया है, किन्तु व्यावहारिक जीवन के लिए उनका भी आचरण धर्मपूर्वक करना उपादेय स्वीकार किया गया है।

सप्तम अध्याय 'जैनदर्शन की नयदृष्टि और पंचसमवाय' इस शोधप्रबन्ध का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण अध्याय है। जैनदर्शन की अनेकान्तवादी नय दृष्टि का ही परिणाम है कि इसमें पंच कारण समवाय सिद्धान्त को स्थान मिला। सिद्धसेन दिवाकर ने काल, स्वभाव, नियति, पूर्वकृत कर्म और पुरुष/पुरुषकार में से एक-एक की कारणता को मिथ्यात्व तथा सबके सामासिक या समन्वित स्वरूप को सम्यक्त्व कहा। उनके अनन्तर हरिभद्रसूरि, शीलाकाचार्य, अभयदेवसूरि, यशोविजय, मल्लधारी राजशेखरसूरि, उपाध्याय विनयविजय आदि ने पंच समवाय के प्रतिष्ठापन में अपना योगदान दिया। उनके अनन्तर तिलोत्क्रष्टि जी, शतावधानी रत्नचन्द्र जी महाराज, कानजी स्वामी आदि ने भी पंच समवाय को प्रतिष्ठित करने में अपनी भूमिका का निर्वाह किया।

इसमें संदेह नहीं कि जैन दर्शन में काल, स्वभाव, नियति, पूर्वकृत कर्म और पुरुषार्थ की कारणता अंगीकृत है। इनमें एक-एक को प्रधान बनाकर भी कारणता का प्रतिपादन संभव है। जैन दर्शन में काल की कारणता विभिन्न आधारों पर सिद्ध होती है-

१. सभी द्रव्यों के परिणमन में काल द्रव्य कारण है।
२. व्यवहार में काल की कारणता अनेक कार्यों में अंगीकृत है।
३. काल बहिरंग कारण है।
४. वर्तना, परिणाम, क्रिया, परत्व-अपरत्व के रूप में काल की कारणता स्वीकृत है।
५. जैन दर्शन में काललब्धि की अवधारणा है जो काल की कारणता को सिद्ध करती है।
६. कर्म-सिद्धान्त में अबाधाकाल की अवधारणा भी काल की कारणता को स्पष्ट करती है।

स्वभाव की कारणता भी जैन दर्शन में मान्य है। उसकी सिद्धि में कतिपय बिन्दु इस प्रकार हैं-

१. षड्द्रव्यों का अपना स्वभाव है तथा वे उसके अनुसार ही कार्य करते हैं।
२. विस्मसा परिणमन में पदार्थ का अपना स्वभाव ही कारण बनता है।
३. जीव का अनादि पारिणामिक भाव, भव्यत्व, अभव्यत्व, जीवत्व आदि के रूप में स्वभाव से ही कार्य करता है।
४. ज्ञानावरणादि अष्ट कर्मों का अपना स्वभाव है, उसी अनुसार वे जीव के ज्ञान को आवृत्त करने आदि का कार्य करते हैं।

जैन दर्शन में नियति की कारणता भी स्वीकृत है, यथा-

१. जैन धर्म में कालचक्र का नियत क्रम स्वीकार किया गया है जो उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी इन दो भागों में विभक्त है। दोनों में ६-६ आरक माने गए हैं।
२. २४ तीर्थकरों, १२ चक्रवर्ती, ९ बलदेव, ९ वासुदेव, ९ प्रतिवासुदेव आदि की निश्चित मान्यता जैन धर्म में नियति के प्रवेश की सूचक है।
३. तीर्थकर कर्म प्रकृति को बाँधने वाला जीव तीसरे भव में अवश्य तीर्थकर बनता है, यह भी एक नियति है।
४. २४ तीर्थकरों में एक तीर्थकर के निर्वाण तथा दूसरे तीर्थकर के बीच का जो अन्तर है वह प्रत्येक चौबीसी में उसी प्रकार रहता है।

५. अकर्म भूमि में पुरुष-स्त्री के युगलिक का उत्पन्न होना तथा कर्मभूमि में प्रथम तीन आरों में युगलिकों की उत्पत्ति स्वीकार करना, काल एवं क्षेत्र की नियति है। अकर्म भूमि में नपुंसक पुरुष का उत्पन्न न होना भी नियति की मान्यता को इंगित करता है।
६. जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति के अनुसार जम्बूद्वीप में कम से कम चार और अधिक से अधिक ३४ तीर्थंकरों के होने का कथन तथा कम से कम ४ और अधिक से अधिक ३० चक्रवर्ती होने का कथन भी नियति को सिद्ध करता है।
७. सिद्धों में पूर्वभव के आश्रित, क्षेत्राश्रित, अवगाहना आश्रित अनेक तथ्य ऐसे हैं, जो जैन धर्म में नियति की कारणता को पुष्ट करते हैं।
८. जैन कर्म सिद्धान्त में भी अनेक ऐसे निश्चित नियम हैं जो नियति को पुष्ट करते हैं। योग और कषाय के होने पर कर्म पुद्गल का आत्मा के साथ चिपकना नियत है। विभिन्न गतियों में जीवों की उत्कृष्ट आयु नियत है।
९. पूर्वकृत कर्म जीव के भावी जीवन को नियति की तरह प्रभावित करते हैं।
१०. अनपवर्त्य आयुष्य वाले जीव आयुष्य की पूर्ण अवधि भोगकर ही मरण को प्राप्त होते हैं, यह नियति है।
११. निकाचित कर्म की मान्यता भी नियति की सूचक है।
१२. वर्तमान में यह मान्यता है कि जम्बूस्वामी के मोक्ष जाने के पश्चात् केवलज्ञान सहित १० बातों का विच्छेद हो गया है। इसमें नियति कारण है।
१३. यह भी नियत है कि कोई जीव एक बार सम्यक्त्व प्राप्ति कर ले तो वह जीव अधिकतम १५ भव में अवश्य मोक्ष को प्राप्त कर सकता है।

पूर्वकृत कर्म की कारणता जैन दर्शन का प्रमुख एवं केन्द्रिय सिद्धान्त है। जैन वाङ्मय में कर्म सिद्धान्त का व्यवस्थित एवं विस्तृत विवेचन प्राप्त होता है। जैनदर्शन में कर्मवाद के महत्त्व पर पहले ही प्रकाश डाला जा चुका है।

जैन दर्शन में पुरुष/पुरुषकार की कारणता पर पूरा बल दिया गया है। सिद्धसेन सूरि ने पाँच कारणों में 'पुरुष' शब्द का प्रयोग किया है, पुरुषकार या पुरुषार्थ इसी का विकसित रूप है। आत्मा को अपने कार्यों या कर्मों का कर्ता मानने के आधार पर जैन दर्शन में पुरुष की कारणता स्वीकार की जा सकती है तथा जीव के द्वारा किए गए प्रयत्नों को पुरुषकार या पुरुषार्थ की संज्ञा दी जा सकती है।

जैन दर्शन में पुरुषकार या पुरुषार्थ का विशेष महत्त्व है। पुरुष के साथ पुरुषकार की कारणता स्वयं सिद्ध है। भारतीय संस्कृति में मान्य पुरुषार्थ चतुष्टय में से यहाँ धर्म पुरुषार्थ को अधिक महत्त्व दिया गया है। पुरुषार्थ की सिद्धि जैन वाङ्मय में पदे-पदे प्राप्त है। जैन धर्म में मान्य धर्म-पुरुषार्थ या पराक्रम को पुष्ट करने वाले कुछ बिन्दु इस प्रकार हैं-

१. जैन दर्शन में तप-संयम में पराक्रम की प्रेरणा की गई है।
२. मोक्ष की सिद्धि हेतु पुरुषार्थ को जागरित करने पर बल दिया गया है।
३. संयम, तप, निर्जरा आदि में पुरुषार्थ को साधन स्वीकार किया गया है।
४. तीर्थंकर ऋषभदेव से महावीर तक के २४ तीर्थंकरों का जीवन, गौतम आदि ग्यारह गणधरों का जीवन पुरुषार्थ की प्रेरणा देता है।
५. अन्तगड सूत्र में ९९ आत्माओं द्वारा कर्मक्षय कर मोक्ष प्राप्त करने का निरूपण भी जैन दर्शन में पुरुषार्थ की मान्यता को पुष्ट करता है।
६. शालिभद्र, धन्ना अणगार, स्कन्धक ऋषि, धर्मरुचि अणगार आदि के जीवन प्रसंग भी आत्म पुरुषार्थ के समर्थक हैं।

‘पंच समवाय’ सिद्धान्त में कालादि पाँच कारणों का समन्वय करने में सिद्धसेन सूरि, हरिभद्रसूरि, शीलांकाचार्य, अभयदेवसूरि, मल्लधारी राजशेखर सूरि, उपाध्याय यशोविजय, उपाध्याय विनयविजय आदि उद्भट दार्शनिकों ने सफल प्रयास किये हैं।

पंच कारण समवाय की सिद्धि में श्वेताम्बराचार्यों ने जितना स्पष्ट योगदान किया है उतना प्राचीन दिगम्बराचार्यों का योगदान ज्ञात नहीं होता। अमृतचन्द्राचार्य ने ४७ नयों का विवेचन करते हुए कालनय, स्वभावनय, नियतिनय, दैवनय और पुरुषकारनय का प्रतिपादन किया है, किन्तु पंच कारण समवाय के नाम से कोई चर्चा नहीं की। जयसेनाचार्य ने पंचास्तिकाय की तात्पर्यवृत्ति में ‘कालादिलब्धिवशात्’ शब्द का प्रयोग किया है, किन्तु पाँच कारणों का स्पष्ट उल्लेख नहीं किया है।

१९वीं शती से पंच समवाय सिद्धान्त के प्रतिष्ठापन में श्री तिलोकऋषि जी महाराज, शतावधानी श्री रत्नचन्द्र जी महाराज, श्री कानजी स्वामी आदि के प्रयास उल्लेखनीय हैं।

पंच समवाय मुक्तिप्राप्ति में भी सहायक है तथा व्यावहारिक जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में भी इनकी कारणता सिद्ध होती है। काल आदि पाँच कारणों में परस्पर

गौण-प्रधान भाव संभव है। कभी काल प्रधान हो सकता है, कभी स्वभाव, कभी नियति, कभी पूर्वकृत कर्म तो कभी पुरुषार्थ। यह भी आवश्यक नहीं कि सदैव एक साथ पाँचों कारण उपस्थित हों, पाँचों कारण तो जीव में घटित होने वाले कार्यों में ही होते हैं, अजीव पदार्थों में सम्पन्न होने वाले कार्यों में न तो पूर्वकृत कर्म कारण होता है और न ही उनका अपना पुरुषार्थ। उपचार से जीव के पूर्वकृत कर्मों एवं पुरुषार्थ को कथंचित् कारण माना जा सकता है। पुद्गल के प्रयोग-परिणमन में तो जीव का पुरुषार्थ कारण बनता भी है। ये पाँच कारण परस्पर एक-दूसरे के प्रतिबंधक नहीं होते हैं। इनमें परस्पर समन्वय से कार्य की सिद्धि होती है।

अन्त में यह कहा जा सकता है कि पंच समवाय का सिद्धान्त जैन दर्शन की अनेकान्तवादी या नयवादी दृष्टि का परिणाम है तथा यह जैनागमों की मूल मान्यता से अविरोद्ध है। अतः कहा है-

सव्वेवि य कालाई इह समुदायेण साहगा भणिया।

जुज्जंति य एमेव य सम्मं सव्वस्स कज्जस्स।।^{३७}

‘पंच समवाय’ सिद्धान्त को स्वीकार करने पर भी जैनदर्शन में पुरुषकारवाद अथवा पुरुषार्थवाद की प्रधानता अंगीकृत है। श्रमण संस्कृति का दर्शन होने के कारण इसमें श्रम अर्थात् उद्यम या पुरुषार्थ का विशेष महत्त्व है। मनुष्य के हाथ में पुरुषार्थ ही है, जिससे वह अपने भाग्य को भी परिवर्तित कर सकता है और मोक्ष को भी प्राप्त कर सकता है। इसीलिए व्याख्याप्रज्ञप्ति सूत्र के वृत्तिकार अभयदेवसूरि का कथन है-
“यद्याप्युदीरणादिषु कालस्वभावादीनां कारणत्वमस्ति तथाऽपि प्राधान्येन पुरुषवीर्यस्यैव कारणत्वम्।”^{३८} अर्थात् उदीरणा आदि में काल-स्वभाव आदि की कारणता स्वीकृत है तथापि आगम की दृष्टि से पुरुषार्थ का ही प्राधान्य है।

सन्दर्भ :

१. सन्मतितर्क ३.५३
२. (क) महाभारत, आदि पर्व, प्रथम अध्याय, श्लोक २४८, २५०
(ख) सन्मतितर्क प्रकरण ३.५३ पर अभयदेव की टीका, पृ. ७११
(ग) आचारांग की शीलांक टीका १.१.१.३
(घ) शास्त्रवार्ता समुच्चय, स्तवक, श्लोक ५४
३. माण्डूक्यकारिका, प्रथम प्रकरण, श्लोक ८

४. शिव पुराण, वायु संहिता (पूर्व भाग), शिव से कालस्वरूप शक्ति का कथन, श्लोक १
५. सूत्रकृतांग १.१.३.६
६. नन्दीसूत्र, मलयगिरि अवचूरि, पृ. १७७
७. महाभारत, शांति पर्व, २३२.१९
८. बुद्धचरित, सर्ग ९, श्लोक ६२
९. बृहत्संहिता अध्याय १, सूत्र २
१०. न्यायदर्शन, अध्ययन ४, अह्निक १, सूत्र २२ है।
११. आचारांग सूत्र १.१.१.३ की शीलांक टीका
१२. द्वादशारनयचक्र, भाग प्रथम, पृ. २२२
१३. शास्त्रवार्ता समुच्चय, स्तबक २, श्लोक ७६
१४. सन्मति तर्क ३.५३ पर अभयदेव टीका
१५. (क) सूत्रकृतांग १.१.२.३ की शीलांक टीका में
(ख) प्रश्नव्याकरण सूत्र १.२.७ की अभयदेव वृत्ति में
(ग) शास्त्रवार्ता समुच्चय, स्तबक २, श्लोक ६२ की यशोविजय टीका
(घ) सन्मति तर्क ३.५३ की टीका
(ङ) लोक तत्त्व निर्णय, पृ. २५ पर श्लोक २७ में
१६. श्वेताश्वेतरोपनिषद् १.२
१७. रामायण, किष्किन्धा काण्ड सर्ग २५.४
१८. महाभारत, शांति पर्व २२६.१०
१९. अभिज्ञान शाकुन्तल १.१४
२०. अभिज्ञान शाकुन्तल ६.९ के पूर्व
२१. राजतरंगिणी ८.२२.८०
२२. सुतपिटक के दीघनिकाय के प्रथम भाग में

६३८ जैनदर्शन में कारण-कार्य व्यवस्था : एक समन्वयात्मक दृष्टिकोण

२३. योगवासिष्ठ ३.६२.२७
२४. संन्यासोपनिषद् २.९८
२५. ब्रह्मबिन्दूपनिषद्, मंत्र २
२६. रामायण, उत्तरकाण्ड, सर्ग १५, श्लोक २५
२७. गीता २.२२
२८. पूर्वजन्मकृतं कर्मैहार्जितं तद् द्विधाकृतम्- शुक्रनीति ४९
२९. स्वप्नवासवदत्त, प्रथम अंक, श्लोक ४
३०. मेघदूत, उत्तरमेघ, श्लोक ४९
३१. नीतिशतक, श्लोक ९५
३२. तत्त्वार्थ सूत्र १०.३
३३. शास्त्रवार्ता समुच्चय २.६६ की टीका
३४. ऋग्वेद १०.४.९०.२
३५. तैत्तिरीयोपनिषद्, ब्रह्मवल्ली, अनुवाक १
३६. गीता ७.१०
३७. सूत्रकृतांग की शीलांक टीका, भाग तृतीय, पृष्ठ ८९
३८. भगवती सूत्र १.३.३५ की अभयदेव वृत्ति



सहायक ग्रन्थसूची

आधार गाथा :-

कालो सहाव नियई पुव्वकयं पुरिसे कारणेगंता।

मिच्छत्तं ते चेव, समासओ होन्ति सम्मत्तं।।

-सन्मति तर्क, काण्ड ३, गाथा ५३

जैन ग्रन्थ

प्राकृत एवं संस्कृत ग्रन्थ

१. अध्यात्ममत परीक्षा- यशोविजय विरचित स्वोपज्ञवृत्तियुक्त, श्री आदीश्वर जैन टेम्पल ट्रस्ट, बालकेश्वर, मुम्बई-६
२. अनुयोगद्वार सूत्र- आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर, १९८७
३. अष्ट पाहुङ- कुन्दकुन्दाचार्य, श्री सेठी दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला, श्री मीठालाल महेन्द्रकुमार सेठी, दिगम्बर जैन पारमार्थिक ट्रस्ट, ६२-धनजी स्ट्रीट, मुम्बई
४. आचारांग सूत्र- आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर, १९९८
५. आचारांग सूत्र सूत्रकृतांगसूत्रं च (श्री भद्रबाहुस्वामिविरचित-निर्धुक्त्-श्रीशीलांकाचार्यविरचितटीकासमन्वितम्)- मोतीलाल बनारसीदास, इण्डोलॉजिक ट्रस्ट, दिल्ली, प्रथम संस्करण, १९७८
६. आत्मानुशासन- भदंत गुणभद्रसूरिविरचित, श्री गणेश वर्णी दिगम्बर जैन संस्थान, नरिया, वाराणसी, १९८३
७. आप्तपरीक्षा- विद्यानन्द विरचित, स्वोपज्ञ टीका सहित, वीर सेवा मन्दिर, सरसावा, जिला- सहारनपुर, वि.स. २००६
८. आप्तमीमांसातत्त्वदीपिका- आचार्य समन्तभद्र, श्री गणेशवर्णी दिगम्बर जैन संस्थान, नरिया-वाराणसी, वीर संवत् २५०१
९. आलापपद्धति- देवसेन (माइल्लधवलविरचित नयचक्र के परिशिष्ट में उपलब्ध) विवरणार्थ द्रष्टव्य नयचक्र

१०. उत्तराध्ययन सूत्र- आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर, १९९१
११. उपदेशपद (प्रथम विभाग)- श्री हरिभद्रसूरि विरचित, श्री जिनशासन आराधना ट्रस्ट, ७-त्रीजो भोइवाडो, भूलेश्वर, मुम्बई, वि.सं. २०४६
१२. उपासकदशांग- आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर, १९८९
१३. कर्मग्रन्थ (भाग १ से ६)- मरुधर केसरी, श्री मरुधर केसरी साहित्य प्रकाशन समिति, पीपलिया बाजार, ब्यावर, १९८९
१४. कर्म-प्रकृति- अभयचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती कृत, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, दिल्ली, १९६८
१५. कल्पसूत्र- श्रीमद् भद्रबाहु प्रणीत, श्री जैन दिवाकर दिव्य ज्योति कार्यालय, महावीर बाजार, ब्यावर, वि.सं. २०५०
१६. कार्तिकेयानुप्रेक्षा- स्वामी कुमार, श्री परमश्रुत प्रभावक मण्डल, श्रीमद् राजचन्द्र आश्रम, अगास, वि.सं. २०४६
१७. गोम्पटसार (कर्मकाण्ड)- श्री नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती, श्री परमश्रुत प्रभावक मण्डल, श्रीमद् राजचन्द्र आश्रम, अगास, वाया-आणंद, पोस्ट-बोरिया (गुजरात), वि.सं. २०४१
१८. गोम्पटसार (जीवकाण्ड)- श्री नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, दिल्ली, विक्रम संवत् २०००
१९. जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति - आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर, १९८६
२०. जैन तत्त्वादर्श- आत्माराम जी महाराज, श्री आत्मानन्द जैन महासभा, पंजाब
२१. जैन योग ग्रन्थचतुष्टय- हरिभद्र सूरि, मुनि श्री हजारीमल स्मृति प्रकाशन, ब्यावर
२२. ज्ञानार्णव- शुभचन्द्राचार्य, श्री परमश्रुत प्रभावक मण्डल, श्रीमद् राजचन्द्र आश्रम, अगास, विक्रम संवत् २०३७
२३. तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक- श्रीमद् विद्यानन्दिस्वामी विरचित, गाँधीनाथारंग जैन ग्रन्थ माला, मांडवी, मुम्बई

२४. तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकालंकार- विद्यानन्दस्वामी रचित, टीकाकार- श्री पं. माणिकचन्द कौंदेय, आचार्य कुंथुसागर ग्रन्थमाला, सोलापुर, १९५३
२५. दशवैकालिक सूत्र- भद्रबाहुरचित निर्युक्ति तथा हरिभद्रसूरि रचित बृहदवृत्ति युक्त, जिनशासन आराधना ट्रस्ट, ७, तीजो भोईवाडो, भुलेश्वर, मुम्बई, विक्रम संवत् २०४६
२६. द्वादशारनयचक्र (भाग-१)- मल्लवादी क्षमाश्रमण (सिंहसूरिकृत न्यायागमानुसारिणी टीका सहित), आत्मानन्द सभा भवन, भावनगर (गुजरात)
२७. द्वादशारनयचक्र पर शोध प्रबन्ध- डॉ. जितेन्द्र भाई शाह, अहमदाबाद, अप्रकाशित।
२८. द्वात्रिंशत्-द्वात्रिंशिका- सिद्धसेन दिवाकर विरचित (प्राप्त एकविंशति द्वात्रिंशिका), आचार्यप्रवर श्रीमद् विजयलावण्यसूरि रचित किरणावलीविवृति, श्री विजयलावण्यसूरीश्वर ज्ञान मंदिर, बोटाद (सोराष्ट्र)
२९. धर्मबिन्दुप्रकरण- हरिभद्रसूरि विरचित, श्री मुनिचन्द्रसूरि विरचित वृत्ति समलङ्कृत, जिनशासन आराधना ट्रस्ट, मुम्बई, वीर संवत् २५२०
३०. धर्म संग्रहणि (भाग १ व २)- आचार्य हरिभद्रसूरि विरचित, मलयगिरि टीका सहित, श्री आदिनाथ जैन श्वेताम्बर मंदिर ट्रस्ट, चिकपेट, बैंगलोर, प्रथमावृत्ति-२०५२
३१. नन्दीसूत्र- श्री देववाचक विरचित, आचार्य श्री मलयगिरिकृत टीका और अवचूरि सहित, देवचन्द-लालभाई जैन पुस्तकोद्धार कोश के कार्यवाहक मोतीचन्द गगनभाई चोकसी, १९६९
३२. नयचक्र- माइल्लघवल, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, दिल्ली, १९७१
३३. नयोपदेश- यशोविजयगणि रचित, स्वोपज्ञव्युत्पत्ति सहित, श्री जिन आराधना ट्रस्ट, ७, तीजो भोईवाडो, भुलेश्वर, मुम्बई, विक्रम संवत् २०४४

३४. नियति द्वात्रिंशिका- सिद्धसेनसूरि, मुनि श्री भुवनचन्द्रजी के गुजराती अनुवाद और विवरण सहित, जैन साहित्य अकादमी, गाँधी धाम, कच्छ, २००२
३५. निर्युक्तिसंग्रह- भद्रबाहुस्वामी, श्री हर्षपुष्पामृत जैन ग्रन्थमाला (लाखाबावल), श्रुतज्ञान भवन-४५, दिग्विजय प्लॉट, जामनगर, १९८९
३६. न्यायकुमुदचन्द्र- प्रभाचन्द्र, माणिक्य दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला, हीराबाग, पो. गिरगाँव, मुम्बई, १९३८ एवं १९४१
३७. न्यायागमानुसारिणी- द्वादशारनयचक्र पर सिंहसूरिकृत टीका, विवरणार्थ द्रष्टव्य द्वादशारनयचक्र।
३८. परमतेज- श्री हरिभद्रसूरीश्वर विरचित, श्री 'ललित विस्तरा' पर विवेचन (भाग प्रथम), दिव्यदर्शन ट्रस्ट, द्वारा कुमार पाण वि. शाह, ६८, गुलालवाड़ी, तीजे माले, मुम्बई।
३९. परीक्षामुख- माणिक्यनन्दि कृत, स्याद्वाद महाविद्यालय, काशी
४०. पंच संग्रह- श्री मिश्रीमल जी महाराज, आचार्य श्री रघुनाथ जैन शोध संस्थान, जोधपुर
४१. पंचास्तिकाव्य- आचार्य कुन्दकुन्द, साहित्य प्रकाशन एवं प्रचार विभाग, श्री कुन्दकुन्द कहान दिगम्बर जैन तीर्थ सुरक्षा ट्रस्ट, ए-४, बापूनगर, जयपुर
४२. पंचाध्यायी- पं. राजमल्ल विरचित, टीका सहित, श्री गणेश वर्णी दिगम्बर जैन (शोध) संस्थान, वाराणसी
४३. पद्म पुराण- भारतीय ज्ञानपीठ, १८, इंस्टीट्यूशनल एरिया, लोदी रोड, नई दिल्ली।
४४. प्रज्ञापना सूत्र- आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर, २००१
४५. प्रमाणनयतत्त्वालोक- वादिदेवसूरि, श्री तिलोकरत्न स्थानकवासी, जैन धार्मिक परीक्षा बोर्ड, पाथर्डी (अहमदनगर) तृतीयावृत्ति, २०००
४६. प्रमेयकमलमार्तण्ड- प्रभाचन्द्र, श्री दिगम्बर जैन त्रिलोक शोध संस्थान, हस्तिनापुर, मेरठ (उत्तरप्रदेश)

४७. प्रवचनसार- कुन्दकुन्दाचार्य, श्री परमश्रुत प्रभावक मण्डल, श्रीमद् राजचन्द्र आश्रम, अगास, वाया-आर्णद, पो. बोरीया (गुजरात) वि.सं. २०४०
४८. प्रस्थानरत्नाकर- श्री वल्लभ विद्यापीठ, कोल्हापुर, संवत् २०५६
४९. प्रश्नव्याकरण सूत्र- आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर
५०. प्रश्नव्याकरण सूत्र (अभयदेव टीका सहित)- शाह वेणीचन्द्र सुरचन्द्र द्वारा श्री आगमोदय समिति, सुरत, विक्रम संवत् १९७५
५१. प्रश्नव्याकरण सूत्र (ज्ञानविमलसूरि वृत्ति सहित)- श्रीमद् ज्ञानविमल सूरि, शारदा मुद्रणालय, रतनपोल, अहमदाबाद
५२. बृहद् द्रव्य संग्रह- श्री नेमिचन्द्र, श्रीमद् राजचन्द्र आश्रम, आगास
५३. भगवती आराधना (भाग १ व २)- आचार्य श्री शिवार्य विरचित, सेठ लालचन्द हीराचन्द जैन संस्कृति संरक्षक संघ, सोलापुर, वीर संवत् २५०४, ई.सन् १९७८
५४. भगवती सूत्र- आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर, १९९१
५५. भगवती सूत्र (अभयदेव वृत्ति सहित)- श्री जिनशासन आराधना ट्रस्ट, दुकान नं. ५-६-७, ८२-बद्रिकेश्वर सोसायटी, मरीन ड्राइव, इ रोड, मुम्बई, वि.सं. २०४९
५६. महापुराण- भारतीय ज्ञानपीठ, १८-इंस्टीट्यूशनल एरिया, लोदी रोड, नई दिल्ली।
५७. मोक्षपाहुड- द्रष्टव्य अष्टपाहुड
५८. योगबिन्दु- हरिभद्रसूरि विरचित (टीका सहित), श्री जैन धर्म प्रसारक सभा, भावनगर, विक्रम संवत् १९६७
५९. योगदृष्टि समुच्चय- हरिभद्रसूरि विरचित, (स्वोपज्ञवृत्तियुक्त), देवचन्द्र लालभाई व्यवस्था पत्र, मुम्बई-१९९२
६०. योगशास्त्र- हेमचन्द्राचार्य रचित, मोतीचन्द मगन भाई चौकसी, द्वारा ३२७, सरदारवल्लभ भाई रोड, मुम्बई-४, १९६९

६१. योगसूत्र- भारतीय विद्या प्रकाशन, जवाहर नगर, नई दिल्ली
६२. राजवार्तिक- भट्ट अकलंकदेव विरचित, दुलीचन्द बाकलीवाल, यूनिवर्सल एजेन्सीज, देरगाँव (आसाम), प्रथम संस्करण, २५ जून १९८७
६३. लोकतत्त्वनिर्णय- हरिभद्रसूरि कृत, श्री जैन धर्म प्रसारक सभा, भावनगर
६४. लोकप्रकाश- उपाध्याय श्री विनयविजय विरचित श्री भैरूलाल कन्हैयालाल कोठारी रिलीजियस ट्रस्ट चन्दनबाला, बालकेश्वर, मुम्बई-६
६५. लोकविंशिका- हरिभद्रसूरि रचित, आगमोद्धारक ग्रन्थमाला का एक कार्यवाहक, शाह रमणलाल जयचंद कपडवंज, जिला- खेड़ा।
६६. विंशतिविंशिका- श्रीमद् हरिभद्र सूरि विरचित (प्रकाशक का उल्लेख नहीं)
६७. विशेषावश्यक भाष्य- जिनभद्रगणि, दिव्य दर्शन ट्रस्ट, मुम्बई, वि.सं. २०३९
६८. शास्त्रवार्ता समुच्चय (स्तबक २,३)- हरिभद्र सूरि रचित, यशोविजय कृत स्याद्वाद कल्पलता टीका सहित, दिव्य दर्शन ट्रस्ट, मुम्बई, विक्रम संवत् २०३६
६९. सन्मतितर्क टीका(तत्त्वबोधविधायनी)- अभयदेवसूरिकृत, गुजरात विद्यापीठ, अहमदाबाद।
७०. सन्मतिप्रकरण- सिद्धसेन, व्याख्या-सुखलाल संघवी, ज्ञानोदय ट्रस्ट, अहमदाबाद, १९६९
७१. सभाष्यतत्त्वार्थाधिगम सूत्र- उमास्वाति, सेठ मणीलाल रेवाशंकर जगजीवन जौहरी, व्यवस्थापक- श्री परमश्रुत प्रभावक जैन मण्डल, जौहरी बाजार, खाराकुवा, मुम्बई नं. २
७२. समयसार- कुन्दकुन्दाचार्य श्री परमश्रुत प्रभावक मण्डल, श्रीमद् राजचन्द्र आश्रम अगास, वाया-आणंद, पो. बोरिया (गुजरात), विक्रम संवत् २०३८

७३. समयसारकलश- वीर सेवा मंदिर, २१ दरियागंज, नई दिल्ली-२, प्रथम संस्करण, १९८१
७४. सर्वार्थसिद्धि- आचार्य पूज्यपाद, भारतीय ज्ञानपीठ, १८ इंस्टीट्यूशनल एरिया, लोदी रोड़, नई दिल्ली, नौवां संस्करण, १९९९
७५. सूत्रकृतांग- आगम प्रकाशन समिति, पीपलिया बाजार, ब्यावर, १९९९
७६. सूत्रकृतांग टीका- शीलांकाचार्य, मोतीलाल बनारसीदास इण्डोलाजिक ट्रस्ट, दिल्ली, प्रथम संस्करण, १९७८
७७. सूत्रकृतांग (श्रीमच्छीलांकाचार्यकृतटीकासहित, अम्बिकादत्त- व्याख्या- संबलिता)- बलून्दा निवासी श्री सेठ गंगाराम जी के सुपुत्र सेठ छगनलाल जी मूथा, बैंगलोर, प्रथमावृत्ति, विक्रम संवत् १९९५
७८. स्तुति चतुर्विंशतिका- श्री शोभनमुनिवर्य विरचित, न्यायाचार्य श्री यशोविजय गणिकृत चैन्द्र स्तुति, शाह वेणीचन्द्र सूरचन्द्र द्वारा श्री आगमोदय समिति, सुरत, प्रथमावृत्ति, १९२६
७९. स्थानांग सूत्र- आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर, १९८१
८०. स्थानांग सूत्र (अभयदेव टीका सहित)- सेठ माणेकलाल चुनीलाल, पोलान्तर्गत नाग जी भूदर जी पोल, अमदाबाद-मांडवी, द्वितीयावृत्ति, वि.सं.१९९४
८१. स्याद्वादमंजरी- श्री मल्लिषेणसूरि प्रणीत, श्री परमश्रुत प्रभावक मण्डल, श्रीमद् राजचन्द्र आश्रम अगास, पंचमावृत्ति, वि.सं. २०४८
८२. स्याद्वादरत्नाकर (द्वितीय भाग)- श्रीमद् वादिदेव सूरि, भारतीय बुक कार्पोरेशन, १ यू.बी. जवाहरनगर, बैंग्लो रोड़, दिल्ली, १९८८
८३. स्वयंभूस्तोत्र तत्त्वप्रदीपिका- आचार्य समन्तभद्र, श्री गणेशवर्णी दिगम्बर जैन (शोध) संस्थान, वाराणसी
८४. षट्खण्डागम धवला टीका- वीरसेन, सम्पादक- हीरालाल जैन, भेलसा, मध्य भारत, १९५५

६४६ जैनदर्शन में कारण-कार्य व्यवस्था : एक समन्वयात्मक दृष्टिकोण

८५. षड्दर्शनसमुच्चय- मल्लधारी राजशेखर सूरिकृत, श्री भूपेन्द्रसूरि
जैन साहित्य समिति, आहोर (मारवाड़)

८६. षड्दर्शन समुच्चय- हरिभद्रसूरि कृत, भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली

हिन्दी ग्रन्थ

१. अध्यात्म प्रवचन-प्रवचनकार : उपाध्याय अमर मुनि, श्री सन्मति
ज्ञानपीठ, आगरा, १९६६
२. उपदेश प्रासाद महाग्रन्थ (भाग-४) - आचार्य श्री विजयलक्ष्मी
सूरीश्वर विरचित, विराट् प्रकाशन मंदिर, श्री विशाल जैन कला
संस्थान, तणेटी रोड़, पालीताणा (गुजरात), १९८२
३. कर्मवाद- युवाचार्य महाप्रज्ञ, आदर्श साहित्य संघ, चुरू (राज.)
४. कर्मवाद : एक अध्ययन- श्री सुरेशमुनि शास्त्री, श्री सन्मति
ज्ञानपीठ, आगरा
५. कर्म सिद्धान्त- श्री कन्हैयालाल लोढ़ा, प्राकृत भारती अकादमी,
जयपुर
६. कारण-संवाद- शतावधानी पं. मुनि श्री रत्नचन्द्र जी म.सा.,
मदनचन्द जी हिंगड़, अजमेर, प्रथमावृत्ति, १९९६
७. क्रमबद्धपर्याय- हुकमचन्द भारिल्ल, पं. टोडरमल स्मारक, बापू
नगर, जयपुर
८. गजेन्द्र मुक्तावली (भाग-१)- आचार्य श्री हस्तीमल जी म.सा.,
इन्दरचन्द जी जबरचन्द जी हीरावत, जयपुर, १९५०
९. गणधरवाद- आचार्य जिनभद्रगणि कृत, लेखक-पं. दलसुख
मालवणिया, सम्यग्ज्ञान प्रचारक मण्डल, जयपुर
१०. जयपुर खानिया तत्त्व चर्चा- सम्पादक : पं. फूलचन्द सिद्धान्त
शास्त्री, पं. टोडरमल स्मारक, बापू नगर, जयपुर
११. जैन कर्म सिद्धान्त का उद्भव एवं विकास- डॉ. रवीन्द्रनाथ
मिश्र, पूज्य सोहनलाल स्मारक, पार्श्वनाथ शोधपीठ, वाराणसी,
प्रथम संस्करण, १९९३

१२. जैन जीवन दर्शन की पृष्ठभूमि- डॉ. दयानन्द भार्गव, श्री रणवीर केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ, जम्बू, १९७५
१३. जैन तत्त्वादर्श- आत्माराम जी महाराज, श्री आत्मानन्द जैन महासभा, पंजाब
१४. जैन-तत्त्व-प्रकाश- श्री अमोलकऋषि जी म.सा., श्री अमोल जैन ज्ञानालय, धुलिया (महा.)
१५. जैन-तत्त्व-मीमांसा- फूलचन्द सिद्धान्त शास्त्री, अशोक प्रकाशन मन्दिर, २/२४९, निर्वाण भवन, रवीन्द्रपुर, वाराणसी
१६. जैन दर्शन- महेन्द्र कुमार न्यायाचार्य, श्री गणेशप्रसाद वर्णी जैन ग्रन्थमाला, १/१२८, डुमराव बाग, वाराणसी, १९७४
१७. जैन दर्शन- मुनि न्यायविजय, श्री हेमचन्द्राचार्य जैन सभा, हेमचन्द्र मार्ग, पाटण (गुजरात), १९६८
१८. जैन दर्शन और अनेकान्त- आचार्य महाप्रज्ञ, प्रबन्धक-आदर्श साहित्य संघ, २१०, दीनदयाल उपाध्याय मार्ग, नई दिल्ली
१९. जैन दर्शन का आदिकाल- दलसुख मालवणिया, लालभाई दलपतभाई, भारतीय संस्कृति विद्या मन्दिर, अहमदाबाद
२०. जैन दर्शन का उद्भव और विकास- दलसुख मालवणिया, भारतीय संस्कृति विद्या मन्दिर, अहमदाबाद-९, अप्रैल १९८०
२१. जैन दर्शन में कार्यकारण भाव और कारक व्यवस्था- बंशीधर व्याकरणाचार्य, वीर सेवा मन्दिर, डुमराव बाग, वाराणसी
२२. जैन दर्शन में द्रव्य की अवधारणा और कारण-कार्य संबंध- डॉ. राजकुमार छाबड़ा, शोध प्रबंध, राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर (अप्रकाशित)
२३. जैन दर्शन-मनन और मीमांसा- मुनि नथमल, कमलेश चतुर्वेदी, प्रबन्धक- आदर्श साहित्य संघ, चुरू (राज.)
२४. जैन दर्शन स्वरूप और विश्लेषण- देवेन्द्रमुनि शास्त्री, श्री तारक गुरु जैन ग्रन्थालय, शास्त्री सर्कल, उदयपुर

२५. जैन, बौद्ध और गीता के आचार दर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन- डॉ. सागरमल जैन, राजस्थान प्राकृत भारती संस्थान, जयपुर, १९८२
२६. जैनागम निर्देशिका- मुनि कन्हैयालाल 'कमल', आगम अनुयोग प्रकाशन, दिल्ली १९६६
२७. ज्ञान स्वभाव-ज्ञेय स्वभाव- कानजी स्वामी, सम्पादक-ब्रह्मचारी हरिलाल जैन, दिगम्बर जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट, सोनगढ।
२८. तिलोक काव्य कल्पतरू (भाग ४)- श्री रत्न जैन पुस्तकालय, अहमदनगर
२९. दर्शन और चिन्तन (खण्ड १ व २)- पं. सुखलाल के हिन्दी लेखों का संग्रह, पं. सुखलाल जी सन्मान समिति, गुजरात विद्यासभा, अहमदाबाद, १९५७
३०. दर्शन का नया प्रस्थान- साध्वी मुदित यशा, जैन विश्वभारती, लाडनूँ, प्रथम संस्करण, १९९९
३१. नय प्रज्ञापन- श्री कानजी स्वामी के प्रवचन, पं. टोडरमल स्मारक ट्रस्ट, ए-४, बापू नगर, जयपुर, १५ अगस्त १९९६
३२. निमित्तोपादान- पं. टोडरमल स्मारक ट्रस्ट, जयपुर
३३. नियति की अमिट रेखाएँ- संत अमिताभ, आध्यात्मिक शोध संस्थान, संबोधि वन, माउंट आबू (राज.), तृतीय संस्करण
३४. निर्ग्रन्थ प्रवचन (हिन्दी भाष्य सहित)- अनुवादक- जैन दिवाकर मुनि श्री चौथमल जी महाराज, स्वरूपचन्द तालेड़ा, श्री दिवाकर दिव्य ज्योति कार्यालय, ब्यावर, १९६६
३५. परमभाव प्रकाशक नयचक्र- डॉ. हुकमचन्द भारिल्ल, पं. टोडरमल स्मारक ट्रस्ट, जयपुर
३६. परमार्थसार- अभिनवगुप्तप्रणीत, मोतीलाल बनारसीदास, वाराणसी, प्रथम संस्करण, १९८४
३७. प्रमुख जैनागमों में भारतीय दर्शन के तत्त्व-साध्वी डॉ. सुप्रभा कुमारी 'सुधा', भेरूलाल मांगीलाल, धर्मावत, बड़ बाजार, उदयपुर (राज.)

३८. बौद्ध प्रमाणमीमांसा की जैन दृष्टि से समीक्षा- डॉ. धर्मचन्द्र जैन, पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी, प्रथम संस्करण १९९५
३९. भाग्य और पुरुषार्थ : एक नया अनुचिन्तन- बंशीधर शास्त्री व्याकरणाचार्य, वीर सेवा मन्दिर ट्रस्ट, प्लॉट नं. ४, भोगाबीर कॉलोनी, लंका, वाराणसी (उ.प्र.) १९८५
४०. मोक्षमार्ग प्रकाशक- पं. टोडरमल, पं. टोडरमल स्मारक ट्रस्ट, ए-४ बापू नगर, जयपुर, १९९३
४१. योगशास्त्र पर दैनिक प्रवचन- (प्रवचनकार : पन्यास श्री धरणेन्द्रसागर जी म.सा.) संकलनकर्ता- मुनि जगतचन्द्र विजय, ८०६, चौपासनी रोड़, जोधपुर
४२. वस्तुविज्ञान सार- कानजी स्वामी, सम्पादक- ब्रह्मचारी हरिलाल जैन, दिगम्बर जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट, सोनगढ़
४३. शान्ति पथ प्रदर्शन- जिनेन्द्रवर्णी, शान्ति निकेतन उदासीन आश्रम, ईसरी बाजार, जिला-गिरिडीह, १९७६
४४. समर्थ समाधान (भाग १)- सम्पादक : रतनलाल डोशी, श्री अखिल भारतीय सुधर्म जैन संस्कृति रक्षक संघ, जोधपुर, १९९८
४५. सिद्धसेन दिवाकर व्यक्तित्व एवं कृतित्व- डॉ. श्री प्रकाश पाण्डेय, पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी, १९९७
४६. सृष्टिवाद और ईश्वर- मुनि श्री रत्नचन्द्र जी म.सा., श्री जैन साहित्य प्रचारक समिति, ब्यावर

गुजराती ग्रन्थ

१. जिनेन्द्र भक्ति प्रकाश (चैत्यवन्दन स्तवन, सज्ज्माय आदि का संग्रह)- संग्राहक- श्री कंचनविजय जी म.सा., प्राप्ति स्थान- कैलाशसागर सूरि ज्ञान मंदिर, श्री महावीर जैन आराधना केन्द्र, कोबा, तीसरी आवृत्ति, १९४५
२. प्रारब्ध पर पुरुषार्थ नौ विजय- प्रवचनकार : आचार्य विजय भुवनभानु सूरिश्वरजी म.सा., दिव्य दर्शन ट्रस्ट, मुम्बई

१. अपरवाद- पं. मधुसूदन ओझा विरचित, पं. मधुसूदन ओझा शोध प्रकोष्ठ, संस्कृत विभाग, जयनारायण व्यास विश्वविद्यालय, जोधपुर।
२. अभिज्ञान शाकुन्तल- महाकवि कालिदास, महालक्ष्मी प्रकाशन, आगरा
३. ईशाद्यष्टोत्तरशतोपनिषद्- व्यास प्रकाशन, वाराणसी, १९८३
४. उपनिषत्सु कर्मवादः- डॉ. जातवेद त्रिपाठी, परिमल पब्लिकेशन्स, २७/२८ शक्तिनगर, दिल्ली-१९९९
५. काव्यप्रकाश- (संकेत, बालचिन्तानुरंजनी, काव्यादर्श, आदि १६ टीकाओं सहित) प्रथम खण्ड, नाग प्रकाशक, ११ ए/यू.ए. जवाहर नगर, दिल्ली-७, प्रथम संस्करण, १९९५
६. तत्त्व संग्रह- शान्तरक्षित विरचित, Edited with An Introduction in Sanskrit By Ambar Krishnanacharya, Sanskrit Pathasala, Vadatal.
७. तर्कभाषा- केशवमिश्र, चौखम्बा संस्कृत संस्थान, वाराणसी
८. दीघनिकाय- विपश्यना विशोधन विन्यास, इगतपुरी, १९९८
९. देवी भागवत पुराण (प्रथम खण्ड)- संस्कृति संस्थान, ख्वाजा कुतुब, वेदनगर, बरेली
१०. नारदीय महापुराण- नाग पब्लिशर्स, ११ यू.ए. जवाहर नगर, दिल्ली-७
११. नीतिशतकम्- आदर्श प्रकाशन, चौड़ा रास्ता, जयपुर
१२. न्यायकुसुमाञ्जलि- उदयनाचार्य विरचित, सम्पादक एवं व्याख्याकार- श्री दुर्गाधर झा, वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी-२, विक्रम संवत् २०३०

१३. न्यायविन्दुटीका- आचार्य धर्मोत्तर विरचित, सम्पादक- डॉ. श्री निवास शास्त्री, साहित्य भण्डार, सुभाष नगर, मेरठ, जनवरी १९७५
१४. न्यायदर्शन (वात्स्यायन भाष्य सहित)- सम्पादक और व्याख्याकार : डॉ. सच्चिदानन्द मिश्र, भारतीय विद्या प्रकाशन, दिल्ली
१५. पातंजल योगसूत्र- भोजदेव कृत- राजमार्तण्डवृत्तिसमेतम्, संपादक-डॉ. रमाशंकर भट्टाचार्य, भारतीय विद्या प्रकाशन, पोस्ट बाक्स १०८, कचौड़ी गली, वाराणसी।
१६. पंचतन्त्र- श्री विष्णु शर्मा प्रणीत, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, पंचम संस्करण, १९८९
१७. प्रशस्तपादभाष्य- प्रशस्तपादाचार्य, सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी
१८. बुद्धचरित (प्रथम भाग)- चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, संस्करण-पंचम, १९८३
१९. बृहत्संहिता- वराहमिहिर कृत, मुंशी नवलकिशोर यन्त्रालय, लखनऊ, १८८४
२०. ब्रह्मसूत्र (शांकरभाष्य सहित) - चौखम्बा विद्याभवन, चौक, पोस्ट बाक्स-६९, वाराणसी १९७७
२१. ब्रह्मचतुष्पदी- पं. मधुसूदन शर्मा, प्रद्युम्न शर्मा द्वारा सम्पादित, वि.सं. २००९
२२. मत्स्य पुराण (द्वितीय खण्ड)- संस्कृति संस्थान, ख्वाजा कुतुब, बरेली
२३. मनुस्मृति- बाबू बैजनाथ प्रसाद बुकसेलर, राजादरवाजा, बनारस सिटी, १९३२
२४. महाभारत- गीताप्रेस गोरखपुर
२५. महाभाष्य- पतंजलि, मोतीलाल बनारसी दास, दिल्ली

२६. माण्डूक्यकारिका- कैलाश आश्रम ऋषिकेश, उत्तरप्रदेश
२७. मार्कण्डेय पुराण- नाग पब्लिशर्स, ११ यू.ए., जवाहर नगर, दिल्ली-७
२८. मीमांसा दर्शन- संस्कृति संस्थान, ख्वाजा कुतुब, बरेली
२९. योगवासिष्ठ- श्रीमद् वाल्मीकि महर्षि प्रणीत, नाग पब्लिशर्स, ११ ए/यू.ए. जवाहर नगर, दिल्ली, प्रथम संस्करण १९९८
३०. राजतरंगिणी- कल्हण विरचित, दुलीचन्द बाकलीवाल, यूनिवर्सल एजेन्सीज, देरगाँव (आसाम), प्रथम संस्करण, २५ जून १९८७
३१. रामायण- वाल्मीकिकृत, गीताप्रेस, गोरखपुर
३२. वाक्यपदीयम्- सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी, १९८०
३३. विष्णु पुराण- संस्कृति संस्थान, ख्वाजा कुतुब, बरेली
३४. वेद (ऋग्वेद भाषा भाष्य सम्पूर्ण)- महर्षि दयानन्द सरस्वती, दयानन्द संस्थान, नई दिल्ली-५
३५. वेद (यजुर्वेद-सामवेद-अथर्ववेद)- महर्षि दयानन्द सरस्वती, दयानन्द संस्थान, नई दिल्ली-५
३६. वेदान्त दर्शन- संस्कृति संस्थान, ख्वाजा कुतुब, बरेली
३७. वेदान्त सार- सदानन्द, मोतीलाल बनारसीदास, बंग्लो रोड़, जवाहर नगर, दिल्ली-७, १९७९
३८. वैशेषिक सूत्र- संस्कृति संस्थान, ख्वाजा कुतुब, बरेली
३९. शिवपुराण- संस्कृति संस्थान, ख्वाजा कुतुब, वेदनगर, बरेली
४०. शुक्रनीति- महर्षि शुक्राचार्य विरचित, व्याख्याकार : डॉ. जगदीशचन्द्र मिश्र, चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन, वाराणसी, १९९८
४१. श्वेताश्वतरोपनिषद् (शांकर भाष्य सहित)- गीता प्रेस, गोरखपुर, विक्रम संवत् २०५२

४२. श्रीमद् भागवत महापुराण (प्रथम खण्ड)- वेदव्यास प्रणीत,
गीताप्रेस, गोरखपुर
४३. श्रीमद् भागवत वंशीधरी टीका सहित (प्रथम खण्ड)- डॉ.
ब्रह्मानन्द त्रिपाठी, चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान, ३८ यू.ए. बंग्लो रोड,
जवाहर नगर, दिल्ली
४४. श्रीवामन पुराण- अनुवादक- श्री गोपालचन्द्र सर्वभारतीय
काशिराजन्यास, दुर्ग रामनगर, वाराणसी, १९६८
४५. श्री विष्णु महापुराण (भाग-प्रथम)- व्याख्याकार: डॉ. श्रद्धा
शुक्ला, नाग प्रकाशक, ११-ए.यू.ए. जवाहर नगर, दिल्ली, १९९८
४६. सम्पूर्ण चाणक्य सूत्र- अनुवादक : विश्वमित्र शर्मा, मनोज
पब्लिकेशन्स, ७६१, मेन रोड, बुराड़ी, दिल्ली, १९९९
४७. सर्वदर्शन संग्रह- चौखम्बा विद्या भवन, वाराणसी
४८. सांख्यकारिका (माठरवृत्ति संवलिता तथा प्रबोधिनी)- हिन्दी
व्याख्योपेता, व्याख्याकार : पं. थानेशचन्द्र उप्रेती, चौखम्बा संस्कृत
प्रतिष्ठान, वाराणसी
४९. सांख्यकारिका- डॉ. रमाशंकर त्रिपाठी रचित तत्त्वप्रभा टीका तथा
अज्ञातकर्तृका युक्तिदीपिका टीका सहित, बालकृष्ण त्रिपाठी, बी
२/२४२, भदौनी, वाराणसी, प्रथम संस्करण, १९७०
५०. सांख्य तत्त्व कौमुदी- वाचस्पति मिश्र कृत, मोतीलाल
बनारसीदास, दिल्ली
५१. स्वप्नवासवदत्त- महाकवि भास प्रणीत, साहित्य भण्डार, सुभाष
बाजार, मेरठ
५२. हरिवंश पुराण (द्वितीय खण्ड)- संस्कृति संस्थान, ख्वाजा
कुतुब, बरेली
५३. हितोपदेश- श्रीमत् नारायणपण्डितसंगृहीत, चौखम्बा संस्कृत सीरिज
ऑफिस, वाराणसी, १९८८

हिन्दी ग्रन्थ

१. कर्म की हिन्दू अवधारणा- डॉ. रवीन्द्रनाथ मिश्र, कला प्रकाशन, बी ३३/३३-ए, न्यू साकेत कॉलोनी, बी.एच.यू., वाराणसी-५, १९९६
२. नारदीय ज्योतिष- लेखक: डॉ. बिन्दा प्रसाद मिश्र, विद्यानिधि प्रकाशन, दिल्ली १९९८
३. पुरुषार्थ चतुष्टय : दार्शनिक अनुशीलन- डॉ. सुधा भटनागर, विद्यानिधि प्रकाशन, डी-१०६१, गली नं. १० (समीप श्री महागौरी मन्दिर) खजूरी खास, दिल्ली १९९९
४. बौद्ध दर्शन तथा अन्य भारतीय दर्शन- भरत सिंह उपाध्याय, प्रथम विभाग, मोतीलाल बनारसीदास, बंगलो रोड़, जवाहर नगर, दिल्ली, १९९६
५. भारतीय ईश्वरवाद- श्री पाण्डेय रामावतार शर्मा, पं. रामपुकार मिश्र, हिन्दुस्तानी प्रेस, बाँकीपुर (मुद्रक)
६. भारतीय दर्शन- उमेश मिश्र, उत्तरप्रदेश हिन्दी संस्थान, राजर्षि पुरुषोत्तम दास टण्डन हिन्दी भवन, महात्मा गाँधी मार्ग, लखनऊ, १९९०
७. भारतीय दर्शन- डॉ. नन्दकिशोर देवराज, उत्तरप्रदेश हिन्दी संस्थान, लखनऊ, १९९९
८. भारतीय दर्शनशास्त्र का इतिहास- जयदेव अलंकार, न्यू भारतीय बुक कॉर्पोरेशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण, २००२
९. योगवासिष्ठ और उसके सिद्धान्त- डॉ. भीखनलाल आत्रेय, श्रीकृष्ण- जन्मस्थान सेवा संस्थान, मथुरा, द्वितीय संस्करण, १९८९

कोश, अभिनन्दन ग्रन्थ एवं पत्र-पत्रिकाएं

कोश

१. अभिधान राजेन्द्र कोश (भाग १ से ७)- राजेन्द्रसूरि, श्री अभिधान राजेन्द्र कोष प्रकाशन संस्था, श्री राजेन्द्रसूरि ज्ञान मन्दिर, रतनपोल, अहमदाबाद।

२. अमरकोश संग्रह- केन्द्रिय संस्कृत विद्यापीठ, तिरुपति (उ.प्र.) १९८१
३. आगम शब्द कोश- आचार्य तुलसी, जैन विश्व भारती, लाडनूँ, १ जून १९८०
४. उपनिषद्-वाक्य-कोश- Colonel-G.A. Jacob, Published by- Pallav Prakashan, Maliwara, Delhi-1989
५. उपनिषद्-वाक्य-महाकोषः - चौखम्बा विद्या भवन, वाराणसी, १९९०
६. जैन लक्षणावली (जैन पारिभाषिक शब्दकोश)- वीर सेवा मन्दिर प्रकाशन, १९७३
७. जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश- जिनेन्द्रवर्णी, भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली
८. न्यायकोश- महामहोपाध्याय- भीमाचार्येण विरचित, भाण्डारकर ऑरियण्टल रिसर्च इन्स्टीट्यूट, पूना १९२८
९. बृहद् विश्वसूक्ति कोश- संपादक- डॉ. श्यामसुन्दर शर्मा, प्रभात प्रकाशन, चावडी बाजार, दिल्ली, प्रथम संस्करण, १९८५
१०. महासुभाषित संग्रह (भाग ५)- सम्पादक : के.वी. शर्मा, विश्वेश्वरानन्द वेदिक रिसर्च सेन्टर, होशियारपुर, १९८१
११. विश्व संस्कृत सूक्ति कोश- मुनि ललितप्रभ सागर, गार्ग एण्ड कम्पनी, जालोरी गेट, जोधपुर, १९९०

अभिनन्दन ग्रन्थ

१. आचार्य अमृतचन्द्र व्यक्तित्व एवं कृतित्व- सम्पादक : डॉ. उत्तमचन्द्र जैन पं. टोडरमल स्मारक ट्रस्ट, ए-४, बापूनगर, जयपुर
२. जीत अभिनन्दन ग्रन्थ- श्री जयध्वज प्रकाशन समिति-मद्रास, शाखा ब्यावर (राज.)
३. जैन दिवाकर स्मृति-ग्रन्थ- सम्पादक : श्रीचन्द सुराणा 'सरस' श्री जैन दिवाकर दिव्य ज्योति कार्यालय, महावीर बाजार, ब्यावर

६५६ जैनदर्शन में कारण-कार्य व्यवस्था : एक समन्वयात्मक दृष्टिकोण

४. मरुधर केशरी : अभिनन्दन ग्रन्थ- मरुधर केशरी अभिनन्दन ग्रन्थ प्रकाशन समिति, जोधपुर-ब्यावर, प्रथम संस्करण, १९६८
५. मुनि हजारीमल स्मृति ग्रन्थ- मुनि श्री हजारीमल स्मृति ग्रन्थ प्रकाशन समिति, ब्यावर, प्रथम संस्करण, १९६५
६. शाश्वत (आचार्य दयानन्द भार्गव अभिनन्दन ग्रन्थ)- सम्पादक : डॉ. नरेन्द्र अवस्थी, वैदिक अध्ययन केन्द्र, जोधपुर, १९९७
७. सागरमल जैन अभिनन्दन ग्रन्थ- पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी, १९९८
८. सिद्धान्ताचार्य पं. फूलचन्द्र शास्त्री अभिनन्दन ग्रन्थ- सम्पादक: बाबूलाल जैन फागुल्ल, सिद्धान्ताचार्य पं. फूलचन्द्र शास्त्री अभिनन्दन ग्रन्थ प्रकाशन समिति, वाराणसी, १९८५

पत्र-पत्रिकाएँ

१. जिनवाणी (कर्म सिद्धान्त विशेषांक) -सम्यग्ज्ञान प्रचारक मण्डल, जयपुर
२. श्रमण- पार्श्वनाथ विद्यापीठ, करौंदी, वाराणसी
३. श्रमण संस्कृति- श्री अखिल भारतवर्षीय साधुमार्गी शांतक्रांति जैन श्रावक संघ, आदर्श नगर, उदयपुर।



Our Important Publications

1. Studies in Jaina Philosophy	Dr. Nathamal Tatia	200.00
2. Jains Today in the World	Pierre Paul AMIEL	500.00
3. Jaina Epistemology	Dr. I.C. Shastri	150.00
4. Jaina Religion : Its Historical Journey of Evolution	Prof. Sagarmal Jain, Trans. Kamla Jain	100.00
5. Jaina Theory of Reality	Dr. J.C. Sikdar	300.00
6. Jaina Perspective in Philosophy & Religion	Dr. Ramji Singh	300.00
7. Aspects of Jainology (Complete Set : Vols. 1 to 7)		2500.00
8. An Introduction to Jaina Sādhana	Prof. Sagarmal Jain	40.00
9. Pearls of Jaina Wisdom	Dulichand Jain	120.00
10. Scientific contents in Prakrit Canons	Dr. N.L. Jain	400.00
11. Advanced Glossary of Jain Terms	Dr. N.L. Jain	300.00
12. The Path of Arhat	T.U. Mehta	200.00
13. Multi-Dimensional Application of Anekāntavāda	Ed. Prof. S.M. Jain & Dr. S.P. Pandey	500.00
14. The World of Non-living	Dr. N.L. Jain	400.00
15. जैन धर्म और तान्त्रिक साधना	प्रो. सागरमल जैन	350.00
16. सागर जैन-विद्या भारती (पाँच खण्ड)	प्रो. सागरमल जैन	500.00
17. गुणस्थान सिद्धान्त : एक विश्लेषण	प्रो. सागरमल जैन	60.00
18. अहिंसा की प्रासंगिकता	डॉ. सागरमल जैन	100.00
19. अष्टकप्रकरण	डॉ. अशोक कुमार सिंह	120.00
20. दशाश्रुतस्कन्धनिर्युक्ति : एक अध्ययन	डॉ. अशोक कुमार सिंह	125.00
21. जैन तीर्थों का ऐतिहासिक अध्ययन	डॉ. शिवप्रसाद	300.00
22. अचलगच्छ का इतिहास	डॉ. शिवप्रसाद	250.00
23. तपागच्छ का इतिहास	डॉ. शिवप्रसाद	500.00
24. सिद्धसेन दिवाकर : व्यक्तित्व एवं कृतित्व	डॉ. श्री प्रकाश पाण्डेय	100.00
25. जैन एवं बौद्ध योग : एक तुलनात्मक अध्ययन	डॉ. सुधा जैन	300.00
26. जैन एवं बौद्ध शिक्षा-दर्शन एक तुलनात्मक अध्ययन	डॉ. विजय कुमार	200.00
27. जैन साहित्य का बृहद् इतिहास (सम्पूर्ण सेट सात खण्ड)		1400.00
28. हिन्दी जैन साहित्य का इतिहास (सम्पूर्ण सेट चार खण्ड)		760.00
29. जैन प्रतिमा विज्ञान	डॉ. मारुति नन्दन तिवारी	300.00
30. महावीर और उनके दशधर्म	श्री भागचन्द्र जैन	80.00
31. वज्जालम्गां (हिन्दी अनुवाद सहित)	पं. विश्वनाथ पाठक	160.00
32. जीवन का उत्कर्ष	गुरुदेव चित्रभानु	200.00
33. भारतीय जीवन मूल्य	प्रो. सुरेन्द्र वर्मा	75.00
34. नलविलासनाटकम्	सम्पा. डॉ. सुरेशचन्द्र पाण्डे	60.00
35. समाधिमरण	डॉ. रज्जन कुमार	260.00
36. पञ्चाशक-प्रकरणम् (हिन्दी अनुवाद सहित)	अनु. डॉ. दीनानाथ शर्मा	250.00
37. जैन धर्म में अहिंसा	डॉ. वशिष्ठ नारायण सिन्हा	300.00
38. बौद्ध प्रमाण-मीमांसा की जैन दृष्टि से समीक्षा	डॉ. धर्मचन्द्र जैन	350.00
39. महावीर की निर्वाणभूमि पावा : एक विमर्श	भगवतीप्रसाद खेतान	150.00
40. स्थानकवासी जैन परम्परा का इतिहास	प्रो. सागरमल जैन एवं डॉ. विजय कुमार	500.00